सेठ भोलाराम सेकसरिया-स्मारक ग्रन्थमाला—६

जायसी के परवर्त्ती

हिन्दी-सूफ़ी कवि और काव्य

डॉ० सरला शुक्ल

एम० ए० पी-एच० डी०

हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय

प्रकाशक

लखनऊ विश्वविद्यालय

सम्वत् २०१३ वि०

प्रकाशक

लखनऊ विश्वविद्यालय

लखनऊ

मूल्य १२)

मुद्रक
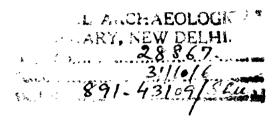
पं० मदनमोहन शुक्ल "मदनेश"

साहित्य मन्दिर प्रेस (प्राइवेट) लिमिटेड

लखनऊ

कृतज्ञता-प्रकाश

श्रीमान् सेठ शुभकरन जी सेकसरिया ने लखनऊ विश्वविद्यालय की रजत्‌जयन्ती के अवसर पर बिसवाँ-शुगर-फैक्ट्री की ओर से बीस सहस्र रुपये का दान देकर हिन्दी विभाग की सहायता क है। सेठ जी का यह दान उनके विशेष हिन्दी-अनुराग का द्योतक है। इस धन का उपयोग हिन्दी में उच्चकोटि के मौलिक एवं गवेषणात्मक ग्रन्थों के प्रकाशन के लिये किया जा रहा है जो श्री सेठ शुभकरन सेकसरिया जी के पिता के नाम पर 'सेठ भोलाराम सेकसरिया स्मारक ग्रन्थमाला' में संग्रंथित होंगे। हमें आशा है कि यह ग्रन्थमाला हिन्दी-साहित्य के भण्डार को समृद्ध करके ज्ञानवृद्धि में सहायक होगी। श्री सेठ शुभकरन जी की इस अनुकरणीय उदारता के लिए हम अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

दीनदयालु गुप्त
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय

उपोद्घात

हिन्दी-साहित्य के भक्ति काल में (लगभग सन् १३०० ई० से सन् १६५० तक) उत्तरी भारत में राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक क्षेत्रों में अनेक परिवर्तन हुए। यद्यपि पश्चिम से आने वाली अनेक सभ्यताओं का सम्मिश्रण भारतीय जीवन में इस काल से पहले ही हो गया था, परन्तु इस काल में मुसलमान धर्म और मुसलमानी सभ्यता का प्रभाव भारतीय जनमन पर अधिक पड़ा। भारतीय आदर्श मुसलमानों ने अपनाए और मुसलमानों की विचारधारा में अनेक हिन्दुओं ने अवगाहन किया। इस समय हिन्दू-मुसलमानों के भेदभाव को मिटाने के लिये दोनों जातियों के अनेक महापुरुष प्रयत्नशील हुए। मुसलमान धर्म के अन्तर्गत जिन महात्माओं ने भारतीय विचार अपनाये और भेदभाव को पाटने का प्रयत्न किया वे 'सूफी' कहलाते थे और हिन्दुओं में ऐसे महात्मा 'संत' संज्ञा से समादृत थे। उक्त काल में प्राचीन मुसलमानी सूफ़ीमत जो मुसलमान विचारधारा में भारतीय वेदान्तवाद के दार्शनिक तत्वों को लेकर खड़ा हुआ था, भारतीय तत्वज्ञान आचार विचार से प्रभावित होकर एक नये रूप में, भारत में, प्रचलित हुआ। सूफ़ी साधकों ने प्रेम को भारतीय भक्ति-भाव के समान ही विशेष महत्व दिया। लौकिक प्रेम में जो दशा एक प्रेमी की अपने प्रिय के पाने के लिये होती है, वही दशा सूफ़ी की अपने प्रिय परमात्मा के पाने में होनी है सत्य के जानने के लिये इस मत में हृदय की शुद्धता पर अधिक बल दिया गया है। सूफ़ी साहित्य में प्रेमी प्रिय की प्रेमलीलाओं का तथा प्रेमियों की प्रेम कहानियों का अधिक वर्णन है। इन प्रेम कहानियों में लोक प्रेम और लौकिक प्रेम तथा सौन्दर्य के प्रतीकों में विश्वात्मा ईश्वर के प्रति प्रेम और सौन्दर्य की झलक देखना सूफियों का परम लक्ष्य है। फ़ारसी, हिन्दी आदि भाषाओं में रोचक प्रेम कहानियों द्वारा ईश्वरोन्मुख प्रेम की अभिव्यक्ति इन्होंने की है।

हिन्दी के भक्तिकाल में हिन्दी भाषा में अनेक उत्कृष्ट प्रेम-कहानियाँ सूफ़ी साधकों द्वारा लिखी गईं। वैसे सूफ़ी प्रेमकाव्य का परिचय हमें वीरगाथा काल में ही मिल जाता है। वीर गाथा काल में एक सूफ़ी फ़कीर मुल्लादाऊद ने, नूरक और चन्दा की प्रेम-कहानी लिखी। भक्तिकाल के सूफ़ीभक्त जायसी ने अपने ग्रन्थ 'पद्मावत' में 'पद्मावत' से पहले लिखी गई कई प्रेम कथाओं का उल्लेख किया है जैसे स्वप्नावती, मुग्धावती, मृगावती, खण्डरावती, मधुमालती और प्रभावती।

> विक्रमधँसा प्रेम के बारा, सपनावती कहँ गयऊ पतारा।
> मधूपाछ मुग्धावति लागी, गगन पूरि होइगा बैरागी।
> राजकुंवर कंचनपुर गयऊ, मिरगावती कहँ जोगी भयऊ।
> साधे कुंवर खँडरावत जोगू, मधुमालती कर कीन्ह वियोगू।
> प्रेमावति कहँ सुरपुर साधा, ऊषा लागि अनिरुद्ध कर बाँधा।

इनमें से हिन्दी संसार के समक्ष अभी तक केवल कुतुबन की मृगावती और मंझन की मधुमालती ही प्रकाश में आई हैं। प्रेम कहानियों की परम्परा में मलिक मुहम्मद

जायसी का स्थान बहुत ऊँचा है। जायसी के बाद यह परम्परा बराबर चलती रही। वस्तुतः सूफ़ी फकीरों का लक्ष्य अर्ध-कल्पित हिन्दू जीवन की मनोरंजक कहानियों द्वारा मुसलमान सूफ़ी-विचारों को भारतीय साधारणजनों तक पहुँचाना था। लगभग सभी सूफ़ी कथाएँ जन साधारण की बोली में और दोहा चौपाई जैसे सरल छंदों में लिखी गई हैं। कथानक का गठन और वर्णन शैली फारस की मसनवी शैली पर हुए हैं और कथानक के बीच बीच में अध्यात्मिक प्रेम का संकेत है। मलिक मुहम्मद जायसी के बाद भी, जैसा कि ऊपर कहा गया है, सूफ़ी प्रेम-कहानियों के लिखने की परम्परा बराबर चलती रही है। जायसी के बाद की परम्परा में उसमान कृत चित्रावली, शेख़ नबी कृत ज्ञानदीप, कासिमशाह कृत हंसजवाहर और नूरमुहम्मद कृत इन्द्रावती अधिक प्रसिद्ध हैं।

हिन्दी-साहित्य के इतिहासकार और समालोचकों ने अबतक कुतबन, मंझन और जायसी का ही विशेष अध्ययन किया है। जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफ़ी कवियों की ओर उनका ध्यान नहीं गया। श्री परशुराम चतुर्वेदी जी ने अपने ग्रन्थ 'सूफी काव्य संग्रह' में इस दिशा में कुछ प्रयास अवश्य किया है। इन अभाव की पूर्ति के लिए ही श्रीमती सरला शुक्ल को अनुसंधान के लिये "जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफ़ी कवियों का अध्ययन" शीर्षक विषय दिया गया था। श्रीमती डा० शुक्ल मेरी शिष्या और हमारे हिन्दी विभाग में प्राध्यापिका हैं, और इस विद्यालय के श्रेष्ठतम विद्यार्थियों में रही हैं। प्रस्तुत निबन्ध डा० केशरीनारायण शुक्ल एम० ए० डी० लिट्० की देख रेख में लिखा गया है, और इस पर श्रीमती शुक्ल को लखनऊ विश्व-विद्यालय की पी एच० डी० उपाधि मिली है। इस प्रबन्ध के विषय से सम्बन्धित ग्रन्थ अधिकतर अमुद्रित ही थे। विषय की अप्रकाशित और बिखरी हुई सामग्री को अनेक स्थानों से बड़े परिश्रम के साथ श्रीमती शुक्ल ने इकट्ठा किया और उसे एक व्यवस्थित और मौलिक निबन्ध रूप में प्रस्तुत किया। इनके अथक परिश्रम और विस्तृत अध्ययन की मैं भूरि भूरि प्रशंसा करता हूँ। श्रीमती डा० शुक्ल मेरी बधाई और शुभ कामनाओं की पात्री हैं। इनकी लेखनी से और भी महत्वशाली ग्रन्थ प्रस्तुत होंगे, ऐसी मेरी मंगलाशा है।

डॉ० दीनदयालु गुप्त
एम० ए० एल० एल० बी० डी० लिट्०
अध्यक्ष हिन्दी विभाग
लखनऊ विश्व विद्यालय

दीनदयालु गुप्त
७. ११. ५६

प्राक्कथन

हिन्दी साहित्य की प्रेमाख्यान-परम्परा में सूफ़ी प्रेमाख्यानों का महत्वपूर्ण स्थान है। धर्म से मुसलमान और हृदय से उदार ये सूफ़ी, वसुन्धरा को केवल 'वीरभोग्या' ही न रखकर 'प्रेमभोग्या' बना रहे थे। सूफ़ीमत का जन्म अरब प्रदेश में मुहम्मद साहब के निधनोपरान्त हुआ। कालान्तर में इसने ईरान, स्पेन, मिस्र, भारतवर्ष आदि देशों में भी विस्तार पाया।

भारत में सूफ़ीमत के अनुयायियों का आगमन उस अवस्था में हुआ जब सूफ़ीमत इस्लाम का एक अंग बन चुका था। अब सूफ़ी केवल साधक ही न रहकर इस्लाम के प्रचारक भी थे। अधिकांश सूफ़ी या तो आक्रमणकारी यवनों की सेना के साथ या उनके आगे पीछे आते तथा इस्लाम का झंडा ऊंचा करते थे।

साहित्यिक सूफ़ियों या सूफ़ी कवियों के स्पष्ट प्रचारक स्वरूप का उल्लेख कहीं नहीं मिलता किन्तु फिर भी उनके काव्य में उनका यह अर्थ व्यञ्जित अवश्य रहता है। उन्होंने काव्य में 'कान्तासम्मिततयोपदेश युजे' हेतु को सार्थक कर दिया।

सूफ़ियों ने अपने ग्रंथों की रचना हिन्दी भाषा एवं फारसी लिपि में की। इनके प्रेमाख्यानों पर भारतीय प्रेमाख्यान परम्परा एवं फारसी की मसनवी काव्य-शैली दोनों का प्रचुर प्रभाव है। जनसाधारण में प्रेम-संदेश पहुँचाने के लिये सूफ़ी कवियों ने लोकप्रचलित कथाओं को लोक भाषा के माध्यम से ही कहा। ये कथायें केवल प्रेम-कथायें न रहकर उपमिति कथायें या धर्मकथायें भी बन गईं क्योंकि ये सूफ़ीसिद्धान्त एवं साधना के नियमों से अनुप्राणित थीं।

भारतीय प्रेमाख्यानों की परम्परा नवीन नहीं है। ऋग्वेद में यम-यमी के संवाद में भी प्रेम-कथा के बीज निहित हैं। पौराणिक युग में प्रेमाख्यानों के द्वारा नीति और धर्म का प्रचार किया जाता था। संस्कृत साहित्य में प्रेमाख्यानों की परम्परा अविरल रही। अपभ्रंश साहित्य में जैनमुनियों के चरितकाव्य प्रेमाख्यान काव्यों के ही रूप हैं।

हिन्दी के कवियों को ये प्रेमाख्यान अपभ्रंश से "थाथी" रूप में प्राप्त हुये जिन्हें सूफ़ी कवियों ने अपने मत के प्रचारार्थ ग्रहण किया। इन सूफ़ी कवियों को एक ओर जहां भारतीय प्रेमाख्यान-पद्धति परम्परा के रूप में उपलब्ध हुई वहीं दूसरी ओर ईरान के सूफ़ी कवियों की मसनवी रचनाओं ने भी प्रेरणा दी।

कुरान में भाषा के सम्बन्ध में कहा गया है कि प्रत्येक जाति में नबी उसकी भाषा में ही भेजा गया है अतः प्रत्येक भाषा पुनीत है। यह तथ्य इन सूफ़ियों को मान्य होने के साथ ही

इनका उद्देश्य जन-साधारण में अपने विचारों का प्रचार करना था जो साहित्यिक भाषा को सहज ही हृदयगंम न कर 'भाषा' को बोलनी और समझनी थी। इसके अतिरिक्त सूफ़ी कवियों के हिन्दी बोलियों में काव्य-रचना के पीछे एक और सत्य यह हो सकता है कि 'जन कवि' की भांति धर्मान्तरित सूफ़ी अपने प्रदेश में बोली जाने वाली भाषा में ही भलीभांति अपने विचारों को व्यक्त कर सकते थे। जान कवि ने इस तथ्य को स्वीकार भी किया है। जो हो इन कवियों ने प्रादेशिक बोलियों में ही अपने काव्य की रचना की और कथातत्व के लिये लोक कथाओं या लोक में अत्यधिक प्रख्यात ऐतिहासिक एवं धार्मिक कथाओं का आश्रय लिया।

हिंन्दी के इन सूफी प्रेमाख्यानों की रचना मुल्ला दाऊद के चंदावन से आरम्भ हो गई थी किन्तु प्राप्त प्रेमाख्यानों में सर्वप्रथम कुतबन की 'मृगावती' (हि० सन् ६०६ सन् १५०३ ई०) ही है। हिन्दी इतिहासकारों एवं अन्य रचयिताओं ने आरम्भिक सूफी कवि कुतबन, मंझन, जायसी का विशेष उल्लेख किया है। अतः स्वाभाविक रूप से सूफ़ी कवियों का नाम लेते ही इनका ध्यान हो आता है। रीति एवं आधुनिक काल के किसी सूफ़ी कवि का उल्लेख हिन्दी के इतिहास ग्रन्थों में नहीं हुआ। इसका यह तात्पर्य नहीं कि भक्तिकाल के पश्चात् सूफ़ी-काव्य का प्रणयन नहीं हुआ। सूफी काव्य की रचना चौदहवीं शताब्दी से आरम्भ होकर बीसवीं सदी तक अबाध गति से चलती रही है। प्रस्तुत प्रबन्ध में सूफ़ी काव्य एवं रचयिताओं का परिचयात्मक तथा आलोचनात्मक अध्ययन किया गया है।

'जायसी ग्रन्थावली' की भूमिका में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जायसी के सम्बन्ध में सभी ज्ञातव्य बातों का निर्देश कर दिया था। इसके पश्चात् प्रयाग एवं आगरा विश्व-विद्यालय से क्रमशः श्री कमल कुलश्रेष्ठ एवं श्री जयदेव कुलश्रेष्ठ ने 'जायसी' के काव्य एवं जीवन पर प्रबन्ध लिखकर पीएच० डी० की उपाधि प्राप्त की। डा० माताप्रसाद गुप्त ने जायसी ग्रन्थावली का पुनः सम्पादन किया। श्री चन्द्रबली पाण्डेय ने 'तसव्वुफ अथवा सूफीमत' लिखकर सूफ़ी-सिद्धान्त एवं साधना का विवेचन किया। किन्तु किसी भी लेखक का ध्यान जायसी के परवर्त्ती सूफ़ी कवियों की ओर नहीं गया है। श्री परशुराम चतुर्वेदी के 'सूफी-काव्य-संग्रह' में अवश्य इस अभाव की पूर्ति का प्रयास किया गया किन्तु उसमें भी सभी कवियों का परिचय नहीं आ सका है। जायसी के बाद के सूफ़ी-साहित्य की परम्परा का अध्ययन प्रस्तुत प्रबन्ध का उद्देश्य है।

सूफ़ीमत के आविर्भाव एवं विकास का संक्षिप्त विवरण सूफ़ी-साहित्य के अध्ययन में सहायक होने के दृष्टिकोण से ही दिया गया है। सूफी-दर्शन एवं साधना की विस्तृत मीमांसा सूफ़ी साहित्य (प्रेमाख्यान एवं स्फुट साहित्य) के स्पष्टीकरण में सहायक है। किसी भी युग की रचनाओं के अध्ययन और उनके मूल्यांकन के लिये तत्कालीन साहि-त्यिक, सामाजिक और राजनैतिक वातावरण का अध्ययन नितान्त आवश्यक है। साथ ही कवि का काव्य विगत परम्पराओं का प्रतीक भी होता है। कवि अपने अग्रज कवियों की भाषा, भाव और प्रक्रिया सम्बन्धी रूढ़ियों को अपनाना अवश्य है। अतः तत्कालीन

प्रवृत्तियों के अतिरिक्त अतीत की प्रवृत्तियों का अध्ययन भी आवश्यक होता है। सूफी-काव्य की पृष्ठभूमि स्वरूप ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का भी अध्ययन किया गया है।

सूफी प्रेमाख्यानों की प्रेम-व्यञ्जनापद्धति, लोकपक्ष, अध्यात्मतत्व, काव्यतत्व, प्रतीक-योजना, प्रबन्धकल्पना, भाषा एवं शैली पर भी विचार किया गया है। प्रस्तुत प्रेमप्रबन्धों के साहित्यिक सौष्ठव के अतिरिक्त उनकी साहित्यिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक देन का भी स्पष्टीकरण है। प्राप्त प्रेमाख्यानों के विशिष्ट अध्ययन के अन्तर्गत इन काव्य-ग्रन्थों के रचनाकाल, कवि के जीवनवृत्त, आख्यान की कथावस्तु, प्रबन्धकल्पना, एवं काव्य-सौन्दर्य का आलोचनात्मक विवेचन है। इसके अतिरिक्त इन काव्यों में प्राप्त एतिहासिक एवं सामाजिक तथ्यों का भी निर्देश है। आलोच्य प्रेमाख्यानों में कई ऐसे हैं जिनका उल्लेख इतिहास ग्रन्थों में भी नहीं है। केवल एक ग्रन्थ 'कथा कामरूप' के कवि के जीवनवृत्त एवं रचनाकाल के सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा जा सका क्योंकि वह स्वयं आत्मपरिचय के सम्बन्ध में मौन है तथा इतिहास ग्रन्थों में भी उसका उल्लेख नहीं मिलता है। प्रबन्ध के आलोच्य ग्रन्थ साधारणतया अमुद्रित होने के कारण अलभ्य हैं। अधिकतर ग्रंथ साहित्यिक संस्थाओं, साहित्यप्रेमियों, राजकीय पुस्तकालयों एवं पुरातत्वविभागों में सुरक्षित हैं।

मध्ययुग में सगुण और निर्गुण भक्तिधारा के समानान्तर प्रेमाख्यानों की यह अविरल धारा भी चल रही थी। वीरगाथा काल की संध्या मे प्रारम्भ होकर आधुनिक काल तक इन प्रेमाख्यानों का प्रणयन होता रहा अतः इनका अध्ययन साहित्यिक एवं सांस्कृतिक दोनों ही दृष्टियों से महत्वपूर्ण है।

इन कवियों ने लोकगीतों की परम्परा का अनुसरण कर संयोग एवं वियोग की मार्मिक अभिव्यक्ति की। काल्पनिक आख्यानों में कादम्बरी आदि प्रबन्धों की परम्परा अक्षुण्ण है। शामी कथानकों के साथ ही इन कवियों ने भारतीय ऐतिहासिक एवं पौरा-णिक कथानकों का भी आश्रय लिया। कथानक के चयन में जहाँ कवियों ने उदारता का परिचय दिया है वहीं उनके सांस्कृतिक वातावरण में भारतीयता का पुट मिलता है। सभी कथाओं को भारतीयता के रंग में रंगकर इन्होंने सांस्कृतिक सामञ्जस्य की नींव डाली। सूफीमत के दार्शनिक सिद्धान्तों, साधना पद्धतियों का वर्णन करते हुए कवियों ने अपने प्रेमाख्यानों में भारतीय अहिंसा, सगुणभक्ति, अवतारवाद, जन्मान्तरवाद, अद्वैत-वाद आदि दार्शनिक एवं धार्मिक विश्वासों का समन्वय भी किया है। हठयोग की साधना, तान्त्रिकों के प्रयोग आदि का भी उल्लेख मिलता है।

लौकिक प्रेम से अलौकिक प्रेम की ओर अग्रसर होना इन कथाओं में व्यञ्जित है। सूफी प्रेमाख्यानों में प्रेम की गति विषम से सम की ओर है प्रेम की स्थापना साध्य के रूप में न होकर साधन के रूप में है।

भाषा की दृष्टि से सूफ़ी काव्य की रचना अवधी, खड़ीबोली, ब्रज से प्रभावित अवधी, एवं राजस्थानी मिश्रित अवधी में हुई है। वास्तव में इन कवियों ने अपने निवासस्थान मे प्रयुक्त भाषा में ही अपने काव्य ग्रन्थों की रचना की है।

जीवन के हास, उल्लास के मध्य व्यक्ति के कर्तव्यों का भी चित्रण है। भारतीय आदर्श, सतीत्व एवं सती नारी का गुणगान किया गया है। प्रेम की तीव्रता, गम्भीरता एवं एकनिष्ठता का प्रदर्शन करने के साथ ही ये कवि सामाजिक मान्यताओं का उल्लंघन नहीं करते। विवाह के पवित्र एवं अटूट बन्धन को ये कवि स्वीकार करते हैं। स्वकीया प्रेम की व्यञ्जना ही अधिक है। गार्हस्थ्य जीवन की पवित्रता को बनाये रखने एवं सामाजिक मर्यादा का उल्लंघन न होने देने में इन कवियों ने अद्वितीय सफलता प्राप्त की है।

संक्षेप में प्रस्तुत प्रबन्ध चौदहवीं शताब्दी से लेकर बीसवीं शताब्दी तक की भारतीय संस्कृति और साहित्य के महत्वपूर्ण विकासोद्‌घाटन का प्रयास है।

प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखन में मुझे अपने पूज्य गुरू और निर्देशक डा० केसरी नारायण शुक्ल एम०, ए० डी०, लिट्० से अत्यधिक सहायता मिली है। यदि उनका प्रोत्साहन, सहायता और अनुकम्पा न होती तो इसका पूर्ण होना कठिन था। श्रद्धेय डा० दीनदयालु गुप्त एम० ए० डी० लिट्० अध्यक्ष हिन्दी विभाग ने अपना अमूल्य समय एवं सम्मति देकर अनुग्रहीत किया जिसके लिये लेखिका हृदय से कृतज्ञ है। डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित, श्री रामेश्वर प्रसाद अग्रवाल की सहायता के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करके लेखिका उसका महत्व नहीं कम करना चाहती। श्रद्धेय श्री चन्द्रवली पाण्डेय एवं पं० परशुराम चतुर्वेदी ने प्रबन्ध के संबंध में परामर्श एवं बहुमूल्य आदेश देकर वर्णनातीत अनुग्रह किया है। श्री गोपाल चन्द्र सिन्हा, कुंवर संग्रामसिंह एवं श्री अख्तर हुसेन निजामी ने हस्तलिखित ग्रन्थ यथावसर प्रदान करके कार्य भार हल्का कर दिया जिसके कारण प्रबन्ध शीघ्र प्रस्तुत हो सका। डा० शमशेर बहादुर समदी (अरबीविभाग) ने कुछ कठिन स्थलों पर सहर्ष सहायता की। इसके अतिरिक्त लेखिका उन सभी पुस्तकालयों, संग्रहालयों के अधिकारियों के प्रति कृतज्ञ है जिन्होंने हस्तलिखित ग्रन्थों को देखने में सहायता प्रदान की है।

ग्रन्थ की मुद्रण-सम्बन्धी भूलों को शुद्धि-पत्र देकर सुधारने की चेष्टा की गई है, यदि कुछ त्रुटियाँ फिर भी रह गई हों तो पाठक क्षमा करें।

दीपमालिका
सम्वत २०१३

लेखिका

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

सूफ़ीमत का आविर्भाव एवं विकास (१-२८)

द्वितीय अध्याय

सूफ़ी-दर्शन (२९-७४)

तृतीय अध्याय

सूफ़ी-साधना (७५-१२६)

चतुर्थ अध्याय

सूफ़ी-साहित्य (१२७–१४१)

पञ्चम अध्याय

सूफ़ी-काव्य की पृष्ठभूमि (१४२–१८१)

षष्ठ अध्याय

सूफ़ियों की लोकदृष्टि (१८२–१९९)

सप्तम अध्याय

सूफ़ियों की प्रबन्ध कल्पना (२००-२१२)

अष्टम अध्याय

प्रतीक योजना (२१३-२२६)

नवम् अध्याय

रस, छन्द, अलंकार (२२७-२५८)

दशम अध्याय

भाषा तथा शैली (२५९-२७८)

एकादश अध्याय

सूफ़ी-काव्य की सामान्य प्रवृत्तियां (२७९–२८८)

द्वादश अध्याय

सूफ़ियों की बहुज्ञता (२८९–२९७)

त्रयोदश अध्याय

सूफ़ियों का स्फुट साहित्य (२९८–३२५)

चतुर्दश अध्याय

पञ्चदश अध्याय

सहायक-ग्रंथ सूची

१

सूफ़ीमत का आविर्भाव एवं विकास

सूफ़ी सम्प्रदाय का सम्बन्ध शामी विचारधारा से प्रभावित इस्लाम धर्म से है। इस्लाम धर्म को हम भक्ति भाव पूर्ण धर्म भी कह सकते हैं। भक्ति मार्ग में अपने आराध्य की महत्ता का ज्ञान करके उसके प्रति पूर्ण श्रद्धा रखना परमावश्यक है। इसी प्रकार इस्लाम धर्म में अल्लाह की शक्ति तथा सामर्थ्य का ज्ञान करके केवल उसके वचन व कृपा पर श्रद्धा रखना परमावश्यक है। सूफ़ी भाव-धारा ने इस भक्ति-मार्ग में स्वतन्त्र-चिन्तन तथा दार्शनिक विचारधारा का समावेश किया।

शामी जातियों के पूज्य देवता बाल, कादेश, ईस्तर आदि के मन्दिरों में समर्पित संतानों का जमघट था[1]। ये मन्दिर धीरे-धीरे वासना के केन्द्र बन गए, किन्तु यहोवा के अनुयायियों ने इस प्रकार के मादन भाव का विरोध किया। धीरे-धीरे इन देवताओं की पूजा तथा संतान-समर्पण की प्रथा कम होती गई, किन्तु उसकी अवशिष्ट भावना 'प्रेम-और विरह' को आगे आने वाले सूफ़ियों ने ग्रहण किया। सूफ़ियों की प्रेम-भावना का उदय इन्हीं समर्पित सन्तानों में हुआ तथा कर्मकांडी नबियों के घोर विरोध ने उसे परिमार्जित करके परमप्रेम के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया।

सूफ़ियों में पाई जाने वाली इलहाम की भावना भी इन्हीं शामी संस्कारों में से एक है। मूर्तिपूजा, बहुदेवोपासना तथा समर्पित सन्तानों के विरोधी ये नबी विशेष उत्सवों तथा देव-स्थानों पर एक अनोखे प्रकार की शारीरिक चेष्टाओं द्वारा यह प्रकट करते थे कि उन पर उनका इष्ट आया है। उस विचित्र दशा में वे जो कुछ कहते थे वह ईश्वर का वचन समझा जाता था। उनका यह इलहाम उन्हें सर्वसाधारण से अलग रखता था। सूफ़ियों ने भी इस 'इलहाम' को अपनाया। इलहाम के सम्यक् संपादन के लिये मादकद्रव्यों का सेवन भी इन नबियों में प्रचलित था। सूफ़ियों के 'समा' और 'हाल' का प्रचलन ऐसे नबियों की मंडली में पाया जाता था। हाल की अवस्था में शरीर को छिन्न-विछिन्न करके यह सिद्ध

---

1 The religion of the Semites P. 515.
by W. Robertson Smith. M. A LL. D.

करने का प्रयास किया जाता था कि विशेष काल में उन पर ईश्वर की अत्यधिक कृपा है। इस कृपा प्रदर्शन का अवशेष भी सूफ़ियों में पाया जाता है।

यहोवा के उपासकों में संभवत: उपवास तथा मुद्राविशेष का भी प्रचलन था। इलियास यहोवा की आराधना में घंटों घुटने के बीच सिर दबाये पड़ा रहता था।

सारांश यह कि सूफ़ी मत के समस्त मादनभाव, रहस्य, हाल एवं इलहाम आदिक तत्व, शामी परम्पराओं में बिखरे पड़े थे, जिन्हें यथासमय सूफ़ियों ने अपनाया तथा प्रचारित किया। इसके अतिरिक्त सूफ़ीमत के उद्भव के विषय में अनेक मत प्रचलित हैं—(१) सूफ़ीमत का नवअफलातूनी मत से प्रभावित होना, (२) आर्य दर्शन से प्रभावित होना, (३) क़ुरान में अन्तर्हित रहस्यमयी उक्तियों से उत्पन्न होना एवं (४) स्वतन्त्र विकास।

ब्राउन तथा निकोल्सन सूफ़ीमत के उद्भव का सम्बन्ध नवअफलातूनी मत से ठहराते हैं। फ्रेंच लेखक डोज़ी इसे भारतीय दर्शन से प्रभावित मानता है। क्या वास्तविकता है इसकी मीमान्सा करना हमारा उद्देश्य नहीं। इतिहास में उपलब्ध प्रमाण, मध्य एशिया में प्राप्त बौद्ध मूर्तियाँ, ईसा पूर्व दूसरी तीसरी सदियों की कार्ला आदि गुफाओं में अङ्कित यवन व्यापारियों के बौद्ध मठों को दिये गये दान, तथा ईसा पूर्व पहली सदी में लङ्का के रत्नमाल्य चैत्य के उद्घाटनोत्सव में सिकन्दरिया के बौद्ध भिक्षु, धर्मरक्षित के आने का प्रसंग[1] आदिक यह सिद्ध करते हैं कि नवअफलातूनी मत का उद्भव स्थल यूनान स्वयं भारतीय दर्शन से प्रभावित था। इन विवादों के मध्य भी एक निश्चित सत्य है कि सूफ़ीमत के प्रेम-भाव का उदय शामी जातियों के बीच हुआ। अपनी पुरानी भावना तथा धारणा की रक्षा के लिये सूफ़ियों ने उसका सम्बन्ध क़ुरान से स्थापित कर तथा अन्य जातियों के दर्शन और अध्यात्म से सहायता ले एक नवीन मत का सृजन किया। मुसलमान समालोचक श्री इक़बालअली शाह का कथन है कि सूफ़ी भावधारा का आदि उद्गम मुहम्मद साहब की शिक्षा और व्यक्तित्व में था तथा इसका आरम्भ आनन्दातिरेक की अवस्था में ही हुआ होगा। कहा जाता है कि ऐसी ही भावोल्लास की अवस्था में मुहम्मद साहब ने अपनी प्रेयसी आयशा से पूछा—'माअन्ती, तुम कौन हो?' आयशा ने उत्तर दिया—'अना आयेशा, मैं आयेशा हूं।' 'आयेशा कौन है' ?—मुहम्मद साहब ने फिर पूछा। उसने उत्तर दिया—'इब्नातुस्स सिद्दीक की पुत्री'। 'इब्नातुस्स सिद्दीक कौन है'? 'मुहम्मद का ससुर'। 'मुहम्मद कौन है?' आदि प्रश्नों से ज्ञात होता है कि उस समय वे परमभाव की उस अवस्था को प्राप्त थे जब 'हमओउस्त' 'सब कुछ वही है' का सिद्धान्त सत्य ज्ञात होता है। मुहम्मद साहब के समय से ही लगभग ४५ व्यक्तियों ने मक्का में अपने जीवन में ध्यान धारणा को ही सब कुछ समझ लिया था। अबुलफ़िदा नामक इतिहासकार कहता है कि ये महान आत्मायें 'अशाबी सफ़ा' (धर्म स्थान या पूजा

---

१. महावंश २९।३९ पृ० १३९।

भदंत आनन्द कौशल्यायन का हिन्दी अनुवाद पृ० १३९।

मन्दिर में बैठने वाले) ही सूफ़ी कहे जाते थे। वे वहीं रहते थे तथा मुहम्मद साहब के साथ भोजन आदि भी करते थे ; किन्तु उन्हें सूफी नाम से पुकारा जाना मुहम्मद साहब के निधन के दो सौ वर्ष पश्चात् ही प्रारम्भ हुआ[1]।

सित्ताह शब्दकोष, जो ३१२ हिजरी में संग्रहीत हुआ था, में सूफ़ी शब्द वर्तमान नहीं है। ऐसे व्यक्ति आरम्भ में मुकराबिन (ईश्वर के मित्र) सहमिन (धैर्यवान महात्मा) अबरार (धार्मिक व्यक्ति) जुहद (पवित्र व्यक्ति) के नाम से पुकारे जाते थे। तुर्किस्तान और मेसोपोटामियां के 'मुक्' भी सूफ़ियों की साधना से साम्य रखते हैं। सूफ़ीमत का इसी नाम से प्राप्त इतिहास मुहम्मद साहब के लगभग २०० वर्ष पश्चात् प्राप्त होने लगता है, यद्यपि यह भावधारा अत्यन्त प्राचीन है। इसका मूल स्रोत आर्य दर्शन से प्रभावित तथा नव अफलातूनी मत से समन्वित शामी विचार-धारा में ही है।

अब प्रश्न उठता है, कि ये सूफ़ी कौन थे तथा 'सूफ़ी' शब्द का क्या तात्पर्य है। मिथुललुघत के रचयिता के अनुसार 'सूफ़ा' नामक एक अरबी जाति, अरब के अन्धकार युग में (मुहम्मद से पूर्व) अपने को अज्ञानावृत्त अरबों से पृथक करके मक्का के तत्काल-स्थित मन्दिर में पूजोपासना में लग गई थी। इस सूफ़ा जाति का निवासस्थान बनीमजार था। अब्दुलफिदा के कथनानुसार सूफ़ी शब्द की उत्पत्ति 'सूफ़' शब्द से हुई है जिससे तात्पर्य यह ज्ञात होता है कि क़यामत के दिन ये सूफ़ी लोग सर्वप्रथम पंक्ति में होंगे। सूफ़ी शब्द की उत्पति 'सूफ़' शब्द से, जिसका अर्थ 'ऊन' होता है, इसीलिये कुछ लोग अमान्य मानते हैं, कि 'सूफ़ लिबासुल अनम्' अर्थात् ऊन जानवरों का वस्त्र है। 'सुफ़्फ़ा' शब्द से भी इस शब्द का सम्बन्ध जोड़ा जाता है जो विशेषत: किसी मन्दिर के प्रांगण में बने हुये चबूतरे की ओर इंगित करता है। सम्भवत: इसका अर्थ मुहम्मद साहब के समकालीन उनके कतिपय सहचरों से है जिनका अधिकांश समय परमात्म-चिन्तन में ही व्यतीत होता था।

कुछ ऐसे भी मत हैं जो सूफ़ी शब्द की व्युत्पत्ति भावात्मक संज्ञाओं से जोड़ते हैं जिसका तात्पर्य, पवित्रता, निष्छलता और ज्ञान से लेते हैं ; किन्तु ऐसे भावों के मानने वाले यह नहीं समझ पाते कि सूफ़ी शब्द का प्रयोग एक वर्ग विशेष के लिये ही क्यों किया जाता है: यह शब्द किसी भी इन गुणों से विभूषित व्यक्ति के लिये क्यों नहीं प्रयुक्त होता।

ग्रीक शब्द 'सोफिया' से भी इसका सम्बन्ध जोड़ा जाता है किन्तु प्राचीन यूनानी सोफियों और इस्लामी सूफ़ियों का दार्शनिक सम्प्रदाय एक नहीं है। सोफ़ी एक अशान्त तितर बितर होते समाज तथा राज्य क्रान्ति की उपज थे। जब युनिक नगर पर कोरोश तथा दारयोश का शासन समाप्त हो गया तो ईरानियों के शासन काल में कुछ यूनानी भिन्न भिन्न देशों में चले गये। इनमें से कुछ लोग बराबर भ्रमण करते रहते थे। ज्ञानार्चना और तत्व चिन्तन ही उनका कार्य था। पहले से चली आती हुई बातों पर उनका

---

1. The Avariful Marif.
Translated by lieut Col. H. Wilberforce Clearke.

विश्वास कम था। वे ज्ञान की खोज में सदैव रहते थे। सिद्धान्त रूप से सूफ़ी और सोफी भिन्न हैं। राहुल सांकृत्यायन जी सूफ़ी शब्द की व्युत्पत्ति सोफ़ी शब्द से ही मानते हैं।

एक मत सूफ़ी शब्द की उत्पत्ति सफ़ा शब्द से मानता है जिसका अर्थ पवित्रता या शुचिता है। वास्तव में ये व्यक्ति शुद्ध हृदय और आचरण वाले थे जिस प्रकार ईसा मसीह के साथी 'हवारिस' थे। बैधावी (Baidhavi) हवारिस शब्द की व्युत्पत्ति 'हवारा' से मानते हैं। वे 'हवारिस' शुद्ध हृदय होने के कारण कहलाये, इसलिये नहीं कि वे सफेद वस्त्र पहिनते थे। निकल्सन, ब्राउन, मारगोलियथ आदि विद्वानों को तथा कई मुस्लिम आलोचकों को भी यह मान्य है। अधिकांश मत सूफ़ से सूफ़ी की व्युत्पत्ति बतलाते हैं जो कि कई कारणों से समीचीन ज्ञात होता है। उनके वस्त्र एक विशेष प्रकार से ऊन के बने रहते थे जो लोगों का ध्यान अनायास ही आकृष्ट कर सकते होंगे। 'सूफ़' एवं 'सूफ़ी' शब्दों के बीच सीधा शब्द-साम्य दीख पड़ता है। ऊन के वस्त्र धारण करने के कारण वे अपनी निस्पृहता, सादगी तथा स्वेच्छा-दारिद्रय का प्रदर्शन करने में समर्थ थे। सांसारिक वस्तुओं से उन्हें कोई मोह न था। ईश्वर के अनुराग तथा अबाध मिलन में कालयापन करना ही उनका सर्वोच्चआदर्श था। परमेश्वर की उपलब्धि उनका एक मात्र ध्येय था। इस प्रकार धन, वैभव, गृह परिवारादि के प्रति उपेक्षा प्रदर्शित करना सूफ़ियों के लिये स्वाभाविक हो गया था। सादगी की यह वेशभूषा उनका केवल बाहरी परिधान न था। यह सन्यासव्रत सूफ़ियों की आन्तरिक मनोवृत्तियों को भी प्रभावित करता रहा। अबुलहसन नूरी ने लिखा है कि ऐसे लोग निर्धन होने के साथ ही निष्काम भी होते थे।

सूफ़ के वस्त्र धारण करने वाले लोग सूफ़ियों के पहले भी वर्तमान थे। बपतिस्मा देने वाले सेन्टजान की गणना ऐसे ही सूफ़धारियों में की जाती है यद्यपि उनके लिये सूफ़ी शब्द कभी प्रयुक्त नहीं हुआ। सूफी नाम से अभिहित सर्वप्रथम वे ही लोग थे जो मुहम्मद के अनुयायी मुसलमान थे तथा खलीफाओं (अल सहाबा) के सदाचारपूर्ण जीवन के भक्त थे। उनका झुकाव 'क़ुरान शरीफ़' के शब्दों में अंधविश्वास रखने की ओर न था। वे अपने संयत वैराग्यपूर्ण जीवन तथा गम्भीर ईश्वर-प्रेम के आधार पर कुरान के शब्दों में गुप्त 'इल्मे सीना' की खोज किया करते थे। सूफ़ियों के अनुसार क़ुरान में दो प्रकार का ज्ञान निहित है (१) इल्मे सफ़ीना अर्थात् ग्रन्थ निहित ज्ञान और दूसरा (२) इल्मे सीना अथवा हृदय निहित ज्ञान। सूफ़ी विचारधारा के अनुसार प्रथम ज्ञान सर्वसाधारण मुसलमानों के हेतु है तथा दूसरे प्रकार का ज्ञान मुहम्मद साहब के हृदय तक ही सीमित रहा। अतः कुरान के शब्दों को नवीन ढंग से व्यक्त करने के कारण साधारण मुसलमान जनता एवं कट्टर अनुयायी, सूफ़ियों को अपने से भिन्न समझते रहे थे। यद्यपि सूफ़ी तथा सूफ़ीमत के नाम से अभिहित होने वाले महात्मा तथा सम्प्रदाय का जन्म मुहम्मद साहब के जीवन काल के बाद ही हुआ किन्तु इस सम्प्रदाय की कई बातों का सम्बन्ध प्राचीन चली आती हुई शामी भावधारा से स्पष्ट है।

हज़रत मुहम्मद का देहावसान हो जाने पर उनके उत्तराधिकारी ख़लीफाओं का युग आरम्भ हुआ। प्रथम चार खलीफा हज़रत मुहम्मद के अभिन्न सहचर रह चुके थे अतः

इनके शासनकाल में नवीन इस्लाम मत को पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ। वे इस्लाम का उत्तरोत्तर प्रचार करते गये। अरब देश से लेकर क्रमशः शाम, फिलिस्तीन, मिस्र, ईरान, स्पेन एवं तुर्किस्तान आदि देशों तक इस्लामी मत फैल गया। राज्य प्रसार के साथ ही साथ इस्लामी राज्य की राजधानी में भी परिवर्तन होता गया और वह क्रमशः अरब देश से उठकर दमिश्क और अन्त में बगदाद पहुँच गई। आरम्भिक चार खलीफा अत्यंत सीधे एवं शान्त प्रकृति के थे किन्तु राज्य विस्तार के साथ ही धन-लिप्सा, ऐश्वर्य तथा वैभव भी बढ़ चला। इस्लामी राज्य-विस्तार के बीच राजनीतिक झंझटों के होते हुये भी वे त्यागशील तथा कर्तव्यपरायण बने रहे किन्तु बाद के आनेवाले खलीफाओं में इस सादगी और शालीनता का अभाव हो चला। वे धार्मिक प्रचार से कहीं अधिक राज्य—विस्तार एवं शासनाधिकार को महत्व देने लगे। फलतः रसूल तथा चार खलीफाओं अबूबकर (मृ० सं० ६९१), उमर (मृ० सं० ७००), उसमान (मृ० सं० ७१२) एवं अली (मृ० सं० ७१७) का आदर्श क्रमशः लुप्त हो चला। इनका समय प्राचीन रूढ़ियों से छुटकारा पाने का था।

धीरे धीरे खलीफाओं का शासन समाप्त होकर 'सुल्तान' का शासन आरम्भ हुआ जिसका उद्देश्य ही शक्ति तथा अधिकार से पूर्ण एक शासक का अन्य जनवर्ग पर शासन करना है। खिलाफत का, जिसका आदर्श 'ईश्वरीय राज्य' की स्थापना करना था, धीरे २ राज्यविस्तार और वैभवविस्तार के कारण अन्त हो चला। जब तक मुस्लिम राज्य की सीमा मदीना के आस पास छोटे भूमिभाग तक रही, कुरान में प्रतिपादित नियमों का सम्यक् पालन होता रहा। इसलाम धर्म में आरम्भ से ही उसके प्रचार की भावना अन्तर्हित थी। अरब जाति धीरे धीरे धर्मयुद्ध में विजयी होकर पूर्व में फारस तथा भारत तक आ गई। अपनी बढ़ती हुई आवश्यकताओं के कारण या केवल राज्य तथा धन-विस्तार की लिप्सा के कारण अरब जाति स्वयं कोई पृथक संस्कृति बनाने में समर्थ न हो सकी। भारत में आने के पूर्व इस्लाम धर्म के अनुयायियों पर पूर्ण रूप से फारस की राजनीति तथा संस्कृति का प्रभाव पड़ चुका था। इस्लाम राज्य के शासक भी पूर्णरूप से फारस के 'दैवी अधिकारसम्पन्न' शासकों की भांति निरंकुश हो गए थे। इस राज्यविस्तार तथा धन संग्रह का प्रभाव धार्मिक क्षेत्र में भी पड़ा। इस्लाम के सर्वप्रथम शासक मुहम्मद साहब ने सदैव निर्धनता तथा सरलता को सराहा तथा उनके अनुगामी चार खलीफाओं ने भी किसी भी प्रकार से अपने जीवन में धन का प्रवेश नहीं होने दिया, किन्तु बगदाद में इस्लामी राज्य की राजधानी स्थापित होने के साथ ही कुरान तथा मुहम्मद साहब का यह सर्वव्यापी धार्मिक प्रभाव आने वाले नये सुलतानों पर न पड़ सका। इस्लामी राज्य अब 'धर्म-राज्य' न होकर 'लौकिक सत्ता' बनना चाहता था जिसका सामन्जस्य शरीयत के नियमों से न होकर राज्य की बढ़ती हुई आवश्यकताओं से अधिक था। नये नये विचार मुस्लिम राजनीति में प्रविष्ट हो रहे थे। सुल्तान के स्वनिर्मित नियम ही उसकी सीमा में मान्य थे। उस पर हलाल या हराम की भावना का प्रभाव न रहा। सुल्तान की अपनी इच्छा ही उसके लिए एक कार्य वैध या वर्जित बना देती थी। कुरान के शब्दों की उदारतम व्याख्या भी इन नवीन राजनीतिक सिद्धान्तों में सामन्जस्य न ला सकी। धार्मिक

व्यक्तियों के लिए अब केवल दो मार्ग ही उन्मुक्त थे, या तो वे सुल्तान की इस बढ़ती हुई धन लिप्सा को 'जिहाद' के धार्मिक आवरण से आवृत कर उससे विचार-संधि करलें या उससे किसी भी प्रकार का सम्बन्ध न रक्खें। उलेमाओं ने विचार-सन्धि करना तथा सूफ़ियों ने सम्बन्ध-विच्छेद करना पसन्द किया। सूफ़ियों के वर्ग-विशेष की उत्पत्ति के पीछे मुसलमानी राज्य का यह स्वरूप विशेष स्थान रखता है।

नियमानुसार नमाज़ पढ़कर, ईद को विशेषोत्सव मानकर, धर्म के लिये युद्ध करके तथा इस्लाम विरोधी प्रवृत्तियों को दबाकर सुलतान उलेमाओं से फतवा पाने के अधिकारी हो गये थे किन्तु मुहम्मद के वचनों तथा कुरान पर दृढ़ विश्वास करने वालों ने अपने अलग ही सम्प्रदाय बना लिये। महादवी तथा मोतजिली सम्प्रदाय ऐसे ही थे, किन्तु संगठन की कमी तथा समयानुसार कार्य न कर सकने के कारण वे शीघ्र ही छिन्न भिन्न हो गये। ऐसी ही विरोधी प्रवृत्ति के आधार पर सन्यास तथा तपस्या (शारीरिक कष्ट) को प्रधानता देने वाले सूफ़ीमत का उदय हुआ जिसने इस संसार के प्रति निराशा तथा नश्वरता की भावना को दृढ़ करके इससे पृथक होकर ईश्वर-चिन्तन को ही अपना सब कुछ बना लिया। अतः आरम्भिक सूफ़ियों में ज़िक्र (संकीर्तन या ध्यान) तथा तव्वकुल (पूर्ण विश्वास) की भावना अत्यंत तीव्र थी। इन सूफ़ियों ने धर्म तथा राजनीति के क्षेत्र को सर्वथा अलग कर दिया। उनका विचार था कि 'दीन' का मानने वाला व्यक्ति इस संसार के झंझटों से परे होकर ही रह सकता है। संसार में या तत्कालीन राजनीति से प्रभावित इस्लाम के क्षेत्र में दीन का कोई स्थान नहीं। ये सूफ़ी राजसत्ता या शासक से किसी भी प्रकार का भय नहीं खाते थे। कहा जाता है कि उलेमाओं ने मुहम्मद की 'इल्मे सफ़ीना' (ग्रन्थ निहित शिक्षा) का अनुकरण किया तथा सूफ़ियों ने उनकी 'इल्मे सीना' को अपनाया [१]। जो भी हो इतना सत्य है कि आरम्भिक सूफ़ी राजनीतिक प्रपंचों से अपने को दूर रखते थे। धर्मार्थ अपना सब कुछ परित्याग कर देना तथा सांसारिक दिखावे और वैभव से दूर अपने खानकाह में ईश्वर-चिन्तन, ध्यान-धारणा में ही अपना समय बिताना इनका ध्येय था।

मसीह के उपासकों में मतभेद हो जाने पर बुद्धिवादी नास्टिक मत की उत्पत्ति हुई थी। तत्काल स्थित सभी मतों से तत्व ग्रहण कर नास्टिकों ने अपने को उसके (ब्रह्म के) प्रेम में लगा दिया। इस प्रकार केवल नबियों में ही नहीं मसीहियों में भी "प्रेमभाव" का विकास हुआ और कुछ लोग तो सूफ़ीमत का पूर्व रूप नास्टिक मत भी मानते हैं [२]। इन्हीं नास्टिकों की बिखरी हुई शक्ति का पुनः संकलन मानी ने किया। मानी जन्मतः पारसी था, जिज्ञासा की प्रबल प्रेरणा से उसने भारत तथा चीन की यात्रा की। वह टिरविथस (त्रिविशत) नाम से भी प्रख्यात था [३]। मानीमत भी अपने वास्तविक स्वरूप में व्यापक,

---

१. Sufi Saints and Shrines in India. P. 8
by J. A. Subhan

२. The early development of Muhammadanism. P. 144
by D. S. Margoliouth D. Litt.

३. Theism in Mediaeval India. P.91.
by J. Estlin. D. Litt.

शान्त, तपस्यामय तथा असंसारी था, उसने ईश्वर को केवल प्रकाशरूप में माना, ईश्वर की कृपा को उसने विशेष महत्व दिया। ईश्वर का प्रेम ही उसके मन का साध्य हो गया। इस प्रकार हम देखते हैं कि सूफ़ीमत के सर्वस्व प्रेम, संगीत, सुरा, हाल, और इलहाम आदि की चर्चा शामी जातियों में मुहम्मद साहब के उद्भव के पूर्व भी व्याप्त थी। मुहम्मद स्वयं मन एवं कर्म से ईश्वर भक्त थे[१]; किन्तु उन्हें सूफ़ीमत के संस्थापक के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय उन बाद के सूफ़ियों को है जिन्होंने आवश्यकता होने पर अपने धर्म को राजदन्ड से बचाने के लिए नवीन व्याख्यायें कीं, यद्यपि यह सत्य है कि मुहम्मद साहब के भावावेश में कहे हुए वाक्यों में तथा कुरान की कुछ रहस्यमयी उक्तियों में उन सूफ़ियों को सहज ही आश्रय दृष्टिगोचर हुआ। सूफ़ियों ने अपने मत के प्रतिपादन के लिये कुरान के पदों का अभीष्ठ अर्थ लगाकर मुहम्मद साहब को महबूब और नूर बना दिया। फलस्वरूप उन्हें इस्लाम में एक विशेष स्थान प्राप्त हुआ तथा सूफ़ीमत इस्लामी दर्शन के रूप में प्रतिष्ठित हुआ।

कर्बला की घटना इस बात का प्रमाण है कि इस्लाम धर्मानुयायियों में उस समय राज्य-लिप्सा और धन-वैभव ने कितना विद्वेष उत्पन्न कर दिया था। उम्मैया वंश का राज्य काम, क्रोध, लोभ आदि का राज्य था। यह लोग कुरान के अक्षरशः पालन तथा सादगी, निरहंकारता, त्यागशीलता आदि आदर्शों को महत्व नहीं प्रदान करते थे। कर्बला के युद्ध ने उनकी विजय का डंका बजाया तथा अलसहावा, अततावियां कहलाने वाले धर्मशील खलीफाओं के राज्य का अन्त होगया। यह समय था जब धार्मिक प्रवृत्ति के साथ ही चिन्तनशील मुसलमान तत्कालीन सामाजिक तथा राजनीतिक उथल पुथल से दूर अज्ञात जीवन बिताने की चेष्टा करने लगे। तत्कालस्थित राजनीतिक संघर्ष में निर्वेद के बीज वर्तमान थे। सांसारिक अशान्ति सन्यास वृत्ति को प्रेरित कर रही थी ऐसे ही समय में मोतजिली सम्प्रदाय के संस्थापक बसरा के हसन (मृ० ७२८ ई०) का नाम लिया जाता है। हसन हृदय से संत तथा सद्भावों का विधायक था, वह तपस्वी था, प्रेमोपासक नहीं। उसका हृदय ईश्वरीय दन्ड से सदैव भयभीत रहता था। भय की यह भावना उस समय के सभी सूफ़ी संतों में पाई जाती है। उन्हें ऐसा भान होता था कि मानों नरक-यातना केवल उन्हीं के लिये बनाई गई है। उनका आधार 'तुम अपने स्वामी उस खुदा से डरो' वाक्य था[२]।

हिजरी सन् दूसरी शताब्दी से सूफ़ीमत में केवल संन्यास और तप की भावना के साथ ही अन्य भावनाओं का भी समावेश हो चला। इस एकान्तवास ने ध्यान, ध्यान ने अनुभूति तथा उल्लास या हाल को जन्म दिया। अब संसार-त्याग या निर्धनता साध्य न होकर साधन मात्र रह गये थे; साध्य था ईश्वर के प्रति निःस्वार्थ प्रेम। आरम्भ में संन्यास तथा

---

१. Mystical elements in Mohammad P. 26. 891.
by J. Archer Ph. D.

२. "Thou shalt fear the Lord thy God."
The People of the Mosque. P 265. 1
by Bevan Jones.

त्याग की भावना के साथ प्राप्ति की भावना निहित थी। इस संसार में न्यूनतम वस्तुओं का स्वामी होने का आशय था कि उसको जन्नत या स्वर्ग-सुख अवश्य प्राप्त होंगे, किन्तु बाद के इन सूफियों में निर्धनता से तात्पर्य केवल धनहीनता ही न था किन्तु धन के प्रति किसी भी प्रकार की इच्छा का अभाव था। इस आरम्भिक युग के प्रधान सूफ़ी संत इब्राहीम बिन अधम (मृ० ७८३ ई०) फुजायल बिन अयाज (मृ० ८०१ ई०) राबिया अल अदाबिया (मृ० ८०२ ई०) हैं।

फुजायल तथा इब्राहीम बिन अधम दोनों ने अपनी सम्पत्ति तथा राज्य का परित्याग करके बसरा के हसन के किसी शिष्य को मुरीद बनाया था। इन सभी संतों में 'ख़ौफ़' की महत्ता थी किन्तु राबिया बसराबिया ने सूफ़ीमत में प्रेम-भावना की स्थापना की। उसने अपना सब कुछ ईश्वरचिन्तन में लगा दिया। आत्मसमर्पण तथा पूर्ण विश्वास की भावना राबिया में प्रधान थी। अत्तार ने राबिया का परिचय बड़े प्रशंसात्मक शब्दों में दिया है[1]। 'उसके हृदय में परमात्मा का प्रेम तथा उसका विरह व्याप्त था। उसकी एक मात्र चाह ईश्वर ज्योति में लीन हो जाने की थी, वह निष्कपट नारी दूसरी मेरी के समान थी।' राबिया को परम प्रेम ही श्रेय था, वह कहती है, 'हे नाथ तारे चमक रहे हैं, लोग निद्रा निमग्न हैं, सम्राटों के द्वार बन्द हैं, प्रत्येक प्रेमी अपनी प्रेयसी के साथ और मैं यहां अकेली आपके साथ हूँ' वह केवल परमात्मा की कृपा-कोर पर विश्वास करती थी। उसका कहना था, 'हे ईश्वर मैं आपको द्विविध प्रेम करती हूँ, एक तो स्वार्थ पूर्ण कि मैं आपके अतिरिक्त किसी और का ध्यान नहीं करती; दूसरा शुद्ध प्रेम है कि जब आप मेरे मन का आवरण हटा देते हैं तो मैं आपका साक्षात्कार कर पाती हूँ। दोनों ही रूपों में श्रेय आपका है। यह आपकी कृपा का प्रसाद है[2]।'

भय की भावना का सर्वथा अभाव प्रेममयी राबिया में भी नहीं था। उसे रसूल मुहम्मद का डर था क्योंकि सम्भवतः प्रेम की उपासिका राबिया परमात्मचिन्तन में मुहम्मद के महत्व

---

१. "She the Secluded one was clothed with the clothing of Purity and was on fire with love and longing and was enamoured of the desire to approach the lord and be consumed in his glory. She was a Mary and a spotless woman." Rabia the Mystic. P. 54

by Margaret Smith.

२. "Two ways I love thee ; Selfishly
And next an worthy is of thee
'Tis selfish love that I do naught
Save Think on thee with every thought.
'Tis purest love when thou dost raise
the veil to my adoring gaze.
Not mine the praise in that or this,
Thine is the praise in both I wis."

A literary History of Arabs P. 234

का ध्यान नहीं रख पाती थी, उसे मध्यस्थ की आवश्यकता ही नहीं थी। उसने प्रार्थना की 'हे खुदा के रसूल तुम्हें कौन नहीं प्यार करता, किन्तु परमेश्वर के प्रेम से मेरा हृदय इतना ओतप्रोत है कि किसी अन्य के लिये घृणा या प्रेम का भाव मेरे हृदय में कभी आता ही नहीं [१]।

राबिया ने माधुर्य भाव की स्थापना सूफ़ीमत में की। शामी परम्परागत इश्क को पुनः सूफ़ीमत ने अपना लिया। वह तव्वकुल (पूर्ण विश्वास) की अनुयायिनी थी। इस्लामी दर्शन को या सूफ़ीमत को उपासना में मध्यस्थ की अनावश्यकता तथा निष्काम होकर ईश्वराधना करना उसकी सबसे बड़ी देन है। नमाज (प्रार्थना) का एक मात्र साध्य ईश्वर से एकान्त मिलन की प्राप्ति है। सांसारिक सुखों के हेतु परमात्मा से कुछ माँगना लज्जा का विषय है। उसने निष्काम भाव से परमात्मा के प्रेम को जगाया। पवित्रता से एकांत जीवनयापन करने तथा शरीयत के नियमों का पालन करने का फल जन्नत की प्राप्ति या नरक का अभाव नहीं है, उसका प्रतिफल केवल आराध्य का साक्षात्कार है। राबिया अपने ऐसे ही साक्षात्कार या हाल की अवस्था में प्रार्थना किया करती थी। सूफ़ीमत के आरम्भिक काल के ये सूफ़ी एकान्त प्रिय तथा ध्यानानन्द में मग्न रहने वाले थे। उनकी साधना में अन्तःकरण की शुद्धि का सर्वाधिक महत्व था अब ईश्वर प्राप्ति के लिए केवल धन का अभाव होना ही महत्वपूर्ण न था, परन्तु आवश्यक था लिप्सा का सर्वथा तिरोहित होना। इन सूफ़ी संतों की वृत्ति में एकाएक परिवर्तन पश्चाताप के कारण हुआ था। संसार की वस्तुओं तथा सम्बन्धों की अस्थिरता का ज्ञान होने के पश्चात् ही वे ईश्वरोन्मुख हुए थे। उन्हें संसार के वैभव से घृणा थी। उनका सब कुछ तौबा और तव्वकुल था। ये सूफ़ी जाहिद (सन्यासी) तथा निष्क्रियतावादी थे। श्री निकोल्सन ने इन्हें इसी कारण शान्तिवादी (Quietists) की संज्ञा दी है।

फुजायल और इब्राहीम अधम दोनों की जन्मभूमि मर्व तथा बलख में बौद्धधर्म का प्रभाव था। बहुत सम्भव है तत्कालीन राज्यक्रान्ति से ऊबकर बौद्ध सन्तों के अनुकरण पर ही इन सूफ़ियों ने सन्यास और इच्छादमन को जीवन का ध्येय बनाया हो। इब्राहीम बिन अधम का वैभव त्याग करके सन्यास ग्रहण करना बहुत कुछ बुद्ध के महाप्रस्थान से साम्य रखता है। उसका विचार था कि अपने हृदय पर शासन करना एक राष्ट्र पर शासन करने से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है [२]।

---

१. "Apostle of God who does not love thee ? but love of God hath so absorbed me that neither love nor hate of any other thing remains in my heart."

A Literary History of Arabs P. 234.

By R. A. Nicholson.

२. " He held that to control one's self is better than to rule over a nation." Outlines of Islamic Culture. p. 463.

By A. M. A. Sushtery.

इस राजनीतिक जीवन से सर्वथा पृथक, सन्यास-व्रतावलम्बी सूफ़ी-संत-काल के पूर्ण होते होते इसमें रति या प्रेम का भी समावेश हो चला। राबिया तथा उसी प्रकार प्रेमोन्मादिनी वल्ज की प्रेम भावना ने सूफ़ी साधना में प्रेम की स्थापना कर दी। शामी जाति में इस प्रकार के परमप्रेम की भावना सूफ़ीमत के उद्भव के पूर्व भी पाई जाती थी। शामी जातियों के पूज्य देवता बाल, कादेश, ईस्तर आदि के मन्दिर में समर्पित संतानों का जमघट था। इनका जीवन मन्दिर में बहुत कुछ देवदासियों के जीवन से साम्य रखता था। शामी जातियों में विशेषता यह थी कि उनकी समर्पित संतान परस्पर देवरूप में संभोग करना साधु समझती थीं; उसको प्रतीक रूप में नहीं ग्रहण करती थीं। मंदिरों में आने वाले अतिथियों का सत्कार करना उनका कर्तव्य था। किसी भी प्रकार का रतिदान पुण्य समझा जाता था; राबिया के प्रेम की भावना का मूल इन्हीं समर्पित संतानों के सत्वप्रेम में दृष्टिगोचर होता है। रति-भाव को परमप्रेम का स्वरूप तभी प्राप्त होता है जब उसे परिपक्व होने के लिए विरोधों या अन्तरायों का सामना करना पड़े, साथ ही उस रति-भाव का आलम्बन परम होना अनिवार्य है। प्राणी परम के लिए तभी उत्सुक होता है जब प्राप्ति से या सामान्य से उसे पूर्ण सुख और संतोष नहीं होता। इस सुख एवं सन्तोष के अभाव के मूल में भविष्य की अनिश्चितता तथा भय है। यही भय (खौफ) और तौबा की भावना प्रथम युग के सभी सूफ़ी संतों में व्याप्त है। इन प्रथम युग के सूफ़ियों का राजनीतिक झंझटों या धार्मिक मुल्लाओं से कोई संघर्ष न था। उनकी सन्यासवृत्ति उन्हें केवल एकान्तचिन्तन करने को बाध्य करती थी। खौफ़ की भावना ने उन्हें अत्यधिक विनम्र बना दिया था, उनका किसी भी वर्ग (धर्म या राजनीति) से संघर्ष न था। राबिया ने इस भयजनित सन्यास में प्रेम का संचार किया। उसकी रति भावना ने संसारिक अन्तरायों को लांघकर अपना सम्बन्ध उस परम की महत्ता से जोड़ा जिसके सन्मुख सभी हतश्री हैं। शामी जातियों की समर्पित संतानों की प्रेम तथा विरह भावना का ही परिष्कृत एवं परिमार्जित स्वरूप सूफ़ियों का प्रेम तथा विरह है। राबिया ने प्रेम भावना का समन्वय सूफ़ी संतों के सन्यास में कर दिया किन्तु अभी उसकी पूर्ण प्रतिष्ठा नहीं हो पाई थी। इस पूर्ण समर्पण तथा प्रेम में बुद्धि एवं तर्क का भी विकास हुआ। अब तक उमैय्या वंश का शासन समाप्त हो गया था। अब्बास वंश का शासन आरम्भ हुआ। इस्लाम धर्म का आधार केवल कुरान था जिसमें मीनमेष करना धार्मिक दृष्टि से वर्जित था। हदीस का उपयोग ही आवश्यकतानुसार अर्थ लगाकर कर लिया जाता था। ईरान बहुत पहले से बुद्धि-वैभव तथा तर्क-पद्धति से परिचित था। शासक अरब धीरे धीरे शासित ईरानियों की संस्कृति से प्रभावित हो चले। बरामका वंश के मन्त्रियों ने कई पीढ़ियों तक अब्बास वंश के शासकों का मन्त्रित्व ग्रहण किया। ये बरामका पहले बौद्ध थे। मामून ने अपने दरबार के भिन्न धर्मों के प्रतिनिधियों को अध्यात्मविषयक प्रश्नों पर विचार विनिमय करने के लिए प्रोत्साहित किया। अनूदित ग्रन्थों तथा धार्मिक तर्कों के द्वारा भिन्न भिन्न मतों, दर्शनों, कलाओं, और विचारों का आदान प्रदान हो रहा था। ईरान की आर्य संस्कृति इस्लाम को अपना रही थी। इस तर्क वितर्क तथा संस्कृतियों के सम्मिलन का प्रभाव सूफ़ी साधकों पर भी पड़ा। सूफ़ीमत के इस युग को हम 'चिन्तन का युग' कह सकते हैं। अब केवल कुरान या हदीस का प्रमाण देना ही आवश्यक नहीं था। वे मुहम्मद या अल्लाह के शब्दों से

अपनी जिज्ञासा शान्त करना चाहते थे, जहां कहीं भी उन्हें अपनी बुद्धि तथा तर्क को संतुष्ट करने वाला तथ्य प्राप्त होता था वे उसे ग्रहण कर लेते थे। अब वे धर्म के सीमित क्षेत्र तथा भावात्मक आत्मसमर्पण (तव्वकुल) से ऊपर उस एक ही परमात्मा के अस्तित्व से अपना अस्तित्व मिलाकर आनन्द मग्न रहने लगे। फलतः सूफ़ीमत के दो स्वरूपों का दर्शन इसमें दृष्टिगोचर होता है। एक ओर सूफ़ी तर्कों से अपनी जिज्ञासा-शान्ति का प्रयास कर रहा था। इस चिन्तन युग में वह धार्मिक क्षेत्र में मुल्लाओं का महत्व सहन न कर सका। अपने इष्ट से मिलने में किसी मध्यस्थ की आवश्यकता उसे न जान पड़ी। दूसरी ओर उसका शासक वर्ग से संघर्ष चल रहा था क्योंकि सूफ़ी साधक अपने आनन्द में, बुद्धि-विलास में इतने अधिक मग्न थे कि जन साधारण की भांति शासकों को ईश्वर का प्रतिनिधि स्वरूप मानकर उन्हें समुचित सम्मान न दे सके। उस समय के शासक अपने को ईश्वर का प्रतिनिधि घोषित करते थे और सूफ़ी इसे स्वीकार करने को तत्पर न थे। उनका सीधा सम्बन्ध परमेश्वर से था। जनता तथा उलेमाओं ने बढ़ते हुए राज्य-वैभव और राज्य-सत्ता का समर्थन कर सुल्तानों का साथ दिया किन्तु सूफ़ियों ने क्षणिक राज्य-वैभव प्राप्त व्यक्तियों को तिरस्कार की दृष्टि से देखा। वे इन सुल्तानों को दीन-विरोधी तथा हीन समझते थे। उन्हें सुल्तानों की सत्ता मान्य न थी। वे केवल परमात्मा के शासन में रहते थे; उन्हें किसी अन्य का शासन मान्य न था। इस प्रकार शासक वर्ग तथा उलेमा दोनों की ही कोपदृष्टि सूफ़ियों पर थी जो किंचित अवकाश पाते ही सूफ़ी संतों को मृत्यु के घाट उतार कर तृप्त हो जाती थी।

ऐसे ही समय मामून (मृ० ८३० ई०) सा दृढ़ और आग्रही व्यक्ति इस्लाम का शासक बना। मुहम्मद साहब ने जिस राज्य की स्थापना की थी उसमें धार्मिक संघ तथा साम्राज्य का कोई विभेद नहीं था। शासक इन दोनों का संचालन करता था किन्तु कालान्तर में इन दोनों में अन्तर होता गया। मामून कुरान की शाश्वतता का विरोधी था। उसने घोषित किया कि कुरान की शाश्वत सत्ता अल्लाह की अनन्यता के प्रतिकूल है। इससे मोतजिली तथा महादवी सम्प्रदायों को जीवन मिला, तर्क तथा बुद्धि का व्यापार चलने लगा। इस समय के प्रसिद्ध तत्वबोधी सूफ़ियों में करखी, अबू सुलेमानदारानी, जुलनून मिस्री हैं; ये सूफ़ी धीरे धीरे जाहिद से आरिफ हो चले थे। मारुफुल करखी ने तत्वबोध और अर्थ-त्याग को सूफ़ीमत की उपाधि दी, इनका कहना था कि सच्चा सूफ़ी वह है जो सदैव ईश्वर चिन्तन करता है। वह ईश्वर का आश्रय ग्रहण करता तथा ईश्वरीय अर्थों के हेतु ही कार्य करता है[1]। अबू सुलेमानदारानी का कहना था कि कोई भी व्यक्ति इस संसार की वासना से परे नहीं रह सकता, एक सच्चा उपासक ही जिसके हृदय में ज्ञानचक्षु का उदय हो गया है, परमेश्वर की अनन्य उपासना में लीन रहता है। करखी ने त्याग, ज्ञान एवं प्रेम का उद्बोधन कर सूफ़ीमत के प्रज्ञात्मक रूप की चर्चा की। सीरिया के अबू सुलेमान दारानी ने हृदय को परमेश्वर की प्रतिमा का आदर्श और शारीरिक वस्तुओं को उसे

---

1. "The Saints of God are known by three signs.. Their thought is of God, their dwelling is with God, their business is in God.
Tadhkiratu'l Awliya.

आवरण करने वाला कहा है। इस समय सूफ़ीमत के केन्द्र बसरा और बगदाद ही थे जहाँ आर्य संस्कृति का प्रचुर प्रभाव था। मामून की मृत्यु के बाद अहमद इब्न हंबल (मृ० ९१२ ई०) का शासन आरम्भ हुआ। यह मामून की तर्क-पद्धति का विरोधी था। इस्लाम के तौहीद या एकेश्वरवाद को मोतजिलियों ने अपना साध्य बनाया था किन्तु उनकी दृष्टि में अल्लाह के समक्ष अन्य देवों का बहिष्कार तथा कुरान की नित्यता अप्रमाणित करना ही तौहीद था। हंबल के शासन काल में मोतजिलियों का विरोध हो रहा था तथा इस्लाम के आचार्य इस्लाम को कुरान और हदीस के आधार पर पुनः प्रतिष्ठित करने का प्रयास कर रहे थे। ऐसे ही समय जूलनून (मृ० ८५९ ई०) मिस्री तथा बायजीद-अल्-बिस्तामी का आविर्भाव हुआ। राबिया ने जिस प्रेम भावना का परिचय दिया था, उसका अनुभव करखी ने भी किया। उनका कहना था कि प्रेम ईश्वरीय देन है जिसे किसी मानव से नहीं सीखा जा सकता [1]। जूलनून मिस्री ने पूर्ण तौहीद की विवेचना कर इस्लाम को प्रेम का महत्व समझने को बाध्य किया। अल्लाह की अनन्यता प्रतिपादित करते हुये उसने अन्य सभी वस्तुओं के अनस्तित्व का राग अलापा। उसने कहा कि ईश्वरीय प्रेम एक रहस्य है जिसका केवल अनुभव करना ही श्रेय है। जूलनून ने सूफ़ीमत को अपनी विचार-परिपक्वता से पुष्ट किया। उन्होंने इल्म और मारिफत में, ज्ञान और प्रज्ञान (विज्ञान) में भेद स्थापित किया और स्पष्ट कहा कि ईश्वरीय-ज्ञान या मारिफत का सम्बन्ध मुहब्बत या परमप्रेम से है [2]। इन्होंने सूफ़ीमत में सर्वप्रथम अध्यात्मविद्या और भावावेश या हाल का भी समावेश किया। एक और स्थल पर अध्यात्मविद्या या मारिफत के सम्बन्ध में विचार करते हुये इन्होंने लिखा है कि वास्तविक ज्ञान परमात्मा की कृपा-कोर से पराभूत हृदय में ही होता है, जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश में ही सूर्य को देखा जा सकता है [3]। जिस प्रकार सूर्य के अधिकाधिक निकट पहुँचने पर व्यक्ति का पृथक अस्तित्व विलीन हो जाता है, उसी प्रकार साधक जितना ही अधिक परमेश्वर के निकट पहुँचता जाता है वह अहं से दूर होता जाता है। जूलनून ने समा, हाल, तौहीद, तौबा, करामात आदि प्रसंगों पर भी विचार प्रकट किये तथा प्रेम को साध्य रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। इनके स्वतंत्र चिन्तन के कारण इन्हें इस्लाम विरोधी— मलामती [4] तथा जिन्दीक समझा गया और खलीफा मुतवक्किल ने इन्हें कारावास का दंड दिया किन्तु बाद में स्वयं इनसे प्रभावित हुआ। जामी ने अपने नफहातुलउन्स में इन्हें सूफ़ीमत के प्रथम प्रचारक शेख की पदवी दी है।

बायाजीद बिस्तामी (मृ० ९३१ ई०) शुद्ध पारसी-संतान था। इसका बाप शरबाशाँ जरथुष्ट्र का उपासक था। सूफ़ीमत में तौहीद तथा मुहब्बत की स्थापना ने अद्वैतवाद को जन्म दिया। बायाजीद ने परमात्मा को कण-कण में व्याप्त देखा। ईश्वर और जगत में इन्होंने अभिन्नता प्रतिपादित की। आत्म-दर्शन में उसने परमेश्वर का साक्षात्कार किया।

---

१ Tadhkiratu 'l Awliya p. 272. 12

२. Idea of personality in Sufism. By R.A. Nicholson. p. 91

३. Tadhkiratu 'l Awliya p. 946

४. Encyclopaedia of Islam; London 1884, P, 946.

वह जीवात्मा और परमात्मा को अभिन्न समझता था। उसका कथन है, 'कि मेरे इस चोले के अन्तर्गत ईश्वर के अतिरिक्त और कुछ नहीं है' तथा 'मैं धन्य हूँ, मेरा कितना असीम प्रभुत्व है [१]।' उसके ये वाक्य सर्वात्मवाद का प्रतिपादन करते हैं जो सूफ़ीमत का प्राण है। प्रेम के सम्बन्ध में भी उसकी धारणा महान है, उसका कथन है कि परमात्मा का जीवात्मा के प्रति प्रेम परमात्मा के प्रति जीवात्मा के प्रेम से प्राचीन है। जीव अज्ञानवश समझता है कि वह परमात्मा को प्रेम कर रहा है। वास्तव में वह तो प्रेम के अनन्य स्रोत परमात्मा का अनुकरण कर रहा है। करखी प्रेमावेश के लिये सुरा और समा की सार्थकता प्रतिपादित कर चुका था। यजीद के प्रेम ने पुनः विरह और सुरा को प्रेरणा दी। उसको तृप्ति तब मिली जब प्रियतम ने उसे अपना लिया। उसने सर्वप्रथम निर्वाण या फना का प्रतिपादन कर आर्य संस्कारों से सूफ़ीमत को पुष्ट किया। कहा जाता है कि यह सिन्ध के सन्त अबूअली का मुरीद था। यजीद के सर्वात्मवाद ने भविष्यके सूफ़ियों के लिये अद्वैत का मार्ग उन्मुक्त कर दिया। जूलनून और यजीद ने 'पीर' के महत्व को व्यक्त किया। जूलनून ने परमात्मा की आज्ञा से भी गुरू की आज्ञा को महत्वपूर्ण माना है। यजीद ने गुरुहीन साधक को शैतान का उपासक तक कह दिया।

अब तक दमिश्क, ख़ुरासान, बगदाद आदि में सूफ़ियों के मठ स्थापित हो चुके थे। कुरान में प्रतिपादित नमाज़ (ज़िक्र) को सूफ़ियों ने इतनी लगन से अपनाया कि सलात, रोजा आदि अन्य विधानों के ऊपर भी उसकी स्थापना हो गई। वे सामूहिक रूप से जिक्र या सुमिरन में लीन रहते थे। उन्होंने उसी के पीछे अपना सर्वस्व त्याग दिया था। अब तक के सूफ़ी केवल उपदेश देते थे। अब सिद्धान्तप्रणयन की परम्परा भी आरम्भ हुई। मुहासिबी तथा बायजीद ने तसव्वुफ पर थोड़ा बहुत लिखा है। जबकि अब्बासियोंके शासन-काल में मुस्लिम संघ एवं साम्राज्य नानाप्रकार की दलबंदियों में विभक्त हो रहा था सूफ़ी साधक सूफ़ीमत के स्वरूप-निर्णय में लगे थे। किसी ने सूफ़ीमत में मिताहार और एकान्त-वास को ध्येय माना, किसी ने आत्मशिक्षण को मुख्य स्थान दिया। नूरी ने सत्य के लिये स्वार्थ का परित्याग ही सूफ़ीमत का सार माना है। परिभाषाओं का आधिक्य यह सूचित करता है कि जन वर्ग में सूफ़ीमत का परिचय जानने की जिज्ञासा थी।

इसी समय जुनैद (मृ० ६६६ ई०) ने जूलनून मिस्री के उपदेशों का संपादन किया, तथा शिबली ने उनका सर्वत्र प्रचार किया। अपने समय के सूफ़ियों में जुनैद अग्रगण्य माने जाते थे। इस समय के सूफ़ियों और शासक वर्ग में जो विरोध बढ़ रहा था, उसका अनुभव जुनैद ने किया। उसने प्रेम के रहस्य को, गुह्य विद्या के प्रकाशन को प्रोत्साहित नहीं किया। जुनैद ने अवसर देखकर काम किया। बाहर से तो वह कट्टर मुसलमान जान पड़ता था किन्तु भीतर ही भीतर गुप्ततत्व का प्रसार करता था। जुनैद ऐसे सूफ़ी साधकों में से है जिनका सम्मान मुल्ला और फकीर दोनों समान रूप से करते हैं। जुनैद के गुह्य और

---

१. "Beneath this cloak of mine there is nothing but God."
"Glory to me ! How great is my majesty."
Tadhkeratu'l Awliya Cp. on Alen Yazid.

बाह्य प्रदर्शन के रूप में हमें सूफ़ीमत और इस्लाम के समन्वित होने की भावना के लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं जिसकी पूर्णता गज्जाली ने कुछ समय बाद की। इन्हीं के शिष्य हल्लाज या मन्सूर (मृ० ९७८ ई०) थे। जुनैद शासक और साधक के संघर्ष के मध्य भी निर्मुक्त रहे और मन्सूर को अपने प्राणों की बलि देकर इस संघर्ष की पूर्णाहुति करनी पड़ी। मन्सूर प्रारम्भ से ही जिज्ञासु थे, इसी कारण उन्होंने भारत, खुरासान एवं तुर्किस्तान की यात्रा की थी। मन्सूर ने मसीह का आदर किया तथा उनके आत्मोत्सर्ग की सराहना की। यजीद ने जिस सत्य की अनुभूति की थी, मन्सूर ने उसे आत्मरूप बना लिया। मन्सूर ने स्वयं को सत्य कहा। वह 'अनल्हक' हो गया[1]। प्रेम को उसने परमात्मा के सत्व का सार कहा है। प्रेम की महानता बिना प्रतिकार किये दुख सहने में है। उसका कथन है 'मैं वही हूँ जिसको प्यार करता हूँ, जिसे प्यार करता हूँ वह मैं ही हूँ। हम एक शरीर में दो प्राण हैं, यदि तू मुझे देखता है तो उसे देखता है। यदि उसे देखता है तो हम दोनों को देखता है[2]।' उसने 'लाहूत' और 'नासूत' (देव और मर्त्य लोक) का विवेचन किया तथा इन दोनों के मिलन को 'हुलूल' कहकर प्रतिपादित किया। उसकी स्वयं की रचनाओं में 'हुलूल' के दर्शन हो जाते हैं।

'जिस प्रकार शराब और पानी मिलकर एक हो जाती है उसी प्रकार परमात्म-तत्व और मैं मिलकर एक होगया हूँ[3]।' मन्सूर ने इबलीस का निरादर नहीं किया। उसके अनुसार वही ईश्वर का सच्चा भक्त था क्योंकि अन्य फरिश्तों ने अल्लाह की आज्ञानुसार आदम की वन्दना की जब कि वह केवल एक उसी का उपासक रहा। अल्लाह ने उसकी परीक्षा ली और वह दन्ड-विधान के सम्मुख भी ईश्वर की अनन्य उपासना में लीन रहा। हल्लाज के अनुसार उसने ईश्वर की आज्ञा का उल्लंघन करके ईश्वरीय महत्ता सिद्ध कर दी। मन्सूर ने मुहम्मद की अवहेलना नहीं की प्रत्युत उन्हें सर्वश्रेष्ठ नबी माना। कुरानोपदिष्ट शालीनता तथा व्यवहार-पद्धति की उसने अवहेलना नहीं की किन्तु कणकण में ईश्वर को व्याप्त देखने वाला मन्सूर जब आत्मशिक्षण की पराकाष्ठा पा कर स्वयं सत्य (अनल्हक) हो गया तो इस्लाम के शास्त्रीय विधायक और शासक इसे न

---

१. Idea of personality in Sufism. p. 29
by R. A. Nicholson.

२. 'If you do not recognise God' he sayest at least recognise his signs. I am that sign. I am the creative truth'.
Studies in Islamic Mysticism p. 84.
By R. A. Nicholson

३. "The spirit is mingled in my spirit even as wine is mingled with pure water.
where anything touches thee; it touches me to in every case thou arts'

Studies in Islamic Mysticism

सह सके और उसे धर्म-विरोधी 'एवं 'रज्जुकला'' का पारंगत घोषित कर दन्ड दिया[१]।

सूफ़ियों ने अपनी साधना में मध्यस्थ की अनावश्यकता प्रतिपादित करके मुल्लाओं आदिक धार्मिक व्यक्तियों की सत्ता तथा महत्ता पर आघात किया तथा स्वयं को आध्यात्मिकता के उच्चस्तर पर पहुँचा कर 'सत्य तत्व' घोषित किया। परमेश्वर से इस प्रकार अबाध सम्मिलन प्राप्त करके उन्होंने शासकों के ईश्वरीय प्रतिनिधि स्वरूप पर भी आघात किया। अतः राज्यवर्ग और धर्म संघ दोनों ही सूफ़ियों के इस स्वतंत्र चिन्तन के कारण उनके विरोधी हो गये, और इसीलिये दोनों ने उनका दमन किया।

इस समय के अन्य सूफ़ियों ने भी इस सूफ़ीमत और शासकों के संघर्ष को पहचाना। फाराबी (मृ० १००७ ई०) ने कुरान के साथ इसका समन्वय करना चाहा। इसी संघर्ष के कारण सूफ़ीमत में दुरुहता और गुह्य भावना का समावेश हो गया। वह प्रकट में प्रदर्शित करने की वस्तु न रहा। इस गुह्य प्रचार की अवहेलना के कारण ही मन्सूर को प्राणदन्ड मिला। मिस्री बायाजीद और मन्सूर ऐसे साधकों की स्पष्टोक्तियों ने सूफ़ीमत के इस काल को क्रांतिकारी प्रणति प्रदान की। इस युग के सूफ़ी प्रेमोन्माद या हाल में अधीर हो ईश्वर और मानव के अभेद को प्रतिपादित करते थे। परमात्म-प्रेम के सम्मुख वे कुरान निहित आचार विचार को अधिक महत्वपूर्ण नहीं समझते थे। इसी कारण मुल्लाओं और शासकों ने उन्हें विधर्मी या 'जिन्दीक' घोषित कर दन्डित किया। मन्सूर के जीवनोत्सर्ग ने इस संघर्ष को चरमसीमा पर पहुँचा दिया और आगे आने वाले सूफ़ी, जुनैद की भांति इस्लाम और सूफ़ीमत में सामन्जस्य उत्पन्न करने का प्रयास करने लगे। इस प्रकार हम देखते हैं कि सूफ़ीमत अपनी प्रारम्भिक अवस्था में संन्यासवृत्ति प्रधान था। उसका किसी से संघर्ष न था और न किसी से अधिक सम्पर्क ही था। उसने अपना क्षेत्र पृथक कर लिया था; किन्तु द्वितीय अवस्था में वही एकान्तप्रिय सूफ़ीमत, धर्म तथा राज्यसंघ के संघर्ष में आया। उसे न तो धार्मिक क्षेत्र में मान्यता मिली और न राज-शक्ति ने उसे शरण दी। सूफ़ियों के इस प्रकार बहिष्कृत होने के कारण जनता भी उनका खुले हृदय से स्वागत न कर सकी यद्यपि हर समय में, हर देश में ऐसे सन्त सर्वसाधारण व्यक्तियों के हृदय को सर्वाधिक आकर्षित करते रहे हैं।

अब तक सूफ़ीमत आचरण प्रधान, एवं सांसारिक झंझटों से तटस्थ रहा था तथा चिन्तन प्रधान होकर साधकों और शासकों के संघर्ष से परिचित हो चुका था; अब समय आ गया था जब वह इस्लाम में अपना विशिष्ट स्थान बना ले। सूफ़ी सन्तों के उपदेशों के संग्रह बनने लगे। उनके जीवन और वृत्त सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना होने लगी। 'कश्फुलमहजूब' के देखने से पता चलता है कि इस समय सूफ़ियों के कई सम्प्रदाय वर्तमान थे। अबूसईद (मृ० ११०६ ई०) ने दीक्षागुरु के अतिरिक्त शिक्षागुरु को महत्व देकर

---

१. Literary History of Persia.
by E. G. Browne.

सूफ़ियों की मधुकरी वृत्ति का परिचय दिया। वह समा (संगीत) का प्रतिपादक था जिसे वह विषयवासना के विनाश के लिये आवश्यक समझता था। वह अत्यन्त उदार था तथा पीरों की समाधि पर जाने को हज्ज के बराबर ही महत्वपूर्ण समझता था; इतना सब होने पर भी सूफ़ीमत को इस्लाम में मान्यता न मिली।

समन्वय की भावना जुनैद के उपदेशों में उद्भूत हो चुकी थी किन्तु उसे पूर्णता इमाम गज्जाली के प्रयत्न में मिली। सूफ़ीमत को व्यवस्थित रूप देकर, उसके विभिन्न सिद्धान्तों पर प्रकाश डालकर, उसे इस्लाम में विशेष स्थान देने वालों में कालाबाधी एवं हुज्विरी का नाम भी लिया जाता है किन्तु पूर्ण सफलता का श्रेय इन्हें न मिलकर 'हुज्वतुल इस्लाम' या इस्लाम धर्म के 'व्यास' गज्जाली को मिला। कालाबाधी (मृ० १०५२ ई०) तथा हुज्विरी ने अपने ग्रन्थों के द्वारा दोनों मतों, इस्लाम और तसव्वुफ की विशेष बातों का तुलनात्मक अध्ययन किया है। गज्जाली ने नियन्त्रण की आवश्यकता समझ "भय" या 'खौफ' की पुनः प्रतिष्ठा की तथा गुह्य के प्रचार का निषेध कर दिया। उसने दीन के उदार क्षेत्र में दोनों मतों का सामन्जस्य किया, उसके अनुसार मनुष्य 'मुल्क' का निवासी है। रूह 'मलकूत' में आती फिर वहीं चली जाती है। संदेशवाहक फरिश्ते 'जबरुत' के निवासी हैं। अन्य फरिश्ते 'मलकूत' में रहते हैं। इस्लाम का सम्बन्ध 'मलकूत' से और कुरान का 'जबरुत' से है। सूफ़ी स्वयं को हक़ कहते हैं क्योंकि अल्लाह ने आदम को अपना रूप देकर उसमें अपनी रूह फूंकी[1]। हदीस है कि जो रूह को जानता है वह ईश्वर को जानता है। वस्तुतः रूह अंश और ईश्वर अंशी है। अतएव सूफ़ियों का 'अनलहक' इस्लाम विरोधी नहीं उसी का विस्तार है। सूफ़ियों को इलहाम होता है और रसूल उसका प्रचार करते हैं। इमाम गज्जाली के प्रयास से तसव्वुफ इस्लाम का एक अंग बन गया, अब इस्लाम और सूफ़ीमत दोनों का प्रचार एक साथ ही आरम्भ हो गया और अधिकांश सूफ़ी इस्लाम के प्रचारक बन गये। इसके बाद मुस्लिम विजयों के साथ ही सूफ़ीमत के प्रचार का इतिहास भी निहित है। सूफ़ियों ने प्रचार के लिए बल-प्रयोग के स्थान पर अपनी चमत्कार पूर्ण युक्तियों का प्रयोग किया।

भारत में सूफ़ीमत के आने के पूर्व उसका इस्लाम धर्म-संघ से विरोध समाप्त हो गया था। अधिकांश सूफ़ी 'बाशरा' हो गये थे। वे अपनी विचार पद्धति को इस्लामी नियमों से अनुशासित करने का सदैव प्रयास करते रहे। अब सूफ़ीमत का विरोध शेख़ और मुल्लाओं से भी नहीं था और साथ ही उन्हें राजकीय प्रश्रय भी प्राप्त था। मठों से लगी हुई जागीरें तथा राजाओं का यदा कदा सूफ़ी सन्तों से वार्तालाप और उनका सम्मान इस बात का प्रमाण है कि सूफ़ियों का सम्पर्क राजवर्ग, धर्म-संघ तथा जनजीवन इन तीनों से ही था। कहा जाता है कि शेख सलीम चिश्ती के आशीर्वाद से ही अकबर को जहांगीर की

---

१. "I was a hidden treasure, I desired to become known and Brought creation into being that I might be known"
Hadith-i-qudsi P 54

प्राप्ति हुई थी तथा कादिरिया सम्प्रदाय के मुल्लाशाह का दाराशिकोह शिष्य था। भारत में आनेवाले अधिकांश इस्लाम के प्रचारक थे। इनका आगमन मुसलमानी आक्रमणों से पूर्व भी हो चुका था किन्तु उत्तरी भारत में ये मुसलमानी राजनीतिक विजयों के साथ ही या फौजों के पीछे आये। इनका कार्य उस दशा में आरम्भ हुआ जब कि इस्लाम राजधर्म के रूप में स्थापित हो गया था। दक्षिण भारत में यद्यपि इन दरवेशों को इस्लाम का प्रश्रय राजधर्म के रूप में प्राप्त नहीं हुआ किन्तु वहाँ भी इन सूफ़ियों के शान्तिपूर्वक प्रचार ने इस्लाम को प्रतिष्ठित कर दिया। सूफ़ी कवियों के प्रेमाख्यानों के आरम्भ में अल्लाह, मुहम्मद तथा शाहेवक्त की प्रशंसा इस बात का प्रमाण है कि इन सूफ़ी साधकों का अब इस्लाम धर्म-संघ या राज्य-संघ से विरोध न था प्रत्युत बहुत अंशों में वे उसके सहायक ही सिद्ध हुये।

इस प्रकार यह काल सूफ़ीमत का प्रचार काल है। साथ ही यही समय है जब ईरान के प्रमुख सूफ़ी काव्यकारों ने इसे अपनी पुष्ट लेखनी द्वारा हृदयग्राही बनाया जिसका अनुकरण भारतीय सूफ़ियों ने किया; उमर खैय्याम (मृ० ११८० ई०) सनाई (मृ० ११८८ ई०) निजामी (मृ० १२६० ई०) अत्तार (मृ० १२८७ ई०) रूमी (मृ० १३३० ई०) सादी (मृ० ११४६ ई०) शब्सतरी (मृ०१३७७ई०) हाफ़िज़ (मृ० १४४७ ई०) एवं जामी (मृ० १५४६ ई०) ने इसी काल में अपनी मसनवी और गजलों की रचना की। इन प्रतिभाशाली कवियों के द्वारा फ़ारसी साहित्य की अभिवृद्धि के साथ सूफ़ीमत का भी प्रचार हुआ। सूफ़ीमत की उपदेशात्मक बातों को काव्य का परिधान देकर उसे आकर्षक स्वरूप प्रदान किया जिससे उनकी पहुंच सर्वसाधारण तक सम्भव हो सकी। इन काव्य रचनाओं के द्वारा सूफ़ीमत में सरसता का संचार हुआ और इसका पूर्व वैराग्यमय स्वरूप विस्मृत होकर उसका स्थान प्रेम और विरह ने ले लिया। इस प्रेम और विरह की प्रतीकों के आधार पर प्रेमाभिव्यक्ति हुई। फ़ारसी काव्य के इस आदर्श का प्रभाव क्रमशः अन्य भाषाओं पर भी पड़ा। भारतीय सूफ़ियों ने तो इसी ढंग पर काव्यमयी सूफ़ी भावधारा से समन्वित रचना करके हिन्दी साहित्य की प्रेमाख्यान परम्परा में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है।

भारत में इस्लाम तथा सूफ़ीमत

अरबों का देश तीन ओर से समुद्र द्वारा घिरा हुआ है। भोजन तथा खाद्य सामग्री पर्याप्त न होने के कारण अरबों ने प्रारम्भ से ही व्यापार की ओर अधिक ध्यान दिया। अरब के व्यापारिक मार्ग से ही मिस्र और शाम के देश का व्यापार होता था। अरबों का भारत से व्यापारिक सम्बन्ध बड़ा प्राचीन है। बौद्ध जातक कथाओं में इस विषय के संकेत मिलते हैं। हजरत यूसुफ के समय से लेकर मार्कोपोलो और वास्कोडिगामा के समय तक भारतीय व्यापारिक मार्ग अरबों के अधीन थे।

ईसामसीह से दो शताब्दी पूर्व का एक यूनानी इतिहासकार यरशीदल लिखता है जहाज भारत के समुद्रतट से यमन (सबा) आते हैं और वहाँ से मिस्र पहुँचते हैं।

तात्पर्य यह है कि अरबों के साथ भारत का सम्बन्ध ईसा के पूर्व का है। ईसा की छठी शताब्दी में मुहम्मद साहब ने अरब जाति में एक नवीन जाग्रति पैदा कर दी। नवीन अरब मुसलमान बड़े उत्साह से नये नये देशों को हस्तगत करने में तत्पर हो गये और एक समय आया जब कि वे मिस्र से लेकर स्पेन तक फैल गये। रूम सागर पर भी उनका आधिपत्य था। भारत के सम्बन्ध में अरबों के विचार बड़े मूल्यवान थे। हज़रत उमर ने एक बार एक व्यापारी से पूछा कि भारत के विषय में उसके क्या विचार हैं! उसने अत्यन्त संक्षिप्त और मार्मिक उत्तर दिया "उसकी नदियां मोती हैं, पर्वत लाल हैं और वृक्ष इत्र हैं।"

हिजरी पहली शताब्दी के अरबी इतिहास में भारतीय बन्दरगाहों के नाम उल्लिखित हैं जिनमें बलोचिस्तान का तेज, सिन्ध का देवल, गुजरात का थाना, खम्भात का सेवारा, जैमूर और मद्रास के कोलयमली प्रसिद्ध हैं। इनका विस्तार मलावार, कन्याकुमारी से होते हुये बंगाल और कामरूप तक था। भारत की विभिन्न वस्तुओं के नाम भी अरबी इतिहास में इसी कारण मिलते हैं। कुरान में हिन्दी शब्दों का प्रयोग भी सम्भवतः इसी कारण है। हिजरी सन ६८६ के पूर्व के एक अरबी कवि अबू जिलदम ने सिन्ध की प्रशंसा की है[1]। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि भारत और अरब का सम्बन्ध अत्यन्त प्राचीन और घनिष्ठ रहा है।

अल्हज्जाज जिस समय इराक का शासक नियुक्त हुआ उसने खलीफा से विशेष आज्ञा मांगकर अपने दामाद अबुल बिन क़ासिम को सिन्ध पर आक्रमण करने के लिये भेजा। वह मुल्तान को जीतकर निश्चिंत हुआ ही था कि हज्जाज तथा ख़लीफ़ा की मृत्यु हो गई और क़ासिम को नये खलीफ़ा सुलेमान ने वापस बुला भेजा। उमैय्या वंश के खलीफ़ा ने एक बार पुनः सिन्ध पर आक्रमण करके उसे जीतना चाहा किन्तु असफल रहा। सिन्ध के मुसलमान सूबेदार ने काश्मीर पर चढ़ाई की परन्तु वहां के प्रतापी राजा ललितादित्य मुक्तापीड़ (सन ७३३-७६६) ने उसे मार भगाया। अब्बासी वंश के पतनकाल में मुल्तान तथा ब्रह्मनाबाद को छोड़ कर लोग सवत्र स्वतन्त्र हो गये। वे भूल गये कि कभी सिन्ध मुसलमानों के अधीन रहा था। इस्लाम का बलपूर्वक प्रवेश कुछ समय के लिये अवश्य स्थगित हो गया किन्तु शान्तिपूर्वक उसका प्रचार कभी भी एक बार प्रारम्भ होने के बाद नहीं रुका। इधर खलीफ़ा हिन्द को सिन्ध की ओर से जीतने का प्रयास कर रहे थे, उधर अरबी सौदागरों ने मलावार तट पर अपने धर्म का प्रचार शुरू कर दिया। वे लोग हिन्दुस्तानी औरतों से विवाह करते और भारत में मुस्लिम संख्या बढ़ाते थे। इस विषय में उन्हें हिन्दू राजाओं, विशेषतया वल्लभी वंश और कालीकट में जेमोरिन से बड़ी सहायता मिलती रहती थी। इनके प्रोत्साहन से बहुत से मुसलमान व्यापारी खम्बात, कालीकट, और कोलम आदि स्थानों में बस गये। उनको केवल अपनी मस्जिदें बनाने की ही स्वतंत्रता

---

1. असारुलविलाद कज़वीनी पृ० ८४।

नहीं थी वरन् वल्लाल राजा ने स्वयम् उनके लिये मस्जिदों का निर्माण कराया। इन्हीं की औलादों में कोकण की नाटिया जाति तथा मलाबार की मोपला जाति है। मलाबार तट पर आठवीं सदी में इनके उपनिवेश बढ़ने शुरू हुए। जेमोरिन ने अपने जहाजों के लिये केवट प्राप्त करने के लिये तटनिवासी नीच जातियों को एक घर से कम से कम एक व्यक्ति को मुसलमान बनाने की आज्ञा दी। इस प्रकार यथेष्ट संख्या में लोग मुसलमान हो गये। इधर खलीफ़ा भी प्रचारकों को भेजने लगे। पन्द्रहवीं सदी में तैमूर के वंशज शाहरुख ने अब्दुर्रज्ज़ाक (सन् १४४१) को कालीकट इसी अभिप्राय से भेजा था। दक्षिण भारत में सौदागरों और प्रचारकों द्वारा इस्लाम का प्रचार खूब हुआ। हिशाम का कबीला भागकर भारत में कोंकण और कन्याकुमारी के पूर्वी तट पर बस गया था। लब्बे और नवायत जातियां उन्हीं के वंश की हैं।

मलाबार कोदंगलूर के राजा चेरामन पेरूमाल ने स्वप्न में देखा कि चांद के दो टुकड़े हो गये हैं। इसका अर्थ उसने अपने दरबारियों से पूछा किन्तु एक मुसलमान का उत्तर उसे बड़ा पसंद आया और प्रभावित होकर वह भी मुसलमान बन गया। उसका नाम अब्दुर्रहमान सामीनी रखा गया। उसने अरब की यात्रा की जहां से उसने मलिक इब्ने दीनार, शर्क इब्न मलिक, और मलिक इब्न हबीब को मलाबार भेजा। इन लोगों ने ग्यारह स्थानों पर मजिस्दें बनवाईं और दीन का प्रचार किया। आज भी जेमोरिन सिंहासन पर बैठते समय सिर मुड़ाता है तथा मुसलमानी लिबास पहनता है। उसके घरवाले फिर उसके साथ खाना पीना छोड़ देते हैं। वह अन्तिम चेरामन पेरुमाल का प्रतिनिधि माना जाता है। अब भी जब कालीकट और ट्रावनकोर महाराज कमर में तलवार बांधते हैं तब अभिषेक के समय प्रतिज्ञा करते हैं कि मैं इस तलवार को उस समय तक कमर में बांधूगा जब तक मेरा मक्के वाला चाचा वापस नहीं आता। दक्षिण के मोपले उन्हीं के वंशज हैं। मोपले मत-पिल्ला का अपभ्रंश है [1]।

मसूदी जब १०वीं शताब्दी में भारत आया तो उसे १० हजार मुसलमानों की बस्ती चोल राज्य में मिली थी। इब्नबतूता ने खम्बात से मलाबार तक अच्छी मुस्लिम आबादी देखी थी। इस प्रकार मुसलमान धीरे धीरे अपनी बस्तियां बनाते चले जा रहे थे।

शान्तिपूर्वक धर्मप्रचार में सबसे महत्वपूर्ण कार्य मुसलमान फकीरों और दर्वेशों ने किया। यह कार्य ११ वीं सदी से आरम्भ हो गया था। सन् १००५ में शेख इस्माइल बुख़ारा से भारत आया और अपने प्रचार से सैकड़ों को मुसलमान बनाया। सन् १०६७ में अब्दुल्लाह यमनी ने गुजरात में इसी प्रकार प्रचार किया। इसे बोहरे लोग अपना प्रथम प्रचारक मानते हैं। १२ वीं सदी के प्रारम्भ में खोजों के प्रचारक नूर सतागर ने गुजराती नीच जातियों को मुसलमान बनाया। तेरहवीं सदी में सैयद जलालुद्दीन बुखारी और सैयद अहमद कबीर ने सिन्ध और कच्छ के पास अनेक लोगों को मुसलमान बनाया। इन

---

1. भारत में इस्लाम।

आ० चतुरसेन शास्त्री।

सबमें प्रसिद्ध ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती थे जो तेरहवीं सदी के आरम्भ में सीस्तान से आकर अजमेर में बस गये थे। कहा जाता है कि अजमेर जाते समय देहली में उन्होंने ७०० लोगों को मुसलमान बनाया। सन् १२३६ में अजमेर में ही उनकी मृत्यु हो गई। उनकी कब्र पर आज भी मेला लगता है। इसी प्रकार १४ वीं सदी में पानीपत में बूअली कलन्दर ने प्रचार किया। ये प्रचारक मुसलमान विजेताओं के साथ साथ आगे बढ़ते जाते थे। इन दो सदियों में ये प्रचारक काश्मीर, दक्षिण भारत तथा बंगाल आदि प्रदेशों तक फैल गये। मुईनुद्दीन चिश्ती के कई शिष्य भी धर्म प्रचार के लिये प्रसिद्ध हुये। उनकी शिष्य परम्परा में शेख फरीदउद्दीन शकरगंज, इनके शिष्य निजामउद्दीन औलिया तथा १३ वीं १४ वीं सदी में ख्वाजा कुतुबउद्दीन काकी, शेख अलाउद्दीन अली, अहमद साबिरी जीरान, काले खाले आदि बहुत प्रसिद्ध हैं। १६वीं सदी में इन लोगों का प्रचार मुगलों की सहिष्णुता की नीति के कारण कुछ हलका पड़ गया किन्तु तेरहवीं और चौदहवीं सदी में इनकी सफलता पर्याप्त हुई जिसके अनेक कारण थे।

नजदवली ने १३वीं सदी में मदुरा और त्रिचनापल्ली में बहुत से मुसलमान बनाये। पेन्नुकोडा के एक साधु फखरुद्दीन ने वहां के राजा को इस्लामी धर्म ग्रहण करवाया। यह सन् ११६१ में मरा।

आर्यों के आगमन के पूर्व द्रविण जाति में भक्ति भावना का अस्तित्व प्रधान था। आर्यों के बुद्धिवाद के साथ भक्तिभावना का मिश्रण हुआ जिससे विचार अत्यन्त उन्नत और उदार हो चले। इसी कारण यह सम्भव हो सका कि नवीन जातियां और विचार वाले लोग जो समय समय पर भारत आये यहां की सभ्यता, संस्कृति और धर्म द्वारा प्रभावित होकर इसी में लीन हो जायें। उपनिषदों के प्रादुर्भाव काल में यज्ञ तथा अन्य दूसरे कृत्यों के विरुद्ध रहस्यवाद का जन्म हुआ। यह रहस्य-भावना जो भक्ति और प्रेम से समन्वित थी धीरे धीरे जन साधारण के विचारों पर अपना प्रभाव डालने लगी। प्रेम और भक्ति की यह भावना इतनी गहरी थी कि बौद्धिक दर्शन जो बुद्धिवाद का फल था प्रेम और भक्ति से प्रभाविन हो चला। इस्लाम के भारत में प्रवेश करने पर भारतीय साधकों को यह चिन्ता हो चली कि भारतीय कहीं इन नवागत जन समुदाय के विचारों द्वारा पराजित न हो जायँ। अत: भारतीय साधक इस नवीन परिस्थिति का सामना करने के हेतु संन्नद्ध हो गये। उन्हें अपनी विस्मृत भक्ति-भावना का आधार मिला जोकि आध्यात्मिक आधार शिला पर स्थित रहकर सर्वजन हिताय स्वअंक उन्मुक्त किये थी। रामानन्द ने जनसाधारण की भाषा में सब लोगों को ज्ञान और भक्ति का उपदेश दिया। नवागत मुस्लिम विचार-धारा पर भी भारत की संस्कृति का प्रभाव पड़ा। यहां की जनता को मुसलमान बनाने में मुस्लिम साधकों या सूफ़ियों का बड़ा हाथ रहा है। ये नवागन्तुक साधक सर्वप्रथम पंजाब एवं सिंध में आये।

मखंदूम सैयद अली—अलहुज्विरी दातागन्ज बख्स के नाम से जनसाधारण में प्रसिद्ध थे। इनका निवास स्थान जुल्लाव और हुज्विर गजनी के पास था अत: लोग

उन्हें अल्जुल्लावी भी कहकर पुकारते थे। इन्होंने अपने जीवनकाल में अनेक देशों का भ्रमण किया और अन्त में पंजाब में आकर प्रचारकार्य प्रारम्भ किया। भट्टी दरवाजा लाहौर में इनकी कब्र पर अनेक हिन्दू तथा मुसलमान पूजा करने आते हैं। इनकी मृत्यु १०७२ ईसवी तथा ४६५ हिजरी में हुई थी। बृहस्पतिवार को, विशेषकर श्रावण मास के अन्तिम बृहस्पति को इनकी कब्र पर बड़ा मेला लगता है। कहा जाता है कि ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती, ख्वाजा कुतुबउद्दीन काकी, बाबा फरीदुद्दीन आदि को यहीं पर आकर सत्य का आभास हुआ था। अल्हुज्विरी द्वारा रचित ग्रन्थ 'कश्फुल महजूब' के नाम से प्रसिद्ध है। जनसाधारण के विश्वासानुसार सूफ़ीमत के ये प्रथम आचार्य हैं जो भारत आये।

'कश्फुल महजूब' में इनका कथन है कि साधक को लगभग तीन साल तक गुरु के पास उनके संरक्षण में रहना चाहिये। प्रथम वर्ष में उसे अहंकार से छुटकारा पाकर मानवता की सेवा करनी चाहिये तथा द्वितीय वर्ष में उसे अपने सारे कार्यों को ईश्वरोन्मुख कर देना चाहिये और अन्तिम वर्ष में आत्मतत्व समझने का प्रयत्न करना चाहिये। हुज्विरी के अनुसार दरिद्रता में जीवन व्यतीत करने का अर्थ है सांसारिक विषयों की लिप्सा का सर्वथा त्याग करना, निष्काम होकर ईश्वर साधना को ही हुज्विरी 'फ़ना' कहते थे। फना की ओर अग्रसर होने की व्यवस्था को वे हाल भी कहते थे।

यद्यपि अलहुज्विरी ने अपने ग्रंथ में १२ सूफ़ी सम्प्रदायों का उल्लेख किया है किन्तु भारत में विशेष रूप से प्रसिद्ध होने वाले चार सम्प्रदाय हैं।

चिश्तिया

चिश्तिया सम्प्रदाय के संस्थापक ख्वाजा अबू इशाक शामी चिश्ती माने जाते हैं जिनका सम्बन्ध अली से लगाया जाता है। किन्तु चिश्ती सम्प्रदाय का भारत में आगमन इन्हीं हुज्विरी के पश्चात् हुआ। ख्वाजा अहमद अब्दुल चिश्ती (मृत्यु ६६६ ई०) यद्यपि दसवीं सदी के साधक थे किन्तु उनके विचार भारत में ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती के द्वारा १२वीं शताब्दी में आये। ये कई स्थानों का भ्रमण कर चुके थे तथा कुछ दिन देहली में भी रहे। देहली को अपने विचारों के प्रचार के उपयुक्त न पाकर अजमेर में हिन्दुओं के तीर्थस्थान पुश्कर चले गये। वहीं पर इनकी मृत्यु सन् १२३६ में हो गई। सूफी साधकों में इनका बड़ा सम्मान रहा और इसी कारण इन्हें लोग "आफनावे हिन्द" भारत-भास्कर कह कर पुकारते रहे हैं। अकबर सम्राट भी इनका बड़ा सम्मान करता था। इनके समाधिस्थान में हिन्दू पूजा-मन्दिरों की भाँति नवादतखाने से प्रति तृतीय घंटे पर गायन तथा वादन होता है। समाधि-स्थल पर देवदासियों की भाँति गायन पटु बालायें भी धनवान श्रद्धालुओं के आग्रह पर संगीत की स्वरलहरी से समाधि-स्थल को गुन्जायमान कर देती हैं। पुस्कर में हुसैनी ब्राह्मण नामक एक जाति है जो हिन्दू मुस्लिम धार्मिक मतभेद के खोखलेपन को स्पष्ट और प्रत्यक्ष करती है। इस जातिवाले मुसलमानों के कर्मकान्ड को वहीं तक ग्रहण करते हैं जहाँ तक उसका विरोध हिन्दूधर्म से नहीं होता। उनकी स्त्रियाँ भी हिन्दू महिलाओं की भांति

ही रहती हैं, भिक्षाटन पर जाते समय ये लोग हुसैन नाम लेकर भिक्षा ग्रहण करते हैं। मलकाना (मलखान) राजपूत भी इसी प्रकार का एक जाति वर्ग है जो पूर्ण हिन्दू होते हुये भी मुस्लिम आचार विचारों से प्रभावित है। शाहदुल्ला सम्प्रदाय वाले भी अथर्ववेद को प्रामाणित मानते हैं। निष्कलंक सम्प्रदाय हिन्दू मुस्लिम सामन्जस्य का महान प्रतीक है। फरगना के ख्वाजा कुतुबउद्दीन काकी भी चिश्तिया सम्प्रदाय के थे तथा उनका प्रचार कार्य सम्भवत: देहली प्रान्त के आसपास ही था। उनकी मीनार कुतुबमीनार के ही पास है जहाँ असंख्य साधक अब भी एकत्र होते हैं।

शेख फरीरुद्दीन शकरगंज चिश्तिया भी प्रमुख चिश्ती साधकों में हैं। माधुर्य-भाव की साधना ने उनके लिये 'शकरगंज' उपनाम उपयुक्त बना दिया। इन्हीं के प्रचार कार्य के कारण सूफ़ीमत दक्षिण पंजाब में फैला। शेख जी का कथन था कि स्वर्ग का मार्ग अत्यन्त सँकरा है। सम्भवत: इसी विचार के कारण इनकी समाधि की दीवाल में एक सँकरा मार्ग बना दिया गया है जिसे 'स्वर्ग द्वार' कहते हैं। मुहर्रम की रात्रि को लोग इस द्वार से निकलने का प्रयास करते हैं। इनकी मृत्यु लगभग सन् १२६५ ई० में हुई थी। प्रसिद्ध कवि शेख सर्फउद्दीन इन्हीं की वंशपरम्परा में थे जो अपने उपनाम 'मजमूल' से अधिक प्रसिद्ध हैं।

अहमद साबिर (मृत्यु सन् १२९१) का चिश्तिया सम्प्रदाय में एक उपसम्प्रदाय है। इसकी नीव डालने वाले साबिर साहब थे जिससे सम्प्रदाय का नाम साबिरचिश्तिया पड़ा। इनका प्रचार क्षेत्र रुड़की के आसपास था।

निज़ामुद्दीन औलिया (जन्म सन् १२३८) शकरगन्ज चिश्तिया के प्रधान शिष्यों में थे। इनका जन्म बदायूं में हुआ था। कवि खुसरो तथा अमीर हुसेन देहलवी इनके शिष्य थे। प्रसिद्ध इतिहासकार जियाउद्दीन बरानी भी इन्हीं की शिष्य परम्परा में रहे हैं।

शेख सलीम चिश्ती (मृत्यु सन् १५७२) अकबर के समकालीन थे। कहा जाता है कि इन्हीं के आशीर्वाद से सम्राट जहाँगीर का जन्म हुआ था और अकबर ने फतेहपुर सीकरी में इनकी दरगाह बनवाई थी।

सिन्ध तथा पंजाब के कुछ प्रदेशों में चिश्तिया साधना का प्रचार ख्वाजा मुहम्मद ने किया था, जो सन् १७९१ को मृत्यु को प्राप्त हुये।

सुहर्वर्दिया:

चिश्तिया सम्प्रदाय के पश्चात् सुहर्वर्दिया सम्प्रदाय की प्रधानता भारत में हुई। इस सम्प्रदाय का इतिहास यहाँ पर शिहाबउद्दीन सुहरावर्दी के बगदाद से आये हुये शिष्यों से प्रारम्भ होता है। बहाउद्दीन जकारिया मुल्तानी ने ही इस सम्प्रदाय की नींव यहाँ पर डाली जो शिहाबउद्दीन के शिष्य थे। सुहरावर्दी सम्प्रदाय के अन्तर्गत भी कई शाखायें हो गईं। इनकी प्रधान विशेषता यह थी कि इन्होंने अपनी सम्प्रदाय की नियमावली ठेठ इस्लाम धर्म की स्वीकृत बातों के विपरीत बनाने की कोशिश की,

इसी कारण ये लोग मलामती (निन्दनीय) कहलाये तथा उनका वर्गीकरण भी बाशरा (वैध) एवं वेशरा (अवैध) के संकेतों द्वारा किया गया।

बाशरा सुहर्वर्दियों के अन्तर्गत सर्वप्रथम जलाली शाखा आती है। सैयद जलालुद्दीन सुर्खपोश "शाहमीर" (मृ० ११६२ ई०) बुखारा निवासी थे जिन्होंने इस विचार-धारा का श्रोत प्रवाहित किया। ये बहाउद्दीन जकारिया के शिष्य थे। इनका प्रचार-केन्द्र सिन्ध ही रहा। इनके पौत्र अहमद कबीर (मृ० १३८४ ई०) भी प्रसिद्ध साधक थे। ये मखदूमे-जहांनियां के नाम से भी प्रसिद्ध रहे हैं। इस शाखा वाले अपने शिर पर काले धागे बांधते हैं, बाहों पर ताबीज़ तथा हाथ में श्रृंगी लिये रहते हैं जिसे आवेश में आकर कभी कभी बजाते हैं। मखदूमे जहांनियाँ ने अपनी एक 'मखदूमी शाखा' चलाई थी। इसी प्रकार सुर्खपोश के वंशज मीरान मुहम्मद शाह ने 'मीरानशाही' शाखा को जन्म दिया। इन्होंने अकबर द्वारा सम्मान भी पाया था। जकारिया की चौदहवीं पीढ़ी के हाफ़िज मुहम्मद इस्माइल (मृ० सन् १७४०) ने 'इस्माइलशाही' शाखा को जन्म दिया। इस शाखा के लोग लाहौर के आस पास पाये जाते हैं। जकारिया की आठवीं पीढ़ी के दौलतशाह ने अपने नाम पर 'दौलतशाही' शाखा चलाई जिसका प्रचार-क्षेत्र भी पंजाब ही रहा। बाशरा सुहर्वर्दियों की इन पाँचों शाखाओं ने अपने को अधिकांश वैध रूप से ही चलाने की चेष्टा की है।
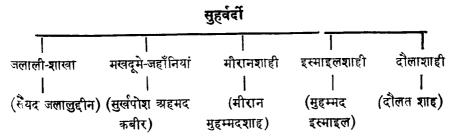
बेशरा सुहर्वर्दी—की दो प्रधान शाखायें हैं—'लालशाह वाजिया' तथा 'रसूलशाही'। लालशाहवाजिया शाखा को बहाउद्दीन जकारिया के शिष्य लालसाहबाज ने चलाया था। ये स्वतंत्र विचार वाले व्यक्ति थे और इस्लाम धर्म की मूल मान्यताओं को भी विशेष महत्व नहीं देते थे। मदिरापान से इन्हें विशेष प्रेम था।

रसूलशाही शाखा की स्थापना अलवर के एक रसूलशाह नामक व्यक्ति ने की थी जो पीर नियामतुल्ला का शिष्य था। उन्होंने अपने यहां भंग पीने की प्रथा चलाई। रसूलशाही शिर पर लाल व श्वेत रुमाल बांधते हैं। सिर मूछें एवं भवें तक मुड़वा देते हैं और शरीर में भस्म लगाते हैं तथा मादक वस्तुओं का उपभोग अवैध नहीं मानते हैं।

इसी शाखा में मूसा सुहाग (मृत १४४६ इसवी) नामक साधक भी था जो हिजड़ों की भांति ज़नाने वस्त्र पहना करता था। इसने 'सुहागिया' शाखा को जन्म दिया जिसका

प्रचार-क्षेत्र अहमदाबाद के आस पास था । ईश्वर को पति मान कर ये लोग उसकी उपासना किया करते हैं ।

कादिरिया:

सूफ़ीमत की तीसरी शाखा कादिरिया का भारत में प्रवेश इसके मूल प्रवर्तक अब्दुल कादिर जिलानी (मृ० सन् ११३४-१२२३) के लगभग तीन सौ वर्ष पश्चात् हुआ । भारत में इसके प्रथम प्रचारक सैयद मुहम्मद गौस 'वाला पीर' (मृ० सन् १५१७) थे जो जिलानी की दसवीं पीढ़ी में थे । इनका जन्मस्थान एलिप्पो था, भ्रमण करते हुये ये भारत में आये तथा अपना निवासस्थान सिन्ध में उच्च नामक स्थान को चुना । अब्दुल जिलानी का नाम यहां पहिले से ही प्रसिद्ध था । निदान सैयद गौस की ख्याति बढ़ने में देर न लगी । धीरे धीरे सुलतान सिकन्दर लोदी भी इनके शिष्य हो गये और अपनी लड़की की शादी इनसे करके फ़कीरों के उच्च सामाजिक स्थान की पुष्टि की ।

कादिरिया सम्प्रदाय की एक शाखा 'कुमेशिया' की स्थापना जिलानी की सत्रहवीं पीढ़ी के शाह कुमेश ने की थी । इसका प्रसार बंगाल में हुआ । रावलपिन्डी में लतीफवारी के शिष्य बहलूलशाह की 'बहलूलशाही' शाखा पाई जाती है । लाहौर के आस पास 'मुकीमशाही' और पश्चिम भारत के कुछ प्रान्तों में हाजी मुहम्मद की 'नौशाही' शाखायें मिलती हैं । नौशाही के अनुयायी कादिरिया सम्प्रदाय के विरुद्ध संगीत को महत्व देने लगे हैं । इसी प्रकार शाहलाल हुसेन (मृ० सन् १५९६) द्वारा प्रवर्तित हुसेनशाही शाखा में नृत्य आदि वैध है । इन सभी शाखाओं में सर्वाधिक प्रसिद्ध 'मियांखेल' नामक शाखा है जिसे मियां मीर (सन् १५५०-१६३५) ने प्रचलित किया था । ये मूलत: सीस्तान के निवासी थे और अकबर के शासनकाल में लाहौर आये थे, शाहज़ादा दाराशिकोह इनके शिष्य मुल्लाशाह का मुरीद था । दाराशिकोह ने मियां मीर की एक जीवनी 'सकीनतुल औलिया' नाम की लिखी है जिसमें उसने इन्हें महान त्यागी एवं तपस्वी सिद्ध किया है । मियां मीर के प्रमुख शिष्य मियां नत्था थे जिनकी समाधि लाहौर में वर्तमान है । मुल्लाशाह का प्रचार क्षेत्र काश्मीर था ।

नक्शबन्दिया:

सम्प्रदाय को ख्वाजा बहाउद्दीन नक्शबंद ने चलाया था । इनका देहान्त सं० १४४६ में ईरान में हुआ था । इसकी सातवीं पीढ़ी में ख्वाजा बाक़ी बिल्ला बेरंग (मृ० सं० १६६०) हुये जिन्होंने नक्शबंदिया सम्प्रदाय का प्रचार भारत में किया । इस सम्प्रदाय का नाम नक्शबंदिया सम्भवत: इसी कारण पड़ा कि सम्प्रदाय के मूल प्रवर्तक कपड़ों पर चित्र छापकर जीविकोपार्जन किया करते थे । रोज़ साहब ने किसी मुसलमान लेखक के आधार पर यह भी लिखा है कि यह पदवी उन्हें इस कारण मिली कि मूल प्रवर्तक बहाउद्दीन आध्यात्म विद्या सम्बन्धी गूढ़ से गूढ़ बातों का मानसिक चित्र प्रस्तुत करने में समर्थ थे । भारतीय प्रचारकों में सर्वाधिक श्रेय अहमद फारुखी को मिलना चाहिये । इन्होंने सुन्नी मत का समर्थन किया और इसी कारण जहांगीर के मन्त्री आसफ़जाह ने इन्हें तीन वर्ष तक कारावास में बन्द रक्खा । मुक्त होने पर इनका सम्मान और भी बढ

गया। औरंगजेब इनके पुत्र मासूम का मुरीद था। अहमद फारुखी की सुधार-भावना ने कुछ दिनों के लिये संगीत, नृत्य, साष्टांग दंडवत आदि अनेक प्रकार के बाह्य प्रदर्शनों का अन्त कर दिया। इन्होंने सूफ़ियों की 'बुज़ूदिया' एवं 'शुदूदिया' शाखा में भी मतैक्य स्थापित करना चाहा और सिद्ध किया कि प्रारम्भ में सभी बुज़ूदिया होते हैं क्योंकि वे परमात्मा तथा सृष्टि में सम्यक् भेद नहीं कर पाते किन्तु क्रमशः अध्यात्मिक विकास हो जाने पर वे इन दोनों का भेद भली भांति समझकर शुदूदिया हो जाते हैं।

अन्य सम्प्रदाय :

उपरोक्त प्रधान सम्प्रदायों के अतिरिक्त और भी अनेक सम्प्रदाय हैं जिनका पता उनके मूल प्रवर्तकों के साथ ठीक ठीक नहीं चलता। मूल प्रवर्तक के अभाव में उनका सम्बन्ध मुहम्मद साहब अथवा किसी प्राचीन पीर के साथ जोड़कर काम चलाया जाता है। 'उबैसी', 'मदारी' तथा 'शत्तारी' सम्प्रदाय इसी वर्ग में आते हैं। उबैसी सम्प्रदाय किसी उबैसुल करनी नामक साधु द्वारा प्रचलित माना जाता है। इस सम्प्रदाय के अनुयायी कष्टसाध्य क्रियाओं का अभ्यास करते हैं। भारत में इनका अभाव है किन्तु तुर्किस्तान में ये लोग अब भी मौजूद हैं। कुछ लोग इन्हें यहूदी बताते हैं किन्तु अन्य लोग इनका सम्बन्ध अरबों से जोड़ते हैं। कुछ भी हो, मदारशाह बाहर से ही आये थे। सर्वप्रथम ये अजमेर पहुँचे किन्तु बाद में अपना प्रचार क्षेत्र इन्होंने जिला कानपुर बनाया। मनकपुर नामक स्थान में इनकी मृत्यु सं० १५४२ में हो गई जहां पर आज भी इनके नाम पर मेला लगा करता है। शत्तारी सम्प्रदाय के प्रवर्तक शेख अब्दुल्ला शत्तार नामक व्यक्ति माने जाते हैं। इनका सम्बन्ध शिहाबउद्दीन सुहरावर्दी से स्थापित किया जाता है। शत्तार शब्द का अर्थ एक विशेष साधना के लिये आता है जिसके द्वारा 'फ़ना' और 'बक़ा' की प्राप्ति शीघ्र सम्भव हो जाती है[1]। भारत में आकर अब्दुल्ला जौनपुर में रहे। बाद में मालवा प्रान्त के मांडू नगर में जाकर बस गये जहां इनकी मृत्यु १४८५ में हो गई। प्रसिद्ध सूफ़ी शाह मुहम्मद गौस भी इसी सम्प्रदाय के थे। इनको हुमायूं द्वारा सम्मान प्राप्त हुआ था। इनकी मृत्यु सं० १६२० में हुई।

"कलंदरिया" और "मालमती" सम्प्रदाय भी ऐसे ही हैं जिनके विषय में अधिक सूचना नहीं मिलती। कलंदर शब्द के अर्थ निश्चित नहीं हो सके हैं। सीरियन भाषा के आधार पर कुछ लोग इसे ईश्वर विषयक मानते हैं किन्तु दूसरे विद्वान इसे फ़ारसी शब्द 'कलातर' (प्रधान व्यक्ति) अथवा 'कलंतर' (शुष्क व्यक्ति) से निकला हुआ बताते हैं। दूसरा अनुमान यह भी है कि कलन्दर शब्द तुर्की 'करिंद' या 'कलंदारी' का रूपान्तर है जो पाने के लिये प्रयुक्त होता है। तुर्की शब्द 'काल' से भी इसका सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है जिसके अर्थ विशुद्ध एवं पवित्र होते हैं।

कलन्दर फ़कीर भ्रमणशील हुआ करते हैं तथा धार्मिक आचार विचारों के प्रति बड़े सहिष्णु होते हैं। भारत में इसका प्रचार सर्वप्रथम नजमुद्दीन कलन्दर द्वारा हुआ जो

---

१. परशुराम चतुर्वेदी : सूफी काव्य संग्रह : पृ० ४७।

नजीमउद्दीन औलिया के मुरीद थे। कहा जाना है कि उनके वक्षःस्थल से अल्लाह के संक्षिप्त नाम 'हू' की ध्वनि निकला करती थी। इनका देहान्त सं० १५७५ में हो गया। मलामनी सम्प्रदाय के मूल संस्थापक जूलनून मिस्री समझे जाते हैं। विचार स्वातंत्र्य इस सम्प्रदाय वालों की विशेषता है। विभिन्न सम्प्रदायों से सम्बन्ध-विच्छेद करके लोग इसे अपना लेते हैं क्योंकि इसकी प्रधान विशेषता है अनियंत्रित जीवन, जिनमें मादक वस्तुओं का सेवन, संगीत, वाद्य एवं नृत्य तथा इन्द्रजाल प्रदर्शन सभी कुछ आ जाता है। भारत में इस सम्प्रदाय का प्रवेश किसके द्वारा हुआ अभी तक ज्ञात नहीं है।

सूफ़ीमत का प्रथम चरण पश्चिमी भारत, (काश्मीर, सिंध तथा गुजरात) में पड़ा। देहली के सुल्तान किसी न किसी सूफी साधक के शिष्य या मुरीद बन जाते थे या उन्हें विशेष सम्मान प्रदान करते थे। सूफ़ियों का देहली में प्रभाव होने के कारण, उत्तर प्रदेश में इनका फैलना कठिन न रहा। सूफ़ीमत के प्रचारकों के दर्शन बंगाल तक उपलब्ध होते हैं। मुग़ल राज्य के विस्तार के साथ साथ सूफ़ियों का प्रसार हुआ। शाहबाजलाल सुहर्वर्दी ने बंगाल को अपना प्रचार क्षेत्र बनाया। बंगाल के बाउलों पर इसका स्पष्ट प्रभाव दीख पड़ता है। शाह जलाल अपने अंत समय (सन् ११८७ ईसवी) सिलहट में रहे। मखदूम-शाह ने बिहार में अपने विचारों का प्रचार किया। इस्लाम का प्रवेश दक्षिण भारत में तो बहुत पहिले से था। बहाउद्दीन नक्शबंद द्वारा स्थापित तथा क़यूमों द्वारा प्रसारित एवं औरंगजेब की दक्षिण विजय द्वारा प्रतिष्ठित सूफ़ीमत दक्षिण में पुष्ट हो गया।

सूफ़ी साधकों ने अपने को इस्लाम धर्म से दूर न हटने दिया। उनका दर्शन कुरान के आधार पर टिका हुआ था किन्तु सूफ़ियों के भरसक प्रयत्न करने पर भी कुछ धर्म-धुरन्धरों ने उन्हें इस्लाम धर्म के प्रतिकूल घोषित कर दिया। इस आक्षेप को मिटाने के लिये सूफ़ी सदैव प्रयत्नशील रहे हैं। मुहम्मद फ़ज़ल अल्लाह ने ग्रन्थ 'अल तुहुफ़ुल अल् मुरसालिल नबी' में यह प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है कि सूफ़ीमत कुरान के विपरीत बिल्कुल भी नहीं है। लेखक की मृत्यु सं० १६२० में हुई थी।

अकबर के समय तक सूफ़ीमत प्रेमभक्ति पर आधारित होकर सर्वमान्य हो चुका था। इसका प्रवर्तन मुसलमानों की ओर से निजामउद्दीन औलिया की अध्यक्षता में हुआ था। शनैः शनैः सूफ़ीमत में भारतीय संगीत, नृत्य, देवोपासना की भावना योगियों की चमत्कार वादी पद्धति आदि का भी समावेश हो चला। इस प्रकार हल्लाज का विश्वात्मवाद, इब्न अरबी का ब्रह्मवाद, चिश्तिया सम्प्रदाय का आवेशवाद, नक्शबंदियों का धर्मशास्त्रवाद, इमाम गज्जाली का नैतिक-आचरणवाद, हाफ़िज का ऐन्द्रियतावाद, कलन्दरों का चमत्कारवाद तथा मलामतियों का अनियंत्रणवाद आदि चल पड़े। इस समन्वय से ऐसा चित्र उपस्थित हो गया जिसका एक विशेष नाम रखना अथवा इस्लाम का अनुमोदी ठहराना कठिन हो गया। ऐसी ही मिली जुली अवस्था के कारण औरंगजेब की कट्टरता पर सरमद को प्राणाहुति देनी पड़ी।

सूफ़ीमत ने इस्लाम को प्रेम की भावना तथा सत्पुरुषों के आदर्शों से ऐसा अनुरंजित

किया कि इस्लाम की कट्टरता क्षीण होगई क्योंकि भारतीय आरम्भ से ही प्रेम और भक्ति के उपासक रहे हैं।

सामन्त प्रथा से जर्जरित मध्ययुगीन भारत की धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक विचार-धारायें संकुचित हो गई थीं। कर्मकाण्ड की अधिकता, अंधविश्वास का प्रचलन एवं ब्राह्मण-धर्म की क्लिष्टता तत्कालीन विशेषतायें थीं। ऐसे ही समय जब सूफ़ियों ने सर्वजनग्राह्य प्रेम-भावना पर आधारित स्वमत का प्रचार किया तो अधिकांश जनता इनकी ओर आकर्षित हुई। मुसलमान धर्म तथा समाज के प्रति सहानुभूति जाग्रत करने का श्रेय मुसलमान साधकों तथा सन्तों को है।

स्वसंस्कारों से अनभिज्ञ, निम्नवर्ग के लोग नवीन धर्म की ओर आकर्षित होते गये। इस्लाम ग्रहण करनेवाली जनता यदि जान पाती कि उसके अपने ही धर्म और देश में ये भावनायें तथा विचार प्राचीन काल से वर्तमान रहे हैं तो सम्भव था कि सूफ़ीमत का प्रचारक स्वरूप यहां पर अधिक सफलता न प्राप्त कर पाता और इस्लाम की इतनी वृद्धि न हो पाती। अन्य धर्मों के समान सम्भवतः इस्लाम भी भारतीय चिन्तन में घुलमिल जाता। सूफ़ियों की आदर्शवादिता एवं प्रेम भावना ने भारत में इस्लाम को पुष्ट किया। सूफ़ियों ने कभी संघवद्ध होकर इस्लाम का प्रचार नहीं किया किन्तु फिर भी उनका इस्लाम की वृद्धि में बड़ा हाथ है। यहां पर इस्लाम फैलने के मुख्य कारणों में तत्कालीन जाति भेद, आर्थिक प्रलोभन, स्वधर्म अज्ञान, शासकों का अत्याचार, धर्म परिवर्तन के द्वारा दन्ड एवं कर से छुटकारा तथा सूफ़ियों की प्रेम एवं सहृदयता से भरी प्रचार प्रणाली प्रमुख थीं। लालच या भय के कारण धर्म परिवर्तन करने वाले हिन्दुओं की संख्या नगण्य है। अधिकांश निम्नवर्ग की जातियों ने या तो जाति व्यवस्था की कटुता के कारण धर्म परिवर्तन किया या सूफ़ियों के प्रेमप्रचार से प्रभावित होकर वे इस्लाम धर्म में दीक्षित हो गये।

इस प्रकर हम देखते हैं कि सूफ़ी सम्प्रदाय के अनुयायियों में अपने प्रथम या आरम्भिक युग में भय एवं दन्ड की भावना की प्रधानता थी। इस युग के सूफ़ियों को सदैव अपने कृत्यों पर पश्चाताप एवं ईश्वरीय दन्ड का भय लगा रहता था। निर्धनता में जीवन बिताना वे श्रेष्ठ समझते थे तथा सांसारिक जीवन से दूर रहते थे। इस युग के प्रधान सूफी साधक इब्राहिम बिन अधम, फुज़ायल बिन अजम, राबिया अल अदाबिया थे।

द्वितीय युग में नवीन तत्वों का समावेश हुआ। प्रथम युग का अन्त होते होते संन्यास प्रधान सूफ़ीमत में प्रेम भावना का समावेश राबिया ने कर दिया था। इसके अतिरिक्त जुलनून मिस्री एवं मन्सूर ने बुद्धि एवं तर्क को भी सूफ़ीमत में स्थान दिया। ये साधक जिज्ञासु थे तथा अपनी तुष्टि के हेतु प्रत्येक दर्शन एवं सम्प्रदाय की बातों को आदर की दृष्टि से देखते थे। ये अत्यन्त उदार तथा चिन्तनशील थे। ईश्वर और मनुष्य के मध्य ये किसी की मध्यस्थता स्वीकार नहीं करते थे। इसी कारण इनका धार्मिक प्रतिनिधियों (मुल्ला, काजी एवं मौलवियों) तथा राजनीतिक प्रतिनिधियों

(सुल्तान) से विरोध रहना था। फलस्वरूप ये यदाकदा दण्डित भी होते रहते थे। इस युग के प्रमुख साधक मारुफुल कर्खी, अबू सुलेमान दारानी, जुलनून मिस्री, अल बिस्तानी, अल जुनैद, शिबली एवं हल्लाज थे।

तृतीय युग में सूफ़ी सम्प्रदाय इस्लाम धर्म में प्रतिष्ठित हो जाता है। द्वितीय युग के प्रसिद्ध सूफ़ी अलजुनैद ने जिस गुह्य समन्वयवादिनी दृष्टिकोण का परिचय दिया था उसकी पूर्ण परिणति गज़्ज़ाली के प्रयास में हुई।

सूफ़ी मत की वास्तविक रूपरेखा समझा सकने एवं सनातन पन्थी इस्लाम तथा सूफ़ी-मत में सामञ्जस्य स्थापित करने के कारण गज़्ज़ाली 'हुज्तुल इस्लाम' या 'इस्लाम का व्यास' भी कहा जाता है। इनकी सफल मीमांसा ने सूफ़ी मत को सदा के लिये इस्लाम का एक अंग बना दिया। अब सूफ़ी साधक उदारचेता होने के साथ ही साथ इस्लाम के प्रचारक भी थे। ऐसी ही अवस्था में सूफ़ीमत का प्रवेश भारत में हुआ। ये सूफ़ी साधक स्वतन्त्र रूप से तथा मुस्लिम आक्रमणकारियों तथा व्यापारियों के साथ ही साथ भारत में आये और यत्रतत्र अपना प्रचार स्थान बनाकर रहने लगे।

भारत में आने वाले अन्य सूफ़ी सम्प्रदायों में चिश्तिया, नक्शबंदिया, कादिरिया एवं सुहरावर्दिया ये चार प्रमुख हैं। चिश्तिया सम्प्रदाय के ख्वाज़ा मुईनुद्दीन चिश्ती, नक्शबंदिया के ख्वाजा बाकी निल्लाबेरंग, कादिरिया के सैयद मुसम्मद गौस वाला 'पीर' तथा सुहरवर्दिया शाखा के बहाउद्दीन ज़कारिया एवं हाफिज़ मुहम्मद इस्माइल की यथेष्ठ ख्याति है। हिन्दी के अधिकांश सूफ़ी कवियों का सम्बन्ध चिश्तिया सम्प्रदाय से है। सूफ़ीमत के आविर्भाव एवं विकास का संक्षिप्त विवरण सूफ़ी कवियों की विचारधारा को स्पष्ट करने में सहायक होगा।

२

सूफ़ी-दर्शन

प्रचलित धारणा के अनुसार दर्शन, वितर्क एवं संशय का परिणाम है। विश्वास और आस्था से अधिक जानने की जिज्ञासा शांत करने के लिये तर्क-पद्धति के द्वारा विवेकी जिज्ञासु एक निश्चित तथ्य खोजने का प्रयास करता है। भारतीय परम्परा में इसी संशय या संदेह को आशंका कहा गया है और आस्था को ज्ञान का कारण समझा जाता है कठोपनिषद के नचिकेतोपाख्यान के द्वारा ऐसा ज्ञात होता है कि भारतीय विचारक जीवन की अनित्यता तथा मृत्यु भय के कारण आत्म-विद्या की ओर प्रवृत्त हुआ। संसार की प्रियातिप्रिय वस्तु नष्ट हो जाती है। इनकी अनित्यता ही व्यथा का कारण होती है। सुख अनित्य है, जीवन अनित्य है, अत: इन्हें नित्यता प्रदान करने की अभिलाषा मानव हृदय में सहज ही जाग्रत होती है। सृष्टि की अनित्यता एवं अनेकत्व में उस एक तथा नित्य के सामंजस्यपूर्ण दर्शन द्वारा इस समस्या का समाधान होता आया है। राज्यशक्ति भी अपने स्थायित्व के लिये शासक के रूप में ईश्वर की कल्पना करके शासन को धार्मिक तथा आध्यात्मिक क्षमता प्रदान करने की चेष्टा करती रही है [1]।

दर्शन को कभी कभी सृष्टि के मूलतत्व की पहेली सुलझाने का प्रतिफल भी माना गया। है। परिवर्तनशील सृष्टि में अपरिवर्तन-शील तत्व क्या है, एवं वास्तविक अस्तित्व क्या है, आदि प्रश्नों पर विचारविमर्श दर्शन के अंतर्गत आता है। जीवन के अस्तित्व को समझने के प्रयास में ही संसार की उत्पत्ति और विनाश, सृष्टि उत्पत्ति के कारण, उत्पत्ति कारक या कर्ता का स्वरूप आदि विचारों का विकास भी होता गया।

दर्शन का एक और तात्पर्य, तर्क के द्वारा जीवजगत सम्बन्धी विचारों की स्थापना भी माना जाता है। तर्क सिद्धान्त स्थापन की एक प्रणाली है, तर्क को सिद्ध न मानकर भी आचार्यों ने सदैव अपनी स्थापनाओं को तर्क के आधार पर ही सिद्ध करने का प्रयास किया है। तर्क का स्थान सूफ़ी दर्शन में महत्वपूर्ण अवश्य है; किन्तु परमेश्वर का अनुग्रह, उस पर दृढ़ आस्था एवं प्रेम ही उसमें प्रधान है।

---

१. "महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति......"

मनुस्मृति।

दर्शन या चिन्तन पद्धति का प्रारम्भ हो जाने पर उसकी अपनी परम्परा बन जाती है और साथ ही सर्वत्र चिन्तन पद्धति के इतिहास में उसकी दो धारायें स्पष्ट लक्षित होती हैं। एक धारा तो विधिविधान, पूजा, उपासना, समाज और राजनीति की तत्कालीन व्यवस्था को स्वीकार कर उसका आध्यात्म या चिन्तन के साथ सामन्जस्य करना चाहती है और दूसरी इन्हें अमान्य कर केवल तर्क और बुद्धि के सहारे नवीन स्थापनायें करती चलती हैं।

सूफ़ियों में चिन्तन पद्धति का विकास चाहे जिस रूप में हुआ हो परन्तु उसका स्वरूप सदैव इस्लामी रहा। सूफ़ी चिन्तन पद्धति में भी अन्य दर्शनों की भाँति दो धाराओं का स्पष्ट दर्शन होता है जिन्हें 'बाशरा' एवं 'बेशरा' नाम से अभिहित किया जाता है। सूफी सम्प्रदाय में स्वतन्त्र चिन्तकों को आजाद कहते हैं। मन्सूर, सरमद आदि ऐसे ही स्वतन्त्र चिन्तक थे, जिन्हें इस्लाम ने जिन्दीक समझकर प्राण-दण्ड दिया। अधिकांश सूफ़ी सनातनपंथी इस्लाम धर्म से विरोध नहीं करना चाहते थे और भरसक प्रयत्न करते रहे कि उनकी बातें इस्लाम धर्म-ग्रन्थों के द्वारा पुष्ट हों, फिर भी भिन्न-भिन्न देशों, सामाजिक परिस्थितियों एवं विचार पद्धतियों का प्रभाव निरन्तर पड़ते रहने के कारण इस्लामेतर भावनाओं और विचारों का समावेश इसमें हो ही गया है। विचार परम्परा कभी भी पूर्ण स्वतंत्र नहीं हो पाती। राजकीय विधान एवं सामाजिक स्थितियां उस पर प्रभाव डालती रहती हैं।

मुहम्मद साहब के निधन के उपरान्त मुस्लिम संघ में दीन और ईमान को लेकर अनेक प्रश्न उठे और उनके समाधान के लिये तर्क और बुद्धि का आश्रय लिया गया। मुहम्मद साहब और कुरान, अल्लाह और मुहम्मद साहब, मुहम्मद साहब तथा साधारण व्यक्ति और अल्लाह के सम्बन्धों का स्पष्टीकरण न हो सकने पर इस्लामनुयायी बुद्धि का आश्रय ग्रहण करने को बाध्य हुये, किन्तु इस दार्शनिक विचारधारा का मूल आधार कुरान ही रहा। कुरान में कथित संकेतों के आधार पर सूफ़ी चिन्तकों ने नवीन उद्भावनाओं की एवं कुरान के वाक्यों की नवीन व्याख्यायें कीं, किन्तु कहीं भी इस्लाम या कुरान का विरोध करने का प्रयत्न नहीं किया गया।

किसी भी दार्शनिक मतवाद के उद्गम की खोज सहज नहीं होती। देशकाल के अनुबन्ध में चिन्तन विकास की स्थापना दार्शनिक मतवाद की परम्परा के इतिहास द्वारा की जा सकती है। यद्यपि सूफी मत के उद्भव के सम्बन्ध में कई सिद्धान्त प्रतिपादित किये जाते हैं जिनका वर्णन हम पीछे कर चुके हैं किन्तु इतना सभी मानते हैं कि सूफी मतवाद इस्लामी क्रोड़ में ही फला-फूला एवं उसने मूल रूप में सदैव कुरान को ही ग्रहण करने का प्रयास किया। अतः सूफी मतवाद के अन्तर्ग दार्शनिक विचारधारा को समझने के लिये कुरान में कथित तथ्यों का आश्रय आवश्यक है।

परमतत्व और उसका स्वरूप

इस्लाम तौहीद का समर्थक है। अनेक देवताओं की स्थिति उसे अमान्य है, वह केवल एक ईश्वर की सत्ता स्वीकार करता है। वह ईश्वर इस सृष्टि का कर्त्ता, संहार॰

एवं रक्षक, सभी कुछ है। उसकी इच्छा प्रधान है, उसके एक शब्द 'कुन' मात्र से सृष्टि की रचना हो जाती है। इस प्रकार इस्लामी एकेश्वरवाद को हम वाह्यार्थवाद कह सकते हैं, क्योंकि वह जीवात्मा, परमात्मा और जड़जगत तीनों को पृथक तत्व मानता है। इस्लाम एक देववाद है, वह परमात्मतत्व की कल्पना स्थूल रूप में, एक (महा) देव के रूप में करता है। कुरान में ईश्वर या अल्लाह के स्वरूप के सम्बन्ध में लिखित आयतों में उसके कर्ता, रक्षक एवं संहारकस्वरूप का वर्णन है, साथ ही उसे सबसे महान इस अर्थ में कहा गया है कि संसार की सुन्दरतम कल्पना से भी वह अधिक सुन्दर एवं ऐश्वर्यवान है। पहले हम कुछ आयतों की चर्चा करके सूफ़ी विचारधारा का विवेचन करेंगे। कुरान के अध्याय तीस की बीसवीं एवं चौबीसवीं आयत में अल्लाह की तीन महान शक्तियों, सृजन, पालन, एवं संहार का परिचय दिया गया है। 'अल्लाह के अस्तित्व का संकेत इस बात से मिलता है कि उसने तुम्हारी रचना धूलसे की, और देखो मानवमात्र कितने अधिक विस्तार में स्थित है' [१]।

उनके अन्य संकेतों में बिजली भी एक है। बिजली की चमक के द्वारा वह भय एवं आशा दोनों का संकेत देता है। वह बादलों से पानी बरसाता है जिससे मृत पृथ्वी पुनः जीवित हो उठती है, वास्तव में इन प्राकृतिक सत्यों से बुद्धिमान व्यक्ति उसकी स्थिति का आभास पाते हैं [२]।

इसी प्रकार सातसौ बानवे अध्याय में अल्लाह के एकत्व, असमानत्व एवं शाश्वतता का वर्णन किया गया है। 'अल्लाह वह है जो केवल एक है, शाश्वत है, स्वयंभू है, उसका कोई पुत्र नहीं न वह किसी की सन्तान है। उसके सदृश और कोई कहीं नहीं है'[3]।

इस कथन में 'अल्लाह एक है' के साथ हो उसके सांसारिक सम्बन्धों से विहीनत्व का भी परिचय मिलता है, वह सृष्टिकर्ता होते हुये भी नियमों से परे, शाश्वत है।

अल्लाह सारे सद्गुणों, ऐश्वर्यों एवं शक्तियों का समाहार है। वह एक ही, इस सृष्टि को सृजन एवं स्वरूप दान करने वाला है, वह एक ही इसकी रक्षा करता है। सांसारिक सुन्दरतम उपकरण उसके अस्तित्व की घोषणा करते हैं। इसी तथ्य का विवरण हमें अध्याय उनसठ की आयतों में मिलता है। अल्लाह वह है जिसके अतिरिक्त और कोई देवता नहीं है। वह सब कुछ जानता है, जाहिर भी और बातिन भी, प्रकट भी और गुप्त भी। वह अनुकूल एवं महत् कृपाशाली है [४]।"

---

१. व मिन आयाते ही अन खलाकांकुम मिन तुराबिन सुम्मा इजा अन्तुम व शरून तन्तशेरून।

२ व मिन आयाते ही यूरी कुमुल वरबा खोफम वा लमा अन
व यूनज्जिलो मिनस्समाये मा अन, फा मोह ई बिहिल अरदा वादा मौति हा, यन्नी-जालिका ला आताितल ले कौमीं याकिलून।

३. कुलवल्लाहो अहदअल्लादुस्समद लम यलिद वलम यू लद वलम यकुल्लहू कोफोवन अदह

४. हुवल्ला हुल्लज़ीद लाइलाहा इल्लाहू आलमुवलगैब वशशहादते दुवर्रहमानु र रहीम।

'अल्लाह वह है जिसके अतिरिक्त और कोई देवता नहीं है, वह महान शासक, पूत, शान्ति और पूर्णता का स्रोत, धर्मरक्षक, सुरक्षा-स्थापक, शक्तिसम्पन्न, अजय एवं महान है। अल्लाह अति महान है, इन सारे गुणों से भी वह ऊंचा है' [१]।

'अल्लाह वह है जो सृष्टिकर्ता, विस्तारकर्ता एवं दाता है। वह सभी गुणों एवं विभूतियों का अधिकारी है, जो कुछ स्वर्ग और भू पर है उसकी महानता एवं ऐश्वर्य को सूचित करता है, वह महान शक्तिशाली एवं बुद्धिमान है [२]'।

इस प्रकार दूसरे अध्याय के दो सौ बावनवी आयत में भी अल्लाह के उत्पत्तिकारक रक्षक एवं संहारक स्वरूप का वर्णन अधिक है। उस एक के अतिरिक्त अन्य कोई ईश्वर नहीं है; वह चेतन एवं स्वयंस्थित शाश्वत है, वह कभी नष्ट नहीं होता न कभी थकता है। उसकी उपस्थिति में उसकी आज्ञा के बिना किसी की क्षमता बीच में पड़ने की नहीं है। वह सर्वज्ञाता है, उसकी इच्छा के बिना उसे कोई जान नहीं सकता, उसका साम्राज्य स्वर्ग और पृथ्वी पर है। वह सृष्टि के पालन एवं रक्षण में थकान का अनुभव नहीं करता क्योंकि वह अति महान एवं श्रेष्ठ है [३]।

ऊपरलिखित इन आयतों से यह स्पष्ट हो जाता है कि कुरान में वर्णित अल्लाह सगुण एवं साकार है। ऐसे वाक्यों का भी अभाव नहीं जिनमें स्पष्ट है कि अल्लाह पूरब, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण सर्वत्र निवास करता है, जिधर देखो उधर उसका मुख है, वह हमारे गले की नस से भी अधिक निकट है उन सब आयतों का वर्णन करना अनावश्यक विस्तार होगा। कुरान के इन मूल उद्‌गारों के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता, किन्तु स्पष्ट यही है कि अद्‌वैतवाद वाली धारणा कुरान के एकेश्वरवाद में नहीं है। एकेश्वरवाद एकदेववाद है, केवल एक देव की सत्ता पर विश्वास करके उसी को मानवीय कल्पना के सर्वश्रेष्ठ गुणों एवं आदर्शों का पुन्ज मानना पैगम्बरी एकेश्वरवाद हुआ और अद्‌वैतवाद हुआ सूक्ष्म आत्मवाद या ब्रह्मवाद, एकेश्वरवाद का अर्थ है कि एक सर्वशक्तिमान सबसे बड़ा देवता है जो सृष्टि की रचना पालन तथा नाश करता है, अद्‌वैतवाद का तात्पर्य है कि दृश्य जगत् के आधारस्वरूप उनके मूल में एक अखन्ड नित्य तत्व है, वही सत्य है। आत्मा परमात्मा में विशेष भेद

---

१. हुवल्ला हुल्लज़ीद लाइलाहा इल्लाहू अलमलेकुल उद्दसुस सलामुल मौमेनुल मुहेमुनुल अज़ीज़ुल जब्बारुल, मुतकब्बिर, शुभानअल्लाहे अम यूशरेकून।

२. हुवल्लाहुल खालेकुल बारेउल मुस्सविरो, लहुल अस्माउल हुस्ना, यूसब्बहो, लहू माफिससमावाते वल अरबे वहुवल अज़ीज़ुल हकीम।

३. अल्लाहो लाहूलाहा इल्लहुवल हाय्युल कयूम लाताखुजहू सिन तुम। वलानौ लहू माफिस्स मावाते व माफिल अर्दे मन्जल लजो यशफ हो इल्लहू इल्ला बे इजम हीं यालयो मा बैना येदी हिम् वमा खलफ़हुम वला यूही तूना बे शयिम मिन इल्मे हीं इल्ला बिमाशा आ वशेआ कुर्सी श्रो हुश समावाते वल अर्दा वलायअदोहू हिबुजो हुआ वहुवल अलीकुल अज़ीम।

नता, इस दृश्य जगत के नानारूपों में उसी एक अव्यक्त का व्यक्त आभास पाया जाता है[1]।

पैगम्बरी एकेश्वरवाद की कल्पना में सृष्टि और अल्लाह का जो पृथकत्व है उसी के कारण पैगम्बर की महत्ता है, किन्तु सूफ़ियों को यह पृथकत्व सह्य नहीं था। वे भारतीय अद्वैतवाद की भाँति परमात्मा और आत्मा की एकता में मग्न होना चाहते थे, यद्यपि इस्लाम धर्मानुसार यह कुफ्र की बात थी। आरम्भ के कुछ सूफ़ियों 'मन्सूर' इत्यादि को इसी एकत्व की भावना 'अनलहक' (मैं ही ब्रह्म हूँ) का प्रतिपादन करने के कारण मृत्युदण्ड भोगना पड़ा था अतः सूफी साधकों को यह स्पष्ट हो गया था कि इस्लाम से पृथक होकर वे अपनी पद्धति को स्थिर नहीं रख सकते। यही कारण है कि सूफ़ी अपनी सभी उक्तियों को कुरान के कथन से पुष्ट करना चाहते हैं।

कुरान के ऐसे वाक्यों कि 'वही आरम्भ एवं अन्त है, गुप्त एवं प्रकट है, वह सर्वज्ञाता है[2],' 'जहाँ कहीं भी तुम जाओ वह तुम्हारे साथ है[3]'। 'वह मनुष्य के गले की नस से भी अधिक निकट है।[4]' 'जिधर देखो उधर उसका मुख है[5]' ने सूफ़ियों की उदार भावना को सहारा दिया और उन्होंने अपने स्वतंत्र विचारों को 'तनज्जुल' के सिद्धान्त के द्वारा प्रकट किया। तनज्जुल का अर्थ अवतरण (Transition in descent) है, जिसके अनुसार अल्लाह सगुण रूप में अवतरित मान्य हुआ। अल्लाह के एकत्व से अनेकत्व की स्थिति प्राप्त होने तक सूफ़ियों ने कई स्वरूपों की कल्पना की है। शुदूद (चेतना) नूर (ज्योति, तेजस), इल्म (ज्ञान), एवं वजूद (अस्तित्व) उसके ऐसे ही स्वरूप हैं। नवअफलातूनी (Neo Platonism) मत के अनुसार सूफीमत में भी एकत्व से अनेकत्व तक की उद्भावना के तीन प्रधान स्वरूप हैं। अपनी सर्वप्रथम अवस्था में वह (अलवजूदल मुतलक) केवल एकमात्र सर्वगुण, राग, सम्बन्ध रहित स्थित था। जिली ने अपने ग्रन्थ इन्सान-ए-कामिल में इसे स्पष्ट भी किया है। केवल वह, नाम, रूप, गुण तथा सांसारिक सम्बन्धों से विमुक्त है। वह 'अहद' केवल या मात्र की अवस्था के पूर्व भी, अलअमा के रूप में वर्तमान था जिसे तत्व रूप में केवल तमस की भांति शक्तिपूर्ण होते हुये भी-स्वरूप-हीन रूप में स्थित माना जा सकता है। अल- अमा की अवस्था का वाह्य रूप 'अहदियात' या केवल-मात्र है, अहद का पूर्वस्वरूप तमसावृत या अज्ञेय है, बुद्धि की गति वहाँ तक नहीं, और इसी अगम्य अवस्था को अमा कहते हैं। जब यही तत्व व्यक्त होने की भावना से अग्रसर होता है तो 'अहद' हो जाता है। अपनी इस धारणा की पुष्टि के लिये भी सूफ़ी दो दृष्टान्त उद्धृत करते हैं। हदीस-कुदसी के

---

१ Early development of Mohammedanism p. 99
By D. S. Margoliouth.

२. Koran 57:31 ३. Koran 57:4 ४. Koran 50:15, ५. Koran2 : 109
By Yusuf Ali

अनुसार अल्लाह सर्वप्रथम अज्ञात रूप में वर्तमान था, उसे चाह हुई कि उसके अस्तित्व का ज्ञान प्रसारित हो, और अपनी इसी भावना की पूर्ति के लिये उसने सृष्टि-निर्माण किया, अतः अहद की भावना में 'अहं' की भावना वर्तमान रहती है। इसी प्रकार कहते हैं कि एक दिन अबी दारा ने मुहम्मद साहब से पूछा 'सृष्टि निर्माण के पूर्व अल्लाह किस रूप में स्थित था' मुहम्मद साहब ने उत्तर दिया कि वह उस समय 'अमा' की अवस्था में स्थित था। उस 'इलाह' या परमसत्ता का तीसरा स्वरूप 'वाहिद' है। धारणा है कि उसका यही स्वरूप मुहम्मद का वास्तविक अस्तित्व है एवं सारा संसार उसी हकीकत का प्रसार है,[1] आदर्श आत्मायें मुहम्मद के शरीर और आत्मा का प्रसार हैं। वाहिदिया की भावना भी परमसत्ता के एकत्व का प्रतिपादन करती है। गुल्शनेराज में इसी भाव को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है कि 'निर्माणकर्ता सत्य में कोई द्वैत की भावना नहीं है, उसमें मैं और तुम सभी एक ही सत्य हैं क्योंकि एकत्व में किसी भी प्रकार के भेद-भाव की भावना नहीं रहती है। सृष्टि का निर्माणकर्ता अनेकत्व भावना से परे केवल परमसत्य या हक़ है और स्वयं को अनावृत्त करके जब वह प्रकट करता है तब वही संसार या 'खल्क' हो जाता है।

'वाहिदिया' की अवस्था में उस एक तत्व पर विभिन्न ज्ञान और कर्मशक्तियों का आरोप हो जाता है, और तभी इसे 'लाहूत' या 'ईश्वरत्व' की संज्ञा प्राप्त होती है और जब इसमें जीवित करने या मृत करने की शक्तियों का समावेश हो जाता है तो उसे 'आलमे जबरूत' कहते हैं, जब इसका सम्बन्ध, आत्मा, देवों एवं परियों के संसार से होता है तो इसे 'आलमे मलकूत' कहते हैं तथा जब इसकी शक्ति का प्रसार सांसारिक क्षेत्र में होता है तो इसे 'आलमे नासूत' या भौतिक जगत कहते हैं।

ईश्वर इस जगत में ओतप्रोत है या इस दृश्यमान जगत से नितान्त परे है, इस विषय से सम्बन्धित सूफ़ी आचार्यों के पांच मत ज्ञात होते हैं। अधिकांश इस मत पर विश्वास करते हैं कि ईश्वर जगत से परे रहकर भी उसी में लीन है। 'गुल्शनेराज' में यह भाव इस प्रकार स्पष्ट किया गया है कि 'हमारे प्रियतम का सौंदर्य अणुपरमाणु तक के अवगुन्ठन में लक्षित होता है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि साधक लाहूत (ईश्वरत्व) एवं नासूत (मनुष्यत्व) को एक ही मान ले। वह 'ब्रह्मैव भवति' के सिद्धान्त को नहीं मानता, वह ईश्वराधिकत्व को मानता है। जिस प्रकार शराब और पानी मिल कर एक हो जाते हैं किन्तु वही नहीं हो जाते उसी प्रकार मनुष्यत्व और ईश्वरत्व का मिलन होता है। ईश्वर जगत में व्याप्त अवश्य है, किन्तु सीमाबद्ध नहीं है। जिली इस जगत और ईश्वर से भिन्न सत्ता नहीं मानता, इब्न अरबी ईश्वर और जगत को समपरिणामरूप

---

१ Sufism its Saints and Shrines In India P.55

by A. J. Subhan

मानता है। 'कश्फुल महजूब' के रचयिता हुज्विरी का मत इन सबसे भिन्न है, वह ईश्वर और जगत को दो भिन्न वस्तुयें मानता है, एवं ईश्वर और सृष्टि के पृथक अस्तित्व का समर्थक है। रूमी ईश्वर के स्वरूप का चिन्तन बाहर भीतर ऐसे शब्दों के द्वारा नहीं करना चाहता। उसका कहना है कि बाहर और भीतर शब्दों का प्रयोग केवल भौतिक पदार्थों के लिये होता है; इनके द्वारा उस परमतत्व के स्वरूप का वर्णन असम्भव है। वह इस जगत में एक साथ ही भीतर एवं बाहर दोनों प्रकार से रह सकता है।

जामी अपने ग्रन्थ लावेह में परमतत्व को दो रूपों में व्यक्त होते हुये बताता है। प्रथम तो आन्तरिक व्यक्तीकरण, जिसे 'फैजेअकदास' या 'अक्लेकुल' कहते हैं दूसरे शब्दों में इसे जगत में व्याप्त बुद्धितत्व कह सकते हैं। उसका दूसरा स्वरूप वाह्य होता है। इस अवस्था में वह कोई मूर्त स्वरूप धारण कर लेता है तब इसे 'फ़ैजेमुकद्दस' या 'नफसे कुल' कहते हैं।

परमसत्ता की तीन बातिनी या गुप्त आन्तरिक उद्भावनाओं की चर्चा भी दार्शनिकों ने की है। (१) लाविशर्ती शय (२) विशर्ती शय एवं (३) विशर्ती ला शय जो क्रमशः उसके अनपेक्ष, सापेक्ष एवं वस्तुनिरपेक्ष स्वरूप हैं।

इस प्रकार सूफ़ी आचार्यों ने परमतत्व की कल्पना को क्रमशः एकदेववाद से आरम्भ करके अद्वैतवाद तक पहुँचाने की चेष्टा की। सूफ़ी सिद्धान्तों का प्रणयन अधिकांश फारस में हुआ, अतः बहुत सम्भव है कि भारतीय विचारधारा का अनिवार्य प्रभाव इस पर पड़ा हो। एकेश्वरवाद को मानने वाले इस्लाम में उत्पन्न होने पर भी सूफ़ी चिन्ताधारा में क्रमशः अद्वैतवाद एवं विशिष्टाद्वैतवाद की भावना का समावेश हो गया। ईश्वर को केवल कर्ता, पालनकर्ता, एवं संहारकर्ता मानने के साथ ही, वे उसे सृष्टि में परिव्याप्त एक परमसत्य भी मानने लगे। इसी विचारप्रणाली के आधार पर सूफ़ियों के ब्रह्म सम्बन्धी विचारों को तीन वर्गों में विभाजित किया गया है (१) इजादिया, (२) वजूदिया, (३) एवं शुदूदिया।

इजादिया विचारधारा के अनुयायी सूफ़ी, ईश्वर का अस्तित्व सृष्टि से भिन्न मानते हैं। यह सृष्टि उस परमात्मा द्वारा निर्मित है, अल्लाह या परमेश्वर सर्वशक्तिमान महामहान एवं मानवीय बुद्धि को आतंकित कर देने में समर्थ है। मनुष्य उससे भयान्वित हो श्रद्धावनत हो सकता है, उससे प्रेम नहीं कर सकता। बहुत संभव है कि आरम्भिक सूफ़ियों में बसरा के हसन इब्राहीम-बिन-अधम, फुजैल आदि में अत्यन्त भय की भावना का संचार ईश्वर के इसी रूप के कारण रहा हो। उनके लिये ईश्वर का भय ही प्रधान था जबकि बाद के सूफ़ियों को उसका दयामय (रहमान अल् रहीम) स्वरूप ही अधिक आकर्षित कर सका। इस सम्प्रदाय के अनुसार परमतत्व और सृष्टि का सम्बन्ध कर्ता और कृति का है। इसके अनुसार अल्लाह ने सृष्टिनिर्माण, 'कुन' शब्द कहने मात्र से, मिट्टी से किया। यह मत इस्लाम धर्म की मूल विचारधारा के अनुकूल है एवम् सभी प्रकार के मुसलमानों को मान्य है।

सूफ़ी कवियों का विशेष सम्बन्ध 'शुदूदिया' एवम् वजूदिया सम्प्रदाय से है। शुदूदिया

सम्प्रदाय वाले ईश्वर को इस सृष्टि में बिम्ब प्रतिबिम्ब की भांति व्याप्त मानते हैं जबकि 'वजूदिया' विचारधारा के अनुयायी उस एक तत्व को ही इस सृष्टि रूप में प्रसारित मानते हैं। इसी कारण यह जगत भी केवल प्रतिबिम्ब या आभास मात्र नहीं है। इसमें ईश्वर के गुणों का समावेश है किन्तु फिर भी यह जगत वही नहीं है। 'गुल्शनेराज' में इसी सत्य का उद्घाटन किया गया है। हदीस है कि एक दिन मुहम्मद साहब कुरेश जाति के नेताओं के साथ विचार विमर्श कर रहे थे। मुहम्मद साहब ने उनसे कहा 'यदि तुम सच्चे हृदय से एक शब्द का उच्चारण कर सको तो तुम अरब तथा अजम दोनों के स्वामी हो सकते हो' अबूबहेल ने कुरेशियों का प्रतिनिधित्व करते हुये उत्तर दिया, 'हम तुम्हारे एक नहीं हजारों शब्दों को मान सकते हैं'। मुहम्मदसाहब ने अभीष्ट शब्द का उच्चारण करते हुये कहा, 'ईश्वर के अतिरिक्त अन्य सत्ता नहीं है, ईश्वर केवल एक है' सभा में उपस्थित कुरेशियों ने आश्चर्य से कहा, 'एक ईश्वर सारे संसारको अपने में कैसे समाविष्ट कर सकता है (कैफ़ा ज़स उल् खल्क इलाहन वाहीद)'। उन्होंने कहा, 'क्या मुहम्मद साहब ने समस्त देवताओं का एकीकरण एक ईश्वर में ही कर दिया है'? मुहम्मद साहब का आशय स्पष्ट था कि प्रत्येक मूर्त स्वरूप उस अमूर्त का व्यक्तीकरण है, स्वयम् वही नहीं। उसी प्रकार जैसे सूर्य की प्रत्येक किरण में सूर्य के प्रत्येकतत्व वर्तमान रहते हैं किन्तु वह स्वयम् सूर्य नहीं है। जात एवम् सिफ़त तथा रब और अब्द के सिद्धान्त के स्पष्टीकरण के लिये ही तनज्जुल के सिद्धान्त का प्रादुर्भाव हुआ था। इसी सत्य का स्पष्टीकरण इनायतखां ने अपने ग्रन्थ 'मिस्टीसिज़्म आफ साउन्ड' में इस प्रकार किया है 'परमतत्व एक अवस्था में सदैव स्थित है एवम् यह सारी सृष्टि उस एक केन्द्र से स्वरलहरियों की भांति उद्भूत होती है और ये स्वरलहरियां अन्यान्य स्वरलहरियों को उद्भूत कर वातावरण को अशांत बना देती हैं[1]'। इस सम्प्रदायवाले ईश्वर को सर्वव्यापक एवम् सर्वस्थित मानते हैं। प्रसरण के सिद्धान्त (Theory of Emanation) या बजूदिया विचारधारा का स्पष्टीकरण कभी कभी पिरामिड के द्वारा भी किया जाता है जो कि उच्चतम केन्द्र से क्रमशः धरातल की ओर विस्तारित होता है। इसी प्रकार वह परमतत्व क्रमशः इस भौतिक जगत के रूप में अवस्थित होता है। यह भौतिक जगत उसी से उद्भूत होता है और उसी में लय हो जायगा। यह संसार उसका अवतरण होने के कारण सत्य है, किन्तु साथ ही उसी का रूप नहीं है। सृष्टि और परमेश्वर में कुछ अन्तर अवश्य है।

शुदूदिया सम्प्रदायवाले इस सृष्टि को केवल प्रतिबिम्ब या आभास मात्र मानते हैं। यह सृष्टि सत्य नहीं है। इस सृष्टि और ब्रह्म में अंश अंशी का सम्बन्ध न होकर केवल बिम्ब-

---

१. "The Light Absolute from which has sprung all that is felt seen and perceived into which all in time merges is called Zat (जात) in Sufi language i e. Silent Motionleess and eternal life. Every motion that springs up from this life is a vibration and creation of vibrations. Thus life loses the peace of eternal life and is busy with activity".

प्रतिबिम्ब का सम्बन्ध है, जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होता है उसी प्रकार इस सृष्टि में उस परमसत्ता का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है। सूर्य एवं सूर्य की किरण का जो सम्बन्ध है वह वजूदिया विचारवालों को, एवं सूर्य और सूर्य के प्रतिबिम्ब का जो सम्बन्ध है वह शुदूदिया सम्प्रदाय वालों को मान्य है। ईश्वर एक है और वह इस नामरूपात्मक जगत, में प्रतिबिम्बित हो रहा है। अनेक प्रतिबिम्ब से उसकी एकता में कोई अन्तर नहीं पड़ता, वह अपने प्रत्येक बिम्ब में स्थित है। उसका बिम्ब उसके स्वरूप का साक्षी है जो साधक को उस तक पहुँचाने की प्रेरणा देता है। अपनी कृति इस सृष्टि से वह परमसत्य इतना निकट है जितना मृत्युपर्यन्त परलोक में (वा हुव्व् माकुम आयनम कुन्तुम)। अधिकांश सूफ़ी ईश्वर और सृष्टि के इसी बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव का प्रदर्शन अपने काव्य में करते हैं।

अब तक जिन परमसत्ता सम्बन्धी मतवादों की चर्चा हो रही थी उनका सम्बन्ध सिद्धान्त पक्ष से अधिक है। वस्तुतः सूफ़ी आचार्यों में परमसत्ता के सम्बन्ध में क्या धारणायें थीं इसका विवेचन अभी तक होता रहा। पीछे कहा जा चुका है कि सूफ़ीमत के सिद्धान्तों का प्रणयन अधिकांश फारस के सम्पर्क में आजाने के पश्चात् ही हुआ। अल्-गज्जाली ने सूफ़ीमत की प्रतिष्ठा इस्लाम में करा दी किन्तु उसके बाद सूफ़ी सिद्धान्तों के प्रणयन की अपेक्षा काव्यरचना अधिक हुई। मसनवी, गजलों और रुबाइयों के द्वारा इन सूफ़ी साधकों ने अपने विचारों का प्रचार करना चाहा। जब भारतीय सूफ़ी कवियों ने साहित्य सृजन किया उस समय इस्लाम और सूफ़ी मत का विरोध नष्ट हो चुका था। सूफ़ियों ने अपनी सारी स्थापनाओं का आधार इस्लाम को मानकर अपने आदर्श और कल्पनाओं की सृष्टि की। सूफ़ी साधकों का राजसत्ता के साथ भी विरोध कम हो गया था अतः भारतीय सूफ़ी-काव्य में प्रतिपादित परमसत्ता सम्बन्धी सूफ़ी विचारधारा में समन्वयवादिनी प्रवृति ही प्रधान है।

भारतीय सूफ़ी कवियों ने सूफ़ीमत में प्रचलित जितने भी सिद्धान्त थे लगभग सभी को थोड़े बहुत रूप में अपनाने का प्रयास किया। कुरान में वर्णित अल्लाह, जिसकी सत्ता इस सृष्टिकर्ता, पालनकर्ता एवं संहर्ता के रूपमें है तथा जो अपने एक शब्द 'कुन' मात्र में सृष्टिरचना की सामर्थ्य रखता है, का वर्णन करने में भी ये सूफ़ी कवि नहीं चूके हैं। शेख रहीम 'प्रेम रस' में कहते हैं कि उसने केवल एक शब्द 'कुन' के उच्चारण मात्र द्वारा पृथ्वी से लेकर आकाश तक की सारी सृष्टि रचना कर डाली[1]। अल्लाह को रब (कर्ता) एवं सृष्टि को अब्द (कृति) रूप में मानने वाले सूफ़ी कवि अधिक हैं। लगभग सभी कवि उसकी महानता एवं अद्भुत शक्तियों के वर्णन-प्रसंग में उसकी सृजन शक्ति का गुणगान करते हैं। कुरान में वर्णित अल्लाह के गुण कुछ उसकी

१ एकै शब्द कहा 'कुन केरा। सिरजा भूमि अकाश घनेरा॥
शेखरहीम : भाषा प्रेमरस

आदि अगोचर सुमिरिहों सिष्ट करन करतार।
एक शब्द ही में कर्यो सब कछु सुरगपतार॥
कविजान : ग्रन्थ बधिसागर (हस्तलिखित)

सत्ता से सम्बन्ध रखते हैं कुछ महत्ता से। जिली ने इनके चार विभाजन किये थे, जात, जमाल, जलाल और कमाल जिनसे उसके स्वभाव, सौन्दर्य, शक्ति तथा अद्भुतशक्ति का परिचय मिलता है। कुरान में अल्लाह के सौन्दर्य तथा शक्ति का तो वर्णन है किन्तु स्वभाव और अद्भुतशक्ति का वर्णन अधिक नहीं है। सूफ़ियों ने इस अभाव की पूर्ति भी उसकी सृष्टि में प्राप्त अनोखेपन के द्वारा कर दी। उस परमसत्ता को उन्होंने वर्णनातीत एवं आश्चर्यमयी शक्तियों का समाहार बना दिया। परमसत्ता की केवल इच्छा मात्र ही सृष्टि रचना में महत्वपूर्ण है।

'परमसत्ता अलख अरूप एवं वर्णनातीत है। वह अदृश्य होते हुये भी सम्पूर्ण दृश्यमान जगत में व्याप्त है। न उसके पुत्र, न पिता, न माता है, उसे कोई सांसारिक सम्बन्ध बांध नहीं सकता। जहांतक दृष्टि जाती है, जितना भी यह दृश्यमान जगत है सब उसी की कृति है। वह जो कुछ चाहता है करता है उसकी इच्छा में कोई व्यवधान उपस्थित नहीं कर सकता[1]।' इन पंक्तियों में तथा कुरान के अध्याय दो की आयतों में कितना अधिक साम्य है। जायसी तो अपनी कथा का आरम्भ ही कर्ता के स्मरण से करते हैं[2]। इसी प्रकार अखरावट में भी जायसी अल्लाह के इस स्वरूप को नहीं भूलते 'वह परमसत्ता महान सृजनकर्ता पालन एवम् संहारकर्ता है[3]।' कवि उसमान भी अल्लाह की कर्तृत्व शक्ति का गुणगान करते हैं 'वही कर्ता सारे रोम-रोम में रम रहा है। उसने इस सारी सृष्टि की रचना की किन्तु उसका अवगाहक कोई विरला ही है[4]।'

उसमान ने इसी भाव को नवीन रूपक से व्यक्त करने की चेष्टा की है। अन्य सूफ़ी कवियों ने अत्यन्त सरल ढंग से इस तथ्य का उद्घाटन किया है किन्तु कवि उसमान इस सृष्टि और परमसत्ता के स्पष्ट निरूपण के हेतु चित्र एवं चित्रकार या चितेरे का रूपक बांधते हैं 'सर्व प्रथम मैं उस चित्रकार का ऐश्वर्य-गान करता हूँ जिसने इस सृष्टि रूपी चित्र

---

१. अलख रूप अकबर सो कर्ता। वह सबसों सब ओहि सों बर्ता॥
परगट गुपुत सो सरबबिआपी। धरमी चीन्ह, न चीन्हैं पापी॥
ना ओहि पूत पिता न माता। ना ओहि कुटुम्ब न कोई संग नाता॥
जना न काहु न कोइ ओहि जना। जहां लगि सब ताकर सिरजना।
जो चाहा सो कीन्हेसि, करै जो चाहै कीन्ह।
बरजनहार न कोई सबै चाहि जिउ दीन्ह॥
जायसी : पद्मावत

२. सुमिरौं आदि एक करतारू। जेहि जिउ दीन्ह कीन्ह संसारू॥
जायसी : पद्मावत

३. तुम करता बड़ सिरजन हारा, हरता, धरता सब संसारा।
जायसी : अखरावट पृ ३०५

४. सोई करता रमि रहा, रोम रोमैं सब मांहि।
तिन सब कीन्ह सिरस्टी, यह गाहक कीन्हों नाहिं।
उसमान : चित्रावली ५०२

की रचना की। इस चित्र रचना में चित्रकार के कमाल का भी समावेश है।' इस्लाम में जल के ऊपर पृथ्वी की स्थिति के सम्बन्ध की धारणा का काव्यात्मक ढंग से उसमान ने वर्णन किया है, 'अन्य चित्र तो चित्रपट पर बनाये जाते हैं किन्तु यह नारी और पुरुष से संयुक्त चित्र जल के ऊपर बनाया गया है। उसके चित्र में विषयगत महानता के साथ ही यह भी महत्वपूर्ण है कि उसे केवल वही मिटा भी सकता है। अनेक प्रकार के रूप और वर्ण की रचना करके भी वह स्वयं अरूप एवं अवर्ण है[1]'।

जायसी ने भी अल्लाह के कमाल (अद्भुतशक्ति) का वर्णन किया है, 'नक्षत्रों से जड़े हुये शामियाने की भांति आकाश का बिना खम्भे के टिके रहना खुदा का कमाल है[2]।' बिना खम्भे के आकाश की स्थिरता के सम्बन्ध से खुदा के कमाल का वर्णन कई कवियों ने किया है।

परमसत्ता के कर्ता स्वरूप का उल्लेख लगभग सभी कवियों ने किया है। जान कवि अपने ग्रंथ 'छीता' के आरम्भ में कहते हैं कि 'मैं सर्वप्रथम उस अगम्य, अदृश्य एवं निराकार कर्ता का सम्मान करता हूँ।' जान कवि ने अल्लाह के कमाल के साथ उसके जात (स्वभाव) का भी स्मरण किया है, 'वह अत्यन्त दयाशील है एवं संसार में सभी की रक्षा करता है[3]'।

इस संसार की चित्र, एवं अल्लाह की चित्रकार रूप में कल्पना जान कवि ने भी की है, 'मैं सर्वप्रथम उस कर्ताका स्मरण करता हूँ जिसने इस सम्पूर्ण चित्ररूपी संसारकी रचना की है। उसने कैसे अद्भुत चित्रों की रचना की है जिन्हें देखकर चित्रकार की शक्तियों

---

१. आदि बखानों सोई चितेरा। यह जग चित्र कीन्ह जेहि केरा॥
कीन्हेसि चित्र पुरुष औ नारी। को जल पर अस सकै संभारी॥
कीन्हेसि जोति सूर ससि तारा। को अस ज्योति सकै जग पारा॥
कीन्हेसि वचन वेद जेहि सीखा। को अस चित्र पवन पर लीखा॥
अस विचित्र लिखि जानै सोई। वहि बिनु मेंट सकै नहिं कोई।
कीन्हेसि रंग श्याम औ सेता। राता पीत और जग जेता॥
कीन्हेसि रूप बरन जहं ताईं। आपु अबरन अरूप गोसाईं॥
उसमान: चित्रावली पृष्ठ १

२. गगन अंतरिख राखा, बाज खम्भ बिनु टेक।
जायसी : अखरावट।
धन्य आप जग सिरजन हारा, जिन बिन खम्भ अकाश सवांरा।
नूरमुहम्मद : इन्द्रावती ॥ पृष्ठ १

३. पर्थम सुमिरौं सिरजनहारा, अगम अरूप अलख करतारा॥
दुखिया कौ सुखिया करि डारै, सुखिया कौ दुखिया करि जारै॥
दयासिंध है सिरजनहार, सब काहू की लेहि सवांर॥
जान : छीता (हस्तलिखित)

का आभास हो जाता है[1]।' परमात्मा के 'कुन' शब्द मात्र से सृष्टि रचना के आधार पर उसे कर्त्ता सिद्ध करने का प्रयास भी इस्लाम पद्धति के अनुसार जान ने किया है, 'मैं उस आदि, अदृष्ट एवं सृष्टि रचयिता कर्तार का स्मरण करता हूँ जिसने एक शब्द ही में सारे स्वर्ग, पाताल की रचना की है[2]।

कासिमशाह ने भी परमसत्ता का गुणगान सृष्टिकर्ता के रूप में किया है। साथ ही वे उसके कमाल का वर्णन करने में भी नहीं चूके हैं। उनका विचार है, कि जिस परमात्मा ने यह गगन और पवन बनाकर अपनी विजय का डंका बजाया है, जिसने तीन लोक की सृष्टि की है वह केवल एक परमसत्ता है[3]।

'इस सृष्टि का रचयिता ऐसी आश्चर्यमयी शक्तियों वाला है कि उसने जल पर पहले पृथ्वी को स्थिर किया और फिर उस पृथ्वी के ऊपर सुमेरु ऐसे विशाल पर्वतों की स्थापना की[4]।'

कासिमशाह ने परमसत्ता के केवल कर्त्ता स्वरूप का वर्णन ही नहीं किया वरन् उन्होंने उसकी पालक एवं संहारक शक्तियों की ओर भी संकेत किया है, 'वह एक सांसारिक सम्बन्धों से बाधित नहीं है। वह किसी का पुत्र भी नहीं है। वह तो इस सारी सृष्टि को रचने वाला है। वह एक ही, सृष्टि की रचना करता है, पालन करता एवं नष्ट कर देता है[5]।'

नूरमुम्मद ने कुरान के शब्दों में ही उसकी कर्तत्व शक्ति का उल्लेख किया है, 'वह सृष्टिकर्ता केवल एक है। सारी सृष्टि का प्रगट एवं गुप्त सभी कुछ उसे ज्ञात है। उसने

---

१. पर्थम सुमिरत हौं करतारा। जिन चितरयो यह सब संसारा ॥
कैसे कैसे चित्र बनाये। देखत चित्र चितेरा पाये ॥
कवि जान : कथा कामलता। (ह० लिखित)

२. आदि अगोचर सुमिरौं। सिष्ट करन करतार।
एक सब्द ही में करियौ। सब कछु सुरग पतार ॥
कवि जान : ग्रन्थ बुद्धिसागर (ह० लि०)

३. सिरजा गगन पवन जिन। औ विशेष जय टेक।
तीन लोक जिन सरज्यौ। अलख नाम वह एक ॥
कासिमशाह : हंसजवाहिर पृ० १।

४. अस करता बहु जाकर। उकुत कथा जिन्ह केर।
जल पर भूमि बिछायके। धरा सुमिरधर मेर ॥
कासिमसाह : हंसजवाहिर, पृष्ठ ३।

५. ना वह मात पिता नहिं भाई। ना वाके कोई कुटुम्ब सगाई।
ना वह होय कि हो कर बारा। वह जिन रचा रचा वह सारा ॥
वह साजै भंजै वही, वही सो है उजियार।
प्रतिपालै वहि जन्म दै, वही मिलावै छार ॥
कासिमशाह; हंस जवाहिर, पृष्ठ ३।

रात्रि विश्राम, एवं दिन कार्य करने के लिये बनाया है। सूखी पृथ्वी को पुनर्जीवित करने के लिये वह पानी बरसाता है, यह सारी सृष्टि नष्ट हो जायगी केवल उसका सूर्य के समान प्रकाशित मुख ही शाश्वत है। आदि वाक्यों में पीछे उल्लिखित कुरान के वाक्यों की पुनरावृत्ति होती है।

शेख निसार, कवि नसीर आदि सभी हिन्दी के सूफ़ी कवि परमसत्ता की सृजन-शक्ति को दृढ़ कर रहे हैं। शेख रहीम तो सर्वप्रथम ही 'सत्यहृदय से विस्मिल्लाह' को पुकारने को कहते हैं क्योंकि वह अत्यन्त दयालु एवं सृजनकर्ता है[1]।

कवि नसीर कर्ता स्वरूप पर विचार करते समय परमसत्ता के विरोधी तत्वों का भी वर्णन करते हैं। 'मैं सर्वप्रथम उस कर्ता का स्मरण करता हूँ जो इस सृष्टि का निर्माण करने वाला है। यद्यपि उसके श्रवण नहीं है फिर भी वह सुनता है। सब कुछ देखते हुए भी वह साधारण आदमियों की भाँति नेत्रयुक्त नहीं है।' इसी प्रकार कवि अपनी भावना को स्पष्ट करता चलता है कि 'वह सगुण और साकार ब्रह्म की भाँति कार्य करते हुये भी वास्तव में गुण, आकार एवं सम्बन्ध से रहित है। हाथ न होते हुये भी वह सर्वाधिक कार्यशक्ति का पुञ्ज है। अदृष्ट होते हुये भी प्रत्येक घट में निवास करता है। उसके कहीं भी दर्शन न होने पर भी वह काशी, मक्का एवं गंगा सर्वत्र निवास करता है। रसना न होते हुये भी वह सबसे बड़ा वक्ता है। चरण न होते हुये भी वह सर्वत्र विचरण करता है[2]। पुराणों के आधार पर जायसी भी इसी प्रकार अल्लाह के सगुण निर्गुण रूप की एक स्थल पर चर्चा करते हैं कि उसके अस्तित्व को किसी तर्क के सहारे नहीं आस्था के आधार पर मानना श्रेष्ठ है। 'वह अल्लाह विरोधी तत्वों का समाहार है। निर्गुण, निराकार होते हुये भी वह सबसे अधिक शक्ति, शील और सौंदर्य का पुञ्ज है अतः उसको रूप एवं आकार के संकुचित क्षेत्र से बहुत ऊपर की सत्ता मानना अभीष्ठ है। ज्ञानी उसे इसी प्रकार पहचानते हैं।'

---

१. साँचे मन से प्रथम ही विस्मिल्लाह पुकार, जो रहीम रहमान है सबका सिरजनहार ॥
शेख रहीम भाषा प्रेमरस

२. परथमे सुमिरों नावँ करतारा। कीन्ह सिरष्टी जिन्ह संसारा ॥
सरवन नहीं सुनै पै बैना। देखे सभे नहीं पै नैना ॥
बिन कर काज सभे पै साजे। अलख है पै सब घन्ट बिराजै ॥
रसन नहीं पै बोलै बाता। पांव नहीं पै चलै विधाता ॥
कतों नहीं पै है सब संगा। का मक्का का काशी गंगा ॥
कवि नसीरः प्रेम दर्पण।

३. एहि विधि चीन्हहु करहु गियानू। जस कुरान महं लिखा बखानू।
जीउ नाहिं पै जियै गुसाईं। कर नाहीं पै करै सबाईं।
नयन नाहिं पै सब किछु देखा। कौन भांति अस जाइ विसेखा।
हं नाहीं कोइ ताकर रूपा। ना ओहि सन कोइ आद्रि अनूपा ॥
जायसी: पद्मावत, पष्ठ ३।

कुरान में कथित वाक्य वास्तव में परमसत्ता के निर्गुण और सगुण दोनों स्वरूपों से संबंध रखते हैं किंतु अधिकता उसके सगुणत्व या साकारत्व की है। अपनी इसी मूल भावना के स्पष्टीकरण के लिये जायसी ने पुराणों का आधार लिया। आगे चलकर हम तुलसीदास जी को भी इसी प्रकार इस समस्या का समाधान करते हुये पाते हैं।

हिन्दी सूफी कवियों के परमसत्ता सम्बन्धी इस स्वरूप का स्पष्टीकरण कुरान में है। कुरान में 'परमसत्ता' को महान् शक्तिमान एवं सौन्दर्यशाली इसी आधार पर कहा गया है कि वह इस विचित्र संसार का सृजनकर्ता है। उसकी कर्तव्यशक्ति ही प्रधान है। उसका कर्ता का स्वरूप सर्वाधिक प्रभावपूर्ण है; सूफ़ियों ने इसी कर्तव्यशक्ति का वर्णन विस्तार से किया है। परमसत्ता के सृष्टि-निर्माण सम्बन्धी कथन से किसी को क्या विरोध हो सकता है। प्रत्येक धर्म एवं विचार के व्यक्ति इस बात में एक मत हैं। उदारचेता सूफ़ी कवियों ने अपने ग्रन्थारम्भ में अधिकांश इसी 'इजादिया' मत का परिचय दिया यद्यपि आगे अपनी कथा के अन्तर्गत उन्होंने सर्वात्मवाद, अद्वैतवाद एवं विशिष्टाद्वैतवाद से मिलते हुये विचारों को ही व्यक्त किया है। अपनी चिन्तन धारा का आधार 'कुरान' को बनाने के कारण उन्हें 'इजादिया' मत अमान्य कैसे हो सकता था, किन्तु उन्हें कर्ता और कृति के मध्य व्यवधान सह्य नहीं था। वे 'परमसत्ता' के परम, महान्, शक्तिपूर्ण ऐश्वर्यशाली स्वरूप के सम्मुख नतमस्तक होने के साथ ही, उसे कुछ सांसारिक समता में लाकर प्रेम भी करना चाहते थे। भारतीय अद्वैतवाद एवं वेदान्त का प्रभाव हो या उनकी स्वतन्त्र चिन्तन धारा हो किन्तु सत्य यह है कि सूफ़ियों ने उन्हीं उपमानों एवं रूपकों का प्रयोग किया है जिन्हें भारतीय आचार्य प्रयुक्त करते रहे थे। बिम्ब और प्रतिबिम्ब, अंश अंशी, व्यापक व्याप्य एवं प्रकाशक प्रकाश्य ऐसी भावनाओं के स्पष्टीकरण के लिये ही उन्होंने अपने यहां शुदूदिया एवं वजूदिया सिद्धान्तों का प्रणयन किया। शुदूदिया के अनुसार यह सृष्टि परमेश्वर का प्रतिबिम्ब है एवं वजूदिया के अनुसार यह जगत उसी एक का प्रसार है। इसी प्रकार व्यापक, व्याप्य एवं अंश अंशी की भावना वजूदिया एवं प्रकाशक प्रकाश्य, तथा बिम्ब प्रतिबिम्ब की भावना शुदूदिया विचारधारा के अन्तर्गत आयेगी वास्तव में सिद्धान्त कथन के रूप में इन सूफ़ियों ने परम्परागत परमसत्ता के स्वरूप की चर्चा कर दी है किन्तु उसके बाद वे अपने सम्पूर्ण काव्य में उस एक को इस जगत में प्रसारित एवं प्रतिबिम्बित ही पाते रहे हैं। यही उनके 'इश्कहकीकी' का 'इश्कमजाजी' आधार है।

हम पीछे कह आये हैं कि कुरान में अल्लाह के जात एवं कमाल का अधिक वर्णन नहीं है किन्तु इन हिन्दी के सूफ़ी कवियों ने परमसत्ता की कर्तृत्व शक्ति के साथ ही उसके स्वभाव और अद्भुतशक्ति का भी प्रचुर वर्णन किया है। परमसत्ता के कमाल का वर्णन ऊपर हो चुका है कि किस प्रकार उसने जल के ऊपर भू, भू पर भूधर एवं बिना खम्भे के तारकजटित आकाश रूपी शामियाने की रचना की। उसके जात या स्वभाव के सम्बन्ध में हिन्दी के सूफी कवियों ने सदैव उसके कोमल एवं दयापूर्ण स्वभाव की चर्चा की है। उसने मानव मात्र पर कृपा करके बहुविधि सृष्टि रचना की और उसे सभी प्रकार के सुपास

दिये हैं। अत्यन्त सामर्थ्यवान होते हुये भी उसकी दया ही है कि वह बड़े से बड़े अपराध को भी पलभर में क्षमा कर देता है। कुरान का यह वाक्य 'कि उसकी दया सभी जड़ एवं चेतन पर है' सूफ़ियों का आधार है।

'उस परमेश्वर की दया धन्य है जो सूखी पृथ्वी को हरी भरी करने के लिए यथासमय वृष्टि करता है। उसने कृपाकरके विश्राम के लिए रात्रि एवं कार्य करने के लिए दिवस बनाया है[1]' परमेश्वर तेरी दया अपार है। तुम्हीं ने यह सारी रचना मानव मात्र के सुख के लिए बनाई है। प्रत्येक अंग प्रत्यंग विशेष कार्यों से सम्बन्धित हैं। माता के वक्ष में पय देकर तूही कृपावश इस सारे संसार का पालन करता है[2]।'

'यह भवसागर अपार है। मेरी करनी भी अच्छी नहीं है। मुझे तो केवल तुम्हारी दया का भरोसा है। तुम्हारी दया से ही मेरी मुक्ति संभव है[3]।'

सूफ़ी साधक इसी आशा में प्रिय की रट लगाये रहता है कि अन्त में कभी न कभी तो उसका कृपामय स्वरूप प्रकट होगा ही। जब तक उस परम सौन्दर्यशाली के रूप माधुर्य का पान न किया जाय, सांसारिक त्रास साथ नहीं छोड़ते और वह विमुग्धकारी रूप-दर्शन तभी होता है जब उसकी कृपा होती है[4]।

जहाँ कहीं भी कवियों ने परमसत्ता की कृपा का वर्णन किया है वहाँ अपनी करनी को सदैव महत्वहीन बताया है। 'कृपा करने के पूर्व परमेश्वर अपने विरद का स्मरण करो, मेरी करनी को न देखो। अपने दयालु नाम को सार्थक करने के लिए ही मुझ पर दयादृष्टि करो[5]।' ब्रह्म की कर्तत्व शक्ति, अद्भुतशक्ति (कमाल) एवं जात (स्वभाव) का वर्णन करने के अतिरिक्त जिस भावना का इन कवियों ने सर्वाधिक वर्णन किया है वह है ब्रह्म की एकत्व भावना। 'वह ब्रह्म केवल एक है। वह एक ही, अनेक रूप एवं भावों में व्यक्त हो रहा है। तीनों लोकों का जहाँ तक प्रसार है वहाँ सर्वत्र वही एक ओंकार गोसाईं व्याप्त

१.. धन सो महि पर भेजत नीरा। पलुहत सूखी भूमि सरीरा॥
कीन्हा राति मिलै सुख तासों। कीन्हा दिन कारज है जासों॥
इन्द्रावती : नूरमुहम्मद पृष्ठ १

२.. दिया दान दाता तुही, तोरी दया अपार।
मात छात दिय दूध के, पोखत सब संसार॥
शेखरहीम : प्रेमरस पृष्ठ ४

३.. है अपार सागर भौ केरा। मोहि करनी को नाव न खेरा॥
है हम कहं आलम्भ तुम्हारी। तोहि दया सो मुकुत हमारी॥
नूरमुहम्मद : इन्द्रावती, पृष्ठ २

४.. देख न सकौं होइ अन्देसा, अन्तो प्रकटै किरपा भेसा॥
बिना कदम्बरि के पिए त्रास न मन सो जात।
दयावती होइ दीजिए, होलिक लागी प्रात॥
इन्द्रावती : नूरमुहम्मद पृष्ठ ३३-३४

५ हेरु गोसाईं आप कहँ, मोरे का जनि हेरु। आपन नाऊँ दयाल गुनि, हो दयाल एहि बेरु॥
उसमान : चित्रावली: पृ० ११५

हो रहा है [१] ।' 'वह एक अलख निरंजन ही अनेक भेषों को धारण कर प्रकट हो रहा है, कहीं उसका बाल भिखारी एवं कहीं नरेश का स्वरूप है। वही इस जगत में कहीं गुप्त तथा कहीं प्रकट हो रहा है। दूसरा कोई इस संसार में न तो उत्पन्न हुआ है, न है और न होगा [२] ।' 'वह केवल एक अद्वितीय है सारी सृष्टि उसके सुन्दर मुख का प्रतिबिम्ब होना चाहती है [३] ।

'परमेश्वर इच्छानुसार कार्य करने को स्वतन्त्र है। वह केवल एक अकेला है। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि लोग गंगा में प्राणत्याग कर मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं और उस एक का अपने जीवनकाल में स्मरण नहीं करते [४] ।'

सृष्टि की रचना करने वाला वह केवल एक अकेला है जो हमारी प्रत्येक गतिविधि से परिचित है उससे कुछ भी छिपा नहीं है [५] । , 'एक ही ज्योति से यह जग प्रकाशवान है। उस एक के (जमाल) परमसौन्दर्य पर यह जगत मोहित है। वह अत्यन्त ज्योतिपूर्ण परमसौन्दर्यशाली केवल एक ही है[६] ।'

'सारे संसार से पृथक पृथ्वी पर वह केवल एक अकेला सम्राट है। महा ऐश्वर्यशाली वह परमेश्वर ही सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है [७] ।'

'जिस परमसत्ता की पहिचान चौदहों खण्ड में है, जो ज्योतिपुंज की भाँति प्रकाशवान

---

१. एक अनेक भाव परमेसा। एक रूप काछेन यह भेसा॥
तीन लोक जहवां लहि ताईं। भोग के अनूप रूप गोसाईं॥
करता करै जगत जब चाही। जगथा जग रहै जम आ ही॥
बाज ठांव सबै जैहि ठाईं। निरगुन एक ओंकार गोसाईं॥

२. अलख निरंजन करता, एक रूप यह भेस।
कतहूँ बाल भिखारी, कतहूँ आदि नरेस।
गुप्त प्रगट जग परसइ, सरब व्यापक सोइ।
। कोईं न आहै, औ न भवा न होईं।

३. एक अहै दूसर कोइ नाहीं। तेहि सब सृष्टि रूप मुख चाहीं॥
मधुमालत : मंझन (ह० लिखित)

४. जो चाहै सो विधि करै, अहै आपु अकेल।
गंगा मर बहु तर रहे, अहै सो अचरज खेल॥
कासिम शाह : हंसजवाहिर पृष्ठ २

५. अहइ अकेल सो सिरजनहारा। जानत परगट गुपुत हमारा॥
नूरमुहम्मद : इन्द्रावती, पृष्ठ १

६. एकै जोत जगत उजियारा, एकै रूप मोह संसारा।
शेख रहीम : प्रेमरस॥

७. है ठाकुर वह एक धनी, जस रहीम कोउनाथ।
सबसे अलग अलान है, पूर रहा सब हाथ॥
शेखरहीम : प्रेमरस॥

है। वह अद्वितीय, क्षमाशील, एवं केवल एक है, उसके कोई जाति पांति नहीं। वह हिन्दू तुर्क सबसे पृथक केवल एक है [1]।'

लगभग सभी हिन्दी के सूफ़ी कवियों ने परमेश्वर के केवलत्व की चर्चा इसी प्रकार की है। नूरमुहम्मद, कासिमशाह, शेखरहीम, मंझन एवं यारी साहब ने इसी प्रकार अपनी भावनाओं को व्यक्त किया है। हिन्दी के सूफ़ी कवियों में जायसी की बहुज्ञता सर्वाधिक प्रसिद्ध है। अन्य कवियों में से केवल जान कवि ने ही 'अखरावट' ऐसी सिद्धान्तपरक रचना करने का प्रयास किया किन्तु उसमें भी नीति के दोहे ही अधिक हैं। जायसी ने 'तौहीद' या केवलत्व की भावना का सैद्धान्तिक निरुपण किया है। वह केवल एक अकेला है, किसी अन्य वस्तु की स्थिति नहीं है, इन सहसअठारह प्रकार की योनियों में वही केवल एक प्रकट होरहा है [2]।'

'वह अलख, पहले जिस रूप में था उसमें न तो उसका कोई नाम था, न स्थान था, वह पूर्णपुराण पुरुष था, उसका स्वरूप गुप्त से भी गुप्त और शून्य से भी शून्य था। अत्यन्त सूक्ष्म तत्व के रूप में उसकी स्थिति थी। उसकी कोई रूप-रेखा या चित्र नहीं था। वह प्रकट न होकर स्वयं अपने में समाविष्ट था, वास्तव में इस सारे सृष्टि रूपी पाखंड का मूल वही केवल एक है[3]।'

नूरमुहम्मद के अनुसार 'जगत मन्दिर की भांति है, जिसमें केवल एक ही मूर्ति स्थित है, उस एक की आराधना न करके अनेक की उपासना निरर्थक है [4]।'

परमसत्ता को सृष्टिकर्ता, केवल एक मात्र, आश्चर्यमयी शक्तियों से युक्त, अत्यन्त कृपापूर्ण वर्णित करने के अतिरिक्त उसकी इस सृष्टि में व्याप्ति का वर्णन भी इन हिन्दी के सूफ़ी कवियों ने किया है। वह एक ही इस सारी सृष्टि में व्याप्त है वही विभिन्न रूप में इस जगत में प्रकट हो रहा है।

'परमसत्ता का ही रूप मूर्ति में स्थित है, वह इस सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त है। वह असीमित होकर भी सीमित है। इस सारे नामरूपात्मक जगन में उसका प्रसार है। वही

---

१. चौदह तबक जाकी रुसनाई, झिलमिल जोति सितारा है।
बेनमून बेचून अकेला, हिन्दू तुरक से न्यारा है।
यारी साहब : भजन संग्रह।

२. एक अकेल न दूसर जाती, उपजे सहसअठारह भांती॥
जायसी : अखरावट पृष्ठ ३०३

३. आपु अलख पहिले हुत जहां, नांव न ठांव न मूरति तहां॥
पूर पुरान पाप नहि पुन्नू, गुपुत ते गुपुत, सुन्न ते सुन्नू॥
बिना उरेह अरंभ बखाना, हुता आपु महं आपु समाना॥
आस न बास न मानुष अन्डा, भए चौखंड जो ऐस पखंडा॥
जायसी 'अखरावट' पृ० ३०४

४. जगतदेवहरा जानौ, मूरति एक, हिय ताहू पर चिन्ता करै अनेक॥
नूरमुहम्मद : अनुरागबांसुरी पृष्ठ १६७

एक अनेक वेषों में प्रकट हो रहा है। इस संसार के रंक और नरेश सब उसी के रूप हैं। एक परमसत्ता का ही रूप पृथ्वी, पाताल एवं गगन में व्याप्त हो रहा है। एक उसी रूप के कारण सबके नेत्रों में ज्योति है। इसी तत्व की व्याप्ति सागर में मोती के रूप में है। पुष्पों में वह सुगन्धि रूप में व्याप्त है। इसी रूप के कारण भ्रमर पुष्प पर गुञ्जन करता है। इसी रूप के कारण शस्त्र और शूर की महानता है। शस्त्र और शूरवीर का बल उसी परमसत्ता का अस्तित्व है। वास्तव में वह एक ही पूर्ण रूप से इस जगत में व्याप्त है। वही एक रूप सम्पूर्ण जल,थल में अनेक भावों से व्याप्त है। जो भी अपने आप को समझने का प्रयास करता है वही उसे समझ पाता है क्योंकि आत्मा में भी परमात्मा की व्याप्ति है[1]।' वह गुप्त एवं प्रकट रूप में सर्वत्र व्याप्त है[2]।

वह परमसत्य इस सारे संसार के जीवों, वस्तुओं एवं कार्य कलापों में अन्तर्निहित है वह एक ही अनेकत्व के रूप में व्यक्त होरहा है। उस एक के अतिरिक्त और कोई सत्ता नहीं है। स्वयं अमूर्त होते हुये भी वह मूर्त स्वरूपों का सृजन करता है और उनमें चेतना के रूपमें निवास करता है, किन्तु उपनिषद के 'नेति नेति' की भांति उसके किसी रूप गुण एवं निवासस्थान का निर्धारण नहीं किया जा सकता। सर्वत्र व्याप्त उस परमसत्य को मुनिगण भी अलख कहकर ही जान पाते हैं। इस सृष्टि के कणकण में वही एक रम रहा है। उसे पूर्णरूप से समझने की सामर्थ्य किसी में नहीं है [3]। कवि उसमान ने एक स्थल पर और इसी भाव की व्यञ्जना अत्यन्त हृदयग्राही काव्यात्मक ढंग से की है।

---

१. एही रूप बुत अह्यो छिपाना। एही रूप अब सृष्टि समाना॥
एही रूप सकती औ सेवऊ। एही रूप त्रिभुवन नर होवउ॥
एही रूप प्रगट बहु भेसा। एही रूप जग रंक नरेसा॥
एही रूप त्रिभुवन बर, असी महि पाताल अकास॥
सोई रूप प्रगट तहं मानहीं देख्यौ कहां हवास॥
एही रूप प्रगट बहु रूपा। एही रूप जै है भाव अनूपा॥
एही रूप सब नैनन्ह जोति। एही रूप सब सागर मोती॥
एही रूप सब फूलन्ह बासा। एही रूप रस भँवर बरासा॥
एही रूप शस्त्र और सूरा। एही रूप जग पूरा पूरा॥
एही रूप जल थल महि भाव अनेक देखाव॥
आप कूं आप जो देखे सो कछु देखै पाव॥
मंझन : मधुमालत

२. गुप्त प्रगट जग परसइ, सरब व्यापक सोइ।
मंझन : मधुमालत॥

३. सब वहि भीतर वह सब माहीं, सबै आपु दूसर कोउ नाहीं॥
आपु अमूरति, मुरति उपाई, मूरति मांती तहां समाई।
है सब ठांउ नाहिं, कोउ ठाई, मुनिगन लखहिं कि अलख गुसाई।
सोई करता रमि रहा रोम रोम सब मांहि।
तिन सब कीन्ह सिरिष्ट यह गाहक कीन्हों नाहि।
उसमान : चित्रावली पृष्ठ २

जिस प्रकार गीता में इस सृष्टि की सभी वस्तुओं का उच्चतम विकास उसी परमात्मा का स्वरूप माना गया है। उसी प्रकार कवि उसमान के विचार से 'वह परमसत्ता ही इस सृष्टि का सौन्दर्य है। उसके बिना सारा संसार सूना और चित्र फीके हैं। उसी का सुन्दर रूप इस सारे जगत में व्याप्त है। वही इस सृष्टि की अन्तरात्मा है [१]।' वास्तव में परमसत्ता इस वाह्य जगत में चेतन रूप में व्याप्त है, उसके बिना यह संसार कुछ नहीं, निश्चेतन है। इस संसार की शोभा, सौन्दर्य एवं शक्ति वही एक परमसत्ता है। यह नाम-रूपात्मक जगत उसी एक की वाह्य अभिव्यक्ति है।

जिस एक के गुणों को परखा नहीं जा सकता एवं जिसने इन तीनों लोकों की रचना की है वही इस सारे संसार में पूर्ण रूप से व्याप्त है। यद्यपि प्रत्येक के लिये उसका पहचानना असंभव है। वह अलख, अदृष्ट जो केवल एक है इस सारी सृष्टि में प्रकट या गुप्त रूप से वर्तमान है, ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ वह न हो। वह चौदहों भुवनों में व्याप्त है [२]।

कासिमशाह ने इस व्यापक व्याप्य भाव का स्पष्टीकरण एक और स्थल पर बड़ी मार्मिकता से किया है। हंस जब जवाहिर के विरह में अत्यन्त व्याकुल हो जाता है, उसी प्रकार जैसे आत्मा को परमात्मा के विरह में होना चाहिये, तब उसे सर्वत्र सृष्टि में उसी एक के दर्शन होने लगते हैं और उस परमतत्व के व्यापक स्वरूप का आभास होता है [३]। जगतके मूल प्राण के रूप में उस परमसत्ता की स्थिति का वर्णन इन हिन्दी के सूफ़ी कवियों ने बहुत किया है।

नूरमुहम्मद ने भी एक स्थल पर इस भाव का व्यक्तीकरण इस प्रकार किया है, कि 'वही परमसत्ता सर्वत्र व्याप्त है, उसी एक के रवि, ससि, नीरज और कुमुदिनी विभिन्न नाम हैं [४]।'

---

१. तुम्ह वसंत लइ सोवहु बारी। तुम्ह बिनु खांखरि सब फुलवारी॥
तुमहीं डारि और तुम्हीं सुआ। तुमहीं ते सर फूल अछुवा॥
तुम बिनु सूनी चितसरी, चित्र सबै बिनु रंग।
जल थल सोभा उठि चलहु, सखी सहेली संग॥
उसमान : चित्रावली पृष्ठ ४६

२. परखि न जाई जासु गुन, तीन लोक जिन कीन।
अहै संपूरन जग्त मुख, परे न कतहूँ चीन॥

ऐसे अलख जो अहै अकेला, परघट गुप्त सभी रंग खेला।
नहीं अस ठांव जहां वो नाहीं, पूर रहा चौदा गढ माहीं॥
कासिमशाह : हंसजवाहिर, पृष्ठ ३

३. वही सो पूर जगत के माहां, पड़े सो सृष्टि लखों में ताहां
वही सो वृक्ष पात कर फूला, वही सों प्रान जगत कर मूलां॥
कासिमशाह : हंसजवाहिर पृ० १२१

४. तुमहीं देह धरे सब ठांऊ। रवि ससि नीरज कुमोदनी नाऊं॥
नूरमुहम्मद : इन्द्रावती पृ० ७६

नूरमुहम्मद ने ब्रह्म की सत्ता, सर्वव्यापकता तथा सौन्दर्य की सराहना की है। 'वह स्वयं ही पुष्प एवं पुष्परक्षक दोनों है और स्वयं ही फूल पर आकर्षित होने वाला भ्रमर भी है। वही सौंदर्यशाली है और वही उस पर मोहित होनेवाला प्रेमी भी। वह गुप्त और प्रगट दोनों रूप में वर्तमान है, कहीं शिष्य और कहीं गुरु है। स्वयं दान देता है, और कार्य भी सम्पादित करता है। दर्शक, श्रोता एवं वक्ता भी स्वयं ही है। वास्तव में सब रूपों और अवस्थाओं में वह एक ही स्थित है उसकी व्याप्ति सब स्थलों पर है[1]।'

शेख निसार इसी तत्व को इस प्रकार प्रकट करते हैं 'वह परमात्मा चौदहों भुवनों में व्याप्त है उसके बिना कोई जन्तु जीवित नहीं रह सकता। जिस प्रकार नट स्वरूप धारण करके अनेक लीलायें करता है उसी प्रकार वह परमात्मा भी विभिन्न रूप धारण करके अनेक क्रियायें कर रहा है। वह अमर एवं अजन्मा है। उसके मर्म को समझने में कोई बिरला ही समर्थ होता है[2]।'

जायसी ने भी इसी भाव को अत्यन्त काव्यात्मक ढंग से कहा है; वह परमसत्य सबके अन्तर्गत है किन्तु उसे प्राप्त करना कठिन है। जिस प्रकार सरोवर में पड़ी हुई परछाहीं पास होते हुये भी स्पर्श नहीं की जा सकती है उसी प्रकार स्वर्ग जो धरती पर छाया हुआ है या परमात्मा जो सर्वव्याप्त है उसको पा सकना कठिन है[3]।

कवि उसमान कहते हैं 'कि अग्नि, वायु, पृथ्वी और पानी के समाहार इस सृष्टि के विविध व्यवहारों में वह इस प्रकार घुल मिल गया है कि उसको पृथक करना असम्भव है[4]।'

---

१. आपुहिं माली आपुहि फूला। आपुहिं भंवर फूल पर भला॥
आपुहिं रूपवन्त सो होई। प्रेमी होइ रिझत है सोई॥
अपुहिं परगट गुपुत अकेला। गुरु होई कतहूँ होइ चेला॥
आपुहिं दाता करता होई। दिष्टा स्त्रोता वक्ता सोई॥

नूरमुहम्मद : इन्द्रावती पृ० ५४

२. वह पूरत चौदह खण्ड माहीं। वह बिन जिया जन्तु कोउ नाहीं॥
सब महं आप सु खेले खेला। नट नाटक चाटक जस मेला॥
न वह मरे न मिटे न होई। अपरम मरम न जानै कोई॥

शेख निसार : यूसुफजुलेखा

३. देखि एक कौतुक हौं रहा। रहा अन्तरपट पै नहिं अहा॥
सरवर देख एक मैं सोई। रहा पानि औ पान न होई॥
सरग आइ धरती महं छावा। रहा धरति पै धरत न आवा॥

जायसी : पद्मावत पृ० २५७-२५८

४. अगिनि पवन रज पानि के, भांति भांति ब्योहार।
आपु रहा सब मांहि मिलि, को निरवावै पार॥

उसमान : चित्रावली पृ० ५

'केवल एक ब्रह्म ही सर्वमय है। अन्य और जो कुछ भी है, मिथ्या है। केवल एक वह सत्य है'[1]।

ऊपर कही गई विचारधाराओं के अतिरिक्त सूफ़ी कवि परमसत्ता और सृष्टि के सम्बन्ध में बिम्ब प्रतिबिम्ब, अंश अंशी, एवं प्रकाशक प्रकाश्य सिद्धान्तों का भी उल्लेख करते हैं।

प्रकाशक के रूप में जहाँ कहीं भी उन्होंने परमसत्ता को प्रदर्शित किया है वहाँ उन्होंने उसे ज्योतिस्वरूप माना है। उसी एक ज्योति से यह सारा ब्रह्माण्ड प्रकाशित है। वह ज्योति के रूप में सर्वत्र व्याप्त है। कासिमशाह का कथन है कि वह ज्योति जो जगत के ऊपर है अद्वितीय है उसके सदृश और कोई ज्योति नहीं है। वह ज्योति इतनी महान होते हुए भी गुप्त है। उसे कोई देख नहीं सकता उसी से सब लोक प्रकाशित हैं[2]।

नूरमुहम्मद का कथन काव्यात्मक अधिक है, उसमें कुछ रहस्य की भी भावना है। वे कहते हैं कि 'यदि वह ज्योतिर्मय अपना मुख अनावृत कर देता है तो प्रातःकाल हो जाता है। यदि वह अपने केश मुक्त कर देता है तो सन्ध्या हो जाती है। उसी ज्योति पुञ्ज अनन्त सौन्दर्यशाली को देखकर संसार के नेत्र सूर्य और चन्द्र प्रकाशवान हैं। आकाश अपने अनन्त तारा रूपी नेत्रों से एक उसी के सौन्दर्य एवं प्रकाश का अवलोकन करता है'[3]।

शेख रहीम भी 'प्रेमरस' में परमसत्ता के प्रकाशक स्वरूप का वर्णन करते हुये कहते हैं 'उस एक ही ज्योति से सारा जगत प्रकाशित है। उसी प्रकाश पुञ्ज पर सारा संसार विमोहित है। जब मनोवृत्तियां एक ओर उन्मुख हो जाती हैं तो उन्हें फिर और कुछ अच्छा नहीं लगता। सर्वत्र उसी के दर्शन होते हैं। उससे ही मिलने की उत्कन्ठा रहती है'[4]।

इसी ज्योति स्वरूप परमतत्व के अन्तर्गत मुहम्मद के नूर का भी प्रसंग आता है। परमज्योति ने स्वयं से एक और ज्योति या नूर मुहम्मदसाहब को उत्पन्न किया जिसके

---

१. पीपर कहै सुनाई के पापर सब तैं जान। सर्व मई एकै वही भ्रम सुजग परमान॥
हुसेनअली : पुहुपावती (हस्तलिखित)

२. वह जो ज्योति जगत उपराहीं, दूसर ज्योति और अस नहीं॥
अहै गुप्त कोऊ लखै न पारा, पै सब लोक अहै उजियारा॥
कासिमशाह : हंसजवाहिर पृ० ४०.

३. खोले मुख परभात देखावै, खोले केश सांझ होइ आवै॥
है तेहि चन्द्रबदन लखि, जगत नयन उंजियार।
गगन सहस लोचन सों, निरखैं तेहिक सिंगार॥
नूरमुहम्मद : इन्द्रावती पृ० ४५

४. एकै जोत जगत उंजियारा, एकै रूप मोह संसारा।
जो मन लागा एक ते, दूसर सुघर न भाग।
दीठ पड़े सब मां वही, वही वही गुहराय॥
शेख रहीम: प्रेमरस

सुख के लिये इस सम्पूर्ण सृष्टि की रचना हुई अतः यारी साहब कहते हैं कि 'सारे जगत में उसी मुहम्मद का नूर प्रसारित है'[१]।

मंझन भी कहते हैं कि 'वही ज्योति सर्वत्र प्रकाशित है। उसी ज्योति से जिस दीपक की सृष्टि हुई उसका नाम मुहम्मद है'[२]।

उस परोक्ष ज्योति और सौन्दर्य-सत्ता की ओर जायसी अनोखी लौकिक दीप्ति और सौन्दर्य के द्वारा संकेत करते हैं, 'उस ज्योतिर्मय की ज्योति से ही सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र देदीप्यमान हैं, रतन पदार्थ, माणिक्य और मोती में भी उसी का प्रकाश है। प्रकृति के मध्य दृष्टिगोचर होने वाली सारी दीप्ति उसी से है'[3]।

प्रतिबिम्बवाद का तात्पर्य है कि नामरूपात्मक दृश्य जगत ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है। बिम्ब ब्रह्म है, यह जगत उसका प्रतिबिम्ब है। इस प्रतिबिम्ब को देखकर साधक के हृदय में बिम्ब की ओर अग्रसर होने की लालसा होती है। हिन्दी के सूफ़ी कवियों ने इस भावना का व्यक्त किया है। जब ब्रह्म ने स्वयं अपने को देखना चाहा, अपनी लीला का विस्तार करना चाहा तब अपनी माया के सहारे ही उसने अपने को व्यक्त किया। यह सारा जगत दर्पण की भांति हो उठा। ब्रह्म स्वयं ही दृश्य और दृष्टा है, ज्ञेय और ज्ञाता है। यह सारा जड़ चेतन जगत उस ब्रह्म का ही स्वरूप है, किन्तु माया के कारण पृथक ज्ञात होना है। बालक यदि हाथ में दर्पण लेले और उसमें अपनी परछाहीं देखकर उसे दूसरा समझे तो यह उसका अज्ञान है, वस्तुतः वे दोनों एक ही हैं। इसी प्रकार 'यदि पचास सहस्त्र गगरी भरकर रखदी जायँ तो सूर्य के एक ही होने पर भी उन सबमें उसके अनेक प्रतिबिम्ब

---

१. हमारे एक अलह पिय प्यारा है।
घट घट नूर मुहम्मद साहब जाका सकल पसारा है।
यारी साहब: भजनसंग्रह।

२. वही ज्योति प्रगट सब ठांव। दीपक सृष्टि मुहम्मद नांव॥
मंझनः मधुमालत

३. जेहि दिन दसन जोति निरमई। बहुते जोति जोति ओहि भई॥
रवि ससि नखत दिपहि ओहि जोती। रतन पदारथ मानिक मोती॥
जहं जहं बिहंसि सुभावहिं हंसी। तहं तहं छिटकि जोति परगसी॥
नयन जो देखा कँवल भा, निरमल नीर सरीर।
हसत जो देखा हंस भा, दसन जोति नगहीर॥
पद्मावतः जायसी ग्रन्थावली पृ० ४४, २५
रामचन्द्र शुक्ल

पड़ते हैं'[१] । इसी प्रकार परमसत्ता एक है किन्तु उसका प्रतिबिम्ब सर्वत्र पड़ता है ।

मधुमालत में कवि मंझन ने भी इस प्रतिबिम्बवाद की ओर संकेत किया है । 'उस परमसत्ता के समान दूसरा और कोई कहीं नहीं है । यह सृष्टि उसके मुख के सौन्दर्य का दर्पण है । वह इस जगत में सर्वत्र प्रतिबिम्बित हो रहा है'[२] ।

इस प्रतिबिम्ब का निरूपण कासिमशाह पिण्ड और ब्रह्माण्ड के रूपक से करते हैं । सूफ़ीसाधना में 'कल्ब' या हृदय की स्वच्छता का महत्व है । वास्तव में हृदय के दर्पण में ही उसका प्रतिबिम्ब स्पष्ट पड़ता है । अतः घट में ही उसे खोजने का प्रयास करना चाहिये । इस शरीर के अन्दर सात द्वीप, नौ खण्ड एवं सातों स्वर्ग हैं । घट में ही उस परमज्योति के दर्शन सहज हैं[3] ।

नूरमुहम्मद का कथन है कि 'स्वच्छ दर्पण में निर्मल परछाहीं पड़ती है । जिस प्रकार एक व्यक्ति के चतुर्दिक रक्खे हुये दर्पणों में उसकी परछाहीं अनिवार्य रूप से पड़ती है उसी प्रकार एक ब्रह्म की छाहीं सारी सृष्टि में पड़ रही है'[४] ।

इसी प्रकार अनुराग बांसुरी में वे कहते हैं कि 'आज मैंने जिसका वर्णन किया है यह संसार उसीका झरोखा है, अर्थात् इस संसार में वह झांकता है'[५] ।

---

१. आपुहि आपु जो देखै चहा । आपुनि प्रभुत आपु से कहा ॥
सबै जगत दरपन के लेखा । आपुहि दरपन आपुहि देखा ॥
आपुहि बन और आप पखेरू । आपुहि सौजा आपु अहेरू ॥
आपुहि पुहुप फूल बन फूले । आपुहि भंवर बास रस भूले ॥
आपुहि घट घट महं मुख चाहै । आपुहि आपन रूप सराहै ॥
दर्पन बालक हाथ मुख, देखे दूसर गनै,
तस भा दुइ एक साथ, मुहमद एकै जानिये ॥
गगरी सहस पचास, जो कोऊ पानी भरि धरै ॥
सूरुज दिपै अकाश, मुहमद सब महं देखिए ॥

अखरावट : जायसी-ग्रन्थावली पृष्ठ ३१६, ३३१, ३३३
पं० रामचन्द्र शुक्ल

२. एक अहै दूसर कोऊ नाहीं । तेहि सब सृष्टि रूप मुख चाहीं ॥

मंझन : मधुमालत

३ हिये मांझ दरपन के लेखो, घट ही दरश जगहिर देखो ।
घट ही सात द्वीप नौ खन्डा, घट ही सात स्वर्ग ब्रह्मन्डा ।
घट ही समद सीप औ मोती, घट ही निरख परे वह जोती ॥

कासिमशाह : हंसजवाहर पृष्ठ १२१,

४. जस दर्पन निर्मल रहै, तस देखा अधिकार ।
दरसन एकै नारि को, सब आदरस मझार ॥

नूरमुहम्मद : इन्द्रावती पृ० १०

५. आज बदन देखा मैं जाको, है यह जगत झरोखा ताको

नूरमुहम्मद : इन्द्रावती पृ० ८१

बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव का वर्णन नूरमुहम्मद ने अधिक किया है। राजकुंवर इन्द्रावती का दर्शन करने के पश्चात कहता है, 'कि जबसे मैंने उस प्रिय का दर्शन किया है यह संसार मेरे लिये दर्पण के सदृश हो गया है। इस संसार में जो कुछ भी दृष्टिगोचर है उस सभी में उसका मुख प्रतिबिम्बित दिखाई देता है।' अनुराग बांसुरी में भी वह स्पष्ट कहते हैं 'जो कुछ भी इस जगत में वर्तमान है वह सृष्टिकर्ता के गुणों का दर्पण है'[१]।

चित्रावली में कवि उसमान इसी भाव का प्रदर्शन चित्रसारी के रूपक के द्वारा करते हैं। चित्रशाला में अनेक चित्र दृष्टिगोचर होते हैं। वास्तव में उनमें एक चित्रावली का चित्र ही सत्य है, अन्य सब परछाहीं हैं [२]।

शेख रहीम मानव मात्र को उसी ज्योति की परछाहीं मानते हैं[३]। इसी प्रकार कासिमशाह भी मैं या अहंभाव का कोई अस्तित्व स्वीकार नहीं करते और स्वयं को उस एक की परछाहीं स्वरूप मानते हैं[४]।

एक ही परमसत्य सारी सृष्टि में समाया हुआ है। ज्ञान के क्षेत्र से अनुभूति के क्षेत्र में आकर सारी सृष्टि में वह रमा हुआ आभासित होता है। नूरमुहम्मद भी सारी सृष्टि को उसी का प्रतिबिम्ब मानते हैं। जहाँ बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव के प्रदर्शन में इन कवियों ने प्रतिबिम्ब से साधक को बिम्ब प्राप्ति के लिये प्रेरणा पाते दिखाया है वहीं अंश अंशी भाव का स्पष्टीकरण 'अहं ब्रह्मास्मि' या 'अनल्हक' के द्वारा हुआ है जिसमें साधक को प्रतिबिम्ब की आवश्यकता नहीं रहती, उसकी आत्मा उसी एक का स्वरूप हो जाती है, आभास मात्र नहीं; अतः आत्मचिन्तन श्रेय है, जगत में विस्तृत प्रतिबिम्ब को खोजने की अपेक्षा हृदयस्थित परमसत्य की आराधना करना श्रेष्ठ है। कवि उसमान अपनी 'चित्रावली' में कहते हैं कि 'जिस परमसत्य की समता दोनों लोकों में किसी से नहीं हो सकती वह मन में निवास करता है, जिस प्रकार मृग तृण तृण में कस्तूरी की सुगन्धि खोजता फिरता है किन्तु कस्तूरी उसकी नाभि में रहती है। जब बहेलिया मृग की नाभि काट लेता है तब वह प्राणविसर्जन कर देता है। परमात्मा के अत्यन्त निकट

---

१. रूप प्यारी का मैं देखा, जगत भयउ दर्पन तें लेखा
यह सब दृष्टि परत है मोहीं; तामौं देखत हौं मुख ओहीं॥
नूरमुहमद : इन्द्रावती पृ० ७१
जगत बीच जो किछु है बना, है करता गुन की दरपना।
नूरमुहम्मद : अनुराग बांसुरी पृ० १३०

२. और जो चित्र अहहिं तेहि माहीं, सो चित्रावलि की परछाहीं।
उसमान : चित्रावली पृ० ६३

३. जौन जोत चन्द्रावलि माहीं, सो हम रूप है परछाहीं।
शेख रहीम : प्रेमरस

४. देखो निरख परख मोहि काया, मैं कत अहो अहो वह छाया।
कासिमशाह : हंसजवाहर पृ० १२१

रहते हुये भी मानव उसे पहचान नहीं पाता है। जब काल उसका जीवन नष्ट कर देता है तो वह पछता कर रह जाता है। जिस प्रकार कस्तूरी में सुगन्धि का निवास है उसी प्रकार घट में निरञ्जन का वास है। कस्तूरी के गुण उस सुगंधि में रहते हैं परमात्मा के गुण आत्मा में होते हैं। अतः अत्यन्त सूक्ष्म विवेचना या साधना के पश्चात् उसे प्राप्त करने का प्रयास आवश्यक है[१]।

कासिमशाह अंश अंशी भाव को सूर्य और किरण की उपमा देकर स्पष्ट करते हैं। 'जिस प्रकार सूर्य की किरण सूर्य का अंश है, उसमें सूर्य के सभी तत्व एवं गुण वर्तमान हैं उसी प्रकार आत्मा भी परमात्मा का अंश है'[२]।

शेख़ रहीम हर घट में ईश्वर प्राप्ति का सन्देश देते हैं 'परमात्मा का निवास प्रत्येक घट में है। जब उसका निवास इतने निकट है तो उसे दूर खोजने जाने की क्या आवश्यकता है, तात्पर्य यह कि मनुष्य की आत्मा परमात्मा का अंश है उसमें वही तत्व वर्तमान हैं जो परमेश्वर में हैं। केवल मात्रा का अन्तर है। परमसत्ता को हृदय में ही खोजने का प्रयास श्रेष्ठ है[३]।' इसके साथ वे कबीर की भांति परमसत्ता के निर्गुण स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं 'राम दशरथ के पुत्र नहीं हैं। उन्होंने दशरथ को भी उत्पन्न किया है। कृष्ण अनेक हो सकते हैं किन्तु परमसत्ता एक है उसमें द्वित्व की भावना नहीं है। परमात्मा को बहेलिया या अन्य कोई प्राणी हानि नहीं पहुँचा सकता। तात्पर्य यह कि परमसत्ता अजन्मा एवं अमर है उसके न कोई माता पिता है और न निर्दिष्ट निवासस्थान। वह सर्वव्यापक है। ब्रह्मा, विष्णु और महेश सभी को उसने उत्पन्न किया है'[४]।

अब्दुल समद ने बूंद और समुद्र के साम्य से ईश्वर और जीव का अंश अंशी भाव

---

१. जग हूँ जाकी उपमा नाहीं। रे मन सोई बसै तोहिं माहीं॥
का ढूंढहिं जहं तहां उदासा। मृग ज्यों तृन तृन ढूंढत बासा॥
जब किरात नाभि कटि लेई। मृग पछताइ तहां जिउ देई॥
मृग-मद माह बास ज्यों रहई। त्यों घट मांह निरञ्जन अहई॥

उसमान : चित्रावली पृ० ४४

२. जग महं छाई किरन सब, ज्योति मांझ कैलास।
तपसी थकित जगत के, बैठ सो तेहि की आस॥

कासिमशाह : हंसजवाहिर पृ० ४०

३. हर का तो हर घट में पइये। नेरे हेरे दूर क्यों जइये॥
४. राम नहीं दशरथ के जाये। दशरथ हू का राम बनाये॥
कृष्ण अनेक एक करतारा। तेहि का नहिं बहेलिया मारा॥
औरन का वह मार जियाये, तेहि का भला मार को पाये।

नाहिं वाके हैं मात पित, ना वाका कोई देस।
वाके कीन्हें सब भये, बरम्हा, विष्णु, महेश॥

शेख रहीम : प्रेमरस

स्पष्ट किया है। उनका कहना है कि यह अत्यन्त आश्चर्य की बात अवश्य है कि बूंद में समुद्र समाया हुआ है। वास्तव में सत्य यही है। जो इस सत्य को समझ लेता है वही हमारा गुरु है[1]। समुद्र और बूंद में कोई तात्विक अन्तर नहीं है केवल आकार एवं मात्रा का अन्तर है। इसी प्रकार यह सृष्टि भी उसी एक परमसत्ता का स्वरूप है। वजूदिया सम्प्रदाय के अन्तर्गत इसी भावना का समावेश है। अब्दुलसमद जहां बूंद और समुद्र की समानता से अंश अंशी भाव को स्पष्ट करते हैं वहीं बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव का परिचय भी कुछ भजनों में देते हैं। जैसे, 'साधु को अपने घट में पड़ी परछाहीं को देखना चाहिये, परमसत्ता एक है। केवल एक इस तथ्य का गान तो हमने बहुत किया किन्तु आँख न खुली। जब ज्ञान हुआ तो हमने देखा कि वही वह है अन्य कुछ नहीं'[2]।

नूरमुहम्मद परमसत्ता के मूर्तस्वरूप की अपेक्षा अमूर्त की आराधना श्रेष्ठ समझते हैं। निराकार निर्गुण परमेश्वर की उपासना से स्वर्ग-लाभ संभव है। इस्लामी अनुयायियों को बहिश्त एवं वहाँ प्राप्त होने वाले हूर आदि भोगों का बड़ा आकर्षण था किन्तु भारतीय साकारोपासना इस आकांक्षा का त्याग करती है। जो हो, नूरमुहम्मद का कहना है कि 'साकार को त्याग कर निराकार की ध्यान-धारणा उचित है यदि विवेक-दृष्टि हो तो उस परमसता का दर्शन, शरीर रूपी दर्पण में भी संभव है। वही परमेश्वर जो सर्वत्र इस सृष्टि में व्याप्त है, शरीर में भी निवास करता है'[3]।

ऊपर हिन्दी के सूफ़ी काव्य में पाये जाने वाले परमसत्ता सम्बन्धी विचारों का विवरण दिया गया है। इसके अध्ययन के उपरान्त यह स्पष्ट हो जाता है कि इन हिन्दी के सूफ़ी कवियों ने सूफ़ी मत में प्रचलित जितने भी सिद्धान्त थे लगभग सभी का परिचय अपने काव्य में दिया है। इसके अतिरिक्त भारतीय विचारधारा का भी उन पर यथेष्ठ प्रभाव पड़ा है। सूफ़ियों में एक प्रधान वर्ग नित्य परमार्थिक सत्ता को केवल एक ही मानता है जिसका भिन्न भिन्न रूपों में आभास है। परमात्मा का ज्ञान इन्हीं व्यक्त नामों और

---

१. क्या है अचरज देखो साधो, बूंद में समुद्र समाया है।
जो उसको पहचाने "मस्ता" वो ही गुरु हमारा है।

अब्दुल : समद भजन संग्रह
गी० प्रे० गोरखपुर. भाग (४)

२. साधो देखो अपने माहीं। घट में पड़ी कार्की परछाहीं॥
गुर लखिया मे ध्यान न आया॥ एक है एक बहुत हम गाया॥
आँख खुली जब देखा मस्ता। वह है वह है सांई॥

अब्दुल समद : भजन संग्रह

३. यह मूरत को तजिकै, चित्त अमूरत देहु।
जाहि अमूरत ध्यान सो, स्वर्ग लोक फल लेहु॥
दीठ होई तो देखहु, तन आदरस मझार।
बदन बिराजत है तेहिक, जेहिक सकल संसार॥

नूरमुहम्मद: इन्द्रावती पृ० २६

गुणों के द्वारा हो सकता है। सूफ़ियों की यह भावना 'शुदूदिया' सम्प्रदाय के अन्तर्गत आती है जिसका उल्लेख हम पीछे कर चुके हैं। इस बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव का वर्णन भी जिस रूप में हुआ है उसकी यथेष्ठ चर्चा हो गई है।

इस अद्वैतवाद से यह ज्ञात होता है कि परमसत्ता चित्स्वरूप है तथा यह जगत केवल प्रतिबिम्ब का आभास मात्र है। सूफ़ी कवियों को इससे संतोष न हुआ और उन्होंने परमसत्ता को इस जगत में प्रसारित माना। सृष्टि और परमसत्ता का सम्बन्ध भी अंश और अंशी रूप में माना। शुद्ध सत्ता नाम एवं गुण रहित है किन्तु जब वही अभिव्यक्ति के क्षेत्र में आती है तब नाम-गुण की उपाधियों से विभूषित हो जाती है। बाह्य सृष्टि केवल अध्यास या भ्रम नहीं, उसी परमसत्ता की आत्माभिव्यक्ति है। 'वजूदिया' सम्प्रदाय इसी सिद्धान्त का पक्षपाती है। यह मत भारतीय वेदान्त के अधिक निकट है। इस अंश अंशी भाव का निर्देश भी पहले हो चुका है।

सूफ़ी अद्वैतवाद के अन्तर्गत आत्मा और परमात्मा के द्वैतत्याग को अधिक लेते हैं। अहं, मैं या खुदी की भावना का नाश करके आत्मा और परमात्मा एकत्व को प्राप्त होते हैं। भारतीय सूफ़ी कवियों ने जड़ जगत और परमसत्ता की एकता भी प्रदर्शित की है, वे जगत की पृथक सत्ता केवल भ्रममात्र मानते हैं और गीता के सर्ववाद की भाँति सारे जगत में उस परमसत्ता के ही सौन्दर्य, शक्ति एवं गुण का दर्शन करते हैं। इसी भावना का स्पष्टीकरण सूफ़ियों ने व्यापक व्याप्य सम्बन्ध के द्वारा किया है।

इसके अतिरिक्त जिस भावना का अत्यधिक वर्णन इन सूफ़ी कवियों ने किया है वह है उसका 'केवल' एवं सृष्टिकर्ता का स्वरूप। वह परमसत्ता केवल एक है वही इस सृष्टि का सृष्टा, पालक एवं विनाशक है। उसकी शक्तियां अनन्त एवं अद्भुत हैं। परम वैभव एवं शक्तिसम्पन्न होते हुये भी वह अत्यन्त दयालु है। वह एक चित्रकार है जिसके गुणों का साक्षी यह नामरूपात्मकविविधदृश्यसंयुक्त जगत है।

संक्षेप में अद्वैतवाद के दोनों ही पक्षों, आत्मा और परमात्मा की एकता तथा परमात्मा और जगत की एकता का निदर्शन सूफ़ी काव्य में हुआ है। साधना-क्षेत्र में जहाँ उनकी दृष्टि केवल आत्मा और परमात्मा के एकत्व पर रही है वहीं भावक्षेत्र या काव्य में वे प्रकृति की नाना विभूतियों में भी उसे व्याप्त पाते हैं। परमसत्ता के सम्बन्ध में हिन्दी के सूफ़ी काव्य में, उसके निर्माणकर्त्ता या सृष्टिकर्त्ता स्वरूप की, इस जगत में उसके कनिष्ठ स्वरूप में स्थित भाव की, जगत में आभासित या प्रतिबिम्बित सत्य की सर्वत्र जड़ एवं चेतन जगत में व्याप्ति की एवं सारे संसार में उसी की दीप्ति के प्रकाश आदिक विचारों की अभिव्यक्ति है। परमसत्ता के एकत्व या केवलत्व पर तो उन्हें कोई संदेह ही न था; इस्लाम का यही मूल मन्त्र है।

परमसत्ता के स्वरूप का निर्धारण कर चुकने के पश्चात् जिज्ञासु सृष्टितत्व, सृष्टि-क्रम एवं सृष्टा के सम्बन्ध में जानना चाहता है। अनेकान्त विश्व के मूलभूत तत्व और सृष्टि क्रम पर विचार करना दर्शन का उद्देश्य है। सृष्टि सम्बन्धी तत्ववाद पर विचार करते

समय उसके कई पक्ष सम्मुख आते हैं:—(१) सृष्टि का मूलतत्व एवं सृष्टा (२) सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति एवं लय (३) सृष्टि-रचना का क्रम।

जहांतक सृष्टि का सम्बन्ध है सभी इस्लामी चिंतक एक मत हैं। इस अनेकान्त सृष्टि का वह केवल एक सृष्टा है। हिन्दी के सूफ़ी कवियों ने परमसत्ता की सृजनशक्ति का सर्वाधिक गुणगान किया है। सृष्टि का मूलतत्व क्या है इस सम्बन्ध की चर्चा कुरान में अधिक नहीं मिलती। सृष्टि अल्लाह की कृति है, अल्लाह की शक्ति विशाल है उसे सृष्टि रचना में एक क्षण भी नहीं लगा। उसके केवल एक शब्द 'कुन' (हो जा) में सृष्टि-प्रसार की सामर्थ्य है। उस परमसत्ता ने यह सारा स्वर्ग और भूतल केवल छ: दिन में निर्मित किया[१]। सृष्टि की रचना किस तत्व से हुई इसकी कोई चर्चा नहीं है, मनुष्य की रचना 'पृथ्वी' तत्व से हुई इसका उल्लेख है। उस परमसत्ता ने मिट्टी से मनुष्य रचना करके उसमें अपनी रूह फूंक दी[१]। मनुष्य अन्य स्वर्गीय दूतों से भी श्रेष्ठ है तभी तो अल्लाह ने फरिश्तों को उसके सम्मुख नत होने को कहा। इसके अतिरिक्त सृष्टि के सम्बन्ध में विशेष कुछ सूचना कुरान में उपलब्ध नहीं होती। कुन से सृष्टि की उत्पत्ति, आदम को अल्लाह का प्रतिरूप, एवं इन्सान को सृष्टिशिरोमणि मानने में इस्लाम को आपत्ति न थी किन्तु सूफ़ियों को केवल इतने से संतोष न हुआ। उन्होंने अपनी शंकाओं का समाधान बुद्धि के सहयोग से कुरान के कुछ संकेतों के आधार पर करना चाहा।

जैसा कि हम पीछे कह चुके हैं। लगभग सभी सूफ़ियों ने इस जगत के विविध उपकरणों, प्रकृति के स्वरूपों आदि का वर्णन करते हुये उस परमसत्ता के सृष्टारूप का वर्णन किया है किन्तु ऐसे कवि अल्प हैं जिन्होंने 'कुन' शब्द से सृष्टि उत्पत्ति का उल्लेख स्पष्टरूप से किया हो[३]। प्रसिद्ध सूफ़ी चिन्तक अरबी 'कुन' का अर्थ क्रिया नहीं मानता, उसके विचार से 'कुन' के द्वारा परमसत्ता का सृष्टि निर्माण सम्बन्धी संकल्प ही माना जा सकता है। सृष्टिनिर्माण के इस संकल्प की प्रेरणा उसे स्वयं अपने सौन्दर्य से प्राप्त हुई। जामी अल्लाह को परम सौन्दर्य रूप मानता है, 'वह अल्लाह प्रेम चाहता था और प्रेम से ही प्रभावित होकर उसने अपने मुख का आदर्श लिया और उसमें अपना रूप स्वयं व्यक्त करने लगा'[४]।

---

१. Verily your Lord is God, who created the Heavens and Earth in Six days. Koran : Yusuf Ali

२. Man's origin was from dust, lowly, But his rank was raised above that of other creatures. God breathed into him his Spirit. Koarn : Yusuf Ali

३. एकै शब्द कहा कुन केरा। सिरजा भूमि अकाश घनेरा॥
शेख रहीम : प्रेमरस

४. The Mystics of Islam P. 801, by R. A. Nicholson.

सृष्टि रचना की प्रेरणा इसी आत्मज्ञापन की भावना में पाई जाती है। परम्परानुसार कहा जाता है कि एक बार हज़रत दाऊद ने ईश्वर से प्रश्न किया था, 'कि हे ईश्वर आपने मानव जाति की सृष्टि क्यों की' जिसका उत्तर उन्हें मिला था, 'मैंने अपने गूढ़ रहस्य को व्यक्त करने की इच्छा से ऐसा किया।' हल्लाज का भी यही कहना है कि परमसत्ता या ईश्वर स्वयं अपने स्वरूप का निरीक्षण कर रीझ गया और उसके इस-आत्म प्रेम का ही सृष्टि रूप में आविर्भाव हुआ। हिन्दी के सूफ़ी कवि भी हदीस के इन वचनों का परिचय अपने काव्य में देते हैं। अन्तर केवल इतना है कि इसका उल्लेख सृष्टि रचना की प्रेरणा के रूप में नहीं होता। ये कवि केवल परमात्म-सौन्दर्य की महानता एवं सृष्टि का उसके प्रतिबिम्ब स्वरूप होने के सम्बन्ध में ही इसका उल्लेख करते हैं[1]।

यह सृष्टि नित्य है या अनित्य। इस सम्बन्ध में भी सूफ़ियों में कई विचार प्रचलित हैं। कुरान में सृष्टि के नित्यत्व या अनित्यत्व की अधिक चर्चा नहीं है। इन कवियों के काव्य में इस सम्बन्ध में स्पष्टरूप से दो विचारधारायें उपलब्ध होती हैं। एक तो यह कि इस सृष्टि का प्रसार उस परमसत्ता से होने के कारण यह नित्य है। दूसरा पक्ष है कि इस जगत का जीवन क्षणिक है और एक न एक दिन सभी का अन्त होना है। आत्मा अपने बाह्य परिधान का त्याग करके अवश्य एक दिन उस परमात्मा से मिल जायगी।

सृष्टि के नित्यत्व के सम्बन्ध में सूफ़ी चिन्तकों ने सदैव परमसत्ता को मूलरूप में अर्न्तस्थित माना है। जामी के विचार से सृष्टि सत्य का प्रत्यक्ष रूप है; वह परमसत्ता इस प्रत्यक्ष का मूल तत्व है। सृष्टि के मूल तत्व के रूप में इन्होंने परमसत्ता को ही माना है। इस सृष्टि का प्रसार उसी से हुआ है और अन्त में यह उसी में समा जायगी। गुल्शने-राज़ के लेखक का कहना है कि 'हमारे प्रियतम का सौन्दर्य अणु परमाणु तक के अव-गुण्ठन में लक्षित होता है[2]।' अपने 'हिकमतउल औलिया' ग्रन्थ में भी उसका कहना है कि बाह्य सृष्टि (आइन) कोई भी चेष्टा करने में असमर्थ है, इसके सारे कार्य व्यापार उसी परमसत्ता के हैं जो इसमें चेतन रूप से अवस्थित है। अतः 'अब्द' को कर्ता की उपाधि प्राप्त नहीं हो सकती। उसमें स्वतन्त्र रूप से कोई भी गुण तथा शक्ति नहीं है।' अरबी भी सृष्टि को ईश्वर की भांति नित्य मानता है। जिली भी जगत को ईश्वर का ही रूप मानता है। रूमी परमसत्ता को केवल अनुभूतिपरक मानता है अतः वह उसके बाह्य

---

१. कोऊ नाहीं बीच मां अपने रूप लुभान
अपनों चित्र चितेरा देखि आप अरुझान।

नूरमुहम्मद : इन्द्रावती पृ० ७१।

ता सम दूसर दिस्टि न आएउ।
आप समां दरपन मां पाएउ॥

नूरमुहम्मद : अनुराग बांसुरी पृ० ११२।

२. "If you cleave the heart of one drop of water there will issue from it a hundred pure oceans." Gulshani Raz.

स्वरूप सृष्टि या अन्तरात्मा स्वरूप चेतना के सम्बन्ध में 'बाहर' 'भीतर' ऐसे शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहता। इन सभी सूफ़ियों का ईश्वर कर्ता है तथा जगत उसकी कृति, वह इस सृष्टि में अन्तर्स्थित है। इसी कारण यह जगत नित्य है यह मत अधिकांश आचार्यों को मान्य है। आचार्य हुज्विरी को यह मत अमान्य है। वह ईश्वर और जगत को बिल्कुल भिन्न मानता है।

हिन्दी के सूफ़ी कवि भी सृष्टि के मूलतत्व स्वरूप उसी परमसत्ता की स्थिति मानते हैं। सारी सृष्टि उसी एक का प्रसार है, वही इन सब वस्तुओं में चेतन रूप से वर्तमान है। सृष्टि के कण-कण में उसी एक के अपरिमित सौन्दर्य, शक्ति तथा गुणों के दर्शन होते हैं[१]। यह सृष्टि दो तत्वों का समाहार है जात और सिफत सत एवं उसका व्यक्तीकरण। जात ही वास्तविक सत् है एवं सिफत उसका बाह्य नाम, रूप एवं गुणात्मक स्वरूप। जात, सिफत में वर्तमान आन्तरिक शक्ति है। परमसत्ता के स्वरूप-निदर्शन में हम कह आये हैं कि ये कवि या तो उसे इस सृष्टि में स्थित उसी प्रकार मानते हैं जैसे समुद्र के सभी तत्व एक बूंद में वर्तमान रहते हैं या इस सृष्टि की स्थिति दर्पण में प्रतिबिम्ब की भांति, केवल उसका आभास मात्र मानते हैं। चाहे जिस रूप में हो ये सूफ़ी कवि परमात्मा के संसर्ग के कारण सृष्टि में भी नित्यत्व का आभास पाते हैं।

नूरमुहम्मद का विचार है कि 'ब्रह्म को देखने के पश्चात यह सारा संसार दर्पण की भांति हो गया। संसार में जो कुछ भी दृष्टिगोचर होता है उसमें परमात्मा की प्रतिछवि है। सृष्टि का अस्तित्व उस सृष्टा के गुणों का दर्पण है[२]।'

---

१. जगत बीच जो किछु हैं बना, है करता गुन को दरपना।
नूरमुहम्मद : अनुराग बांसुरी, पृ० १३०।

देखो निरख परख मांहि काया, मैं कत अहो अहो व छाया।
कासिमशाह : हंसजवाहर पृ० १२१।

कहँ मानुष पंखी कहाँ, का बनखण्ड का झार।
सब महँ वह परगट अहै, अलख रूप कर्तार॥
कासिमशाह : हंसजवाहिर पृ० २१६।

जौन रूप चन्द्रावलि माँहा, सो हम रूप है परछाहीं।
शेख रहीमः प्रेमरस।

वह मूरत मानुस सब अहई, नरनारी जिनको सब कहई।
शेख रहीमः प्रेमरस।

२. रूप प्यारी का मैं देखा, जगत भयउ दर्पन तें लेखा।
यह सब दृष्टि परत है मांहीं, तामों देखत हों मुख आंही॥
नूरमुहम्मद : इन्द्रावती पृ० ७१।

उसमान इस सत्य को इस प्रकार व्यक्त करते हैं, 'प्रत्येक चित्र चित्रकार की साक्षी देता है। चित्र में चित्रकार को देख सकने की क्षमता केवल निर्मल दृष्टि सम्पन्न व्यक्तियों को ही हो सकती है। वह परमात्मा इस सृष्टि में उसी प्रकार अन्तर्निहित है जिस प्रकार एक बूंद जल में भी समुद्र के तत्वों का अस्तित्व। इस तत्व को समझने की शक्ति केवल गुरु कृपा से ही प्राप्त हो सकती है'[१]।

कासिमशाह भी इस मूलतत्व का स्पष्टीकरण करते हैं, 'वही एक इस सारी सृष्टि में व्याप्त है। इस संसार के प्राण सदृश केवल उसी की स्थिति है। विवेकी को सम्पूर्ण सृष्टि में उसी स्वरूप के दर्शन होते हैं। वास्तव में यही सृष्टि का अस्तित्व है'[२]।

'मधुमालत' में मंझन भी इसी प्रकार हदीस के शब्दों को प्रमाणित करते हैं, 'यह सृष्टि उसका दर्पण है। इसमें उसके मुख की परछाहीं दृष्टिगोचर होती है। ब्रह्म और जगत का सम्बन्ध उसी प्रकार का है जैसा समुद्र एवं लहर, सूर्य एवं किरण का'[३]।

इस प्रकार हिन्दी के इन सूफ़ी कवियों ने सर्वत्र सृष्टि के मूलतत्व रूप में परमसत्ता का अस्तित्व माना है। किन्तु साथ ही इस सृष्टि की प्रत्येक वस्तु का निश्चित अवसान है, उसका नाश अवश्यम्भावी है। कुरान में भी सृष्टि के अन्त का वर्णन है। एक दिन सभी को उस परमसत्ता के पास वापस पहुँचना है'[४]। 'सृष्टि में परमसत्ता की उदारता एवं दया के दर्शन होते हैं किन्तु इस सृष्टि में सबका अन्त अवश्यम्भावी है'[५]।

'यह सारी बाह्य सृष्टि नाशवान है। हर वस्तु का अन्त नष्ट होना है, केवल ईश्वर

---

१. चित्रहि महं सो आहि चितेरा। निर्मल दृष्टि पाउ सो हेरा॥
जैसे बूंद मांह दधि होई। गुरु लखाव तौ जानै कोई॥
उसमान : चित्रावली पृ० ६५।

२. वही सो पूर जगत के माहां। पवै सो सृष्टि लखों मैं ताहां॥
वही सो वृक्ष पात कर फूला। वही सो प्रान जगत कर मूला॥
कासिमशाह : हंसजवाहर पृ० १५१।

३. एक अहै दूसर कोई नाहीं। तेहि सब सृष्टि रूप मुख चाहीं॥
तैं जो समुंद लहर मैं तोरी। तैं रवि मैं जग किरन अजोरी॥
मंझन : मधुमालत।

४. To Him will be youı return: of all of you.
Koran : Yusuf Ali.

५. Look at God's creation
Its unity of design and benevolence of
Purpose. Death must come to all.
Koran : Yusuf Ali.

का मुख ही शाश्वत है। उसकी आज्ञा सर्वमान्य है। संसार की प्रत्येक वस्तु को नाश हो जाने के पश्चात् वहीं जाना है।[१]

इस प्रकार कुरान में संसार की नश्वरता का वर्णन तो अवश्य है किन्तु कब और कैसे इसका अन्त होगा इसका वर्णन नहीं है। कयामत के दिन ही सबका फ़ैसला होगा, आगे पीछे संसार छोड़ने वाले व्यक्तियों को उस दिन की प्रतीक्षा करनी होगी, वहां फैसला हो जाने के बाद वे क्रमशः स्वर्ग या नरक में भेजे जायेंगे। उसके बाद उनका क्या होगा इसका भी कोई उल्लेख नहीं है।

हिन्दी के इन सूफ़ी कवियों ने भी संसार की परिवर्तनशीलता एवं नश्वरता का वर्णन किया है। सृष्टि का लय किस क्रम से होगा इसका वर्णन नहीं है। केवल मानव-आत्मा का परमात्मा में 'फना' एवं 'बका' रूप में लीन हो जाने का वर्णन है। कुरान में मनुष्य-रूप में खुदा का अपनी रूह फूंकने का वर्णन है; अतः पुनः उस रूह का लौटकर उसी में समा जाना इन कवियों को अधिक संगत ज्ञात हुआ होगा।

सृष्टि की नश्वरता एवं क्षणभंगुरता का वर्णन नूरमुहम्मद स्वप्न और पथिक के रूपक द्वारा करते हैं। 'सृष्टि नाशवान है इसका वास्तविक अस्तित्व कुछ भी नहीं। स्वप्न के समान यह जीवन क्षणिक एवं महत्वहीन है। यह जीवन दीपक की लौ के समान है जिसे कालरूपी वायु प्रतिक्षण नष्ट कर देने को उत्सुक है। इस संसार में पथिक की भांति जीवन-यापन करना ही बुद्धिमानी है। यदि मानव जीवन पाकर परमतत्व की उपलब्धि हो सके तो यही इस जीवन का उपयोग है, लाभ है। यह जगत वृक्ष की भांति है जिसका उपयोग पथिक के लिए केवल छायामात्र है, इसी प्रकार मानव मात्र को इस मानवजीवन का उपयोग ब्रह्मप्राप्ति मानकर, इस संसार से कोई सम्बन्ध न जोड़कर, पथिक की भांति निर्लिप्त होकर निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचने का प्रयास करना चाहिये'[२]।

सृष्टि की क्षणभंगुरता का स्पष्टीकरण सदा से स्वप्न के द्वारा होता रहा है[3]। यह

---

१. There is no God but He.
Every thing will perish, except His
own Face. To him belongs the
command. And to Him will ye
(All) be brought back

Koran : Yusuf Ali.

२. सपन समां यह जीवन मोरा, अहै दिया सब बहै झकोरा।
यह जग जीवन थोरो आही, काज अधिक करना मोहिं चाही।
है भल जग महं पंथिक रहना, लेहु हियां सों आगम लहना।
जग और आपुहि कस पहिचानों, तरिवर और बटोही जानो।
चला जात जस होहि बटोही, आहि छहांइ बिरिछ तर ओही॥

नूरमुहम्मद : इन्द्रावती पृ० ८१, पृ० २३।

३. जो किछु भएउ होत और होई। है सब सपन न जानत कोई॥

नूरमुहम्मद : अनुराग बांसुरी पृ० ११५।

संसार असत्य है। इसकी किसी भी वस्तु से प्रीति अच्छी नहीं, यह मिथ्या संसार त्याज्य है। प्रेम का मार्ग ही इस संसार में श्रेय है।

इस संसार में जीव अकेला ही जन्म लेता है एवं निधन उपरान्त उसे अकेले ही प्रस्थान करना पड़ेगा। 'संसार की भांति यहां के सारे सम्बन्ध भी मिथ्या हैं। कोई भी सांसारिक वस्तु जीव का साथ नहीं देती। जब अपनी काया ही साथ नहीं देती तो फिर और किसी को क्या कहें। इस कारण इस संसार से प्रीति अच्छी नहीं[1]।'

शेख रहीम सृष्टि की नश्वरता का वर्णन इस प्रकार करते हैं, 'काल रूपी बाज दिन रात जीव-रूपी मैना के पिंजड़े के ऊपर मंडराता रहता है। थोड़ा सा भी अवकाश पाते ही वह उसे नष्ट कर डालने को तत्पर रहता है[2]।' इस संसार की प्रत्येक वस्तु एक निश्चित काल तक ही स्थित है। यहाँ की कोई वस्तु स्थिर या अमर नहीं है। काल का प्रभुत्व इस संसार रूपी साम्राज्य पर है।

हम पहिले ही कह चुके हैं कि सृष्टि-रचना के सम्बन्ध में तत्वों की उत्पति के क्रम की चर्चा कुरान में नहीं है। मनुष्य की रचना के सम्बन्ध में अवश्य मिट्टी का वर्णन है। सृष्टि क्रम का जो वर्णन सूफ़ियों में पाया जाता है उसके अनुसार परमज्योति से सर्वप्रथम मुहम्मदीय आलोक का जन्म हुआ और फिर उसी उपादान कारण से इतर जगत की, सृष्टि की रचना हकीकतुल मुहम्मदिया की प्रसन्नता के लिये हुई। तात्पर्य यह कि इसी मुहम्मद के नूर से अन्य तत्वों की उत्पत्ति हुई। यूनानी दर्शन की भांति इस्लाम में भी आकाश ऐसे सूक्ष्म तत्व की विवेचना नहीं हुई है। हिन्दी के सूफ़ी कवियों ने भी क्षिति, जल, पावक और समीर इन्हीं चार तत्वों की चर्चा की है। जहाँ कहीं भी आकाश की चर्चा हुई है वहां केवल उस परमसत्ता की अद्भुत शक्ति के प्रदर्शन के हेतु ही हुई है।

कवि उसमान ने चित्रावली में इन चारों तत्वों का वर्णन किया है। यदि जिस क्रम से उनके नाम आये हैं इस पर विचार किया जाय तो अग्नि का स्थान प्रथम आता है। उस परमसत्य ने अग्नि, वायु, पृथ्वी और जल के मिश्रण से बहुविधि सृष्टि की रचना की वह इस प्रकार संयुक्त है कि उसे पृथक नहीं किया जा सकता[3]।'

---

१. जब आयो तब हतो अकेला। अबहुँ जाउं तस दुख अकेला॥
जग मा को केहिकर पुनि सोई। जाय न संग रहे पुनि रोई॥
मीत न होय सो आपन देहा। तौ केहि काज जगत कर नेहा॥
कासिमशाह : हंसजवाहिर पृ॰ १४२।

२. काल सीस पर रैन दिन, जैस बाज मंडराय।
जिउ की मैना पींजड़े, समै पाय लै जाय॥
शेखरहीम : प्रेमरस।

३ अगिनि पवन रज पानि के, भांति भांति व्योहार।
आपु रहा सब मांहि मिलि, को निवरावै पार॥
उसमान : चित्रावली पृ० १।

कासिमशाह ने जहाँ 'गगन' का वर्णन किया है, वहाँ केवल सूर्य, चन्द्र के सहित गगन की सृष्टि का संकेत मात्र है[1]।

शेख रहीम ने जहाँ 'कुन' शब्द से सृष्टि उत्पत्ति की चर्चा की है; वहां भूमि और 'आकाश' का वर्णन केवल प्रकृति या जगत के प्रधान वर्णन के रूप में कर दिया है[2]।

आकाश तत्व का वर्णन परमसत्ता की अद्भुतशक्ति के प्रदर्शन में अधिक हुआ है[3]। तत्वों की उत्पति के क्रम का वर्णन केवल कवि निसार और नूरमुहम्मद ने किया है और उन दोनों के क्रम में साम्य भी है। तैत्रीयोपनिषद में वर्णित सृष्टि क्रम में और इस्लामी पद्धति से वर्णित इस क्रम में अन्तर है। उपनिषद के अनुसार परमात्मतत्व से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी संभूत हुई[4]।

यूसुफ़-जुलेखा में कवि निसार इन तत्वों की क्रमिक उत्पत्ति के बारे में इस प्रकार लिखते हैं कि सबसे पहले अग्नि, अग्नि से पवन, पवन से पानी, पानी से फिर पृथ्वी की उत्पत्ति हुई। इन्हीं चार तत्वों से धरती, स्वर्ग, सूर्य, शशि और तारागण सभी की उत्पत्ति हुई[5]।

नूरमहम्मद ने भी इस क्रम का वर्णन इन्द्रावती में किया है। 'सर्वप्रथम केवल ज्योति-रूप में वह स्थित था उसके बाद वह आत्मा रूप में प्रकट हुआ, आत्मा से मन और फिर इन तीनों के आवरण के लिये काया का निर्माण हुआ। उस परमज्योति से पहले आग उत्पन्न हुई, आग से पवन, पवन से जल और जल से फिर पृथ्वी संभूत हुई। इन चारों के समाहार से ही देह का निर्माण हुआ। पूर्वनिर्मित जीव और इस देह में बहुत स्नेह या माया उत्पन्न हो गई[6]।

---

१ सिरजा गगन अनूप सोहाई, सिरजा सहित सूर खगराई ॥
कासिमशाह : हंसजवाहर पृ० १।

२. एकै शब्द कहा कुन केरा, सिरजा भूमि अकाश घनेरा।
शेख रहीम : प्रेमरस।

३. धन्य आप जग सिरजन हारा, जिन बिन खम्भ अकाश संवारा।
पद्मावत: जायसी

४. तैत्तरीयोपनिषद् २।१

५. अगिन तें पोंन, पोंन तें पानी. पुन पानी तें खेह उपानी ॥
इन चारों से सब संसारा, धरती सरग सूर ससि तारा ॥
निसार : यूसुफ-जुलेखा।

६. पहले जोत उतर जिउ भयऊ। आप आतमा होइ छिप गयऊ ॥
पुनि मन भये आत्मा सेती। मनसों काया चाह समेती ॥
एकै जोत तीन पहिरावा। पहिरि नाम इन्द्रावति पावा ॥
जोति सों आग आग से बाऊ। भयउ पवन सो नीर बनाऊ ॥
भयउ नीर सों माटी, चारों से भये देह।
देह और यह जीव सों, बाढ़ी बहुत सनेह ॥
नूरमुहम्मद : इन्द्रावती पृ० ७०।

सृष्टितत्व के विभिन्न स्वरूपों की मीमांसा के पश्चात् हम इस तथ्य पर पहुँचते हैं कि सृष्टि के मूलतत्व स्वरूप इन सूफ़ी कवियों को परमसत्ता का सृष्टा रूप मान्य था। उसी एक का विभिन्न रूपों में प्रकटस्वरूप ही यह सृष्टि है, अतः आंशिक रूप से यह नित्य है। इस सृष्टि का अन्त अवश्यम्भावी है, एक निश्चित अवधि के बाद जीवन पर काल का आधिपत्य हो जाता है। भारतीय दर्शन की भांति इस्लामी दर्शन या सूफ़ीमत में आकाश ऐसे सूक्ष्म तत्व की चर्चा नहीं है। ये सूफ़ी परमज्योति से मुहम्मद के नूर की उत्पत्ति मानते हैं, इसी नूर की प्रसन्नता के लिये फिर सारी सृष्टि की रचना हुई[1], सर्वप्रथम अग्नि, उसके बाद वायु, तत्पश्चात पवन और अन्त में पृथ्वी की उत्पत्ति हुई[2]। लय के समय इनका क्या क्रम होगा, सारी सृष्टि का क्या रूप होगा, आदिक विषयों की चर्चा नहीं है। इन साधकों ने सृष्टि की नश्वरता का वर्णन इस हेतु किया है कि इसके प्रति विरक्ति उत्पन्न होकर परमार्थ चिन्तन में ध्यान लग जाय।

नूरुल-मुहम्मदिया (मुहम्मदीय आलोक):

सभी सूफ़ियों का विश्वास है कि उस परमज्योति से सर्वप्रथम नूरुलमुहम्मदिया या मुहम्मदीय आलोक की उत्पत्ति हुई और फिर उसी उपादान कारण से इतर जगत की रचना उसी 'हकीकतुल मुहम्मदिया' की प्रसन्नता के लिये हुई। अरबों के तितर बितर अशिक्षित एवं अंधविश्वासग्रस्त समाज के मध्य मुहम्मद साहब ने जो चेतना जाग्रत कर दी थी उसके कारण उनका प्रभाव उनके जीवनकाल में ही बहुत था। उम्मत को पार लगाने का श्रेय उन्हीं को है। कयामत के दिन वे लोगों के अपराध अल्लाह से कहकर क्षमा करा सकते हैं। सारी सृष्टि मुहम्मद साहब के पीछे पीछे स्वर्ग की ओर जायगी[3]। उम्मत या सृष्टि का सारा दुख वे अपने सिर लेने को तत्पर होकर अल्लाह से उनके अपराध क्षमा करा देंगे[4]। मुहम्मद साहब अल्लाह के प्रिय हैं तथा अपनी उम्मत के रक्षक भी। उनके समान कोई अन्य नहीं हुआ। यद्यपि उनका आविर्भाव सबसे पहले नूर के रूप में हो चुका था किन्तु इस जगत में वे आखिरी पैगम्बर होकर आये और अपने साथ पवित्र कलाम या कुरान लाये[5]।

---

१. कीन्हेसि प्रथम ज्योति परकासू। कीन्हेसि तेहि पिरीत कैलासू॥

जायसी

२. कीन्हेसि अगिनि पवन जल खेहा। कीन्हेसि बहुतै रंग उरेहा॥

जायसी : पद्मावत पृ० १

३. पुनि रसूल जेहैं होइ आगे। उम्मत चलि सब पाछे लागे॥

४. जो दुख सहसि उमत कहं दीन्हा। सो सब मैं अपने सिर लीन्हा॥

जायसी : आखिरी कलाम

५. नबी मुहम्मद रब के प्यारे। अपनी उम्मत के रखवारे॥
ना अस भयो न दूसर होई। जिनकी आस रखत सब कोई॥
प्रगट प्रथम अन्त का आये। पाक कलाम संग निज लाये॥

शेखरहीम : प्रेमरस

मुहम्मद साहब का महत्व उनके जीवन काल में ही बहुत हो गया था। वे अल्लाह के रसूल थे, उनका नाम अल्लाह के साथ सलात या नित्यप्रार्थना में जुड़ा था। वे प्रजा के रक्षक एवं तारक थे। सूफ़ियों ने अपनी चिन्तनपद्धति द्वारा उन्हें और भी महान बना दिया। तर्क, बुद्धि एवं दार्शनिकचिन्तन के द्वारा अल्लाह का स्वरूप जितना ही सूक्ष्म होता गया उतना ही मुहम्मद साहब का स्वरूप निखरता गया। सगुण ईश्वरत्व की भावना को मुहम्मद के उत्कर्ष-प्राप्त रूप में आश्रय मिलता गया। मुहम्मद साहब सूफ़ियों के प्रिय, रक्षक, तारक एवं आदर्श हुये। उनकी दृष्टि में मुहम्मद कुत्ब (ध्रुव) एवं अटल हैं जो साधकों के आदर्श, एवं चारहज़ार 'पीरेगैब' नामक सन्तों से भी श्रेष्ठ हैं।

जिली का कहना है कि समयानुकूल मुहम्मद साहब विभिन्न वेष धारण करते हैं। जिली को अपने शेख के रूप में मुहम्मद साहब के ही दर्शन हुये थे।

हिन्दी के सभी सूफ़ी कवियों को मुहम्मद साहब की सत्ता 'नूर' रूप में मान्य है। परमज्योति से सर्वप्रथम उन्हीं की उत्पत्ति हुई और फिर उन्हीं की प्रसन्नता के हेतु सृष्टि रचना हुई।

'उस परमसत्य ने एक ज्योति-पुरुष जिसका प्रकाश पूर्णिमा के चन्द्र की भांति था, का निर्माण किया और फिर उसी ज्योति की प्रीति के हेतु सृष्टि रचना की[1]।'

'यदि मुहम्मद के नूर का आविर्भाव न होता तो यह सृष्टि ही न होती' ऐसी भावना भी इन कवियों में उपलब्ध होती है [2]।

---

१. वही जोति पुनि किरिन पसारी। किरिन किरिन सब सृष्टिसंवारी॥
जोति क नांव मुहम्मद राखा। सुनत सरोष कहा अभलाखा॥
उसमान : चित्रावली पृ० ५।

कीन्हेसि पुरुष एक निरमरा। नाम मुहम्मद पूनौ करा॥
प्रथम जोति विधि ताकर सार्जी। औ तेहि प्रीति सिहिटि उपराजी॥
जायसी : पद्मावत पृ० ४।

जो अस रतन रचा उजियारा। तेहिकर प्रीति रचा संसारा॥
कासिमशाह : हंसजवाहिर

घट घट नूर मुहम्मद साहब; जाका सकल पसारा है।
यारी साहब

तू निज जोत से कर कछु न्यारा, ताह मुहम्मद नांव पुकारा।
तह कारन यह भई सिरष्टी, जो कछु आवत नैन दिरष्टी।
निसार : प्रेमदर्पण

२. जो न करतु वह ओकेर चाऊ, होत न जग महं एक उपाऊ॥
उसमान : चित्रावली पृ० ५।

होत न जो उन्हकर अवतारा। होत न मरग ओमतो पतारा॥
ना बकुन्ठ नरक कछु होते। न ससि भान झलक कछु देते॥
नसीर : प्रेमदर्पण

'यदि इस मुहम्मदीय-आलोक का या मुहम्मद के नूर का मुहम्मद रूप में अवतार पृथ्वी पर न होता तो इस संसार में अज्ञान के मध्य किसी को सद्मार्ग न दिखाई देता। जगत के कारण ही उस ज्योति का नाम मुहम्मद पड़ा [1]।'

'परमसत्ता की अव्यक्त 'अहद' से एक नूर का जन्म हुआ। वास्तव में नाम दो थे किन्तु ज्योति एक ही थी किन्तु इस अहमद नामक नूर का नाम भी आगे चलकर मुहम्मद हुआ। इसका जन्म भूतल पर हुआ, जगत के कारण ही मुहम्मद का अवतार हुआ [2]।'

मुहम्मद के नूर के सम्बन्ध में यही धारणायें सूफ़ियों को मान्य हैं कि सर्वप्रथम मुहम्मद के नूर का आविर्भाव हुआ फिर वही इस सृष्टि का निमित्त एवं उपादान कारण हुआ। मुहम्मद नूर हैं, कुत्ब (ध्रुव) हैं, उम्मत के रक्षक एवं तारक हैं। यह सिद्धान्त इन सभी कवियों को मान्य है एवं इन्होंने इसका परिचय अपने काव्य में भी दिया है।

इन्सानुल कामिल :

कुरान में मनुष्य की उत्पत्ति के बारे में लिखा है कि आदम या मनुष्य को अल्लाह ने मिट्टी से बनाया और उसमें अपनी रूह फूंक दी और सब फरिश्तों को उसकी उपासना करने को कहा क्योंकि वह उन फरिश्तों से श्रेष्ठ था [3]।

अत: यह सर्वमान्य है कि मानव या इन्सान सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि परमसत्ता ने उसे ही रसूलत्व के उपयुक्त समझा और उसे बुद्धि, ज्ञान एवं इच्छाशक्ति प्रदान की [4]।

---

१. जौ न होत अस पुरुष उजारा। सूझि न परत पंथ अंधियारा ॥
जायसी : पद्मावत पृ० ४।

२. अहदहु ते अहमद भयऊ, एक जोत दुइ ठांव।
भयउ जगत के कारने, परेउ मुहम्मद नांव ॥
नूरमुहम्मद: इन्द्रावती पृ० २१।

३. Man's origin was from dust, lowly,
But his rank was raised above that of other creatures
because God breathed into him His Spirit.
He created man from clay, from mud moulded into shape.
He it is who created you from clay, and then decreed a stated term.

४. He created all including Man,
To man he gave a special place in His creation,
He honoured man to be His Agent
And to that end, endued him with understanding
Purified his affections and gave him spiritual insight
Man was further given a will,
Koran : Yusuf Ali.

पूर्णमानव सृष्टि का चरमोत्कर्ष है, उसी में ईश्वर के स्वरूप की पूर्ण अभिव्यक्ति है। अरबी का मत है कि आदम अल्लाह का प्रतिरूप है। इन्सान अल्लाह की दृष्टि है। इन्सान के द्वारा ही अल्लाह सृष्टि का अवलोकन एवं जीवों पर दया करता है।

मानव शरीर में पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि के अतिरिक्त 'नफ़्स' या अहं का भी समाहार है। यहाँ भी आकाश तत्व का अभाव है। ये तत्व उसका जड़ अंश या आलमे खल्क बनाते हैं, उसका आध्यात्मिक स्वरूप आलमे अम्र, क़ल्ब (हृदय), रूह, (आत्मा) सिर्र (ज्ञानशक्ति) ख़फी (उपलब्धि शक्ति), तथा आख़्फा (अनुभूत शक्ति) का समाहार है। इन तत्वों को सूफ़ी लतीफ कहते हैं। उक्त पांच जड़ एवं पांच आध्यात्मिक उपादानों द्वारा निर्मित मानव को पार्थिव तत्वों पर अधिकार प्राप्त कर आध्यात्मिक स्वरूप की उत्तरोत्तर वृद्धि में सलग्न रहना चाहिये। नफ़्स या अहंभाव उसके मार्ग में बाधा उत्पन्न करके उसे पाप की ओर ले जाने की चेष्टा करता है। प्रश्न होता है, यदि मानव ईश्वर की पूर्ण अभिव्यक्ति है तो उसमें पाप पुण्य का प्रश्न न होना चाहिये। इस द्वन्द्व प्रधान संसार में सुख दुख, राग द्वेष, पाप पुण्य का युग्म सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। इस्लाम में इसका सहज समाधान था। शैतान सब को मार्गभ्रष्ट करके पाप की ओर ले जाता है, किन्तु अद्वैत के पक्षपाती सूफ़ी शैतान को असत कैसे मानें; क़ुरान में लिखा है कि अल्लाह जिसको चाहता है सतपथ पर अग्रसर करता है, किन्तु वह उन्हीं को असत मार्ग पर ले जाता है जो उसकी सत्ता स्वीकार नहीं करते[1]। क़ुरान के इस मत के आधार पर ही सूफ़ी इबलीस को शैतान या पथभ्रष्ट करने वाला नहीं मानते। इबलीस का अल्लाह की आज्ञा का उल्लंघन भी उसी की इच्छानुसार है। इबलीस ने आज्ञा का उल्लंघन करके उसी की इच्छा का पालन किया।

'यदि वह अपने वश की बात होती, तो मैं उसी क्षण आदम की पूजा करता, जब मुझे उसकी आज्ञा मिली थी। अल्लाह मुझे आदम की उपासना की आज्ञा देता है, पर वह स्वत: नहीं चाहता कि मैं उसके आदेश का पालन करूँ। यदि वह ऐसा चाहता तो मैं अवश्य ही आदम की आराधना करता[2]'। हल्लाज़ इबलीस की प्रसंशा करता है। सूफ़ी मतानुयायी इबलीस को न तो शैतान मानते हैं, न पाप या दुष्कर्म को नित्य। पाप अभाव का द्योतक है और इसका अस्तित्व तभी सार्थक है जब ईश्वर अपने जलाल को प्रकट करना चाहता है। इन्सान भी ईश्वर के समान तत्वत: हक़ है, और वह निरन्तर उसी की पूर्ण प्राप्ति की चेष्टा किया करता है, जिसका साक्षात्कार वह क़ल्ब या हृदय में करता है। क़ल्ब अल्लाह का निवासस्थान तथा सत्य का दर्पण है। साक्षात्कार के हेतु हृदय का

---

१. But he causes not to stray,
Except those who forsake the path.
Koran : Yusuf Ali.

२. Studies in Islamic Mysticism.. P. 54.
by R. A. Nicholson.

परिमार्जन आवश्यक है[1]। सूफ़ी कल्ब को भौतिक मानने के पक्ष में नहीं हैं। वे उसे आध्यात्म का आधार और अल्लाह का निवासस्थान मानते हैं। यह एक माध्यम है जिससे सत्य का ग्रहण और प्रसरण सम्भव है। सूफ़ी इसी कल्ब में प्रियतम का साक्षात्कार करके अपने को धन्य मानते हैं।

कल्ब के अन्तर्गत सूक्ष्मतम रूप में 'सिर्र' का निवास है। अबूसईद का मत है कि अभाव, उत्कन्ठा और उद्वेग से व्याकुल हृदय में ही अल्लाह के जमाल (ऐश्वर्य) मे उद्भूत तत्व 'सिर्र' है[2]। सिर्र नित्य है जो इन्सान को निष्काम बना देता है। इसका प्रभाव इख़लास या सन्यास है। अभ्यास एवं वैराग्य के द्वारा सत्य शुद्ध हो जाता है और साधक को प्रियतम का दीदार होता है। सिर्र और कल्ब का सूफी साधना में महत्वपूर्ण स्थान है। सिर्र की प्राप्ति और कल्ब की स्वच्छता सभी को प्राप्त नहीं होती। नफ्स या अहंभाव उसे सदैव पथभ्रष्ट करने का प्रयास किया करता है। सूफ़ी इसी वासना या चित्त-वृत्ति के निरोध के हेतु साधना करते हैं। 'नफ्स' के उपायों को पराभूत करने में रूह का बड़ा हाथ है। यह रूह या आत्मा तब तक सन्तुष्ट नहीं होती जबतक इसे परम्-रूह या परमात्मा का साक्षात्कार नहीं हो जाता। अल्लाह और रूह का सम्पर्क नित्य है, उसी प्रकार, जिस प्रकार सूर्य और किरण का।

नफ्स और रूह के अतिरिक्त अक्ल का भी निवास मनुष्य में है। इन्हीं तत्वों के अनुसार मनुष्य की श्रेणियां होती हैं। सूफ़ी अक्ल या तर्क का प्रसार नहीं चाहते। नफ्स, इल्म या ख़ुदी के चक्कर में न पड़कर सूफी कल्ब की सुनते हैं। उनके लिये यह सारा संसार उसी (अल्लाह) का प्रतिबिम्ब है। जब तक वह सृष्टि के दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब देखना चाहता है, तब तक इन्सान का अस्तित्व पृथक रहता है। उसकी इस इच्छा का लोप होते ही इन्सान और अल्लाह का पृथकत्व समाप्त होकर 'अनल्हक' की प्राप्ति हो जाती है।

उपर्युक्त तत्वों से मानव शरीर के आध्यात्मिक एवं जड़ अंश का निर्माण हुआ। सूफ़ियों ने पृथक या सिद्धान्त रूप में कहीं भी क्रम से इनकी चर्चा नहीं की है, किन्तु प्रेम साधना के अन्तर्गत हृदय की शुद्धि, पूर्ण आस्था और विश्वास, नफ्स या अहं का विरोध आदि तत्वों की चर्चा यथास्थान की है।

हिन्दी के सूफ़ी कवियों की 'इन्सानुल-कामिल' या पूर्ण मानव की कल्पना भी अत्यन्त उच्च है। जिस प्रकार सृष्टि का चरमोत्कर्ष मानव है, उसी प्रकार पूर्ण मानव वह है जो सान्सारिक सुख, सम्पत्ति, वैभव और ऐश्वर्य का परित्याग कर 'हक़' से मिलने का प्रयास

---

१. मांजस जो मन दर्पन, रात दिवस चित लाय।
स्याम रंग अंतर पर (ट) उठि आगे सों जाय।
नूरमुहम्मद : इन्द्रावती पृ० ४१

२. Studies in Islamic Mysticism, P. 51.
by R. A. Nich

करता है। लगभग सभी सूफी प्रेमकथाओं का नायक पूर्णमानवत्व को प्राप्त करने का प्रयास करता है। प्रत्येक मानव के भीतर परिपूर्णता बीजरूप में स्वभावत: निहित है। पूर्णमानव के रूप में वह अन्य मानवों और ईश्वर के बीच मिलन-सेतु है। जिली के अनुसार मुहम्मद सर्वश्रेष्ठ पूर्णमानव थे। पूर्णमानवत्व की उपलब्धि प्रेममूलक है।

परमसत्ता और इन्सान :

सूफ़ी इन्सान के वास्तविक स्वरूप और परमात्म-तत्व में कोई अन्तर नहीं मानते हैं। सूफ़ी साधक के अनुसार ब्रह्मान्ड और पिन्ड में परमसत्ता की चेतना वर्तमान है। आत्मा और परमात्मा में मूल विभेद नहीं है। दोनों की भिन्नता वास्तविक न होकर व्यावहारिक है। विश्व में फैले परमात्मतत्व, तथा घट में स्थित आत्मा में पारमार्थिक अन्तर नहीं है। सूफ़ियों के अनुसार मानव के शरीर में ईश्वर का पूर्ण प्रतिरूप है। जगत उसकी केवल आंशिक छवि है। उमर खैय्याम भी, सृष्टि चक्र के इस प्रतिवर्तन में, जीव को ही सृष्टि का उत्कर्ष मानता है [1]।

माया :

परमसत्ता और सृष्टि के स्वरूप पर विचार करते हुये, माया सम्बन्ध के कारण उसकी चार स्थितियों की कल्पना होती रही है:

१. विशुद्ध सत्व चेतन स्वरूप (ब्रह्म)
२. मायोपाधि संयुक्त ब्रह्म (सगुण ईश्वर)
३. मायोपाधि संयुक्त आत्मा (जीव)
४. अविद्या-माया ग्रसित संसारी जीव।

नानाविध नामरूपात्मक जगत सत्य है अथवा मिथ्या ? ऐसे प्रश्न दार्शनिकों तथा चिन्तकों के सम्मुख सदैव रहे हैं। बौद्ध-दर्शन ने प्रत्येक वस्तु को अनित्य माना है जिसकी युक्तिसंगत परिणति शून्यवाद में हुई है। ईसाइयों के अनुसार शून्य द्वारा ही सृष्टि की रचना हुई। अद्वैतवाद के अनुसार इस क्षण क्षण परिवर्तित होने वाले जगत के मूल में एक चिरन्तन, शाश्वत आत्मतत्व निहित है। मायावाद की धारणानुसार यह अनेकान्त संसार भी एकान्त है, केवल इसकी नामरूपात्मक प्रतिभासित सत्ता ही मिथ्या है। इसकी विवेचना कई प्रकार से हुई है। नामरूपात्मक जगत के नाशवान होने की कल्पना से 'मिथ्यातत्व' और 'मायातत्व' का प्रादुर्भाव होता है इस माया को भी (१) विशुद्ध सत्व

---

१. Man, is not he, the creation's last appeal
The light of wisdom's eye ? Behold the wheel
of Universal life as' twere a ring,
But man the superscription and the seal.
Rub'aiy'at of Omar Khayyam, Translated
by Fitzerald.

प्रधान और (२) अविशुद्ध सत्व प्रधान होने के कारण, विद्या तथा अविद्यामाया की संज्ञा मिलती रही है।

इन सूफ़ी कवियों ने माया की कल्पना विद्या-माया के रूप में नहीं की, माया का कोई सत्स्वरूप इन्हें मान्य नहीं है। मानव शरीर के अन्तर्गत ही 'आल्मे खल्क' वर्तमान है। यह नफ्स या अहं की भावना ही रूह को आगे बढ़ने से रोकती है, और रूह की लालसा सदैव परमसत्ता तक पहुँचने को होती है अत:, माया के इस स्वरूप की जहां कहीं भी चर्चा इन सूफ़ी कवियों ने की है वहां इन्द्रियगत विषय भोगों के आकर्षण, एवं उनके दुष्प्रभाव का ही वर्णन अधिक है। साधक जब अपनी साधना में अग्रसर होकर ईश्वर प्राप्ति का प्रयास करता है, तो उसे जो सर्वाधिक कठिन पड़ाव पार करना पड़ता है वह है इन्द्रियपुर। इन्द्रियपुर की प्रत्येक वस्तु अत्यन्त सुहावनी एवं मनोहारिणी प्रतीत होती है। शब्द, रूप, रस एवं संयोग उसके प्रमुख आकर्षण हैं। संयोगरूपिणी माया के आकर्षण में पड़कर भोग की कामना में मनुष्य योग का त्याग कर देते हैं [1]।

पंचेन्द्रिय जनित भोग ही मनुष्य की बुद्धि को सब तरफ से घेरे रहते हैं। इनका क्रोध सदैव मानव बुद्धि पर रहता है। ये कभी सीधी दृष्टि से नहीं देखते, अपनी घात लगाये रहते हैं। यदि मनुष्य इनके वश में आ जाता है तो पथभ्रष्ट हो जाता है, और ये पांचो भूत अपनी अपनी बार उसे नचाते रहते हैं। उसमान ने माया के द्वारा मानव के नचाये जाने की कल्पना भी की है[2]।

गोस्वामी तुलसीदास ने उत्तरकान्ड के अन्तर्गत ज्ञान दीपक का रूपक बांधते समय माया या काम रूपी झकोरों की चर्चा की है। उसमान ने भी विषय वासना रूपी झकोरों की चर्चा की है। इस काया के अन्तर्गत पांच कर्मेन्द्रियों की विषय वासनात्मक वायु सदैव प्रवाहित होती रहती है जिससे बुद्धि रूपी दीपक के अस्त हो जाने की संभावना है, यदि ईश्वर की दया हो तो दीपक अस्त होने से बच सकता है[3]।

कहीं कहीं माया के इन विषय वासनात्मक आकर्षक रूपों को, ठग या बटमार की

---

१. लहत बसेरा ठावैं ठाऊं, जाइ परे इन्द्रियपुर गांऊ।
बहुत सुहावन, सुन्दर लोगैं, सबद रूप रस परम संजोगैं॥
तासों माया के बस बहुतै लोग।
जोग न चाहै कीन्हों. चाहैं भोग॥
नूरमुहम्मद : अनुराग बांसुरी पृ० १३१

२. पाचों भूत रहें नित घेरे, कोह भरे चख सोंह न हेरे।
जोगी परा पांच बस ताते भा बिकरार।
पांचो नाच नचावहीं आपनि आपनि बार॥
चित्रावली : उसमान पृ० १३१।

३. कया भवन महं बहइ नित, पांच झकोरा बाउ।
एहि विधि किरपा ओट के, दीपक बुद्धि बचाउ॥
चित्रावली: उसमान पृ० २१६।

उपमा भी दी गई है[1]। वैसे तो ये सूफ़ी कवि साधक के मार्ग में जिन बिघ्न बाधाओं की कल्पना करते हैं लगभग उन सभी को माया का स्वरूप कहा जा सकता है। जहां कहीं भी यह मिथ्या संसार अपने आकर्षण से साधक को मोहित या अग्रसर होने से विरत करना चाहता है वह सब माया ही है।

इस्लाम में इस प्रकार सद् से असद् की ओर प्रेरित करने वाले तत्व को 'शैतान' कहा गया है, किन्तु सूफ़ियों की कृपा दृष्टि इबलीस पर भी है। इसका वर्णन पीछे हो चुका है।

माया के स्वरूप की कल्पना हिन्दी के सूफ़ी कवियों ने दो रूपों में की है। एक तो शरीर या काया के अन्तर्गत ही वर्तमान 'नफ़्स' अहं या विषय वासना की भावना और दूसरा मिथ्या बाह्य-जगत का आकर्षण। बाह्य जगत का ऐश्वर्य, सौन्दर्य और दिखावा व्यर्थ है। कामिनी, कांचन के द्वारा ही माया अपना प्रभाव डालती है। अतः इनके प्रति आकर्षित न होना ही बुद्धिमानी है।

इस संसार का सुख तथा शारीरिक विन्यास सभी झूठे लोभ हैं। इनकी ओर आकर्षित होना मिट्टी की ओर ध्यान देने के बराबर है, साधक को धन, गृहिणी एवं राज्य का परित्याग करना चाहिये क्योंकि यह मिथ्या मोह हैं, माया के स्वरूप हैं, साधक को पथभ्रष्ट करने में सहायक हैं[2]।

इस संसार का ऐश्वर्य, सुख सम्पत्ति सब मिथ्या है। अन्त समय इनमें से एक भी शरीर का साथ नहीं देतीं। यह सब संसार असार है। मृत्यु निकट आने पर संसार की नश्वरता ज्ञात होती है। जिस राजपाट में जन्म भर ध्यान लगा रहा वही अन्तकाल में काम न आया। नगर, कोट, घरबार, देश, कटक, गृहिणी, सुत, वित्त कोई साथ नहीं देता फिर भी यह सारा संसार पागल होकर इसी में लग्न है और यह नहीं समझता कि ये सब मिथ्या माया के स्वरूप हैं[3]।

---

१. हम बटमार न छांड़े काहू, दव सबैं जो चहैं बनाऊ।
कासिमशाहः हंसजवाहिर पृ० २१।

२. मोहिं यह लोभ सुनाव न माया, काकर सुख, काकर यह काया॥
जो निआन तन होइहि छारा, माटिहि पोखि मरै को मारा।
जोगिहि काह भोग सों काजू, चहै न धन धरनी औ राजू।
जायसी : पद्मावत पृ० ५४

३. वेदन भई प्राण अकुलाना, तब मन पूछ काह पछिताना।
जनम न राजपाट चित लावा, अन्त काल सो काज न आवा।
तब लग काल जो आय तुलाना, निकसा प्राण छांड़ अस्थाना।
रहिगा नगर कोट घर बारा, रहिगा देश औ कटक कुंभारा।
रहिगा राज पाट रनिवासा, रहिगा बालक जेहि मन आसा।
द्रव्य भंडार चला सब द्वारे, जहाम हारजात जो आरे।
जग बावर अरझा तेहि पहियां, अन्तनिदान होय सब कहियां।
कासिमशाह : हंसजवाहिर पृ० १४।

इस संसार में, रूप पर सभी आकर्षित होते हैं किन्तु यह रूपाकर्षण भी मिथ्या है क्योंकि अवस्था के साथ इसमें परिवर्तन होता रहता है। रूप या नारी का आकर्षण भी माया का एक स्वरूप है जो नश्वर है। यूसुफ जुलेखा एवं प्रेमरस के रचयिताओं ने रूप-सौन्दर्य की क्षणभंगुरता का वर्णन किया है। जुलेखा अनिन्द्य सुन्दरी थी किन्तु वृद्धावस्था में उसका सौन्दर्य नष्ट ही नहीं, वीभत्स भी हो गया था[1]।

इस जगत में सत और असत की हाट लगी हुई है जो कोई सत या माया से रहित वस्तुयें ग्रहण करता है वह सुख प्राप्त करता है, जो असत की ओर आकर्षित हो जाता है वह केवल पछता कर रह जाता है[2]।

जीवन का लक्ष :

सूफ़ी साधक इस दृश्यमान जगत से परे परमसत्य की खोज में रहता है। इस जगत से ऊपर एक चिरन्तन, चैतन्य सत्ता है जो भूत मात्र में परिव्याप्त एवं अन्तर्भूत शाश्वत आत्मा है। अज्ञान के कारण जीव परमसत्य के वास्तविक स्वरूप को समझ नहीं पाता। परमतत्व को पहचानने के पूर्व स्वयं को पहचानना या आत्मज्ञान आवश्यक है। जो अपने आपको पहचानता है वही परमात्मा को भी पहचानता है। अहं ही समस्त भ्रामक धारणाओं का मूल है। अहं वृत्ति ही, अनेकत्व की सृष्टि करती है। परमसत्ता अन्तर्दृष्टि से ही दृश्यमान होती है।

कुरान में इस जीवन का उद्देश्य कुरान के नियमों का पालन करना, मुहम्मद साहब को रसूल मानना एवं ईश्वर के एकत्व में विश्वास रखना है। इसके अतिरिक्त मुक्ति या मुक्ति के स्वरूपों की कल्पना कुरान में नहीं है। मुक्ति की भावना को संसार की अनित्यता, जीवन की दुखमयता सदैव से प्रोत्साहित करती रही है। वैदिक काल में इन्द्रादि देवताओं से जीवन के दुःख, विघ्न तथा आशंकाओं से निवृत्त होने की प्रार्थना प्रमाणित करती है कि यही जीवन का उद्देश्य था। संसार को दुःखपूर्ण मानने वाला बौद्ध दर्शन भी दुःख निवृत्ति को साध्य मानता है। चार्वाक दर्शन इस जीवन के सुख को ही श्रेय समझता है। सिद्ध कण्हपा के अनुसार 'जरामरणं' से मुक्ति प्राप्त करना ही सिद्धि है। तात्पर्य यह कि परमतत्व की प्राप्ति तथा सांसारिक क्लेश संताप एवं दुःखों के उच्छेद द्वारा आनन्द की उपलब्धि जीवन का उद्देश्य रहा है।

---

1. पूछेसि कित गई तोर जवानी, कहा सोग तोरे भई हानी।
पूछेसि कित गा रूप निरारा, कहा सोग तोरे मिल हारा।
पूछेसि अधर कैस मुरझाने, कहा विरह तरकन कुम्हलाने।
पूछेसि दन्त तोर रतनारे, कित गये जगत मोह जिन मारे॥
शेख रहीम : प्रेमरस।

२. जगत की लगी बजार है, सत असत बिकाय।
सत बिसाहे सुख लहै, लिय असत पछिताय।
शेख रहीम : प्रेमरस।

सूफ़ियों ने मानव जीवन के उद्देश्य को दो प्रकार से समझा है, एक अभाव बोधक और द्वितीय भावबोधक। अभावात्मक सत्ता का नाम 'फ़ना' विलय या ध्वंस है; तथा भाव बोधक अवस्था को 'बक़ा' नाम से अभिहित किया जाता है। 'फना' 'बक़ा' की पूर्व अवस्था है। फना या बक़ा इन दोनों की चर्चा सूफ़ी साहित्य में होते हुये भी इनके अर्थों के सम्बन्ध में सभी आचार्य एकमत नहीं हैं। सैयद खराज के विचार से फ़ना का अर्थ अबूदियात या परमतत्व के ध्यान में निमग्न होना है।[1]

अलीउल हुज्विरी के विचार से सैयद खराज ही इस विचार के प्रवर्तक थे। हुज्विरी के विचार से अपने पृथक अस्तित्व एवं कार्यों का ध्यान रहना साधक के हीनत्व का द्योतक है। वह वास्तविक बन्दगी तभी प्राप्त करता है जब साधक अपने पृथक अस्तित्व एवं महत्व को विस्मृत करके केवल ईश्वर के सौन्दर्य, गुण, शक्ति तथा महानता का ही चिन्तन एवं स्मरण करता है। उसके अहंत्व के नाश की स्थिति फ़ना और ईश्वर चिन्तन की स्थिति ही बक़ा है। जब इन्सान अपने अस्थिर एवं अनित्य सम्बन्धों से रहित हो जाता है तो स्वभावत: वह ईश्वर के अनुराग एवं अधीनत्व में अवस्थित हो जाता है[2]।

कुछ सूफ़ी आचार्य फ़ना का अर्थ साधक का मानवीय गुणों का विस्मरण मानते हैं। कुछ आचार्यों का मत है कि फ़ना का तात्पर्य 'अनियात' या अहं भावना का लुप्त होकर ईश्वर की सत्ता में अवस्थित होना है।[2] ख्वाज़ा खां का कहना है कि फ़ना में साधक के गुण, कार्य एवं चेतना; ईश्वर के गुण, कार्य एवं चेतना का स्वरूप धारण कर लेते हैं[3]।

फना के सिद्धान्तानुयायियों ने इसके तीन स्वरूपों का वर्णन किया है (१) कर्बे फराइदा (Proximity of obligations) (२) कर्बे नवाफिल (Proximity of Supereogations) (३) कर्बे जमाबयानुल (The union of two proximities)।

प्रथमावस्था में सूफ़ी साधक कोई भी कार्य अपना समझ कर नहीं करता, वह ईश्वर के हाथ का खिलौना मात्र रह जाता है। वास्तव में ईश्वर ही उसके द्वारा कार्य करता है। दूसरी अवस्था में सूफी साधक प्रतिनिधि की भांति कार्य करते हैं। तीसरी अवस्था में वह न तो माध्यम रहता है और न वह परमसत्ता में पूर्ण रूप से विलीन हो पाता है। प्रो० निकोल्सन इसी विचार से सहमत ज्ञात होते हैं। उनके अनुसार 'आनन्दमग्न सूफ़ी जो संसार के प्रत्येक कार्य, व्यापार वस्तुओं आदि के अस्तित्व से ऊपर उठकर, उस एक

---

1. Sufism its Saints and Shrines In India. P. 83
A. J, Subhan.
2. Kasfeel - MahJub P. 245
3. Studies in Tasawwaf P. 73
Khaja Khan.

परमतत्व तक पहुँच जाता है, वह या तो अपने अस्तित्व पर विश्वास करता है या स्वयं को ही परमात्मा मानने लगता है[1] ।'

जिली ऐसे सर्वात्मवादी सूफ़ियों का विश्वास है कि ईश्वर एवं जगत का सम्बन्ध क्रमशः जल एवं बर्फ की भांति एक ही वस्तु के दो रूप होने के समान है, दोनों ही मूलतः अभिन्न हैं। इस कारण 'फ़ना' का अर्थ मानव का ईश्वर में वस्तुतः विलीन होना ही समझा जा सकता है। 'बक़ा' का अभिप्राय ईश्वरतत्व में अवस्थित होना माना जा सकता है। शबिस्तारी भी फना के स्वरूप के सम्बन्ध में जिली से सहमत ज्ञात होता है किन्तु दोनों के जगत सम्बन्धी दृष्टिकोण भिन्न होने के कारण अन्तर आ गया है। शबिस्तारी के अनुसार ईश्वर एवं जगत दोनों वस्तुतः अभिन्न नहीं हैं। वस्तुतः ईश्वर ही एकमात्र सत्ता है, जगत मिथ्या एवं मरीचिका मात्र है। अतएव 'फना' शब्द का अर्थ मानवोचित गुणों का विलय होना और 'वक़ा' का अर्थ ईश्वर के स्वरूप एवं गुणावली के अन्तर्गत स्थिति पा लेना है पहले के अनुसार जहाँ एक मृण्मय घट नष्ट हो जाने पर पुनः मृत्तिका का रूप ग्रहण कर लेता है वहां दूसरे के अनुसार जल के ऊपर पड़ने वाला सूर्य का प्रतिबिम्ब जल के न रहने पर सूर्य ही में मिल जाता है। दूसरा मत हिन्दी के अधिकांश सूफ़ियों को मान्य है।

रूमी का मत इन मतों से भिन्न है उसके अनुसार ईश्वर एवं जीव स्वरूपतः भिन्न किन्तु गुणतः अभिन्न हैं। अतः फना का अर्थ गुणावली का नाश एवं 'वक़ा' का अर्थ ईश्वरीय गुणों का लाभ मानना चाहिये।

सिद्धान्त रूप में फना या वक़ा के सम्बन्ध में सूफ़ियों में यही मत प्रचलित है। हिन्दी के सूफ़ी कवि इन शब्दों का प्रयोग अपने काव्य में नहीं करते हैं किन्तु एकत्व की भावना लगभग उन सभी को मान्य है। इसी एकत्व के प्रदर्शन के हेतु वे नायक, नायिका का पाणिग्रहण करवाते हैं, अन्त में कभी कभी कथा को दुखान्त करके, सती की भावना के द्वारा आत्मा की परमात्मा में अवस्थिति की भी चर्चा करते हैं।

इनका विश्वास है कि वास्तव में 'अहंत्व' का विलयन ही फ़ना एवं परमसत्ता के चिन्तन एवं ध्यान धारण में मन लगाना ही वक़ा है।

नूरमुहम्मद ने विलय होने की, पृथक अस्तित्व न रहने की, भावना का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। 'अहंत्व के नाश हो जाने के बाद मैं अपने को खोजने का प्रयास करती हूँ, किन्तु मुझे कहीं अपनापन दृष्टिगोचर नहीं होता केवल वही दृष्ट

---

१. 'The enraptured Sufi who has passed beyond the illusion of subject and object and broken through to the oneness can either deny that he is anything or affirm that he is all thing."

R. A. Nicholson.

आता है। मेरा 'अपनापन' या पृथकत्व, उसी प्रकार विलीन हो गया जैसे जल के मध्य बनाशा[1]।"

'प्रेमरस' में शेखरहीम भी इसी प्रकार लिखते हैं कि प्रेमा और चन्द्रकला के मिलन से दोनों के बीच कोई अन्तर न रहा ज्योति और उसकी परछाहीं दोनों मिलकर एक हो गईं[2]।

संक्षेप में सूफ़ी कवियों के काव्य में व्यक्त विचारों के अनुसार नित्य पारमार्थिक सत्ता केवल एक ही है। संसार के अनेकत्व में उस एक का ही आभास मिलता है। परमात्मा का ज्ञान इन्हीं व्यक्त नामों और गुणों के द्वारा हो सकता है। "शुदूदिया" सम्प्रदाय में मान्य इस बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव का स्पष्टीकरण भी इन सूफ़ियों के काव्य में यथेष्ठ हुआ है। "वजूदिया" सम्प्रदाय में मान्य ईश्वर और सृष्टि के मध्य अंशी-अंश भाव का निर्देश भी इन कवियों ने किया है।

सूफ़ी अद्वैतवाद के अन्तर्गत आत्मा और परमात्मा के द्वैत-त्याग को अधिक लेते हैं। इस सारे जगत में उस परमसत्ता के ही सौन्दर्य, शील एवं गुण का दर्शन वे करते हैं। परमेश्वर और सृष्टि के इस व्यापक व्याप्य सम्बन्ध पर इन सूफ़ियों ने बहुत कुछ लिखा है।

सृष्टा की अद्भुत शक्तियों का उल्लेख ये कवि प्रचुरता से करते हैं। अद्वैतवाद के दोनों पक्षों आत्मा और परमात्मा की एकता तथा परमात्मा और जगत की एकता का निदर्शन सूफी काव्य में हुआ है। साधना के क्षेत्र में जहां उनकी दृष्टि केवल आत्मा और परमात्मा के एकत्व पर रही है, वहीं भावक्षेत्र या काव्यक्षेत्र में वे प्रकृति की नाना विभूतियों में उसे व्याप्त पाते हैं। यही कारण है कि सूफी कवियों ने लौकिक सम्बन्धों एवं भौतिक सौन्दर्य का निरादर नहीं किया। संसार त्याग की भावना का वर्णन भी सूफ़ी काव्य में अधिक नहीं है। ये सूफी भौतिकता को ही आध्यात्मिकता का आधार मानते हैं, इसीलिये केवल संसार के मिथ्या स्वरूप के प्रति ममत्व की ही इन्होंने अवहेलना की है। इनकी संसार त्याग की भावना पर भारतीय प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है।

---

1. आपुहि हेरत हौं घट माहीं, तेहि पावत हौं आपुहि नाहीं।
   आपु हेराइ गई मैं कैसे, जल के बीच बतासा जैसे।
   नूरमुहम्मद : अनुराग बाँसुरी पृ० १८२।

2. रहा न कछु अन्तर तेहि माँही।
   एकै भई जोत परछाहीं॥
   प्रेमरस : शेखरहीम।

४

सूफ़ी-साधना

साध्य-सिद्धि के हेतु जिन साधनों का उपयोग साधक को करना पड़ता है उन पर देशकाल का स्पष्ट प्रभाव होता है। तसव्वुफ़ या सूफ़ीमत को मुस्लिम संस्कारों से ओतप्रोत परिस्थितियों का सामना करना पड़ा; अतः सूफ़ियों ने इस्लाम के परिधान में ही अपनी साधना का विकास किया। आरम्भ में परिस्थिति सूफ़ी मत के विरोध में थी किन्तु धीरे-धीरे जैसे परिस्थिति इनके मनोनुकूल होती गई, सूफ़ी अपनी साधना में अग्रसर हुये।

सूफ़ी साधक इस सृष्टि में परमसत्ता को प्रतिबिम्बित या प्रकट देखता है। उसकी साधना उसी परमसत्ता में लीन (फ़ना) होकर अवस्थित (बक़ा) हो जाने के लिये होती है। अपने इस प्रयासकाल को सूफ़ी 'मार्ग' या (साधना पथ) कहता है। इस मार्ग पर चलने वाला साधक (सालिक) यात्री होता है। मारिफ़त या 'परमज्ञान' प्राप्त करने के लिये सालिक, तरीक़त के मार्ग पर अग्रसर होकर, कुछ सोपानों (मुकामातों) और अवस्थाओं (हाल) को पार करके अपना अभीप्सित (फनाफ़िल हकीक़त) प्राप्त करता है, या परमसत्ता में अपने अस्तित्व को लीन कर देता है।

सूफ़ी साधक की क्रमशः चार अवस्थायें मानते हैं:—

(अ) शरीअत अर्थात् धर्मग्रन्थों के विधिनिषेध का सम्यक पालन, या कर्मकाण्ड।

(ब) तरीक़त अर्थात् बाह्य क्रिया कलापों से परे होकर केवल हृदय की शुद्धता द्वारा परमसत्ता का ध्यान। इसे उपासना काण्ड कह सकते हैं।

(स) हक़ीक़त भक्ति या उपासना के प्रभाव से साधक को परमसत्य का सम्यक ज्ञान एवं उसके फलस्वरूप साधक का तत्वदृष्टि सम्पन्न होना। इस अवस्था को ज्ञान काण्ड कह सकते हैं।

(द) मार्फ़त् या सिद्धावस्था जिसमें कठिन उपवास या मौन साधना द्वारा साधक की आत्मा परमात्मा में विलीन होने की क्षमता प्राप्त करती है।

शरीअत या कर्मकाण्ड के मार्ग पर चलने वाले सूफ़ी, और इस्लाम के अनुयायी साधारण मुसलमान में कोई अन्तर नहीं है। किन्तु साधारण इस्लामानुयायी की भाँति

शरीअत, सूफ़ियों के लिये जीवन का साध्य नहीं है। उससे केवल जीवन के साध्य परमसत्ता की प्राप्ति की उत्सुकता प्रादुर्भूत होती है पश्चात् सालिक या साधक को साधना मार्ग में अग्रसर होने के लिये मुरशिद या गुरु की आवश्यकता होती है। इस्लाम के विधि विधानों में सलात (प्रार्थना) ज़कात (दान) सौम (उपवास) एवं हज्ज (तीर्थयात्रा) मुख्य हैं। पहले ही बताया जा चुका है कि सूफ़ियों ने अपनी साधना को सदैव इस्लाम धर्म के सिद्धान्तों से परिपुष्ट करना चाहा है। मुहम्मद साहब के प्रादुर्भाव के समय अरबों में संगठन की आवश्यकता थी। मुहम्मद साहब का विधान अधिकांश इसी संगठन पर दृष्टि रखता है। इन हिन्दी के सूफियों ने कहीं भी विधिविधान का विरोध नहीं किया यद्यपि इनकी विस्तृत चर्चा भी इन्होंने नहीं की, क्योंकि कर्मकान्ड की अपेक्षा स्वच्छन्द प्रेमी सूफियों को हृदय की शुद्धि और प्रिय का ध्यान, स्मरण एवं चिन्तन अधिक आकर्षित करता था।

जायसी ने साधक की इन चारों अवस्थाओं का उल्लेख अखरावट में किया है।[1] 'प्रेमरस' के लेखक शेख रहीम को भी इन चारों अवस्थाओं का ज्ञान था। वे लिखते हैं कि पहले शरीयत के मार्ग पर चलकर साधक तरीक़त की अवस्था प्राप्त करता है। तरीक़त में सफल हो जाने के पश्चात् उसे हक़ीक़त का ज्ञान होता है और यदि वह मारफ़त प्राप्त करलेता है तो परमसत्ता से मिलन संभव हो जाता है।

शरीयत के अन्तर्गत सलात, जकात, सौम एवं हज्ज़ का समावेश है। इसका वर्णन भी शेख रहीम ने किया है।[2] पांच बार कलमा पढ़कर दिन में नमाज़ करना प्रधान कर्तव्य है। सूफ़ियों को यद्यपि हृदय-शुद्धि से विशेष अर्थ रहता है, फिर भी उन्होंने इन बाह्य विधि विधानों की कभी उपेक्षा नहीं की। उन्होंने तहारत एवं नमाज दोनों की ही भावात्मक व्याख्या की है। हुज्विरी का कहना है कि 'अदावे जौहिर' या बाह्य आचार विचार का पालन अत्यन्त आवश्यक है। तहारत के सम्बन्ध में उसका कहना है कि बाह्य और आन्तरिक शुद्धि साथ-साथ होनी चाहिये। प्रार्थना के साथ नफ्स का संहार,

---

१. कही तरीकत चिश्ती पीरू, उधरित असरफ औ जंहगीरू।
राह हकीक़त परै न चूकी, पैठि मारफत मार बुडूकी।
अखरावट : जायसी ग्रन्थावली पृ० ३२१।
राम चन्द्र शुक्ल

२. यही शरीयत पन्थ कहावै, मिला चाहै सो पहलै धावै।
पहिले पकड़ सरीयत राहां, पहुंचो ठांव तरीकत जाहां॥
फेरि तरीक़त नाधि के देख हक़ीकत आप।
होय मारफत जो तुझे वासों होय मिलाप॥
टहल अकारथ जाग सब, मिथ्या होय बढ़न्त।
रोजे तीस सहित सत तेहा, बिना अन्न जल भुरवै देहा।
चालिस अंस मंह एक अलग्ना। रब के नाव देव तुम दाना।
पत्रेन हज्ज का कीजै, जो होय सके तो यह फल लीजै।
शेख रहीम : प्रेम रस।

भौतिक इच्छाओं का दमन, हृदय की शुद्धि, और एकान्त चिन्तन आवश्यक है। इसी भावना का समर्थन शेख रहीम ने भी किया है जब वे कहते हैं कि केवल 'हाजिर' या परमसत्ता की प्रार्थना में उपस्थित हो जाने से ही फल प्राप्त नहीं होता यदि मन या मानसिक वृत्तियां कहीं और हैं। शरीर और मन का एक साथ रहना आवश्यक है। केवल हाजिर होना व्यर्थ और ढोंग है।[1] इमाम गज्जाली ने अपने ग्रन्थ 'इहयाउल उलम' में एक अध्याय तहारत और नमाज पर भी लिखा है। मक्के की ओर मुंह करके नमाज़ पढ़ना परमसत्ता या अल्लाह के निवासस्थान की ओर मुंह करना है। सूफी अपनी श्रद्धा के अनुसार नमाज पढ़ते समय उठने बैठने की शारीरिक क्रियाओं में अन्तर भी कर लेता है, वह अपने हृदय की विनम्रता एवं पूर्ण समर्पण की भावना को अपने सिर से टोपी उतार कर मक्के की दिशा में रखकर करता है। एक और प्रकार का परिवर्तन भी इन्हें नमाज़ 'सलातुल माकूस' में मान्य है। इस प्रकार की प्रार्थना पर हठयोग का प्रभाव ज्ञात होता है, क्योंकि इस अवस्था में सूफी साधक किसी एकान्त स्थान, कुयें ऐसी जगहों में सिर के बल लटककर कलमा पढ़ता है। शरीयत के इस प्रथम अंग, नमाज का स्पष्ट उल्लेख जायसी एवं शेख रहीम को छोड़कर अन्य कवियों ने नहीं किया;[2] किन्तु अन्य कवियों ने इस्लाम की इसी भावना के आधार पर स्थित नवीन उद्भावनायें की, जिनके अन्तर्गत तिलवत (कुरान पाठ), अवराद (नित्य प्रार्थनायें), जिक्र (स्मरण), फिक्र (चिन्तन), समा (कीर्तन), आ सकते हैं। इन सभी अवस्थाओं से लक्ष्य वही सिद्ध होता है जो नमाज़ से किन्तु 'नमाज़' के साथ उठने बैठने एवं उन्मुख होने के कुछ दृढ़ नियम लगे हुये हैं जबकि स्वच्छन्द सूफी अल्लाह को सर्वव्यापक मानते हैं। ये अपनी मौज में हर समय उसी की लौ लगाये रहते हैं। साधक की सीमित शक्ति असीम की प्राप्ति के लिये कुछ साधनों की अपेक्षा रखती है। साधना की 'शरीयत' अवस्था में उसे इन्हीं तिलवत, (कुरान पाठ) जिक्र (स्मरण) फिक्र (चिन्तन) समा (कीर्तन) अवराद (नित्य प्रार्थना) आदि की सहायता आवश्यक होती है। वास्तव में इन्हीं तत्वों का वर्णन हिन्दी के सूफी कवियों ने नमाज की अपेक्षा अधिक किया है, जिसकी चर्चा हम यथास्थान आगे करेंगे।

---

१. पन्थ सौंह से निर्मल घाटा, कहौं विचार मिलन की बाटा।
कलमे पांच सांच मन लाई, भजले नित जो चहै भलाई।
पांच जून हाजिर दरबारा, ठाढे झुके बैठ हर बारा।
फज्रिर जुहुर और असर बखाना, मग़रिब इशाजून पहचाना।
सांचा मन और दृष्टि पुनीता, यही रहीम मिलन की रीता।
हाजिर भये न फल मिले जो रहीम मन अन्त।

शेख रहीम : प्रेम रस।

२. ना नमाज है दीन क थूनी। पढ़ै नमाज़ सोइ बड़ गूनी।

जायसी : अखरावट पृ० ३२१।

शरीयत प्रथमावस्था है, इसका संकेत भी जायसी ने किया है।[1] शरीयत की प्रथम सीढ़ी पर पैर रक्खे बिना कोई साधक अग्रसर नहीं होसकता। शरीयत के नियम पालन से परिपक्व साधक या मुरीद को मुरशिद या गुरु ग्रहण करता है, यदि साधक ने विधि विधानों के सम्यक् पालन के द्वारा स्वयं को तरीक़ा ग्रहण करने के योग्य बना लिया है, तो वह गुरु-दीक्षा का अधिकारी हो जाता है। मुरशिद उसे एक निश्चित मार्ग बताकर उसमें परमात्मा के प्रेम की चिनगी सुलगा देता है। वह परमसत्ता की प्राप्ति के लिये बेचैन होकर अग्रसर होता है। वह शरीयत की अवस्था पार करके तरीकत के क्षेत्र में पदार्पण करता है। 'नफ़्स' या अहंभावना के साथ जिहाद करते हुए इन्द्रियों के द्वारा उस परमात्मा तक पहुँचने के मार्ग को ही 'तरीक़ा' कहते हैं। इस मार्ग का अनुसरण करने वाले को भूख प्यास सहना, एकान्त एवं मौन रहना चाहिये, इस प्रकार वह अपनी चित्तवृत्तियों के विरोध में सफल हो पाता है। नफ़्स को परास्त करके ही उसके हृदय में 'म्वारिफ' या परम ज्ञान का उदय होता है और मुरीद (साधक) आरिफ़ (प्रज्ञा-सम्पन्न) कहलाने योग्य हो जाता है; किन्तु मुरीद को म्वारिफ प्राप्त होने के पूर्व कुछ मुक़ाम (पड़ाव या सोपान) पार करने पड़ते हैं। इन सोपानों का नाम क्रमशः तौबा (अनुताप), ज़ुहद (स्वेच्छा दारिद्रय), सब्र (संतोष) शुक्र (धैर्य्य एवं कृतज्ञता) रिजाअ (दमन), तव्वकुल (कृपापर पूर्ण विश्वास) रजा (वैराग्य या तटस्थता), मुहब्बत या इश्क़ है। इन सोपानों के द्वारा साधक की आत्मशुद्धि होती है। तौबा या अनुताप से पीड़ित मानव ही संसार के भोगों से 'विरत' हो सकता है। अनुताप यदि भय न होकर प्रेमज हो तो अधिक अच्छा होता है। सूफी प्रेमकथाओं का नायक, परमात्म स्वरूपा नायिका के प्रेम में व्याकुल होकर सुख ऐश्वर्यों की ओर से विरक्त होता है। इसमें तौबा की भावना वर्तमान है। तौबा या अनुताप के पश्चात् साधक आत्मसंयम की पूर्ण चेष्टा करता है। वह नफ़्स या जड़ आत्मा के ऊपर विजयी होना चाहता है। उपवास, मौन आदि शारीरिक कष्ट एवं मानसिक संयम के द्वारा साधक इसमें सफल होता है। आत्मसंयम के पश्चात् साधक में वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार वैराग्य, कृतज्ञता एवं ईश्वरानुकम्पा पर पूर्ण विश्वास, इन सोपानों के प्रतिफल हैं। साधक इन सप्त सोपानों के द्वारा आत्मशुद्ध, सांसारिक विषय-वासनाओं से विमुक्त तथा यथालाभ संतोष, एवं परमात्मा की कृपा पर पूर्ण विश्वास करके, प्रेम में निमग्न हो जाता है[2]। इस अवस्था के बाद साधक म्वारिफ या परम ज्ञान ग्रहण करने का अधिकारी हो जाता है। इन सप्त सोपानों को अतिक्रान्त करके साधक अन्य चतुर्विध अवस्थाओं को भी प्राप्त करने का अधिकारी हो जाता है। ये क्रमशः म्वारिफ, इश्क, वज्द एवं वस्ल हैं। 'मारिफत' या परमज्ञान की अवस्था विचारबुद्धि-प्रसूत 'इल्म'

---

१. साँची राह 'सरीअत' जेहि बिसवास न होइ,
   पांव रखै तेहि सीढ़ी, निभरम पहुँचे सोइ।

२. चारि बसेरे सों चढ़ै, सत सों उतरै पार॥
   अखरावट : जायसी पृ० ३२२।

न होकर हृदय-प्रसूत अनुभूति होती है। जिस प्रकार सूर्य के प्रतिबिम्ब को स्वच्छ दर्पण पूर्णरूप से ग्रहण कर उसे अपने में धारण कर लेता है, उसी प्रकार मानव हृदय भी परमेश्वर की प्रत्यक्ष उपलब्धि कर लेता है। मारिफ़त के भावावेगमय रूप का नाम ही 'इश्क़' है। इस 'इश्क़' की तीव्रता से स्वभावतः वज्द (उन्माद या समाधि) की अवस्था प्राप्त होती है। यह साधना मार्ग का उच्चतम सोपान कहा गया है। निरन्तर परमात्म चिन्तन एवं विरह में उन्मत्त साधक को 'वस्ल' या मिलन की प्राप्ति होती है।

हक़ीक़त साधन नहीं साधक की परम अनुभूति है, जिसकी उपलब्धि शरीयत एवं तरीक़त के सम्यक पालन से प्राप्त मारिफ़त के द्वारा होती है; किन्तु कुछ ऐसे सूफी भी हैं जिन्होंने शरीयत एवं तरीक़त को अनावश्यक समझा और उन्हें 'मारिफ' की प्राप्ति अनायास, केवल ईश्वरानुकम्पा से हो गई। ऐसे ही शरीयत के कर्मकाण्ड एवं इस्लाम के नियमों की उपेक्षा करने वाले सूफ़ियों को बेशरा या ज़िन्दीक़ की उपाधि मिली। हल्लाज और इमाम गज़्ज़ाली ने इस मीमांसा के अन्तर्गत लोकों की कल्पना भी की है। सूफ़ियों ने नासूत (नरलोक), मलकूत (देवलोक), जबरूत (ऐश्वर्य लोक), एवं लाहूत (माधुर्य लोक) चारों का स्वागत किया और साधक को इन्हीं लोकों में विराम करता हुआ परमसत्ता में लीन होता दिखाया है। शरीअत का पालन करके मोमिन (साधक) नासूत में, मुरीद तरीक़त का पालन करके मलकूत में, सालिक मारिफ़त में मग्न होकर जबरूत में, और आरिफ हक़ीक़त का चिन्तन करके लाहूत में लीन हो जाता है। यही सूफी साधना की पराकाष्ठा है। कुछ लोग इससे आगे हाहूत लोक (सत्यलोक), की कल्पना भी करते हैं किन्तु सूफ़ियों का उस ओर विशेष ध्यान नहीं था। इन चार लोकों की चर्चा हम परमसत्ता का वर्णन करते हुये भी कर आये हैं। वास्तव में चार लोक क्रमशः परमसत्ता का नरत्व की ओर, और मनुष्य का परमसत्ता की ओर अग्रसर होना ही सूचित करते हैं। जब परमसत्ता आत्माभिव्यक्ति की भावना से नर लोक की ओर अग्रसर होती है, तब उसकी इस यात्रा को 'सफरुल हक़' कहते हैं और जब आत्मा परमात्मा की ओर अग्रसर होती है तब उसकी इस यात्रा को 'सफरुल अब्द' कहते हैं। ऊपर जिन चार लोकों की चर्चा हुई है वे ऐसी ही यात्रा की स्थितियों के सूचक हैं। इन लोकों की गणना 'हाल' के अन्तर्गत भी होती है। भगवत्कृपा पर निर्भर साधक की अवस्थाओं को हाल कहते हैं। साधक को 'मुक़ामातों' की प्राप्ति स्वयं अपने प्रयत्न से होती है जबकि 'हाल' की उपलब्धि परमेश्वर की कृपा का फल है। वास्तव में 'हाल' भावविशेष का द्योतक है। हाल की अवस्था में साधक अपनी ओर से मृतवत् होकर भगवत्प्रसाद का अधिकारी हो जाता है। जायसी ने साधक की इसी विस्मृतावस्था की ओर संकेत किया है[1]। आचार्य पं० रामचन्द्रशुक्ल के अनुसार इस हाल या प्रलयावस्था के दो पक्ष हैं

---

1. कया जो परम तत्त मन लावा, घूम माति, सुनि और न भावा।
   जस मद पिए घूम कोइ, नाद सुनै पै घूम।
   तेहि तें बरजे नीक है, चढ़े रहसि कै दूम॥ जायसी

त्यागपक्ष और प्राप्तिपक्ष । त्यागपक्ष के अन्तर्गत (१) फना अपनी अलग सत्ता की प्रतीति के परे हो जाना (२), फकद (अहंभाव का नाश), और सुक्र (प्रेममद) है । प्राप्ति पक्ष के अन्तर्गत (१) बक़ा (परमात्मा में स्थिति) (२) वज्द (परमात्मा की प्राप्ति) और (३) शह्व (पूर्ण शान्ति) है । [1]

पिछले पृष्ठों में शरीयत के क्षेत्र में जिन सात सोपानों का वर्णन किया गया है उनकी पराकाष्ठा इश्क है । ये सोपान प्रत्येक मुस्लिम के लिये हैं जो शरीअत के आधार पर मोहब्बत चाहते हैं । सूफियों का साध्य फ़ना है मुहब्बत नहीं । मुहब्बत तो साधना मात्र है, अतः सूफियों के अनुसार इन सोपानों का क्रम दूसरा; इन्हें अबूदिया (एकनिष्ठा) इश्क (प्रेम), जहद (स्वेच्छा त्याग), म्वारिफ़ (साधन चतुष्टय सम्पन्न), वज्द (आत्म विस्मृति), हकीक (परम ज्ञान), और वस्ल कहते हैं । अबूदिया की स्थिति में साधक की आत्मा पश्चाताप से पूर्ण होती है । उसे अपने कृत्यों पर ग्लानि होती है और वह परमसत्ता की प्राप्ति एवं नियमों के श्रद्धापूर्वक पालन के लिये तत्पर हो जाता है । जब मुरीद इस प्रकार पश्चाताप की अग्नि में जलकर शुद्ध हो जाता है तो मुरशिद फिर उसमें इश्क (प्रेम) का प्रादुर्भाव करता है । परमसत्ता का प्रेम ही उसका ध्येय होता है । साधक निरन्तर परमात्मा के जिक्र या संकीर्तन में लग्न रहता है । उस एक के अतिरिक्त न तो उसे किसी की चाह रहती है और न वह कुछ और प्राप्त करना चाहता है । वह दारिद्रय एवं संन्यास-भाव धारण कर लेता है । साधक का दारिद्रय केवल धनाभाव ही सूचित नहीं करता प्रत्युत धन की लालसा का अभाव भी इंगित करता है । अल सराज का कहना है कि 'निर्धन ही संसार में सबसे अधिक धनी है क्योंकि वे दान की अपेक्षा दाता के प्रेम को श्रेय समझते हैं ।'[2] ज़हद की अवस्था में परमसत्ता के प्रेम में तल्लीन साधक सांसारिक इच्छाओं और वासनाओं का दमन करता है । यह अवस्था शुद्धि की अवस्था है जिसमें वह अपने मन, वचन और काया की शुद्धि में तत्पर रहता है । इस स्थिति में वह जिस प्रकार धुयें से पूर्ण शुद्ध और प्रकाशवान लौ का जन्म होता है उसी प्रकार पूर्ण शुद्ध एवं निर्लिप्त हो जाता है, तभी वह आगे के रहस्यात्मक मार्ग पर अग्रसर हो पाता है । चित्तवृत्तियों के निरोध से प्रज्ञा या म्वारिफ का आविर्भाव होता है । यह चतुर्थ स्थिति है । परमज्ञान भी दो प्रकार का होता है एक तो इल्मी (ज्ञानजनित) दूसरा हाली (समाधिजनित) । परमात्मा ने मनुष्य की रचना इसी विचार से की थी कि वह उसे जान सके, उसकी आराधना कर सके और इसी उद्देश्य की पूर्ति

---

१. जायसी ग्रन्थावली भूमिका पृ० १४३ ।
आ० रामचन्द्र शुक्ल ।

२. Al-Saraj. Kitab-al-Luma P. 48.
Quoted in Margaret
Smith's Rabia P. 74.

इस अवस्था में होती है[1]। मारिफत के बाद वज्द की स्थिति आती है जिसमें साधक को उल्लास का अनुभव होता है। वह निरन्तर जिक्र में इसीलिये तल्लीन रहता है कि शीघ्र ही उस परमात्म-मिलन सुख का अनुभव हो। आरिफ अपने अहं का विस्मरण आरम्भ कर देता है। उसे परमसत्य का आभास होने लगता है। उसे हक़ीक की प्राप्ति हो जाती है। इसी स्थिति को हक़ीकत कहते हैं। वह पूर्ण विश्वास या तव्वकुल की भावना से पूर्ण हो जाता है। हकीक का आभास मात्र मिलने से साधक और अधिक व्याकुल हो जाता है और तीव्र व्याकुलता के बाद ही उसे 'वस्ल' मिलन की स्थिति प्राप्त होती है। इस स्थिति में साधक परमसत्ता का प्रत्यक्ष साक्षात्कार करता है और उसे फना एवं बक़ा की प्राप्ति हो जाती है। साधक को अपने पृथक अस्तित्व का ध्यान नहीं रहता, परमसत्ता और साधक का ऐसा सम्बन्ध हो जाता है कि दोनों एक दूसरे से सन्तुष्ट रहते हैं। परमात्मा के कार्यों में पूर्ण विश्वास मानव का होता है, एवं साधक के कृत्यों पर कृपादृष्टि परमात्मा की होती है[2]।

निकोल्सन ने कुछ सूफ़ी आचार्यों के द्वारा सूफ़ी साधना के अन्तर्गत तीन यात्राओं की समाविष्टि का भी उल्लेख किया है। इनमें से प्रथम (१) सैरे इला इल्हा है। इस अवस्था में सूफ़ी साधक संसार की ओर से विमुख होकर सृष्टिकर्ता की ओर अग्रसर होता है और वह इस प्रयास में परमात्मतत्व के संसार रूप में प्रकटित होने की अंतिम कड़ियां 'वहदियात' और 'वाहदत' को पार कर के 'हक़ीकती मुहम्मदी' पर रुक जाता है। (२) 'सैरे फिल्लाह' वह अवस्था है जब साधक अपने और परमात्मा में कोई भेद नहीं देखता। यह अहदियात की अवस्था है। इसी अवस्था में पहुँचकर हल्लाज के द्वारा अनलहक ऐसे वाक्य उच्चरित हुये थे। (३) 'सैरानी इल्लाह' का तात्पर्य परमात्मा के गुणों को अंशरूप में वर्णित करके आत्मा का पुन: संसार की ओर प्रत्यावर्तन करना है। इसे फ़ना के बाद की बक़ा स्थिति भी कहते हैं।

आत्मप्रतीति के सहायक :

साधक की शक्ति सीमित एवं क्षीण बताई गई है। वस्तुत: साधक को अपनी शक्ति पर विश्वास न होकर परमेश्वर की कृपा-कोर पर अधिक विश्वास होता है, और वह उसी के सहारे जीवन-लक्ष्य प्राप्त करना चाहता है। परमेश्वर की कृपाप्राप्ति की स्थिति

---

१. 'I only created the genii and mankind that they might know me, that they might serve me'. Sura 51: 561

२. 'That man is a Sufi who is satisfied with whatsoever God does or God will be satisfied with whatsoever he does.'

Asrar-al-Tawhid P. 381 ; Quoted in Margaret Smith P. 88.

ही सूफ़ी साधना में 'हाल' नाम से विख्यात है। किन्तु इस 'हाल' या अनुग्रह प्राप्ति के लिये भी साधक को मुकामात पार करने होते हैं। इन स्थितियों के सफल निर्वाह के लिये उसे कुछ नियमित कृत्य करने होते हैं, जिनका सम्बन्ध क्रियापद्धति, कर्मकान्ड या उपासना-पद्धति से होता है। नमाज़, ज़िक्र, फ़िक्र, समा, जियारत, हज्ज यात्रा, जकात या दान, सौम, रोजा या उपवास, मुराकबा, अवराद, तिलवत एवं मुजाहदा आदिक का सम्बन्ध क्रियापद्धति से है; और गुरु-सम्मान, वली, पीर एवं साधु सम्मान, करामातों पर आस्था, रिवाज या इलयास, परमात्मा की कृपा आदि का सम्बन्ध उपासना पद्धति से है।

ज़िक्र एवं फ़िक्र :

परमेश्वर के गुणों का निरन्तर चिन्तन ही जिक्र है। उसके सत्स्वरूप का ध्यान, उसकी भावना में अपने आप को लीन कर अहंकार का विनाश एवं उससे तादात्म्य अनुभव करने के लिये जिक्र और फिक्र की योजना है। इस्लाम में सलात् की योजना है। नित्य पांच बार मक्के की ओर मुंह करके कलमा पढ़कर नमाज़ करना प्रत्येक इस्लामानुयायी का कर्तव्य है। सूफ़ी इसका विरोध नहीं करते प्रत्युत उसके साथ ही जिक्र एवं फिक्र, तिलवत एवं अवराद का संयोग करते हैं। एकान्त में हठयोग ऐसी क्रियाओं को करते हुये वे मन से कलमा का उच्चारण करते हैं। अत्यन्त विनय के भाव का प्रदर्शन करने के लिये अपनी टोपी उतार कर अल्लाह के चरणों पर मक्के की ओर रखते हैं। इस्लाम की सलात् केवल मुसलमानों की वस्तु है लेकिन सूफ़ियों के जिक्र में वह शक्ति है कि वह देश, काल तथा परिस्थिति के ऊपर उठकर आत्मा और परमात्मा के मिलन में सहायक होती है। उस एक परमात्मा के गुणों जात, जमाल, जलाल एवं कमाल, का निरन्तर चिन्तन तथा स्मरण साधक को साधारण मनुष्य की श्रेणी से उठाकर उच्चस्तर पर पहुँचाने की क्षमता रखता है।

सूफ़ी साधनास्थल में 'जिक्र' का स्वरूप अब भी बृहस्पतिवार की रात्रि को दर्शनीय होता है। यों तो ये सूफ़ी सदैव ही परमात्मा का अलख जगाया करते हैं, किन्तु बृहस्पतिवार की रात्रि को इसकी विशेष योजना होती है। ये साधक 'हू हू' की ध्वनि करते हुये एक विशेष गति से बायें झूमते हैं और हृदय में अपने पृथक अस्तित्व का विस्मरण कर केवल उसी के ध्यान में मग्न हो चेतनाहीन हो जाते हैं। कुछ साधक 'अल्लाह' एवं 'या हू' का उच्चारण करते हुये तथा इन्हीं शब्दों की लय पर ताल देते हुये अन्त में इतने बेसुध हो जाते हैं कि स्वयं चाकू और तलवार से किये गये घाव का भी उन्हें ध्यान नहीं होता। इस प्रकार 'जिक्र' भी, 'अहं-भाव' विस्मरण का साधनमात्र है।

ये सूफ़ी उस परम सौन्दर्यशाली के सौन्दर्य का चिन्तन करते हुये उसी में अवस्थित होने का प्रयास इस उपाय से करते हैं जो भारतीय भक्तिपद्धति के गुणचिन्तन एवं नाम-स्मरण के समान ही ज्ञात होता है। नामस्मरण का महत्व मध्ययुग के साहित्य में सर्वत्र दीख पड़ता है। सगुण एवं निर्गुण धारायें समान रूप से इसका प्रतिपादन करती हैं।

तुलसीदास ने स्पष्ट ही कहा है कि कलिकाल में नामस्मरण समस्त साधनों से महत्वपूर्ण एवं शक्तिशाली है[1]।

आत्मविस्मरण :

'फिक्र' का उद्देश्य आत्मविस्मरण है। 'फिक्र' या चिन्तन के द्वारा समस्त अहंकारमयी मानसिक वृत्तियों का उच्छेद, समस्त व्यक्तिगत आकाक्षाओं और इच्छाओं से अनासक्ति, तथा उस एक प्रिय को पूर्ण आत्मसमर्पण है।

तिलवत :

तिलवत भी ऐसी ही नामस्मरण से सम्बन्धित क्रिया है जिसका अर्थ है 'कुरान-शरीफ' का नियमित रूप से पारायण करने का अभ्यास। इसी जिक्र के अन्तर्गत 'अवराद' नामक क्रिया भी आती है जिसमें सूफ़ियों के कतिपय चुने हुये भजनों का दैनिक पाठ आवश्यक है।

सूफ़ियों के जिन सम्प्रदायों में संगीत का विशेष महत्व नहीं है वे भी कुरान के रागपूर्ण पाठ के द्वारा आनन्द प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। चिश्ती सम्प्रदाय के बाबा फरीद ने 'तिलवत' या कुरान पाठ का बहुत अधिक महत्व बताया है। उनके विचार से कुरान पाठ करना परमेश्वर से वार्तालाप करने के समान सुखदायी है। 'समा' या संगीत का सूफ़ी साधना में विशेष स्थान है, यद्यपि उलेमाओं के कथनानुसार संगीत से साधारण मुसलमान को प्रेम नहीं होना चाहिये किन्तु सूफ़ी साधना तथा संप्रदाय में इसका विशेष महत्व है। अपनी इस भावना की पुष्टि के हेतु सूफ़ियों के पास प्रमाण है कि मुहम्मद साहब को हीरा की गुफ़ा में घंटी के नाद जैसा स्वर सुनाई देता था, तथा कुरान के लय पूर्वक पाठ से उन्हें अत्यन्त आनन्द प्राप्त होता था। आरम्भ में कुरान का पाठ विशेष राग और लय से किये जाने पर आनन्दानुभूति जाग्रत करता था। क्रमशः भजनों एवं प्रार्थनाओं का गायन तथा वादन भी सूफ़ी सम्प्रदाय में ग्रहीत हुआ। सूफ़ी साधक संगीत को परमानन्द-प्राप्ति का साधन मानते हैं। हुज्विरी ऐसे रुढ़िवादी सूफ़ी आचार्य को भी समा या संगीत का महत्व मान्य है। उसने अपने ग्रन्थ 'कश्फ़ुल महजूब' में लिखा है कि संगीत को वैध या अवैध कुछ नहीं कहा जा सकता। परिस्थिति एवं तज्जनित प्रभाव के आधार पर ही समा या संगीत की सद् या असद् प्रतिष्ठा है। चिश्तिया संम्प्रदाय में समा का अपेक्षाकृत अधिक महत्व है। कादिरिया सम्प्रदाय वाले भी संगीत का महत्व समझते हैं। ब्राउन साहब के विचार से कादिरिया सम्प्रदाय में इसका प्रचलन सन् ११७० ई० में अब्दुल कादिर जीलानी के उत्तराधिकारी सैयद शम्सुद्दीन के द्वारा किया गया[2]।

---

१. कृत जुग त्रेता द्वापर, पूजा मख अरु जोग।
जो गति होइ सो कलि हरि नाम तें पावहिं लोग।
गोस्वामी तुलसीदास : रामचरितमानस

२. The Dervishes : P. 286.
by Rose.

समा में मग्न सूफ़ी खस, या नृत्य में भी लीन हो जाते हैं। समा का एक मात्र उद्देश्य उल्लास में आत्मविभोर कर देने वाली स्थिति की उपलब्धि मात्र है। कहा जाता है कि इस प्रकार कीर्तन एवं उल्लास में मग्न सूफ़ी साधक अपनी सांसारिक चेतना खोकर परमधाम भी चले जाते हैं। उर्स के अवसर पर समा का विशेष महत्व होता है। हिन्दी के सूफ़ी कवियों ने संगीत का महत्व विभिन्न राग रागनियों के वर्णन द्वारा व्यक्त किया है। इसे हम उनकी बहुज्ञता भी मान सकते हैं। इसके अतिरिक्त साधना के क्षेत्र में संगीत के महत्व की स्थापना इस तथ्य से भी होती है कि प्रत्येक प्रेमाख्यान का नायक विरही होकर जब योग धारण करता है तब उसके अन्य उपकरणों में से एक वाद्ययंत्र खंजड़ी या सारंगी अवश्य साथ रहती है[1]। नूरमुहम्मद ने संगीत का प्रभाव स्वीकार किया है[2]।

सूफ़ी जिक्र के अन्तर्गत एक विशेष प्रकार की प्राणायामपद्धति एवं प्राण नियमन को भी लेते हैं। इस जिक्र के भी कई स्वरूप हैं। (१) 'जिक्रजली' की नाम-स्मरण पद्धति में साधक के आसन का विशेष महत्व है और कभी दाहिने कभी बायें बैठते हुये साधक क्रमशः अल्लाह शब्द का उच्चारण उच्च स्वर में करता जाता है। आसन क्रियाओं के एक दो या तीन के विचार पर आधारित इस प्रकार के स्मरण को क्रमशः 'जिक्रे एक दर्वी' 'जिक्रे दो दर्वी', 'जिक्रे सी दर्वी' कहते हैं। (२) 'जिक्रे खफ़ी', इस प्रकार का स्मरण अत्यन्त मन्द स्वर से नेत्र और मुंह बन्द कर के मन ही मन किया जाता है। इसी प्रकार सुल्तानुल अज़कार, अब्से दम, पासे अनफ़ास, महमूदा नासिरा, तथा नफ़ी अथवात आदि भी ज़िक्र की विभिन्न पद्धतियाँ हैं जिनमें साधक विशेष प्रकार के योगासन, प्राणायाम तथा विहित वाक्य उच्चारण का प्रयास करता है। मुराकवा भी ध्यान तथा चिन्तन की एक विशेष पद्धति है। इसमें साधक अल्लाहो हाजिरी, अल्लाहो नाजिरी, अल्लाहो सहीदी, अल्लाहो माई, आदि वाक्यों का उच्चारण करता हुआ ईश्वर के ध्यान में मग्न रहता है।

ज़िक्र या फ़िक्र की इन विशेषताओं या प्रकारों का वर्णन ये सूफ़ी कवि नहीं करते हैं, अवश्य सभी कवियों ने गुप्त जाप या 'खिलवत दर अंजुमन' की प्रशंसा की है। साधक के

---

1. धोवहु चन्दन भसम चढ़ावहु, किंगरी गहहु वियोग बजावहु।
   तजहु मेल कर लेहु अंधारी, और सुमिरनी चक्र अधारी॥
   उसमान : चित्रावी पृ० ८५।

   चन्दन चढ़त रहा जेहि काया, सो तेहि काया भसम चढ़ाया।
   नित जेहि सीस फुलेल चढ़ावउ, भसम चढ़ाएउ जटा बढ़ाएउ।
   जेहि कर खरग बीज सम रहेऊ, तेहि कर सारंगी लै गहेऊ।
   नूरमुहमम्द : इन्द्रावती पृ० २२।

2. यह बांसुरी सुने सो कोई, हिरदय स्रोत खुला जेहि होई।
   निसरत नाद, बारुनी साथा, सुनि सुधि चेत रहै केहि हाथा।
   नूरमुहम्मद : अनुराग बांसुरी पृ० ८७।

लिये कहा गया है कि प्रकट में वह सब लोक-व्यवहार करता रहे, अनेक व्यक्तियों के मध्य अपना कार्य करता रहे किन्तु अन्तर में हृदय के श्वास प्रश्वास के साथ उस 'परम' का ध्यान करता जाय। जायसी कहते हैं कि प्रकट में तो साधक को चाहिये कि वह सारे सांसारिक कार्य करता रहे, किन्तु मन ही मन आराध्य का ध्यान करना चाहिये [1]। कवि उसमान अपने ग्रन्थ 'चित्रावली' में भी इसी प्रकार की भावना व्यक्त करते हैं, कि साधक को अपनी साधना गुप्त ही रखनी चाहिये। प्रकट कर देने से कुछ भी उपलब्ध नहीं होता। जो कोई गुप्त रहता है या प्रदर्शन नहीं करता है वह अपने लक्ष्य तक पहुँच जाता है, किन्तु बाह्याडम्बर या प्रदर्शन में पड़ने से अधबीच में ही मार्गभ्रष्ट हो जाता है। गुप्त साधना करने वालों ने उसे पा लिया, किन्तु प्रदर्शन करने वाले केवल दर्शक ही इकट्ठा करके रह गये [2]। कुंवरावत का लेखक भी साधना में गुप्त जाप का महत्व स्वीकार करता है [3]।

नूरमुहम्मद ने ज़िक्र एवं फ़िक्र इन दोनों की विस्तृत व्याख्या की है। जब तक हृदय में प्रेम की व्याप्ति नहीं होती, इस संसार में जीवित रहना सोने के समान है। इस मिथ्या संसार की सभी भावनाओं तथा सम्बन्धों का अन्त 'जाप' स्मरण एवं चिन्तन से हो जाता है [4]। प्रेमी लोग मन की माला फेरते हैं अर्थात् हृदय में आराध्य का स्मरण करते हैं। वास्तव में स्मरण एवं चिन्तन से ही, योग या साधना पूर्ण होती है। इस संसार में बैठना उठना, चलना सभी स्वप्नवत् है। इसकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं। इस सबका त्याग करके साधक को स्मरण एवं जाप का सहारा लेना चाहिये। वे लोग धन्य हैं जो रात दिन प्रिय के चिन्तन में मग्न रहते हैं जिन्हें इस संसार में स्मरण के अतिरिक्त और कुछ अच्छा ही नहीं लगता। स्मरण और चिन्तन का शीघ्र प्रभाव प्रिय के ऊपर होता है। जिस व्यक्ति का स्मरण किया जाता है उसके हृदय में भी प्रेम जाग उठता है। स्मरण करने से परमात्मा भी प्राणों का ध्यान रखता है तो फिर इस संसार के और व्यक्तियों के बारे में क्या कहा जाय। अतएव साधक को परमात्मा का स्मरण करना चाहिये जिससे

---

१. परगट लोक चार कहु बाता, गुपुत लाउ मन जासों राता।
जायसी।

२. गुपुत रहहु कोउ लखै न पावै। प्रगट भये कछु हाथ न आवै।
गुपुत रहे ते जाइ पहूँचे, परगट बीचे गए बिगूचे॥
उसमानः चित्रावली पृ० ११४।

३. जितना छिपै छिपाओ प्यारे, मत हृदय से करो उभारे।
अली मुरादः कुंवरावत।

४. जब लगि प्रेम न व्यापै, तब लगि स्वाप।
स्वाप जात जब आवत, पाढ़त जाप।
नूरमुहम्मदः अनुराग बांसुरी पृ० १०७।

उसकी कृपा साधक के ऊपर हो जाय। स्मरण, चिन्तन-साधना के लिये अत्यन्त आवश्यक है [1]।

स्मरण की यह पद्धति सूफ़ी प्रेमाख्यानों में स्पष्ट है। नायक नायिका के रूपगुण की प्रशंसा सुनकर उसके ही ध्यान एवं स्मरण में लग जाता है, फलस्वरूप नायिका के हृदय में भी नायक के प्रति अज्ञात प्रेम जाग्रत हो जाता है। जायसी की पद्मावती रत्नसेन के वियोग में व्याकुल हो गई थी। नूरमुहम्मद की इन्द्रावती भी राजकुंवर के आगमन के पूर्व ही उसे स्वप्न में देखकर व्याकुल हो जाती है [2]।

मुजाहिदा भी इसी प्रकार की क्रिया पद्धति है जिसमें व्रत, उपवास आदि शारीरिक यातना द्वारा इंद्रिय निग्रह का प्रयास किया जाता है। कुरान में सौम या रोज़ा का विधान है जिसका वर्णन भी रहीम ने 'प्रेमरस' में किया है [3]। सूफ़ियों ने इससे भी अधिक कठिन व्रत की योजना अपनी साधना में की। कष्ट साधना के द्वारा वे अपने शारीरिक जड़ अंश को पराभूत कर ईश्वर चिन्तन में लीन रहते हैं। हिन्दी के सूफ़ी कवियों ने सिद्धान्त रूप से कहीं मुजाहिदा का प्रतिपादन करने का प्रयास नहीं किया है, किन्तु नायक का सर्वस्वत्याग कर प्रिय प्राप्ति के हेतु घर से निकल पड़ना इसी कष्ट साधना का सूचक है। मार्ग में किसी भी प्रकार के सुख या आकर्षण में न फंसकर प्रेम मार्ग पर दृढता से अग्रसर होना इसी तत्व का सूचक है, यद्यपि मुजाहिदा के अन्तर्गत हठयोग के आसन एवं प्राणायाम आदि का वर्णन भी कवियों ने किया है, जिसका वर्णन हम 'सूफ़ी साधना पर

---

१. मन के भालै सुमिरै नेही लोग।
ध्यान और सुमिरन सों पूरन जोग।
बैठत, चलब काज वह, है सब स्वाप।
काहे न हम कै लीजै, सुमिरन जाप।
धनि सनेह के लोभै, जेहि दिन रात।
सुमिरन बिना न दूसर कछु सुहात॥
सुमिरे ते सुमिरै करतारा, और बापुरा कौन बिचारा।
सुमिरि सुमिरि करतार हिं, सुमिरै तोहि।
तोहि सिखावौं सुमिरन, मानहि मोहि।
नूरमुहम्मद : अनुरागबांसुरी पृ० १३६, १४४, १४५।

२. पद्मावति तेहि जोग संजोगा। परी प्रेम बस गइ वियोगा।
जायसी : पद्मावत।

जोगिय एक दिष्टि मोहि परा, दिष्ट न परा मोर मन हरा।
रहा सरूप सलोना सांवल, नहिं जानऊं केहि दिस ते आवल।
नूरमुहम्मद : इन्द्रावती।

३. रोज़े तीस सहित लब नेहा, बिना अन्न जल सुखवे देहा।
शेख रहीम : प्रेमरस।

हठयोग का प्रभाव' के अन्तर्गत करेंगे। सूफ़ी कवियों ने साधक के मार्ग के मध्य भोगपुर, इन्द्रियपुर, कायापुर एवं इन्द्रियसुख से सम्बंधित बनों की योजना की है तथा साधक का इन सभी आकर्षणों से विमुख होकर अग्रसर होना इसी 'मुजाहिदा' पद्धति की ओर संकेत करता है [1]। उसमान ने बड़े ही काव्यात्मक ढंग से मुजाहिदा की पद्धति का स्पष्टीकरण किया है। जो साधक साधना-मार्ग पर अग्रसर होना चाहता है उसे इन्द्रियों के साथ चित्तवृत्ति का निरोध आवश्यक है। 'भोगपुर' को पार करके जाने की क्षमता केवल उस साधक में होती है जो नेत्र होते हुये भी अंधों जैसा, कान होते हुये भी बहिरों जैसा व्यवहार करे। मौन धारण करे, साथ ही सुस्वादु वस्तुओं का लोभ परित्याग करदे। प्राणायाम के द्वारा काम एवं क्रोध को जला कर नष्ट कर दे। निर्द्वन्द्व होकर साधना मार्ग पर निरन्तर अग्रसर होने वाले साधक को ज्ञान लाभ एवं ज्योति दर्शन होता है।

इस्लाम में हज्ज यात्रा का विधान प्रत्येक मुसलमान के लिये है। वही कुरान में प्रतिपादित तीर्थ यात्रा का स्वरूप है। सूफ़ियों ने संग-असवद के चुम्बन से बुतपरस्ती का भाव ग्रहण किया। भावोपासक सूफ़ियों में मजार एवं दरगाह का विशेष महत्व हो गया। सिद्ध सूफ़ी, पीर या वली की समाधि को हज्ज से अधिक महत्व देने लगे, कुछ और भावुक सूफ़ियों ने कल्ब को ही किबला मान कर परमसत्ता को केवल हृदय के भीतर ही खोजने का प्रयास आरम्भ कर दिया। सूफ़ी साधना में इस क्रिया पद्धति को जियारत कहते हैं। समाधि दर्शन से सूफ़ी साधक वरदान लाभ करने की आशा रखता है। सूफ़ियों का विश्वास है कि 'खुदा के बन्दे' परमात्मा के प्रेमी की कभी मृत्यु नहीं होती, उसकी मृत्यु केवल आत्मा की स्थितिपरिवर्तन की सूचना देती है। यही कारण है कि पीर या सिद्धों के निधन हो जाने पर भी साधक उनका सम्मान एवं पूजा करके उनकी कृपा प्राप्त करने का प्रयास करता है। मजारों या समाधियों की यात्रा को जियारत कहते हैं। इन दरगाहों और मज़ारों पर प्रत्येक बृहस्पतिवार को दीपक प्रज्वलित दिखाई देते हैं, तथा 'उर्स' के अवसर पर यहां विशेष उत्सव होता है। साधक का ऐसे अवसरों पर उत्सवों में भाग

---

1. पहिले बन मों राज सरेखा, भार्ताहिं भांत के पच्छिय देखा।
एकै रूप इन्द्रावती केरा, मोहि आखिन मों लीन्ह बसेरा।
दूसरे बन मां राजा आएउ, मधुर सबद पच्छिन सों पाएउ।
सखन वोही सबद पर लावउं, जाको नाम रतन कर पावउं।
तिसरे बन आएउ नरनाहा, मिलेउ सुगन्ध तहां बन मांहा।
कहा प्रीतम लट कर वासा, चाहत हों राखउं नित आसा।
जब आये चौथे बन मांहा, फले बहुत फल देखा तहां।
हौं बरती तेहि पन्थ को, इन्द्रावति जेहि नाउं॥
फल अहार तेहि दरस को, चाहौं तेहि दिस जाउं॥

नूरमुहम्मद :इन्द्रावती पृ० २७, २८।

लेना, एवं तीर्थयात्रा करना, साधक की हृदयशुद्धि में सहायक होता है[१]। साधारण व्यक्ति हिन्दू या मुसलमान, का विश्वास भी मजारों और दरगाहों में होना है, ये इन समाधियों पर एक विशेष आकांक्षा लेकर जाते हैं तथा वहां डोरा या कपड़े की पट्टी बांध आते हैं जिससे समाधिस्थ पीर को उनकी चाह की याद बनी रहे[२]। बहराइच में गाजी मियां की समाधि पर हिन्दू एवं मुसलमान सभी अपनी अपनी श्रद्धा समर्पित करने एवं चाहपूर्ति की आशा लिये हुये जाते हैं।

जकात या दान का भी सूफ़ी साधना में महत्व है। इस्लाम में चालीस अंश में से एक अंश दान देने का विधान है जिसका इसी रूप में वर्णन शेख रहीम एवं कासिमशाह ने किया है[3]। जकात से सूफ़ी समर्पण की भावना भी ग्रहण करते हैं। वे अपने अहं तक का त्याग इस श्रेय के मार्ग में कर देते हैं, फिर और किस वस्तु की चाह शेष रह जाती है। हिन्दी के सूफ़ी कवि दान का महत्व भली प्रकार समझते हैं। लगभग प्रत्येक कवि ने दान महिमा का वर्णन प्रसंगवश अपने काव्य में किया है। जायसी दान की महिमा में लिखते हैं कि उसी मनुष्य का जीवन सार्थक है जिसने इस जगत में दान अधिक दिया हो। जप एवं तप सभी प्रकार की कष्ट साधनाओं से अधिक महत्व दान का है। जितना मनुष्य दान करता है, प्रतिफल स्वरूप उसे उससे दसगुना लाभ होता है अतः दान करना इस जगत में श्रेष्ठ है[४]। कासिमशाह भी हंसजवाहर में दान के महत्व की चर्चा करते हैं। इस संसार में बिना दान दिये किसी को मोक्ष प्राप्त नहीं होती। इस भवसागर को पार

---

१. पीछे हज्ज हरम का कीजे, जो हुइ सके तो यह फल लीजे।

शेख रहीम : प्रेम रस।

कहा सनेह गुरु बैरागी, तीरथ कारन अनुरागी।
गुरु को धरम दान वृत धरना, चरन धरम तीरथ को करना॥

नूरमुहम्मद : अनुराग बाँसुरी पृ० १२४।

२. The People of the Mosque P. 169, 170.

by Bevan Jones.

३. चालिस अंश मंह एक निकारो, देउ दान तो पार सिधारो॥
एक दिये जो दश गुन पावे, प्रेम बनिज करतार करावे॥

कासिमशाह : हंसजवाहर पृ० १११।

चालिस अंश में एक अलाना, रब के नांव देउ तुम दाना॥

शेख रहीम : प्रेम रस

४. धनि जीव और ताकर हीया, ऊंच जगत मंह जाकर दीया।
दिया जो जप तप सब उपराहीं, दिया बराबर जग किछु नाहीं।
एक दिया ते दसगुन लहा, दिया देखि सब जग मुख चहा।

जायसी : पदमावत।

करने के लिये दान ही सबसे महत्वपूर्ण नाव है। दान देने से मनुष्य इस लोक और परलोक दोनों ही में सुख प्राप्त करता है [१]।

नूरमुहम्मद ने अनुराग बांसुरी में जकात का महत्व कीर्तिविस्तार से सम्बन्धित किया है। जिस व्यक्ति को दान दिया जाता है, वह स्थल स्थल पर दाता का गुणगान किया करता है; अतः कीर्ति के हेतु भी दान देना आवश्यक है [२]।

उसमान भी दान को इस संसार में सबसे बड़ा हितू समझते हैं। इस भव-समुद्र में डूबते को केवल दान का ही सहारा है। दान ही मंझधार में खेवक का कार्य करता है। इस जगत में दान का एक अंश, परलोक में दस अंश का देने वाला होता है[३]।

कवि अली मुराद ने भी कुरान के कथन को दुहराया है। वही साधक अपनी साधना में सफल हो पाता है जो चालीस अंश में से एक अंश दान कर देता है [४]।

दान महिमा को मानने के साथ ही इन सूफी कवियों ने, सर्वस्व त्याग एवं अहं त्याग को भी महत्व दिया है। शेख रहीम तो स्पष्ट कहते हैं कि यदि प्रिय का दर्शन लाभ करना है तो साधक को सांसारिक कर्तव्य, लोक लाज, मन की दुबिधा सब कुछ छोड़ना पड़ेगा, साथ ही कठिन शरीर यातना के द्वारा भी संयम करना पड़ेगा[५]।

---

१. दान दियो नहिं होहु उबारा, दान बिना बूड़ो मंझधारा।
दान सुपत ऊपर पति होई, दान शुद्ध पावै सब कोई।
दान देत दोऊ जग केरा, जिन दीना तिन कीन उजेरा।
मोक्षहु दान द्रव्य ते पावै, दियो दान विधि पार लगावै॥
कासिमशाह : हंसजवाहिर पृ० १९८।

२. बोला सुवा, अचंभौ नाहीं, कीरति दत्त, कहां नहिं जाहीं।
कहां कहां नहिं कीरति धावै, देस जाचकन संग फिरावै।
नूरमुहम्मद : अनुरागबांसुरी पृ० १२६।

३. दुहुं जग हितू दान सम नाहीं, बूड़त दधि काढ़े गहि बाहीं।
खेवक दान होइ मंझनीरा, गहिगुन खेइ लगावै तीरा।
एक देय दस पावहिं लाहू, दै दोखहु जो ना पतियाहु॥
उसमान : चित्रावली पृ० ८८।

४. चालिस दरब मां एक मोहि देवो, उतरो पार राह तब पावो।
कुंवरावत : अली मुराद।

५. दरस आस बहुतन जिव खोवा, जिन चाहा सो छन छन रोवा।
दरस लाभ त्यागो कुल लाजा, होउ निलज तो संवरे काजा।
दरस आस दुबिधा मन त्यागो, होउ निरानर मारग लागो।
दरस आस यह काया जारो, दरस आस से तन मन मारो।
शेख रहीम : भाषाप्रेमरस।

इसी प्रकार अली मुराद भी अपने पृथक अस्तित्व को भुला देने वाले साधक को ही सफल मानते हैं [1]।

सूफी-साधना के अन्तर्गत आनेवाली उपासना पद्धतियों में गुरु की महिमा प्रमुख है। हिन्दी में सूफ़ी प्रेमकथाओं की रचना आरम्भ होने के पहले ही सिद्धों ने साधना में गुरु की अनिवार्यता प्रतिपादित करदी थी। बहुत सम्भव है कि गुरु के महत्व की भावना सूफ़ियों ने भारत से ही ली हो, क्योंकि हुज्विरी जो इसकी महानता की चर्चा सर्वप्रथम करता है भारत में रह चुका था। मध्यकालीन सभी साधनाओं में गुरु की अनिवार्यता सिद्ध है। बिना गुरु के साधक को सिद्धि की प्राप्ति नहीं होती। नामदेव को भी अन्त में गुरु की अनिवार्यता माननी पड़ी थी [2]। गुरु महिमा का सूफ़ी साधना में विशेष स्थान है। साधना का रहस्य जानने एवं प्रेम मार्ग में अग्रसर होने के लिये साधक को एक पीर की आवश्यकता होती है। भारतीय साधना-पद्धति में गुरुमहात्म्य अत्यन्त प्राचीन है। वैदिककाल में पुरोहित, बौद्ध युग में उपदेशक गुरु के ही विभिन्न स्वरूप हैं। तान्त्रिकों के लिये गुरु-पूजा अनिवार्य हैं। गुरु-पूजा के अभाव में साधक की सारी साधना विफल है। नाथ पन्थ में, गुरु की महिमा कट्टरता से मान्य है। मध्यकालीन हिन्दी काव्य गुरु-महात्म्य से ओत प्रोत है। सगुण-निर्गुण-ज्ञानाश्रयी, प्रेमाश्रयी सभी वर्ग के साधकों को साधना के अन्तर्गत गुरु की आवश्यकता पड़ती है। साधक को गुरु की आज्ञापालन की शपथ ग्रहण करनी पड़ती है। मुर्शिद उसे अपना मुरीद या शिष्य बना लेता है। साधक अपने पीर के स्वरूप का निरन्तर ध्यान करता है, तथा उसके प्रभाव का इतनी तीव्रता से अनुभव करता है, कि उसे अपना अस्तित्व गुरु के अस्तित्व से एकाकार हुआ जान पड़ता है। सूफ़ियों के अनुसार मुरीद पहले अपने शेख के प्रति आत्मसमर्पण करता है तत्पश्चात् शेख उसे पीर के पास ले जाता है, पीर के द्वारा वह रसूल या मुहम्मद साहब के प्रभाव में पहुँचकर क्रमशः साधना में परिपक्व होता हुआ परमेश्वर के समक्ष पहुँच जाता है। हुज्विरी गुरु का महात्म्य अन्य सभी साधनाओं से अधिक मानता है।

हिन्दी के सूफ़ी कवियों ने दान की भाँति गुरु महात्म्य का भी अत्यधिक वर्णन किया है। नूरमुहम्मद ने गुरु को सबसे अधिक मृदुल स्वभाव वाला कहा है। यद्यपि यह सत्य है

---

१. मुराद पूरा साधु वही, जो हस्ती देवै छोड़।
निर्गुण सगुण जाप से मुंह का लेवै मोड़॥

अली मुराद : कुंवरावत।

२. 'अन्त में बेचारे नामदेव ने नाग नाथ नामक शिव के स्थान पर जाकर विसोबा खेचर या खेचरनाथ नामक एक नाथपन्थी कनफटे से दीक्षा ली।'

हिन्दी साहित्य का इतिहास रामचन्द्र शुक्ल।
संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण संवत २००३, पृ० ६८

कि कामी पुरुष भी ध्यान से जोगी हो सकते हैं किन्तु जबतक साधक को गुरु के हाथ से माला या नामस्मरण का मन्त्र प्राप्त नहीं हो जाता, उसे सिद्धि नहीं मिलती। गुरु की कृपा से वंचित साधक इस जगत में अकेला रहता है। कोई साधक चाहे कितना ही ज्ञानी हो उसे गुरु की कृपादृष्टि के बिना सफलता नहीं मिल सकती। इस संसार में गुरु के सदृश अनुकूल कोई नहीं है। गुरु के अनुकूल होते ही सारी प्रतिकूलता नष्ट हो जाती है[1]।

अगुवा या गुरु वही हो सकता है जो स्वयं मार्ग जानता हो। गुरु का चेला कभी पथ-भ्रष्ट नहीं होता[2]।

उसमान ने गुरु और शिष्य के अविच्छिन्न सम्बन्ध के बारे में लिखा है। गुरु से वियुक्त साधक अत्यन्त दुःखानुभूति का अनुभव करता है। वह शारीरिक कष्ट सहता हुआ केवल गुरु नामस्मरण को आधार मान लेता है[3]। जिस साधक को गुरु का निर्देशन प्राप्त नहीं होता वह अन्धे के भांति चारों ओर भटकता फिरता है और सीधा मार्ग उपलब्ध नहीं कर पाता[4]। चाहे सारा संसार जोगियों या साधकों का स्वरूप धारण करके मूंड़ मुड़ाकर सन्यासी बन जाय किन्तु सिद्धि नहीं प्राप्त हो सकती जबतक गुरु की कृपा उसपर न हो जाय। गुरु की कृपा से नवों निधियाँ उसे प्राप्य हैं[5]। गुरु के बचनों का आंख में अन्जन लगाकर, हृदय रूपी दर्पण परिमार्जित करके, माया या ममता को भस्म

---

१. सत्त वचन भाखा तुम स्वामी, जोगी होंहि ध्यान सों कामी।
पै माला स्वामी के हाथा, पाएं लाभ होइ एहि साथा।
बिन गुरु माल होउं कत चेला, बिन गुरु दाया चलौं अकेला।
गुरु बिन पन्थ न पावै कोई, केतिको ज्ञानी ध्यानी होई।
गुरु ऐसो मीठो किछु नाहीं, जंह गुरु तहां तिक्त मिटि जाहीं।
कामयाब सो गुरु अति भावै, सो हित जो गुरु ताहि जिवावै॥
नूरमुहम्मद : अनुराग बाँसुरी पृ० १२०।

२. अगुवा भएउ सुवा उपदेसी, अगुवाई को दीपक लेसी।
अगुवा सोइ पन्थ जो जाना, अगुवा सहित न फिरे भुलाना।
नूरमुहम्मद : अनुराग बाँसुरी पृ० १२८।

३. जा दिन ते हम गुरु बिछोवा, अन्न न जेंवा, नींद न सोवा।
भूख नाहिं औ नाहिं पियासा, नाउं अधार रहइ घर सांसा।
उसमान : चित्रावली पृ० ४९।

४. जा कहं गुरु न पन्थ देखावा, सो अन्धा चारिहुं दिसि धावा।
उसमान : चित्रावली।

५. मूंड़ मुंड़ाये जग फिरे, जोगी होय न सिद्ध।
जा कहं गुरु किरपा करहिं, सो पावै नौ निद्ध।
उसमान : चित्रावली पृ० ८१।

करने के पश्चात् ही परम-प का दर्शन सम्भव है[1]। गुरु की सत्यवादिता की प्रशंसा कासिमशाह ने की है। गुरु के बचन अडिग हैं। भाग्य या भाग्य की गति बदल सकती है किन्तु गुरु के बचन नहीं। गुरु के मुख से अलख की सत्यता के शब्द सुनना प्रत्येक का कर्तव्य है[2]। इस जीवन में वही दिन सफल एवं सार्थक है जब गुरु से भेंट होती है। गुरु दर्शन से सारे पाप और दुःख नष्ट हो जाते हैं, सारे अवगुणों का अभाव हो जाता है[3]।

शेख रहीम गुरु की पदवन्दना एवं आज्ञापालन साधक का सर्वोत्तम कर्तव्य मानते हैं। गुरु के चरणों की सम्मान पूर्वक वन्दना करके, मार्ग सम्बन्धी आदेश लेना साधक का कर्तव्य है[4]। शेख रहीम 'प्रेम' की भावना गुरु रूप में भी करते हैं[5]। अली मुराद के अनुसार यदि गुरु 'अगुवा' हो जाय तो सिद्धि निश्चित है[6]। बिना गुरु के सारी उम्र व्यर्थ ही नष्ट हो जाती है, गुरु-श्रद्धा का अवलम्बन लेकर ही प्रेमपथ पर अग्रसर हुआ जा सकता है[7]। गुरु और हरि में कोई अन्तर नहीं है, वास्तव में वे दोनों एक ही

---

१. गुरु बचन चषु अंजन देहू, हिया मुकुर मंजन करि लेहू।
माया जारि भसम के डारौ, परमरूप प्रतिबिम्ब निहारौ।
उसमान : चित्रावली पृ० ६१।

२. डोले करम तो करमगति, गुरु कर बचन न डोल।
कासिम सुन गुरु मुख शब्द, सत्य अलख के बोल।
हंसजवाहिर : कासिमशाह पृ० ११

३. सुफल दिवस आवै जबै, होय गुरु से भेंट।
पाप और दुख सब मेटिये, औगुन जाय सो मेट।
कासिमशाह : हंसजवाहिर पृ० २४।

४. प्रेमा जाय दन्डवत कीन्हा, गुरु चरन माथे पर लीन्हा।
कर दाया मोहि पन्थ बताऊ, जेहि विधि मिले सो भेद बताऊ।

५. प्रेम गुरु का मैं हौं चेला।
शेख रहीम : प्रेमरस।

६. आगे तो गुरु का करो, पाछे वाके जाव।
अहमद का दामन पकड़, वाहिद से भट मिल जाव।
अलीमुराद : कुंवरावत।

७. बिना गुरु कछु काम न होई, वैस अकारथ पूरी खोई।
पहले प्रीत गुरु से कीजे, प्रेम बाट में तब पग दीजे॥
अलीमुराद : कुंवरावत।

है [1]। इस प्रकार अली मुराद अपनी साधना में गुरु की महानता एवं महत्व दोनों ही स्वीकार करते हैं।

वली एवं औलिया का सम्मान सूफ़ी-साधना का विशेष अंग है। सूफ़ी औलियाओं की जीवनी, करामातें एवं उपदेश सूफ़ी साधक के लिये केवल अनुकरणीय ही नहीं, अनुकम्पा प्राप्ति के साधन भी हैं। हर सम्प्रदाय का व्यक्ति आपत्ति के समय इन पीरों का स्मरण करता है तथा धार्मिक कर्तव्यों के पालन की अपेक्षा, इनकी समाधियों पर जाना आवश्यक समझता है। अपनी इस 'पीर परस्ती' को भी सूफ़ी साधक कुरान की आयतों से प्रमाणित करते हैं। कहते हैं कि एक बार मुहम्मद साहब ने अपनी माता की मज़ार पर आंसू बहाये थे। हुज्विरी के अनुसार ईश्वर ने इन पीरों को स्वाभाविक, जन्मजात विकारों से रहित बना दिया है और यही पीर धर्म की महानता के जीवित प्रमाण हैं। कुछ अदृश्य पीरों या वलियों को 'पीरे ग़ैब' कहते हैं। हुज्विरी के अनुसार ऐसे पीरों की संख्या चार हज़ार है। एक प्रकार से इन सन्तों का साम्राज्य ही पृथक है। सर्वोच्च सन्त को कुत्ब या ध्रुव कहते हैं। मुहम्मद तथा अन्य चार खलीफा हसन और हुसैन अपने समय के 'कुत्ब' थे। इनके नीचे चार अब्दाल (Abdal) हैं जो सृष्टि के चारों कोनों पर रहकर सृष्टि के समाचार कुत्ब को दिया करते हैं। इनके नीचे अब्दाल अम्द एवं नजबा की स्थिति है। सूफ़ी साधक इन पीरों का सम्मान करके उनकी कृपा प्राप्त करने एवं उन्हें जीवनादर्श बनाने की चेष्टा करते हैं। वली एवं पीर के सम्मान का परिचय हिन्दी के सूफ़ी कवियों ने अपने गुरु एवं उनकी परम्मपरा के गुण-गान द्वारा दिया है। जान कवि अपने पीर के निवासस्थान हांसी की प्रशंसा जिन शब्दों में करते हैं उससे स्पष्ट हो जाता है कि ये सूफ़ी कवि पीर एवं वली का कितना अधिक सम्मान करते थे [2]। इसी प्रकार कवि उसमान ने भी पीर बाबा हाजी की प्रशंसा की है [3]।

---

१. गुरु समान मैं तोहि निहारौं,
गुरु और हर में दुई न जानों, एक हो है दुविधा मत मानो॥
गुरु, आदम, हर एक है, दूजा कहै सो भूल।
मोगन्द करतार की, फक्र का यही वसूल।
अली मुराद : कुंवरावत।

२. सैख महम्मद पीर हमारो, जाको नांव जगत उजियारो।
रोजै ऊपर बरसत नूर, करामात जग भई जहूर।
ज्यारत करन फिरिस्ते आवत, मनुसन की को बात चलावत।
कवि जान : कथा बुधसागर।
पीर सैख महमद है चिस्ती, बदन नूरि भाषतु हैं किस्ती।
रहन गांव जानहु हांसी, देखत कटै चित्त की फांसी।
जान : कथा कंवलावती।

३. बाबा हाजी पीर अपारा, सिद्ध देत जेहि लाग न बारा।
हीछां देत न लावहि धोखा, जेहि जस तोष पवै तस पोषा॥
उसमान : चित्रावली पृ० १०।

करामातों पर सूफ़ी साधक का विश्वास होता है। जिस प्रकार करामात (Mu'jiza) या चमत्कार (Miracle) की शक्ति रसूलों को प्राप्त होती है उसी प्रकार परमात्मा के प्रेमियों को भी उसकी कृपा से करामाती शक्ति प्राप्त होती है। रसूल अपनी आश्चर्यजनक शक्ति का प्रदर्शन कर सृष्टि को अपने रसूलत्व की सूचना देता है। सूफ़ी सन्त करामातों पर विश्वास करता और अपनी करामाती शक्ति को गुप्त रखना चाहता है। आरम्भ में सूफ़ी साधना में करामातों की प्रतिष्ठा न थी किन्तु सम्भवतः अन्य सम्प्रदायों के प्रभाव से, विशेषकर भारतवर्ष में आकर सूफ़ीमत में इस तत्व का समावेश हो गया और साधक अपने या अपनी गुरु परम्परा के महत्व प्रदर्शन के हेतु इन करामातों का प्रदर्शन तथा अनुगमन करने लगा। आजकल भी, प्रत्येक सूफ़ी प्रथम वार मिलने पर ही अपने गुरु की करामातों का उल्लेख करही देता है। लम्बी यात्राओं को कुछ ही क्षण में कर लेना, पानी के ऊपर चलना, वायु में उड़ना, जड़ वस्तुओं से वार्तालाप, भोजन तथा वस्त्र की प्राप्ति, भविष्य के बारे में सत्य कथन इत्यादि इसी प्रकार की करामातें हैं जिनका सम्बन्ध किसी न किसी सूफ़ी से होता है इन्द्रावती एवं प्रेमरस में ऐसी करामातों का प्रचुर वर्णन है। तपस्वी गुरु ने फुलवारी में राजकुंवर को दिव्य दृष्टि देकर आगमपुर का दृश्य दिखा दिया था[1]।

सूफ़ियों की एक और पद्धति विशेष है कि वे ख्वाजा खिज़् नामक एक प्राचीन फकीर में विश्वास करते हैं। इन फकीर के बारे में कथन है कि जहां कहीं भी ये बैठते हैं वह स्थान हरा हो जाता है[2]। सम्भवतः इसी कारण इन्हें खिज़् या (Sea-Green) हरित की उपाधि प्राप्त है। इनका वास्तविक नाम अबुल अब्बास मलकान था। इन्हें अमरता का वरदान प्राप्त है। आबेहयात का पान कर लेने के कारण ये प्रलय होने तक जीवित रहेंगे। खिज़् और इलयास नामक दूसरे भाई, कयामत के दिन तक जीवित रहेंगे। खिज़् नामक फकीर या पीर की चर्चा लगभग प्रत्येक सूफ़ी जीवनियों में आई है। कहा जाता है कि ख्वाजा खिज़्र साधक को मार्ग प्रदर्शन करते तथा कष्ट या दुस्साध्य कार्य में सहायक होते हैं। ज्ञानोन्मुख प्राणियों पर इनकी विशेष कृपा होती है। ये असम्भव से असम्भव कार्य भी क्षणभर में पूर्ण करने की क्षमता रखते हैं। इन्हें ईश्वर के महान् गुप्त नाम 'इस्मुल-अ-जाम' (Ismul-A' gam) का भी पता है जिसे ये केवल योग्य साधक पर

---

१. सफ़त आपनो परगट कीन्हा, देव दिष्टि राजा कहं दीन्हा।
माया रहित कीन्ह मनुसाई, उपबन सों कीन्हा अगुवाई।
फुलवारी मों राय सरेखा, पन्थ सहित आगमपुर देखा
देखा देस अगमपुर केरा, रीझि रहा राजा भा चेरा॥

इन्द्रावती पृ० २०।

२. Sufism Its Saints and Shrines in India.

A. J. Subhan.

प्रकट करते हैं; यही कारण है कि सूफ़ी साधक अपनी साधना में ख्वाजा खिज्र की कृपा की आकांक्षा रखता है।

हिन्दी के सूफ़ी कवियों में कासिमशाह ने 'हंसजवाहिर' में ख्वाजा खिज्र का परिचय दिया है। उनकी रूपरेखा के वर्णन में कवि को भारतीय तपस्वी का ही अधिक ध्यान है[1]।

सूफ़ी साधना-पद्धति पर भारतीय प्रभाव :

शरीयत के प्रमुख अंग सौम, सलात, जकात और हज्ज को अपनी साधना पद्धति में स्थान देने के साथ ही, सूफियों ने इन्हीं के आधार पर अपनी नवीन पद्धतियों तिलवत, अवराद, मुजाहदा, मुराकबा, जिक्र, जियारत, पीर-परस्ती एवं समा आदि की स्थापना भी की जो उनकी पद्धति के महत्वपूर्ण अंग हैं। शरीयत के इस स्वरूप के अतिरिक्त, सूफ़ी साधनापद्धति के दो पक्ष और हैं। एक तो वह पक्ष जिस पर भारतीय हठयोग की क्रियाओं; एवं कुछ मान्य आस्थाओं का प्रभाव है दूसरा वह जो पूर्णत: प्रेम रंग से अनुरन्जित है। वास्तव में शरीयत एवं भारतीय साधना-पद्धति के प्रभाव के साथ प्रेमतत्व का सम्मिश्रण कर देने पर ही सूफ़ी साधना-पद्धति का वास्तविक स्वरूप दृष्टिगोचर होता है।

नाथ पंथ के उपदेशों का प्रभाव हिन्दुओं के अतिरिक्त मुसलमानों पर भी प्रारम्भकाल में ही पड़ा[2]। सूफियों पर भी नाथ पंथ की कई बातों का प्रभाव देखा जा सकता है। प्रत्येक सूफी प्रेमाख्यान में जब नायक सांसारिक मोह ममता त्यागकर साधक का स्वरूप धारण करता है उसका वेश नाथ योगी का सा ही प्रतीत होता है। नाथ योगी के वेश की चर्चा करते समय आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है 'मेखला, सृंगी, सेली, गूदरी, खप्पर, कर्णमुद्रा, बघंबर, झोला आदि चिन्ह ये लोग धारण करते हैं। पहले ही बताया गया है कि कान फाड़कर कुंडल धारण करने के कारण ये लोग कनफटा कहे जाते हैं। + + + यह कर्ण-कुन्डल निस्सन्देह योगी लोगों का बहुत पुराना चिन्ह है। + + + सुधारक मनोवृत्ति के योगी लोग मानते हैं कि श्रीनाथ ने यह प्रथा इसीलिये चलाई होगी कि कान चिरवाने की पीड़ा के भय से अनधिकारी लोग इस सम्प्रदाय में प्रवेश ही नहीं कर सकेंगे[3]।

---

१. देखे दस सागर के तीरा, ठाढ़े हजरत ख्वाजह पीरा।
फेरा साज सीस पर खासा, पांव खड़ाऊं लिये कर आसा।
हरित रंग पीरा है गाता, मानौ रूप भानु परभाता।
कहा के ख्वाज़े ख़िजिर ममनांव, रखों न ठांव जो बरणों गांव।
कासिमशाह : हंसजवाहिर पृ० १०।

चले जो नांथ चहं है पांउ, ख्वाजे खिजिर देखि तेहि ठाऊं।
कासिमशाह : हंसजवाहिर पृ० २४।

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पृ० १८।

३. नाथ सम्प्रदाय : आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० १४, १५।

लगभग प्रत्येक सूफी प्रेमाख्यान का नायक साधक का वेश धारण करने के लिये योगियों का वेश धारण करता है। जायसी कृत पद्मावत में नायक रत्नसेन सिंहलद्वीप के लिये प्रस्थान करते समय हाथ में किंगरी, सिर पर जटा, शरीर में भस्म, मेखला, शृंगी, धंधारी चक्र, रुद्राक्ष और अधार को लेकर, कंथा पहन कर हाथ में सोंटा लिये हुये 'गोरख' की रट लगाता हुआ साधना मार्ग पर अग्रसर होता है। उसने कंठ में मुद्रा, कान में रुद्राक्ष की माला, हाथ में कमन्डल, कंधे पर बाघम्बर, पैरों में पांवरी सिर पर छाता और बगल में खप्पर धारण कर लिया था। शरीर पर उसके गेरुये वस्त्र थे[1]।

इसी प्रकार मधुमालत प्रेमाख्यान में भी जब कुंवर मनोहर मधुमालति के वियोग में व्याकुल होकर माता पिता से आज्ञा लेकर घर से निकल पड़ता है तब उसकी वेषभूषा नाथ पंथी योगियों के सदृश ही थी। कठिन विरह के दुख से पीड़ित होकर कुंवर ने खप्पर, दन्ड और अधारी, धंधारी चक्र, कंथा, मेखला, पांवरी और मृगछाला धारण कर ली। शरीर पर भस्म चढ़ा ली और सिरपर जटायें बढ़ालीं। इस प्रकार गोरख वेष धारण करके कुंवर साधना पथ पर अग्रसर हो गया[2]।

उसमान ने 'चित्रावली' में कुंवर सुजान की वेष भूषा का वर्णन भी नाथ पंथी योगी की भांति ही किया है। सुजान ने सुन्दर वस्त्र उतारकर गूदड़ का बना हुआ कंथा धारण कर लिया, मणिजटित मकराकृति से साम्य रखने वाले कुन्डल के स्थान पर कर्ण मुद्रा धारण करली, चन्दन चर्चित देह पर भस्म लगाली और हाथ में किंगरी लेकर वियोग बजाया। हाथ में धंधारी चक्र, सुमिरनी और अधारी ले ली। सिर पर जटायें बढ़ा लीं, सिंगी,

---

१. तजा राज, राजा भा जोगी, औ किंगरी कर गहेउ वियोगी।
तन विसंभर मन बाउर लटा, अरुझा पेम परी सिर जटा।
चन्द्र बदन औ चन्दन देहा, भसम चढाई कीन्ह तन खेहा।
मेखल, सिंघी चक्र धंधारी, जोगबाट, रुदराक्ष अधारी।
कंथा पहिरि दण्ड कर गहा, सिद्ध होइ कंह गोरख कहा।
मुद्रा स्रवन, कंठ जयमाला, कर उपदान कांधे बघछाला।
पाँवरि पाँव दीन्ह सिर छाता, खप्पर दीन्ह भेस करि राता।

जायसी : जोगी खन्ड पद्मावत पृ० ४३।

२. कठिन बिरह दुख काय संभारी, माँग्यो खप्पर दन्ड अधारी।
चक्र हाथ मुख भस्म चढावे, सोन पथक मन्दिर उभरावै।
कंथा मेखली जरकटा, जटा बढ़ाई केस।
वज्र कछौटी बाँधि के, कैस्यो गोरख देस।
प्रेम पांवरी राख्यो पाऊ, मृगछाला बैराग सुभाऊ।

मंझन : मधुमालत।

खप्पर लेकर मृगछाला ग्रहण करके, रुद्राक्ष की माला और पांवरी पहन श्री गोरख का नाम लेकर, सुजान साधना मार्ग पर चल दिया [१]।

नाथपंथी योगी की वेश भूषा के साथ ही कवि ने तान्त्रिक मन्त्र-सिद्धि, गोटिका एवं डंडे के प्रभाव का भी उल्लेख किया है। नेत्रों में लुक-अंजन लगाकर, झोली और मंतरा को लेकर, मुंह में गोटिका दबाकर तथा डंडा ठोककर कुंवर सुजान और गुरू परेवा रूपनगर की ओर चल दिये। इन लुकअंजन, गोटिका एवं डंडे का यह आश्चर्यजनक प्रभाव था कि कुंवर और परेवा तो सब कुछ देख रहे थे किन्तु वे स्वयं दूसरों के लिये अदृश्य हो गये थे [२]।

डंडे और जन्त्र के आश्चर्यजनक प्रभाव की चर्चा कथा 'कुंवरावत' में भी है। कुंवर जब फूलमती के वियोग में व्याकुल होकर घूम रहा था उसकी भेंट एक तपस्वी से हुई जिसने बहुत सहानुभूति से कुंवर की व्यथा सुनी तथा उसे दया करके एक जन्त्र और एक लकुटिया दी। जन्त्र के द्वारा सभी कार्यों की सिद्धि सम्भव थी और लकुटिया में यह चमत्कार था कि यदि समुद्र में डाल दी जाय तो बोहित का कार्य कर सकती थी [३]। कुंवर इसी लकुटी के सहारे शीघ्र ही समुद्र पार कर गया था।

---

१. काढ़हु दगल सुहावन राता, पहिरहु चिरकुट कंथा गाता।
मनि कुन्डल मकराकृत डारहु, फटिक मुंदरा स्रवन संवारहु।
धोवहु चन्दन भसम चढ़ावहु, किंगरी गहहु वियोग बजावहु।
तजहु सेल कर लेहु धंधारी, और सुमिरनी चक्र अधारी।
सिंगी पूरहु जटा बढ़ावहु, खप्पर लेहु भीख जेहि पावहु।
कांध लेहु बाहि मृगछाला, ग्रीव पहिरहु रुद्राछ क माला।

२. करहु कान जनि एकहू, कहै कोउ जौ लक्ख।
पहिरि लेहु पग पाँवरी, बोलहु सिरीगोरक्ख।
कीन्ह कुंवर जो जोगी कहा, देखत लोग अचंभौ रहा।
ततखन दोउ जन कर उपचारी, झोलि मंतरा लीन्ह संभारी।
नैनन्ह मंह लुकअंजन दीन्हा, औ मुख घालि गोटिका लीन्हा।
डंडा ठोंकि चले उठि दोऊ, वै देखहिं उन्ह देख न कोऊ।

उसमान : चित्रावली पृ० ८५, ८६।

३. तपसी एक मोहिं मिला बड़ ज्ञानी बन राव।
बिथा मोर पूंछन लगा चित लगाय बड़ भाव॥

× × ×

जन्तर एक निकारयो जोगी, कुंवर से कहा कि सुन हो बरोगी।
जन्तर हाथ कुंवर का दीन्हा, बिहंसि के कहा कि भयो अधीना॥
सभी काज का अन्तर बेदा, दिया तोहें हम कहि हें भेदा।

× × ×

एक लकुटिया और दिया कहा कि लियो सुजान।
समुन्दर डार बोहित भई सबहै काज की खान।

अलीमुराद : कुंवरावत।

कथा इन्द्रावती में भी कुंवर ने जोगियों की सज्जा धारण कर ली। 'अनुराग बाँसुरी' में कवि नूरमुहम्मद ने वैरागी भेष की विस्तृत चर्चा नहीं की है। गेरुआ वस्त्र, खड़ाऊं और जयमाला का ही उल्लेख है। इन सभी उपकरणों का वर्णन भी कवि ने व्याख्या सहित किया है। माला के साथ कवि ने गुरु कृपा की चर्चा की है।

गुरु के द्वारा दी गई माला ही साधक का सबसे बड़ा आधार है [1]। मार्ग प्रदर्शक अरुनतुन्ड को साथ लेकर अन्तकरण: बैरागी वेष धारण करके चल दिया। उसका सुन्दर शरीर गेरुये वस्त्र में और भी अधिक शोभित हुआ [2]। कुंवर नंगे पैर ही चल रहा था कि उपदेशी सुवा के समझाने पर उसने खड़ाऊं पहन ली [3]। योगी वेष की विस्तृत चर्चा इन्द्रावती में भी नहीं है। जोग कांथरा, और सारंगी लेकर शरीर पर भस्म लगाकर कुंवर घर से निकल पड़ा [4]। कासिमशाह के ग्रन्थ हंस-जवाहिर में हंस की योगी वेशभूषा का वर्णन नहीं है। विरह से पीड़ित होकर हंस अपने सिर पर धूल डालता है। उसके हृदय में वैराग्य जाग्रत होता है। अपनी पाग के टुकड़े टुकड़े करके वह फेंक देता है, तथा अपनी कमल के सदृश सुकुमार देह पर भस्म चढ़ा लेता है। योगियों की वेष भूषा में से कवि केवल भस्म या खेह की ही चर्चा करता है[5]। भोलाशाह को जब जवाहिर-प्राप्ति की आशा नहीं रही तो वह विरक्त हो, योग धारण

---

१. बिन गुरु माल होउं कत चेला, बिन गुरु दाया चलौं अकेला।
तब माला दीन्हा बैरागी, कंठी डारि भएउ अनुरागी॥
नूरमुहम्मद अनुराग बाँसुरी पृ० १२०।

२. भयउ कुंवर बैरागी भेसू, रखि बैराग भुलान योगेसू।
गेरुआ वस्त्र सलोनी काया, अधिक विराजा, सोभा पाया।
नूरमुहम्मद: अनुराग बाँसुरी पृ० १२३।

३. नांगे पाइ न चलिए राजा, फोला परिहै होइ अकाजा।
चरन धरन तब राजै लीन्हा, कहा सुवा अगुवा को कीन्हा।
नूरमुहम्मद : अनुराग बाँसुरी पृ० १२६।

४. भा जोगी इन्द्रावति लागी ....
राज दुकुल सब तुरत उतारा, जोग कांथरा कांधे डारा।
राखा जटा चढ़ाएउ खेहा, कीन्ह सनेह सनेहिय देहा॥
नूरमुहम्मद : इन्द्रावती पृ० २२।

५. चला रोय सर मेलिस छारा, निकसि बाग ते आयो बारा।
उठा बैराग लाज बुधि खोई, देखा मीत न जग में कोई।
दीन्हिस फेंक सीस ते पागा, कीन्हिस टूक टूक सब बागा।
बावर भयो छूट जग नेहा, कमल सी देह कीन्ह सत खेहा॥
कासिमशाह : हंसजवाहिर।

करके वन की ओर चल दिया, इस स्थल पर कवि ने योगी वेश की चर्चा कुछ अधिक की है [1]।

कवि जान ने भी इस वेश भूषा की चर्चा नहीं के बराबर की है किन्तु कहीं कहीं इस वेश से सम्बन्धित वस्तुओं की चर्चा हुई है, जैसे 'कथा कलावती' में पुरन्दर, कलावती को प्राप्त करने के लिये जोगी होकर निकल पड़ा और उसने बीन बजाकर ही कलावती एवं उसके पिता को मोहित कर लिया था।

'भाषा प्रेम रस' में प्रेमा ने गृहत्याग अवश्य किया है किन्तु योगी वेश की चर्चा नहीं है। 'यूसुफ जुलेखा' और 'प्रेमदर्पण' प्रेमाख्यानों की कथा कुरान में वर्णित कथा है। नायक यूसुफ आदर्श व्यक्ति हैं तथा मुसलमानों में सम्मानित हैं, अतः कविगणों ने उन्हें योगी वेष में नहीं दिखाया है। उन्होंने गृहत्याग अवश्य किया है किन्तु बिरही या जोगी होकर नहीं।

'ज्ञानदीप' में नायक ज्ञानदीप को गुरु सिद्धनाथ का शिष्यत्व ग्रहण करना पड़ा था। जोगी के रूप में ही वह विद्यानगर के राजा सुखदेव के यहां सम्मानित था, किन्तु योगी वेश की अधिक चर्चा नहीं है। लुकअंजन एवं गोटिका के प्रभाव एवं चमत्कार की चर्चा है। सुरजानी जब देवजानी का संदेश लेकर ज्ञानदीप के पास भानपुर जा रही थी तब मार्ग में धर्मशाले के व्यक्तियों के द्वारा अपने सौन्दर्य के कारण कार्य में विघ्न पड़ते देख, उसने रामकवच का स्तवन किया तथा नेत्रों में लुकअंजन लगाकर वह अन्य व्यक्तियों से अदृश्य हो गई [2]। इसी प्रकार एक स्थल पर ज्ञानदीप और देवजानी के सम्बन्ध की चर्चा के अन्तर्गत जोगी वेश का भी प्रसंग आता है किन्तु वह विस्तृत नहीं है[3]।

आरम्भिक सूफ़ी कवियों जायसी, मंझन, उसमान आदि के काव्यों में साधक की रूप-रेखा के वर्णन प्रसंग में योगियों के वेश की विस्तृत चर्चा है, किन्तु धीरे-धीरे, सम्भवतः

---

१. देखा पुरुष चले सब हारी, अब कित मिले जवाहिर बारी।
अस्त्र सस्त्र दीन्हें छिटकाई, खेह जान सर खेह चढ़ाई॥
दीन्ह बहाय तुरी और बागा, लीन्ह सम्हार पन्थ बैरागा।
वस्त्र फार मेला गर कन्था, खेल गयो तब सोचो पन्था।
लीन लकुटिया भा बैरागी, चुटुकी प्रेम दरश की लागी।
छांड़ राजभोग तजि दीना, खप्पर फेंक भीख कर लीना।
देखि जोत भइ सुमिरन सोई, भावे वही न भावे कोई।
कासिमशाह : हंसजवाहिर पृ० ११२।

२. लुक अंजन कजरवटी काढ़ी, देइ चखु माँह भई तब ठाढ़ी।
शेखनबी : ज्ञानदीप।

३. जोगी नहिं बातन पतिआइय, जंह देखी तंह मार अड़ाइय।
जोगी छलत फिरहिं संसारा, हाथ धंधारि लाइ मुख छारा।
शेखनबी : ज्ञानदीप।

समाज पर सिद्धों एवं योगियों के प्रभाव के कम होने के साथ ही सूफ़ी प्रेमाख्यानों में भी इनकी चर्चा उतनी महत्वपूर्ण नहीं रह गई। जान कवि ने इसकी चर्चा नहीं के बराबर की है। कवि नूरमुहम्मद ने भी शीघ्र ही इस प्रसंग को निबटाने का प्रयास किया है। अली मुराद, शेखनिसार, शेखरहीम, शेखनबी एवं शेख नसीर ने भी योगी वेश वर्णन पर ध्यान नहीं दिया है, किन्तु इन सभी कवियों ने साधक के जोगी होकर गृहत्याग की चर्चा अवश्य की है। शेख निसार एवं शेखनसीर 'यूसुफ जुलेखा' के कुरान से सम्बन्धित प्रेमाख्यान होने के कारण अवश्य ऐसा नहीं कर सके हैं।

योगियों की वेषभूषा का साधक के स्वरूप के लिये रूढ़ हो जाना कोई अनहोनी बात नहीं है। कबीरदास के अनेक पदों में, सूरदास के भ्रमरगीत प्रसंग में भी योगियों के वेश की चर्चा हुई है। कबीरदास ने एक स्थल पर उसी योगी को योगी कहना उचित समझा था जो इन चिन्हों को अन्तर में धारण करता है[1]। इस प्रकार इन चिन्हों की नवीन व्याख्या भी कबीर के समय से ही आरम्भ हो गई थी। बाद के जिन सूफ़ी कवियों ने योगी वेश की विस्तृत चर्चा नहीं की है, उन्होंने किन्हीं विशेष वस्तुओं के चमत्कार एवं प्रभाव का वर्णन अवश्य किया है जिनमें लुकअंजन, गोटिका, लकुटिया एवं जन्त्र का वर्णन विशेष है।

सूफ़ी प्रेमाख्यानों में जहां योगी के वेश का वर्णन नायक के साधक स्वरूप के चित्रण में किया गया है, वहीं साधना की उत्कृष्टता के उपमान स्वरूप गोरखनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ एवं गोपीनाथ का उल्लेख हुआ है। कहा जाता है कि मत्स्येन्द्रनाथ सिंहल की सुन्दर नारियों के मध्य अपनी योग साधना से भ्रष्ट हो गये थे और फिर उनके शिष्य गोरखनाथ ने उन्हें चेतावनी दी थी, किन्तु इन्द्रावती का सौन्दर्य ऐसा मोहक है कि मत्स्येन्द्रनाथ के साथ ही गोरखनाथ भी अपना योग विस्मृत कर बैठे[2]। इसी प्रकार जब मालिन राजकुंवर का वर्णन इन्द्रावती को सुनाती है तो वह कहती है कि राजकुंवर के योगी वेश की सराहना सहज नहीं है। वह दूसरे गोपीचन्द की भांति ही ज्ञात होता है[3]।

वाम मार्ग के त्याग की चर्चा भी इन प्रेमाख्यानों में है[4]। वास्तव में ये सूफ़ी कवि

---

१. सो जोगी जाके मन में मुद्रा, रात दिवस ना करई निद्रा।
मन में आसण मन में रहणां, मन का जप तप मन सूं कहणां।
मन में षपरा मन में सींगी, अनहद नाद बजावै रंगी।
पंच प्रजारि भसम करि भका, कहै कबीर सो लहसै लंका।
कबीर ग्रन्थावली पद २०६ पृ० १५८।

२. जाकी चितवन भये बेहाथा, नाथ मुछन्दर गोरखनाथा।
नूरमुहम्मद : इन्द्रावती पृ० ४३।

३. जोगी भेस न सकउं सराही, गोपीचन्द दूसरो आही।
नूरमुहम्मद : इन्द्रावती पृ० ४१।

४. कहा शब्द तुम दाहिन लेऊ, बायें पन्थ पाउं जिन देऊ।
कासिमशाह : हंस जवाहिर पृ० १४५।

अपनी साधना-पद्धति में नाथ पंथियों के हठयोग से अधिक प्रभावित थे। शास्त्रग्रन्थों में हठयोग साधारणत: प्राण निरोध प्रधान साधना को ही कहते हैं। सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति में 'ह' का अर्थ सूर्य बतलाया गया है और 'ठ' का अर्थ चन्द्र। सूर्य और चन्द्र के योग को ही 'हठयोग' कहते हैं—

हकार: कथित: सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते।
सूर्याचन्द्रमर्सोयोगात हठयोगी निगधते॥

इस श्लोक की कही हुई बात की व्याख्या नाना भाव से हो सकती है। ब्रह्मानन्द के मत से 'सूर्य' से तात्पर्य प्राणवायु का है और चन्द्र से अपानवायु का। इन दोनों का योग अर्थात् प्राणायाम से वायु का निरोध करना ही हठयोग है। दूसरी व्याख्या यह है कि सूर्य इड़ा नाड़ी को कहते हैं और चन्द्र पिंगला को (हठ० ३१५) इसलिये इड़ा और पिगंला नाड़ियों को रोककर सुषुम्णा मार्ग से प्राणवायु के संचरित करने को भी हठयोग कहते हैं। हठयोग का एक अर्थ यह भी जान पड़ता है कि इस प्रकार अभ्यास किया जाय जिससे हठात् सिद्धि मिल जाने की आशा हो जाय। हठयोग शब्द का शायद सबसे पुराना उल्लेख गुह्य समाज में आता है। वहां बोधिप्राप्ति की विधि बता लेने के बाद आचार्य ने बताया है कि यदि ऐसा करने पर भी बोधि-प्राप्ति न हो तो 'हठयोग' का आश्रय लेना चाहिये[1]।

हठयोग के दो भेदों की चर्चा योगस्वरोदय में है। प्रथम में आसन, प्राणायाम, धोति आदि षटकर्म का विधान है जिससे नाड़ियां शुद्ध होकर परमानन्द प्राप्त करती हैं। दूसरे भेद में नासिका के अग्र भाग में दृष्टि निबद्ध करके, आकाश में कोटि सूर्य के प्रकाश को स्मरण करना चाहिये। ऐसा करने से साधक चिरायु एवं ज्योतिर्मय होकर शिवरूप हो जाता है। हठयोग के इन दोनों ही भेदों की चर्चा इन सूफ़ी प्रेमाख्यानों में होती है, किन्तु कहीं भी निश्चित क्रम एवं पूर्ण नियम साधन की चर्चा पृथक से हो, ऐसा नहीं है।

ये कवि बहुश्रुत ज्ञात होते हैं। करामातों एवं चमत्कार में विश्वास करने के कारण इनका संघर्ष नाथपंथी हठयोगियों से अवश्य हुआ होगा अत: अपने प्रतिद्वन्दी के उत्कृष्ट तत्वों को अपने साधना मार्ग में स्थान देकर इन सूफ़ियों ने बुद्धिमत्ता का प्रदर्शन किया। हठयोगियों की यौगिक क्रियाओं से इनका प्रभावित होना स्वाभाविक था।

हंस जवाहिर ग्रन्थ के रचयिता कासिमशाह ने स्पष्ट लिखा है कि यदि हंस रूपी साधक जवाहिर रूपी सिद्धि को निश्चय ही प्राप्त करना चाहता है, तो उसे योगसाधना करनी पड़ेगी। योग साधना के अन्तर्गत वह दृढ़ आसन, दृढ़ निद्रा, दृढ़ काम, एवं दृढ़ क्षुधा को आवश्यक मानता है। जब इस प्रकार की कष्ट साधना में साधक सफल हो जाय और साथ ही ज्योति बिन्दु का एकाग्र चित्त से ध्यान करता हुआ उसमें इतना तल्लीन हो जाय कि उसे अपने अस्तित्व का भी ध्यान न रहे, तब ही इस विरह संतप्त काया, एवं

---

1. नाथ संप्रदाय : हजारी प्रसाद द्विवेदी, प्रथम संस्करण १९५०, पृ० १२३।

ध्यानबद्ध मन को परमज्योति का दर्शन-लाभ सम्भव है [१]। इसी प्रकार नूरमुहम्मद ने भी इन्द्रावती में सूक्ष्माहार को योग साफल्य की कुन्जी माना है। इस तप एवं व्रत के पश्चात ही ज्योति-विन्दु का दर्शन सम्भव है [२]। घरेंड संहिता में भी योग-साधना के लिये चार बातें आवश्यक मानी गई हैं, प्रथम योग्य स्थान, द्वितीय विहित समय, तृतीय मिताहार और चतुर्थ नाड़ी शुद्ध। वास्तव में योगी के निवासस्थान एवं आहार का उसकी साधना पर विशेष प्रभाव पड़ता है। घरेंड संहिता एवं नूरमुहम्मद के 'इन्द्रावती' ग्रन्थ में वर्णित विचारों में बहुत साम्य है। घरेंड संहिता में जहां स्थान, समय, आहार एवं नाड़ी के सम्बन्ध में कथन है वहीं स्पष्ट रूप से मिताहार का महत्व भी स्वीकार किया गया है—

मिताहारं बिनायस्तु योगारम्भ तु कारयेत।
नानारोगा भवन्त्यस्य किंचिद्योगो न सिद्ध्यति॥

योग-साधना की सफलता के लिये दृढ़ आसन का महत्व भी कुछ कम नहीं है। पातंजलि योग दर्शन के अनुसार 'स्थिरसुखमासनम्' अर्थात् निश्चल होकर एक ही स्थिति में चिरकाल तक बैठने का अभ्यास ही आसन है [३]। आसन सिद्ध हो जाने के पश्चात् शरीर पर शीतोष्णादिक द्वन्द्वों का प्रभाव नहीं पड़ता तथा शरीर में सब प्रकार की पीड़ा सहने की शक्ति का विकास हो जाता है। शिवसंहिता में चौरासी प्रकार के आसनों की चर्चा है, पद्मासन, वीरासन, स्वस्तिकासन, भद्रासन, दंडासन, मयूरासन आदि प्रसिद्ध आसन हैं। सूफ़ी साहित्य में जहाँ कहीं भी आसनों की चर्चा आई है वहां पद्मासन का उल्लेख अधिक है। गोरक्ष पद्धति में भी कमलासन एवं सिद्धासन का विशेष महत्व वर्णित है—

आसनेभ्यः समस्तेभ्यो द्वयोतदुदाहृतम्।
एकं सिद्धासनं प्रोक्तं द्वितीयं कमलासनम्॥

पद्मासन में बाईं जंघा पर दाहिने पैर को रखकर बायें पैर को दाहिनी जंघा पर रखा जाता है। दोनों पैरों की एड़ियां नाभि के दोनों पार्श्वों में लगी रहती हैं और जानु

---

१. जो तों चहहि जवाहिर लीन्हा, तू कर योग गुरु जस कीन्हा।
कहूं योग की योगाचारी, ठाढ़ किया आंखों दुख भारी।
दृढ़ आसन दृढ़ निद्रा होऊ, दृढ़ हो छुधा दृढ़ काम न छोहू।
यह चारों का आसन मारयो, वह सुमिरौ तब आप बिसारयो।
देखो तारे लाय निहारी, हियरे मांझ जोत उजियारी।
ध्यान बांध मन ताहि तें काया बिरदा जाय।
तब पावस वह हेरतू, जब तू जाय हिराय॥
कासिमसाह : हंसजवाहिर पृष्ठ ११६।

२. उदर भरे घर जोत न होई, खाय मनाक जोगेसर सोई।
जोत एक तारा सम आगे, दिष्टि परत देखेउं अनुरागे॥
नूरमुहम्मद : इन्द्रावती पृ० २६, २८।

३. पातंजलि योग दर्शन, पाद २ सूत्र ४६।

पृथ्वी को स्पर्श किये रहते हैं। पृष्ठ भाग मे दोनों हाथों को ले जाकर बायें हाथ से बायें पैर का अंगूठा और दाहिने हाथ से साधक दाहिने पैर के अंगूठे को पकड़ता है। जलन्धर बन्ध लगाकर साधक दृष्टि को नासिका के अग्रभाग पर रखता है। इस आसन के अभ्यास से तथा जिह्वा को उलटकर जिह्वामूल में ले जाने से खेचरी मुद्रा सिद्ध होती है। इस आसन से कुंडलिनि महाशक्ति जाग्रत होती है तथा सुषुम्ना नाड़ी सीधी रहती है[1]।

अली मुराद ने आसनों में केवल एक पद्मासन का उल्लेख किया है, किन्तु आसन की मुद्रा का विस्तृत उल्लेख नहीं है[2]। अजपा जाप और पद्मासन इन दोनों का बहुत महत्व है। इन्हीं के द्वारा सुषुम्ना नाड़ी सीधी रहती है। कंठस्थ विशुद्ध चक्र में स्थापित होकर क्रमशः साधक को वास्तविक तत्व ज्ञान की उपलब्धि होती है। अज्ञानान्धकार मिट कर उसे ज्योति लाभ होती है[3]।

आसन के पश्चात् प्राणायाम की साधना होती है। प्राणायाम साधना से मन नियन्त्रित होना है। गोरक्ष पद्धति में 'हंस' नामक अजपा गायत्री मन्त्र की चर्चा है जिसके अनुसार 'ह' कार के साथ प्राणवायु बाहर आता है और 'स' कार के साथ भीतर जाता है।

'हकारेण वर्हियाति सकारेण विशेषन्पुनः।
हंस हंसेत्युमुमंत्र जीवो जपति सर्वदा'।

हठयोगी प्राणवायु का निरोध करके कुन्डलिनी को उद्बुद्ध करता है। यही उद्बुद्ध कुन्डली षटचक्रों का भेद करती हुई, सातवें अन्तिम चक्र सहस्रार में शिव से मिलती है। प्राणवायु ही इस उद्बोध एवं शक्ति संगमन का हेतु है। यही कारण है कि हठयोग में प्राण निरोध का बड़ा महत्व है। अली मुराद ने अपने ग्रन्थ कुंवरावत में प्राण निरोध की इस क्रिया का उल्लेख किया है। श्वास प्रश्वास के क्रमशः निरोध के द्वारा साधक को चाहिये कि श्वास को शीर्षस्थान में ले जाय। श्वास के शीर्षस्थान पर स्थित हो जाने से निर्गुण का गान, शिव का संगम सहज हो जाता है[4]।

---

१. सुन्दर दर्शन पृ० ३६, डॉ० त्रिलोकीनारायण दीक्षित।

२. पद्मासन गहि होरी गावै, मद बिरहा की गारी।
अली मुराद मोंह मन भायो, निसदिन वाही पै वारी।

३. सुखेमना और नरकटी, अनुभव मसि ~ल जाय।
अजपा जाप और पद्मासन सब हिरदै लहराय॥
अलीमुराद : कुंवरावत।

४. सांसा का तुम सीस चढ़ायो, घड़ी घड़ी बाहर मिलराओ।
× ×
सांसा ले चल सीस पर बैठा निर्गुन गाव।
अलीमुराद : कुंवरावत।

कुन्डलिनी के उद्बुध एवं प्राणवायु के स्थिर हो जाने पर साधक शून्य पथ से निरन्तर अनहद नाद को सुनने लगता है जो निखिल ब्रह्मान्ड में अखन्ड रूप से निरन्तर ध्वनित हो रहा है। योग शास्त्र में नाद दश प्रकार के कहे गये हैं। हठयोग प्रदीपिका में इन प्रकारों का क्रमशः समुद्रगर्जन, मेघगर्जन, भेरी, मर्मर, मर्दलध्वनि, शंखध्वनि, घंटा ध्वनि, काहल ध्वनि, किंकिणी ध्वनि, वंशीध्वनि तथा वीणाझंकार के रूप में उल्लेख है[1]।

अनहद नाद के दस प्रकारों का उल्लेख कवि निसार ने 'यूसुफ जुलेखा' में किया है[2]। किन्तु यह केवल संकेत मात्र है। उसमें अनहद के इन दस प्रकारों का नामकरण एवं विशेष विवरण नहीं दिया गया है। कवि मंझन ने अनहद नाद का केवल उल्लेखमात्र किया है। कुँवर मनोहर ने 'मधुमालति' के दर्शनार्थ गोरखनाथ के उपदिष्ट मार्ग को ग्रहण कर लिया। दर्शन की एकनिष्ठ लालसा के कारण सहज ही अनहद नाद ध्वनित होने लगा[3]। अलीमुराद ने अनहद नाद की चर्चा छत्तीसों राग में की है। त्रिकुटी के आज्ञा चक्र में ध्यानावस्थित होकर तथा पांचों काम, क्रोध, मद मोह और लोभ नामक विरोधी तत्वों को परास्त करके साधक अनहद नाद का श्रवण करता है। इस अनहद नाद को छत्तीसों राग के द्वारा भी कवि रिझाने का प्रयास करना चाहता है[4]। विकारों की यही पांच संख्या निर्गुण धारा के सन्तों को भी मान्य हैं। कवि नूरमुहम्मद ने चार विकार केवल काम, क्रोध, तृष्णा एवं माया का ही उल्लेख किया है। इस शरीर में ये चार विकार चार पक्षियों की भांति हैं जो तत्व तत्व चुन लेते हैं, साथ ही यह विरोधी शक्तियां इतनी

---

१. आदौ जलधि जीमूत, भेरी झर्झर संभवाः।
मध्ये मर्दल शंखोत्था घंटा काहलजास्तथा।
अन्तेतु किंकिणी वंशी वीणा भ्रमर निःस्वनाः।
इति नाना विधा नादाः श्रूयंते देहमध्यगाः॥

हठयोग प्रदीपिका उप० ४।

२. सुने बचन सब कोऊ, अनहद दस प्रकार।
ताकर रूप न देखें, कारन कवन विचार।

कवि निसार : यूसुफजुलेखा।

३. दरसन लाग इह मन कीन्हेसि, मग गोरख जा जाग।
कर दरसन रयों ले उपराजा, सहज अनाहद झंकरी गाजा॥

मधुमालती : मंझन।

४. त्रिकुटी बीच में डेरा डारौं, बैरी मन हैं पांचों मारौं।
अनहद से मैं ध्यान लगाऊं, छत्तीसों राग सुनाय लुभाऊं।

अली मुराद : कुंवरावत।

प्रबल हैं कि दमन करने पर भी सहज ही नष्ट नहीं होती[1]। अंतस्साधना के वर्णन में हठयोग में हृदय को दर्पण भी कहा गया है। कवि उसमान ने इस हृदयदर्पण के महत्व को स्पष्ट किया है। हृदयदर्पण की शुद्धि के द्वारा ही सिद्धों ने भी अपना अभीष्ट लाभ किया था। इसी दर्पण में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड समाया हुआ है। गुरु प्रदत्त दीक्षा के द्वारा जिसने अपने हृदय दर्पण को शुद्ध कर लिया है, उसे तीनों लोक इसी दर्पण में दृष्टिगोचर हो जाते हैं[2]।

साधक की चार जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुरीयावस्था का उल्लेख भी कवि निसार ने यूसुफ जुलेखा के अन्तर्गत किया है[3]।

सूफी स्फुट साहित्य रचयिताओं के पदों में भी हठयोग साधना की यथेष्ट चर्चा रहती है, किन्तु कवि अब्दुलसमद ने सूर्य और चन्द्र, प्राणवायु और अपानवायु, इड़ा और पिंगला नाड़ियों के निरोध; तत्पश्चात् अनहद ध्वनि, 'सो हं' का अभ्यास, तदन्तर केवल एक उसी की अवस्थिति आदि का क्रम से वर्णन किया है।

'एकाग्रचित्त से ध्यान धारणा के पश्चात् सूर्य एवं चन्द्र, इड़ा एवं पिंगला नाड़ियों को उद्बुद्ध करके सुषुम्ना मार्ग से ले जाने का प्रयास साधक को करना चाहिये। इस क्रिया में सफल होने पर साधक निरन्तर अनहदध्वनि का श्रवण करता है। ज्यों-ज्यों साधक का चित्त स्थिर होता जाता है और 'सो हं' का जाप पूर्ण होता जाता है, साधक का पृथक अस्तित्व मिट जाता है, फिर उसे अनहदध्वनि भी सुनाई नहीं पड़ती, उसकी सम्पूर्ण चेतनायें विस्मृत होकर केवल एक 'वही' अवशिष्ट रह जाता है[4]।'

---

१. सुख मों काम क्रोध अधिकाई, तिस्ना माया कर अगुवाई।
चार पखेरू तेहि तन माहीं, चारों चारा नित उड़ि जाहीं।
रेत अीउं चारों कर प्यारी, मरि कै जियई होहि गुन धारी।
नूरमुहम्मद : इन्द्रावती, पृष्ठ ४१।

२. यह दरपन तुम लेहु सम्हारी, जेहि मंह देखहु दरस पियारी।
येही मुकुर सिद्धन कर गहा, मन की इच्छ इसी मधि चहा।
चौदह भुवन रहहिं मन माहीं, तिल समान कछु बाहर नाहीं।
नैन होइ गुरु अंजन आंजा, दरपन होइ नीक करि मांजा।
जंह लग धरती सरग पतारू, परै दृष्टि सब बांच न बारू।
कवि उसमान : चित्रावली पृ० १०२।

३. ना वह मरे, न मिटे न होई, अपर मरम न जाने कोई।
जाग्रत, सपन, सुषुप्ति साजा, पुनि तुरीया मंह आय बिराजा।
कवि निसार : यूसुफ जुलेखा।

४. जैसे तकत बिलाई मूसा, ऐसे ताक लगाई।
उनगिन्नी की चन्दा उये, चांद सुरज ये दोऊ डूबे।
सुन्दर मूरत शब्द ज्ञान की, अनहद सब्द सुनाई।
अनहद मिटी ज्ञान मिट जावे, सोहं पूरन जब फिर आवै।
या से आगे कहा कही मस्ता, एक हीं एक लखाई।
अलीमुराद।

इस शरीर में आत्मा का निवास है जिसका दर्शन (आत्म-दर्शन) करना प्रत्येक साधक का कर्तव्य है। सात पटों (चर्म, रुधिर, मांस, मद, अस्थि, मज्जा, वीर्य) के आवरण में वह आत्मा इस प्रकार आवृत है कि उसका सहज ही दर्शन सम्भव नहीं है। बारह मन्दिर [१० इन्द्रिय (५ कर्मेन्द्रिय ५ ज्ञानेन्द्रिय) मन और बुद्धि] में वह आत्मा स्थित है। उस मन्दिर में तेरह द्वार हैं जिनमें से नौ द्वार, दो नेत्र, दो कर्ण छिद्र, मुख, मूत्रद्वार, मलद्वार नित्य खुले रहते हैं जिनके कारण मनुष्य संसार में लिप्त रहकर आत्मज्ञान से दूर रहता है। यदि वह दशम द्वार ब्रह्मरन्ध्र को उन्मुक्त करे तो ब्रह्म का साक्षात्कार हो सकता है। 'नूरमुहम्मद' के इस कथन में और योग साधना में साम्य है। दश द्वार के स्थान पर कवि ने तेरह द्वार लिखा है किन्तु उनका उल्लेख नहीं किया है [१]।

सूफ़ी प्रेमाख्यानों में नायिका के निवासस्थान की चर्चा करते समय कवियों ने 'कबिलास, या कैलास' शब्द का प्रयोग किया है। नायिका ही सिद्धि है जिसकी प्राप्ति साधक या नायक का उद्देश्य है। कबिलास या कैलास वह चरमभूमि है जहाँ तक पहुँचना साधक का ध्येय है। हठयोग साधना में भी उद्‌बुद्ध कुण्डलिनी को सहस्रार तक पहुँचाना साधक का लक्ष्य होता है। यही सहस्रार इस पिण्ड का कैलाश है, यहीं पर शिव का निवास है। बहुत सम्भव है कि हठयोग की इस शिव और कैलाश की भावना से प्रेरित हो सूफ़ी कवियों ने परमेश्वर के स्वरूप नायिका के निवासस्थान के लिये कबिलास एवं कैलास शब्दों का प्रयोग किया है, जो वास्तव में हठयोग का शिव स्थान कैलास

---

१. सात अन्तर पट भीतर सोई, रहत न देखत आखिन्ह कोई।
बारह मन्दिर मों वह प्यारी, रहत सदा है सेज संवारी।

× ×

है मन्दिर मों तेरह द्वारा, नौ द्वारा नित रहत उघारा।
बाय तेज जल पृथ्वी, मानहुं कैयक ठांउ।
बारह मन्दिर संवारा, जगपत जाको नाउं॥

× ×

दसई द्वार न खोलत कोई, तब खोलै जब मरमी होई।

× ×

आजु उघारेउ दसई द्वारा, दिस्टि परा वह प्रीतम प्यारा।

नूरमुहम्मद : इन्द्रावती।

है [1]। कहीं कहीं पर कैलास शब्द स्वर्ग का समानार्थी होकर भी प्रयुक्त हुआ है [2]।

सिद्धों एवं तान्त्रिक प्रयोगों की दृष्टि से प्रसिद्ध स्थानों की चर्चा भी इन सूफ़ी प्रेमाख्यानों में है। शेखनबी कृत 'ज्ञान दीप' ग्रन्थ में 'हिंगलाज' पर्वत का उल्लेख है जो करांची से तेरहवीं मंजिल पर तान्त्रिक प्रयोग का प्रसिद्ध स्थानहै। इस पर्वत पर एक देवी का मन्दिर भी है, 'ज्ञानद्वीप' के साधना-गुरु सिद्धनाथ ने यहीं सिद्धि प्राप्त की थी [3]। इसी प्रकार कासिमशाह ने अपने ग्रन्थ 'हंस जवाहिर' में आसाम प्रदेश में स्थित कामाख्या देवी के पूजन का भी उल्लेख किया है [4]।

सूफ़ी साधना में गुरु की श्रेष्ठता एवं महत्व भी सम्भवतः भारतीय प्रभाव के कारण है। बिना 'पीर' की कृपा के सिद्धि प्राप्ति असम्भव है। श्वेताश्वर एवं मन्डूकोपनिषद् में गुरु-महात्म्य की चर्चा है। सिद्धों एवं नाथों की साधना में गुरु की अनिवार्यता मान्य थी। मध्यकालीन धर्म साधनाओं में गुरु-महात्म्य की प्रचुर चर्चा है। तुलसीदास एवं कबीरदास सभी गुरु कृपा की आकांक्षा करते हैं। सूफ़ी साधना में मुरीद की शेख के प्रति अटूट श्रद्धा की भावना को सर्व प्रथम अलहुज्विरी ने महत्व दिया था। हुज्विरी भारत आया था, बहुत सम्भव है कि उसने यहां के धार्मिक सम्प्रदायों के सम्पर्क में आकर ही गुरु महात्म्य की भावना को दृढ़ किया हो।

---

१. बाजन बाजे कोटि पचासा, भा अनन्द सगरौं कैलासा।
सात खण्ड ऊपर कबिलासू, तहचाँ नारि सेज सुख बासू॥
जायसी : पद्मावत, रत्नसेन पद्मावती विवाह खण्ड,
पद्मावती रत्नसेन भेंट खण्ड।

आगमपुर कविलास मझारा, फागुन आइ अनन्द पसारा।
नूरमुहम्मद : इन्द्रावती पृ० ३४।

करत जो कौतुक खेल सब, नखत सखी चहुँ पास।
लये सो भामिनी दुलहकां, गई मांझ कैलास॥
बरनूं का कैलास अनूपा, अचरज रैन मांझ जनु धूपा।
कासिमशाह : हंस जवाहिर पृ० ८६।

२. आउ पिता जो जगत कर, छोड़ दीन्ह कैलास।
लीने तिरिया के मते, नारद मिटा सुवास।
हंसजवाहिर : कासिमशाह पृ० १६५।

३ हिंगुलाज जीत सा गसि जोगु, चित्रकूट तीज बैठेउ भोगु।
दसौ दुआर न खोलइ, कियउ जो ताली बन्द।
अमी अधार नाम विधि, जग धंधा सब धंध॥
शेखनबी : ज्ञानदीप।

४. देखा तहँ मन्डप उजियारा, कन्चन लीप राख रतनारा।
तहाँ मूर्ति कामिख्या केरी, पूजे राय राव और चेरी॥
कासिमशाह . हंसजवाहिर पृ० १४६।

तात्पर्य यह कि सूफियों की साधना-पद्धति पर भारतीय विचारधारा का प्रभाव कई रूपों में स्पष्ट दीख पड़ता है ।

सूफी साधना और प्रेम :

मानवीय अन्तर्वृत्तियों में रति भाव अथवा काम का महत्वपूर्ण स्थान है। काम की गणना चार पुरुषार्थों के अन्तर्गत की गई है। वस्तुतः काम-भावना का प्रसार सम्पूर्ण जीवन में किसी न किसी रूप में बना ही रहता है। आहार, परिग्रह एवं सन्तान मनुष्य की तीन प्रधान इच्छाएँ हैं। 'काममयः येवायं पुरुषः', 'चित्तं वै वासानात्मकम्' के अतिरिक्त 'काममयः' एवं 'इच्छामयः' ऐसी उक्तियों से काम के महत्व की पुष्टि होती है। रति भावना आत्म-विस्तार का एक साधन मात्र है। आहार, परिग्रह और सन्तान, के मूल में यही आत्म-विस्तार की भावना प्रधान रहती है। अपनी भिन्न ऐषणाओं की परितृप्ति के द्वारा मानव सदैव सुख प्राप्त करना चाहता है।

काम भावना को ही जैन दर्शन में 'मैथुन' बौद्ध दर्शन में 'काम तृष्णा' तथा चरक संहिता में 'प्राणैषणा' कहा गया है। ज्ञानेन्द्रियों के तदनुकूल विषयों के अनुभव की इच्छा को ही कामसूत्र में 'कामसामान्य' कहा गया है। काम की व्यापकता सर्वमान्य है।

काम की दो भार्यायें[1] वस्तुतः उसके दो भिन्न स्वरूपों का परिचय देती हैं। 'रति' और 'प्रीति' में द्वेष और कलहगत सम्बन्ध नहीं है। वह दोनों सगोत्रीय एवं एक दूसरे की पूरक हैं। रति का सम्बन्ध शारीरिक तुष्टि एवं प्रीति का मानसिक संतोष से है। मनुष्य की कोमल वृत्तियों का सम्बन्ध अधिकांशतः इसी रति भावना से है। प्रेम, प्रीति, श्रद्धा, करुणा, दया, क्षमा, भक्ति, स्नेह, वात्सल्य, सौहार्द आदि का आधार रति भावना है। प्रेम भावना के लिए विशिष्ट गुणों, सौन्दर्य एवं लावण्य आदि आकर्षणों की अपेक्षा नहीं। प्रेम स्वतः सामान्य का विशेषीकरण है। प्रेमी की सारी भावनायें, वासनायें एक व्यक्ति विशेष पर केन्द्रित होती है, जिसकी हर सामान्य वस्तु भी उसे विशेष ज्ञात होती है। प्रेम की कोई निश्चित परिभाषा देना कठिन है। सम्भवतः यही कारण है कि देवर्षि नारद से लेकर अन्य आधुनिक मर्मज्ञों ने भी इसे सदैव अनिर्वचनीय ठहराने की चेष्टा की है। प्रेम को अनिर्वचनीय मानते हुए भी उसके व्यावहारिक रूप का परिचय देने की चेष्टा बराबर की जाती रही है। 'प्रेम' शब्द का साधारणतः अर्थ उस आनन्दमयी अनुभूति से होता है जो किसी व्यक्ति विशेष के रूप, गुण आदि के सान्निध्य में प्रेमी को प्राप्त होती है। प्रेम की इस परिभाषा के अन्तर्गत किसी वस्तु, देश या भावना के प्रति प्रदर्शित किये जाने वाले प्रेम का परिचय नहीं आता। प्रेम भाव के अन्तर्गत रति या राग का वह स्वरूप आता है जो अभिमत वस्तु की ओर आकृष्ट होकर सदैव अप्रतिहत गति से उसी ओर प्रवाहित होने की चेष्टा करता है। यह भावना मनुष्येतर जगत में भी नैसर्गिक रूप में

---

१. कामस्य द्वे भार्ये रतिश्च प्रीतिश्च।

पाई जाती है। इस प्रकृति को कभी-कभी 'वासना' समझने का भ्रम भी होता रहा है। इसी वासना को प्राय: सभी देश और काल में सृष्टि के उद्भव और विकास के मूल में स्वीकार किया गया है।

इतना होते हुये भी काम और प्रेम में अन्तर है। प्रेम का सम्मान सर्वदा सर्वत्र होता आया है। वहीं 'काम' का उल्लेख केवल एक वासना के रूप में होता रहा है। वस्तुत: इन दोनों में अन्तर भी है। 'काम' वासना का सम्बन्ध स्थूल शरीर तथा शारीरिक क्रियाओं से होता है और वह उन्हीं के उपभोग से कुछ काल के लिये सन्तुष्ट भी हो जाता है। काम एक प्रकार की वह चाह या अभिलाषा है जो अधिकांश स्वार्थपरक हुआ करती है। उसमें स्वयं सुख-लाभ की इच्छा सर्वोपरि होती है, दूसरे के हित का ध्यान नहीं हुआ करता। इसके विपरीत प्रेम का आधार मानसिक या हृदयपरक होता है तथा उसकी तीव्रता में एकरसता रहती है। इसमें मानव भावना का समावेश नहीं होता। काम की इन्द्रियासक्ति का परिष्कार करके ही उसके स्थान पर प्रेम का मनोहर पुष्प विकसित किया जा सकता है[1]।

'काम' शब्द के साथ हीनत्व की भावना का सम्बन्ध आरम्भ से ही नहीं है। इसका 'इन्द्रियपरक वासना' के अर्थ में प्रयोग बहुत बाद में आरम्भ हुआ। वैदिक काल में 'काम' शब्द का एक अर्थ प्रेम भी था। इसके अतिरिक्त भी, काम का प्रयोग अधिक व्यापक और अधिकांशत: कामना के अर्थ में होता रहा। इसी कारण 'पूर्ण कामना मुक्त' पुरुष को निकाम भी कहा गया है। 'कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसोरेत: प्रथमं यदासीत्' में इस शब्द का प्रयोग वस्तुत: इसी व्यापक अर्थ में हुआ है, कालांतर में इसका प्रयोग संकुचित होता गया। कामसूत्र में पञ्च ज्ञानेन्द्रिय जनित सुख के अनुभव की लालसा को ही काम सामान्य कहा गया है। काम में कामास्पद पदार्थ के प्रति अत्यधिक आसक्ति एवं आत्म-तृप्ति की भावना का लक्ष्य होता है। प्रेम में भी आसक्ति और कामना का प्रचुर अंश वर्तमान रहता है किन्तु काम और प्रेम का प्रधान अन्तर आत्मतृप्ति तथा आत्मसमर्पण में निहित है। प्रेमी अपनी प्रिय वस्तु को आत्मसात् कर लेने की अपेक्षा स्वयं को तद्रूप बनाने का प्रयास करता है।

शुद्ध प्रेम अहेतुक अर्थात् बिना किसी स्वार्थपरक इच्छा के होता है। प्रेम का किसी विशेष गुण से सम्बन्ध नहीं होता, वह तो सामान्य को भी विशिष्ट बना देता है। किसी विशेष गुण या सौंदर्य के आधार पर उत्पन्न हुआ प्रेम गुण के अभाव में नष्ट भी हो जाता है तथा उससे अधिक या उसके समान अन्य रूप गुण स्वभाववाली उत्कृष्ट वस्तु के प्रति पुन: जाग्रत हो सकता है। अत: वह अहेतुक और एकरस प्रेम नहीं हो सकता जिसे

---

1. 'It is not until lust is expanded and eradicated that it develops into the exquisite and enthralling flower of love'.
Psychology of Sex by Havelock Ellis Vol. V PP. 133.

हृदय की एक निश्चयात्मक प्रवृत्ति कहा जा सके। उसे केवल वासना विकृत लोभ की संज्ञा ही दी जा सकती है जिसमें वासना प्रधान होती है। वासना की तृप्ति व्यक्ति के प्रति उपेक्षा अथवा घृणा का भाव उत्पन्न करती है। शारीरिक तृप्ति के पश्चात् व्यक्ति का महत्व क्षीण हो जाता है किन्तु प्रीति उत्तरोत्तर विकसित, प्रगाढ़ और गम्भीर होती जाती है। प्रेम की स्थिरता का कारण प्रेमी की लगन, उसका सहज स्वभाव, उसकी भाव प्रवणता तथा भावुकता होती है। प्रेम सदा एक अविच्छिन्न धारा की भाँति प्रवाहित होता रहता है। उसमें क्षीणता उत्पन्न न होकर निरन्तर वृद्धि होती रहती है [१]। प्रेमी प्रिय के रूप में प्रिय-सम्बन्ध-जनित अपनी आत्म-भावना से प्रेम करता है। प्रिय के माध्यम से उसे अपने व्यक्तित्व के प्रसार का अवसर प्राप्त होता है। निरन्तर प्रिय-चिन्तन में मग्न रहने के कारण प्रेमी को सदा प्रिय सान्निध्य का अनुभव, दर्शन तथा साक्षात् हुआ करता है। वह केवल प्रिय का दर्शन करता, उसी के मधुर वचनों को सुनता, उसी की चर्चा और चिन्तन में लगा रहता है [२]। प्रिय प्रेमी के रोम-रोम में व्याप्त हो जाता है। वह स्वयं न रहकर तदैव हो जाता है। उसकी मनोवृत्तियों का उन्नयन ही नहीं होता वरन् उसके सम्पूर्ण जीवन में ही आमूल परिवर्तन हो जाता है।

केन्द्रगत आकर्षण प्रेम है। उसमें कोई दुराव, द्विविधा और संकोच का स्थान नहीं। व्यक्तित्व अपने सीमित क्षेत्र को छोड़कर व्यापकत्व को प्राप्त करता है, 'पर' भी 'स्व' हो जाता है। आत्म-प्रसार का दूसरा स्वरूप प्रेम है।

जीवन में प्रेम की व्यापक महत्ता के कारण ही सम्भवत: साहित्य में भी उसे महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। हिन्दी काव्य में प्रेमव्यन्जना के विविध स्वरूप उपलब्ध होते हैं।। वीर गाथा काल की प्रेमव्यन्जना पूर्णरूपेण लौकिक है, साथ ही नायक के वीरत्व एवं दर्प के समक्ष उसका गौण स्थान है। वास्तव में प्रेम की अलौकिकता का आरम्भ 'श्रीमद्भागवत' में प्रतिपादित रागानुरागा भक्ति के द्वारा होता है। मध्यकाल में 'प्रेम साधना' सम्पूर्ण भारत एवं हिन्दी साहित्य में किसी न किसी रूप में स्थिति थी। दक्षिण भारत में आडवार भक्त, बंगाल में बाउल साधक प्रेम के रहस्यात्मक आनन्दमय स्वरूप का उद्घाटन कर रहे थे। जयदेव का 'गीतगोविन्द' विद्यापति की पदावली एवं कृष्ण भक्तों के रससिक्त पद प्रेम के अलौकिक स्वरूप को प्रखर कर रहे थे। राजस्थान की शुष्क भूमि मीरा के प्रेमगीतों से रस-प्लावित हो गई। सम्पूर्ण उत्तरी भारत में वैष्णवों की प्रेम साधना व्याप्त थी। ऐसे ही समय में सूफ़ियों ने अपने प्रबन्धों में जिस प्रेम का परिचय दिया वह नवीन होते हुये भी आकर्षक था। पूर्ण रूप से अलौकिक होते हुये भी लौकिक था। मध्य युग में 'प्रेमभावना' के दो प्रमुख रूप देखने को प्राप्त होते हैं। एक का

---

१. गुण रहितं कामना रहितं प्रतिक्षणवर्धमानविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभव रूपम्।
नारद० भ० सू० ५४।

२. तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेवं श्रृणोति, तदेव भाषयति, तदेव चिन्तयति।
ना० भ० सू० ५५।

सम्बन्ध राधाकृष्ण की लीला से है जो उपासनात्मक है और दूसरा पूर्णरूप से रहस्यात्मक, जिसका सम्बन्ध सूफ़ी साधना से है।

भागवत् भक्तों का प्रेम उस 'परोक्ष' सत्ता से था जिसका नागर रूप उन्हें मान्य था। कृष्ण एवं राधा के जिस प्रेम का वर्णन वैष्णव सम्प्रदाय की सहजिया साधना में मिलता है वह शुद्ध लौकिक है। उसमें अलौकिकत्व का समावेश पात्रों की अलौकिकता के कारण होता है। यदि राधा कृष्ण से सम्बन्धित प्रेम व्यन्जना में राधा एवं कृष्ण का नाम हटाकर किसी अन्य नायक या नायिका का नाम रख दिया जाय तो वह केवल लौकिक प्रेम का प्रदर्शन होगा।

कबीर आदि निर्गुण सन्तों ने 'परोक्ष' के प्रति प्रेम प्रदर्शन में गुह्यता का समावेश कर दिया। अलौकिक पात्र राम पर लौकिक सम्बन्ध (पति एवं पत्नी) की स्थापना करके कवि साध्य एवं साधक का परिचय देना चाहता है। इस प्रेम पद्धति में प्रिय एवं प्रेमी का सम्मिलन किसी भूमि पर न होकर सहस्त्रदल कमल पर होता है। 'सती' एवं 'सूरमा' इस प्रेम के प्रतीक हैं। ये प्रेम पथ पर तीव्रता से अग्रसर होते एवं प्रेम मार्ग में स्वयं को नष्ट कर देते हैं। इस प्रेम व्यन्जना में वासना या शारीरिक लिप्सा के किसी स्वरूप का दर्शन नहीं होता। यह शुद्ध शुष्क एवं गुह्य प्रेम है जिसकी व्यन्जना परोक्ष के प्रति हुई है किन्तु उसमें किसी लौकिक व्यापार का आरोप नहीं होता।

सूफ़ियों का प्रेम 'प्रच्छन्न' के प्रति है। सूफ़ी अपनी प्रेम व्यन्जना साधारण नायक नायिका के रूप में करते हैं। प्रसंग सामान्य प्रेम का ही रहता है किन्तु उसका संकेत 'परमप्रेम' का होता है। बीच बीच में आनेवाले रहस्यात्मक स्थल इस सारे संसार में उसी की स्थिति सूचित करते हैं साथ ही सारी सृष्टि को उस एक से मिलने के लिये आतुर चित्रित करते हैं। लौकिक एवं अलौकिक प्रेम दोनों साथ साथ चलते हैं। प्रस्तुत में अप्रस्तुत की योजना होती है। वैष्णव भक्तों की भांति इनकी प्रेम व्यन्जना के पात्र अलौकिक नहीं होते। लौकिक पात्रों के मध्य लौकिक प्रेम की व्यन्जना करते हुये भी अलौकिक की स्थापना करने का दुरूह प्रयास इन सूफ़ी प्रबन्ध काव्यों में सफल है।

वीरगाथाकालीन प्रेम व्यंजना सामान्य रति भाव की व्यंजना है। यही रति भाव भक्ति काल में अलौकिकत्व को प्राप्त हो दिव्य बन गया। रीति काल में इस रति का वर्णन शुद्ध कामवृत्ति के रूप में हुआ। इस काल में रति के शुद्ध लौकिक रूप का प्रस्फुटन हुआ। सूफ़ियों की प्रेम व्यन्जना इसी पृष्ठभूमि में स्पष्ट होती है।

प्रेमी एवं प्रेमाधार के पारस्परिक संबधानुसार प्रेम का रूप कुछ भिन्न भिन्न हो सकता है। प्रेम-पात्र की स्थिति यदि प्रेमी की अपेक्षा अधिक ऊँचे स्तर की हो तो उसके प्रति श्रद्धा एवं यदि निम्नस्तर की हो तो उसके प्रति स्नेह भाव जाग्रत होता है। इसी प्रकार समान वय एवं वर्गवाले व्यक्तियों के मध्य इस प्रेम का सर्वथा पृथक स्वरूप प्रकट होता है। दो मित्रों या पति पत्नी के मध्य व्यक्त होने वाला भाव सौहार्द या घनिष्ठ प्रेम होता है।

सम वय एवं वर्गवाले व्यक्तियों के मध्य स्थित प्रेम या माधुर्य भाव के कई स्वरूप साहित्य में उपलब्ध होते हैं।

किसी कुमारी एवं कुमार का विवाह से पूर्वोद्भूत प्रेम जिसका अन्त संयोग या चिरवियोग में होता है। इस प्रकार के प्रेम में सामाजिक बन्धनों की मान्यता नहीं होती। इसी कारण प्रेम की प्रथमावस्था में गाम्भीर्य और विस्तार की अपेक्षा आवेग, उद्वेग और विह्वलता का आधिक्य रहता है। उन्मुक्त प्रेम अधिकांश अवस्थाओं में सफल नहीं होता। ऋग्वेद में वर्णित यम, यमी का प्रेम इसी स्वरूप के अन्तर्गत आता है।

अन्तःपुर की सीमाओं में राजकीय स्त्रैणता के पौरुषहीन, निस्सार उत्कट काम वासना जन्य प्रेम की अभिव्यक्ति भी साहित्य में होती रही है। यह प्रेम व्यन्जना प्रेम के सात्विक स्वरूप का परिचय न देकर काम वासना की ही प्रतीक थी। ऐसे प्रेम के स्वरूप उस समाज में अधिक उपलब्ध होते हैं जिसमें जीवन का सहज उल्लास एवं स्वाभाविक गति कठिन सामाजिक नियमों से अवरुद्ध हो गई हो। इसमें नवयौवना प्रेमिकाओं की विलास मयी क्रीड़ाओं, कटाक्षों तथा नागर नायक के घात प्रतिघातों का वर्णन अधिक मिलता है। नारीत्व, सम्मान का विषय न रहकर केवल वासना-पूर्ति का साधन रह जाता है।

प्रेम का आदर्श रूप वह है जिसका प्रस्फुटन विवाह के पश्चात् होता है। इसका विकास जीवन क्रम के साथ उत्तरोत्तर होता चलता है तथा जीवन की गहन और विषम परिस्थितियों में भी प्रेम की गम्भीरता तथा गूढ़ता बढ़ती ही जाती है। इस प्रेम में एकनिष्ठता की भावना के साथ ही कर्तव्य की दृढ़ भावना का भी समन्वय रहता है। प्रेम न तो एक मात्र वासना तृप्ति का ही साधन है और न कर्तव्य कसौटी। कर्तव्य और भावना का सहर्ष समन्वय ही प्रेम है। विवाह और प्रेम दो भिन्न वस्तुएँ हैं। विवाह के पश्चात् सामाजिक नियमों के अनुसार दो मिलने वाले व्यक्ति जब स्वेच्छापूर्वक सहर्ष अपने पृथक व्यक्तित्व को त्यागकर अविच्छिन्न रूप में आबद्ध हो जाते हैं तभी प्रेम का प्रतिपादन होता है। इसी कारण साहित्य शास्त्री स्वकीया तथा परकीया प्रेम की कसौटी विवाह न मानकर, मानसिक वृत्ति को मानते हैं। विवाह के पश्चात् उत्कर्ष पाने वाला प्रेम सामाजिक नियमों का पालन करने के साथ ही प्रेमियों को अप्रत्याशित शंकाओं, चिन्ताओं तथा अपवादों से भी मुक्त कर देता है। इस प्रेम में आरम्भ से ही सहज गाम्भीर्य और आत्मत्याग की भावना वर्तमान रहती है।

प्रेम का एक और स्वरूप भी साहित्य में दृष्टिगोचर होता है जिसमें न तो सामाजिक बन्धन हैं, न प्रेमियों की एकान्त इच्छा विवाह रूपी संयोग की है। इसमें प्रेमियों का आधार एवं आदर्श, दोनों ही विरह हैं। ऐसे प्रेम में भावना की उन्मुक्त और अबाधित अभिव्यक्ति पाई जाती है। इस प्रकार के प्रेम के दर्शन वैष्णव प्रेम या मधुर भक्ति में मिलते हैं। राधा और कृष्ण एवं गोपी प्रेम इसके आदर्श हैं। सीता का प्रेम जहां कर्तव्य-निष्ठा, गाम्भीर्य और संयम का परिचायक है, वहीं राधा तथा गोपियों के प्रेम में भावना की तीव्रता, विरह की सजगता भावोन्माद तथा गम्भीरतम आकांक्षा का सामन्जस्य प्राप्त होता है।

प्रेम का एक और स्वरूप जिसकी कल्पना महाकवि कालिदास ने मेघदूत में की थी, हिन्दी साहित्य में प्रचलित एक प्रेम पद्धति है। यद्यपि भारतीय साहित्य में नारी ही अधिक विह्वल एवं आतुर चित्रित की गई है फिर भी पुरुष की विरह कातरता तथा उद्वेगजनित भावुकता

के दर्शन भी साहित्य में विरल नहीं हैं। शामी साहित्य की परम्परा में तो पुरुष को ही नारी संयोग के हेतु अधिक व्यग्र दिखाया गया है प्रेम के इस स्वरूप पर सामाजिक स्थितियों का बहुत प्रभाव पड़ता है।

प्रेम का एक अन्य स्वरूप गुण-श्रवण, चित्र-दर्शन, स्वप्न-दर्शन या साक्षात् दर्शन से प्रारम्भ होता है। इस प्रकार के प्रेम में नर या नारी मिलन का प्रयास करते हैं और अधिकांश अवसरों पर उनका मिलन हो ही जाता है। सूफी काव्य एवं साहित्य में इस प्रकार के प्रेम की प्रधानता है। प्रेम की गम्भीरता तथा शुचिता का अभाव इसमें नहीं होता किन्तु विवाह के पश्चात् होने वाले प्रेम में इसकी अपेक्षा कर्तव्यनिष्ठा अधिक मिलती है।

प्रेम के इस अन्तिम स्वरूप, जिसका आरम्भ गुणश्रवण, चित्रदर्शन, साक्षात् दर्शन आदि से होता है, का परिचय सूफी प्रेमकथाओं में मिलता है। लगभग सभी नायक नायिका का, जो परमात्मा का स्वरूप है, रूपगुण वर्णन सुनकर अथवा स्वप्न में या साक्षात् देखकर उसके विरह में व्याकुल हो घरबार त्याग योगी बन जाते हैं। गुणश्रवण के द्वारा प्रेम भावना जाग्रत होने वाली कथाओं के अन्तर्गत 'पद्मावत' 'हंसजवाहर' 'अनुरागबाँसुरी' 'पुहुपावती' आदि कथाएँ आती हैं। 'छीता' प्रेमाख्यान में गुणश्रवण से आकर्षण एवं पश्चात् साक्षात् दर्शन से प्रेम जाग्रत होता है। चित्रदर्शन से प्रेमोद्भूत होने वाली कथाओं में 'चित्रावली' 'रतनावति' आदि कथाएँ आती हैं। स्वप्न-दर्शन के द्वारा प्रेम जाग्रत होने वाली कथायें अधिक हैं। 'कनकावती', 'कामलता','इन्द्रावती','यूसुफ जुलेखा', 'प्रेमदर्पण' आदि प्रेमाख्यान इसके अन्तर्गत आते हैं। साक्षात् दर्शन द्वारा प्रेम जागृति का वर्णन मधु-मालत, मधुकरमालति एवं भाषा प्रेमरस आदि में मिलता है।

उपरोक्त उपायों में से किसी एक का आश्रय लेकर 'प्रेम की चिनगी' सुलग जाने पर बुद्धि, मीमांसा, तर्क आदि का नाश हो जाता है। ज्ञान और प्रेम का साथ नहीं है। वास्तव में ज्ञान, शंका या जिज्ञासा का प्रतिफल है। शंका में द्विविधा होना स्वाभाविक है। द्विविधा मन को भटकाने वाली होती है। प्रेम मार्ग में एकनिष्ठता आवश्यक है। जो व्यक्ति मन की दुविधा त्याग कर केवल एक ही भावना लेकर आगे बढ़ता है उसके हृदय में परमेश्वर का निवास होता है[1]।

प्रेम और रूप का चिर सम्बन्ध है। वह परमसत्ता सौन्दर्यमय है। उसका रूप इस जगत में व्याप्त है। रूप स्वयं प्रेम को आकर्षित कर लेता है। 'प्रेम रस' के रचयिता शेख रहीम ने इसे सिद्ध भी कर दिया है। 'सुल्तान अविद' ने युद्ध में प्रेमसेन को मृत्यु के घाट उतार कर जब महल में प्रवेश किया तो वह 'चन्द्रकला' का सौन्दर्य देखकर मंत्रमुग्ध

---

१. मन की दुविधा छाँड़ि के, जो धावे भर भेख।
निरमल अमर संवारि के, दरस आरसी देख॥
शेख रहीम : प्रेमरस।

हो गया और उसने सोचा कि जब यह मनुष्य जो उसका केवल प्रतिबिम्ब मात्र है इतना अधिक सुन्दर है तो वह जो सबका रचयिता है, कितना सुन्दर होगा और वह इसी भावना से व्याकुल हो परम-रूप का वियोगी, प्रेमी होकर चल पड़ा। इस सृष्टि का कारण 'प्रेम' है। प्रेम के वशीभूत हो परमसत्ता ने सृष्टि की रचना की। प्रेम और रूप का अनन्य सम्बन्ध है। जिस प्रकार रूप से प्रेम को प्रेरणा मिलती है उसी प्रकार रूप और प्रेम के उद्भूत हो जाने पर विरह का अनुभव होना स्वाभाविक है। कवि उसमान इन्हीं तत्वों को सृष्टि का मूल मानते हैं और इन्हीं तीनों के वर्णन से उनकी कथा ओतप्रोत है[1]।

सूफ़ियों ने प्रिय के सौन्दर्यमय रूप की कल्पना 'मधुबाला' या साक़ी के रूप में की है जो अपनी रूप की मदिरा से जगत में प्रेम छलकाती है। उसके रूप सौन्दर्य का पान करके यह निश्चित है कि प्राणी सुधबुध खोकर 'बावला' या मतवाला हो जाय। इसी तथ्य को कवि इस प्रकार व्यक्त करता है कि उस सुन्दरी बाला के हाथ में सुराही एवं प्याला है। वह तुम्हें मदपान कराके सारी चिन्ताओं से मुक्त मतवाला बना देगी[2]। इस जीवन में उसकी रूपमाधुरी पान किये बिना जीवन व्यर्थ है। नूरमुहम्मद एवं अली मुराद दोनों ने ही इस मदिरा का परिचय दिया है[3]। वैसे अधरामृत की चर्चा तो लगभग सभी कवियों ने की है।

---

१. आदि प्रेम विधि ने उपराजा, प्रेमहि लाग जगत सब साजा।
प्रेम किरन ससि रूप जेऊं, पानि प्रेम जिमि हेम।
एहि विधि जहं जहं जानियहु, जहाँ रूप तहं प्रेम॥
रूप प्रेम मिलि जो सुख पावा, दुनहु मिलि बिरहा उपजावा।
जहाँ प्रेम तहं बिरहा जानहु, बिरह बाप जन लघु करि मानहु।
जहि तन प्रेम आग सुलगाई, विरह पौन होइ दे सुलगाई।
रूप प्रेम बिरहा जगत, मूल सृष्टि के थम्भ।
हौं तीनहु के भेद कहु, कथा करौं आरम्भ॥
उसमान : चित्रावली पृ० १३, १४।

२. है धन हाथ सुराही प्याला, दे मद तुम्हें करे मतवाला।
नूरमुहम्मद : इन्द्रावती।

३. मोरे कलवरिया की दारु अंगूरी, जिन पीवतहीं चढयो वद सूरी।
एक बूँद वह जिनका पियाओ, पल भर मा कैलास चढ़ायो।
अलीमुराद : कुंवरावत।

दे मद अपने हाथ सों, पियऊं देखि मुख तोर।
चाहसि तो मद मोल ले, प्रान पियारा मोर॥
बिना कदम्बीर के पिए, त्रास न मन सों जात।
दयावती होइ दीजिए, हौंलिक लागी प्रान॥
नूरमुहम्मद : इन्द्रावती पृ० ७८, ३४।

प्रेम का आलम्बन वह परम सौन्दर्यशाली परमसत्ता है, और आश्रय जीवात्मा, जो परमात्मा से बिछुड़ कर सदैव दुखी रहा करती है। पहले जीवात्मा और परमात्मा में भेद न था किन्तु जगत में उत्पन्न होकर दोनों में बिछोह हो गया। यही कारण है कि उसे परमात्मा के सौन्दर्य का आभास मात्र होते ही उसके सुप्त प्रेम की यह चिनगारी यदि हृदय में सुलग गई तो बुद्धि एवं तर्क नष्ट हो जाता है[1]। प्रेम की अग्नि सुलगते ही सारे संशय तर्क एवं जिज्ञासा शान्त हो जाती है और प्रेम-मार्ग प्रशस्त हो जाता है[2]।

प्रेम जिस प्रकार बरबस उत्पन्न होता है, उसी प्रकार सच्चे प्रेम की लगन भी बरबस बढ़ती जाती है। प्रेम की निश्चयात्मकता के कारण प्रिय प्राप्ति की दुरूहता, या प्रयास के कष्ट, त्याग एवं आपा मिटाने की भावना दृढ़ होती जाती है। प्रिय के साक्षात्कार के अतिरिक्त प्रेमी की और कोई अभिलाषा नहीं होती। स्वर्ग या नरक, सुख भोग या कष्ट ऐसी विरोधी भावनाओं के सन्तुलन में वह अपना समय नष्ट नहीं करता। उसका साध्य केवल प्रिय प्राप्ति होता है। वह जीवन की या किसी अन्य वस्तु की आकांक्षा नहीं करता यही कारण है कि अन्तरायों के उपस्थित होने पर अथवा जीवन के सुख ऐश्वर्यों का लोभ उपस्थित होने पर वह पथविचलित नहीं होता। राजकुंवर 'इन्द्रावती' में इसी प्रकार अपने प्रेम की एकाग्रता का परिचय देता है। 'जिसके प्रेम ने मुझे बावला बना दिया है, जिसने मुझे सुख ऐश्वर्य से विमुख कर दिया है उसके अतिरिक्त और किसी वस्तु से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं[3]।' पद्मावत में ऐसी ही निष्काम भावना का अनुभव करके राजा रत्नसेन समुद्र के बीच भी मगन हो रहा था[4]।

---

1. प्रेम अगिन मन मों उदगरी, तासों दाह बुद्धि कर जारी।
   प्रेम आग के बाढ़े, मेधा भयो मलीन।
   सूर किरिन के आगे, है मयंक दुति हीन।
   नूरमुहम्मद : इन्द्रावती।

२. भूला सबै जगत का धन्धा, पड़ा जो आन प्रेम का फन्दा।
   कासिमशाह : हंसजवाहिर पृ० ७२।

३. प्रेम जेहिक मोहि बाउरो, कीन्ह छोड़ायेउ राज।
   सो प्यारी है प्रान जिउ, है तासों मोहि काज।
   नूरमुहम्मद : इन्द्रावती पृष्ठ ८३।

४. नाहीं सरग क चाहों राजू, ना मोंहि नरक सेंवति किछु काजू।
   चाहों ओहिकर दरसन पावा, जेइ मोहि आनि प्रेम पथ लावा।
   जायसी : पद्मावत।

   दुबिधा का मग छांड़ि के, एक पन्थ तू साज।
   कै निज लेउ जवाहिरै, कै रूमा कर राज।
   कासिमशाह : हंसजवाहिर, पृ ७७।

सच्चा प्रेम एक बार उत्पन्न होकर निरन्तर बढ़ता जाता है। आरम्भ में प्रेमानुभूति आनन्द-दायक होती है किन्तु विरह होते ही जिन कष्टों का सामना करना पड़ता है वे प्रेम मार्ग को अत्यन्त दुरूह बना देते हैं। प्रेम मार्ग की दुरूहता उसकी गति अवरुद्ध करने में असमर्थ होती है। तीन सौ सत्तर मन सिर पर बोझ रखकर एक पैर से चलना जितना कठिन है उतना ही कठिन प्रेम मार्ग पर अग्रसर होना है[1]।

प्रेम मार्ग के पथिक को जीवन का मोह भी विचलित नहीं कर सकता। वह तो प्रेम मार्ग में प्रवेश करने के पूर्व ही 'सीस उतारे भुइं धरे तब पैठे घर मांहि' का प्रण पूरा कर चुका होता है। 'इन्द्रावती' को प्राप्त करने के लिये पहले समुद्र से प्रणमोती निकालना आवश्यक था जिसके प्रयास में बहुत से व्यक्ति प्राण गंवा चुके थे अत: लोगों ने 'इन्द्रावती' के सिर पाप का बोझ रख कार्य की दुरूहता समझाने का प्रयास किया तो साधक राजकुंवर का एक ही उत्तर था कि यह सब दोष साधक की अयोग्यता का है। पतंग स्वभावत: दीपक का सान्निध्य प्राप्त करना चाहता है। यदि इस प्रयास में पतंग का पृथक अस्तित्व नष्ट हो जाय तो दीपक का क्या दोष[2]।

जो कोई भी प्रेम-पथ पर अग्रसर होता है वह अपने पृथक अस्तित्व एवं अहंत्व की चाह नहीं रखता। उसका एक मात्र लक्ष्य मरण या 'नफ़्स' का नाश होता है। अतिशय कष्ट, सूली यातना सहने पर भी वह प्रिय का स्मरण करता एवं उससे विरत नहीं होता है,[3] मन्सूर आदि इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं।

बिना आपा खोये प्रिय प्राप्ति असम्भव है[4]।

अहं की ममता के अतिरिक्त प्रिय की महानता साधक को प्रेम-मार्ग से भी यदा कदा विरत करती है। लोक दृष्टि भी राजा रंक के प्रेम सम्बन्ध की अवहेलना करती है

---

१. सत्तर सिर मन तीनसै, पांव एक सें जाहि।
प्रेमी को दुख देव सो, प्रेम पन्थ यह आहि।

नूरमुहम्मद : इन्द्रावती पृष्ठ ४४।

२. करन न हत्या आप वह, इन्द्रावति रमनीय।
दीपक कहत पतंग सों, मो पर दे तें जीय॥

नूरमुहम्मद : इन्द्रावती, पृष्ठ ८३।

३. प्रेम बिथा पर जो लुबुधाना, चाहै मरन न चाहै प्राना।
सूरी ऊपर देह जो, तबहुं न छांड़े नाम।
प्रेम पन्थ का पन्थिक, कहां चहै बिसराम।

कासिमशाह : हंसजवाहिर।

४. कठिन प्रेम विरह धन होई, है नर वही जो आपा खोई।
पहले प्रेम की भों डारौं, बैरी पाँच भूत हैं मारौ।

अलीमुराद : कुंवरावत।

किन्तु साधक ऐसी शंका का निवारण कर लेता है। उत्तम का ध्यान करने से मनुष्य की भावनायें उच्च होती हैं। निम्नतम भावनाओं का भी आलम्बन महान होने पर उन भावनाओं का परिष्कार एवं उन्नयन होता है[१]। प्लैटो ने अपने ग्रन्थ 'सिम्पोज़ियम' में भावनाओं के परिष्कार की यही भावना व्यक्त की है।

चन्द्रमा और चकोर, सूर्य और कमल, कमल और मधुकर की प्रीति की सभी सराहना करते हैं जिनमें किसी भी प्रकार का साम्य नहीं है, फिर जीवात्मा और परमात्मा जो वास्तव में एक रूप हैं, के प्रेम में असंगति का प्रश्न ही नहीं उठता[२]।

प्रेम के उत्पन्न हो जाने पर संसार का सारा ज्ञान उसके सम्मुख तुच्छ हो जाता है। जब जीव का गुरु प्रेम हो जाता है तो वेद और पुराण, ज्ञान और कर्मकाण्ड अपना महत्व खो बैठते हैं। प्रेम के ज्ञान से चित्त में जो प्रकाश होता है उसके सम्मुख जगत ज्ञान तुच्छ है। प्रेममद में उन्मत कभी चेतना प्राप्त नहीं करता, ज्ञानियों की वहाँ कोई गति नहीं, प्रेम-रोग राज-रोग है जो घटने की अपेक्षा निरन्तर बढ़ता रहता है[३]।

यह सारा संसार प्रीति एवं दया के वशीभूत है। प्रीति के फन्दे ने सारे संसार को फंसा रक्खा है[४]। नूरमुहम्मद की भाँति शेख रहीम भी प्रेम और दया को कर्मकान्ड और ज्ञान से श्रेष्ठ समझते हैं। यदि दया और प्रेम का स्थान हृदय में नहीं है तो हृदय कंकड़ के समान मूल्यहीन है। जब दया प्रेम का निवास हृदय में हो जाता है तो वहाँ

---

१. कहा कुंवर उत्तम के नेहा, दाऊ जगत लहै यह देहा।
उत्तम ध्यान धरै मन दरपन, निर्मल होइ बिलोकै दरसन।
नूरमुहम्मद : अनुराग बाँसुरी पृ० १६८।

२. कहाँ चाँद कहँ रहहु चकोरा, प्रीत लाग चितवत तेहि ओरा।
औ अरविन्द रहै जल माहीं, रवि सेवत तेहि जोगै नाहीं।
दादुर कवंल सनेह न पावैं, बन सों मधुकर तेहि नित धावैं।
नूरमुहम्मद : इन्द्रावती पृ० ४४।

३. जेहि के हृदय प्रेम परकासा, का तेहि बुद्धि ज्ञान की आसा।
प्रेम गुरु का जो भा चेला, वेद पुरान अगिन लै मेला।
प्रेम बावला भयो न चंगा, ज्ञानिन केर तहाँ मति भंगा।
जगत ज्ञान तेहि आगे चेरा, प्रेम ज्ञान चित करै उजेरा।
प्रेम का ज्ञान जगत ते न्यारा, सिखावै प्रेम-ज्ञान गुन सारा।
शेख रहीम : प्रेमरस।

४. प्रीति दया बस है संसारा, प्रीति फाँद सब फाँदनिहारा।
नूरमुहम्मद : अनुराग बाँसुरी पृ० ११७।

अन्तर्यामी की प्रतिष्ठा स्वयं हो जाती है। हृदय काबा एवं कैलाश के समान पवित्र हो जाता है[1]।

कर्मकाण्ड, मक्के जाना, हज्ज करना या नमाज पढ़ने में उठना बैठना सब बेकार है। यदि हृदय और शरीर का साम्य नहीं, यदि शुद्ध हृदय से निरन्तर परमसत्ता का ध्यान नहीं किया जाता तो परमेश्वर की अनुकम्पा प्राप्त नहीं हो सकती। निरे कर्मकाण्ड में रत व्यक्ति खरीदार की भाँति है जो किसी मूल्य पर कर्ता को क्रय नहीं कर सकते, अर्थात् उसे प्राप्त नहीं कर सकते[2]।

ज्ञान ध्यान, जप तप, संयम नियम सबका महत्व प्रेम के सम्मुख तुच्छ है संसार में वही व्यक्ति श्रेष्ठ है जो प्रेम का प्रतिपालन करता है[3]। प्रेम का स्थान सर्वोच्च है, यदि सच्चा प्रेम हो सके। प्रेम की भावना गंगा के समान पवित्र है जिसकी प्राप्ति से सारे पाप नष्ट हो जाते हैं[4]।

सूफ़ी सदैव हृदय शुद्धि या कल्ब के परिमार्जन का ध्यान रखते हैं और भावना को तर्क की अपेक्षा श्रेष्ठ समझते हैं। वे सारे कर्मकाण्ड,कर्तव्य,भावना या बुद्धि विलास को त्यागकर हृदय में निरन्तर उसका ध्यान किया करते हैं। हृदय में बसी मूर्ति को वे कणकण में व्याप्त देखते हैं। हृदय और नैन की मूर्ति में कोई अन्तर नहीं होता[5]। सर्वत्र उसी की छवि देखकर साधक की प्रेम भावना उद्दीप्त हुआ करती है। उसकी प्रेम की पीर बढ़ती रहती

---

१. दया नहीं तो मन है कांकर,प्रेमनगर की मग है सांकर।
दया प्रेम जब हिये समाई, मन आपन काबा होइ जाई।
दया प्रेम जेहि हिय बसे, सो काबा कैलास।
अन्तरजामी आप रब, करें हीए पर बास॥
शेख रहीम : प्रेमरस।

२. मक्के गये हज्ज कर आये, कपटी मन फिर संग लाये।
मक्के और मदीने जावैं, खरीदार रब का ना पावै।
शेख रहीम : प्रेमरस।

३. ज्ञान ध्यान मधिम सबै, जप तप संजम नेम।
मान सो उत्तम जगत जन, जो प्रतिपारे प्रेम॥
उसमान : चित्रावली पृ० २३६।

४. ऊंचा बैठक प्रेम का, जो रहीम मत होय।
सो पावै संशय नहीं, जायं पाप सब धोय॥
शेख रहीम : प्रेमरस।

५. जब एक मूरति हिए समानी, दूसर कहां बिलोकैं ज्ञानी।
जो मन बीच नैन मों सोई, तहां लगै भल दूसर कोई॥
नूरमुहम्मद : अनुराग बांसुरी पृ० १३४।

है [१]। निरन्तर स्मरण के फलस्वरूप वह एक दिन पानी में बताशे की भाँति घुलकर मिल जाता है। साधक खुदी को छोड़ खुदा बन जाता है।

सूफ़ी प्रेम को सब कुछ मान, अन्य भावों की उपेक्षा करते हैं। वे भली भाँति जानते हैं कि प्रेम सब रसों का मूल है। एक सूफ़ी का उद्‌गार है 'अगर इश्क न होता, इन्तजाम आलमे सूरत न पकड़ता। इश्क के बग़ैर जिन्दगी बवाल है। इश्क को दिल दे देना कमाल है। इश्क बनाता है इश्क जलाता है। दुनिया में जो कुछ है इश्क का जलवा है। आग इश्क की गर्मी है। हवा इश्क की बेचैनी है। पानी इश्क की रफ्तार है। खाक इश्क का क़याम है। मौत इश्क की बेहोशी है। जिन्दगी इश्क की होशियारी है। रात इश्क की नींद है। दिन इश्क का जागना है। मुस्लिम इश्क का जमाल है। काफ़िर इश्क का जलाल है। नेकी इश्क की कुरबत है। गुनाह इश्क से दूरी है। बिहिश्त इश्क का शौक़ है। दोज़ख इश्क का जौक़ है' [२]। तात्पर्य यह कि सूफ़ियों के लिए इश्क ही सब कुछ है।

इश्क या प्रेम ही इस जगत का सार है, सूफ़ियों का विश्वास है कि प्रेम का मार्ग सत्य का मार्ग है। जिस हृदय में प्रेम का निवास है वह काबा एवं कैलाश की भांति पुनीत है। प्रेम से हीन हृदय पत्थर है [३]। प्रेमी ही उस परम ज्योति को प्राप्त कर सकता है यद्यपि उसे इस प्राप्ति के हेतु शरीयत के नियमों का पालन भी करना पड़ेगा, किन्तु उसके हृदय में प्रेम भावना होना सर्वाधिक आवश्यक है [४]।

प्रेम का आविर्भाव प्रत्येक हृदय में नहीं होता। वह हृदय धन्य है जिसमें प्रेम की चिनगी सुलगती है। प्रेमज्ञान किसी सौभाग्यशाली के हृदय में ही जाग्रत होता है [५]। जिस प्रकार प्रत्येक मेघकण मोती नहीं बन पाता उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य के हृदय में प्रेम एवं विरह की ज्योति प्रकाशित नहीं होती [६]। सूफी साहित्य में विरह का बड़ा महत्व है। प्रेम

---

१. प्रेम पीर जो भीतर होई, सुमिरि सुमिरि सो निश दिन रोई।
शेखरहीम : प्रेमरस।

२. तसव्वुफ अथवा सूफ़ीमत : श्री चन्द्रबली पाण्डेय।

३. दया नहीं तो मन है कांकर, प्रेम नगर की मग है सांकर।
दया प्रेम जब हिये समाई, मन आपन काबा होइ जाई॥
दया प्रेम जेहि मन बसे, सो काबा कैलास।
अन्तरजामी आप रब, करे होए पर बास॥
शेख रहीम : प्रेमरस।

४. प्रेमी खोज लेउ वह जोती, पांच खन्ड चढ़ि पावों उदती।
शेख रहीम : प्रेमरस

५. प्रेम ज्ञान हरि रूप देखावै, धन्य सुभाग जेहि के चित आवै।
शेख रहीम : प्रेमरस

६. सरग बूंद सब होंहि न मोती, सब घट बिरह दई नहिं जोती।
कवि मंझन : मधुमालती

तीव्र, गम्भीर एवं अहेतुक होने के साथ ही त्याग एवं समर्पण की भावना से युक्त होता है। जो प्रेम के मार्ग में प्राणों का भी त्याग कर सके वही सच्चा प्रेमी है [1]। कबीर की भाँति कवि मंझन भी स्वीकार करते हैं कि जिस व्यक्ति में अपना सीस उतार कर हाथ में लेने की सामर्थ्य हो, वही इस मार्ग पर अग्रसर हो सकता है [2]। कुल की लज्जा, चित्त की अस्थिरता आदि प्रेम मार्ग की बाधाएँ हैं। प्रेमी को प्रिय प्राप्ति के हेतु इन सभी वस्तुओं का त्याग करके, केवल प्रिय स्वरूप का चिन्तन एवं तद्रूप बनने की चेष्टा करनी उचित है [3]।

प्रेम और रूप का चिर सम्बन्ध है। सूफी प्रेम कथाओं में प्रेम का आविर्भाव रूप-दर्शन या गुण-श्रवण से हुआ है। यह रूप-दर्शन स्वप्न में चित्र, फलक में, या कभी कभी साक्षात् दर्शन के रूप में भी हुआ है। रूप और प्रेम के इस अविच्छिन्न सम्बन्ध का भी एक रहस्य है। मनुष्य, जिसे इन कवियों ने सौन्दर्य का आधार माना है, ईश्वर या खुदा की प्रतिच्छवि है [4]। उसके सौन्दर्य पर मोहित होना, कर्ता के अनिर्वचनीय रूप की बलिहारी जाना है। ज्ञात के माध्यम से अज्ञात का दर्शन लाभ ही इस प्रेम की महानता है। यही कारण है कि सूफी मतावलम्बी इश्क मजाजी की अवहेलना नहीं करते। लोकप्रेम उपेक्षणीय नहीं है; त्याज्य है लौकिकता एवं सांसारिकता। कवि नसीर कृत ग्रन्थ 'प्रेमदर्पण' में यूसुफ के अद्वितीय सौन्दर्य को देखकर सौदागर की पुत्री में स्वभावतः उसके रचयिता का परिचय पाने

---

१. प्रान दीन्ह पुनि प्रेम न त्यागा, उनका कही सत्त अनुरागा।
शेख रहीम : भाषा प्रेमरस।

जेहि प्रान प्यारी के अर्सा भरे अवरान।
ता पगु रज के ऊपर वारौं आपन प्रान।
नूरमुहम्मद : इन्द्रावती पृ० ६६।

२. प्रथमहिं सीस हाथ कै लिये, पाछे यह मारग पग दिये॥
मधुमालती : मंझन।

३. कह मालिन जोखम है बाता, बिन जिउ दिये दरस को पाता।
दरस आस बहुतन जिउ खोवा, जिन चाहा सो छन छन रोवा।
दरस लाग त्यागो कुल लाजा, होउ निलज तो संवरे काजा।
दरस आस दुविधा मन त्यागो, होए निरासर मारग लागो।
दरस आस यह काया जारो, दरस आस से तन मन मारो।
जो तुम लोभी दरस के, भेष धरो; तेहि केर।
बिना भेस धारन किये, दरस दुसर है फेर।
शेख रहीम : भाषा प्रेमरस।

४. देखो निरख परख मोहि काया, मैं कत अहो, अहो वह छाया।
कासिमशाह : हंसजवाहिर पृ० १२१।

की जिज्ञासा जाग उठी थी [1]। इस जिज्ञासा की शान्ति शेख रहीम ने बड़ी सफलता से की है। 'मानव सौन्दर्य परमेश्वर के अनन्त सौन्दर्य का परिचय उसी प्रकार देता है जिस प्रकार कि मूर्ति की सुन्दरता कलाकार की कुशलता का परिचय देती है। निष्कर्ष यह कि इस सुन्दर सृष्टि का निर्माणकर्ता परमेश्वर अद्वितीय है। सौन्दर्य, शक्ति एवं शील में कोई उसका उपमान नहीं,[2] अतः उसकी आराधना ही श्रेय है। इस प्रकार सूफ़ियों का प्रेम परमप्रेम प्राप्ति का सोपान है। लौकिक प्रेम में भी सूफ़ियों ने अलौकिकत्व का समावेश किया है। भावनाओं का उच्च आधार या आलम्बन ही भावनाओं को उच्च एवं महान बनाता है। हृदय की इच्छाओं एवं भावनाओं को, उसे समर्पित कर देने से ही उनका परिमार्जन एवं उन्नयन हो जाता है। कवि नूरमुहम्मद ने तथ्य की व्याख्या की है। राजकुंवर, चेना मालिन से कहता है कि, 'यद्यपि मैं जोगी हूँ, किन्तु प्रेम पन्थ का जोगी होने के कारण उत्तिम की ही भीख ग्रहण करता हूँ।' सत्य है, जिसके हृदय में महान व्यक्ति का प्रेम है वही व्यक्ति ऊँचा है। जो नीचों से स्नेह करता है वही नीच है [3]।

सूफ़ियों के प्रेमादर्श, शमा और परवाने, दीपक और पतंगे की चर्चा भी यथेष्ट होती है। यह सत्य है कि सूफ़ी काव्य में दीपक और पतंगे का रूपक, अधिक प्रयुक्त हुआ है किन्तु उसमें 'प्रिय का प्रेमी को जलाने' का मन्तव्य व्यन्जित नहीं है। परमज्योति स्वरूप परमात्मा दीपक की लौ के समान ज्योतिर्मय एवं एकरस है, उसकी आकांक्षा पतंगे को जलाने की नहीं होती। पतंगे की जलन के द्वारा साधक के प्रेम की तीव्रता का प्रदर्शन होता रहा है। अनगिनती पतंगों को दीपक के चतुर्दिक प्राण गवांये हुए देखकर भी पतंगा निराश नहीं होता। वह जीवन का मोह छोड़कर, अपना पृथक अस्तित्व त्यागने को प्रस्तुत हो, परमसत्ता में अवस्थित होने के हेतु अग्रसर होता है। यह 'बका' ही उसके जीवन का लक्ष्य है। सूफ़ी साहित्य में प्रेम के बहुप्रयुक्त रूपकों में चकोर और चन्द्रमा, कमल और सूर्य, गुलाब और भ्रमर, राग और हिरण मुख्य हैं। इन रूपकों से प्रेम के भिन्न गुणों एवं स्वरूपों का ही परिचय मिलता है: चकोर और चन्द्र, कमल एवं सूर्य के रूपक

---

१. अचरज रूप अति तोर मनोहर, देखत के जिया जाय।
कौन है इहकर सिरजनहारा, दियो न मोहि बताय।
कवि नसीर : प्रेमदर्पण।

२. अस मूरत सुन्दर जिन राचा, रचनहार तेहि कर उपराजा।
मूरत मां रचि आपन राखी, मूरत देत शक्ति की साखी।
लौ लगाय अस ग्यान बिचारा, सब ते सुघर एक करतारा।
शेख रहीम : भाषा प्रेमरस।

३. हौं जोगी पै उतिम भीखा, प्रेम पाइ मांगे मैं सीखा।
जेहि मन उंच उंच भा सोई, जेहि मन नीच नीच सो होई।
नूरमुहमद : इन्द्रावती पृ० ४४

स्पष्ट करते हैं कि काल, स्थान एवं स्तर का अन्तर प्रेम में मान्य नहीं है [1]। गुलाब और भ्रमर में आकर्षण प्रधान है, जबकि राग और हिरण का रूपक तन्मयता, तल्लीनता तथा समर्पण का आदर्श है।

वास्तव में सूफी सिद्धान्त के अनुसार जीव और परमात्मा में पारमार्थिक अन्तर नहीं है। परमात्मा और जीव का सम्बन्ध अति प्राचीन है। कवि मंझन जीव और परमात्मा के इस प्रेम सम्बन्ध को स्पष्ट स्वीकार करते हैं [2]। आत्मा और परमात्मा, पृथ्वी और गगन पहले एक थे, तभी तो विलग होने के बाद से जगत का कण-कण उसमें मिलने को आतुर है। सारा संसार उसके विरह से पीड़ित है [3]।

---

१. कहाँ चाँद कहँ रहहु चकोरा, प्रीत लाग चितवत तेहि ओरा।
 औ अरविन्द रहे जल माहीं, रवि सेवत तेहि जोगे नाहीं।
  दूर देस की दिष्टि सों है समीप गुन सूर।
  बिना नैन औ दृष्टि के, नियरे के हैं दूर।
 नूरमुहम्मद : इन्द्रावती पृ० ४४।

२. मोहि न उपज्यो दुख तोरा, तोर दुख आदि संघाती मोरा।
 कवि मंझन : मधुमालत।

३. धरती गगन मिले हुत दोऊ, केइ निनार के दीन्ह बिछोहू।
 जायसी : पद्मावत।

 तारा जरइ टूट भुइँ आवे, जरइ कमल और पपिहा जरावे।
 कोयल जरके भइ है कारी, पपिहा जरा पिउ पिउ रट मारी।
 अलीमुराद : कुँदरावत।

  सूरज चन्द्र तराइन, वासुक चन्द्र कुबेर।
  प्रेमा दुक्ख सम रोई, धरती गगन सुमेर।
 कमल गुलाल भये रतनारे, फूल सबहि तन कापर फारे।
 देख अनार हिया भरि आना, नींबू तरु निज डार पियराना।
 टेसू आगि लागि सिर रहा, केलें बदन दुख सम्पत कहा।
 जामुन भई हार दुख कारी, कटहर पाहर काँट के सारी।
  रक्त रोय बन घुंघुची, रही जो राती होय।
  मुँह काला के बन गई, जग जानें सब कोय।
 कवि मंझन : मधुमालत।

 बड़हर बड़हरि सदा पुकारहि, बड़ फल पाइ सीस भुइँ डारहि।
 महुआ टप टप गारे आँसू, तजि हम हरि लीन्हा बनवासू।
 कहे सुनेवर सुन वर साईं, वंदन करि नित सीस नवाईं।
 तार कहे हम सब जग तारा, पै ना लखो सु सिरजनहारा।
 जामुन कहे न चीन्हा साईं, में रंग स्याम स्याम नहिं पाईं।
 कहे सिंगारहार यहि बरना, बिनु प्यो हार सिंगार का करना।
  बोलत सबै कोय सुनि, सँवरि गुसाईं नाम।
  कहाँ कहाँ लों बाक जो, वृक्ष कहे ता ठाम।
 हुसेनअली : पुहुपावती।

सृष्टि के नाना पदार्थ उस अनन्त सौन्दर्य पुञ्ज के समागम की अभिलाषा से ही रूप, रस, गन्ध आदि का विकास करते हैं [1]।

उस एक का सौन्दर्य ही इस सम्पूर्ण जगत की सुन्दर वस्तुओं में आभासित हैं। उस चरम सौन्दर्य की किञ्चित् अभिव्यक्ति इस जगत में हो रही है। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र सभी उसी ज्योतिमय की ज्योति से ज्योतित हैं। यही रूप सर्वत्र सभी वस्तुओं में तत्व रूप से वर्तमान है [2]। इसी सौन्दर्य का आभास मानव रूप में पा प्रेमी साधक परमेश्वर को प्राप्त करता है। सूफ़ियों का प्रेम लौकिक पक्ष से अलौकिक की ओर अग्रसर होता है। वह जगत के सारभूत सत्य परमसत्ता को ससीम और असीम दोनों मानता है। जीव जो ससीम एवं न्यूनत्व से युक्त है, परमात्मा को उपलब्ध करना चाहता है। इसी प्रेम के स्वरूप को व्यक्त करने के लिये सूफ़ियों ने परमसत्ता को कण-कण में व्याप्त दिखाया है। अपने

---

१. फूला तासों मालति फूला, मधुकर आह बास रस भूला।
निर्मल दर्पन होइ रहा, रह प्रगट संसार।
तामें मुख करतार को, देखत निरखनहार॥
कवि मंझन : मधुमालत।

पुहुप गन्ध करहिं एहि आसा, मकु हिरकाइ लेइ हम्ह पासा।
जायसी : पद्मावत।

सब मानुष मन प्रीति बनेरी, उपजी इन्द्रावति मुख केरी।
नूरमुहम्मद : इन्द्रावती।

२ एही रूप प्रगट बहु भेसा, एही रूप जग रङ्क नरेसा।
एही रूप त्रिभुवन पर, असी महि पाताल अकास।
सोई रूप प्रगट तहँ, मानहीं देख्यौ कहाँ हवास।
एही रूप प्रगट बहु रूपा, एही रूप जेहि भाव अनूपा।
एही रूप सब नैनन्ह जोती, एही रूप सब सायर मोती।
एही रूप सब फूलन्ह बासा, एही रूप रस भँवर बरासा।
कवि मंझन : मधुमालत।

रञ्चिक रूप रवि तासों पाएउ, कमल देखि तापर चित लाएउ।
रञ्चिक दीप दुति तासों लीन्हा, लखि पतंग आपन जिउ दीन्हा।
नूरमुहम्मद : इन्द्रावती।

जेहि दिन दसन जोति निरमई, बहुतै जोति जोति ओहि भई।
रवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती, रतन पदारथ मानिक मोती।
जहँ जहँ विहँसि सुभावहि हँसी, तहँ तहँ छिटकि जोति परगसी।
जायसी : पद्मावत पृ० ४४।

चतुर्दिक, उस एक सौन्दर्यशाली के दर्शन पा सूफी साधक प्रिय प्राप्ति को आतुर हो जाता है। इसी सौन्दर्य और प्रेम के अटूट सम्बन्ध को व्यक्त करने के लिये इन कवियों ने अपनी कथा में नायिका को सारे संसार में सर्वाधिक सुन्दरी, सौन्दर्य के चरम विकास पद्मिनी के रूप में देखा है। उन्होंने लौकिक प्रेम में अलौकिकत्व की प्रतिष्ठा की है तथा मानवीय प्रेम का आध्यात्मीकरण किया है। सूफी काव्य में मानवीय प्रेम की प्रतिष्ठा आध्यात्मिक प्रेम के सोपान रूप में मिलती है। मनुष्य की रूपासक्ति का परिमार्जन, भावनाओं को उस परम सौन्दर्यशाली की ओर उन्मुख कर देने से हो जाता है।

ईश्वर सम्बन्धी धारणाओं के अनुसार प्रेम के स्वरूप में अन्तर आया है। सगुण मतवाद में विरह की महत्ता एवं व्यापकता मान्य है। परकीया प्रेम या गोपीभाव का प्रेम वैष्णव मत का आदर्श है। सगुण भक्त अव्यक्त के आभासित स्वरूप को प्रेम का आधार मानता है। सगुण मतवादी में द्वैत की भावना वर्तमान रहती है। निर्गुणोपासक अपने अस्तित्व को मिटाने की चेष्टा में ही लगे रहते हैं। सगुण भक्त अपनी मनोवृत्तियों को आराध्य को समर्पण कर देता है। तुलसी और सूर दोनों ही सम प्रेम का महत्व मानते हैं किन्तु तुलसी के प्रेम में श्रद्धा अधिक है। सूर का स्पष्ट कहना है 'प्रेम प्रेम सों होइ प्रेम सों पार ही जइये' तुलसी के प्रेम की भावना, 'सेवक सेव्य भाव बिन भव न तरिय उरगारि' से स्पष्ट होती है।

सूफियों का प्रेम इन सभी प्रकार की प्रेम भावनाओं का समन्वय है। प्रिय प्राप्ति की कठिनता के कारण सूफी प्रेम में भी परकीया प्रेम की भाँति तीव्रता, व्यग्रता, एवं विह्वलता होती है। सगुण एवं निर्गुणोपासकों की भाँति वह परमात्मा को व्यक्त भी मानता है और अव्यक्त भी। सूफियों के अनुसार जीवन में प्रेम की व्याप्ति ही आनन्द है। जगत की सृष्टि प्रेम के कारण ही हुई [1]।

---

१. निरंकार जब प्रेम बनायो, पहिले प्रेम वहाँ में समायो।
प्रेम से तीनों लोक सँवारा, नये नये रूप और नये अवतारा।

निसार : प्रेमदर्पण।

अलख प्रेम कारन जग कीन्हा, धन जो सीस प्रेम महँ दीन्हा।
जाना जेहिक प्रेम महँ हीया, मरै न कबहुँ सो मरजीया।
प्रेम खेत है यह दुनियाई, प्रेमी पुरुष करत बोवाई।
जीवन जाग प्रेम को अहई, सोवन मीचु को प्रेमी कहई।
आग तपन जल चाल समूझो, पुनि टिकान माटी कहँ बूझो।

हो प्रेमी है प्रेम को, चञ्चलताई बाय।
जा मन लागा प्रेमरस, सो छोड़ जात हो राय।

नूरमुहम्मद : इन्द्रावती पृ० ६।

सूफियों का 'कल्ब' केवल भावनाओं का ही संस्थान नहीं, प्रत्युत ज्ञान और भाव चित्र भी इसी में अंकित होते हैं। प्रेम की भाँति, सूफ़ी विरह को भी मूल पदार्थ मानते हैं। विरह के कारण ही प्रेम का अस्तित्व है। विरह ही प्रेम का सार है [1]।

सूफ़ियों के प्रेम और विरह का प्रभाव संतों की साधना पर भी पड़ा। कबीर के बाद संतों में ज्ञान की महत्ता क्रमशः कम होती गई और प्रेम-साधना का स्वरूप स्पष्ट होता गया। प्रेम की तीव्रता, विरहोन्माद की उत्तेजना दादू में अधिक दिखाई पड़ती है। सूफ़ी मत की विरहाकुलता का प्रभाव इन पर स्पष्ट है। ऐसे तो कहीं कहीं कबीर भी अपने को विरहिणी मान विरह में व्याकुल रहते हैं। पलटूदास में भी प्रेम का व्यापक स्वरूप परिलक्षित होता है।

सूफ़ियों का प्रेम ऐकान्तिक और भावविह्वल है। सूफ़ी प्रेम और दया को आवश्यक समझते हैं। शेख रहीम का कथन है कि किसी भी धार्मिक सम्प्रदाय का अनुयायी व्यक्ति हो उसे दयाधर्म नहीं छोड़ना चाहिये, क्योंकि जिस मत में दया धर्म होता है वहीं परमेश्वर निवास करता है [2]। 'एक अज्ञात कवि ने अपने खड़ी बोली प्रेमाख्यान 'कामरूप की कथा' में इश्क की नदी को सदैव उबलते देखने की चाह की है [3]। सूफ़ी प्रेम का विवेचन करते हुए फरीदुद्दीन अत्तार ने कहा है प्रेमिका का प्रेम अग्नि है और बुद्धि केवल धुआँ। जैसे ही प्रेम प्रज्ज्वलित हो उठता है धुआँ विलीन हो जाता है [4]।

---

१. जिन्ह दिन दुख सृष्टि समाना, तिन्हहिं दिन में जयोग जिव जाना।
कहहुँ पै मोहि कहा न जाइहि, विरह कथा का कहन सिराइहि।
मंझन : मधुमालत।

प्रेमहि मांह विरह रस रसा, मैन के घर मधु अमृत बसा।
जायसी : पद्मावत।

नूरमुहम्मद जगत मों, जो नहिं होत बियोग।
तो पहिचान न जानें, यह सिंगार संजोग।
नूरमुहम्मद : इन्द्रावती (उत्तरार्द्ध)

२. सबसे कहौं दोउ कर जोरे, क्षमा किये सब औगुन मोरे।
तजो न दाया धरम तुम, चाहे जो मत होय।
मत अनेक हघु मोर मति, कहा कि मत भय मान।
जो मत दाया प्रेम है तह मत ईश्वर जान।
शेख रहीम : भाषा प्रेमरस।

३. नदी इसक की नित उबलती रहे, अगन इसक का तन में जलता रहै!
कामरूप की कथा।

४. इश्के जानां आतशस्त अक़्ल दूद।
इश्क आमद दर गुरेज़द अक्ल ज़ूद।
ईरान के सूफ़ी कवि पृ० १७०।

सूफी साधक, एक ओर जहाँ प्रेम की एकनिष्ठता एवं हृदय की शुद्धि पर विश्वास करता है वहीं वह प्रिय एवं उसके प्रेम को प्राप्त करने के लिए जिक्र, फिक्र, नमाज, समा, जियारत, हज्ज, जकात, सौम, रोजा, अवराद, तिलवत, मुजाहदा ऐसी क्रियाओं में भी विश्वास करता है। उसकी साधना के कुछ अंगों पर भारतीय हठयोग क्रिया पद्धतियों एवं आस्थाओं का भी प्रभाव है। हृदय की शुद्धि, शारीरिक कष्ट साधना एवं शरीयत के नियमों का समन्वय ही उसकी साधना का स्वरूप है, जिसके मूल में उदारता एवं हृदय की स्वच्छता वर्तमान है।

———

५

सूफ़ी-साहित्य

साहित्य के माध्यम से व्यक्ति अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति करता है। सन्तों एवं साधकों के सम्प्रदाय, विचार तथा आध्यात्मिक तथ्यों का परिचय उनकी साखियों और बानियों के द्वारा प्राप्त होता है, यद्यपि उनके शब्द-संकेत कभी स्पष्ट और कभी गुह्य हो जाते हैं। सूफ़ियों ने संगठित रूप से उपदेशों के द्वारा अपने मत का प्रचार बहुत कम किया। कभी उनकी सिद्धियों या करामातों का प्रभाव जनता पर पड़ता था और कभी रमणीय प्रेम-तत्व से सम्बन्धित उनके काव्य ने उनका प्रभाव व्यापक करने में सहायता पहुँचाई। काव्य के माध्यम से प्रेम के प्रभाव तथा महत्ता का प्रतिपादन कर वाक्यं 'रसात्मकं काव्यं' की सार्थकता इन सूफ़ियों ने सिद्ध की है।

सूफ़ी साधकों का साहित्य मुख्यत: तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथमत: उनका निबन्ध-साहित्य जिसमें उन्होंने सूफ़ीमत के आध्यात्मिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। द्वितीय वर्ग के अन्तर्गत उनका जीवनी-साहित्य आता है जिसमें सूफ़ी साधकों तथा सन्तों की जीवन-कथायें संग्रहीत हैं। तृतीय वर्ग उनके काव्य-साहित्य का है। इस काव्य-साहित्य के भी दो विभाग हो सकते हैं; प्रथम प्रबन्ध या मसनवी पद्धति पर लिखा गया साहित्य जिसमें अन्योक्तियों और प्रतीकों की व्याख्या की गई है; द्वितीय मुक्तक काव्य जिसमें ग़ज़लों, रूबाइयों, दोहों एवं मुक्तक पदों आदि के माध्यम से सूफ़ी साधकों के भावों का व्यक्तीकरण हुआ है।
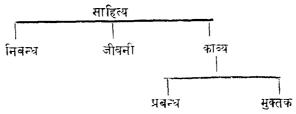
सूफ़ी साहित्य के ये तीनों अंग यथेष्ट पुष्ट हैं।

सूफ़ी मत के विवेचन में उन निबन्धों का प्रमुख स्थान है जिनमें तसव्वुक के

आचार्यों ने तसव्वुफ के स्वरूप पर विचार, तथा स्वमत का विवेचन किया है। इस प्रकार के निबन्धग्रन्थों में स्वतन्त्र चिन्तन एवं आत्मजिज्ञासा-शान्ति के प्रयास के साथ ही सूफ़ीमत को इस्लाम के अन्तर्गत प्रतिष्ठित करने का भी प्रयास लक्षित होता है। उन सिद्धान्तों और विचारों के व्यक्तीकरण पर नियन्त्रण किया गया जिनके प्रमाणित होने पर सूफ़ीसन्त 'जिन्दीक' कहकर दण्डित किये जाते थे। इन ग्रन्थों की रचना गद्य तथा पद्य दोनों में हुई है। मज़हबी (धार्मिक) जिज्ञासाओं की शान्ति के कारण ये ग्रन्थ अधिकांश मज़हबी ज़बान या अरबी में ही लिखे गये। इस प्रकार के गद्य ग्रन्थों के अन्तर्गत, अबूनस्सराज़ का 'कितावुललुमा फितनसव्वुफ़,' अब्दुल कासिम कुशेरी का 'रिसालये कुशारिया', अली हुज्विरी का 'कश्फ़ुलमहजूब,' इमाम गज्जाली का 'इहयायुल उलुम,' इब्नुल अरबी का 'फुतूहाते मक्किया,' तथा फुसूसुल हिकम, सुहरावर्दी का 'अवारिफुल म्वारिफ', जिली का 'इंसानुल कामिल,' मीरदर्द का 'इल्मुल किताब,' जामी का 'लावेह' तथा सद्रुद्दीन कुनवी का 'इनयाहुल ग़ैब' आते हैं। इनके अतिरिक्त रूमी की 'मसनवी,' फ़रीदुद्दीन अत्तार की 'मंतिकुत्तैर,' सनाई की 'हदीक़ा', शबस्तारी का 'गुल्शनेराज' तथा अबुल हसन निजामी की 'मसनमियां' पद्यात्मक निबन्ध कही जा सकती हैं। हल्लाज की 'किताबुलत्वासीन' में, तसव्वुफ का तात्त्विक विवेचन गम्भीरता से किया गया है। अरबी के 'फ़ुतूहात मक्किया' और 'फ़ुसूसुल हिकम' का भी तसव्वुफ़ के मत सम्बन्धी ग्रन्थों में महत्वपूर्ण स्थान है। अरबी निर्भय तथा स्वतन्त्र होकर तर्क वितर्क करता है। शबिस्तारी के ग्रन्थ 'गुल्शनेराज' में प्रश्नोत्तर के रूप में तसव्वुफ का विवेचन किया गया है। गज़ाली की 'इहयायुलउलुम्' के द्वारा तसव्वुफ की प्रतिष्ठा इस्लाम के अन्तर्गत हो गई, बाद के सभी सूफ़ियों पर इसका प्रभाव है। गज़ाली के विचारों पर मक्की और जुनैद का भी यथेष्ट प्रभाव है।

सूफ़ी-साहित्य का दूसरा अंग जीवनी साहित्य से सम्बन्धित है। जीवनी साहित्य की रचना अरबी और फ़ारसी दोनों ही भाषाओं में हुई। सूफ़ी सन्तों की जीवनी के अतिरिक्त इन ग्रन्थों में उनकी करामातें भी वर्णित हैं। भारतीय साहित्य में जीवनी साहित्य का जितना अभाव है, उतना ही सूफ़ी साहित्य का यह अंग पुष्ट है। हुज्वरी ने अपनी रचना 'कश्फ़ुल महजूब' में सूफ़ी सन्तों का संक्षिप्त परिचय देकर उनकी अन्य विशेषताओं का भी उल्लेख किया है। फरीदुद्दीन अत्तार की पुस्तक 'तज़किरातुल औलिया' इस क्षेत्र में अत्यन्त प्रसिद्ध है, इसमें सूफ़ी सन्तों के विवरण के साथ ही सूफ़ी-मत के इतिहास पर भी कुछ प्रकाश डाला गया है। दौलतशाह की 'तज़किरातुल शुअरा' में भी सूफ़ी सन्तों की जीवनी का विवरण है। जामी की प्रसिद्ध रचना 'नफ़हातुल-उन्स' में भी सूफ़ी सन्तों के जीवन चरित्र का संकलन है। सन्तों और साधकों की जीवनियां लिखने की यह परम्परा अति प्राचीन है। भारत में 'भक्तमाल' ऐसे ग्रन्थ इसी साहित्य का परिचय देते हैं। इन सन्तों तथा साधकों के जीवन-चरित्र की रचना एक तो आदर्श स्थापित करने के कारण दूसरे उसके अध्ययन को प्रसादस्वरूप मानने के कारण हुई। सूफ़ी जीवनी-साहित्य पर यद्यपि अन्य ग्रन्थ भी लिखे गये, किन्तु उपरोक्त उनमें से प्रमुख हैं।

सूफ़ी साहित्य का तृतीय अंग 'काव्य' सर्वाधिक व्यापक तथा पूर्ण है। अन्य देशों की भाँति अरब में भी प्रेमकाव्य और वीरकाव्य की परम्परा सर्वप्रथम उद्भूत हुई, उसका बहुत कुछ साम्य राजस्थानी प्रेमगीतों से है; किन्तु इस प्रेम-परम्परा में परमात्मा के परमप्रेम और आन्तरिक सूक्ष्म अनुभूतियों का चित्रण नहीं था। शुद्ध व्यक्तिगत प्रेम के प्रतीकात्मक वर्णन की परम्परा ईरान देश के प्रभाव, एवं फारसी के माध्यम से सूफ़ी साहित्य की विशेषता बन गई। सूफ़ियों की ख्याति उनके प्रेम तथा काव्य पर ही निर्भर है। सूफ़ी, हृदय पक्ष के समर्थक तथा बुद्धि और तर्क से स्थापित कर्मकाण्ड से दूर होते हैं। उनका सम्बन्ध प्रेम और रागात्मक भाव व्यापार से है, तर्क वितर्क पर आश्रित बुद्धिवाद से नहीं।

अतः सूफ़ी कवियों ने ग़ज़लों के द्वारा स्फुट रूप में गम्भीर प्रेम भाव की विवेचना की तथा मसनवी के माध्यम से ईश्वरीय प्रेम का स्पष्टीकरण किया।

अरब प्रदेश में स्फुट छन्दों तथा ग़ज़लों के रूप में अपने विचारों का प्रतिपादन करने की प्रणाली बहुत प्राचीन थी, किन्तु मसनवी पद्धति पर ईश्वरीय प्रेम का प्रतिपादन करने की प्रणाली ईरान के सूफ़ी कवियों की देन है। प्रेम की भावना आख्यानों द्वारा हृदयंगम कराने के लिए मसनवी पद्धति सूफ़ी काव्य में रूढ़ होगई। मसनवी की रचना सनाई तथा अत्तार ने की, किन्तु रूमी का स्थान इस प्रकार की काव्य पद्धति में सर्वोच्च है। जिन तथ्यों का प्रतिपादन तर्क प्रणाली से सम्भव नहीं था, उन्हें रूमी ने छोटे छोटे आख्यानों में बद्ध करके आकर्षक तथा सर्वजन-ग्राह्य बना दिया। ये शम्शतबरेज के शिष्य तथा मौलवी-पंथ के प्रवर्तक थे। अपने बचपन में इन्होंने अपने पिता के साथ देशाटन किया था। विनफील्ड का कहना है कि रहस्यवाद में रूमी की समानता कोई नहीं कर सकता। किसी भी मनुष्य का इस विषय में सन्देह, केवल उनकी मसनवी 'दीवान शम्सतबरेज़' के पढ़ने से ही विश्वास में परिणित हो सकता है। निकोल्सन के विचार के अनुसार 'उनकी कविता के पढ़ने से ऐसा ज्ञान होता है मानो हम किसी स्वर्गीय वेगवती सरिता का गान सुन रहे हैं। शब्दयोजना हृदय को हिलाने वाली और आनन्द प्रदायिनी है।'

इस प्रकार रूमी ने अपनी मसनवी में प्रेम की महत्ता का प्रतिपादन अत्यन्त सरल और सीधे ढंग से किया है, यही कारण है कि इसका प्रभाव अन्य लोगों पर शीघ्र होता है। इनकी मसनवी 'कुरानी पहलवी' के नाम से विख्यात है।

मौलाना रूम ने अपनी मसनवी के आरम्भ में सनाई (मृ० ११३१ ई०) की प्रशंसा की है। उनका कथन है कि 'अत्तार रूह है और सनाई उसकी दो आंखें और मैं तो सनाई तथा अत्तार के पैरों के समान हूँ।' सनाई की ख्याति उनके लिखे हुये 'हदीक़ा' के कारण अधिक है। इसमें संग्रहीत पदों में अध्यात्मिकता तथा आत्मिक अनुभवों की झलक पूर्णरूप से वर्तमान है। सनाई भी आरम्भ में एक दरबारी कवि थे, किन्तु बाद में सूफ़ी होगये।

सनाई के बाद कालक्रमानुसार मसनवी के रचयिताओं में फ़रीदुद्दीन अत्तार (जन्म ११५७ मृत्यु १२३० ई०) का नाम आता है। रूमी का कहना था कि मन्सूर का आत्मिक प्रकाश अत्तार की आत्मा में ही प्रकाशित हुआ था। इनकी मसनवी 'मंति कुतैर' (मंतिकुलतैर) बहुत प्रसिद्ध है। इस रचना में अत्तार ने आत्मा को परमेश्वर की खोज में व्यस्त दिखलाया है। सूफ़ी यात्री की उपमा एक पक्षी से देकर ईश्वर को सीमुर्ग (एक जलपक्षी) माना है। पक्षीगण एकत्रित होकर अपने पथप्रदर्शक की अध्यक्षता में ईश्वरीय खोज का विचार करते हैं। इसी कथा के मध्य अत्तार प्रेम, ज्ञान, आश्चर्य, निराशा, सम्मिलन आदि के सम्बन्ध में अपने विचार प्रदर्शित करते हैं। मसनवी रचयिताओं में ये ही तीन रूमी, अत्तार तथा सनाई प्रमुख हैं। बाद के कवियों में जामी की 'यूसुफ़ जुलेखा' भी बहुत प्रसिद्ध हुई।

गज़लों में आख्यानों का सा आनन्द नहीं आता है। इन गज़लों में प्रेम चर्चा के साथ ही कर्मकाण्ड की आलोचना भी है। जलालुद्दीन रूमी ने अपनी गज़लों का संग्रह या दीवान, शम्शतबरेज़ को समर्पित किया था जो बहुधा 'कुल्लियात शम्शतबरेज़' के नाम से प्रकाशित पाया जाता है। रूमी के दीवान की भांति सनाई, सादी एवं हाफिज़ आदि के भी दीवान हैं। जिस प्रकार मसनवी रचयिताओं में रूमी का नाम प्रसिद्ध है उसी प्रकार गज़लों के रचयिताओं में हाफ़िज (मृत्यु १३९०) सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं।

इन्हें लोग बहुधा लिसातुलग़ैब (अदृश्य की वाणी) तथा तर्जुमानुल असरार भी कहा करते थे। लेवी का कथन है कि भाषा, भाव और कल्पना के अनुसार फ़ारस के कवियों में इनका स्थान सबसे उच्च है। हाफ़िज की मदिरा आन्तरिक प्रसन्नता, सराय पूजा-गृह, और फारस का पुराना पुजारी आत्मिक गुरु हैं। यद्यपि इनका काव्य नग्न-शृंगार से पूर्ण है तथापि उसका आध्यात्मिक अर्थ भी सम्भव है। हाफ़िज किसी विशेष सम्प्रदाय में दीक्षित नहीं थे। अपनी मौज में मग्न होकर ही वे काव्य रचना किया करते थे।

फारिज भी इसी प्रकार भाव निमग्न हो पदों की रचना किया करता था और इसी भावावेश में अपने मत का प्रतिपादन भी करता था। अरबी का केवल एक यही ऐसा कवि है जो फारसी के कवियों से टक्कर ले सकता है। फिर भी फारिज में वह कोमलता, सरलता तथा रोचकता नहीं है जो हाफ़िज में सहज और स्वाभाविक है, फारिज ऐसे कट्टर पंथी के लि. वह दुस्साध्य है।

फिरदौसी और सादी को छोड़कर फारसी का लगभग प्रत्येक कवि सूफ़ी है। सादी के पदों में भी तसव्वुफ़ की आभा वर्तमान है किन्तु उनका ध्येय प्रेम की अपेक्षा सदाचार निरूपण का अधिक था। सादी (११८४ ई०-१२९१ ई०) के विचार बहुत ही पवित्र थे। इनकी ख्याति 'गुलिस्ताँ' और 'बोस्ताँ' के कारण अधिक हुई। गुलिस्ताँ में सादी के धार्मिक सिद्धान्तों की झलक तथा बोस्ताँ में ईश्वरवाद की झलक है। इनके विषय में ब्राउन का मत है कि 'इनकी रचनाओं में पूर्वीय झलक पूर्णतः वर्तमान है.......जहां कहीं भी फारसी भाषा का अध्ययन किया जाता है पढ़नेवालों के हाथ पहले इनकी ही पुस्तक आती है।'

रूमी और हाफ़िज अपने विचारों में पक्के सूफ़ी थे यद्यपि उनका सम्बन्ध किसी विशेष सम्प्रदाय से नहीं था। फ़ारसी साहित्य में उमरखय्याम अपने गणित और ज्योतिष के लिये ही अधिक प्रसिद्ध था, किन्तु खय्याम की रुबाइयों की स्वच्छन्दता पाश्चात्य आलोचकों को इतनी भायी कि खय्याम ही फारसी के सर्वप्रिय कवि माने जाने लगे। खय्याम का उदय फ़ारसी साहित्य की प्रारम्भिक अवस्था में हुआ था। वे मौजी कवि थे। उनकी रुबाइयों में कर्मकान्ड, मुल्ला, काज़ी और मौलवियों की दुर्बलताओं तथा अंधविश्वासों का खूब खंडन किया गया है। रुबाइयों के द्वारा सूफ़ियों के प्रेम का व्यक्तीकरण व्यक्तिगत उद्गारों के रूप में हुआ है। इसमें प्रेमपात्र अधिकांश कोई पुरुष ही है। तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों, पर्दाप्रथा आदि के कारण यह स्वाभाविक भी था। प्रेमपात्र को ईश्वर का प्रतीक होने के कारण पुरुष रूप में स्वीकार करना अधिक स्वाभाविक भी ज्ञात होता है। खैयाम ने अपने प्रेमोद्गार के अतिरिक्त कर्म काण्ड की आलोचना के द्वारा व्यंगमय काव्य की भी रचना इन रुबाइयों में की है। कहीं कहीं पर ये जन्मान्तरवाद से भी प्रभावित ज्ञात होते हैं।

अरबी जाति स्वभावतः कविता प्रेमी थी। मुहम्मद साहब के प्रचार के पूर्व भी मेले में कविगण अपनी प्रतिभा का चमत्कार दिखाकर प्रसिद्धि प्राप्त करते थे। जिस वंश में किसी कवि का जन्म होता था वह वंश ही गौरवशाली माना जाता था। कवियों का प्रमुख कार्य प्रोत्साहन प्रदान करना तथा वीरों का गुण गाना था। इस समय की अरबी कविता का साम्य बहुत कुछ हिन्दी के वीरगाथा काल से है। अन्य देशों की भांति यहां के वीरगाथा कवियों का अनिवार्य सम्बन्ध प्रेम, सुरा और प्रिय के नखशिख वर्णन से था, यद्यपि यह नखशिख वर्णन प्रिया के शील और सद्गुणों से अधिक सम्बन्ध नहीं रखता था, केवल वाह्य शारीरिक सौन्दर्य का स्थूल वर्णन ही उन कविताओं में प्रधान होता था। इस प्रकार की कविता सूफ़ियों को परम्परा के रूप में मिली। सूफ़ियों को ग़ज़ल में प्रेम और शराब का जो रंग मिला, उसी को अधिक परिष्कृत रूप में उन्होंने अपने काव्य में प्रतीक रूप में प्रदर्शित किया।

इस्लाम धर्म के प्रचार के पूर्व अरब, अल्लाह की तीन बेटियों की आराधना करते थे, जिनमें 'लात' सर्वप्रधान थी। मुहम्मदसाहब के प्रचार ने 'लात' की महिमा कम कर दी। उसके प्रति जिस प्रेम भावना का प्रचार अरबों में था उसका आरोप अब अल्लाह पर होने लगा। इस्लाम में अल्लाह को प्रेमपात्र समझ गीत रचना आरम्भ हुई। 'किताबुल अग़ानि' में ऐसे ही प्रेम गीत प्राप्त होते हैं। अरबों के प्रेम का सहज अल्लहड़पन इस्लाम के नियंत्रण के कारण जाता रहा। अरब अब सभ्य बन गये थे। राज्य-विस्तार और धन-लिप्सा तथा वैभव के कारण भोग विलास को प्रोत्साहन मिला। प्रेम का खुले दिल से स्वागत हुआ। अरबी कविता में प्रेम का मज़ाजी और हक़ीकी स्वरूप जाज्वल्यमान हुआ। अरबी काव्य में अरबी और फारिज के नाम ही विशेष उल्लेखनीय हैं, किन्तु प्रेम और रहस्य, तथा सूफ़ी सिद्धान्तों का सम्यक प्रतिपादन फारसी सूफ़ी काव्य में ही हो सका। अरबों को परोक्ष और गुह्य में विशेष रुचि नहीं थी। उनका प्रेम-काव्य रहस्य प्रधान न होकर प्रगल्भ अधिक है। सूफ़ी साहित्य लिखा तो

अरबी और फ़ारसी दोनों में ही गया है, किन्तु उसका वास्तविक सौन्दर्य फ़ारसी साहित्य में ही दृष्टिगोचर होता है। सूफ़ियों के आध्यात्मिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन, मसनवी या प्रेमाख्यानों के आधार पर प्रेम का स्पष्टीकरण, गज़लों और रुबाइयों में प्रेम की व्यक्तिगत अनुभूति का व्यक्तीकरण, कर्मकाण्ड का खन्डन, तथा अन्योक्तियों का सहारा ले प्रेम के विभिन्न स्वरूपों की व्याख्या, और परमतत्व का निरूपण आदि फ़ारसी साहित्य में ही हुआ। फ़ारसी काव्य में अरबी की अपेक्षा स्वच्छन्दता तथा रसात्मकता अधिक है जिसमें सुरा और साक़ी, बुलबुल और चमन का वर्णन व्याप्त है।

भारत में आनेवाले अधिकांश सूफ़ी, इस्लाम धर्म में सूफ़ीमत के प्रतिष्ठित हो जाने के बाद आये। अब उन्हें सूफ़ीमत और इस्लाम के विरोध को सुलझाना नहीं था। वे इस्लाम धर्म के प्रचारक के रूप में भारत आये थे, इसी कारण भारत में मसनवी पद्धति पर हिन्दी में प्रचलित दोहा चौपाइयों की परम्परा में, उन्होंने अपने प्रेम और विरह की चर्चा प्रारम्भ की। प्रेमाख्यानों की हृदयग्राही परम्परा के द्वारा उन्होंने अपने विचारों का प्रसार करना आरम्भ किया।

भारत का सूफ़ी साहित्य दो भागों में विभक्त हो सकता है। प्रथम फ़ारसी भाषा में लिखा गया साहित्य और दूसरा भारतीय अन्य बोलियों में लिखित साहित्य।

दाराशिकोह का 'मज्मा-उल्-बहरैन' वेदान्त और सूफ़ीमत का तुलनात्मक अध्ययन तथा 'सफ़ीनातुलऔलिया' सूफ़ी सिद्धान्त तथा जीवनी साहित्य से सम्बन्धित ग्रन्थ हैं। भारतीय फ़ारसी साहित्य में कुछ बातें विशेष ध्यान देने योग्य हैं। मुग़लों के शासनकाल में फ़ारसी यहां की राजभाषा और दरबारी भाषा थी। भारतीय मुसलमानों ने अधिकांश अपनी प्रादेशिक भाषा में ही लिखने का प्रयास किया है। अबुल फ़ज़ल, फैज़ी बदायूनी, अब्दुलकादिर, मुल्लाशीरी आदि संस्कृत के ज्ञाता थे और महाभारत रामायण आदि का अनुवाद भी उन्होंने किया था। दाराशिकोह ने उपनिषद्, भगवद्गीता तथा योग-वाशिष्ठ का अनुवाद कराया था। इसके अतिरिक्त सूफ़ी साहित्य से सम्बन्धित उसकी पुस्तकों में 'सफ़ीनातुल औलिया', 'मज्मुल बहरैन' तथा 'पंजाब के बाबा लाल दास से वार्तालाप' प्रधान हैं।

मुसलमानों के आक्रमण सिंध और पंजाब में ही सर्वप्रथम हुये, और इसी कारण वहीं की भाषाओं में सूफ़ी काव्य की रचना भी सर्वप्रथम आरम्भ हुई। अधिकांश सूफ़ी कवियों ने अपने निवासस्थान में बोली जाने वाली जनसाधारण की भाषा में, वहीं की प्रचलित कथाओं का आधार ले, अपने मत का प्रतिपालन और प्रेम का प्रचार किया।

सूफ़ीमत का प्रचार सिंध में बहुत था। भारत में सूफ़ी साधकों का आगमन सर्वप्रथम सिन्ध में ही आरम्भ हुआ। सन् १३१८ में अफ़गानिस्तान के परवन्द नगर के निवासी सैयद अहमद कबीर के सैयद उसमानशाह नाम का बालक उत्पन्न हुआ। बगदाद के सुल्तान सैयद अली के दरबार में उसमान शाह रहते थे, किन्तु इनके हृदय में भारत की ओर प्रस्थान करने की इच्छा जागी और बहुतों के मना करने पर भी ये अपने अन्य तीन मित्र शेख भावलदीन, शेख फरीदगन्ज, तथा शेख मखदूम जलालुद्दीन के साथ

...रत की ओर चल दिये। मार्ग की अनेक कठिनाइयों के मध्य एक स्थल पर उसमान शाह की करामात का भी वर्णन है। एक साधू के द्वारा उबलते हुये तेल में कूद पड़ने की चुनौती पाकर शाह उसमान उसमें कूद गये और उनको किञ्चित जलन नहीं प्रतीत हुई। इसी कारण सम्भवतः उन्हें 'लाल' की उपाधि प्राप्त हुई। शाह उसमान सदैव लाल वस्त्र ही धारण करते थे, हो सकता है उनके इस वस्त्र तथा काव्य और भावगत ऊँची उड़ान के कारण इन्हें 'लाल-शहबाज़' या रक्तिम-सचान की उपाधि मिली हो। लाल शहबाज़ सहवान में, शेख भावलदीन मुल्तान प्रान्त के उच नगर में अपने विचारों के प्रचारार्थ रुक गये। लाल शहबाज़ को कलन्दर लाल मस्तन्डी भी कहते हैं। इस प्रकार सिन्ध में इन सूफ़ी साधकों ने अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया। सिन्ध के सूफ़ी कवि इन साधकों से प्रभावित थे। वे अपनी भावनाओं में उन्मुक्त तथा विचारों में स्वच्छन्द थे। मुहम्मद साहब की वंश परम्परा में शाह लतीफ़ कुरेश, तथा खलीफा उमर की वंश परम्परा का सचल, प्रसिद्ध सूफ़ी कवियों में से है। मंसूर की भांति लतीफ़ ने भी 'इबलीस' की सराहना की है। सचल का विचार था कि जब तक ये मन्दिर और मस्जिद अपना सिर उठाये रहेंगे, आत्मज्ञान का मार्ग उन्मुक्त न होगा। आत्मज्ञान के मार्ग में ये बाधक हैं [1]। इनके अतिरिक्त रोहल, सामी, बेकस, बेदिल, दलपत और सादिक़ भी बहुत प्रसिद्ध हैं। स्फुट पदों में उन्होंने अपने स्वच्छन्द विचारों को अत्यन्त मार्मिक ढंग से व्यक्त किया है।

सिन्ध में कल्हौरा राजाओं के शासन काल में, शाह इनायत कुरेशी अपनी सूफ़ी-साधना के कारण अत्यन्त प्रसिद्ध थे। जनसमुदाय पर अत्यधिक प्रभाव तथा अनेक व्यक्तियों का उनका अनुगामी होना कल्हौरा शासकों को भी भयभीत करने लगा था। फ़ारसी भाषा में लिखित इनका 'बेसिर नामा' सूफ़ी विचारों से पुष्ट काव्य है। शाह इनायत को सिन्ध का मन्सूर कहा जाता है। मुग़ल सुल्तान फ़र्रुखसियर की आज्ञा से इनका सिर काटकर दिल्ली भेजा गया था। कहा जाता है कि इसी अवस्था में बेसिरनामा की रचना हुई थी।

शाह लतीफ़ के वंशज हेरात के रहनेवाले थे और तैमूर के आक्रमण काल में वे भारत आये थे। शाह लतीफ़ सिन्ध के प्रसिद्ध सूफ़ी कवि तथा साधक, शाह करीम के पौत्र तथा शाह हबीब के पुत्र थे। यद्यपि शाह लतीफ़ का जन्मकाल निश्चित नहीं है किन्तु कोटरी के मिर्जा मुगल बेग की लड़की से इनका सम्बन्ध होने के कारण इनका समय सरलता से सत्रहवीं शताब्दी के आसपास माना जा सकता है। शाह लतीफ़ ने भिट को अपना निवासस्थान बनाया। कहा जाता है कि शाह लतीफ़ की आवाज अत्यन्त मधुर थी और वे अपने पद स्वयं ही गाकर लोगों को प्रभावित किया करते थे। खैरपुर

---

1. Sind and its Sufis—P.98.
By Jethmal Parasram Gulraj.

से थोड़ी दूर 'दराज़' नामक गांव के पास सचल कवि की समाधि है। सचल की 'काफी' में भाव, संगीत तथा प्रभावात्मकता का समन्वय है। लतीफ़ की भांति सचल भी अपनी काफिया गाया करते थे। सचल के वशज अबू बिन कासिम के आक्रमण के साथ ही सिन्ध आये थे। कासिम ने इनके वंशज शहाबुद्दीन को सेहवान का शासक नियुक्त किया था। लालशहबाज के साथ आने वाले सूफी साधक भावलदीन ने इनके वंशजों को 'दोथिस' की उपाधि से अभिहित किया था। अब्दुल वहाब या सचल, इन्हीं की वंश परम्परा के मियांसाहिब दीनू के पुत्र थे। इनका ग्रन्थ 'दीवान अश्कर' फ़ारसी भाषा में लिखा गया है। कहा जाता है कि ये अन्य सूफ़ियों की भांति केवल बहुज्ञ ही न थे, प्रत्युत इनका अध्ययन भी विस्तृत था। उन्होंने फ़ारसी, उर्दू, पंजाबी, सिराकी, बलूची तथा पंजाबी, एवं शुद्ध सिन्धी में अपने स्फुट पदों की रचना की है। वे भारतीय चिन्ताधारा से प्रभावित थे। किंवदन्ती है कि वे गुरु गोविन्द सिंह के शिष्य थे। ये अपने शिष्य यूसुफ को 'नानक यूसुफ' के नाम से पुकारा करते थे।

सिन्ध के ये प्रसिद्ध सूफी कवि अपनी विचारधारा में पूर्ण स्वच्छन्द थे। यही कारण है कि लगभग सभी कवियों के जीवन में मुल्ला, मौलवियों से संघर्ष की कथा पाई जाती है। इन्होंने केवल हृदय की स्वच्छता, प्रेम और गुरु-कृपा के गीत गाये हैं।

हिन्दी साहित्य का रचनाकाल संयोगवश उसी समय आरम्भ होता है जब मुसलमान 'जेहाद' या धर्मयुद्ध करने भारत आये थे। यह हो सकता है कि इस 'जेहाद' के अन्तर्गत राज्य-विस्तार और धनलिप्सा की भावना भी हो। सुल्तानों ने तो स्वयं राज्य-शक्ति और धन-प्राप्ति से सन्तोष कर लिया, किन्तु इनके साथ आये हुये सूफी धर्मप्रचारकों को इससे सन्तोष न हुआ। इन्हें अपने सिद्धान्तों के प्रचारार्थ सुगम माध्यम की आवश्यकता थी। इस समय भारतीय देशी कलाकार अधिकांश प्रचलित साहित्यिक भाषाओं संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में ही रचनायें कर रहे थे। ये भाषायें इन नवागन्तुकों के लिए भी दुरूह थीं, साथ ही जन भाषा का स्वरूप भी ये नहीं ग्रहण कर सकती थीं। अतः इन मुसलमान सूफी सन्तों और दर्वेशों ने शौरसेनी अपभ्रंश की उत्तराधिकारिणी खड़ी बोली का सहारा लिया। डा०अब्दुलहक़ ने अपनी किताब 'उर्दू की इब्तदाई नशो व नुमा में सूफ़ियान कराम का काम' में लिखा है कि कभी कभी इन दर्वेशों के यहाँ हिन्दी भाषा का भी प्रयोग किया जाता था। सूफ़ियों का उल्लेख करते हुए डा० अब्दुलहक़ इसी पुस्तक में उल्लेख करते हैं कि 'इन बुजुर्गों के घरों में भी हिन्दी बोलचाल का रवाज था और चूंकि यह मुफ़ीदे मतलब था इसलिये वह अपनी तालील तल्क़ीन में भी इसी से काम लेते थे' इस मुफ़ीदे मतलब का तात्पर्य सिद्धान्त तथा संस्कृति का प्रचार था। ये विदेशी जनसाधारण को समझाने योग्य सिद्धान्त और किस्से कहानियाँ हिन्दी में ही लिखते थे। खड़ी बोली साहित्य की यह विदेशी परम्परा ईसा की चौदहवीं-पन्द्रहवीं सदी में गुजरात, महाराष्ट्र, विजयनगर आदि दक्खिनी प्रदेशों में मुसलमानी फौजों और सन्तों तथा दर्वेशों के साथ गई। सुल्तान अलाउद्दीन की फौजें, मलिक काफ़ूर के आक्रमण तथा मुहम्मद तुगलक की दौलताबाद में राजधानी बनाने की इच्छा ऐसी ही ऐतिहासिक घटनायें हैं जिनके द्वारा तामिल, तेलगू और कन्नड़ भाषी प्रदेशों में भी हिन्दी का प्रवेश हो गया।

दक्खिनी हिन्दी के सर्वप्रथम ग्रन्थकार ख्वाजा बन्दानवाज़ गेसूदराज मुहम्मद हुसैनी (१३१८-१४२२ ई०) हैं इनके पिता सैयद यूसुफ धर्म के प्रचारार्थ ही दक्षिण की ओर गये थे। ये अपने पिता की मृत्यु पर दिल्ली आगये किन्तु तैमूरलंग के आक्रमण की बीभत्सता से घबड़ाकर ये फिर दक्खिन चले गये थे। यद्यपि आपने अपनी अधिकांश रचनायें फारसी भाषा में ही की हैं, किन्तु तीन रिसाले मीराजुल आशिकीन, हिदायत नामा और रिसाला सेहवारा दक्खिनी हिन्दी में हैं। इन्हीं ख्वाजा साहब के पोते अब्दुल्ला हुसैनी के एक ग्रन्थ 'निशातुल इश्क़' का भी पता चला है जो शेख अब्दुल कादिर जीलानी के फारसी ग्रन्थ का अनुवाद है। सुल्तान अहमदशाह बहमनी के शासन काल का प्रसिद्ध कवि निजामी दक्खिनी का पहला कवि है। इनकी रचना 'कदमराव व पदम' नामक एक मसनवी ग्रन्थ है। दक्खिनी में अन्य कई मसनवियाँ लिखी गईं। इसमें से कुछ फारसी ग्रन्थों के अनुवादित रूप हैं। 'गवासी' की मसनवी सैफुल्मजूक व बदीउज्जमाल फ़ारसी किस्सा का पद्यबन्ध अनुवाद है, इसका रचनाकाल १६२५ ई० है। इन्हीं की दूसरी कृति तूतीनामा (१६३६ ई०) है। निशानी की मसनवी फूलबन (१६५५) फारसी किस्सा बिसातीन का अनुवाद है।

गुलामअली की 'पद्मावत' नाम की मसनवी का रचना काल १६८० ई० बताया जाता है। मुकीमी की मसनवी 'चन्दरबदन' व 'महियार' में एक मुसलमान युवा महियार (मुईउद्दीन) और हिन्दू युवती चन्दरबदन की प्रेम कथा वर्णित है; इसका रचनाकाल १६४० ई० है। इनके अतिरिक्त अहमद जुनेदी की माहपैकर (१६५३ ई०), सेवक का जंगनामा (१६२१ ई०), अमीन बहराम, व हसन बानो रुस्तामी का खाबिरनामा (१६४६ ई०), निसाती का गुलशनइश्क, कुरैशी की भोगबल, काजी महमूद बहरी की मनलगन (१६६६ ई०), वली वेलूरी की मसनवियाँ, तथा इशरती की दीपक पतंग, चित्र लगन, और नेहदर्पन प्रसिद्ध हैं। दक्खिनी हिन्दी में भी इस प्रकार मसनवी ग्रन्थों का प्रचुर उल्लेख मिलता है।

पंजाब के सूफ़ी साधक आरम्भ में अपने काव्य की रचना फारसी भाषा में उसी परम्परा तथा आदर्श के अनुसार करते थे। कुछ समय पश्चात् उन्होंने उर्दू में लिखना प्रारम्भ किया जिसका आदर्श भी फारसी साहित्य था। पन्द्रहवीं शताब्दी के चिश्तिया सम्प्रदाय के शेख इब्राहीम फरीद ने सर्वप्रथम पंजाबी में लिखना आरम्भ किया था। ये शेख फरीदुद्दीन शकरगंज के वंशज थे। इनके पश्चात् इस नवीन दिशा की ओर कई सूफ़ी कवियों का आग्रह हुआ, जिसमें लाल हुसैन मियाँ सुल्तान बाहू, बुल्लेशाह, अली हैदर तथा हाशिम के नाम विशेष हैं।

शेख इब्राहीम फरीद सानी का समय १४५० ई० से १५१५ ई० है। इनका जन्म मुल्तान के पास एक नगर में हुआ था, अन्त में ये अपने सिद्धान्त के प्रचारार्थ पाकपट्टन में निवास करने लगे थे। पाकपट्टन में अब भी इनकी समाधि वर्तमान है। ये अपनी करामातों के लिये प्रसिद्ध थे। इनके पंजाबी भाषा में लिखे गये कुछ काफिया तथा सलोक प्राप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त पंजाब विश्वविद्यालय में इनका एक ग्रन्थ 'नसीहतनामा' भी प्राप्त होता है। इनके इन सलोकों का संग्रह 'आदिग्रन्थ' में भी

प्राप्त होता है[1]। कहा जाता है कि माधौलाल हुसेन (१५३९ ई०-१५९४ ई०) के पूर्वज कायस्थ या जाट जाति से मुसलमान धर्म में दीक्षित हो गये थे। कबीर की भाँति इनका भी कौटुम्बिक धन्धा जुलाहे का था। ये क़ादिरिया सम्प्रदाय के थे, तथा इन्हें माधौ नामक एक हिन्दू युवक से अत्यन्त प्रेम था। माधौ भी इनके सूफ़ी सिद्धान्तों से प्रभावित था। अन्त में माधौ का नाम लाल हुसेन के नाम के साथ एक प्रत्यय की भांति जुड़ गया। इनका कोई ग्रन्थ प्राप्त न होकर मुक्तक रूप में लिखे गये काफिये ही प्राप्त होते हैं।

सुल्तान बाहू (१६३१--९१ ई०) भी क़ादिरिया सम्प्रदाय के थे। औरंगजेब इनका सम्मान करता था किन्तु इन्होंने उसकी ओर कभी विशेष ध्यान नहीं दिया। तवारीख सुल्तान बाहू के अनुसार इन्होंने १४० ग्रन्थ अरबी तथा फ़ारसी भाषा में लिखे। इसके अतिरिक्त वहीं पर उनका पंजाबी भाषा में भी रचना करना उल्लिखित है। इनकी काफ़ियाँ 'उर्स' के अवसर पर गाई जाती हैं। 'सीहर्फी' के अतिरिक्त इनका कोई लिखित ग्रन्थ प्राप्त नहीं होता।

बुल्लेशाह (१६८०—१७५८ ई०) भी औरंगजेब के समकालीन तथा शाह इनायत के शिष्य थे। हज़रत शेख मुहम्मद इनायतुल्ला क़ादिरिया संप्रदाय के थे। इन्होंने भी काफ़ी के द्वारा अपने विचारों को व्यक्त किया है। अली हैदर (१६९०--१७८५ ई०) की कव्वालियों का एक संग्रह 'मुकम्मल मज्मुआ आवयात अली हैदर' के नाम से लाहौर से प्रकाशित हुआ है। कहा जाता है कि ये भी क़ादिरिया सम्प्रदाय के थे, यद्यपि इनके दीक्षा गुरु का नाम ज्ञात नहीं है। फर्द फकीर (सन् १७२०--९० ई०) का समय, अनुमान प्रमाण पर आधारित है। इन्होंने अपना ग्रन्थ 'कश्ब नामा बाफिन्दगां' सं० ११६३ में पूर्ण किया; इनके कई ग्रन्थों का उल्लेख पाया जाता है—बारामाह, सीहर्फी, कश्बनामा बाफिन्दगां तथा रोशनदिल आदि उन्हीं की रचनायें कही जाती हैं, किन्तु कुछ विद्वान 'रोशनदिल' के सम्बन्ध में शंका करते हैं[2]। हाशिम शाह (सन् १७५३-१८२३ ई०) केवल सूफ़ी कवि के रूप में ही सम्मुख आते हैं। उनके साथ फकीरी या सिद्दई का सम्बन्ध नहीं पाया जाता। ये जाति से बढ़ई थे। हाशिम का सम्बन्ध रनजीतसिंह के साथ भी जोड़ा जाता है। इनके रचित ग्रन्थों में किस्सा शीरीं-फरहाद, किस्सा सोहिनी-महिवाल, किस्सा शशिपुन्नो, ज्ञानप्रकाश, और दोहरे प्रसिद्ध हैं। ज्ञानप्रकाश अभी तक अप्रकाशित है।

सैयद करम अली के बारे में उनके ग्रन्थों के अतिरिक्त और कहीं से कोई सूचना नहीं प्राप्त होती। इनकी रचनाओं का संग्रह 'ख़याल' नामक ग्रन्थ में मिलता है। इसमें ग़ज़लों के साथ साथ दोहे भी हैं।

---

१. Punjabi Sufi Poets—P. 5
२. Punjabi Sufi Poets--P. 84
Lajwanti Ram Krishna.

करीमबख्श नामक एक और पंजाबी सूफी कवि का उल्लेख प्राप्त होता है जिसने अबुल हसन के 'तफरीहुल-अजकिया-फिलंबिया' का 'तज़किरातुल अंबिया' नाम से पंजाबी भाषा में अनुवाद किया। इसके अन्त में 'बारामाह मुहम्मदिया' नाम से एक बारह मासा भी जोड़ दिया गया है।

बहादुर नाम के पंजाबी सूफी कवि के विषय में कुछ उपलब्ध नहीं है। एक ग्रन्थ 'बंगालिननामा' उसके द्वारा रचित मिलता है, जिसमें लेखक ने बंगालिन को माया मान कर वर्णन किया है।

उन्नीसवीं सदी के गुलाम मुस्तफा मखदूम द्वारा रचित 'शमाये इश्क' का भी उल्लेख मिलता है[1]।

गुलाम हुसेन कल्यान वाला रचित सी-हर्फी तथा बारहमाह उपलब्ध हैं। ये भी उन्नीसवीं सदी में हुये थे किन्तु इनके विषय में अधिक ज्ञात नहीं।

चिश्तिया सम्प्रदाय के मुहम्मददीन ने सीहर्फी, बारहमासा, रथा आठवारा ग्रन्थों की रचना की है।

मुहम्मद अशरफ मुहम्मददीन के गुरुभाई थे। इन्होंने भी बारहमाह की रचना की है।

बीसवीं सदी के लाहौर निवासी हिदायतुल्ला ने भी कुछ सीहर्फी तथा तथा बारहमाह रचे हैं।

हिन्दी साहित्य में अधिकांश प्रबन्ध काव्य की रचना अवधी में तथा स्फुट काव्य की रचना ब्रजभाषा में होती रही है। अवधी में दोहे, चौपाई आदि छंद ही अधिक ग्रहीत हुये। मध्ययुग के सूफी प्रेमाख्यान रचयिताओं ने भी अवधी भाषा में दोहे चौहाई के क्रम से अपने ग्रन्थों की रचना की।

मुल्ला दाऊद की 'चन्दावन' का, इस क्षेत्र में अभी तक की खोज के अनुसार, सर्वप्रथम प्रेमाख्यान होने के कारण महत्वपूर्ण स्थान है।

सूफी प्रेमाख्यानों का आरंभ किस समय हुआ, यह ठीक-ठीक पता नहीं चलता। कुछ लोग इसे मलिक मुहम्मद जायसी (मृ० सं० १५९९) की 'पद्मावत्' में उपलब्ध निम्नलिखित विवरण के आधार पर निश्चित करना चाहते हैं :

> विक्रम धंसा प्रेम के बारा, सपनावति कहं गयउ पतारा।
> मधू पाछ मुगुधावति लागी, गगनपूर होइगा बैरागी।
> राज कुंवर कंचन पुर गयऊ, मिरगावति कंह जोगी भयऊ।
> साध कुंवर खंडावत जोगू, मधुमालति कर कीन्ह वियोगू।
> प्रेमावति कंह सुरसरि साधा, ऊषा लगि अनिरुध बर बांधा।

स्पष्ट ही है कि 'पद्मावत' की रचना के पूर्व ये कहानियां साहित्यिक या लोक कथा के रूप में प्रसिद्ध थीं। पंक्तियों का उपरोक्त पाठ आचार्य शुक्ल जी द्वारा संपादित 'जायसी

---

१. Punjabi Sufi Poets p. 127.
By Lajwanti Ram Krishna

ग्रन्थावली' के अनुसार है।. किन्हीं-किन्हीं हस्तलिखित प्रतियों में वैभिन्य भी है। सपनावति के स्थान पर कहीं-कही 'चंपावति' और मुगुधावति के लिये' 'खंडरावति' तथा 'मद्रूमाछ' का 'सुदैबच्छ' एवं 'सिरीभोज' हो गया है। इसी प्रकार 'साधु कुंवर खंडावत' के स्थान पर 'साधा कुंवर मनोहर' प्राप्त होता है [1]। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि प्रसिद्ध अनिरुद्ध एवं ऊषा के उल्लेख के साथ ही किसी विक्रम तथा सपनावति वा चंपावति, मुगुधावति वा खंडरावति एवं सिरीभोज, राजकुंवर एवं मिरगावति, मधुमालती एवं मनोहर, तथा प्रेमावती एवं सुरसरि, जैसे नायक नायिकाओं के आधार पर कम से कम पांच और भी प्रेम कहानियां प्रचलित रहीं होंगी।

जायसी के पूर्व उल्लिखित इन पूर्ववर्ती प्रेम कथाओं में केवल मिरगावति की खंडित प्रति अभीतक प्राप्त हो सकी है। यह रचना जायसी के पूर्ववर्ती कवि कुतबन (संम्वत १५५०) की है। इस प्रकार की सूफ़ी प्रेम-कथा का अभीतक प्राप्त सर्वप्रथम उल्लेख मुल्लादाऊद की 'चन्दावन' के लिये किया जाता है। इसके विषय में अब्दुल कादिर बदायूंनी ने अपने इतिहास ग्रन्थ 'मुतखबुतवारीख' (भाग २ पृ० २५०) में लिखा है। अब्दुल कादिर के अनुसार इस ग्रन्थ में हिन्दवी की मसनवी द्वारा 'नूरक व चंदा' के प्रेम का वर्णन है। इस रचना का परिचय अधिक नहीं दिया गया, क्योंकि वह 'अत्यन्त प्रसिद्ध है' इसे लेखक 'दैवी सहायता से भरी' समझता है [2]। चंदावन के रचनाकाल का उल्लेख हि० सं० ७७२ फीरोज शाह तुग़लक के शासनकाल सं० १४०८-१४४५ ई० में श्री ब्रजरत्नदास ने माना है [3]। डा० राम कुमार वर्मा ने दाऊद को अलाउद्दीन खिजली राज्यकाल सं० १३५६-१३७३ ई० का समकलीन माना है और रचनाकाल सं० १३७५ ई० ठहराया है। इस प्रकार मुल्ला दाऊद, अमीर खुसरो का भी समकालीन (सं० १३१२-१३८१) ज्ञात होता है। अमीर खुसरो ने फारसी में नौ मसनवियों की भी रचना की है [4]। खुसरो की मसनवियां ऐतिहासिक होने के साथ ही

---

१. सपनावति के स्थान पर चंपावति पाठ 'कामनवेल्थ रिलेशंस' आफिस लंदन की पद्मावत की प्रति में; मद्रूमाछ का सुदैवच्छ पाठ श्री माता प्रसाद गुप्त ने स्वसंपादित जायसी ग्रंथावलि में किया है, किंतु सुदैवच्छ पाठ काशी हिंदू विश्वविद्यालय की प्रति से स्पष्ट होता है।

मुगुधावति का खंडावत या खंडरावति पाठ नवलकिशोर प्रेस द्वारा मुद्रित पद्मावत में प्राप्त होता है। जोगू के स्थान पर 'साधा कुंवर मनोहर जोगू' श्री माता प्रसाद गुप्त की जायसी ग्रंथावली में है।

२. श्री परशुराम चतुर्वेदी सूफी-काव्य-संग्रह पृष्ठ ६२।

३. श्री ब्रजरत्नदास: खड़ी बोली हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० ११, १२

४. मसनवी किरानुस्सादैन, मसनवी मतउल अनवार, मसनवी शीरीं व खुसरो, मसनवी लैला व मजनूं, मसनवी आइने इस्कन्दरी, मसनवी हफ्त बिहिश्त, मसनवी खिज्रनामा, मसनवी नूह सिपहर, मसनवी तुग़लक नामा आदि।

डा० रामकुमार वर्मा : हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास।

प्रेमगाथाओं का स्वरूप भी प्रदर्शित करती हैं, किन्तु मुल्लादाऊद की 'चन्दावन' अप्राप्य होने के कारण अपने भाषा, छन्द आदि के विषय में हमें अंधकार में ही रखती है।

मुल्ला दाऊद की 'चंदावन' के अनन्तर ऐसा ज्ञात होता है कि सूफी प्रेमगाथाओं की रचना पर्याप्त संख्या में हुई, किन्तु उनमें से अधिकांश नष्ट होगई हैं। कुछ का तो, केवल साधारण सा उल्लेख मात्र ही इधर उधर मिल जाता है। शेख रिज़कुल्ला मुश्ताकी (सं० १५४९-१६३८) की 'प्रेमवन जोब निरंजन' ऐसी ही रचनाओं में है। कहा जाता है कि इसका लेखक भी सूफी था, तथा हिन्दुई में बहुत योग्यता रखता था। मुश्ताकी साहब का उपनाम 'रज्जन' था, इनकी रचना अभी तक अनुपलब्ध है, अतः उनके सम्बन्ध में कुछ कह सकना असम्भव है।

हिन्दी के प्राप्त सूफ़ी प्रेमाख्यानों में कुतबन की 'मिरगावती' सबसे प्राचीन है जिसमें गणपति देव के राजकुमार और कंचनपुर के राजा रूपमुरारि की कन्या मृगावती की प्रेम कथा वर्णित है। इसकी भी कोई पूर्ण प्रति अभी तक प्राप्त न होने के कारण इसके सम्बन्ध में कोई निश्चित धारणा नहीं बनाई जा सकती। मिरगावती का रचनाकाल कुतबन के अनुसार हिजरी सन् ९०९ अर्थात् सन् १५०३ होता है। मुल्ला दाऊद की चन्दावन अप्राप्त होने के कारण 'मिरगावती' ही सर्वप्रथम सूफ़ी प्रेमगाथा मानी जाती है। इसके पश्चात सूफ़ी प्रेमाख्यानों में सर्वाधिक प्रसिद्ध जायसी की पद्मावत की रचना हुई। पद्मावत का रचना काल हि० सन् ९२७ तथा १५२० है। जायसी के अनन्तर उसके आदर्श पर लिखी जाने वाली कई सूफ़ी प्रेमकथायें उपलब्ध होती हैं। हि० सन् ९५२ में मंझन ने 'मधुमालत' की रचना की। हि० सन १०२२ में उसमान ने 'चित्रावली' की रचना करके हिन्दी साहित्य की अभिवृद्धि की। इसके बाद जान कवि ने अपनी सिद्ध लेखनी से २१ सूफ़ी प्रेमाख्यानों की रचना की जिनके नाम क्रमशः रतनावती, लैलेमजनू, रतनमंजरी, नलदमयन्ती पुहुपवरिषा, कमलावती, छबिसागर, कामलता, कलावती, छीता, रूपमंजरी, मोहिनी, चन्द्रसेन सीलनिधान, कामरानी, पीतमदास, कथाकलन्दर की, देवलदेवी, कनकावती, कौतूहली, सुमरराइ, बुद्धिसागर, हैं। इन्हीं के समकालीन कवि शेख नबी ने ज्ञानदीप की रचना जहांगीर के समय में संवत् १६७६ में की थी। इसमें रानी देवजानी और राजा ज्ञानदीप की प्रेमकथा का वर्णन मिलता है। रचना मसनवी पद्धति पर ही लिखी गई है, परन्तु कवि ने सिद्धान्त-निरूपण का अधिक प्रयास नहीं किया है। जान कवि ऐसे प्रेमाख्यान लिखने में इतने सिद्ध थे कि केवल दो ढाई दिनों के अल्पसमय में ही कथा पूर्ण कर डालते थे [1]; यद्यपि यह सत्य है कि जायसी, मंझन और उसमान जिस सफलता के साथ सूफ़ीमत का विवेचन काव्य के माध्यम से कर सके उसी उत्कृष्टता के दर्शन हमें जान की सभी रचनाओं में नहीं होते। इसके पश्चात् १२वीं शताब्दी में कवि कासिमशाह कृत 'हंसजवाहिर'

---

१. सन सहस तेईस, दोइ पहर मे जान कवि भाखी बिसवा बीस।
इति कथा कलावती जान कवि कृत पोथी फतेहचन्द की घर की १७७८
मिती कातिक सुदी ११ सुक्रवार॥

नामक पुस्तक उपलब्ध होती है। अब तक के प्रेमाख्यानों में सूफ़ी सिद्धान्तों का प्रतिपादन तथा रति विषयक विभिन्न भावों की व्यन्जना का आधार धर्म की उदार समन्वयवादिनी प्रवृत्ति है।

उन्नीसवीं शताब्दी के कवि नूरमुहम्मद ने अपनी 'इन्द्रावती' (हि० सन् ११५७) एवं अनुराग बाँसुरी (हि० सन् ११७८) में कट्टरपंथी इस्लामी भावनाओं का स्पष्ट शब्दों में समर्थन किया है। कवि निसार ने अपनी रचना 'यूसुफ जुलेखा' (हि० सन् १२०५) के कथानक को भी शामी परम्परा से लेना ही अधिक उपयुक्त समझा। 'यूसुफ़ जुलेखा' के शामी प्रेमाख्यान का महत्व बाद के इन कवियों में बहुत हुआ। शेख रहीम ने अपने ग्रन्थ 'भाषा प्रेम रस' में इस प्रेमाख्यान का विस्तृत वर्णन दृष्टान्त के रूप में किया है। कवि नसीर ने पुनः इसी कथानक का आधार लेकर अपने ग्रन्थ 'प्रेम दर्पण' का निर्माण किया।

ख्वाजा अहमद की 'नूरजहाँ' का रचना काल हि० सन् १३१३ तथा शेखरहीम की 'प्रेमरस' का हि० सन् १३२३ एवं कवि नसीर के 'प्रेमदर्पण' का रचनाकाल हि० सन् १३३५ है। 'प्रेमदर्पण' में भी यूसुफजुलेखा की ही प्रेमकथा वर्णित है।

अलीमुराद ने अपने ग्रन्थ 'कुंवरावत' में ग्रन्थ का रचनाकाल नहीं दिया है। हुसेन अली उपनाम सदानन्द कृत 'पुहुपावती' का रचनाकाल सन् ११३८ दिया हुआ है, किन्तु निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि यह हि० सन्, ई० सन्, या संवत् में से क्या है, क्योंकि उसके आगे प्रति अस्पष्ट है, अनुमानतः यह हिजरी सन् ही होगा। शाहनजफ अली सलोनी की 'प्रेमचिनगारी' का रचना काल ई० सन् १८०६ है। 'कथा कामरानी' ग्रन्थ में भी रचनाकाल का निर्देश नहीं है; किन्तु वह बाद की रचना ही ज्ञात होती है।

हिन्दी का मुक्तक सूफ़ी काव्य :

पहले कहा जा चुका है कि सूफ़ी काव्य रचना का आरम्भ अमीर खुसरो के समकालीन मुल्ला दाऊद से हो चुका था। अमीर खुसरो स्वयं चिश्ती सम्प्रदाय के प्रसिद्ध पीर निजामुद्दीन औलिया का शिष्य था। खुसरो रचित पहेलियों मुकरियों, दो सखुनों आदि का प्रारम्भिक हिन्दी काव्य चर्चा में महत्वपूर्ण स्थान है। अमीर खुसरो के यत्किन्चित प्राप्त दोहों और पदों में हम सूफ़ी साहित्य के मुक्तक रूप का बीज निहित पाते हैं। इन दोहों और पदों में अत्यन्त गम्भीर भावों की व्यन्जना हुई है[1]। इस प्रकार के सूफ़ी मुक्तक पदों के उदाहरण अमीर खुसरो के पश्चात् एक दीर्घ काल तक नहीं मिलते। १२ वीं सदी के पूर्वार्ध में पुनः इस प्रकार की मुक्तक सूफ़ी रचनाओं की उपलब्धि होती है। अठारहवीं सदी के यारी साहब, बुल्लेशाह (सं० १७३६—१८१०), प्रेमी कवि के स्फुट पद अब्दुलसमद के भजन, नजीर के प्रेमातिरेक में रचित पद, इसी प्रकार के मुक्तक सूफ़ी काव्य के अन्तर्गत आते हैं किन्तु हिन्दी में इस प्रकार के मुक्तक सूफ़ी पदों की रचना बाद में आरम्भ हुई,

---

१. परशुराम चतुर्वेदी : सूफ़ीकाव्य संग्रह।

सिन्ध के सूफ़ी कवि लतीफ़ इनायत आदि ने अपने सूफ़ी भावों का व्यक्तीकरण मुक्तक काव्य द्वारा ही किया था। सम्भव है इसी परम्परा से प्रभावित होकर हिन्दी के सूफ़ी कवियों ने भी मुक्तक काव्य की रचना की हो, सूफ़ियों के मुक्तक पदों की अपेक्षा उनके मुक्तक दोहों की संख्या अधिक है। जायसी के अखरावट तथा आखिरी कलाम के दोहे, शेख फरीद (मृ० सं० ६१०), के आदि ग्रन्थ में संग्रहीत 'सलोक' (दोहे), यारी साहब की साखी, प्रेमी, हाजीवली एवं वजहन के दोहों में सूफ़ी प्रेम और चेतावनी का संदेश निहित है।

इन दोहों और पदों के अतिरिक्त यारी साहब के भूलने, दीन दरवेश की कुण्डलियाँ, नजीर अकबराबादी (मृ० सं० १८८७) की फारसी वजनों के अनुसार लिखी गई रचनायें अपना निजी महत्व रखती हैं।

फारसी साहित्य की भाँति सूफ़ियों के हिन्दी साहित्य में उनके निबन्धों का अधिक पता नहीं लगता किन्तु जायसी की अखरावट, जान कवि का बर्ननामा, हाजी वली का प्रेमनामा, वजहन का 'अलिफनामा' एवं किसी अज्ञात कबि का 'अल्लानामा' ऐसे ग्रन्थ पद्यात्मक सिद्धान्त ग्रन्थ प्रतीत होते हैं। इन ग्रन्थों में अधिकांश ईश्वर स्तुति, प्रेम सराहना तथा सूफ़ियों की विविध साधनाओं का सीधे-सादे रूप में वर्णन मिलता है। जायसी की 'अखरावट', जान-कवि के बर्ननामा तथा यारी साहब के 'अलिफनामा' में क्रमशः नागरी और फारसी के अक्षरों से आरम्भ करके सिद्धान्त कथन किया गया है। जायसी के 'आखिरी कलाम' में इस्लाम के अनुयायियों की अन्तिम यात्रा, भिन्न भिन्न पौराणिक व्यक्तियों के विविध कार्य तथा मुहम्मद साहब के महत्व का विवरण है। इसके अतिरिक्त वजहन कबि का 'वजहन-नामा' या अलिफवाए भी प्राप्त होता है। हिन्दी में सूफ़ी जीवनी साहित्य का अभाव सा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी का सूफ़ी साहित्य प्रचुरता से उपलब्ध है। अखरावट, अलिफनामा, बर्ननामा, वजहननामा ऐसी रचनायें भी प्रचुर मात्रा में लिखीं गई हैं। हिन्दी के प्राप्त प्रेमप्रबन्धों का समय सोलहवीं शताब्दी से आरम्भ होकर बीसवीं शताब्दी तक आता है, जबकि स्फुट काव्य की उपलब्धि हमें चौदहवीं शताब्दी में ही हो जाती है क्योंकि खुसरो (सं० १३१२—१३८१ ई०) ने ही इस काल में ऐसे कुछ पदों की रचना की थी। सूफ़ी साहित्य की रचना अधिकांश प्रादेशिक भाषा में प्रचलित छन्दों के माध्यम से हुई। एक ओर ये कवि जहाँ सूफ़ी साधना का स्पष्टीकरण करना चाहते हैं वहीं दूसरी ओर वे साधारण जन जीवन की भी सफल अभिव्यक्ति कर सके हैं।

———

६

सूफ़ी-काव्य की पृष्ठभूमि

मुहम्मद साहब के प्रयास से विशृंखल होती हुई अरब जाति संगठित होगई। पैगम्बर ने स्वयं धर्म-प्रचार किया था और कुरान में अपने अनुयायियों को स्पष्ट रूप से धर्म-प्रचार के हेतु उत्साहित किया था। सातवीं सदी तक अरब की जातियां एकता के सूत्र में बंध गईं और उन्होंने 'जेहाद' (धर्मयुद्ध) के नाम पर देश देशान्तरों को विजय करना आरम्भ कर दिया। सातवीं सदी में खलीफाओं ने सिन्ध को विजित करने का प्रयास किया। इसके पूर्व अरबी सौदागर मालावार एवं कालीकट के तट पर शान्तिपूर्वक व्यापार करते और धर्मप्रसार करते थे। हिन्दू राजाओं ने इन सौदागारों को स्वधर्म पालन की पूर्ण स्वतंत्रता दे रक्खी थी। वल्लभी राजा ने तो स्वयं उनके लिए मस्जिदें बनवाई थीं। इस प्रकार दक्षिण में व्यापारियों, और अब्दुर्रज्जाक ऐसे प्रचारकों के द्वारा इस्लाम का प्रचार हुआ।

व्यापारिक सम्बन्ध के अतिरिक्त भारत और अरबों का शासित और शासक का सम्बन्ध सन् ६३७ ई० से आरम्भ होता है। सन् ७१२ में मुहम्मद-बिन-कासिम ने सिन्ध पर विजय प्राप्त की। धीरे-धीरे सिन्ध के अरब विजेताओं को यह ज्ञात हो गया कि भारत पर ठेठ मुसलमानी सिद्धान्तों और पद्धतियों के अनुसार शासन करना असंभव होगा। उन्होंने हिन्दुओं के साथ 'अहले-किताब', कुरान में वर्णित जातियों के अनुसार व्यवहार प्रारम्भ किया। अरबों का यह प्रयास अधिक स्थायी नहीं हुआ, शीघ्र ही स्थानीय शासक स्वतंत्र हो गये।। इस राजनीतिक घटना से एक विशेष आंदोलन का सम्बन्ध है। भारतीय संस्कृति साहित्य, ज्योतिष आदि ज्ञान धाराओं से जब अरबों का सम्पर्क हुआ तो कुछ मुसलमान फकीर और दरवेश धर्मप्रचार के विचार तथा ज्ञान-लाभ के हेतु भारत आये। यह कार्य सुचारु रूप से ११वीं सदी तक आरम्भ हो गया था। सन् १००५ ई० में शेख इस्माईल बुखारा से भारत आया और उसने अपने प्रचार से सैकड़ों को मुसलमान बनाया। सन् १०६७ में अब्दुल्लाह यमनी ने गुजरात में इसी प्रकार प्रचार किया। आज के बोहरे लोग इसे अपना आदि प्रचारक मानते हैं। बारहवीं सदी के आरम्भ में खोजों के प्रचारक नूर सतागर ईरानी ने इसी प्रकार गुजरात की नीच जातियों को मुसलमान

बनाया। तेरहवीं सदी में सैयद जलालउद्दीन बुखारी और सैयद अहमद कबीर ने सिन्ध में उच्च के पास बहुतों को मुसलमान बनाया। तेरहवीं सदी के सीस्तान से अजमेर में आकर बसने वाले, ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती इन सब में अधिक प्रसिद्ध हैं। तात्पर्य यह कि ग्यारहवीं सदी से सूफ़ियों का आगमन प्रचारक के रूप में आरम्भ हो गया था। ये प्रचारक मुसलमान विजेताओं के साथ आगे बढ़ते थे। तेरहवीं सदी तक मुस्लिम राज्य विस्तार के साथ ही ये साधक भी पंजाब, काश्मीर, दक्षिण बंगाल आदि प्रदेशों के कोने-कोने में फैल गये।

अब तक की खोजों के अनुसार तेरहवीं शताब्दी के मुल्लादाउद को प्रथम सूफ़ी प्रेमाख्यान रचयिता माना जाता है अतः तेरहवीं शताब्दी से ही हिन्दी में सूफी काव्य की रचना मानी जानी चाहिये, यद्यपि सिन्धी एवं पंजाबी में इसके पूर्व भी सूफ़ी काव्य रचना हो चुकी थी। प्राप्त ग्रन्थों के आधार पर सूफ़ी प्रेमाख्यान-पद्धति में अन्तिम प्रेम-दर्पण को मानना चाहिये जिसका समय संवत् १९७४ है। अतः तेरहवीं शताब्दी में आरम्भ हुई यह सूफ़ी प्रेमाख्यान परम्परा बीसवीं सदी तक वर्तमान रही। इन सात सौ वर्षों में लिखे गये काव्य की पृष्ठभूमि स्वरूप, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक पृष्ठभूमि क्या थी इसका विवेचन हुये बिना इनके काव्य के तत्वों को भली प्रकार नहीं समझा जा सकता।

राजनीतिक स्थिति :

सातवीं शताब्दी में जब इस्लाम धर्म एवं शासन का आगमन भारतवर्ष में हुआ, यहां की राजनीतिक स्थिति बड़ी डांवाडोल थी। गुप्त-सम्राज्य के पतन के पश्चात् उत्तरी भारत पर स्थिर एकछत्र शासन स्थापित न हो सका। सकलोत्तर-पथ-नाथ हर्ष ने भारतीय पंच-प्रान्त (सौराष्ट्र, कान्यकुब्ज, मिथिला, मगध गौड़, एवं उत्कल) को अधीनस्थ अवश्य कर लिया था किन्तु उसकी सन् ६४७ ई० में मृत्यु के पश्चात् इन राज्यों को फिर कोई एक सूत्र में न बांध सका।

हर्ष के साम्राज्य पतन के पश्चात् उत्तरी भारत में कई छोटे-छोटे राज्यों की स्थापना हुई। एक छत्र शासन तथा केन्द्रीय संघबद्धता विनष्ट होगई और कोई भी राजशक्ति इन्हें एक सूत्र में न बांध सकी। स्वतंत्र नृपति जो बलवती शक्ति के सम्मुख हतश्री हो जाते थे अवसर पाते ही फिर स्वतंत्र होने की चेष्टा करते थे। प्रत्येक नवीन स्थापित राज्य के सम्मुख अन्य छोटे छोटे स्वतंत्र नृपतियों को अधीनस्थ करना अनिवार्य समस्या होती थी। जितना ही सबल और दुर्दमनीय विरोधी होता, उतनी ही समस्या जटिल हो जाती थी। किन्तु दमन का प्रयास प्रत्येक नृपति को करना पड़ता था। तत्कालीन एकछत्र शासन का स्वरूप शक्ति की केन्द्रीय व्यवस्था न होकर संघबद्ध व्यवस्था थी जिसके ध्वस्त होने में अधिक समय नहीं लगता था। प्रत्येक महत्वाकांक्षी एवं शक्तिशाली संघ स्वतंत्र होने एवं प्रभुत्व स्थापित करने की चेष्टा करता था।

सम्पूर्ण भारत में मुस्लिम शक्ति का प्रसार निश्चित रूप से एक ही समय में नहीं हो सका। सातवीं शताब्दी में सिन्ध पर हुए आक्रमण से लेकर सन् ११६३ तक, ५०० वर्षों का अवसान, इस्लामी शासन की स्थापना के प्रयास का समय है।

दाहिर के शासनकाल सन् ७१२ में मुहम्मद-बिन-कासिम का सिन्ध पर आक्रमण सफल रहा किन्तु महमूद गजनवी के आक्रमण के समय तक फिर सिन्ध में छोटे-छोटे राज्य स्थापित हो गये जिनसे उसे युद्ध करना पड़ा था।

भारत के पश्चिमोत्तर में स्थित शाही वंश, जिन्हें अलबेरूनी 'हिन्दू तुर्क' कहता है के राज्य पर अरबों के आक्रमण सातवीं शताब्दी के मध्य में आरम्भ हो गये थे किन्तु सन् ६७० ई० तक ये राज्य लगभग स्वतन्त्र ही रहे। शाही राजा जयपाल को सुबुक्तगीन ने परास्त करके लमगान एवं पेशावर तक के प्रदेश पर अधिकार कर लिया। सुबुक्तगीन की मृत्यु के पश्चात् महमूद ने भारत पर सन् १००१ ई० से लेकर सन् १०२६ तक निरन्तर सत्रह आक्रमण किये। वह भारत में राज्यस्थापना न कर सका। लूटमार उसका उद्देश्य था। उसके 'जेहाद' की सार्थकता मूर्तियों के खण्डन एवं मन्दिरों के तोड़ने से सिद्ध होती थी। शासनक्षेत्र की दृष्टि से केवल पञ्जाब और सिन्ध को वह अपने राज्य में मिला सका किन्तु उसकी मृत्यु के पश्चात् धीरे-धीरे प्रभाव कम होता गया और सन् ११७३ तक इस्लामी सत्ता पूर्णतः समाप्त हो चुकी थी। ऐसे आक्रमणकारियों के साथ भी सूफ़ी दर्वेश या फकीर भारत में आये। सिन्ध के प्रसिद्ध कवि शाह-लतीफ के वंशज तैमूर के आक्रमण के साथ भारत आये थे। सिन्ध के इन सूफ़ी कवियों की उदारता सराहनीय है, फिर भी, इनका भारत में आने का उद्देश्य भी धर्म प्रचार ही था। कहा जाता है कि महमूद गजनवी को भारत पर आक्रमण करने को एक सूफ़ी दर्वेश ने ही उकसाया था।

महमूद के आक्रमणों का कोई स्थायी प्रभाव भारत पर न पड़ा। वह अपने भीषण अत्याचारों से केवल प्रजा को संत्रस्त ही कर सका। एक शताब्दी पश्चात् फिर मुहम्मद गोरी के आक्रमण हुए। उच्च, गुजरात और पेशावर पर विजयी हो जाने पर उसकी महत्वाकांक्षा बढ़ी और उसने आगे बढ़कर दोआबे पर भी आक्रमण किये। हम पीछे कह चुके हैं कि हर्ष की मृत्यु के पश्चात् और महमूद के आक्रमण के पूर्व, उत्तर भारत में छोटे छोटे राजपूत राज्य स्थापित हो गये थे। ये राज्य धीरे धीरे इन आक्रमण-कारियों के द्वारा नष्ट कर दिये गये। उत्तरी भारत में उस समय सबसे प्रबल अजमेर के चौहानों का राज्य था। गहरवार कुलीय जयचन्द कन्नौजाधिपति था। मुहम्मद ग़ोरी के गुलाम कुतुबुद्दीन ऐबक से भारतीय इतिहास का मुस्लिमकाल आरम्भ होता है।

'तबकात-ए-नासिरी' के अनुसार आरामशाह की मृत्यु के समय हिन्दुस्तान चार भागों में विभक्त था। सिन्ध में नासिरउद्दीन कुबाचा, दिल्ली और उसके आस-पास के प्रदेश पर सुल्तान सैयद शम्सुद्दीन, लखनौती के इलाके में खिलजी, लाहौर पर कभी मलिक ताजुद्दीन और कभी मलिक नासिरउद्दीन कुबाचा और शम्सुद्दीन का आधिपत्य रहा। मुहम्मद बख्तियार खिलजी के आक्रमण पूर्व में मुंगेर और बिहार के प्रान्तों पर यदाकदा होते रहे। नालन्दा के विहार तथा पुस्तकालय को इन्हीं आक्रमणों ने नष्ट किया। खिलजी का आतंक इस प्रकार बिहार, बंगाल तथा कामरूप तक छाया हुआ था।

बंगाल का राजा लक्ष्मणसेन बख़्तयार खिलजी से पराजित होकर लखनौती भागा। इल्तुतमिश के राज्यकाल में भी संघर्ष चलता रहा। भारतीय इतिहास में दासवंश के नाम से प्रसिद्ध राजकुल का शासन उसके उत्तराधिकार की अव्यवस्था, सेनापति तथा अमीरों के पारस्परिक द्वेष के कारण, केवल नाममात्र का शासन रहा। साधारण ग्रामीण जनता प्राय: केन्द्रीय शासन से अनभिज्ञ थी, केवल समय-समय पर होने वाली युद्ध यात्राओं से ही उन्हें अत्यन्त कष्ट होता था। केन्द्रीय शासन व्यवस्था दृढ़ नहीं थी।

इल्तुतमिश ने ख्वाजा कुतुबुद्दीन के सम्मानार्थ एक लाट बनवाई थी जिसे कुतुबशाह की लाट कहा जाता है। इल्तुतमिश की इच्छा उन्हें 'शेख-उल-इस्लाम' की उपाधि से विभूषित करने की थी, किन्तु ऐश्वर्य से विरक्त सूफ़ी साधक ने इसे अस्वीकार कर दिया।

इल्तुतमिश के उत्तराधिकारियों की शक्तिहीनता के कारण राजनीतिक परिस्थिति विशृङ्खल होती गई। रुकनुद्दीन और रज़िया बेगम के राज्यकाल में अमीरों के आपसी मतभेद और शासक के साथ सम्बन्ध के कारण विषमता और बढ़ गई। संघर्ष और अव्यवस्थित शासन के मध्य बलवन ने साम्राज्य रक्षा का प्रयत्न किया। मुस्लिम धर्म ग्रहण कर लेने पर भी स्थानीय मुसलमानों के अधीन रहना पूर्व मुसलमान अपना अपमान समझते थे। ऐसी विरोधी परिस्थितियों में सदैव षडयन्त्र की योजना रहती थी। बलवन का सारा समय विरोधों के दमन में ही व्यतीत हुआ। अफ़गान सरदारों व पराजित हिन्दुओं के साथ ही मंगोलों के दमन का भी प्रयास उसे करना पड़ता था। अत्यन्त निर्दयता और दृढ़ता से उसने इन शक्तियों का दमन किया। हिन्दुओं का राजव्यवस्था में कोई हाथ न था। फरिश्ता के अनुसार बलवन हिन्दुओं को कोई उत्तरदायित्वपूर्ण पद नहीं देता था।

बलवन के बाद भी केन्द्रीय शासन की अव्यवस्था बढ़ती ही गई जिससे लाभ उठाकर जमालुद्दीन खिलजी ने दिल्ली पर अधिकार जमाया। इसके बाद क्रमश: एक के बाद एक सुल्तान राज्याधिकार पाते रहे किन्तु अकबर के पहले कोई भी भारत में अपना दृढ़ शासन स्थापित न कर सका। शक्ति के हेतु संघर्ष की समाप्ति मुस्लिम राज्यकाल में कभी भी नहीं हुई। मुस्लिम साम्राज्य दृढ़ होकर भारत भूमि पर कुछ काल ही रह सका। महमूद गजनवी केवल आक्रमणकारी के रूप में भारत में आया था। गोरी ने साम्राज्य स्थापना का प्रयास किया। गुलाम, खिलजी एवं तुगलक वंश क्षणभंगुर थे। बाबर और हुमायूँ का प्रयास भी साम्राज्य स्थापना की दृष्टि से विशेष सफल नहीं रहा। अकबर को भी बीस वर्ष तक विरोधी शक्तियों का सामना करना पड़ा। उसकी मृत्यु के समय तक साम्राज्य की स्थापना हो गई थी। जहाँगीर और शाहजहाँ ने अकबर की नीति का अनुसरण करने का प्रयास किया किन्तु औरंगजेब की कटु नीति ने मुगल साम्राज्य का पतन करवा ही दिया।

दक्षिण भारत आरम्भ में बहुत दिनों तक मुस्लिम प्रभाव से अछूता ही रहा। बारहवीं सदी तक कोई मुसलमान शासक दक्षिण भारत में प्रवेश न कर सका। सन् १२९४

में अलाउद्दीन खिलजी ने देवगिरि के यादव नृपति पर सम्पतिहरण के विचार से आक्रमण किया और विजयी हुआ। सन् १२९५ में राजसिंहासनासीन होने पर उसने रणथम्भौर चित्तौर, चन्देरी, मालवा, धार एवं उज्जैन को जीतने का प्रयास किया। अलाउद्दीन ने रणथम्भौर और चित्तौड़ को जीत लिया। मालवा और गुजरात उसके आधीन होगये। देवगिरि के यादवों और वारंगल काकतीय नृपतियों को एक बार मलिक काफ़ूर ने फिर परास्त किया।

खिलजियों के पश्चात् तुग़लकों का दिल्ली पर अधिकार हुआ। गयासुद्दीन तुग़लक का उत्तराधिकारी मुहम्मद तुग़लक, जो भारतीय इतिहास में विक्षिप्त की उपाधि से विभूषित है, ने शासन व्यवस्था से धार्मिक नेताओं, मुल्ला, मौलवियों का प्रभाव कम करना चाहा था। उसकी मृत्यु के बाद फिरोजशाह ने फिर कट्टर इस्लाम धर्म के अनुसार ही शासन-व्यवस्था करने का प्रयास किया। फिरोजशाह के निर्बल उत्तराधिकारियों का शासन काल पारस्परिक संघर्ष, विग्रह और विद्रोह से पूर्ण रहा, सन् १५२६ में बाबर ने दिल्ली पर आधिपत्य पाने का प्रयास किया। हुमायूँ का समय अशान्ति में ही व्यतीत हुआ।

शेरशाह का अल्पकालीन शासन सुख शान्ति से पूर्ण था। इसकी शासन व्यवस्था न्यायपद्धति एवं राजनीति भी उच्चकोटि की थी। दीर्घकालीन अशान्ति के बाद शान्ति एवं किंचित सुख की स्थापना ने वैमनस्य को विस्मृत करने में सहायता दी। जायसी इसी काल के प्रमुख सूफ़ी कवि हैं, जिनके काव्य में इस सहृदयता का परिचय उपलब्ध होता है। अकबर की नीति ने भी शान्ति स्थापन के कार्य में बहुत हाथ बटाया। जहाँगीर और शाहजहाँ के शासनकाल भी अपेक्षाकृत शान्ति और सुव्यवस्था के युग रहे। फिरोज की पद्धति का अनुसरण औरङ्गजेब ने किया, उसकी कट्टरनीति और अंग्रेजों की नीति निपुणता ने शीघ्र ही मुस्लिम राज्य का पतन करा दिया। मुस्लिमकाल का यह संक्षिप्त ऐतिहासिक विवरण तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों का परिचायक है। प्राप्त सूफ़ी रचनाओं का काल सोलहवीं सदी से लेकर बीसवीं के आरम्भ तक जाता है। इस समय तक अंग्रेजों का शासन स्थापित हो चुका था। शेख रहीम ने अपने 'प्रेमरस' में जार्ज पञ्चम की महिमा का गान किया है।

प्रारम्भिक मुस्लिम शासकों के समक्ष विविध समस्यायें थीं। उत्तराधिकार सम्बन्धी अनिश्चितता के कारण एक सुल्तान की मृत्यु के बाद नवीन संघर्ष एवं विपत्तियां उत्पन्न हो जाती थीं। राजसभा में सरदारों, अमीरों एवं मन्त्रियों का बोल बाला था। षड़यन्त्रों में बेगमों का भी यथेष्ट हाथ रहता था। भारत सहसा आक्रान्त तो हो गया था किन्तु शान्तिपूर्ण व्यवस्था एवं वातावरण का अभाव था। न्याय विभागों का काजी, सम्राटों के लिये एक समस्या थी, उसकी निरंकुशता से छूटने का प्रयास अलाउद्दीन और मुहम्मद तुग़लक दोनों ने ही किया किन्तु उसे पूर्ण सफलता न मिल सकी। गुलाम, खिलजी, तुगलक, सैय्यद, लोदी एवं मुग़ल सम्राटों के शासनकाल में भी अव्यवस्था ही प्रधान थी।

भारतीय राजा मुगलों की विलासिता का अनुकरण करते थे। हिन्दुओं को जजिया देने के पश्चात् भी स्वतंत्रता न थी। देवालयों का नवीन निर्माण बन्द होगया था। पुरानों की मरम्मत की आज्ञा भी कठिनाई से मिलती थी। वास्तव में मुस्लिम शासन सैनिक शासन था जिसका लक्ष्य संकीर्ण एवं भौतिक था। मनसबदार एवं सामन्त ही राज्य शासन के दृढ़ स्तम्भ थे। राजनीतिक क्षेत्र में न केवल विधर्मी राजा ही असहिष्णु और क्रूर थे, देशी राजा भी उन्हीं का अनुकरण करते थे। प्रजा की उन्नति की ओर उनका ध्यान न था। नगरनिवासी राजा की राजनीति का कोई स्पष्ट प्रभाव गाँवों में रहने वाली जनता पर न पड़ता था। राज्य परिवर्तन या सम्राट परिवर्तन से उसकी अवस्था में कोई अन्तर न आता था। तुलसीदास जी के शब्दों में राजा 'परमस्वतंत्र न सिर पर कोऊ' थे, यदि उसे किसी बात की चिन्ता रहती थी तो उत्तराधिकार की अनिश्चितता या शक्तिसम्पन्न सरदारों और सामन्तों के दमन की। प्रजा का कोई चाव राजा के निर्वाचन या स्थापन में न होता था। तुलसीदास का 'कोउ नृप होइ हमैं का हानी। चेरी छांड़ि ना होउब रानी' सामान्य जनता का राजसिंहासनाधीश के प्रति व्यक्त किया गया विचार है। प्रजा का कोई अंकुश राजा के ऊपर न रह गया था। एक एक मुल्तान या भारतीय सामन्तों के हज़ारों की संख्या में रानियां होती थीं। इन रानियों की संतानें और राजदरबार में रहने वाले कलाकार, कवि, संगीतज्ञ, चित्रकार, मूर्तिकार, विदूषकों, मसखरों और चापलूसों पर प्रजा की गाढ़ी कमाई का धन नष्ट होता था। महल, क्रीड़ा-उपवन, सिंहासन, पलंग, मोरछल, चमर और लाखों के हीरा मोती, महार्घ रत्नों के आभूषण, राजमहलों की सजावट, चित्रकला, क्रीड़ामृग, सोने के पींजड़ों में बन्द शुक सारिका आदि पर देश की जनता का धन व्यय होता था; तभी तो तुलसीदास को राजा के लिये 'भूप प्रजासन' की उपाधि देनी पड़ी[1]। इन सबके बदले में प्रजा को केवल अनीति और दन्ड राज्यशासन की ओर से, तथा अकाल, महामारी और दुर्भिक्ष परमात्मा की ओर से प्राप्त होता था[2]। परमेश्वर की दुहाई का तो प्रश्न ही नहीं उठता, धरा पर परमेश्वर का कनिष्ठ अंश सुल्तान था, उसके समक्ष उनकी पहुँच नहीं हो सकती थी। किसान, मज़दूरों एवं शूद्रों की स्थिति अच्छी नहीं थी। जहांगीर के समय (१६३० ई०) का सतासिया अकाल कितना भयंकर था उसका परिचय सुन्दर कवि के साहित्य से ही ज्ञात होता है। ऐसे समयों पर निर्धन जनता की

---

१. द्विज श्रुति बेचक भूप प्रजासन। कोउ नहिं मान निगम अनुसासन॥
तुलसीदास : उत्तरकाण्ड रा० च० मा०।

२. नृप पाप परायण धर्म नहीं। करि दण्ड बिडम्ब प्रजा नितहीं॥

३. कलि बारहिं बार दुकाल परै, बिनु अन्न दुखी सब लोग मरै॥
देव न बर्षहिं धरनि बए न जामहिं धान।
तुलसीदास : रा० च० मा० उत्तरकाण्ड।

मानवता खो जाती थी। वे सब कर्तव्यों और सम्बन्धों को त्याग कर केवल जीवन धारण की चेष्टा करते थे। इस अन्धाधुन्ध राजनीति का वर्णन सूरदास ऐसे लीलागायन में मस्त जन्मान्ध कवि ने भी किया है। तुलसी, सूर कबीर एवं विद्यापति की रचनाओं में इस समय की राजनीतिक परिस्थिति के संकेत मिलते हैं। तुलसीदास ने तो इस विषय पर बहुत कुछ लिखा है। इतना सब होने पर भी ये 'सूफी-कवि' इस ओर से उदासीन क्यों हैं यह एक जटिल समस्या है। इन कवियों के सामने पशुतुल्य दास दासी, उन पर किये जाने वाले पाशविक अत्याचार, पद-पद पर अपमानित 'त्रस्त, पीड़ित किसान और श्रमजीवी जनता के अनगिनत कष्ट थे। अकाल, महामारी, युद्ध और बाढ़ आदि दैवी प्रकोप वर्तमान थे, फिर भी इन सूफी कवियों ने इनमें से किसी का भी दुःखान्त वर्णन नहीं किया है जबकि उसी युग के तुलसी, सूर, कबीर, आदि कवियों के काव्य में इसका वर्णन एवं संकेत मिलता है। कहा जा सकता है कि राजदन्ड के भय, एवं स्वकीर्तिनाश भय से इन्होंने ऐसा नहीं किया तो यह दलील भी थोथी है जबकि उसी समय का एक कवि 'संतन्ह को कहा सीकरी सों काम' और 'भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो' गा सकता है तब राजधर्म के अनुयायी सूफी साधकों को यह अकारण भय क्यों? सूफी साधना का आरम्भ ही त्याग और वैराग्य पर हुआ, फिर यदि उसे राजभय प्राप्त न हो तो चिन्ता किस बात की?

सूफ़ी कवियों की इस चुप्पी का कारण है उनका इस्लामानुमोदन का प्रदर्शन। सूफ़ीमत का प्रवेश जिस समय भारत भूमि पर हुआ उस समय तक उसका राजसत्ता से विरोध समाप्त हो चुका था। अब सूफ़ी-मत, इस्लाम-धर्म का एक अंग था। इन सूफ़ी कवियों के दृष्टिकोण से राजनीतिक स्थिति अनुकूल थी, क्योंकि उसमें धर्म के प्रसार का अवकाश था, यही कारण है कि इन्होंने ग्रन्थारम्भ में शाहेवक्त की प्रशंसा करते समय 'दीन क थूनी' कहा है। उन्हें राजा की अनीति या धर्मान्धता से उतना मतलब न था जितना उसके दीन प्रसारक स्वरूप से। इस्लाम धर्म के विकास एवं उत्थान के अनुकूल परिस्थिति होने के कारण ये सुलतानों की निन्दा न करके बड़ाई करते हैं और कहीं भी उनकी परधर्म-दमन नीति को प्रकाश में नहीं लाते, केवल नूरमुहम्मद ने 'इन्द्रावति' में राजनीति की चर्चा मात्र की है।

इसका प्रमुख कारण यह है कि सूफियों की दृष्टि मे समय अनुकूल था, उन्हीं के धर्मानुयायी शासक थे। धर्म प्रचार का पूर्ण अवकाश उन्हें प्राप्त था। धर्म का अनुकरण करने वाले पर राजा की कृपादृष्टि थी। राजनीति में साधारण व्यक्ति का हाथ नहीं था वह राज्य के कार्यों से उदासीन था। धर्म की दृष्टि से जहाँ सूफ़ियों ने परिस्थिति की अनुकूलता की चर्चा की है वहीं उसके अन्य स्वरूपों के प्रति वे उदासीन हैं।

अंग्रेजों का शासन हो जाने से पिसती हुई जनता को कुछ सांस लेने का अवकाश प्राप्त हुआ। इस अर्थ में कि उन्हें अब किसी राजा के लाख संख्यक परिवार का दमन नहीं सहन पड़ता था, किन्तु दमन तो था ही। राजा का कनिष्ठ रूप गवर्नर, पुलिस

के सिपाही, जमींदार एवं शासनाधिकारी उच्चवर्ग सदा की भाँति निम्नवर्ग को दबाने का, उनके सुख चैन छीनने का प्रयास करते रहे, तुलसीदास की चौपाई 'उदर भरे सोइ धर्म सिखावें' इस युग की शिक्षा का सत्य स्वरूप प्रदर्शित करती रही; फिर भी विज्ञान की देन, रेल, तार, डाक किञ्चित शिक्षा प्रसार आदि के कारण इस समय की अवस्था अपेक्षाकृत शान्तिपूर्ण थी। इन राजाओं एवं उनके प्रतिनिधि गवर्नर जनरल आदि के सम्मुख उत्तराधिकार निर्वाचन की समस्या न थी और न देशी राजा इतने सशक्त थे कि इनका सबल विरोध करते। अंग्रेजों की शोषण-नीति का स्वरूप ही दूसरा था। उसमें दांवपेंच की चालें थीं, जबकि मुग़ल सम्राटों की दमन नीति में बल एवं वैभव का प्रदर्शन था।

सामाजिक स्थिति :

मध्यकालीन सामाजिक स्थिति की कोई विच्छिन्न और स्वतंत्र सत्ता नहीं है। भारत पर भिन्न समयों में विदेशी जातियों ने आक्रमण किये थे, एवं आक्रमणकारी भारतीय जन-समूह के अंश बन चुके थे। भारतीय समाज की इस अविच्छिन्न धारा में मुसलमान जाति क्यों नहीं मिल पाई इसका कारण है।

सातवीं शताब्दी तक भारत में प्राचीन काल की भांति मुख्यतया चार वर्ण थे। ब्राह्मण विशेषकर अध्ययन और अध्यापन का कार्य करते और समाज के नेता समझे जाते थे। वे राजाओं के मन्त्री होते थे परन्तु सन् ७०० ई० से १००० ई० के मध्य वे अन्य पेशे भी करने लगे और पाराशर स्मृति में सब वर्णों को अन्य कार्य करने की आज्ञा भी दे दी गई थी। वैदिक काल का गार्हस्थ्य जीवन अधिकांश कृषि एवं पशुपालन की जीविका पर आधारित था, किन्तु कालान्तर में नये पेशों का जन्म हुआ। वर्णव्यवस्था के अनुसार श्रम विभाजन की स्थिरता रहने पर भी, वर्णों में संघर्ष बुद्ध-काल से ही आरम्भ हो चुका था। ब्राह्मणों ने राज्य स्थापना की, और क्षत्रियों ने ब्रह्म ज्ञान का उपदेश दिया। ब्राह्मण और क्षत्रिय की उच्चता का वर्णन जातक निदान कथा में इस प्रकार मिलता है : 'लोकमान्य ब्राह्मण और क्षत्रिय इन्हीं दो कुलों में बुद्ध पैदा होते हैं, आजकल क्षत्रियकुल लोकमान्य है। इसी में जन्म लूंगा'। धीरे-धीरे युद्धप्रिय क्षत्रिय भूमिपति बन चुका था। वाणिज्य की उन्नति के कारण वैश्यवर्गश्रेष्ठी हो गया था, जो समय समय पर दान द्वारा धार्मिक क्षेत्र में भी महान बनने का प्रयास करता था। चातुर्वर्णों में सब से हीन अवस्था शूद्रों की थी। इनके साथ किसी भी प्रकार का सम्पर्क निन्दनीय समझा जाता था। जीविकोपार्जन के हेतु केवल सेवा यथेष्ट न थी। धीरे धीरे जितने कार्यों के प्रति निम्नता की भावना उत्पन्न हो जाती थी वे कार्य भी इन्हें करने पड़ते थे। बौद्ध और जैन मत के अनुसार खेती करना पाप समझा जाता था क्योंकि इसमें जीवों की हत्या होती है। इससे प्रभावित होकर वैश्यों ने कृषिकर्म त्याग दिया और कृषि करने वालों की गणना भी शूद्रों में होने लगी, किन्तु अब तक ये लोग अछूत नहीं समझे जाते थे। धीरे धीरे इनके काम बढ़ते गये क्योंकि वैश्य आदि अन्य वर्णों ने बहुत से काम

छोड़ दिये थे। राजपूत काल में दस्तकारी के कार्य तिरस्कार की दृष्टि से देखे जाते थे। इस प्रकार का भाव प्रत्येक समाज में जहाँ जागीरदारी की प्रथा होती है पाया जाता है। इन त्यक्त कार्यों को करने वाले व्यक्तियों की गणना भी शूद्र वर्ग में हो जाती थी। इन चारों वर्णों के अतिरिक्त इसी कारण अनेक उपजातियाँ बन गईं, जो पीछे से अन्त्यज कहलाईं। इन अन्त्यजों में धोबी, जुलाहे और चिड़ीमारों की भी गणना थी। पहले केवल चाण्डाल और कृतप ही अन्त्यज समझे जाते थे। इस प्रकार मध्यकाल के समाज में, चार वर्णों के अतिरिक्त कई अन्य उपजातियाँ भी बन गईं।

ब्राह्मण वर्ग सदैव से अत्यधिक सम्मानित रहा और इसी कारण उसमें अहंमन्यता का भाव वृद्धि पाता गया। इसी के विरुद्ध शूद्र वर्ग सदैव से उपेक्षित रहा, शान्ति-प्रिय, नीति-निपुण राजा के शासन काल तक में इनका कोई प्रबन्ध न था। समाज में हीनत्व की भावना का सम्बन्ध वर्णहीनता एवं धनहीनता दोनों से ही था। मनुस्मृति में इनकी हीन अवस्था का वर्णन है। सेवा के बदले इन्हें फटा पुराना वस्त्र, उच्छिष्ट भोजन, टूटे फूटे बर्तन प्राप्त हो जाते थे। इन्हें स्वतन्त्र अधिकार न था। मनु ने शूद्रों के लिये विधान बना दिया था कि यदि निम्नवर्गीय कोई भी व्यक्ति किसी उच्चजाति के काम धाम का अनुकरण कर जीविका चलाये तो राजा को चाहिये उसका धन छीन कर देश निकाला दे दे [1]।

मेगास्थनीज के वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि कृषकों, चरवाहों, वणिकों और श्रमजीवियों की संख्या अन्य वर्णों से अधिक थी।

विदेशी आक्रमणों, शक, हूण आदि के आगमन से सामाजिक व्यवस्था में कोई अन्तर नहीं आता था। इन जातियों के मिश्रण से जो सामाजिक समस्यायें उत्पन्न होती थीं उनका समाधान भाष्य एवं टीकाकार कर देते थे। गुप्त-काल में मनु, याज्ञवलक्य, बृहस्पति एवं नारद स्मृतियों के नवीन संस्करण निकले। सूत्रों की नवीन व्याख्या हुई। टीका और भाष्यों के द्वारा प्रचलित प्रणालियों और मान्यताओं को समर्थन प्राप्त हुआ। किन्तु इस 'स्वर्णयुग' में भी सामाजिक क्षेत्र में आशातीत सफलता नहीं हुई। वर्णों का विभेद बना ही रहा। वर्ण-भेद कर्म के अनुसार हो चुका था। विभिन्न वर्गों में कोई आपसी सम्बन्ध न था। अन्तर्जातीय विवाह की जो कुछ भी सूचना यदाकदा मिलती है उसका सम्बन्ध अधिकांश राजन्य वर्ग मे था क्योंकि ईश्वर की भाँति राजा की कोई जाति नहीं होती है, यह विश्वास दृढ़ हो चला था। सामाजिक नियमों का संचालन अब भी 'मनुस्मृति' ही कर रही थी। जाति और वर्ण में अभिन्नत्व स्थापित हो गया था। हर्ष के समत तक आते आते हिन्दू समाज का आज का स्वरूप निर्धारित हो चला था।

ह्वेनत्सांग ने चार वर्णों के अतिरिक्त अन्य अनेक जातियों का वर्णन किया है। उसके अनुसार जनसमुदाय ने सुविधानुसार अनेक जातियाँ बनालीं। इनकी संख्या अधिक थी

---

1. यो लोभादधमो जात्या जीवेदुत्कृष्ट कर्मभिः
   तं राजा निधनं कृत्वा क्षिप्रमेव प्रवासयेत् ॥

मनुस्मृति।

तथा उनकी गणना चातुवर्ण्य के अन्तर्गत नहीं होती थी। गाँवों के बाहर रहनेवाले कसाई, मछुआ, फांसी देने वाले, मेहतर आदि को बलपूर्वक नगर के बाहर ही रक्खा जाता था। शूद्र वर्ण के अत्यधिक तिरस्कार के कारण उसमें विरोध की भावना उदय हुई जिसे उच्चवर्णों के यहाँ की दासी-माताओं से बढ़ावा मिला। बौद्धधर्म की महायान शाखा ने भी शूद्र वर्ग में उच्चता की भावना जाग्रत करने में बड़ा प्रोत्साहन दिया। इस संघर्ष में ब्राह्मणों ने भी साथ दिया। वृषल चन्द्रगुप्त को चाणक्य ने शासनाधिकारी बनाया। महापद्म नन्द उसके पूर्व ही उदाहरण प्रस्तुत कर चुका था, ब्राह्मण क्षत्रिय संघर्ष का आरम्भ उपनिषद काल में ही हो चला था इसका प्रकट स्वरूप बौद्ध काल में देखने को मिलता है। ब्राह्मणों ने सहायता के लिये शूद्रों को भी उच्चता प्रदान की। शूद्रों के राज्याभिषेक के कारण निम्नवर्ग में चेतना की विशिष्ट लहर उठी। इसकी दो धारायें स्पष्ट हैं। पहली गौड़ाधिपति पालवंशीय शासन सत्ता के रूप में और दूसरी चौरासी सिद्धों के धार्मिक जीवन और काव्य की चेतना के रूप में।

एक ओर जहाँ शूद्रों में उच्चता की भावना स्थिर हो रही थी दूसरी ओर वहीं स्त्रियों की अवस्था हीन होती जा रही थी। नवीन ब्राह्मण धर्म की शृंखलाओं से ग्रसित समाज में उनकी उन्नति का मार्ग अवरुद्ध हो चला। क्षत्रिय को जहाँ समाज का रक्षक माना जाता था, वहीं राजपूतों के लिये स्त्रियों की रक्षा का अर्थ उसका हीनत्व हो गया था। जैसे मनुष्य की अन्य प्रकार की सम्पत्ति होती है उसी प्रकार स्त्री की गणना भी सम्पत्ति के अन्तर्गत होने लगी। स्त्री केवल मनोरंजन और क्रीड़ा का प्रसाधन बन गई। उनके एक स्वामी के निधन होने पर वे हजारों की संख्या में सती होने को बाध्य की जाती थीं। बाध्य करने का तात्पर्य यह कि यदि ऐसा नहीं करती थीं तो समाज में उनका आदर नहीं होता था। स्वामी के साथ जल मरने वाली स्त्री का इहलोक और परलोक दोनों में सम्मान होता था। धीरे-धीरे हिंदू जाति को कुरीतियों, भौतिक एवं सामाजिक संकीर्णताओं ने आत्मसात करना प्रारम्भ कर दिया। सती, बालविवाह, छूतछात, जांतपांत के अत्यंत निकृष्ट भेदभाव, ऊंच नीच के विचार, परदा आदि कुरीतियाँ समाज में व्याप्त होगईं। राजपूत काल में आरम्भ हुई पार्थक्य एवं कुलीन प्रथा का परिणाम ही परदा था। बाल विवाह और विधवाओं के पुनर्विवाह का वर्जन लगभग दसवीं सदी से प्रारम्भ हुआ। बालविवाह का कारण श्री चि० वि० वैद्य के मतानुसार बौद्ध मत में क्वारी स्त्रियों का दीक्षित होना है। बालिकाओं को सन्यासिनी होने से रोकने के लिये उनका विवाह बचपन में ही कर दिया जाता था।

सामान्यतः दसवीं शताब्दी के भारतीय समाज के कुछ प्रमुख स्वरूप हैं। समाज में कई प्रकार की विषमतायें थीं जिनमें धन और निर्धनता, पाण्डित्य और मौर्ख्य प्रबल विरोधी थे। जहाँ समाज में एक ओर करोड़पती श्रेष्ठि थे, वहीं दूसरी ओर घोर निर्धनता से पीड़ित निम्नवर्ग भी था जो धन और बुद्धि दोनों के अभाव से दुःखी था। वर्ण विभाजन, जाति विभाजन के रूप में परिवर्तित हो चुका था। अत्यन्त दबाव के कारण निम्नवर्ग में आत्मोन्नति की प्रबल भावना जाग्रत होगई थी। शूद्रों के एक

दल ने राजसत्ता प्राप्त करके क्षत्रियों से स्पर्द्धा करनी चाही, और दूसरी ओर उन्होंने सिद्धों के रूप में पन्डितों और धर्माचार्यों को ललकारा। किन्तु समाज में स्त्रियों का स्थान सम्मानपूर्ण न था। उनकी स्वतंत्रता जाती रही थी। धनिकों का जीवन अत्यन्त विलासमय था। साधारण जनता तथा सेवक एवं भृत्यों का जीवन निकृष्ट हो गया था।

मुस्लिम आक्रमण के साथ भारतीय समाजिक विभाजन में नई कड़ियाँ जुटती हैं। ये आक्रमणकारी अपने साथ भिन्न संस्कृति, सामाजिक व्यवस्था, उपासना पद्धति तथा नैतिक धारणा लाये थे। इन आक्रमणकारियों ने भारतीय समाज में घुलने-मिलने की अधिक चेष्टा नहीं की प्रत्युत अपनी भिन्न संस्कृति और समाज को दृढ़ बनाये रखने में अधिक सचेष्ट रहे। इन शासकों के साथ आने वाले समाज का सुविधापूर्वक विभाजन दो श्रेणियों में किया जा सकता है। एक तो उच्च पदस्थ सेनाधिकारी दूसरे साधारण सैनिक। विजय के पश्चात् विजित प्रान्तों का अधिकार इन्हीं उच्च पदाधिकारियों को मिलता जो सदैव शासक के रहन-सहन का अनुकरण करते थे। निम्नवर्गीय सैनिक यहाँ के जनजीवन के सम्पर्क में आते थे जो यहाँ की स्त्रियों से विवाह करके मुस्लिम समाज की संख्या-वृद्धि करते रहे।

मुस्लिम शासक-वर्ग भोग विलास का जीवन व्यतीत करता था। अपनी इस ऐश्वर्य लिप्सा में वे भारतीय राजाओं के जीवन से भी प्रभावित हुये। शासकों का जीवन केवल आनन्द का जीवन था। उन्हें न तो प्रजा की सुविधाओं का ध्यान था। और न राजव्यवस्था की चिन्ता। विजय हो जाने पर वे शासन-व्यवस्था अमीरों और न्याय-व्यवस्था मुल्लाओं और काजियों के हाथ में सौंपकर निश्चिंत हो जाते थे। अमीर उमरा का जीवन भी विलासपूर्ण था। उनका राजकीय शक्ति पर बड़ा प्रभाव था। स्वेच्छा से अमीरों की इच्छा के विरुद्ध कार्य करने से सुल्तानों को विपद् का सामना करना पड़ता था।

इस्लाम धर्म के अनुसार सुल्तान का जीवन विशेष विलास और ऐश्वर्यपूर्ण नहीं होना चाहिये अतः मुल्लाओं और ऐश्वर्यप्रिय सुल्तानों में विरोध स्वाभाविक था, किन्तु जेहाद के हेतु इस्लाम धर्मानुयायी सैनिकों को उत्साहित और आवेशपूर्ण रखने तथा भारतीय विद्रोह दमन के समर्थन के हेतु इन सुल्तानों ने मुल्लाओं से कभी खुलकर विरोध नहीं किया यद्यपि कभी-कभी इसका प्रयास होता रहता था।

उलेमाओं के प्रभावाधिक्य के कारण शासकों ने भी धर्मप्रसार में इन्हें सहायता दी। इसी कारण ये सुल्तान भारतीय जनता और धर्म के प्रति अधिक सहिष्णु न हो सके। उलेमाओं का प्रभाव अधिक था। वे भारतीय सन्तों और धार्मिक व्यक्तियों का विरोध करते थे, तथा पूजोपासना की स्वतंत्रता अपहरण करने के लिये सुल्तानों को प्रोत्साहित करते थे। कभी-कभी मुस्लिम स्वतंत्र चिंतकों या सूफियों को इनकी क्रूर नीति का निशाना बनना पड़ता था। कबीर ऐसे उदार धार्मिक को भी सुल्तान की क्रूरता का भाजन

होना पड़ा था। वास्तव में इन सब के पीछे राजनीति कार्य कर रही थी। न्यायलय में भी काजियों का प्रभुत्व था फलतः प्रत्येक क्षेत्र में भारतीय जनता पर अत्याचार होता था। कुछ नीतिनिपुण सुल्तान प्रजा की इस कठिनाई से परिचित होते थे फिर भी मुल्लाओं को प्रसन्न रखने की अनिवार्यता समझते हुये अपनी नीति परिवर्तित करने में सफल न होते थे। अलबेरुनी ने मुल्ला और सुलतान के इस गठबन्धन की प्रशंसा अधिक की है। सुल्तान को अबाध अधिकार, ऐश्वर्य और विलास का अधिकारी इन्हीं उलेमाओं ने बनाया था अतः उनका विरोध सुल्तान की क्षमता के बाहर था। दूसरी ओर जनवर्ग में मुल्लाओं की श्रेष्ठता और सम्मान राजप्रभय के कारण ही सुलभ हुआ था। अतः वे भी सुलतानों का विरोध अधिक नहीं करते थे। इन मुल्लाओं को सामाजिक व्यवस्था में वही स्थान प्राप्त हुआ जो भारतीय समाज में ब्राह्मणों को प्राप्त था। हिन्दू समाज के कर्णधार पण्डितों के सम्मुख नष्ट होती हुई सामाजिक परम्परा को अक्षुण्य रखने का प्रश्न था और इन उलेमाओं के मन में अपने रीति रवाजों का प्रचार कर अपने प्रभुत्व को बनाये रखने की इच्छा थी। उलेमाओं के कारण ही पृथक मुस्लिम संस्कृति जीवित रह सकी, इनकी कट्टर नीति के कारण सामञ्जस्य और समन्वय की भावना को धक्का पहुँचा। उलेमाओं ने या तो हिन्दुओं को मुसलमान बनाने का प्रयास किया या विरोध करने पर उन्हें समूल नष्ट कर देने की चेष्टा की।

हिन्दू समाज के स्थूल रूप से इस समय तीन वर्ग हो गये। (१) राजन्य एवं धनिक वर्ग, जो अपने रहन-सहन में सुल्तानों की जीवनचर्या से प्रभावित था। भोगविलास, ऐश्वर्य वैभव में मग्न यह वर्ग चिन्ता विमुक्त था। अपने आश्रितों की इन्हें चिन्ता न थी। (२) साधारण जनवर्ग जो कारणवश मुस्लिम समाज में दीक्षित होने को बाध्य हो रहा था; कभी समाज में उच्च स्थान पाने के लिये, कभी जजिया या राजदण्ड से मुक्त होने के लिये, कभी शासनाधिकार लिप्सा और कभी राजभय के कारण ये धन और बुद्धि से हीन, अपने समाज की रूढ़ियों से त्रस्त प्राणी 'परधर्म भयावहः' होते हुए भी उसे अपनाने को बाध्य हो रहे थे। (३) तीसरे वर्ग में वे पण्डित थे जो समाज की विशृङ्खलता से भली भांति परिचित थे और जाति-पाँति, कर्मकाण्ड आदि की रूढ़िवादिता के दुष्परिणामों को समझ चुके थे। इनका प्रयास एक ओर तो इस विशृङ्खलता एवं स्तरहीनता की निन्दा करके समाज को उधर से विमुख करना था दूसरी ओर पूजोपासना के क्षेत्र में 'हरिभक्ति' की कसौटी रखकर मनुष्य में समानता स्थापित करना था।

एक नया 'सन्तवर्ग' और उठ खड़ा हुआ जिसका सम्पर्क हिन्दू और मुस्लिम दोनों ही समाजों से रहता था। दोनों समाजों के संघर्ष से जो कट्टरता, धर्मान्धता एवं कुरीतियाँ

---

१. दियो हुकुम करायो नहिं देरी। गंगा बोरहु मेर पग बेरी।
सुनि अनुचर पग पाई जंजीरें। बोर्‌यो गंगा माह कबीरै॥
कबीर जी की कथा, विश्व नाथ प्रसाद मिश्र जी की टीका द्वारा

प्रचलित हो गई थीं उनको समझते हुये और इन सबके मूल में धर्म की विभिन्नता को मानकर ये स्वतन्त्र चिन्तक एक नवीन मार्ग निकालने का प्रयास कर रहे थे किन्तु ऐसा करने के लिये उन्होंने खण्डनात्मक प्रणाली को अपनाया। हिन्दू और मुसलमान दोनों की सामाजिक कुरीतियों का खण्डन ये बड़े जोश से करते थे, इनके स्वप्रतिपादित सिद्धांतों में अहंमन्यता अधिक रहती थी। यही कारण है कि उद्देश्य एक रहने पर भी यह वर्ग सूफ़ियों की भाँति लोकप्रिय न हो सका। इस वर्ग के प्रतीक कबीर हैं।

कट्टरपन्थी उलेमाओं, काजियों और मुल्लाओं के प्रतिकूल सूफ़ी साधक अत्यन्त उदार थे। इनकी भावधारा का आधार इश्क या प्रेम था। यह सम्प्रदाय जीवन के सामान्य भाव पक्ष पर एवं विलासपूर्ण जीवन की अपेक्षा सदाचार पर अधिक ध्यान देता था। इन सूफ़ियों को मुल्ला मौलवियों की भाँति राजाश्रय प्राप्त न था यद्यपि यह भी सत्य नहीं है कि इन्हें अपनी उदारनीति के कारण राजदण्ड भोगना पड़ता था। वास्तव में इनका जनसमाज पर अत्यधिक प्रभाव होने के कारण अनुयायियों की संख्या इतनी बढ़ जाती थी कि भय खाकर सुल्तान इन्हें मृत्यु के घाट उतारता था। फर्रुखसियर ने सिन्ध के पीर बिन सीर को राजविद्रोह के भय के कारण ही प्राणदण्ड दिया था। इन सूफ़ियों के दमन में कोई राजनीतिक कारण ही छिपा रहता था। सूफ़ी सन्त 'मुल्लाशाह' दाराशिकोह का गुरु था। उसने दाराशिकोह के सुल्तान होने की भविष्यवाणी की थी, इसी पर क्रोधित होकर वैमनस्य के कारण औरंगजेब ने उसे 'जीवन्मुक्त' कर दिया था।

हृदय के धनी सूफ़ियों का प्रभाव सामान्य जनता पर अधिक था, यद्यपि इन सूफ़ियों ने अपनी विचारधारा को इस्लाम के अन्तर्गत ही रखने का प्रयास किया है। मुहम्मद साहब की पैगम्बर के रूप में भावना इन्हें भी मान्य थी। कुरान में प्रतिपादित नियमों के आधार पर ही समाज की व्यवस्था और नियन्त्रण इन्हें मान्य था। सैद्धांतिक रूप में इस विचारधारा का पोषक होने पर भी सूफ़ियों ने भारतीय जीवन के सामान्य सिद्धान्तों, साधना प्रणालियों एवं काव्य पद्धतियों को अपने साहित्य में स्थान दिया। विच्छिन्न होती हुई सामाजिक व्यवस्था में समन्वय स्थापित करके शान्ति और हृदयगत प्रेम की स्थापना में इन सूफ़ियों का बहुत योग है। निर्गुण पंथियों की भाँति इन्होंने भी दो भिन्न धर्मों और समाजों के मध्य एक सामान्य मार्ग निकालने का प्रयास किया किन्तु दोनों की पद्धतियों और माध्यम में अन्तर है। निर्गुणपन्थियों ने उपदेश देने के लिये ही स्फुट पदों की रचना की जिनमें उनकी खण्डनात्मक पद्धति अहंमन्यता एवं गुरुत्व की भावना प्रधान थी जो भावनाओं की अपेक्षा तर्क और बुद्धि की कसौटी पर खरी उतरती थी। सूफ़ियों ने उपदेश तो दिया किन्तु 'कान्तासम्मति' मधुर शब्दों में जनता की ही कथाओं को जनभाषा में, भावात्मक उपदेश से समन्वित करके सामान्य जन वर्ग तक पहुँचाया। इन्हें अपनी विद्वता का गर्व न था। ये बलात् किसी पर अपने विचार आरोपित नहीं करना चाहते थे,साथ ही ये किसी भी पद्धति का विरोध या खंडन करके कोई स्थापना करने का प्रयास नहीं करते थे, किन्तु इनके विनय में कुछ ऐसा प्रभाव था कि सभी इनकी ओर आकर्षित होते और इनका सम्मान करते थे। तत्कालीन सांस्कृतिक समन्वय में

सूफ़ियों का बहुत हाथ था। नाथ पंथी साधुओं एवं भक्तिकालीन निर्गुणोपासना के अनेक तत्वों का समावेश सूफ़ी साधना में हुआ। नाथ पंथियों के चमत्कार प्रदर्शन का प्रभाव भी इन सूफ़ियों पर बहुत पड़ा। सूफ़ियों में करामातें प्रसिद्ध हैं। कीचड़ में से चलकर निकल जाने पर भी पैर का वैसा ही स्वच्छ रहना, एक स्थान पर बैठे रहकर सब स्थानों का समाचार प्राप्त कर लेना आदि ऐसे चमत्कारों में प्रसिद्ध हैं।

इन सूफ़ियों का विशेष प्रभाव न तो राजसमुदाय पर ही था और न मुल्ला मौलवियों पर। हिन्दू आभिजात्यवर्ग भी इस प्रकार के साधुओं के संसर्ग में अधिक नहीं आया। साधारण निम्नस्तर की जातियों पर सूफियों का प्रचुर प्रभाव था, वैसे कुछ सूफ़ियों का प्रभाव सुल्तानों पर भी था। इल्तुतमिश ने शेख कुतुबशाह का सम्मान किया था। अकबर सलीम चिश्ती की दरगाह तक पैदल गया था और दाराशिकोह सूफ़ी सन्त मुल्लाशाह का शिष्य था।

मुस्लिम समाज में हिन्दुओं का इतनी संख्या में परिवर्तित होने के दो प्रधान कारण हैं। एक तो हिन्दू समाज के निम्नस्तरीय समाज की शोचनीय अवस्था, और दूसरे इन सूफ़ी सन्तों की प्रेम साधना। इनमें प्रमुखकारण प्रथम ही है। हिन्दू समाज का निम्नतर व्यक्ति भी इस्लाम ग्रहण कर लेने के पश्चात् सभ्य समाज का सदस्य बन जाता था। सुल्तान की दास दासियां भी इस्लाम ग्रहण करके महत्व प्राप्ति की चेष्टा किया करतीं थीं। ऐसे सम्बन्धों से उत्पन्न सन्तान योग्य होने पर राज्य भी प्राप्त कर लेती थी, किन्तु समाज में उनका आदर नहीं होता था। शासन-पद्धति में इन दासों और गुलामों का महत्वपूर्ण हाथ था, किन्तु समाजिक व्यवस्था में इससे कोई विशेष अन्तर न पड़ता था।

मुस्लिम समाज में वर्गीकरण की दृष्टि से उस समय के समाज का विभाजन चार वर्गों में सम्भव है। प्रथम वर्ग में सुल्तान, उसके निकट सम्बन्धी और रईस वर्ग आता है। यह वर्ग पूर्ण रूप से सम्पन्न था तथा भोग विलास में जीवन व्यतीत करता था।

दूसरे वर्ग में वे विद्याव्यसनी आते हैं जिनका प्रधान कार्य धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन और प्रतिपादन था। इस वर्ग में मुल्ला, उलेमा, सैयद और काज़ी आते हैं।

तीसरे वर्ग के अन्तर्गत राजन्य वर्ग एवं रईस वर्ग को प्रसन्न रखने वाले चाटुकार आते हैं। इस वर्ग के अन्तर्गत नर्तकियाँ, संगीतज्ञ, चुटकलों में पटु एवं अन्य ललित कलाओं में पारंगत व्यक्ति आते हैं[1]।

निम्नतम वर्ग वह था जिसका किसी भी प्रकार से शासन व्यवस्था में हाथ न था, उन्हें

---

१. पराधीन पर बदन निहारत मानन मूढ़ बड़ाई।
हंसे हंसत बिलखे बिलखत हैं ज्यों दर्पन में म्हाई।
सू० सा० पद ११६।

किसी भी प्रकार का राजनीतिक अधिकार प्राप्त न था। कर देने का अधिकांश भार इसी वर्ग पर था। कर वसूल करने वाले अधिकारी और गांव के मुखिया धनी होते जाते थे। निम्न श्रेणी के इन हिन्दू और मुसलमानों की अवस्था में विशेष अन्तर न था। इनकी सामाजिक स्थिति और धार्मिक विश्वास भी अधिकांशतः पूर्ववत ही थे फिर भी कभी कभी कर से मुक्ति एवं सुल्तान की कृपा-दृष्टि केवल मुसलमानों पर ही होती थी। यह सोचकर हिन्दू कभी जज़िया और कभी प्राण दण्ड आदि भयों से बाधित होकर इस्लाम का आलिंगन कर लेते थे [1]।

भारत में आने के पश्चात् मुस्लिम समाज में भी विभेद उत्पन्न हो गया। वे हिन्दू रीतिनीति से प्रभावित हुये। वर्णभेद की धारणा दृढ़ होने लगी। उनका आपस में एक दूसरे से सम्पर्क छूटने लगा [2]। धीरे धीरे मुस्लिम समाज में भी ऊँच नीच का भाव दृढ़ हो गया [3]। साम्राज्य में प्रायः सभी बड़े पदों पर नियुक्ति उन्हें आर्थिक चिन्ता से मुक्त और विलासी बनाती थी।

मध्यकालीन हिन्दू समाज का स्थूलरूप से उच्चवर्गीय और निम्नवर्गीय दो रूपों में विभाजन किया जा सकता है। उच्चवर्गीय हिन्दू और मुस्लिम समाज में विशेष अन्तर न था। धर्म सम्बन्धी अत्याचारों का प्रयत्न प्रभाव इसी वर्ग पर पड़ता था वल्लभाचार्य ने अपने 'कृष्णाश्रय' नामक ग्रन्थ में तत्कालीन सामाजिक अशान्ति एवं उद्विग्नता का वर्णन इस प्रकार किया है। 'म्लेच्छों से आक्रान्त देश नाना प्रकार के पापों का स्थान बन गया। सत्पुरुष पीड़ित हुये, समग्र लोक व्यग्र और व्यथित हुये। गंगादिक श्रेष्ठ तीर्थ दुष्टों से आवृत्त थे, उनका महत्व तिरोहित हो चुका था। देवता प्रच्छन्न हो चुके थे। अशिक्षा और अज्ञान के कारण वैदिक तथा अन्य मन्त्र नष्ट हो रहे थे। लोग ब्रह्मचर्यादि व्रतों से हीन थे, ऐसे व्यक्तियों के सम्पर्क में आकर वेदमन्त्र भी हीन हो रहे थे' [4]।

हिन्दुओं का वैभव नष्ट हो गया था। पराजित जाति धीरे धीरे अशक्त और महत्व हीन होती जा रही थी। अधिकांश सुल्तानों के राज्यकाल में उच्चवर्गीय हिन्दुओं को

---

१. अलाउद्दीन ने अपने मुस्लिम बन्दियों को मुक्त करने और काफिरों को कुचलवा देने का आदेश दिया था।

अमीर खुसरो कु० ख० पृ० ८८१।

२ Life and conditions of the Peoples of Hindustan p. 191
by Md. Ashraf.

३. तहवां मोंहि जनम विधि दीना, कासिम नाम जाति कर हीना।
कासिमशाह : हंसजवाहिर।

४. कृष्णाश्रय, षोडशग्रन्थ, श्लोक २, ३, ४।
वल्लभाचार्य।

भी घोड़े की सवारी करने सुन्दर वस्त्र पहनने, पान इत्यादि खाने और हथियार रखने का अधिकार नहीं था[1]। हिन्दू स्त्रियों को अपने सतीत्व की निरन्तर चिन्ता रहती थी। कवि जान के प्रेमाख्यानों में इस तत्व का आभास कई स्थलों पर मिलता है। 'देवलदे की कहानी' का आधार यही सामाजिक तथ्य है। जायसी ने भी पद्मावत में इस ओर संकेत किया है[2]। आक्रमण का उद्देश्य केवल धार्मिक सिद्धान्तों का प्रचार, राजनैतिक सत्ता या सीमा का विस्तार ही न होकर स्त्रियों का सौन्दर्य भी होता था। इन आक्रमणों में पूजो-पासना के स्थान मन्दिर तोड़े जाते, उनके स्थान पर मस्जिदें बनवाई जातीं, हिन्दुओं को कत्ल किया जाता; और भी अनेक प्रकार के अत्याचारों से प्रजा पीड़ित की जाती थी। महमूदशाह खिलजी ने मालवे पर अधिकार हो जाने पर राजा भोज की प्रसिद्ध भोजशाला तुड़वाकर उसके स्थान पर मस्जिद बनवाई थी।

कवि विद्यापति ने भी 'कीर्तिलता' में इसी प्रकार की अवस्था तथा अशान्ति की चर्चा की है। राजाओं को नीति का ज्ञान न था, और न उन्हें प्रजा के सुख शान्ति की विशेष चिन्ता थी। उनका कार्य केवल 'करालदन्ड' तक ही सीमित था[3]। विद्यापति ने हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मों की विरोधी बातों का भी बड़ी मार्मिकता से वर्णन किया है। अजां की बांग, वेद का पाठ, नमाज और पूजा, व्रत और रोजा में साम्य होते हुये भी वे एक दूसरे के कट्टर विरोध में थे।

नृपतियों के मुंहलगे सैनिकों का अत्याचार प्रजा को आये दिन सहना पड़ता था। मुस्लिम् राज्यस्थापना से मुल्ला मौलिवियों का प्रभाव बढ़ गया। इसी की प्रतिक्रिया स्वरूप हिन्दू राजाओं की समाप्ति हो जाने के कारण ब्राह्मण वर्ग का भी सम्मान घट गया, इसी वर्ग को मुसलमानों की धर्मान्धता तथा धार्मिक असहिष्णुता से उत्पन्न क्रोध भी सहना पड़ता था। देवालयों का नव निर्माण एवं प्राचीनों का जीर्णोद्धार बन्द हो गया। देवालयों को राजकोष से मिलने वाला दान बन्द था। देवालयों को तोड़ने के डर के मारे उनकी शिल्प पद्धति में भी अन्तर पड़ गया जिससे वे देवालय ऐसे ज्ञात न हों। इन मन्दिरों के निर्माण के लिये कोई एकान्त जगह ही चुनी जाती थी।

आबू का जैन मन्दिर इन दोनों ही बातों का प्रमाण है।

---

१. तारीखये फीरोजशाही पृ० २८८।

ईलियट।

२. तब कह अलाउद्दीन जग सूरू, लेऊँ नारि चितउर के चूरू।

जायसी पद्मा० पृ० २४८।

३. गोंड गवांर नृपालमहि, यवन महा महिपाल।
साम न, दाम न, भेद कलि, केवल दण्ड कराल॥

तुलसी।

राजन्य वर्ग सदैव से विलासी रहा। दिल्लीश्वर की समता जगदीश्वर से होती थी। सुल्तान छोटे-छोटे माण्डलिक राजाओं का अधीश्वर था। प्रजा के श्रम का उपयोग राजाओं के विलासोपकरणों में होता था। राजा के क्रोध और प्रसन्नता का कोई नियम न था। सुना है अकबर ऐसा दयालु राजा भी अपने पास एक विषमय और एक साधारण पान रखता था। पद्माकर का एक छन्द इस राजन्यवर्ग का वास्तविक चित्र उपस्थित करता है:—

'गुलगुली गिलमें गलीचा है गुणीजन हैं,
चाँदनी है चिक है चिरागन की माला हैं।
कहैं पद्माकर त्यौं गजक गिजा हैं,सजी सेज हैं,
सुराही हैं, सुरा हैं, और प्याला हैं।

निम्नस्तरीय जीवन :

मध्यकाल में जातिबन्धन की जटिलता स्थिर हो चुकी थी। विभिन्न जातियों के अन्तर्गत भी उच्च-नीच की भावना दृढ़ हो गई थी। प्रारम्भ में वैष्णवों और सन्तों को, ब्राह्मण वर्ग अधिक सम्मान की दृष्टि से नहीं देखता था। वैष्णवों को भोजन के समय ब्राह्मण पंक्ति में बैठने का अधिकार नहीं था। ब्राह्मण अन्त्यजों को आशीर्वाद तक नहीं देते थे,और स्पर्श के भय से अंधकार में ही यात्रा सम्पादित करते थे। दीक्षा का सामाजिक महत्व था। नीचजन्मा सन्तों को गुरु दीक्षा सुलभ न होने पर वे कई प्रकार के साधनों का उपयोग करते थे। कबीर और रामानन्द का सम्बन्ध इसी प्रकार का था। सन्तों के अनुयायी अपने मतप्रवर्तकों को किसी विशिष्ट गुरु का शिष्य होना प्रचारित करते थे। विभिन्न सम्प्रदायों के शिष्यों का एक साथ ही रामानन्द की शिष्यता प्राप्त करने का यह रहस्य है। जातिगत जटिलता बढ़ती ही जाती थी। छुआछूत की धारणा दृढ़ हो गई थी। शूद्र और अन्त्यजों में भी भेद हो गया था। अन्त्यजों की आठ जातियों का वर्णन अलबेरुनी ने किया है।

इस्लाम धर्म की एकसङ्गता से हिन्दू जाति की स्थिरता नष्ट होने के भय से जातिबंधन और जटिल कर दिये गये, किन्तु इनका प्रभाव उल्टा ही पड़ा और अधिकांश धर्मपरिवर्तन के कारणों में जातिबन्धन की जटिलता और रूढ़िवादिता ही है। जाति-भेद की विविधता के साथ ही आचार त्याग की चर्चा भी होती रहती थी। वर्णाश्रम व्यवस्था अस्थिर हो चली थी। साधारण जनता को किसी भी प्रकार के नियमों या मर्यादा में विश्वास न रह गया था। सभी अपनी सुविधानुसार जीवन बिताने का प्रयास कर रहे थे। तुलसीदास ने उत्तरकाण्ड के अन्तर्गत कलियुग वर्णन में सर्वत्र जाति व्यवस्था के नष्ट हो जाने के फलस्वरूप उत्पन्न हुई एकाचारिता की चर्चा की है। इस प्रकार खान पान के एकाचार को श्रद्धा दृष्टि से नहीं देखा जाता था। नियमों से स्वतंत्र होने के इच्छुक व्यक्ति नवीन सम्प्रदायों, गोरखपंथ, नाथपंथ, विरक्त संन्यासियों के दल में मिलते जाते थे जिनका

अच्छा प्रभाव समाज पर न पड़ता था। निम्नजातियों के ही व्यक्ति इन सम्प्रदायों में दीक्षित होते थे अतः न तो उनका चरित्र ही विशेष श्लाघनीय होता था और न वे ज्ञान के क्षेत्र में ही सफल होते थे, अतः रहस्य के चक्कर में पड़ ये साधू सन्त एवं इनके अनुयायी भटकते रहते।

सामान्य जीवन में न तो आभिजात्य वर्ग की भांति सांस्कृतिक चेतना ही थी और न समाज में प्रतिष्ठा से उत्पन्न आत्मसम्मान की भावना। इन व्यक्तियों का समय अधिकांश आभिजात्य वर्ग की सेवा करते ही बीतता था। मुस्लिम शासकों के शोषण ने, सामान्य जन-जीवन में आनन्द नहीं रहने दिया। हिन्दू अधिकारियों के स्थान पर मुसलमान शासक, पंडितों के स्थानापन्न काजी मुल्लाओं ने सामाजिक मर्यादा में उथल-पुथल मचा दी, साधारण जनता का कर और दण्डों के द्वारा शोषण तो होता ही रहा साथ ही उन्हें समाज में कोई सम्मानीय स्थान प्राप्त न था।

इस काल में तलवार, रेशमी कपड़े, इत्र, पान, संगतराश आदि के व्यवसायियों की आर्थिक स्थिति अच्छी थी। धन का ऊँच नीच की भावना में महत्वपूर्ण स्थान था[1]। गावों का जीवन अपेक्षाकृत शान्तिपूर्ण था किन्तु कर, लगान और आर्थिक हीनता के कारण सदैव निराशा छाई रहती थी। कबीर, तुलसी, और सूर के पदों से उस समय की निराशा और आर्थिकहीनता का परिचय मिलता है। सारा जीवन अभाव और दुखों से पूर्ण था। भरपेट भोजन प्राप्त नहीं था। सारा परिवार कार्य करता और फिर भी भरपेट अन्न से वंचित रहता था[2]।

सांस्कृतिक स्थिति :

संस्कृति शब्द बड़ा व्यापक है। इसकी सीमायें एक ओर धर्म के क्षेत्र को स्पर्श करती हैं तथा दूसरी ओर साहित्य पर प्रभाव रखती हैं। संस्कृति भौतिक साधनों के संचयन के साथ ही आध्यात्मिकता की गरिमा से मण्डित होती हैं। इसके अन्तर्गत वेशभूषा, परम्परा, पूजाविधान और सामाजिक रीतिनीति की विवेचना भी हम करते हैं।

---

१. पेशाइन, कस्साब, बूदेम बाद जान गस्तम शेख।
गला चूं अै जान शवद, इम्साल सैय्यद मेशवम्॥

(पहले साल में कसाई था, दूसरे साल शेख हुआ। यदि इस साल गल्ले का दाम बढ़ा तो सैय्यद हो जाऊंगा)

Tribes and castes of The N.W.P. and Oudh p. 315 vol IV by Coock.

२. भाई तोहरा कूटनी, बहिनी तोरा पिसनी।
कि जइया कइली ना, तोरा दउरी दो कनिया।

भोजपुरी गीत से।

संस्कृति के ये स्वरूप, वातावरण, वैयक्तिक परिस्थितियों, भौतिक साधनों तथा व्यक्ति और समाज को चेतना प्रदान करते हैं।

भारत में मुसलमान, सैनिकरूप में आये और बलात् धर्मपरिवर्तन द्वारा उन्होंने अपनी संख्या वृद्धि की। ये नये मुसलमान परम्परागत विशेषताओं को सहज ही नहीं छोड़ सकते थे, अतः कालान्तर में मुसलमानी समाज में कुछ नवीन तत्वों का समावेश हुआ।

शेरशाह के उत्तराधिकारी सलीमशाह तथा अकबर ऐसे उदार धर्मचेता शासकों के सम्मुख उच्चश्रेणी के परिवर्तित मुसलमान भारतीय संस्कृति और धर्म की रूप रेखा रखने, एवं समझने में सफल हुये। हरम में हिन्दू विवाहित कन्याओं ने भारतीय संस्कृति का प्रभाव डाला। उच्चवर्ग से हटकर सूफी साधकों ने निम्नवर्ग को सर्वव्यापक प्रेमभावना का आश्रय लेकर प्रभावित किया।

भारतीय तथा ईरानी सांस्कृतिक सामञ्जस्य के प्रयास में दो धारायें सहायता कर रही थीं। प्रथम है निम्नवर्गीय सन्तों की आत्मसम्भाव प्रदर्शित करने की चेष्टा में अक्खड़ता से पूर्ण विचारधारा जिसके प्रतीक कबीर हैं। इस वर्ग के सन्तों ने मुल्ला मौलवियों की कट्टरता को खंडनात्मक उपदेश द्वारा शान्त करने का प्रयास किया। दूसरी ओर हैं प्रेम की महानता एवं व्यापकता पर आधारित सूफ़ी सन्तों के मधुर, कोमल शब्द। कबीर ऐसे सन्तों की अपेक्षा सूफी सन्त सामञ्जस्य स्थापित करने में अधिक सफल हुये हैं। कालान्तर में शुष्क ज्ञानाश्रयी धारा को सूफी प्रेम धारा ने पूर्णरूप से अपने में लीन कर लिया।

सन्तों की व्यक्तिगत साधना द्वारा समाज सुधार न हो सका किन्तु सूफियों की रचनाओं, फुटकल पदों' तथा गजलों आदि ने समाज संस्कार में सहायता की। कबीर निराश और क्लान्त जनता के विचारों को केवल धक्का ही लगा सके किन्तु सामान्य जड़ीभूत जनता के जीवन में आशा, प्रेरणा एवं आस्था की चेतना का जागरण सूफी साधकों द्वारा ही सम्भव हो सका।

सूफ़ियों की सांस्कृतिक देन :

इस्लाम के आगमन से हिन्दू आभिजात्य वर्ग की धारणाओं में अधिकाधिक रुढ़िवादिता आ गई। हरम पद्धति एवं संकुचित मनोभावों का प्रभाव इसी वर्ग पर विशेष पड़ा। अन्तःपुर में अनेक रानियों, बालिकाओं का धौराहर में ही शिक्षा प्राप्त करना आदि इसी तत्व के परिचायक हैं।

इसके विपरीत सूफियों ने आचार विचार, रुढ़िओं और परम्पराओं को अधिक महत्व नहीं दिया। शुद्ध हृदय से सदाचार सम्बन्धी नियमों का पालन करते हुये प्रेमस्वरूप जगत के कण-कण में व्याप्त ब्रह्म की उपासना ही उनका ध्येय था। इनका उद्देश्य अधिकाधिक सामञ्जस्य एवं समन्वय था।

उच्च और नीच भावना का इन सूफ़ियों ने पूर्ण बहिष्कार किया। इनके विचारानुसार ईश्वर प्रेमी नीचकुलोद्भव व्यक्ति भी सम्मानीय है। वेद, शास्त्र का ज्ञान उच्चता का माप दण्ड नहीं। परमप्रेम की भावना ही उच्चतम है। मनुष्य मूलत: तात्विक रूप में समान है वह उस एक (ब्रह्म) की विभिन्न रूपों में अभिव्यक्ति है। निदान परम का प्रेम ही अनेकत्व का विधायक है।

काव्य के माध्यम से सूफ़ियों ने शास्त्रसम्मत संकुचित रूढ़ियों के साथ हृदय के सत्व से प्रेरित प्रेम भावना का समन्वय किया और उसे शास्त्रज्ञान से भी अधिक उच्च आसन पर मूर्धाभिषिक्त कर दिया। कुरान में प्रतिपादित सिद्धान्तों के विवरण के साथ भारतीय अध्यात्मिक तत्वों का योग सूफ़ी काव्य में मिलता है। इनका ब्रह्म वाहिद और लाशरीक है, तथा अलख और निरन्जन भी।

शेख रहीम के अनुसार यद्यपि संसार में अनेक मार्ग हैं किन्तु मनुष्य को केवल सत्य प्रेम मार्ग पर चलना चाहिये। मानवीय वृत्तियों का परिष्कार सूफ़ी प्रेम का उद्देश्य है। हृदय के दर्पण की स्वच्छता में ही परब्रह्म का प्रतिबिम्ब देखा जा सकता है, अत: उसे स्वच्छ रखना चाहिये।

सूफ़ियों के परम प्रेम की भावना, सरल स्वभाव के जनसाधारण ही आत्मसात् कर सके, तथा इनके अज्ञान जादू टोने आदि में सहज विश्वास को इन सूफ़ियों ने अपने साहित्य में स्थान दिया। वशीकरण तथा मोहन आदि मन्त्रों का उल्लेख सूफ़ी काव्य में मिलता है।

मध्यकालीन संस्कृति, हिन्दू मुस्लिम संस्कृति का समन्वित रूप है। साहित्यिक, राजनैनिक, धार्मिक, तथा संगीत और कला सम्बन्धी क्षेत्रों में समन्वय स्पष्ट लक्षित होता है। सूफियों का आगमन सर्वप्रथम सिंध प्रदेश में हुआ और यह समन्वय की भावना भी यहीं प्रादुर्भूत हुई, अबुलफजल तथा फैजी के पूर्वपुरुष सर्वप्रथम सिंध में जाकर बसे थे, किन्तु उनके वंशज जोधपुर रियासत के नागौर राज्य में बस गये इसी कारण मुबारक को नागौरी कहा गया है। 'मुबारक नागौरी को ग्रीक तथा मुस्लिम दर्शन दोनों का ही पर्याप्त ज्ञान था। फैज़ी ने महाभारत, रामायण तथा वेदान्तों के कुछ सूत्रों का फ़ारसी में अनुवाद किया तथा कुरान का एक उदार संस्करण निकाला। फैज़ी अकबर के एकेश्वरवाद या तौहीदे-इलाही का सदस्य था, साथ ही राजकुमारों का शिक्षक भी। अबुलफजल भी इसी प्रकार सब धर्मों का सार विभिन्न देशों तथा गुरुओं के सम्पर्क में जाकर जानना चाहता था। मुबारक नागौरी के वंशजों के विचार-स्वातंत्र्य के कारण उन्हें कट्टर मुसलमानों का कोप भाजन बनना पड़ा। अकबर के समय के प्रसिद्ध इतिहास लेखक बदायूनी ने इनकी बड़ी निन्दा की है।

जहाँगीर और शाहजहाँ का ध्यान धार्मिक तथा अध्यात्मिक समस्याओं की ओर अधिक न था। शाहजहाँ का ज्येष्ठपुत्र दाराशिकोह गम्भीर एवं विचारशील था। उसका हृदय उदार दृष्टि तथा समन्वयशालिनी प्रतिभा से ओतप्रोत था। उसने साधकों की जीवनी 'सफ़ीनाते औलिया' नाम से लिखी। कबीर और दादू के शिष्य उसके मित्रों में से थे। कवि जगन्नाथ मिश्र तथा पंजाब के साधक बाबालाल उसके दरबार में

सम्मान प्राप्त करते थे। 'मजमुल बहरैन' में उसने सूफ़ीमत तथा उपनिषदों की समानता पर विचार किया है। अकालमृत्यु के कारण उसके सिद्धान्तों को प्रचार का अवकाश न मिल सका। औरंगजेब का पुत्र आजमशाह, तथा बहन जहानआरा भी उदार प्रवृत्ति के थे। बिहारी सतसई पर आजमशाह की टीका का अपना मूल्य है। महाकवि देव आजमशाह के आश्रित भी रह चुके थे।

शाहकलन्दर, फ़रीदगंज, जमालुद्दीन, तथा शाहशकरगंज गजनी के ही निवासी थे किन्तु वहाँ की तत्कालीन मानसिक दासता तथा बुद्धिवाद के अभाव ने उन्हें निराश कर दिया। निदान वे लोग अपनी सांसारिक सम्पत्ति का मोह छोड़ कर पूर्व की ओर चल पड़े और सिन्ध पहुँचे। सूफ़ी साधकों में उपरोक्त चारों भी सिन्ध में प्रथम बसे जहाँ अपने उदार विचारों के कारण जनप्रिय हो गये।

सोलहवीं सदी के शाह करीम सिन्धी, किसी अहमदाबाद निवासी वैष्णव साधक से अत्यन्त प्रभावित थे। ओउम् अक्षर उन्हें अन्धकार में मार्ग प्रदर्शित करता था जिसकी रहस्यवादिता पर शाहकरीम विचार किया करते थे।

सिन्ध के शाहइनायत ने निर्दय धर्मप्रचारक कल्होरा के राजाओं से हिन्दुओं को त्राण देने का प्रयत्न किया था। उनके विचार में ईश्वर पर किसी एक जाति का अधिकार नहीं हो सकता। अपनी इसी उदार प्रवृत्ति के कारण उन्हें अपना प्राण त्याग करना पड़ा। सिन्ध के मुसलमान शासक ने उनका शिरच्छेदन कर दिल्ली के बादशाह को भेंट भेजा था। इसी कारण आज भी शाह इनायत 'बिनसीर' के नाम से प्रसिद्ध हैं।

शाहकरीम के पौत्र शाहलतीफ़ अपनी उदारवृत्ति, गायन पटुता तथा काव्य रचना के लिये प्रसिद्ध थे।

इस प्रकार सांस्कृतिक समन्वय का प्रभाव सिन्ध में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। मीरा, नानक तथा दादू के पद भी सूफ़ी साधनालयों में प्राप्त होते हैं। बेदिल, बेकस, कुतुब आदि के पदों में पर दुःख कातरता तथा प्रेम की सर्वात्मवादिता के जो दर्शन होते हैं, वह अन्यत्र दुर्लभ हैं।

पंजाब में भी इसी प्रकार कई समाधि तथा दरगाहें ऐसी हैं जहाँ हिन्दू और मुसलमान दोनों ही श्रद्धावश एकत्र होकर अपने मतैक्य का प्रमाण देते हैं, कांगड़ा रानीताल के बाबा फुत्तू की समाधि, तथा भिंग में बाबा साहाना की समाधि, एवं मूसा सोहाग के अनुयायी, तथा अहमदाबाद की बेचरा देवी के उपासकों में बड़ा साम्य है।

गुजरात में इमामशाह द्वारा स्थापित पीरन पंथी लोगों के सारे कार्य कलाप एवं रीतिरिवाज हिन्दुओं की भांति ही हैं किन्तु उनका मृतक संस्कार मुसलमानों के समान होता है। ये पीरन पंथी साधक, निष्कलंक नामक महात्मा की उपासना करते हैं जो इनके अनुसार विष्णु का दशम अवतार है। इसी प्रकार मुहम्मद शाहदउल्ला ने मध्यप्रान्त में सत्रहवीं सदी में पीरजादा सम्प्रदाय स्थापित किया। ये लोग भी निष्कलंक नामक देवरूप की उपासना करते हैं। सत्रहवीं सदी के पूर्वार्ध में ताज नामक एक भक्त

महिला ने कृष्णप्रेम के अनेक कवित्त रचे हैं। सैयद इब्राहीम, जो बाद को 'रसखान' के नाम से विख्यात हुये, वैष्णव मत से अधिक प्रभावित थे।

गुजरात की खोजा जाति पर वैष्णव धर्म का पूर्ण प्रभाव है। पहले इनके नाम तथा रीतिरिवाज पूर्णत: हिन्दुओं के समान ही होते थे, किन्तु धीरे-धीरे वे कट्टर होते जा रहे हैं। काठियावाड़ के कुछ स्थानों की खोजा जाति पूर्णत: अब स्वामी नारायणी सम्प्रदाय के अन्तर्गत आ गई है।

अध्यात्मिक क्षेत्र के अतिरिक्त साहित्यिक क्षेत्र में भी भाषा का आदान प्रदान चल रहा था। चन्दबरदायी के पृथ्वीराज रासो में फारसी के अनेक शब्द हैं। ग़ज़वनी सल्तनत के आरम्भिक काल में रूमी, मसूद-साद-सल्मान आदि कवियों ने अपने दीवान हिन्दी में लिखे यद्यपि उनमें फारसी के शब्द अधिक हैं। शाह शकरउद्दीन अहमद याहिया मुनीरी ने, जो खिलजी राज्य के समकालीन थे, कुछ हिन्दी पदों की रचना के अतिरिक्त काजमन्द नामक ग्रन्थ रचा है।

दक्खिन में बीजापुर सुल्तान आदिल शाह इब्राहीम ने कर विभाग की भाषा फारसी के स्थान पर हिन्दी करा दी थी। उसने स्वयं एक ग्रन्थ 'नौरस' नाम से लिखा है। उनके समकालीन गोलकुन्डा के शासक कुली कुतुब शाह, मुहम्मदशाह, अब्दुल्लाशाह तथा अबुलहसन तानाशाह आदि दक्खिनी हिन्दी को बोलते तथा समझते थे।

मुसलमानों के प्रवेश के साथ उनका संगीत भी यहाँ आया। महमूद गजनवी को संगीत से प्रेम था। अलाउद्दीन के समकालीन अमीर खुसरो ने बहुत सी नवीन लयों का आविष्कार किया। कहा जाता है कि उसी ने सितार या सेहतार (तीनतार) तथा तराना के ढंग को प्रचलित किया। दिल्ली के सुल्तानों में मुबारक, मुहम्मद तुगलक आदि संगीत के बड़े प्रेमी थे। भारतीय संगीत की सर्वाधिक उन्नति सम्राट अकबर तथा बीजापुर के इब्राहीम आदिलशाह के दरबारों में हुई। कहा जाता है कि सम्राट अकबर ने लगभग दो सौ ईरानी तानों का भारतीयकरण करवाया। इब्राहीम आदिलशाह ने नवीन तानों को जन्म दिया। तानसेन की कीर्ति संगीत संसार में अमर है। जहांगीर ने भी अपने दरबार में छनर खां परवजदाद, मक्खू, दुर्रमदाद, हजमा तथा विलास खां को आश्रय दिया था। पन्द्रहवीं सदी में जौनपुर का सुल्तान हुसेन, ख्याल अंद का जन्मदाता था। जौनपुरी, हुसेन टोडी, कान्हराराग भी उसके आभारी हैं। गुजरात के सुल्तान बहादुर (१५२६—१५३६ ई०) के दरबार में नायक बैजू प्रसिद्ध गायक था जिसने बहादुर टोडीको जन्म दिया था। शाहजहां के समय में संगीत-अस्वत नामक एक ग्रन्थ लिखा गया था। अकबर के समय से आरम्भ हुई 'कविराज पद्धति' का पालन औरंगजेब के दरबार तक में होता रहा। मुगलों के बाद अवध में वाजिदअलीशाह ने संगीत को प्रश्रय दिया। जोगी कन्नड़, शाहपसन्द, जूही राग का आविष्कार एवं ठुमरी की लोकप्रियता उसी के समय में हुई। मुहम्मदशाह के समकालीन एक सारंगी खां ने 'सारंगी' वाद्ययन्त्र को जन्म दिया।

बाबर और हुमायूं के मकबरे भारतीय शिल्प पद्धति के लिये नवीन थे। शेरशाह के मकबरे में भारतीय एवं ईरानी शिल्पकला का मिश्रण मिलता है। इन मकबरों की द्वार रचना अधिकांश भारतीय शिल्पपद्धति के अनुसार ही है। अकबर के बनवाये मकबरे, किले, सड़कें, पुल, मस्जिदें आदि सभी इस बात के प्रमाण हैं कि वह भारत ईरान तथा अरब के सर्वोत्तम सिद्धान्तों, कलाओं, एवं कृतियों में समन्वय स्थापित कर देना चाहता था[1]। जहांगीर तथा शाहजहां भी शिल्पकला के क्षेत्र में सफल थे।

मुसलमान यद्यपि भारतीय रेशम व्यापार को बढ़ावा न दे सके किन्तु अहमदाबाद तथा बनारस के कमखाब पर मुसलमानों की रुचि का प्रभाव है। भारतीय सम्राट तथा सुल्तान सदा से आभूषण प्रिय रहे हैं अतः नगों के जड़ाव तथा उनके कटाव में दोनों संस्कृतियों का समन्वय दृष्टिगोचर होता है।

भारतीय चित्रकला में भी इस सांस्कृतिक समन्वय से कुछ परिवर्तन हुआ। अभी तक ईरानी चित्रकला भावों एवं कल्पनाओं को मूर्तस्वरूप प्रदान न कर पाती थी। इसके लिये उसने भारत का पल्ला पकड़ा। राजपूत एवं मुगल चित्रकला दोनों पर ही इस समन्वय की छाप है। आज हम इन्हीं चित्रों से पन्द्रहवीं सदी से अठारहवीं सदी तक के आचार, विचार आदतें तथा जीवन सम्बन्धी अनेक बातें जान पाते हैं।

अंग्रेजों का साम्राज्य स्थापित हो जाने पर उनकी संस्कृति, भाषा, वेश विन्यास, एवं साहित्यिक परम्पराओं का प्रभाव भी भारतीय संस्कृति पर पड़े बिना नहीं रहा। अँग्रेजों और मुसलमानों में प्रधान अन्तर यह था कि अँग्रेजों ने कभी भारत को अपना देश नहीं समझा। यहां का शासन, धन एवं जन उनके करगत थे। यहाँ की संस्कृति की सराहना करते हुये आंग्ल जाति ने कभी उसे अपनाने की चेष्टा नहीं की, जबकि आंग्ल संस्कृति का प्रभाव राजसंस्कृति होने के कारण निरन्तर भारतीय संस्कृति पर पड़ता रहा।

---

१. Akbar's artist looked back to no struggling primitives behind them but to the finished achievement supreme in this kind of the Iranianasters and his patronage, would have resulted in loss of value had it not been for the example and opportunities it gave for revivals of the indegenous schools of Iranian art in local centres. The Hindu element after his death came to infilterate more and more of the Moghul School, while outside the capital, provincial Rajas encouraged artists. give push to ancient native traditions, The whole Moghul School reflects Akbar's political aspirations, its aim is to fuse the Iranian, The Mohammedan with the Hindu style.

Akber p. 76
By Laurance Benyon.

साहित्यिक पृष्ठभूमि :

अब तक की खोजों के अनुसार प्रथम सूफ़ी कवि मुल्ला दाऊद का आविर्भाव उस समय हुआ जब हिन्दी क्रमशः साहित्य के क्षेत्र में अपभ्रंश की स्थानापन्न हो रही थी। अपभ्रंश के रचयिताओं एवं कवियों का ह्रास नहीं हुआ था। सिद्धों, नाथों एवं जैन कवियों की रचनाओं से उसका निरन्तर संवर्द्धन हो रहा था।

सिद्ध पुरानी रूढ़ियों, पुराने पाखण्डों के विरोधी थे। ये सिद्ध सभी मतों और सम्प्रदायों के पाखण्ड एवं कर्मकाण्ड का खण्डन करते थे और सहजयान या सहजजीवन परमसुख की स्थापना चाहते थे। सिद्धों ने सुख-दुःख एवं दुनिया की सभी समस्याओं को केवल व्यक्ति के रूप में देखा। सिद्ध आत्मावलम्बन के पक्षपाती थे, लेकिन गुरु को अत्यन्त महत्व देते थे। इन्होंने गुरु महिमा का अत्यधिक गुणगान किया है। सिद्धों के काव्य में निराशावाद की झलक तक नहीं थी। वे निराशावाद, योग वैराग्य एवं निर्वाण के हेतु सांसारिक जीवन नष्ट करने वाले व्यक्तियों के सम्मुख संसार के स्वाभाविक भोगमय आदर्श जीवन को उपस्थित करना चाहते थे।

सामन्त जीवन के दो तथ्य 'भोग भोगना' और 'मृत्यु' को तृणवत् समझना का वर्णन जैन कवि स्वयंभू और पुष्पदन्त के काव्य में अत्यन्त स्वाभाविक रीति से वर्णित हैं। जैन कवियों के चरितकाव्यों का सूफ़ी साहित्य पर अत्यधिक प्रभाव है। सामन्तवर्ग की युद्ध एवं विलास की भावना रासो साहित्य में मुखर हैं। 'रासो' भी दूसरे शब्दों में चरित काव्य है जिसमें नायक के यश एवं जीवन घटनाओं का अत्यन्त विशद चित्रण होता है।

वीरगाथाकाल की सन्ध्या में मुल्लादाऊद नामक (अब तक की खोज के अनुसार) प्रथम सूफ़ी कवि नक्षत्र का उदय हुआ। जिस समय कवि खुसरो, विद्यापति आदि जन-भाषा एवं साधारण जीवन से सम्बन्धित विषयों की ओर आकृष्ट हो रहे थे, सूफ़ी कवियों पर जनभाषा एवं जनविषय के साथ ही सिद्धों की कुछ परम्पराओं का भी प्रभाव पड़ा। इसी समय मुक्तक काव्य 'सन्देश रासक' के रचयिता अब्दुर्रहमान भी हुये जिनके काव्य में एक विरहिणी की सूक्ष्म भावनाओं की अभिव्यक्ति हुई है।

इन सिद्धों की गुरु महिमा परम्परा एवं अलखनिरञ्जन की आराधना सूफ़ी प्रेमाख्यानों में भी है, किन्तु खण्डनात्मक पद्धति से जिस प्रकार इन कवियों ने प्रचलित पाखण्ड एवं कर्मकाण्ड का विरोध किया है, वह सूफ़ी काव्य में नहीं पाया जाता। सिद्ध ऐहिक जीवन ही सुखी बनाना चाहते थे, किन्तु सूफ़ियों ने परलोक की ओर दृष्टि रखी, अतः आशावाद की अपेक्षा संसार की असारता एवं निराशावाद उसमें अधिक है जो सूफ़ीमत की अपनी विशेषता है।

वीरगाथाओं का युग अधिक समय तक स्थिर न रह सका। हिन्दी साहित्य का रचनाकाल, एवं भारत पर मुगलों का आक्रमण लगभग दोनों ही घटनाएँ एक ही समय की हैं। प्रतिनिधि कवियों का ओज एवं दर्प क्षीण हो गया। सांसारिक वैभव, ऐश्वर्य एवं अस्तित्व की नश्वरता से परिचित हो वे ईश्वराधना में लग गये और हिन्दी साहित्य में 'भक्तिकाल' का आरम्भ हुआ।

भक्ति का जो स्रोत दक्षिण से प्रवाहित होकर धीरे-धीरे उत्तर की ओर आ रहा था, उसे राजनीतिक परिवर्तन के कारण शून्य पड़ते हुये जनता के हृदय में फैलने के लिये पूर्ण अवकाश मिला। रामानुजाचार्य ने शास्त्रीय पद्धति पर सगुण भक्ति का निरूपण किया एवं उसकी ओर जनता पूर्ण रूप से आकृष्ट होती रही। पन्द्रहवीं शताब्दी में रामानुजाचार्य के शिष्य रामानन्द ने विष्णु के स्थान पर रामोपासना का प्रचार किया। दूसरी ओर वल्लभाचार्य ने प्रेममूर्ति कृष्ण को लेकर जनता को रसमग्न कर दिया। इन्हीं सम्प्रदायों में दीक्षित भक्त कवियों ने रामोपासना एवं कृष्णोपासना में शाश्वत साहित्य की रचना की। इन भक्तों ने ब्रह्म के सत् और आनन्द स्वरूप का साक्षात्कार राम और कृष्ण के रूप एवं चरित्र की अभिव्यक्ति के द्वारा कराया। तुलसीदास ने अपने काव्य के द्वारा सामाजिक विशृङ्खलता मिटाने एवं जीवन में समरसता स्थापित करने का प्रयास किया। धार्मिक क्षेत्र में भी उन्होंने साम्प्रदायिक विभेदों को मिटाने का प्रयास किया। आध्यात्मिक क्षेत्र में, सभी प्रचलित धारणाओं का समन्वय उनकी भक्ति है। साहित्य की प्रचलित पद्धतियों में गोस्वामी तुलसीदास ने रचना की। उस समय तक हिन्दी साहित्य में पाँच प्रकार की प्रणालियाँ उपलब्ध थीं—(क) वीरगाथाकाल की छप्पय पद्धति (ख) विद्यापति एवं सूरदास की गीत पद्धति (ग) भाटों की कवित्त सवैया पद्धति (घ) नीति एवं उपदेश से पूर्ण सूक्ति पद्धति एवं मुक्तक दोहों की रचना (च) जैन एवं अपभ्रंश के चरित काव्यों की पद्धति।

सूरदास ने स्फुट शब्दों में कृष्ण लीला का गान किया। तुलसीदास के साहित्य में प्रयुक्त अवधी साहित्यिक है। सूरदास ने अपनी ब्रजभाषा को साहित्यिक बनाने का प्रयास नहीं किया, फिर भी उसका अपना लालित्य है। मुक्तक पदों की रचना में सूर का अपना स्थान है।

कबीर मूलतः समाज सुधारक थे। उनका उपदेशक का स्वरूप प्रमुख है। ऐसा करने में उन्हें खंडनात्मक प्रवृत्ति का आलम्बन लेना पड़ा। कबीर ने जनसाधारण की मिश्रित भाषा में अपने विचार व्यक्त किये।

सूफ़ी प्रथम उपलब्ध रचना के निर्माण काल के कुछ आगे पीछे हिन्दी साहित्य की यही रूपरेखा थी। ऊपर जिन पांच प्रचलित पद्धतियों का उल्लेख किया गया है, उनमें से केवल दोहे चौपाई वाली चरित काव्य पद्धति को ही सूफ़ी कवियों ने अपनाया सूफ़ी प्रबन्धों में यही दोहे चौपाई का क्रम बराबर मिलता है। कहीं कहीं दोहे के स्थान पर बरवै का प्रयोग अवश्य हुआ है। इसके अतिरिक्त कवित्त सवैयों का प्रयोग भी कवि नसीर ने षट्ऋतु वर्णन के अन्तर्गत किया है।

नीति एवं उपदेश पूर्ण दोहों और सूक्तियों की पद्धति को भी इन सूफ़ी कवियों ने अपने मुक्तक काव्य में अपनाया है।

वीरगाथाकाल की संध्या में आरम्भ होकर सूफ़ी-काव्य रचना आधुनिक काल तक होती रही। रीतिकालीन, काव्य चमत्कार, विविध छन्द रचना, नायक नायिका भेद, रस एवं रीति चर्चा, पाण्डित्य प्रदर्शन, इन सभी विशेषताओं का सर्वाधिक प्रभाव जान कवि पर ज्ञात होता है। इन एक अकेले कवि ने ७१ ग्रन्थों की रचना की है जिनमें नायक नायिका-भेद, रस भेद, भावसति, शृङ्गारसति, बांदी नामा, विरहसत, वियोग सागर आदि सभी विषयों पर कवित्त, बरवै, दोहे एवं पवंगमों की रचना मिलती है।

रीतिकालीन साहित्य राज्याश्रय में लिखा गया साहित्य है। रीति कालीन काव्य का अधिक भाग शृंगार रस से सम्बन्धित है जिसमें कामक्रीड़ा, विलास एवं रूप सौन्दर्य की चर्चा के साथ ही साहित्यिक भाषा का आग्रह है, किन्तु सूफी कवियों पर नख-शिख वर्णन, बारहमासा वर्णन आदि काव्यरूढ़ियों के अतिरिक्त किसी अन्य विशेषता का आरोप नहीं है। किसी भी सूफी कवि को कभी 'भाषा कवि भो मंदमति तेहि कुल केशवदास' नहीं कहना पड़ा और न वे राज्याश्रय की खोज में इधर उधर मारे मारे फिरे। 'पुहुपावती' हंसजवाहिर आदि में प्रकृति वर्णन के अन्तर्गत उपकरणों के नाम गिनाये गये देखकर आचार्य केशव के 'देखे भावे मुख,अन देखे कमल चन्द' तथा 'एला ललित लवंग लता' का ध्यान आ जाता है। इन कवियों ने प्रकृति का वर्णन या तो काव्य-परम्परा निभाने के लिये षट्ऋतु एवं बारहमासे में किया है, या नखशिख वर्णन के उपमान चुनने में। कहीं कहीं वनस्थली उपवन, वाटिका के वर्णनों में प्रकृति के उपकरणों का नाम गिनाया गया है।

चरित काव्य एवं उपदेशात्मक काव्य के अतिरिक्त रीति काव्य (भाव, रसनिरूपण, पद्धति) की रचना इन सूफ़ी कवियों ने की है।

रीतिकालीन रीति ग्रन्थों की रचना से साहित्य के स्वाभाविक विकास में बाधा पड़ी। प्रकृति की अनेकरूपता, जीवन की चिन्त्य बातों तथा जनता के नाना रहस्यों की ओर कवियों की दृष्टि नहीं गई। उनकी दृष्टि सीमित हो गई। कवियों की व्यक्तिगत विशेषता की अभिव्यक्ति का अवसर बहुत कम रह गया था। रीतिकाल में साहित्य की भाषा व्रजभाषा ही रही किन्तु उसमें फ़ारसी, अवधी, अरबी आदि सभी प्रचलित भाषाओं के शब्द मिलते हैं। भक्ति काल की प्रारम्भिक अवस्था में ही फारसी के शब्दों का प्रयोग साहित्य में होने लगा था। तुलसीदास जी ने भी गनी, गरीब, साहब उमरदराज ऐसे शब्दों का प्रयोग किया। रीतिकाल में ऐसे शब्दों की संख्या बढ़ गई। कुछ कवियों ने शब्द के साथ फारसी की 'इश्क की शायरी' का भी अनुकरण किया। दूर की सूझ, और नाजुकख्याली रीतिकाल की प्रधानता है।

रीतिकाल के कवियों के प्रिय छन्द कवित्त और सवैया ही रहे, जो शृंगार और वीर रस दोनों के लिए उपयुक्त थे।

साहित्य रचना की इस रूपरेखा के अतिरिक्त, सूफी प्रेमाख्यान रचयिताओं को अपभ्रंश एवं हिन्दी प्रेमाख्यानों की कुछ परम्परायें भी उपलब्ध हुई जिनका बहुत कुछ प्रभाव इन प्रेमाख्यानों के कथानक पर पड़ा।

अपभ्रंश साहित्य तथा चरित काव्य :

अपभ्रंश भाषा की रचनाएँ सातवीं शताब्दी से लेकर सोलहवीं शताब्दी तक मिलती हैं किन्तु दसवीं से बारहवीं शताब्दी का अपभ्रंश साहित्य पूर्ण उत्कर्ष को प्राप्त था। अपभ्रंश पूर्व में बंगाल से लेकर पश्चिम में गुजरात और सिन्ध तक, तथा दक्षिण में मान्यखेट से लेकर उत्तर में कन्नौज तक लिखा और पढ़ा जाता था। इतने विस्तृत भूभाग के साहित्य का विविध भावयुक्त होना स्वाभाविक है।

अपभ्रंश का सिद्ध साहित्य[1] अधिकांश उपदेशात्मक है। गुरुमहात्म्य, रूढ़िखन्डन, जाति भेद पर प्रहार, वेद प्रमाण की असारता, सहज रस का गुणगान, और शून्य संचरण का संकेत आदि भाव उनकी कविता में प्रायः वर्णित हैं। इनमें डाकिनी, डोमिन, ब्राह्मणी, आदि का प्रयोग गुह्य साधना के प्रतीक स्वरूप हुआ है। इन सिद्धों की रचनाओं के कुछ आगे पीछे पश्चिमी भारत में जैन मुनि भी इसी प्रकार का धार्मिक साहित्य प्रस्तुत कर रहे थे। इन रचनाओं में जोइन्दु का परमात्म प्रकाश, तथा योगसार सबसे प्राचीन है। अपभ्रंश के सूक्ति बहुल धर्म-प्रचारक नीरस काव्य ग्रन्थों के बीच, वीर और श्रृंगार की ललित रचनाएँ भी फुटकल रूप में मिलती हैं। ये रचनाए अधिकतर तत्कालीन लोकगीतों की अंश प्रतीत होती हैं। हेमचन्द्र के व्याकरण में लगभग सवा सौ पद्य इस प्रकार के हैं जो मार्मिक अन्योक्ति द्वारा जीवन की सरसता प्रकट करते हैं।

हेमचन्द्र द्वारा प्रस्तुत उदाहरणों में मुन्ज और मृणालवती के सम्बन्ध में प्राप्त दोहे किसी प्रचलित कथा के अंश रूप ही ज्ञात होते हैं। इन दोहों में वीर एवं श्रृंगार दोनों रसों की चर्चा विशेषरूप से मिलती है। श्रृंगार और वीर रस सिक्त इन फुटकल रचनाओं का स्रोत जैनेतर प्रतीत होता है। ये रचनायें संख्या में बहुत थोड़ी हैं, तथा तत्कालीन लोक गीतों का अंश प्रतीत होती हैं। अब्दुर्रहमान का 'संदेश रासक' इसी प्रकार की स्वतन्त्र रचना है। इसमें एक वियोगिनी की विरह गाथा दो सौ छन्दों में वर्णित प्राप्त होती है। इन मुक्तक रचनाओं के अतिरिक्त अपभ्रंश साहित्य का भण्डार अनेक प्रबन्ध काव्यों से भरा हुआ है। अपभ्रंश साहित्य का यह अंग सर्वाधिक पुष्ट है। पुराणों में एक महापुरुष की अपेक्षा अनेक महापुरुषों की जीवनगाथाओं का वर्णन रहता

---

१. दोहाकोष डा० हरप्रसाद शास्त्री।
बौद्ध गान ओ दोहा डा० जी० वी० तगारे ने इन रचनाओं को पूर्वी अपभ्रंश के अन्तर्गत रक्खा है।

है। चरित काव्य प्रेमाख्यानक की पद्धति पर लिखे गये ज्ञात होते हैं। सम्भव है कि इन चरित काव्यों में वर्णित कथायें उस समय प्रचलित रही हों या प्रचलित कथाओं के ढंग पर रचयिताओं ने स्वयं कल्पित की हों। इन प्रेम कथाओं से यदि आदि और अन्त का धार्मिक आरोप हटा दिया जाय तो वे लोकप्रचलित सुन्दर प्रेमाख्यान प्रतीत होती हैं। अपभ्रंश में प्राप्त प्रबन्ध निम्नांकित हैं।

१. पदुम चरिउ। (पद्मिनी चरित) २. जसहर चरिउ। (जसहर यशोधरा चरित)
३. णयकुमार चरिउ। ४. करकन्डु चरिउ।
५. सनत्कुमार चरिउ। ६. सुपासणाह चरिउ।
७. नेमिनाह चरिउ। ८. कुमारपाल चरित।
९. भविसयत्त कहा। (भविष्यदत्त कथा) १० महापुराण।

जसहर चरिउ, भविसयत्त कहा, सुदर्शन चरित, करकन्डु चरित, नाग कुमार चरित इन सब में एक प्रेमकथा अवश्य है। इस प्रेम का प्रारम्भ भी प्राय: समान रूप से हुआ है। गुणचर्चा सुनकर, चित्रदर्शन या साक्षात् दर्शन से इसके प्रारम्भ के बाद नायक नायिका का विवाह सम्पन्न हो जाता है। नायक की ओर से थोड़े बहुत प्रयत्न के बाद उनका प्रयास सफल होता है, पद्मावती तथा करकन्डु चरित के नायकों को सिंहल की यात्राएँ करनी पड़ीं थीं। इन सभी काव्यों में एक एक प्रतिनायक अवश्य मिलता है, किन्तु धर्म की विजय दिखाने के लिये कवियों ने आश्चर्य तत्व की सहायता से काव्यव्याज का प्रतिपादन किया है। भविष्यदत्त कथा में भविष्यदत्त की पत्नी को लेकर बन्धुदत्त चल देता है। जिन-मन्दिर में पूर्वजन्म के सम्बन्धानुकूल एक देव प्रकट होकर भविष्यदत्त को गजपुर पहुँचा देता है। इसी प्रकार करकन्डु चरिउ में दक्षिण पथ में उसकी रानी मदनवती हर ली जाती है। परन्तु एक सुर के द्वारा इसके पुन: प्राप्त होने का आश्वासन मिलता है।

इन आश्चर्य तत्वों में यक्ष, गन्धर्व, मुनिस्वप्न, आदि विशेष रूप से पाये जाते हैं। प्रेम को जन्म जन्मान्तर का सम्बन्ध सिद्ध करने का भी प्रयत्न लक्षित होता है। मधुमालती कथा में मनोहर मधुमालती के प्रति अपने प्रेम को जन्म जन्मान्तर का बताता है और कथानक के अन्त में मुनि प्रकट होकर पात्रों को उनके पूर्व जन्म की कथा सुनाते हैं जिनके कारण उन्हें विराग उत्पन्न होता है और वे सन्यास लेते हैं।

जसहर चरित में यशोधर का चरित वर्णित है। जिन-वन्दना के बाद कवि कथा का प्रयोजन बतलाते हुए कहता है कि धन और नारी की जगह वह शिव और सौख्य की कथा कहना चाहता है। णयकुमार चरित में कामदेव के अवतार नागकुमार का चरित्र वर्णित है। पुष्पदन्त बड़े स्वतंत्रजीवी थे। उन्होंने विरह और दरिद्रता का बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया है। उन्होंने सामन्तों के चमर और अभिषेक जल को सज्जनता को धो देने वाला कहा है, 'चमरा निलही उड्डेउ गुणाइ, अभिषेक धोयउ सुजननननाय।' धनपाल की भविसयत कथा छोटी बाइस संधियों का प्रबन्ध काव्य है। कथा ज्ञान पंचमी अथवा सुभपंचमी के दृष्टान्त स्वरूप कही गई है। आरम्भ में जिन वन्दना, विनम्रता,

आत्मदीनता, दुर्जन-निन्दा तथा सज्जन-प्रशंसा के बाद, कुरु जंगल के गजपुर नगर के वर्णन से कथारम्भ होती है।

इस कृति में प्रेम, शृंगार, करुणा, युद्ध, स्त्री-प्रकृति का अध्ययन, प्रकृति-वर्णन, देश और नगर वर्णन अत्यन्त सरल तथा सजीव शैली में हुआ है। समय समय पर दैवी शक्तियाँ धर्मप्रवण नायक के सहायतार्थ मूर्तिमान होती हैं। अपभ्रंश के चरित काव्यों में मंगलाचरण, देश नगर तथा राजा रानी के रनिवास के वर्णन बड़े सरस होते हैं। इन काव्यों में अडिल्ल, रड्डा, पज्झटिका छन्द विशेष प्रयुक्त हुये हैं। इन छन्दों की कुछ पंक्तियाँ रखकर एक धत्ता जोड़कर एक कड़वक पूरा होता है। कभी कभी कड़वक के प्रारम्भ में हेला, दुवई आदि छन्द भी प्रयुक्त हुये हैं। इनमें प्राय: चतुष्पदी वर्ग के छन्दों का प्रयोग किया गया है। ऐसे लगभग दस पन्द्रह कड़वकों का एक अध्याय होता है जिसे सन्धि कहते हैं। सन्धि के आदि में कहीं कहीं एक ध्रुवक छन्द रहता है। वर्ण्य विषय और भाव के अनुसार बीच बीच में छन्दों के प्रचुर परिवर्तन भी हैं।

इन छोटे काव्यों के अतिरिक्त पुराणों की रचना महाकाव्यों की तरह हुई। स्वयंभू की रामायण नब्बे सन्धियों का विशाल महाकाव्य है जिसका विभाजन कवि ने पाँच काण्डों में किया है। विद्याधर काण्ड, अयोध्या काण्ड, सुन्दर काण्ड, युद्ध काण्ड तथा उत्तर काण्ड।

स्वयंभू ने रामायण के आरम्भ में अपनी दीनता तथा कथा को सरिता का रूपक देकर स्पष्ट किया है। इसमें सूक्ष्म प्रकृति-निरीक्षण तथा नगर और राजगृह का वर्णन बड़ा हृदयग्राही है। राहुल जी के शब्दों में सुन्दरियों के सामूहिक सौन्दर्य के चित्रण में स्वयंभू अपना सानी नहीं रखते। रनिवास के आमोद प्रमोद, अयोध्या तथा रावण के रनिवास का विलासपूर्ण वर्णन आदि बड़े सजीव हैं। इसके अतिरिक्त कवि ने विविध देशों की सुन्दिरयों के देशगत वैशिष्ट्य, उनका रूप और स्वभाव बड़ा सटीक चित्रित किया है।

पुष्पदन्त ने अपने महापुराण में काव्य सम्बन्धी नवरस, नायक नायिका-भेद आदि की संयोजना की है। श्रीमती श्रुता का सौन्दर्य वर्णन करता हुआ कवि कहता है 'कि उनकी कटि पयोधर के भार तथा चिन्ता से दबी जाती थी। कहीं टूट न जाए इसलिए रोमावलि के व्याज उसे रोकने के लिए खंभा लगाया गया है[1]।'

अपभ्रंश भाषा की सबसे प्राचीन काव्य रचना दोहा छन्द में हुई। दोहा छन्द में भी दो प्रकार की रचनाएँ उपलब्ध हैं। एक का उद्देश्य ऐहिक तथा दूसरे का आमुष्मिक या अलौकिक है। लौकिक दोहे शृंगार, करुणा तथा वीर रस से पूर्ण हैं। अब्दुर्रहमान का 'संदेशरासक' इसी कोटि के काव्य का विकसित रूप है।

---

१. मध्य स्तनभाराक्रान्ति चिन्तये बत्तावानवम्।
रोमावलिच्छलेनास्या दृत्वस्टम्भयविष्टकम्॥
जैनसिद्धान्त भास्कर।

पारलौकिक तत्व से समन्वित दोहों में प्राय: अध्यात्मचिन्तन धार्मिक उपदेश की प्रधानता के साथ साथ वाममार्गी प्रवृत्ति और उसकी साधना पद्धति का परिचय मिलता है।

खण्ड काव्यों में स्तुति, संलाप छोटे छोटे आख्यान एवं रूपक काव्य पाए जाते हैं जिनमें अध्यात्मिकता का बाहुल्य और लौकिकता का साधारणत: बहिष्कार परिलक्षित होता है।

पुराणों और चरित काव्य में चरित्रों के द्वारा आदर्श की स्थापना लेखक का उद्देश्य होता है। इसी कारण लौकिक गाथाओं में पारलौकिकता का संकेत इनमें विशेष रूप से प्राप्त होता है। इस कोटि की रचनाओं का महत्व छन्द विधान, कथाबन्ध सम्बन्धी परम्परा और अलंकार की दृष्टि से बड़े महत्व का ठहरता है क्योंकि परवर्ती हिन्दी आख्यान काव्यों में दोहा, चौपाई, अड़िल्ल, पज्झटिका आदि छन्दों का प्रयोग इन्हीं चरितकाव्यों के अनुसरण पर किया गया है।

कथाबन्ध की दृष्टि से भी अपभ्रंश के चरित काव्यों में कतिपय रूढ़ियाँ मान्य थीं। प्रेमोदय के लिये गुणश्रवण, चित्रदर्शन अथवा साक्षात् दर्शन की अनिवार्यता, नायक प्रयत्न, प्रतिनायक या दैवी शक्तियों के कारण बाधायें आदि चरित काव्यों में उपलब्ध हैं। उसी प्रकार आधिदेवी शक्तियों के अवतार राक्षस, अप्सरा, विद्याधर एवं स्वप्न-संयोग से नायक की कठिनाइयों का शमन होता है तथा नायक और नायिका का मिलन हो जाता है।

अपभ्रंश कालीन तान्त्रिक साहित्य और जैनियों के कथा-साहित्य तथा रूपकों ने परवर्ती हिन्दी आख्यानों की रचना-पद्धति और विषयपरक रूढ़ियों की ऐसी पृष्ठभूमि प्रस्तुत कर दी थी जिसका विकास पूर्णरूप से हिन्दू और सूफी आख्यानक काव्यों में उपलब्ध होता है। हिन्दी के प्रेमाख्यानों पर इन अपभ्रंश के चरित काव्यों का बड़ा प्रभाव है।

अपभ्रंश का नीति अथवा सूक्ति काव्य जो रामसिंह, देवसेन, जोइन्दु तथा हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के उदाहरणों में बिखरा हुआ था, हिन्दी काव्य की सन्त भक्ति बानियों से होता हुआ रहीम के नीतिपरक दोहों में विकसित दिखाई देता है।

कबीर आदि निर्गुनिये सन्तों की बानी का स्रोत सहजिया और नाथपन्थी सिद्धों के दोहा और गान से नि:सृत हुआ है यह सिद्ध हो जाता है। अपभ्रंश की हिन्दी-साहित्य को देन पुष्कल है। अपभ्रंश के चरित काव्यों के साथ यदि हिन्दी की प्रेमगाथाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो ज्ञात होता है कि —

१. इन दोनों ही प्रकार के प्रबन्धों में एक प्रधान प्रेमकथा अवश्य है।

२. प्रेम विवाह के पूर्व गुणश्रवण, चित्रदर्शन या स्वप्न दर्शन से उद्भूत होता है।

३. विवाह के पूर्व नायक का प्रयत्न, किसी प्रतिनायक या दैवी बाधाओं की योजना, लगभग सभी प्रबन्ध काव्यों में मिलती है।

विरह मिलन के नाना व्यापारों की सुन्दर झाँकी मिलती है जैसे एक प्रोषितपतिका अन्योक्ति पूर्ण शैली में अपने प्रेम की अनन्यता और प्रिय की कठोरहृदयता का उलाहना देती हुई कहती है 'मृग बिना मृगी अकेली है, मृग बन खण्ड में मृगी को अकेली छोड़ गया, मृग को ढूंढने मृगी निकली। सारे बन खण्ड को छान छान कर ढूंढ लिया पर वह निष्ठुर मृग कहीं नहीं मिला। ढूंढते ढूंढते मृगी थक गई[1]।' इन लोक गीतों में मुक्तक रूप में संयोग और वियोग दोनों ही भावनाओं का वर्णन मिलता है।

भारत में सूफी प्रेमाख्यानों की प्राप्ति के पूर्व भी हिन्दी में प्रेमगाथाओं का प्रचार था और वे अधिकांश पौराणिक रचना वा लोक गीतों के रूप में प्रचलित थीं। कुछ इस प्रकार की कहानियां ऐतिहासिक नायक नायिकाओं और घटनाओं का आधार लेकर भी रची गई थीं। रासो-काव्य में अधिकांश किसी सामन्त की प्रेमकथा और उसके कारण की गई लड़ाइयों का ही वर्णन प्रधान है। भिन्न धर्मिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए भी कथाओं का निर्माण होता था। भिन्न भिन्न प्रकार की 'रास' 'दूहा' एवं 'वात' और 'चौपाई' नामों से प्रसिद्ध रचनाओं में इस प्रकार के प्रचुर उदाहरण प्राप्त हैं। इन प्रेमाख्यानों का स्वरूप या तो शुद्ध प्रेमकथा का है या कहीं कहीं इनमें चमत्कार पूर्ण अलौकिक घटनाओं द्वारा आश्चर्य एवं कौतूहल जाग्रत कर रोचक ढंग से दैवी संकेतों के द्वारा किसी धार्मिक उपदेश की व्याख्या है। इसके अतिरिक्त विरहणियों के संदेशों को लेकर एक प्रकार की रचनायें उससे भी पहले से प्रसिद्ध चली आ रही हैं। संस्कृत के मेघदूत, हंसदूत, पवनदूत से लेकर अब्दुर्रहमान की अपभ्रंश रचना 'संदेश रासक' तथा वीरगाथाकालीन 'ढोला मारवणी गाथा' इसके उदाहरण में दी जा सकती हैं।

इस प्रकार सूफी प्रेमगाथाओं के आरम्भ से पूर्व हिन्दी साहित्य में प्राप्त प्रेमगाथाओं का स्थूलरूप से विभाजन इस प्रकार किया जा सकता है: (१) वे कथायें जिनका सम्बन्ध पौराणिक आख्यानों से था। उदाहरण स्वरूप, ऊषा अनिरुद्ध, नल दमयन्ती, अभिज्ञान शाकुन्तलम् आदि के नाम लिये जा सकते हैं। (२) वे लोक गीत जो मौलिक रूप में किसी अज्ञात समय से आ रहे थे। जिनका आभास क्रमशः 'ढोला मारू रा दूहा' एवं पुष्पकवि की लहँदी कहानी 'ससि पुन्नो' में मिलता है। (३) जैनियों के पौराणिक प्रेमाख्यान जिनका मुख्य उद्देश्य धार्मिक है तथा प्रेमवर्णन गौण हो गया है। (४) वीर-

---

1. मिरगे बिना मिरगी एक लड़ी,
मिरगी छोड़ गयो बन खन्ड मांय।
मिरगी ने एक लड़ी।
मिरगे ने ढूंढन मिरगी निसरी।
ढूंढ्यो बन खन्ड छाण।
मिरगे बिना मिरगी एक लड़ी।
मिरगी छोड़ गयो बन खन्ड मांय।
मिरगी ने एक लड़ी।
राजस्थान के लोकगीत।

गाथाकाल का 'रासो साहित्य' वे प्रेम गाथायें हैं जिनमें वीर रस सम्बन्धी घटनाओं का आधार किसी न किसी ऐतिहासिक तथ्य पर आधारित रहता है। (५) वे कथायें जिनमें चमत्कार का प्रचुरता रहती है।[1]

इन पाँच प्रकार की प्रेमकथाओं की परम्परा आधुनिक युग में लुप्तप्राय है। न तो ये प्रेमकथायें अपने प्राचीन रूप में प्राप्त ही होती हैं और न इनका समय की गति के अनुसार विशेष महत्व ही है। हिन्दी साहित्य के कवियों ने भक्तिकाल तथा रीतिकाल में ऐसी प्रेम-कथाओं की खूब रचना की जिनमें आलम कवि कृत माधवानल भाषा बंध (सं १६४०) सूरदास कृत 'नलदमन' (सं० १७३६) तथा पृथ्वीराज राठौर कृत क्रिसन रुकमिणी री वेलि (सं० १६३६) एवं बोधाकृत 'विरह बारीश' जैसी पुस्तकों के नाम लिये जा सकते हैं।

सूफ़ी प्रेमकथाओं के समानान्तर और प्राय: उन्हीं के आदर्श पर अन्य प्रकार की प्रेमकथायें भी लिखी गई हैं जो अधिक प्रसिद्ध नहीं हैं किन्तु जिनका महत्व किसी प्रकार भी कम नहीं है। इन प्रेमाख्यानों के रचयिता 'संतकवि' रहे हैं अत: सूफ़ी प्रेमगाथाओं की भांति इन ग्रन्थों में कथारूपकों के द्वारा संतमत की बातों का प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार की रचनाओं में बाबाधरणीदास (१६ वीं सदी) की 'प्रेमप्रगास' तथा संत दुख-हरण की 'पुहुपावती' की गणना की जा सकती है। जो अभी तक प्रकाशित नहीं हैं।

धार्मिक स्थिति :

मानव समाज के विकास में धर्म की आवश्यकता बहुत पीछे ज्ञात हुई। आरम्भिक काल में जब मानव भ्रमणशील था जीविका एवं जीवनधारण के लिये जब वह स्थान परिवर्तन करना आवश्यक समझता था, जब मनुष्य में धनी निर्धन का भेद न हुआ था उस समय उसे धर्म की आवश्यकता नहीं ज्ञात हुई थी। वेदों के प्राचीन देवता मानव की आवश्यकता-तुष्टि के साधन हैं। वे वरुण की उपासना इसलिये करते थे कि वह कृषि के हेतु जल देता है तथा सूर्य की गर्मी उन्हें जीवन देती है; किन्तु धीरे धीरे प्रकृति के इन भिन्न स्वरूपों के मध्य एक सर्वशक्तिमान परमेश्वर की भावना ने और फिर क्रमश: सर्वशक्तिमान ईश्वर की कल्पना ने जन्म लिया। गुप्तों के राज्यकाल में विष्णु का महत्व अत्यधिक बढ़ गया था यद्यपि बौद्ध और जैन धर्मों ने सृष्टिकर्ता सर्वशक्तिमान की सत्ता पर विचार करना अव्याकृत समझा। ईसवी पूर्व पहली दूसरी शताब्दी में इन बौद्धों की उदार प्रवृत्ति के कारण यवन शक आभीर, गुर्जर आदि जातियों को हिन्दू समाज आत्मसात कर सका जबकि ब्राह्मण अभी इन्हें 'म्लेच्छ' ही समझ रहे थे। कालान्तर में इन्हीं ब्राह्मणों ने इन्हें आबू के अग्निकुण्ड से उत्पन्न क्षत्रिय घोषित कर समाज में सम्मानीय स्थान दिया और सामन्तकालीन भारत पर चिरकाल के लिये ब्राह्मणों का प्रभाव हो गया।

---

1. परशुराम चतुर्वेदी : सूफ़ी काव्य संग्रह।

वैष्णव धर्म :

वैष्णव धर्म के उद्भव तथा विकास के कारण एवं परिस्थितियाँ अनुमानों पर आधारित हैं। वैदिक काल में विष्णु की गणना प्रथम श्रेणी के देवताओं में नहीं है। वे सौर शक्ति के रूप में माने गये हैं यद्यपि वैदिक विष्णु और वैष्णव मत में मान्य विष्णु में पूर्ण साम्य नहीं है तथापि विष्णु की संरक्षण एवं व्याप्ति की भावना को जो प्राधान्य पहले था उसी का पल्लवित रूप वैष्णव धर्म में उपलब्ध है।

गुप्तकाल में वैष्णव धर्म का अत्यधिक प्रभाव रहा। प्रायः सभी गुप्त सम्राट 'परम भागवत' के विरुद से विभूषित वैष्णव थे। शक्ति सम्पन्न समाज में सर्वाधिक पूजित उच्चकोटि की देवशक्तियों का सामाहार विष्णु रूप में हो गया था। क्रमशः वैष्णव धर्म का प्रचार दक्षिण भारत में भी हुआ। डा० त्रिपाठी की स्थापना है कि उत्तरी भारत में हर्षवर्धन आदि की वैष्णव धर्म के प्रति उपेक्षा के कारण इसका वास्तविक विकास दक्षिण भारत में हुआ।

दक्षिण के आडवार वैष्णव भक्ति के प्रमुख प्रचारकों में से हैं। विष्णु के विभिन्न स्वरूपों की उपासना इन्हें मान्य थी। वैष्णव धर्म का उत्तर विकास 'भक्ति मार्ग' के रूप में हुआ। भागवत के साथ ही नारद एवं शाण्डिल्य भक्ति सूत्रों का भक्त समाज में सम्मानपूर्ण स्थान है। भक्ति भावना का प्रचार बहुत पहले से होने पर भी भक्ति को दृढ़ दार्शनिक आधार देने का श्रेय रामानुजाचार्य को ही है। रामानुजाचार्य के विचारानुसार ब्रह्म अद्वितीय तथा विशिष्ट पदार्थ है। जीव ईश्वर की भाँति ही नित्य है। विशिष्टाद्वैत में ईश्वर और जीव के सम्बन्ध को भिन्न भिन्न प्रकार से समझाने की चेष्टा की गई है। इन सम्बन्धों को अंश और अंशी, अवयव और अवयवी, गुण और गुणी के सम्बन्ध द्वारा स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। रामानुजाचार्य के अनुसार ईश्वर का निरन्तर स्मरण ही यथार्थ ज्ञान है। इन्हीं के शिष्य स्वामी रामानन्द ने भक्ति का क्षेत्र और अधिक व्यापक तथा उदार कर दिया। यामुनाचार्य की शिष्य परम्परा ने भक्ति का अधिकाधिक प्रसार किया। दक्षिण में आविर्भूत हुई भक्ति भावना मध्यकाल में उत्तरी भारत में पूर्ण रूप से व्याप्त हो गई। पद्मपुराण के अनुसार भक्ति का जन्म द्रविड़ देश में, वृद्धि कर्नाटक में, कुछ काल तक महाराष्ट्र प्रदेश में स्थिति तथा गुर्जर प्रान्त में जीर्णत्व प्राप्त हुआ।

उत्पन्ना द्राविड़े चाहं कर्णाटे वृद्धिमागता।
स्थिता किञ्चिन्महाराष्ट्रे गुर्ज्जरे जीर्णतांगता[1] ॥

भक्ति ने समाज में प्रत्येक वर्ग तथा वर्ण के व्यक्ति की महत्ता स्थापित करने का प्रयास किया। उत्तरीय भागवत एवं वैष्णव धर्म का भक्ति सामञ्जस्य नारदीय भक्ति का स्वरूप निर्माता है। दक्षिण का भक्ति आन्दोलन उत्तरीय वैष्णव धर्म का नवीन संस्कार है। मध्यकालीन भक्ति भावना के दो स्वरूप परिलक्षित होते हैं। (१) शास्त्र सम्मत वैधी

---

१. आचार्य क्षितिमोहन सेन : संस्कृति संगम।

शाखा जो परम्परागत वैष्णव भावना पर पूर्ण दृढ़ थी। (२) शास्त्र विरोधी धारा जो प्राचीन परम्परा का अनुगमन करती कभी योग और कभी ज्ञान के साथ सम्बद्ध होती रही।

मध्यकालीन जैन एवं बौद्धधर्म :

बौद्ध धर्म की भांति जैन धर्म अपनी पृथक सत्ता बहुत दिन तक नहीं रख सका। सामंत वर्ग स्वभाव से युद्धप्रिय था, अतः उसकी छत्रछाया में जैन धर्म पल्लवित न हो सका। इन सामन्तों में से केवल राष्ट्रकूट एवं सोलंकियों का अनुराग जैनधर्म पर था। वैश्य जैन धर्म पालन में तत्पर थे किन्तु उनके लाभ-लोभ ने इसमें बाधा उपस्थित की। 'व्यापारे वसति लक्ष्मी' के सिद्धांतानुसार ये जैन वैश्य लक्ष्मीपति बन गये। सर्वत्यागी जैन धर्म के 'देवलवाड़ा' जैसे मन्दिर सोने और हीरे के जड़ाव से चमकने लगे। जैन धर्म धीरे-धीरे जनवास छोड़, बस्ती वास करने लगा। जाति-पांति का भेद-भाव बढ़ा, रोटी बेटी का निषेध आरम्भ हुआ और महावीर के साथ परमेश्वर की भावना का योग हो गया। भूत-प्रेत, जादू-मन्तर, देवी-देवताओं की स्थापना हुई। वाममार्ग की भांति जैन धर्म में भी चक्रेश्वरी देवी की स्थापना हुई। निर्वाण कामिनी के गीत गाये जाने लगे और जैन धर्म अपने मूलस्वरूप से इतना पृथक और ब्राह्मण धर्म से इतना अधिक प्रभावित हो गया कि उसकी पृथक चर्चा करना व्यर्थ होगी। मध्यकालीन समाज पर भी जैन धर्म का विशेष प्रभाव न था।

बौद्ध धर्म अपने संस्थापक की मृत्यु के बाद ही कई शाखाओं में विभाजित हो गया था। गुप्तकालीन पौराणिक धर्मोत्थान के कारण बौद्ध धर्म के प्रसार एवं विकास में बाधा पड़ी। ह्वेनसांग की यात्रा के समय पंजाब एवं बंगाल प्रदेश पर बौद्ध धर्म का प्रभाव था। बौद्ध धर्म के अन्तर्गत परस्पर विरोधी १८ दलों का उल्लेख उसने किया है। अपने इसी बिखरे स्वरूप के साथ बौद्ध धर्म की अवस्थिति मध्यकाल में थी।

बौद्ध धर्म के इस उत्तरकाल में तन्त्र की प्रधानता है। बौद्ध धर्म के तान्त्रिक विकास ने इसे नवीन स्वरूप प्रदान किया। महायान के अंतर्गत काल चक्रयान, बज्रयान, सहजयान और मन्त्र-यान आदि की स्थापना हुई।

कालचक्रयान के अनुसार, लौकिक दृष्टि से प्रत्येक वस्तु त्रिकाल की सीमा से बाधित है। भूत, भविष्य और वर्तमान के वशीभूत यह सारा संसार है। कालचक्र से मुक्ति लाभ करने के हेतु ही सम्भवतः 'कालचक्रयान' की उद्भावना हुई हो।

वज्रयान में शून्यता को 'दृढ़' मान्यता मिली। शून्यता ही वज्र के समान दृढ़, अपरिवर्तनशील, अच्छेद्य, अमोघ, अदाही और अविनाशी है। शून्यता की स्थिति महासुख की स्थिति है और इस स्थिति के सम्यक् स्पष्टीकरण एवं व्यक्तीकरण के लिये 'युगनद्ध' के स्वरूप की कल्पना की गई। बज्रयान की साधना में रहस्य का समावेश था। इस शाखा का विशेष प्रचार पालवंशीय राजाओं के शासनकाल में बिहार और बङ्गाल में हुआ।

मध्यकालीन भारत में ब्राह्मण धर्म का प्राधान्य था, बौद्ध धर्म का विशेष प्रभाव समाज पर नहीं था। बौद्ध सङ्घों का जनता को प्रभावित करने का प्रयास चल रहा था। इसी हेतु सम्भवत: उन्होंने बौद्ध धर्म में भी ब्रह्मचर्य और भिक्षु जीवन पर बहुत जोर दिया जिसकी प्रतिक्रिया स्वरूप सहजयान ऐसे गुह्य समाजों की स्थापना हुई।

वज्रयान का उत्तर विकास सहजयान के रूप में हुआ। सहजयान न देवी-देवताओं की स्थिति मानता है, और न मन्त्रमुद्रा, पूजा आचार एवं अनुष्ठान को ही स्वीकार करता है। काया-कष्ट को भी सहजयानी स्वीकार नहीं करता। सहजयानियों के जीवन का लक्ष्य सहजसुख की प्राप्ति है जिसमें सांसारिक मायाजनित ममता मोह के बन्धन टूट जाते हैं और शून्यता की प्राप्ति होती है।

सरहपा ऐसे सहजयानियों ने यद्यपि भोगस्वातंत्र्य को अस्वाभाविकता तक नहीं ले जाना चाहा था किन्तु कालान्तर में विकृत होकर उसकी गति भी पाखण्डवाद की ओर हो गई।

अपने इसी विकृत एवं ध्वस्त स्वरूप को लेकर बौद्ध धर्म की स्थिति उस समय थी, जिसका विशेष प्रभाव समाज पर नहीं पड़ सका और यही कारण है कि सूफ़ी साहित्य में भी इस प्रभाव के संकेत नहीं के बराबर मिलते हैं।

शैव मत :

शिव की उपासना की प्रामाणिकता सैन्धव-सभ्यता के काल से मानी जाती है, यद्यपि शिव के वैदिक एवं अवैदिक रूप को लेकर बहुत मतभेद है। श्वेताश्वर उपनिषद में शिव परमेश्वर रूप में प्रतिष्ठित हैं। महाभारत में शैव मत का उल्लेख है। कुषाण वंशीय नृपति शिवोपासक थे, एवं नागवंशीय सम्राट 'भारशिव' की उपाधि धारण करते थे, हर्ष चरित में शिव की चर्चा प्रमुख देवों के रूप में की गई है। राष्ट्रकूट नृपतियों ने दक्षिण में शैव मत के प्रचार में प्रचुर योग दिया। वामन-पुराण शैव मत में चार सम्प्रदायों की स्थापना करता है—शैव, पाशुपत, कालदमन और कापालिक। ये ही चार प्रधान शैव सम्प्रदाय हैं। दक्षिण में कर्नाटक प्रदेश के वीर शैवमतानुयायियों को लिंगायत कहते हैं। ये गले में शिवलिंग को लटकाये रहते थे, वैसे ही भारशिव शिव की मूर्ति को पीठ पर खुदवाये रहते थे।

शैव सिद्धान्तों के अनुसार परमतत्व शिव ही है। यह परमतत्व अनादि, शाश्वत, अनन्त और शुद्ध सच्चिदानन्द है। इस संसार के सारे प्राणी पाशबद्ध होने के कारण पशु हैं, केवल एक शिव ही मुक्त हैं तथा सांसारिक जीवों के स्वामी हैं। गुरु की कृपा के बिना जीव को मुक्ति प्राप्ति असंभव है।

मध्यकाल में शैवों का वस्तुत: नाथ सम्प्रदायी स्वरूप प्रधान रहा। सिद्ध मत या योग सम्प्रदाय के अतिरिक्त, कालामुख और कापालिक मत भी शैव मत के भयंकर रूप

हैं। कापालिकों की साधना अत्यन्त भयानक तथा वीभत्स होती रही है। सुरा सेवन, मानवबलि, शव-साधना आदि इसके मुख्य अंग रहे हैं।

शक्ति की पूजा को प्राधान्य देने वाले शक्ति-मत का प्रभाव भी मध्यकाल में अधिक था। इस मत में नाथ और बिन्दु का विशेष महत्व है। जीवन्मुक्त की कल्पना शैवमत में भी की गई है। जीवन्मुक्त वह है जो विरोधी भावनाओं के ऊपर उठ चुका है, जिसके मन में कोई संकल्प नहीं रहता, न वह कुछ जानता और न समझता है केवल काष्ठवत पड़ा रहता है। कुलार्णव तन्त्र में शैवों के सिद्धान्तों का उल्लेख मिलता है।

ह्रासोन्मुख बौद्ध धर्म का मध्यकालीन तन्त्र मत से संयोग हो गया, मध्यकाल में शाक्त मत वामाचार के नाम पर नृशंस व्यापार चल रहे थे। जादू टोना, तंतर-मंतर, भूत प्रेत की उपासना शक्ति के प्रतिरूप समझ कर की जा रही थी। भैरवीचक्र की स्थापना ने सदाचार को बहुत हानि पहुँचाई और अति रहस्य के समावेश से नाथ सम्प्रदाय के महत्व का स्खलन आरम्भ हो गया।

नाथ सम्प्रदाय :

उत्तरी भारत के पश्चिमी प्रदेशों में नाथ सम्प्रदाय का अत्यधिक प्रभाव था। गुरु गोरखनाथ ही इस सम्प्रदाय के वास्तविक प्रचारक हैं। इनका जीवन-काल अभी पूर्णतया निर्धारित नहीं हो पाया है, यद्यपि इनके गुरु मत्स्येन्द्र नाथ का भी उल्लेख प्राप्त होता है किन्तु योगसाधना में अपने गुरु को भी शिक्षा देने वाले गोरखनाथ को ही इस संप्रदाय का वास्तविक प्रवर्तक मानना चाहिये। गोरखनाथ की साधना में अद्वैतवाद और योग की साधना का समन्वय ज्ञात होता है। तुलसीदास जी ने सम्भवत: इनकी इसी साधना के स्वरूप की ओर लक्ष्य करके इन्हें योग को जगाकर भक्ति को दूर भगाने वाला कहा है।

गोरखनाथ का काल कई दृष्टियों से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। मुसलमानी धर्म प्रवेश एवं बौद्ध धर्म के उत्तरविकास की अवस्था में, शैव एवं शाक्त मतों की विभिन्नता के कारण विषम परिस्थिति उत्पन्न होगई थी। गोरखनाथ ने विभिन्न योगपरक सम्प्रदायों का विशाल संगठन किया। नाथ सम्प्रदाय साधना प्रधान धर्म-साधना है जिसका परमकाम्य है कैवल्यावस्था वाली सहज समाधि की प्राप्ति। यह सब गुरु की कृपा से सम्भव है, वेदपाठ, ज्ञान या वैराग्य से नहीं।

गोरखबानी में गोरखपंथ के उत्तर विकास के पर्याप्त संकेत मिलते हैं जिसमें, ब्रह्मरन्ध्र में ध्यान केन्द्रित करने, निराकार की उपासना, अजपा जाप तथा आत्मतत्व चिन्तन का महत्व प्रदर्शित किया गया है। निरन्तर सच्चे हृदय से ब्रह्मस्मरण ही एक मात्र जीवनोद्देश्य है, इसी के द्वारा परमनिधान् ब्रह्मपद उपलब्ध होता है।

मध्यकाल में नाथ सम्प्रदाय में दीक्षित व्यक्तियों को जोगी, अवधूत या रावल कहते थे। सम्प्रदाय की दृष्टि से बहुत सम्भव है इनमें भिन्नता रही हो किन्तु जिस रूप

में ये अधिक परिचित थे वह इनका योगी स्वरूप था। सूरदास ने ऊधो के माध्यम से, अवधू की योग साधना पर सगुण उपासना की प्रतिष्ठा का प्रयास किया है। कबीर के काव्य में भी इन योगियों का परिचय मिलता है। सूफ़ी काव्य में तो इन सिद्ध जोगी और अवधूतों का प्रचुर परिचय है। कहीं ये सूफ़ी इनकी योग साधनाओं से प्रभावित होते हैं और कहीं उनकी ओर लक्ष्य करके ही रह जाते हैं। जायसी के अनुसार गोरखपंथी सिद्ध गोरख गोरख की रट लगाते थे, ये हाथ में किंगरी, कान में कुंडल, गले में रुद्राक्ष की माला, हाथ में कमंडल, कंधे पर व्याघ्रचर्म, पैरो में खड़ाऊं धारण करते थे तथा मेखला, सिंगी, चक्र, धंधारी छत्र और खप्पर रखते थे। इनका वस्त्र लाल या गेरुये रंग का होता था। अधिकांश प्रेमाख्यानों के नायक इसी प्रकार की वेशभूषा से सज्जित होकर योग धारण करके लक्ष्य सिद्धि के लिये प्रस्थान करते हैं।

सूफ़ी प्रेमाख्यानों की पृष्ठभूमि स्वरूप धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, एवं साहित्यिक परिस्थिति ऐसी ही थी। सूफ़ी कवि उदार हृदय के थे, अतः उनके प्रेमाख्यानों में धार्मिक कट्टरता के दर्शन कम होते हैं। तत्कालीन प्रचलित धार्मिक सम्प्रदायों का प्रभाव उन पर स्पष्ट देख पड़ता है। प्रत्येक सूफ़ी प्रेमाख्यान में महेश या शिव की प्रतिष्ठा है। शक्ति पूजा का परिचय भी 'खप्पर' भराने की क्रिया में लक्षित होता है। वैष्णव भक्ति का प्रभाव सूफ़ी प्रेम-पद्धति पर पड़ा था। अहिंसा के वे पक्षपाती थे एवं हृदय की शुद्धि पर कर्मकाण्ड की अपेक्षा अधिक विश्वास करते थे। नाथ पन्थियों का प्रभाव उनकी योग साधना में मिलता है। साधक को शारीरिक कष्ट सहन करने के उपरान्त सिद्धि प्राप्ति होना इन प्रेमाख्यानों में सर्वत्र लक्षित है। जिस रूप में नायक अपने घर से प्रस्थान करता है, वह नाथ पंथी योगियों की ही वेश भूषा है। इन सूफ़ी कवियों के काव्य में विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों का वर्णन मिल जाता है। कासिमशाह एवं अली मुराद ने स्पष्ट रूप से भिन्न प्रकार के योगियों की चर्चा की है। एक बात विशेष रूप से लक्ष्य करने की यह है कि आरम्भिक सूफ़ी काव्य में जिस धार्मिक उदारता के दर्शन होते हैं, उसका क्रमशः बाद के कुछ सूफ़ियों में अभाव है। कवि नूरमुहम्मद ने स्पष्टरूप से अपनी कट्टरता की घोषणा की है जब कि कवि निसार ने शामी कथानक चयन में अपनी इस प्रवृत्ति का परिचय दिया है।

रहन सहन के ढंग, उत्सव एवं त्योहारों का वर्णन भी इन प्रेमाख्यानों में बड़ा सजीव है। सामाजिक परम्परायें, पारिवारिक सम्बन्ध, विभिन्न संस्कारों आदि का वर्णन इन प्रेमाख्यानों में प्रचुर है। अली मुराद ने दर्बारी शिष्टाचारों का भी विशेष ध्यान रक्खा है। समाज में ब्राह्मणों एवं पुरोहितों के विशेष स्थान की चर्चा है। तात्पर्य यह कि सामाजिक एवं सांस्कृतिक परम्पराओं से इन कवियों का पूर्ण सम्पर्क था। साहित्यिक क्षेत्र में इन कवियों को अपभ्रंश की प्रेमाख्यान परम्परा उपलब्ध हुई थी, जिनकी कुछ रूढ़ियों का यथा तथ्य पालन हुआ है; साथ ही नाथ एवं सिद्ध साहित्य का प्रभाव भी इनके अलख, निरंजन एवं सिंहलगढ़ में दीख पड़ता है। विरह की अनुभूतियों की मार्मिक व्यञ्जना, संदेश प्रेषण की प्राचीन पद्धति भी इनमें सजीव है। साहित्यिक युगों के अनुसार

भक्ति काल के अन्तर्गत आनेवाले सूफी प्रेमाख्यानों, मधुमालत चित्रावली आदि में, भावात्मक चित्रण अधिक हैं जब कि रीतिकालीन वातावरण के मध्य पाई जाने वाली जान कवि की रचनाओं में ऐन्द्रियकता अधिक है। प्रेम एवं विलास के चित्रण अधिक सफल हैं। आधुनिक युग की परिधि में आने वाले शेख रहीम के काव्य में शुद्ध प्रेम पर आधारित दया एवं सत्य का अधिक महत्व है। उसमें जाग्रति का शुभ संदेश है, अतः निश्चय पूर्वक यह कहा जा सकता है कि हिन्दी का सूफ़ी साहित्य अपनी समकालीन परिस्थितियों के प्रति पूर्ण जागरुक है। कहीं कहीं परिस्थितियों का उस पर स्पष्ट प्रभाव है और कहीं कहीं यह उनसे पृथक एक आदर्श की स्थापना भी करता है जैसा कि हमें 'भाषा प्रेमरस' में स्पष्ट देख पड़ता है, यद्यपि उसके कुछ ही आगे पीछे लिखे जानेवाले ग्रंथों, 'यूसुफ जुलेखा' एवं 'प्रेम दर्पण' में यह धार्मिक उदारता अधिक स्पष्ट नहीं है।

७

सूफ़ियों की लोक-दृष्टि

यह सर्वमान्य है कि सूफ़ियों ने कथाव्याज से अपने प्रेम सिद्धान्त का प्रचार किया है और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उन्होंने जिस कथा को चुना उसका सम्बन्ध राजपरिवारों से था, जिसमें प्रेमपीड़ित राजकुमार एवं परम सौन्दर्य की प्रतीक राजकुमारी की प्रेम-चर्चा ही प्रधान है; राजकुमार एवं राजकुमारी के सम्पूर्ण जीवन का दृश्य सम्मुख उपस्थित करने में इन सूफ़ी कवियों को लोकरीति एवं नीति, लोकविश्वास एवं अन्य विश्वास के ऐसे स्थल मिलते रहे जो तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों, विश्वासों और रीतिरिवाजों का सच्चा चित्र उपस्थित करते हैं। सूफ़ी कवियों की लोकदृष्टि इतनी सजग थी कि इन्होंने राजपरिवार के मध्य भी साधारण जीवन की झांकी देखी है।

भारतीय समाज में सबसे दृढ़ कड़ी ग्राहस्थ्य जीवन है। भारतीय समाज की महत्वपूर्ण इकाई सम्मिलित परिवार है जहां व्यक्ति को अनेक सम्बन्ध एक साथ ही सुचारुता से सम्पादित करने पड़ते हैं। हिन्दी के इन सूफ़ी कवियों में भारतीय ग्राहस्थ्य जीवन की झांकी जिस रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित है वह अत्यन्त स्वाभाविक है। मध्यकालीन योरोपीय रोमांसों में वर्णित 'प्रेम' की भांति सूफ़ी काव्य के अन्तर्गत वर्णित प्रेम-तत्व वासनात्मक नहीं है। वैवाहिक सम्बन्ध केवल शारीरिक सुख पूर्ति का साधन मात्र नहीं है। उसकी अनिवार्यता एवं उपयोगिता के साथ ही उसकी मर्यादा भी उन्हें मान्य है। हिन्दी के सूफ़ी काव्य में कहीं भी सामाजिक मर्यादा के विरुद्ध प्रेम की व्यञ्जना नहीं है। किसी भी नायक का सम्बन्ध पर-स्त्री से नहीं होता। प्रेम की दृढ़ता एवं एकनिष्ठता का दर्शन इन काव्यों में प्रखरता से होता है। जहाँ कहीं भी नायक का परिचय अभीष्ट नायिका के अतिरिक्त किसी सुन्दरी से होता है, वह स्वभावानुसार या तो उसे निरस्कृत कर देता है या 'बहिन' कहकर सहानुभूति प्रदर्शित करता एवं आजीवन उस सम्बन्ध की पवित्रता को निबाहता है। मञ्झन कृत मधुमालती में मधुकर 'प्रेमा' से बहन कहता है, एवं जान कवि रचित 'पुष्पबरषा' में नायक पुरुषोत्तम ने 'निरमल दे' से बहन कहकर विश्राम प्राप्त किया। लगभग सभी आख्यानों में नायक नायिका के प्रेम का परिस्कृत

स्वरूप ही देखने को मिलता है, जान कवि रचित 'रूपमञ्जरी' में रूपमञ्जरी अतिशय प्रेम के कारण नायक ग्यानसिंघ के साथ पितृगृह से भाग आई थी, अन्यथा सभी प्रबन्धों में नायक नायिका का सम्बन्ध विवाह संस्कार सम्पादित हो जाने पर ही होता है। पति की एक से अधिक पत्नियों की भावना प्राचीन है। इन प्रबन्ध काव्यों में भी नायक की दो पत्नियों की चर्चा तो अवश्य मिलती है, किन्तु जान कवि की 'कथाकलावती' में नायक पुरन्दर आठ विवाह कर चुकने के बाद कलावती के लिये व्यग्र हो उठा था। नायक के पिता के वर्णन में अधिकांश उसके अन्तःपुर की चर्चा मुगल बादशाहों के हरम की भांति ही की जाती है।

बहु विवाह प्रथा के होते हुये भी कहीं भी सौतिया डाह, जलन और वैमनस्य की चर्चा अधिक नहीं मिलती। जायसी में अवश्य इसका उल्लेख है। 'इन्द्रावती' में, 'सुन्दर' और 'इन्द्रावती' के जीवन को अत्यन्त आनन्दमय, क्रीड़ामय प्रदर्शित किया गया है। पति की श्रेष्ठता पत्नियों को सदैव मान्य है। पत्नी अपना पृथक अस्तित्व न रखकर केवल उसी की, या उसी के लिये हो जाना चाहती है। पत्नी की इसी अभिलाषा का उत्कर्ष उन स्थलों पर द्रष्टव्य है जहाँ वह अपना अस्तित्व मिटाकर एक स्थल पर उसकी चरण चुम्बित रज और दूसरे स्थल पर अधर चुम्बित प्याला होना चाहती है[1] इन प्रेम प्रबन्धों में गणिका के प्रेम का उल्लेख नहीं के तुल्य आया है। 'इन्द्रावती' की प्रासङ्गिक कथा के अन्तर्गत 'रम्भा' नामक गणिका का उल्लेख हुआ है, किन्तु उसके प्रेम की उच्चता दर्शनीय है, वह राजा हंसराज के उसका प्रेम मांगने पर उन्हें भली प्रकार समझाकर, अपनी स्वामिनी 'चन्द्रवदन' की प्रशंसा करती है और राजा से पुरस्कार स्वरूप मोतियों की माला लेकर स्वदेश प्रस्थान करती है। इसमें कहीं भी वासना एवं स्वार्थ की गन्ध नहीं मिलती।

पातिव्रत धर्म, स्त्री सुलभ लज्जा, शील एवं सती महत्व की चर्चा भी इन प्रबन्धों में अधिक है। सभी दुखान्त प्रबन्ध सती होने की घटना पर समाप्त होते हैं। कवि ऐसे स्थलों पर सती की महानता, निस्पृहता एवं एकनिष्ठता की सराहना करते हैं। नूरमुहम्मद ने सती की एक समाधि का परिचय 'इन्द्रावती' काव्य के अन्तर्गत किया है, जिस पर नायिका इन्द्रावती ने अत्यन्त गम्भीर हृदय से श्रद्धाञ्जलि अर्पित की।

पातिव्रत धर्म के अन्तर्गत कवियों ने प्रेम से पति की सेवा करना, सौतों से ईर्ष्या न करना, स्वयं को दुःख देकर स्वामी को सुखी रखना, स्वामी के लिये शृङ्गार करना, उसकी

---

1. यह तन जारों छार कै, कहौं कि पवन उड़ाव।
   मकु तेहि मारग उड़ि परै, कंत धरैं जहं पांव॥

   पदमावत : जायसी।

   माटी होऊं छार होय, कबहुं लेइ कोहार।
   गढ़ें पियाला लै अधर, लावैं कंत हमार॥

   नूरमुहम्मद : अनुराग बाँसुरी।

अनुपस्थिति में श्रृङ्गार न करना, मन्त्रों-जन्त्रों से पति को वशीभूत करने का उपाय न करना, दूतियों से बचकर रहना तथा पति के अभाव में जीवन त्याग कर देना आदि पातिव्रत धर्म के विभिन्न अंगों का वर्णन किया है [1]।

लोक लज्जा एवं शील की चर्चा भी इन कवियों ने की है। नारी का सौन्दर्य वास्तव में उसकी सहज लज्जा ही है। स्वामी का प्रिय होना ही सौन्दर्य की कसौटी है [2]। लज्जा से हीन व्यक्ति पशुतुल्य है, नारियों के लिये लज्जा का अधिक महत्व है। धीरे चलना, जोर से न बोलना, अवगुण्ठन डाले रहना, दृष्टि नीची रखना आदि स्त्री लज्जा के उपांग है [3]।

---

१. औं चित लाइ करब पिउ सेवा, एक पीउ दोउ जग सुत देवा।
मंत्र तंत्र साधब जनि कोई, सेवा एक पीउ बस होई।
जो बस होई तो गरब न करिये, आपु अधीन होइ मन हरिये।

सौतिन कर इरषा नहिं करना, साईं संग सदा जिय डरना।
अलप मान सेवा अधिक, रिसि राखब जिउ मारि।
जेहि घर मंह ये तीन गुन, सोइ सोहागिन नारि॥

उसमान : चित्रावली पृ० २२३-२४।

दूता कंह संचरे नहिं देई, औ दूती को सिख न लेई।

नूरमुहम्मद : इन्द्रावती।

धन सो धन जेहि विरह वियोगू, प्रीतम लागि तजै सुख भोगू॥

शेखनबी : ज्ञानदीप।

२. जाके घर में होइ सत, पति सो हित ठहराइ।
शील बिना कवि जान कहि, घर घर रूप बिकाइ॥

तथा

का एहि तनहि सरैहै दारा, जौं न पियहिं घेरे मों डारा।
मम मूरति को आदर गयऊ, प्रीतम पूजन हार न भयऊ॥

नूरमुहम्मद : अनुराग बाँसुरी।

३. लाज नहीं जेहि आँखिन माहीं, है बह पशु, है मानुष नाहीं।
घूंघट पहिर लाज यह आही, पशु कहं धीमें राखब चाही॥
औ धन ऊंची सबद न बोले, सुनत बिराने को मन डोले।
औवे नयन लाज सों कीजै, औ मुख ऊपर घूंघट कीजै।
हो प्यारी जब पहिरहु गहना, पुरुष बिराने सो छिप रहना॥

नूरमुहम्मद : इन्द्रावती पृ० ४०।

नारी का महत्व उसकी सामाजिक जीवन में उपयोगिता का परिचायक है। नारी के सहयोग के बिना गृहस्थ जीवन निराधार है [१]। बिना विवाह संस्कार के पितृऋण से मुक्ति नहीं हो सकती, संसार में अपनी परम्परा बनाये रखने के लिये संतान का होना अनिवार्य है [२]। इस प्रकार मध्यकालीन योरोपीय रोमांस-साहित्य की भांति सूफ़ी साहित्य में नारी की कल्पना केवल विलास या उपभोग के साधनों के रूप में नहीं हुई है, उसके जननी रूप की चर्चा भी यथेष्ट है।

प्रेम के लोक-पक्ष में इन कवियों ने जिन वैयक्तिक, पारिवारिक एवं सामाजिक प्रेम सम्बन्धों का वर्णन किया है, वह इस बात की पुष्टि करता है कि इन कवियों ने समाज के द्वारा निर्धारित मर्यादा, नीति एवं आचरण का उल्लंघन नहीं किया है। उसमें प्रेम की स्वच्छन्दता के साथ ही कर्तव्य भावना का भी सामञ्जस्य है।

नारी की सती रूप में, सौन्दर्य-मय परमसत्ता के प्रतिनिधि रूप में, एवं कुलवन्ती और मतवन्ती रूप में प्रतिष्ठा होते हुये भी उसके सामाजिक स्तर में विशेष अन्तर नहीं दिखाई पड़ता। कवि जान नारी जाति को ही अच्छा नहीं समझता क्योंकि इनके कारण पुरुष के सम्मान को डर रहता है। यदि नारी किसी भी प्रकार से अपने 'सील' की रक्षा न करे, तो पुरुष को चाहिये कि उसे ताड़ना देने में शिथिल न रहे [3]।

नारी का शील गृह की सीमा में ही सुरक्षित था। वही नारी कुलवन्ती एवं 'लजवन्ती' है जो घर से बाहर न जाय, घर छोड़ बाहर जाते ही उसकी मर्यादा, शील, लज्जा ऐसे सभी सद्गुण नष्ट हो जाते हैं। अतः उसे अपने को घर की चहारदीवारी तक ही सीमित रखना चाहिये [४]।

इतना सब होते हुये भी नारियों की क्षमता का प्रदर्शन भी इन प्रेककाव्यों में अच्छा हुआ है। नारी शिक्षा का अधिकार सम्भवतः तब भी उन्हें था और साथ ही बहुत सम्भव

---

१. तीय बिन घर नाहिन बनै ज्यों मोती बिन सीप।

२. ब्याह बिना संतान न होई, मुये नांव न लैहें कोई।

कवि जान : कथा छविसागर

३. भली नहीं मिहरी की जाति, जब तब इनसे पानिउ जात।
जो तिय अपनो खोवै सील, मारहु ताकि न लावहु ढील।

जान कवि : कथा छवि सागर।

४. दारा लजवन्ती जो होई, रहे सलज मन्दिर मां सोई।

नूरमुहम्मद : अनुराग बांसुरी पृ० १२९।

तब लग तिरिया नीके अहई, जब लग मन्दिर भीतर रहई।
जब मन्दिर सों बाहर कढ़ई, कुल की लाज खोय सब गई।

कवि जान।

है कि सहशिक्षा भी उस समय रही हो, क्योंकि नायक नायिका के प्रेम का आरम्भ कई प्रेमाख्यानों में सहपाठी होने के कारण हुआ है। साधारण शिक्षा तक ही स्त्रियों की शिक्षा सीमित न थी, वे पुरुषों के बराबर ही बुद्धि विकास में अग्रसर होती थीं। राजा ज्ञानदीप को रानी देवजानी के प्रति तभी आकर्षण हुआ, जब उसने अपना पाण्डित्य प्रदर्शन किया क्योंकि दो पण्डितों के मिलने से आनन्द उत्पन्न होता है [1]। उस समय उच्च शिक्षा का मापदंड पिंगल,व्याकरण नाट्यशास्त्र एवं पुराणों का ज्ञान था, इसके अतिरिक्त उन्हें संगीत एवं कवित्व शक्ति के बारे में भी पूरी जानकारीहोनी चाहिए थी और शिक्षा के इस स्वरूप से नारी या पुरुष दोनों ही परिचित होते थे। 'रूपमंजरी' एवं 'परषोत्तम' ऐसे नायिका नायक का इस शिक्षा में अच्छा प्रवेश था [2]। लगभग सभी कवियों ने अपनी नायिका को तो अवश्य ही वेद पुराण में पारंगत प्रदर्शित किया है।

इतना सब होते हुये भी नारी का सम्मान नहीं था। उसे सदैव अपना सीस चरणों पर झुकाये रहना चाहिए था [3]। उसकी बुद्धि सदैव तुच्छ और हीन मानी जाती थी [4], नारी स्वभाव से ही तुच्छ बुद्धि वाली होती है, इस भावना की रक्षा इस सत्य के होते हुये भी की जाती थी कि कुछ प्रेम प्रबन्धों में नायिकायें नायक के बुद्धि विलास की परीक्षा कठिन पहेलियों एवं संकेतों के द्वारा करती थीं, जिसका बहुत पहले आभास हमें विद्योत्तमा एवं कालिदास के आख्यानों में मिलता है। कामलता एवं छविसागर दोनों ही नायिकाओं ने नायक की योग्यता की परीक्षा इसी आधार पर करनी चाही थी [5]। इसमें अधिकांश

---

१. ....संसकिरत महँ बोलेउ बोला।
पंडित पंडित मिलै जो कोई, बहुत सवाद बात कर होई॥
शेख नबी : ज्ञानदीप।

२. पिंगल अमर व्याकरन भरथु, सब ग्रंथन के भाखतु अरथु।
पिंगल पुनि व्याकरण बखानैं, कबहुँ भारथ अरथ सुख मानै।
कबहुँ नाद भेद प्रगटावहिं, कवितनि उतन करहि सुनावहिं॥
जान : रूप मंजरी।

३. ओहि रज आदर नित है रामा, चाहे सीस चरन के ठामा।
नूरमुहम्मद : अनुराग बाँसुरी।

४. कहिसि की भला कहे नर सोई, मेहरिन्ह जगत नेक बधि होई।
उसमान : चित्रावली पृ० २२१।

५. वनिता इक रतन पठायो, उनि ताके संग और मिलायो॥
तिया दइ सतरंज पठाई, उन चौपर दी संग मिलाई॥
कुवरि बजाई तब करतार, सुनत भयो तिय को पतियार॥
तब यों कह्यो सुता सुनि तात, बूझी मेरी सब इन बात॥
कवि जान : कथा कामलता की चौपाई।

नायक अयोग्य सिद्ध हुये[१]। इसके अतिरिक्त विवाह के पश्चात् प्रथम मिलन प्रसंग के अन्तर्गत भी लगभग सभी प्रबन्धों में नायक नायिका का जो वाणी-विलास दिखाया गया है उससे यह सिद्ध होता है कि स्त्री शिक्षा का अभाव न था।

कुमारी कन्याओं की स्थिति भी समाज में बड़ी दयनीय थी। वे अपने विचार व्यक्त करना चाहती थीं किन्तु भय एवं लोक लज्जा उन्हें आगे नहीं बढ़ने देती थी। विवाह के सम्बन्ध में लगभग सभी प्रबन्धों में नायिका अपनी स्वतन्त्र सम्मति देना चाहती है, अपनी इच्छानुसार ही पति-चयन करना चाहती है, किन्तु ऐसा दैवी संयोग से ही सम्भव हो पाता है। कवि जान रचित अधिकांश आख्यानों में इस तथ्य का परिचय मिलता है। 'हंस जवाहर' में जवाहिर भी बेमन के नायक से ब्याह करने की अपेक्षा मृत्यु श्रेष्ठ समझती है। 'प्रेम रस' में चन्द्रकला, प्रेमा के विरह में व्याकुल है और उसके लिये घर छोड़ने को भी तत्पर है। 'चित्रावली' भी मनचाहे वर को प्राप्त करना चाहती है। रानी 'देवजानी' तो 'ज्ञानदीप' को प्राप्त न कर पाने पर अग्निकुण्ड में कूद पड़ती है। इस स्वतन्त्र भावना का परिचय लगभग प्रत्येक प्रबन्ध में मिलता है, किन्तु उसमें विरोध की तीव्रता नहीं है। कन्या लज्जावश या मातापिता के सम्मान या मर्यादा के लिये इच्छा के प्रतिकूल कार्य होने पर जीवन त्याग की कल्पना करती है[२]।

माता पिता पुत्री के इस प्रकार स्वतन्त्र चुनाव को कुलकलंक समझते थे और उसके प्रेम की सूचना पाकर अपयश के भय से या तो उसे महल में बन्द कर देते थे या सम्भवतः किसी किसी अवस्था में प्राण दण्ड भी दे देते थे क्योंकि जवाहिर अपने प्रेम प्रसंग का अन्त इसी रूप में कल्पित करती है[३]। कन्या को केवल सुनने का अधिकार था अपना मत प्रकट करने का नहीं[४]।

---

१ सो छवि सागर ब्याहि है, करैं युक्तियां चारि।
प्रथम नामी होइ सुनाव, नाम लेत ही जान्यो जाव॥
दूजौ ऐसो ग्यान विचारे, असमलोह की मूरति मारे॥
तीजे ऐसी करिहै दौरि, जातें गढ़ की पावै पौरि॥
पाछे पूछैं केतक बात, ना समझै लों ज्यों ते जात॥
जान कवि : छवि सागर।

२. हौं सो बारी पिता घर, बोलत बचन लजाऊँ।
तब मैं बचों कलंक ते, प्राण कांप मर जाऊँ॥
कासिमशाह : हंस जवाहिर पृ० ४२।

३. पिता जो सुने मार जिउ डारै, माता सुने घोर बिष मारै॥
कासिमशाह : हंस जवाहिर पृ० २०६।

४. कन्या नांव मारि तें राखें. कान सुनै कछु रसन न भाखैं।
कवि जान : कथा कंवलवती।

कवि जान ने विवाह सम्बन्धी स्वतन्त्रता के पक्ष में अपनी नायिका से कहलाया भी है। विवाह जीवन में सुखोपभोग के हेतु किया जाता है और जीवन का सुख तभी प्राप्त हो सकता है जब दो सम स्वभाव वाले व्यक्तियों का मेल हो [१]। साथ ही भारतीय विवाह सूत्र अत्यन्त पवित्र एवं दृढ़ सम्बन्ध है, वह नित्य नया नहीं बदला जाता। यह गठबन्धन जीवनबन्धन होता है, अतः जब तक अपने समान ही गुण एवं बुद्धिशाली न प्राप्त हो, विवाह संस्कार सम्पन्न नहीं होना चाहिये [२]।

पुत्र के जन्म पर अधिक हर्ष होता है, कन्या के जन्म के साथ ही माता पिता की चिन्ता बढ़ जाती थी [३]। कन्या के जन्म पर हर्ष-प्रदर्शन का वर्णन नहीं हुआ है। वह रात्रि धन्य समझी जाती थी जिसमें पुत्र का जन्म होता था। माता भी पुत्र जन्म पर हर्षित होती है। धरती स्वर्ग सभी में उल्लास व्याप्त हो जाता है। सोहर एवं बधाई गाई जाती है [४]।

भारतीय हिन्दू जीवन के जन्म से लेकर मरण तक के कुछ संस्कारों का उल्लेख भी इन प्रबन्धों में मिलता है। जन्म होने पर ज्योतिषियों को बुलाकर नामकरण करवाना एवं जन्मपत्र बनवाने के संस्कार के वर्णन में कवि कहीं भी नहीं चूके हैं [५]। उसके बाद छठी के उत्सव एवं रात्रि जागरण का उल्लेख केवल शेखनबी ने किया है। पुत्रोत्पत्ति पर पिता उदार हृदय से दान पुण्य करके उत्सव की शोभा बढ़ाता था। उसके बाद किसी-किसी कवि ने 'विद्यारम्भ' संस्कार का भी वर्णन किया है। इन

---

१. ब्याह कीजिए सुख के कारन, ना आसैं चाहत हम मारन।

तथा

बायस बायस ही बनें पिक सौं कैसी जोर॥

२. कह्यो यहै निहचय कै जानौं, एक गाँठ सों फेर निभानो।
आप समान न पाऊँ जौलों, भूल ब्याह नहि करिहौं तौलौं॥
कवि जान : कथा कंवलावती।

३. जबते दुहिता ऊपनी सतत हिये उतपात।
निकसैं कांटा तबहि जब आंगन आउ बरात।
उसमान : चित्रावली पृ० १९६।

४. धनि वह रैन पुत्र की होई, धरती स्वर्ग हुलस सब कोई।
हुलस माय तेहि भये समाई, भा सुहयल और जान बधाई॥
कासिमशाह : हंसजवाहिर पृ० ११।

५. पंडित देश देश के धाये, पोथी काढ़ जनम दरशाये॥
कासिमशाह : हंसजवाहिर पृ० १२।

संस्कारों के अतिरिक्त जिस संस्कार का विस्तृत वर्णन मिलता है, वह विवाह है। विवाह के अन्तर्गत लगन बरात, अगवानी, मंडप, भांवर, सिन्दूर-दान, कोहबर, कंगन, भोज, दायज, विदा आदि क्रियाओं का विस्तृत उल्लेख मिलता है[1]। हंस-जवाहिर के रचयिता कासिम शाह ने कुछ मुसलमानी पद्धतियों का भी वर्णन किया है जैसे वर के यहाँ से कन्या के लिए लगन एवं वस्त्र आना तथा कन्या का माजे में रहना[2]। इसके साथ ही कवि ने विवाहसंस्कार की सम्पन्नता काजी से करवाई है। ससुराल का भय कन्याओं को सदैव सताता था। वे ससुराल नाम से ही शंकित हो जाती थीं; ससुराल ऐसा स्थान है जहाँ न तो परिचित स्थान ही होता है न मायके की सखी सहेलियाँ और न वह स्वच्छन्दता। ससुराल के भयों में सास और ननद प्रधान हैं। कवि उसमान सास और ननद के कटुव्यवहार को स्वर्ण परीक्षा के लिए संडासी और फुकनी की भांति आवश्यक समझते हैं[3]।

---

१. ब्याह का चरचा जग में छावा, घर घर बाजन लाग बधावा।
तेल पूज के चली बराता..................................।

शेख रहीम : प्रेमरस।

लगन धरी राजा जब, न्योत फिरा चहुँपास।
राग रंग घर घर सबै, दोउ दिशि भयो हुलास॥

दोउ दिशि बाजा अनन्द बधावा, जब राजा घर मांडव छावा॥

कासिम शाह : हंसजवाहिर पृ० ६७।

२. माडों छाइ सरग लइ लावा, एक खम्भ कस माडों छावा।
चांद सुरज तहँ धरा उरेही, उड़गन बंदनवार सनेही॥

वेदी सात सर्ग पर नवी चौदहो भाँति।
धूप धूप नग जोझेऊ, उपजे उत्तिम कान्ति॥

दुलहिन सिर पै सोहै मौरी, लोग ठगे जनु साह ठगौरी॥
दुलहिन करके दीन्ह सिधौरा, बांभन आइ पढ़ा गठ जौरा॥
मौरि टारि कुंवर कर लीन्हा, अति आनन्द सो सेन्दुर दीन्हा॥

शेखनबी : ज्ञानदीप।

३. दुहिता सोन अगिनि ससुरारा, सासु संडासी कन्त सोनारा।
दै सोहाग सब निसि दिनकेली, औटै सदन घरी महँ मेली॥
ननद नाल फूँकत निस रहई, सुलग हिया कोइला जिमि दहई।
घाउ बोल धन छिन छिन खाई, ठाउँ न छाड़ें जानि निहाई॥
तब तिरिया कुन्दन की नाई, भेटे अंक में भरि नग साई॥

उसमान : चित्रावली पृ० २२१।

ससुराल की अनिश्चितता उसके भय का कारण बनती है।[1] मायके की स्वच्छन्दता, सखियाँ एवं क्रीड़ास्थलों के वियोग का भी दुख कन्या को होता है[2]। ससुराल ऐसी भयावह जगह में नवागंतुका बधू का निर्वाह कैसे हो, उसके लिए कुछ गुण अपेक्षित हैं जिनकी चर्चा उसमान ने चित्रावली के अन्तर्गत की है। लज्जाशील रहना चुप रहना, पति सेवा करना आदि ऐसे ही उपाय हैं जिनसे ससुराल में प्रेम सहित निर्वाह हो सकता है। ननद या सास जो कुछ भी कहे उसे सह लेना चाहिए, प्रत्युतर नहीं देना चाहिये[3]।

वास्तव में बालिका के गुण एवं अवगुण का पता ससुराल में जाकर ही होता है, क्योंकि वहाँ उसके गुण दोषों की परीक्षा होती है। जो नारी मान नहीं करती, क्रोधित नहीं होती, और सदैव सेवा में तत्पर रहती है वह स्त्री इस संसार में सौभागिनी है[4]।

यद्यपि सुसराल के डर बहुत हैं किन्तु जो स्त्री गुणी एवं सती है उसे कोई भय नहीं[5]। बालिका जो कुछ गुण मायके में सीख लेती है उसी के अनुसार उसे ससुराल में सुख एवं दुख मिलता है। जो स्त्री पति की आज्ञा का अनुसरण करती है वही दोनों लोकों में यशवती होती है[6]। स्वयं को आकर्षक दिखाने के लिये उसे न तो बहुत अधिक बोलना चाहिये और न बिलकुल चुप ही रहना चाहिये। अधिक चिंता में नारी को

---

१. सुनत नांव ससुरारि को धड़कि उठा मम जीव।
सास ननद धौं कस मिलै, कैस मिलै धौं पीव॥
कासिमशाह : हंसजवाहर पृ० ३६।

२. सुनि इन्द्रावति सासुर नाऊँ, मन में सोच कीन्ह तेहि ठाऊँ।
कहा जाव निश्चय ससुरारी, नइहर तजब तजब फुलवारी।
नूरमुहम्मद : इन्द्रावती पृ० ४७।

३. ननदी औधर जो कहै, रिसि राखब जिय मारि।
परिछि सीस पर लेव नित, सामिन देइ जो गारि॥
उसमान : चित्रावली पृ० २१३।

४. अलप मान, सेवा अधिक, रिसि राखब जिव मारि।
जेहि धन महँ ये तीन गुन, सोई सोहागिनि नारि॥
उसमान : चित्रावली पृ० २२४।

५. करनी सती छोट बड़, सब किछु पूछे जाहिं।
सतवन्ती गुनवन्त पर. डर एकौ कुछ नाहि॥
नूरमुहम्मद : इन्द्रावती पृ० ४८।

६. धन गुन सीखे नइहरे सुख पावे ससुरार।
पिय आयसु बस नारि जो दुइ जग सो उजियार।
कासिमशाह : हंसजवाहिर पृ० १८८।

निश्चिन्त न रहना चाहिये क्योंकि उससे उसका आकर्षण जाता रहता है और वह वृद्ध शीघ्र होती है[1]। विवाहोपरान्त विदा होती हुई कन्या एवं उसके परिवार के रोने का चित्र, विदा होती हुई नारी-विवशता से उत्पन्न करुण वातावरण की सृष्टि इन कवियों ने बड़े स्वाभाविक ढंग से की है। कवि उसमान अपनी चित्रावली में इस ओर विशेष रूप से सफल हुये हैं। इसी प्रकार नूरमुहम्मद ने भी विदा का वर्णन किया है[2]।

गार्हस्थ्य जीवन के अनेक उत्तरदायित्वों के साथ कुछ ऐसे भी क्षण है जहाँ जीवन का उल्लास, निश्चिंतता एवं राग पुंजीभूत हो जाते हैं। सामाजिक उत्सवों, त्योहारों एवं पर्वों में ऐसे ही आन्दोलन के दर्शन होते हैं। भारतीय जीवन का सबसे रंगीन त्योहार होलिका दहन है, उसका वर्णन भी इन प्रबन्धों में होता है। होली की चांचर में बूढ़े बच्चे का भेदभाव लुप्त हो जाता है सभी रंग और अबीर की धूम मचा देते हैं[3]। डफ़ और मिरदंग बजाते हुये उनकी झूमने और रंग डालने की क्रिया का बड़ा स्वाभाविक चित्रमय विवरण किया गया है। इसके अतिरिक्त जिन त्योहारों का उल्लेख आलोच्य सूफ़ी साहित्य में मिलता है उसमें हरतालिका व्रत या साधारण बोली में 'तीज' का अधिक उल्लेख है। इस व्रत का महत्व ही मनोवांच्छित पति प्राप्ति में है और कवि ने भी इसकी संयोजना ऐसे ही स्थलों पर की है[4]। शिवरात्रि का उल्लेख भी अधिक

---

१. भलो न बहुतै चुप ह्वै रहना, भलो न बहुतै भाखित कहना।
एक कहा चिन्त भल नाहीं, तरुनी चिन्ता से बिरधाहीं।
इन्द्रावती पृ० ५१।

२. रानी सुनि धिय गौन विचारा, बिसुधि गिरी भुइ खाई पछारा।
पिउ बरियार विवस लै जाई, हम देखहिं पै कछु न बसाई।
चित्रावलि तजि जननि कै छाती, पिता के पाउँ परी बिलखाती।
राजै पुनि उठाइ गिव लाई, नैन नीर पुत्री अन्हवाई।
पिता कंठ धिय गहि रही, छोहन छाँड़ि न जाय।
ज्यों ज्यों जननि छोड़ावइ, त्यों त्यों गहि लपटाइ।
उसमान : चित्रावली पृ० २२४।

चित्रसेन बहु दायज दीन्हा, आंसू ढारि विदा तब दीन्हा।
उसमान : चित्रावली।

३. आगमपुर कविलास मझारा, फागुन आइ आनन्द पसारा।
एक दिस पुरुष एक दिस गोरी, हिलमिल गावहिं चांचर जोरी।
डंफ बजावहिं औ मिरदंगू, पिचकारिन मों भरइ सुरंगू।
धन के ऊपर डारहिं नाहां, धन डारहि पुरुष उपराहा।
रंग अबीर भरा सब कोई, जो जहाँ रहा भरा तहाँ सोई।
नूरमुहम्मद : इन्द्रावती पृ० ३४।

४. इन्द्रावति मन प्रेम पियारा, पहुंचा आइ तीज तेउहारा।
नूरमुहम्मद : इन्द्रावती पृ० ६।

हुआ है। दिवाली पर्व का विस्तृत वर्णन नहीं मिलता है किन्तु बारहमासों के अन्तर्गत दीपावली की दीप ज्योति एवं द्यूत क्रिया की चर्चा हुई है।

भारतीय सामाजिक जीवन में विभिन्न शक्तियों के प्रतीक देवी देवताओं की पूजा एवं कर्मकाण्ड का कितना महत्व है, इस पर अधिक लिखना आवश्यक नहीं। मनुष्य अभीष्ट प्राप्ति में तनिक भी शंका होने पर देवाश्रय ग्रहण करता है। उसके इस स्वभाव का परिचय भी ये कवि गिरीश पूजन, लिंग पूजन एवं सती सीता के पूजन व्यापार में देते हैं।[1]

कासिमशाह ने अपने हंसजवाहिर में प्रसिद्ध तान्त्रिक पीठ नीलाचल पर स्थित कामाख्या देवी के मन्दिर का परिचय दिया है। इसी प्रकार ज्ञानदीप, में हिंगलाज का उल्लेख हुआ है। अन्य देवताओं की अपेक्षा इन सूफ़ी कवियों ने अपने प्रबन्धों में शंकर उमा उपासना का अत्यधिक परिचय दिया है, केवल एक प्रबन्ध 'कुंवरावत' में सती सीता की पूजा का उल्लेख है और कवि अलीमुराद स्थल-स्थल पर राम या रघुबीर की दोहाई देते हैं। हुसेन अली ने अपनी रचना पुहुपावनी में चतुर्भुज (विष्णु) की पूजा का उल्लेख किया है। स्फुट काव्य में कृष्ण की उपासना की चर्चा अधिक है।

दिशाशूलों पर भी सम्भवत: उस समय आस्था थी। क्योंकि हंसजवाहर का कवि नायक के स्वदेश प्रस्थान पर इसकी चर्चा करता है कि सोमवार और शनिश्चर को पूर्व की ओर प्रस्थान हीन है, बृहस्पतिवार को दक्खिन की ओर नहीं चलना चाहिए। और यदि इस पर भी किसी का जाना अनिवार्य ही है तो वह बुध को दही बृहस्पति को गुड़ रविवार को पान खाकर प्रस्थान कर सकता है[2]।

व्याह की तिथि निश्चित करने के पूर्व, पुत्र जन्म के पश्चात् फलित ज्योतिष एवं नारी के शुभ अशुभ लक्षण ज्ञात करने में भी उसकी सहायता ली जाती थी।

उस समय अनेक प्रकार के साधु सन्यासी, जोगी जती थे। उन सभी के बारे में तत्वज्ञान सम्पन्नता का प्रमाण नहीं दिया जा सकता था। स्वभाव से जोगी न होने वाले व्यक्तियों का दुष्प्रभाव समाज पर पड़ता था। कुमारी बालिकाओं को लोग जोगी दर्शन से विरत रखते थे। जिन साधु सन्यासियों का वर्णन हुआ है, उनमें ऊर्धबाहु,

---

१. जाइ गिरीस मंडप महँ पूजा, बहुत कीन्ह संग लीन्ह न दूजा।
नूरमुहम्मद : इन्द्रावती।

२. सोम शनिश्चर पूरब हीना, बेफै दक्खन सो औगुन चीन्हा।
बुध दधि औ बफै गुड़ मीठा, रवि ताम्बूल खाय सुख दीठा॥
कासिमशाह : हंसजवाहिर पृ० १८६।

जवधारी, जलमग्न रहने वाले, तपस्वी, दण्डी, औघड़, कनफ़टा, सेउरा, यती, दूधाधारी, शरकटा, ब्रह्मचार, पंचाग्नि तप करने वाले, सूफ़ी, कबीरपन्थी आदि प्रमुख हैं [1]। इन सभी कन्थाधारियों को वास्तव में जोगी नहीं कहा जा सकता था[2]। कभी कभी इनकी वासना का दुष्प्रभाव समाज पर पड़ता था। इसका कारण तुलसीदास जी की पंक्ति 'मूड़ मुड़ाय भये सन्यासी' से स्पष्ट हो जाता है। अधिकांश व्यक्ति उत्तरदायित्वों से बचकर सन्यास धारण कर लेते थे। उनका मानसिक झुकाव उस विरक्तिपूर्ण जीवन की ओर नहीं था, इसलिए गुरुजन कुमारी बालिकाओं को जोगियों के सम्पर्क में आने से बचाते थे[3]।

तत्कालीन भारतीय लोक जीवन की भूत, प्रेत, अप्सरा, दानव आश्चर्यजनक पशु एवं पक्षियों के भयानक चमत्कार पर भी आस्था थी। जानकवि के प्रेमाख्यानों और प्रमुख रूप से रतनावती में ऐसे आश्चर्य तत्वों का उल्लेख प्रचुरता से मिलता है। जड़ पदार्थों का भी मानवीकरण और मनुष्य से वार्तालाप इनमें वर्णित हैं। लगभग सभी प्रबन्धों में समुद्र का मानवीकरण प्रदर्शित किया गया है। 'प्रेमरस' में जिस दैत्य कथा की संयोजना है उसकी प्रत्येक घटना अब तक कही जाने वाली लोक कथाओं में मिलती है। नक्षत्र गणना, फलित ज्योतिष, विभिन्न चक्र (योगिनी चक्र) स्वर ज्ञान, दिशाशूल एवं शकुनों पर आस्था आज की भांति उस समय भी थी। 'ज्ञानदीप' राजा जब अपने सैन्य के साथ रानी देवजानी के नगर की ओर चला तो उसके मार्ग में शकुनों की झड़ी लग गई। शकुन उसी के मार्ग में होते हैं जिसकी यात्रा सफल होने को होती है। राजा ज्ञानदीप के मार्ग में दाहिने ओर कौये का बोलना, धोबी का परोहन लेकर आना, दाहिनी ओर मृग का आना, मालिन का फूल लेकर आना, बंशी ध्वनि सुनना, क्षेमकरी और लोमा का देखना, दही, मछली की पुकार सुनना, आदि उसकी सफलता

---

१. जहाँ लौ मठ मंडप वह ठाऊ, उठ धाये सुन योगी नाऊँ।
महा महंत जो नाथ गोसाईं, तेहि संग सब योगी जँहताईं॥
उरधबांह नाना जबधारी, पूरी गिरी जलवास तिवारी॥
जगडंडी औघड़ कनफटा, सेवरायती विरही शरकटा॥
ब्रह्मचार सेउरा सन्यासी, पांच अगन निर्जला अकासी॥

दूधाधारी संगमी, सूफी दरश कबीर।
भये सहाय योगिन के आय महीपति तीर।

कासिमशाह : हंस जवाहर पृ० १५५।

२. कन्था मो जोगी सब नाहीं, ठग हैं बहुत न चीन्हें जाहीं।

नूरमुहम्मद : इन्द्रावती।

३. हसि तैं बारी बिना बियाही, जोगी देखें तोहि न चाही।

नूरमुहम्मद : इन्द्रावती पृ० ५५।

के निश्चित लक्षण थे[1]। 'कथा कामरूप की' में जब कुंवर ने कामकला के देश जाने की आज्ञा अपनी माता से मांगी तो उसने दही का टीका लगाकर कुंवर को विदा किया[2]।

जादू टोना मंत्र जंत्र आदि पर भी साधारण लोगों का विश्वास था। इन्द्रावती कथा में लोभ नारी ने कीर्तिराय पर टोना कर दिया था। आसाम की मन्त्र जन्त्र एवं टोना सम्बन्धी ख्याति सर्वविदित थी क्योंकि कांवरू टोना की चर्चा भी अनुराग बाँसुरी में हुई है। राजकुंवर के आगमपुर प्रस्थान पर रानी सुन्दरी का 'केहि सुनार हथफेरा कीन्हा' इस बात की पुष्टि करता है कि उस समय ऐसा प्रसंग किसी प्रकार से नया नहीं था। हंसजवाहर में जवाहिर को बहकाकर साथ ले जाने के लिए दूती मंत्र से युक्त कुछ पान लाई थी। शेखनबी ने 'ज्ञानदीप' के अन्तर्गत इसका स्पष्ट उल्लेख किया है। सुरज्ञानी अपने मंत्र बल से ज्ञानदीप को एक जादू के घोड़े पर बैठाकर आकाश मार्ग से अन्तःपुर में ले आती है साथ ही निश्चयपूर्वक कहती है कि वह मोहन, जोहन, वसीकरण, विरह तवान एवं उच्चाट मंत्र जानती है।[3] अपने इसी मंत्र बल पर विश्वास करके वह देवजानी को रात्रि में अभिसारिका का रूप धारण कराके राजा ज्ञानदीप के पास ले गई थी। इससे एक तथ्य और स्पष्ट होता है कि कुमारिकायें अधिकांश सुन्दर योगियों की ओर आकर्षित होती थीं, चित्रावली में सागर राजा की पुत्री कंवलावती भी योगी सुजान के रूप पर मोहित हो गई थी।

आका .वाणी पर भी सरलता से विश्वास किया जाता था ऐसी आश्चर्यजनक और चमत्कारिक घटनाओं पर बुद्धि के कारण अविश्वास नहीं किया जाता था। इन्द्रावती में राजकुंवर को ऐसी ही आकाशवाणी मंदिर में रानी इन्द्रावती के निवास स्थान का

---

१. दहिने काग सवरिया बोला, जबहि मिलै धन होइ निउोला।
रजक परोहन भारे आवा, दहिने ओर मिरग देखरावा॥
भीलिनि आई फूल कर दीन्हा, बंशी बजाई काहु सुर लीन्हा॥
नीला खेमकरी दिखराइ, लोआ नाचत दिग मां आइ।
दहिउ अहीरिन लेहु पुकारी, धीमर आइ मच्छ लेइ मारी॥
बायें दिसि बोला पनिहारा, तरुनी सीस कलस जलभरा।
बांभन तिलक दुआदस कीन्हें, सिद्ध सिख मुख आसिख दीन्हें॥

चली सगुन शुभ देखि कै, सुर ज्ञानी बिहसाइ।
भावंत मिलिहैं ऐ नबी, निजु विधि भेरइहि आनि॥

शेखनवी : ज्ञानदीप।

२. बिलक के सुन्दर ने तब कही, लिआवो कुंवर के सगुन का दही।
दही लेके माता ने टेका दीन्हा, सगुन से कुंअर को विदा तब कीन्ह।

कथाकामरूप की

३. मोहन जोहन बसीकरन, विरह तवान उचाट।
पांच बान मनसिज के, जेहि तन ज्ञान जे काट॥

शेखनबी : ज्ञानदीप।

...न करते हुये सुनाई दी थी। लोक जीवन में पनघट और पनिहारिनों का स्थान जीवन के उल्लास का सूचक है, इसकी चर्चा लोकगीतों एवं काव्य दोनों ही में बराबर होती रही है। कवि जान एवं नूरमुहम्मद ने भी इसका बड़ा आकर्षक वर्णन किया है। मनतारा तालाब पर चन्द्रमुखी नारियों का सदैव जमघट लगा रहता है, वहाँ पर सुन्दरी नारियों की सहज ही परख सम्भव है[1]।

कवि जान पनघट का वर्णन भाव एवं काव्यकलापूर्ण करते हैं। नगर में कुएँ एवं बावलियाँ बहुत हैं, जिन पर नारियां पानी भरने आती हैं। उनका शृङ्गार एवं चालढाल दर्शनीय है। इसके साथ ही जब वे भरे घड़े सिर या कमर पर रखकर चलती हैं तो प्रतीत होता है कि वे भी इसी प्रकार पानिपु भरी हैं, जिस प्रकार गगरी जलभरी है। पनघट पर जल भरने आने वाली नारियां चतुर एवं सुजान हैं।[2]

इन कवियों ने अपने काव्य में कुछ मनोरञ्जन के साधनों की चर्चा भी की है। सङ्गीत से मनोविनोद करने के साथ ही उच्चवर्ग में शतरञ्ज, चौपड़, चौगान आदि बड़े प्रिय खेल थे। इनके अतिरिक्त कुछ पहेलियों और पुष्प रचना ऐसे खेलों की भी चर्चा है। इन्द्रावती में कवि नूरमुहम्मद ने ऐसे ही एक खेल का परिचय दिया है जिसमें बीस फूलों के नाम लिखकर उन्हें भिन्न रूप चक्रों में विभाजित किया गया है[3]। राजकन्याओं

---

१. जो देखे चाहस भल नारी, मनतारा पर जाहु भिखारी।
ससि बदनी पनिहारिनि आवें, परगट आपन रूप दिखावै।
नूरमुहम्मद : इन्द्रावती पृ० ३१।

२. अम्रित नीर भरे बहु कूप, पोखर पुहकर लगहि अनूप।
बहुत बावड़ी सुधा समाना, नीर भरें तिय चतुर सुजाना।
लागौ रहत रैन दिन पनघट, देखि ताहि बाढ़त है मनघट।
नारि चारि पानिहिं को आवहिं, बार बार सिंगार सुहावहिं।
भरि गागरि जल घर को धावहिं,नैन सैन यह बात लखावहिं।

जैसे ये गागर भरी, बहु पानी इन मांहि।
तैसे हम पानिपु भरी,कन्ता समुझत नाहिं ॥
कवि जान : कथा पुहुपवरिषा।

३. बहुत सांस भा गेंदा, हित मेदान। हाल करत है मारत लट चौगान ॥
नूरमुहम्मद : अनुराग बाँसुरी पृ० १०४।

ले आइ शतरंज धन, चतुराई के हाथ।
जो हारूँ तो नाह की, जो जीतों तो नाथ ॥
कासिमशाह : हंसजवाहर पृ० १७५।

एक दिन दोऊ रानी ज्ञानी, बैठि रही आनन्द समानी ॥

फूल खेल महँ भली, घरी एक सब कोय।
बहुत परी अचरज भो, कैसे बूझें सोय ॥
नूरमुहम्मद : इन्द्रावती (उत्तरार्ध)।

का देवपूजन एवं जलक्रीड़ा के हेतु प्रस्थान भी उनके मनोविनोद के ही साधन हैं। इसी प्रकार घमारी खेल का भी उल्लेख बहुत हुआ है।

स्त्रियों की श्रृङ्गारप्रियता एवं आभूषणप्रियता का उल्लेख भी आलोच्य काल में प्रचुरता से हुआ है। उनके केश-विन्यास एवं नख से शिख तक की सज्जा, आभूषणों का वर्णन, सोलह श्रृङ्गार, इत्यादि का वर्णन मिलता है किन्तु कहीं भी पृथक रूप से आभूषणों के लिये स्त्रियों की अतिशय लालसा का चित्रण नहीं हुआ है।

प्रत्येक भारतीय प्रारब्ध, भाग्य एवं कर्मरेखा पर विश्वास करता है। संसार की प्रत्येक घटना को वह भगवान या भाग्य से नियंत्रित समझता है। अपने व्यक्तित्व पर भरोसा तो होता ही है, किन्तु वह परमात्मा के नियंत्रण पर सर्वाधिक विश्वास करता है; उसके सम्मुख उसकी आत्म-निर्भरता कुछ नहीं। दैनिक जीवन का यह दार्शनिक पक्ष, इन काव्यों में सर्वत्र उपलब्ध है। 'इस जीवन का रक्षक वही है, जो इसका दाता है, अतः केवल कार्य संलग्नता मानव जीवन का ध्येय है[1]।' 'मनुष्य के भाग्य में जो कुछ वह विधाता लिख देता है, वही होता है, जन्मपत्र का लिखा हुआ असत्य नहीं हो सकता। भाग्य बली है[2]।'

कुछ लोक प्रचलित कहावतों का प्रयोग भी इन कवियों ने किया है, जैसे 'बातहिं हाथी पाइये, बातहिं हाथी पाव', 'मारु न छीरभात मों लाता', 'दिवस चार की चाँदनी, फिर अँधियारा पाख', 'पट बाहर जेइ पाय पसारा, जाड़ा कठिन अन्न तेहि मारा', आदि।

इन कवियों ने उस समय स्थित विभिन्न जातियों का वर्णन किया है जिनका आधार विभिन्न पेशे थे। लगभग सभी कवियों ने छत्तीस जातियों का वर्णन किया है जिनमें विप्र, वणिक, सोनार, पटवा आदि का उल्लेख प्रमुख है। ज्ञात होता है कि उस समय जाति भेद कर्मभेद हो गया था। इस प्रकार समाज छिन्न-भिन्न होता चला जाता था। अलबेरूनी भी अपने समय की जातियों का ठीक वर्णन इसी कारण नहीं कर सका था।

---

१. हंस कहा रच्छक है सोई, जाकर सिरजा है सब कोई।
कासिमशाह : हंसजवाहिर।

२. लिखा जो है करता को, सोई होय। जनम पत्र को आछर जात न धोय॥
नूरमुहम्मद : अनुराग बांसुरी पृ० १२८।

३. बैठे लोग छत्तीसी जाती, जो जेहि भांति सो तेहि तेहि पाती।
कासिमशाह : हंसजवाहिर पृ० ८४।

छत्तीस जाति की नारियों की विविधता एवं उनकी विशेषताओं का उल्लेख इन चरित काव्यों में मिलता है[1]।

बहुत सम्भव है कि विविधता के कारण इन जातियों में ईर्ष्या एवं बड़े-छोटे की भावना उत्पन्न हो चली हो, तभी कवि नूरमुहम्मद को उनमें प्रेम स्थापित करने के लिये उपासना या स्मरण की प्रतिष्ठा करनी पड़ी। किसी उच्च कुल में उत्पन्न होने से किसी को गर्व नहीं करना चाहिये। वास्तव में उच्च जाति का व्यक्ति बड़ा नहीं होता। बड़ा वह होता है जो प्रभु स्मरण एवं उपासना करता है[2]। उपासना का क्षेत्र सब जातियों के लिये उन्मुक्त है।

जाति विषयक सामाजिक विशृङ्खलता के अतिरिक्त सम्भवतः रोटी का प्रश्न उस समय भी जटिल था। तुलसीदास का रोटी के लिये 'बारे तें ललात बिललात' प्रसिद्ध ही है। जब तक रोटियों का प्रश्न सरल रहता है मनुष्य में शील रहता है। भूखे पेट से विनय की रक्षा बिरले ही कर पाते हैं। ऐसे गाढ़े समय की चर्चा नूरमुहम्मद ने भी की है। इस संसार में विग्रह, अन्न, रोटी या पेट के कारण ही होता है। 'यहाँ अग्नि और पानी के विग्रह की चर्चा कौन करे? यहाँ तो पानी-पानी से भी भेद है, सगे भाइयों में नहीं पटती है[3]।' ऐसे ही समय में माता-पिता से बालक का विग्रह हो जाता है। ध्यान देने की बात यह है कि इस गाढ़े समय, या रोटी के प्रश्न ने ही सर्वप्रथम सम्मिलित परिवार की भारतीय भावना को ठेस पहुँचाई[4]। जीवन की इस विषमता को समझने वाले कवि

---

१. जह लौ नारि छतीसो जाती, चढ़ विवान आई रंगराती।
चली मान सो ब्राह्मन बारी, बनियाइन नाइन पटहारी।
चली सोनारिन कंचन बरनी, रजपूती खतरिन मनहरनी।
लोनी तन हलवाइन चली, अधर मिठाइ बांटत चली॥
नूरमुहम्मद : इन्द्रावती पृ० ५३।

२. कुल विशेष उत्तम नहीं, सुमिरे उत्तम होय।
उत्तम जात भये सों, गरब न राखे कोय॥
नूरमुहम्मद : इन्द्रावती पृ० ७१।

३. जब पावक विग्रह को कहई, नीर नीर सो विग्रह अहई।
है ऐसो समुआइ गाढ़ी, भाई धरै बन्धु की डाढ़ी।
उहां मित्र रावन औ रामू, इहां राम लछिमन संगरामू।
उहां मिलाय इहां बिछराई, औषद उहां इहां है घाऊ॥
नूरमुहम्मद : इन्द्रावती (उत्तरार्ध)

४. माता पिता सुत जिउ सो पालै, करै पियार मया सब कालै।
जब वह पुत्र सयाना होई, निसरि जात अग्या सों सोई॥
नूरमुहम्मद : इन्द्रावती (उत्तरार्ध)।

नूरमुहम्मद ने माता-पिता और सन्तान के सम्बन्ध को भारतीय दृष्टिकोण से समझते हुये नीतिविषयक बातें लिखी हैं। माता-पिता की महत्ता सिद्ध की गई है और उसके प्रमाण के लिये कर्त्ता की दुहाई दी है। माता-पिता के साथ भलाई करना प्रत्येक पुत्र का कर्तव्य है, उनकी वृद्धावस्था में उन्हें आराम देना तथा उनकी भावनाओं को चोट न पहुँचाना सुपुत्र का लक्षण है। केवल एक बात में ही उनकी आज्ञा का उल्लंघन किया जा सकता है, वह है जब आज्ञा परमात्मा के मार्ग पर चलने में विरोध करती हो[1]। उनके इस भाव का कितना अधिक साम्य तुलसी की पंक्ति 'तजिये ताहि कोटि बैरी सम यद्यपि परम सनेही' से है।

माता-पिता की महिमा अपार है, उनकी आज्ञा का उल्लंघन करने से पुत्र को मुक्ति प्राप्त नहीं होती[2]।

माता-पिता और संतान का सम्बन्ध अनोखा है। जब तक माता-पिता जीवित रहते हैं, सन्तान छोटी है उसकी सारी चिन्ताएँ माता-पिता की चिन्ताएँ हैं, वे अपने हृदय के टुकड़े को हृदय के रक्त से ही पोषित करते हैं। बच्चे की पीड़ा पर माता की व्यथा का वर्णन कासिमशाह ने अत्यन्त मर्मस्पर्शी किया है। बालक के पैर में लगा हुआ कांटा माता-पिता को उनके स्वयं आँख में लगे हुये कांटे के समान दुखद होता है[3]।

इसके अतिरिक्त गृह पुरोहित के सम्मान में भी कवियों की उक्तियां हैं। 'पुरोहिती' कहकर यह कार्य उस समय हीन नहीं समझा जाता था। पुरोहित परिवार का सबसे बड़ा हितू था[4]।

---

१. मात पिता संग करहु भलाई, करता की आशा अस आई।
जो अपने आगे बिधाहीं, उन्हें बात उन्ह भाखहु नाहीं।
और न कीजै उन्हें निरासू, उन नित मांग सरग सुख बासू।
एक बात मों कहा न कीजै, सुनि यह बात चित्त सौं लीजै।
जो तेहि कहै कि जगत मझारी, पगु बूझु दूसर करतारी॥
नूरमुहम्मद : इन्द्रावती पृ० १३६।

२. जो पितु मातु मया जस गाऊँ हारे रसना अन्त न पाऊँ।
जहाँ रहौ तहँ सुमिरौं नाऊँ, आयसु मेटि तहाँ मैं जाऊँ।
मात पिता पग रेनु देइ दृग जोति।
दोऊ मन को रूकै, मुक्ति न होति॥
नूरमुहम्मद : अनुराग बांसुरी पृ० १२३।

३. जरा जिउ माता को, और पिता को प्रान।
बालक पगु को कांटा मात पिता अंखियान॥
कासिमशाह : हंसजवाहिर।

४. पण्डित जन दुख खण्डित होई, पण्डित चाह न ग्यानी कोई॥
नूरमुहम्मद : इन्द्रावती (उत्तरार्ध)।

तू प्रोहत है मेरा करो कछु जतन।
कथा कामरूप।

सूफ़ी प्रेमाख्यानों में लोकगीतों के स्वरूपों का भी उल्लेख मिलता है, जन्मोत्सव पर 'सोहले गान' व्याह पर 'सोहाग' गान की प्रचुर चर्चा है; इसके अतिरिक्त विभिन्न उत्सवों पर गाये जाने वाले होरी, चांचर, झूमक एवं मनोरा गीतों की भी चर्चा मिलती है।

जीवन के विभिन्न पक्षों का चित्रण देखकर यह निश्चित हो जाता है कि सामाजिक जीवन का सजीव चित्र सूफ़ी काव्य में मिलता है। व्यक्तिगत जीवन के अतिरिक्त नारियों का समाज में स्थान, उनकी शिक्षा, पुत्र के कर्तव्य, विभिन्न संस्कार एवं त्योहारों का वर्णन भी इन प्रबन्धों की विशेषता है। उपासना के दृष्टिकोण से मानवमात्र की सामाजिक जीवन में समता, जो उस समय की बड़ी विशेषता है, का परिचय भी इन प्रबन्धों में प्राप्त होता है। अतः सूफ़ी कवियों की लोक-दृष्टि की जागरूकता के सम्बन्ध में शंका का कोई स्थान नहीं है।

———

८

सूफ़ियों की प्रबन्ध कल्पना

साहित्य एवं इतिहास में मध्ययुग के नाम से अभिहित किये जाने वाले काल में आख्यान काव्यों का प्रणयन बहुतायत से हुआ। भारतवर्ष में ही नहीं, वरन् अन्य योरोपीय देशों में भी ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी के आस-पास आख्यान काव्यों की रचना प्रचुरता से हो रही थी। फ्रांस एवं इंगलैण्ड में ऐसे काव्यों को 'रोमांस' कहा गया। उस समय रोमांस का तात्पर्य प्रादेशिक भाषाओं में लिखे गये कुतूहलपूर्ण आख्यान से था। ऐसे आख्यानों की गणना आरम्भ में साधारण कोटि के अन्तर्गत आती थी किन्तु कालान्तर में इसकी अपनी एक परम्परा ही बन गई [1]।

प्रारम्भिक रोमांस में शालेमन और उसके दरबारी वीरों की कहानियां वर्णित मिलती हैं। तदुपरान्त ग्रीस, रोम, ट्रोजन के वीरों के कुतूहल पूर्ण आख्यान एवं इंगलैंड के प्रसिद्ध राजा आर्थर और उसके नाइट्स से सम्बन्धित काल्पनिक एवं ऐतिहासिक आख्यान प्राप्त होते हैं। इन आरम्भिक रोमांटिक काव्यों में ऐतिहासिक एवं पौराणिक वीरों के वीरत्व-व्यंजक कार्यों का वर्णन ही अधिक है। प्रेम की चर्चा लगभग सभी 'रोमांस' काव्यों में होती रही है, किन्तु उसके महत्व में अन्तर होता रहा है। इन आरम्भिक रोमांटिक काव्यों में प्रेम का स्थान गौण है। समय के साथ इन काव्यों की रूप रेखा बदलती गई। मध्यकालीन प्रबन्धों पर ओविड द्वारा वर्णित प्रेम-स्वरूप का प्रभाव अधिक है, धीरे धीरे

---

1. The word 'Romance' simply means a poem or a story written in one of the vernacular romance language instead of 'Latin' and so by implication less serious and learned but in time it acquired the sense that indicates the essential quality of these works-their love for the marvellous.

The Classical Traditions, P. 13
By Heighet

प्रबन्ध काव्यों में आरम्भिक वीरत्व की भावना का स्थान गौण एवं प्रेम का प्राधान्य हो चला। वीरगाथायें शनैः शनैः प्रेम गाथाओं में परिणत होने लगीं [1]।

फ्रांस और इंग्लैंड के इन मध्यकालीन प्रेमाख्यानों के कई प्रकार पाये जाते हैं। वीरत्वपूर्ण आख्यान, (हीरोइक रोमांस) ऐतिहासिक वीरों की गथायें, धार्मिक महाकाव्य, कथा रूपक, ग्रामीण आख्यान (पास्टोरल रोमांस) एवं दुखांत रोमांस ऐसे ही आख्यान प्रकारों के नाम हैं।

मध्यकालीन रोमांचिक महाकाव्यों (रोमांटिक एपिक्स) में प्राचीन वीरों की गाथाओं एवं प्रेमाख्यानों की प्रेम चर्चा का मिश्रित रूप प्राप्त होता है। 'मैडनेस आफ रोलां' में रोलां के प्रेम एवं वीरतापूर्ण कार्यों का ही वर्णन है।

धार्मिक महाकाव्यों में मिल्टन का 'पेराडाइज लास्ट एंड पेराडाइज रीगेन्ड' प्रसिद्ध है। पूरा काव्य ईसाई धार्मिक विश्वासों एवं मान्यताओं से पूर्ण है। ऐसे काव्यों में आस्था का प्रमुख स्थान रहता है।

कथा रूपकों में 'रोमांस आफ रोज' एक उत्कृष्ट रचना मानी जाती है। गुलाब का फूल नायिका या नारीत्व का प्रतीक है। नायिका ही नायक के जीवन में आशा एवं निराशा उत्पन्न करती है। इस काव्य की सारी घटनायें नायिका के हृदय में ही घटित होती हैं। इस काव्य के सारे पात्र एवं प्राकृतिक चित्र प्रतीकात्मक हैं। किले के बाहर बहने वाली सरिता जीवन का प्रतीक है, आगे चलकर वही राजदरबार के सामाजिक जीवन एवं युवक के मस्तिष्क का प्रतीक बन जाती है। गुलाब का फूल ग्रामीण युवती के रूप का प्रतिनिधित्व करता है। 'रोमांस आफ रोज' में नारी एवं पुरुष की आभ्यन्तरिक भावनाओं का रूपकात्मक चित्रण उपलब्ध होता है। इस काव्य का रंगमंच वाह्य प्रकृति न होकर, स्वप्न में प्रेमी प्रेमिका के हृदय में गतिशील भाव व्यापार है [2]।

---

१. The Medieval French Romances dealt with three topics fighting, love and marvels. As the years passed on, as the medieval world became more sophisticated, fighting became less and less important and love and marvels more and more············

The Classical Ttaditions, P. 59
By Heighet.

२. 'It is the tale of a difficult, prolonged but ultimately successful love affair, told from the man's point of view. The hero is the lover, the heroine the Rose. The characters are mainly abstractions, hypnotized moral and emotional qualities such as the Rose's guardians, slander, jealousy, fear, shame and offended pride············The entire poem takes place in a garden and the climax is the capture of a tower followed by the lover's contact wifh the imprisoned Rose.'

The Classical traditions, P. 63.
By Heighet.

'पास्टोरल रोमांस' या ग्रामीण प्रेमाख्यानों में ग्वालों के जीवन की पृष्ठभूमि में प्रेम की नाना अन्तरदशाओं का वर्णन उपलब्ध होता है। प्रेमी एवं प्रेमिका को वियोग की लम्बी अवधि अवश्य सहनी पड़ती है, किन्तु अन्त सुखान्त ही होता है। कथानक की गति में छोटी अवान्तर घटनायें पाई जाती हैं तथा एक कहानी के अन्दर छोटी छोटी कई कहानियां निहित रहती हैं।

दुःखान्त रोमांस में 'प्रिमस' और 'थिसबी' सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। 'नाइटिंगेल' और 'स्वालो-पत्नी' की मर्मान्तक वाणी 'फिलमिला' एवं 'प्रासने' दो बहनों की दुःखपूर्ण कहानी है। 'फिलमिला' पर 'प्रासने' का पति थेरियस बलात्कार करता है। 'थेरियस' उसकी जवान काटकर उसे बन्दी बना देता है किन्तु फिलमिला एक कपड़े पर अपनी दर्द भरी कहानी काढ़कर प्रासने के पास भेज देती है। प्रासने और फिलमिला दोनों मिलकर 'थेरिस' को उसके पुत्रों का मांस खिलाती हैं, अन्त में दोनों दुखातिरेक में जीवन त्याग कर 'नाइंटिगेल' एवं 'स्वालो' के रूप में परिवर्तित हो अपनी दुःखपूर्ण कहानी गाया करती हैं।

मध्यकालीन पाश्चात्य प्रेमकथाओं के प्रकारों की चर्चा के पश्चात् उसके वातावरण विषय एवं स्वरूप पर भी किंचित ध्यान देना आवश्यक है। लगभग इन सभी काव्य प्रकारों में आश्चर्य तत्व एवं परा-प्राकृतिक घटनाओं की प्रधानता रहती है। उस समय ग्रीस एवं रोम में प्रचलित जन साधारण के दैवी शक्तियों पर विश्वास का प्रभाव इन कथाओं में अद्भुत वातावरण की सृष्टि में सहायक होता था, जादूगरों के असाधारण कार्य, अप्सरायें एवं अद्भुत शक्ति सम्पन्न शिरस्त्राण आदि की चर्चा इन काव्यों में रहती है। लगभग सभी काव्यों के कथानक एक से रहते हैं, जैसे कठिनाई में फँसी हुई नारी का उद्धार, देव और दानव के अत्याचार, जंगलों पहाड़ों और किलों की पृष्ठभूमि, अखाड़ों में वीरों के शस्त्र कला प्रदर्शन द्वारा किसी नारी (Lady of the love) को आकर्षित करने का प्रयास आदि सभी बातें ऐसे काव्यों में पाई जाती हैं। तात्पर्य यह कि इन अँग्रेजी एवं फ्रेंच भाषा में लिखे गये प्रेम प्रबन्धों एवं महाकाव्यों में परा-प्राकृतिक तत्वों की प्रधानता एवं काव्यप्रणयन की एक बँधी हुई शैली पाई जाती है [१]।

---

१. An essential part of epic is the supernatural, which gives the heroic deeds their spiritual background. We find that in the epics on the contrary, subjects Greek Roman mythology provides practically all the supernatural elements, on the other hand, in the Romantic epics, most of the supernatural element is provided by medival fantasies, magic, sorceress enchanted objects, masks helmets and sword.

The Classical Traditions P. 68
By Heighe

मध्यकालीन योरोपीय प्रेमप्रबन्धों में वर्णित रूपकात्मक प्रेम को, अधिकांश आधुनिक पाठक जो काव्य में व्यक्त बाह्य अर्थ को ग्रहण करता है, समझ नहीं पाता। इन प्रेमकाव्यों में वर्णित प्रेम अधिकांश मध्यकालीन दरबारी प्रेम (Courtly Love) का प्रतीक है। इस प्रेम-स्वरूप में विनम्रता, शिष्टता, वासना एवं प्रेम के एकान्तिक स्वरूप की प्राप्ति होती है। नायक नायिका की, जो उसके प्रेम प्रतीक हैं, तुच्छातितुच्छ इच्छा पूर्ति के हेतु, कठिन से कठिन कार्य करने को सन्नद्ध रहता है। अपनी प्रेम-पात्र नारी के व्यक्तित्व और इच्छाओं के सम्मुख नत रहना ही विनम्रता एवं शिष्टता है। अधिकांश प्रेम के वासनात्मक होने के कारण उसका अन्त भी निराशाजनक एवं दुःखपूर्ण होता है। इस युग में प्रेम और विवाह दो पृथक वस्तुयें हैं। वैवाहिक सम्बन्ध स्वच्छन्द प्रेम में बाधक नहीं माना जाता है। विवाह के पश्चात् प्रेम का सारा आकर्षण समाप्त होकर प्रेमी नवीन पात्र की खोज में पुनः तत्पर हो जाता है। वास्तव में विवाह एक क्षणिक बंधन था जो तनिक से आघात पर ही छिन्न-भिन्न हो सकता था। यही कारण है कि प्रेम-व्यंजना साधारणतः वासना जनित प्रेम की परिचायक है[1]।

धीरे-धीरे प्रेम-भावना का परिमार्जन हुआ और हमें 'डान क्विक जोट' में वासनात्मक प्रेम की अपेक्षा उसके आदर्श, शुद्ध, सात्विक एवं निस्वार्थ-स्वरूप के दर्शन होते हैं। तात्पर्य यह कि प्रेम का वासनाजनित परस्त्रीगमन का रूप एवं आदर्शात्मक शुद्ध सात्विक प्रेम, दोनों की ही उपलब्धि इन काव्यों में होती है।

इस प्रकार निश्चित यह होता है कि फ्रांस एवं इंगलैण्ड या अन्य योरोपीय देशों में प्रेम कथाओं का प्रणयन अधिकांश मध्ययुग में ही हुआ।

Their action would be set in a mystry arena where the realities of life were as much ignored as in our Christmas pantomiens. The characters, plots and machinery of these stories, the distressed damsel; the sage enchanter, the wicked and gigantic oppressor who is so easily knocked on the head as soon as the hero stands up to him and the castles, forests and tournament lists which form the security or as like one another as stage room and street.

Romance & Legend of Chivalry. P. 13
By Moncrieff

१. Marriage had nothing to do with love and no 'nonsense' about marriage was tolerated. All matches were matches of interest and worse still of an interest that was continually changing. ······ Any idealization of sexual love in a society where marriage is purely utilitarian must begin by being an idealization of adultry.

The Allegory of Love P. 13
By Lewis.

भारत की प्रेमाख्यान परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। ऋग्वेद में यम यमी, पुरुरवा उर्वशी, अहिल्या आदि की प्रेम कहानियों में इसके बीज प्राप्त होते हैं। उपनिषद् काल में ऋग्वेद की ऋचाओं का स्पष्टीकरण प्रेम कहानियों के रूप में हुआ। संस्कृत के ललित साहित्य में कुमारसम्भव, मेघदूत, कादम्बरी, अभिज्ञान शाकुन्तल आदि प्रमुख प्रेमाख्यानों की उपलब्धि होती है। अपभ्रंश कालीन जैन चरित काव्य एवं बौद्ध साहित्य की जातक एवं अवदान कथाओं के द्वारा नीति एवं धर्म के उपदेश देने की प्रथा भी प्रचलित हुई। हिन्दी में ग्यारहवीं-बारहवी शताब्दी से लेकर बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक प्रेमाख्यानों का प्रणयन हुआ। वीरगाथाकालीन रासो साहित्य भी प्रेमाख्यानों का एक स्वरूप ही है। इसके अतिरिक्त सिद्धान्त प्रणयन के हेतु लिखे गये सूफ़ी प्रेमाख्यान एवं शुद्ध प्रेम व्यञ्जना के तात्पर्य से लिखे गये 'ढोलामारु रा दूहा' उपलब्ध हैं। हिन्दी साहित्य के आदिकाल से लेकर आधुनिक काल के प्रारम्भ तक प्रेमाख्यानों का प्रणयन अबाधगति से होता रहा जिनकी रूपरेखा और उद्देश्य तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक वातावरण के अनुरूप बदलता गया।

प्रबन्ध काव्य एवं मसनवी रचना :

लक्षणग्रन्थों में प्रबन्ध-काव्य की दो बातों का विस्तार के साथ विचार किया गया है। एक है उसका वर्ण्य-विषय और दूसरा उसका संघटन। प्रबन्ध-काव्य की रचना सर्गबद्ध होती है। कथा की सर्गबद्धता वर्णन सुगमता की जननी है, जबकि फारसी की मसनवी शैली, जिसका प्रचुर प्रभाव सूफ़ी प्रेमाख्यानों पर है, में सर्गों का विधान नहीं होता। उसमें कथा क्रमशः चलती रहती है, बीच-बीच में प्रसंगों के अनुसार शीर्षक बाँध दिये जाते हैं। सर्गों के न होने से यदि कवि एक स्थान से दूसरे स्थान के वर्णन में प्रवृत्त होना चाहता है तो कोई मध्यस्थ पात्र अवश्य होता है जैसे तोता या परी आदि। प्रबन्ध काव्य में आठ सर्गों की योजना काव्य शास्त्री मानते हैं किन्तु ऐसा कोई नियम मसनवी रचना शैली में नहीं है। एक सर्ग में एक ही छन्द का प्रयोग समीचीन है। अन्तिम परिवर्तित छन्द, कथा प्रवाह के मोड़ का सूचक होता है। वाक्य रचना के दृष्टिकोण से मसनवी में पूरा वाक्य होता है तथा उसकी दोनों अर्द्धालियाँ समान अन्त्यानुप्रास रखती हैं। साधारणतः इसमें छन्द परिवर्तन नहीं होता। सूफ़ियों ने अपने प्रेमाख्यानों में अधिकांश दोहे चौपाई का ही क्रम रक्खा है। इन कवियों का चौपाई को द्विपदी मानना भी इनकी मसनवी पद्धति के अनुकूल पड़ता था क्योंकि मसनवी दो चरण का एक छन्द है।

प्रबन्ध काव्य में कवि अपनी बहुज्ञता प्रदर्शनार्थ किसी एक सर्ग में विविध छन्दों की योजना कर सकता है, किन्तु मसनवी काव्य शैली में ऐसा कोई नियम न होने के कारण सूफ़ी कवियों के काव्य में कहीं भी छन्दों की विविधता दृष्टिगोचर नहीं होती। प्रबन्ध काव्य में कथा की घटनाओं को वैचित्र्यपूर्ण रखने का वैसा प्रयत्न नहीं होता जैसा उसकी क्रमबद्धता बनाये रखने का, जबकि सूफ़ी प्रेमाख्यानों में घटनाओं की विचित्रता एवं चमत्कार की सृष्टि का भी विशेष ध्यान रक्खा गया है। घटना और वर्णन का सम्यक् योग

रमणीयता उत्पन्न करता है। सूफ़ी प्रेमाख्यानों में यद्यपि इस रमणीयता का अभाव नहीं है, फिर भी कहीं-कहीं मसनवी काव्य की वर्णनात्मकता से प्रभावित होकर कवि वस्तु गणना, औषधि-चर्चा, भोज-वर्णन ऐसे अतिवर्णन में संलग्न हो जाता है कि विरक्ति होने लगती है।

प्रबन्ध काव्य की कथा ऐतिहासिक या पौराणिक होनी चाहिये, कल्पित कथा के द्वारा रसोद्रेक उस कोटि का नहीं हो पाता जिस कोटि का प्रख्यात वृत्त द्वारा होता है। इसी कारण काल्पनिक कथानक को अधिक प्रश्रय नहीं दिया गया, किन्तु मसनवी काव्य में ऐसा कोई बन्धन नहीं। यही कारण है कि सूफ़ी प्रेमाख्यानों के कथानक अधिकांश काल्पनिक हैं, यद्यपि ऐतिहासिक और पौराणिक आख्यानों का अभाव नहीं है।

प्रबन्ध काव्य के सङ्घटन पर विचार करते हुये यह भी कहा गया है कि ग्रंथारम्भ में मङ्गलाचरण होना चाहिये। रूढ़ियों के सहारे मसनवी काव्य शैली में भी कुछ नियम पाये जाते हैं जैसे प्रारम्भ में ईश्वर, पैगम्बर, पैगम्बर के मित्र, कवि के गुरु, शाहेवक्त की प्रशंसा एवं आत्मपरिचय होना आवश्यक है।

मसनवी काव्य शैली में प्रबन्ध काव्य की भांति रस-योजना की ओर ध्यान नहीं दिया गया क्योंकि प्रमुखत: मसनवी शैली वर्णनात्मक है, किन्तु सूफ़ी प्रेमाख्यानों पर भारतीय रस-योजना का प्रचुर प्रभाव पड़ा है।

प्रबन्ध काव्य का नामकरण, घटनाविशेष या पात्रविशेष के आधार पर होता है। सूफ़ी प्रेमाख्यानों में लगभग सभी का नामकरण नायिका (रत्नावती, चित्रावली, मधुमालत आदि), नायक (कथा कामरूप, कथा ज्ञानदीप) या नायक नायिका (हंस जवाहिर) दोनों के नाम पर हुआ है।

इसके अतिरिक्त संध्या, सूर्य, चन्द्र, रात्रि, प्रदोष, अंधकार, दिन, प्रातःकाल, मध्याह्न, आखेट, पर्वत, ऋतु, वन, समुद्र, सम्भोग, वियोग, स्वर्ग, नगर, मुनि, संग्राम, यात्रा, विवाह, पुत्र, अभ्युदय आदि का वर्णन भी इन प्रेमाख्यानों में प्रबन्ध काव्यों की भांति ही होता है।

कथानक :

सूफ़ी प्रेमाख्यानों में किसी राजकुमार और राजकुमारी का प्रेम वर्णित रहता है और साथ ही कवि इन कथानकों के द्वारा सूफ़ी सिद्धान्तों का प्रसार भी करना चाहता है। यही कारण है कि एक ओर जहाँ ये कहानियाँ प्रेमाख्यानों की कोटि में आती हैं वहीं दूसरी ओर इनमें अध्यात्मिक अर्थ की भी गूढ़ व्यञ्जना होती है। इसी कारण इन कथाओं को उपमिति कथा कहना अधिक समीचीन होगा।

कथानक की घटनाओं का स्थूल रूप से इस प्रकार उल्लेख हो सकता है, नायक या नायिका के माता-पिता का परिचय, उनका सन्तानाभाव, उपचार, सन्तानोत्पत्ति, ज्योतिषियों की भविष्यवाणी, यथासमय प्रेम का प्रादुर्भाव, प्रयत्न, प्रयत्न में सहायक तोता, परी, गुरु या अदृश्य सन्त ख्वाजा खिज्र तथा नायक के मित्र गण, नायिका का परिचय, नखशिख चर्चा, प्रेम का प्रभाव, नायक के प्रयत्न में तीव्रता, नायिका की उत्सुकता, विरोध या विघ्न, नायक की विजय, पाणिग्रहण आदि, कुछ कथाओं में मिलन के पश्चात् का सुखमय जीवन अथवा नायक का निधन एवं नायिका का सती होना भी दिखाया गया है।

वास्तव में ये प्रेमाख्यान मानव जीवन के पूर्णदृश्य हैं अतः इनमें घटनाओं की सम्बद्ध शृङ्खला एवं स्वाभाविक क्रम के ठीक-ठीक निर्वाह के साथ हृदयस्पर्शी रसात्मक स्थलों का सन्निवेश भी कवि को अभीष्ट है। घटनाओं का संकुचित उल्लेख मात्र तो कथानक का इतिवृत्त होता है और उस घटना के फलस्वरूप किन भावनाओं को उत्तेजना प्राप्त होती है, उसका प्रभावपूर्ण वर्णन रसात्मकता के अन्तर्गत आता है। भाव के लिये परिस्थिति की अनुरूपता आवश्यक है। जिन भावात्मक स्थलों के प्रभाव से सम्पूर्ण कथा में रसात्मकता आती है वे भावात्मक स्थल कथाप्रवाह के मध्य आते हैं। घटनाओं का स्थूल विवरण ऊपर हो चुका है। भावात्मक स्थल भी इन प्रेमाख्यानों में प्रचुर हैं, जैसे मातृगृह में कुमारियों की स्वच्छन्द क्रीड़ा, नायक के प्रस्थान पर उसकी मां एवं पत्नी का शोक, प्रेम मार्ग की दुरूहता, नायक की कष्टप्राप्ति, नायक के प्रति नायिका की सहानुभूति, नायक नायिका संयोग, पूर्व पत्नी की विरहावस्था, वियोग सन्देश, पुनरागमन, दूतियों से सतीत्व की रक्षा, प्रतिद्वन्दी मर्दन, सती होने के दृश्य आदि ऐसे ही स्थल हैं जो लगभग सभी कथाओं में मिलते हैं। ऐसे स्थलों पर कवि की लेखनी अधिक भावुक एवं सहानुभूतिपूर्ण हो गई है। विभिन्न रसों की स्वाभाविक व्यञ्जना इन्हीं स्थलों पर हुई है। रसात्मक स्थलों के अतिरिक्त कथा के इतिवृत्त का सम्बन्ध निर्वाह भी अच्छा है। कहीं भी कथा प्रवाह खण्डित नहीं है यद्यपि कुछ कवियों की विवरणप्रियता उन्हें कई स्थलों पर विस्तृत वर्णन करने को विवश कर देती है किन्तु ऐसे स्थल सभी प्रेमाख्यानों में अधिक नहीं हैं।

आधिकारिक या प्रमुख कथा के साथ-ही-साथ कई अन्य कथाओं की संयोजना भी इन प्रेम प्रबन्धों की विशेषता है। किसी-किसी प्रेमाख्यान में नायक की भांति नायक के मित्र की प्रेम कहानी भी चलती रहती है। नायक के संयोग के पश्चात् उसके मित्र को भी प्रिय प्राप्ति हो जाती है की जैसे 'मधुमालत' में। कहीं-कहीं नायक पूर्व पत्नी एवं प्रेयसी के अतिरिक्त एक अन्य सुन्दरी की कथा भी चलती है जो नायक को प्रेम करती है किन्तु नायक विमुख रहता है, अन्त में नायक से उसका पाणिग्रहण हो जाता है जैसे चित्रावली में। 'कथा नूरजहाँ' में कथा एक त्रिकोण का सा स्वरूप ले लेती है। खुरशेद, नूरजहाँ पर आसक्त है और गुलबोस खुरशेद पर, अतः द्विविध प्रयत्न आरम्भ होता है और अन्त में तीनों का संयोग हो जाता है।

आलोचक 'कर' ने प्रबन्ध के अन्तर्गत कई काव्य-रूपों को लिया है जैसे प्रेमाख्यान, इतिहास एवं कथायें जिनका स्वरूप दुखान्त, सुखान्त, हास्यमय एवं ग्रामीण हो सकता है[1]।

साथ ही लेखक का विचार है कि महाकाव्य में कवि का ध्यान जहाँ व्यक्ति प्रधान होना है, वहीं दुखान्त काव्य में घटना संयोजना या कथानक पर ध्यान अधिक होता है[2]। सूफ़ी प्रेमाख्यानों के रचयिताओं का ध्यान व्यक्ति की चारित्रिक विशेषताओं के दिग्दर्शन की ओर उतना अधिक नहीं गया, जितना घटना संयोजना की ओर।

घटनाप्रधान प्रबन्ध काव्यों का एक कार्य होना है जिसके लिये संपूर्ण घटनाओं की संयोजना होती है। घटनाओं की इसी तारतम्यता को 'कार्यान्विय' कहते हैं। कार्यान्विय के अंतर्गत कथा के तीन भाग आदि, मध्य एवं अन्त का स्पष्ट होना आवश्यक है। इन प्रेम प्रबन्धों के भी ये तीनों भाग स्पष्ट होते हैं, जिनका स्थूल रूप से विभाजन इस प्रकार हो सकता है:-१. नायक द्वारा नायिका की रूपगुण की चर्चा सुनकर गृहत्याग करने तक, कथा का आदि। २. मार्ग के कष्ट एवं बाधायें पार करके अन्त में प्रियप्राप्ति,कथा का मध्य। ३. देश पुनरागमन एवं जीवनान्त, कथा का अन्त होना है। इन तीनों भागों की घटनायें आगे होने वाले कार्य की ओर उन्मुख होती हैं।

जिस कार्य की स्थापना का प्रयास प्रबन्ध काव्य में हो, उसे महान् एवं महत्वपूर्ण होना चाहिये जैसे 'रामचरितमानस में रावण वध' नैतिक, सामाजिक या मार्मिक प्रभाव की दृष्टि से कार्य का महत्वपूर्ण होना आवश्यक है, यद्यपि आधुनिक पाश्चात्य-काव्य-मर्मज्ञ यह आवश्यक नहीं मानते हैं। इन प्रेमाख्यानों में घटित होने वाला कार्य भी महत्वपूर्ण है। सुखान्त कथाओं में माता-पिता की सेवा, राज्यशासन में दक्षता आदि का परिचय देते

---

१. Epic Poetry is one of the complex and comprehensive kinds of Literature, in which most of other kinds may be included. Romance, history, comedy, tragical, comial, historical, pastoral are terms not sufficiently various to denote the variety of the Illiad and odyssey.

Epic And Romance p. 16.
W, P. Ker

२. The success of epic poetry depends on the auther's power of imagi ning and representing characters............Aristotle in his discussion of tragedy chose to lay stress upon the plot, the story, on the other hand to complete the paradox, in the epic he makes the charactets a'l important not the story.

Epic and Romance p. 171.
By W. P. Ker

हुये नायक का जीवन-यापन लोकदृष्टि से महत्वपूर्ण है, और दुखान्त कथाओं में नायिका का सती होना सामाजिक एवं नैतिक दोनों दृष्टियों से श्लाघनीय है।

सूफ़ी प्रेम प्रबन्धों का वस्तु-विन्यास, दृश्य-काव्य की भाँति घटना प्रधान है अतः नाटकीय कथावस्तु की भाँति इन प्रेम प्रबन्धों की कथावस्तु को भी प्रारम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम इन पांच भागों में विभाजित कर सकते हैं।

कथा के प्रारम्भ के अन्तर्गत लगभग सभी प्रेमाख्यानों में नायक को अपने माता पिता की एक मात्र तप, त्याग एवं दान के फलस्वरूप प्राप्त हुई संतान चित्रित किया गया है। वहीं पर कवि 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' के अनुसार नायक का अल्पकाल में विद्याप्राप्ति एवं ज्योतिषियों द्वारा उसके भविष्य की सूचना दे देता है। इन विवरणों को हम कथानक की भूमिका कह सकते हैं।

इस भूमिका के पश्चात् कवि नायक के हृदय में प्रेम भावना के उद्भव के लिये नायिका के नायक द्वारा चित्रदर्शन, गुणश्रवण, स्वप्नदर्शन एवं साक्षात् दर्शन की योजना करता है। स्वप्नदर्शन के लिये किसी माध्यम की आवश्यकता ही नहीं किन्तु चित्रदर्शन, गुणश्रवण एवं साक्षात् दर्शन का कारण कभी तो अप्सरायें या तोता या अन्य कोई प्रज्ञा-सम्पन्न पक्षी या व्यक्ति हुआ करता है। चित्रावली में एक देव नायक को उड़ा ले गया था। मधुमालत में अप्सरायें साक्षात दर्शन में सहायक थीं। अनुराग बाँसुरी में अन्तःकरण के मित्र ने सर्वमंगला की रूपगुण चर्चा की थी। नायिका के गुण का परिचय पाकर उसकी प्राप्ति का दृढ़ निश्चय करके नायक प्रयत्न में संलग्न हो जाता है। यूसुफ जुलेखा एवं प्रेम-दर्पण आख्यान को छोड़कर सभी में यह प्रयत्न नायक की ओर से होता है, उपर्युक्त दोनों ही प्रेमाख्यानों में नायिका जुलेखा, यूसुफ की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील है। कथा के आरम्भ में वही यूसुफ के सौन्दर्य का स्वप्न देखती है। साधारणतः ऐसे प्रयत्नों में विदेश की यात्रा, मार्ग में बीहड़ वन, भयंकर तूफानी समुद्र, पर्वतों एवं खोहों की चर्चा आती है। ऐसे ही प्रयत्नों के बीच देवों, अप्सरा रूपी राक्षसियों, भयंकर पशु एवं पक्षियों की योजना आश्चर्य एवं कुतूहल वृद्धि के लिये होती है। अध्यात्मिक पक्ष में यही प्रेम मार्ग की बाधायें हैं। कभी कभी ये आश्चर्य-तत्व या परा-प्राकृतिक-शक्तियाँ नायक पर कृपालु भी हो जाती है। वैसे नायक अपने साथ गुरु या उसका आदेश लेकर ही प्रेम मार्ग पर अग्रसर होता है, अतः इन बाधाओं के रहते हुये भी उसका मार्ग अवरुद्ध नहीं होता।

अपने इस प्रयत्न के पश्चात् जब नायक नायिका के नगर, उपवन या किसी देवस्थान में पहुँच जाता है तो प्राप्त्याशा होने लगती है। संयोगवश प्रिय के दर्शन पाकर उसका पुनः बिछोह हो जाता है। तब तक यदि प्रिय या नायिका के हृदय में नायक के लिये प्रेम भावना नहीं हो चुकी होती है, तो उद्भूत हो जाती है और वह भी नायक के वियोग में व्यथित रहने लगती है। उधर दूसरी ओर नायक साक्षात् दर्शन पाकर विरह सहने में असमर्थ हो प्रयत्न में द्विगुणित उत्साह एवं संलग्नता से तत्पर हो जाता है। राजाज्ञा, राजकोप एवं प्राप्ति की दुरूहता, आकस्मिक दुर्घटना आदि के कारण संयोग होना दुर्लभ प्रतीत होता है। कथानक की इसी अवस्था को 'नियताप्ति' कहते हैं।

नायक का प्रयत्न निरन्तर प्रखर होता जाता है। ऐसी अवस्था में कभी तो नायक के शौर्य के फलस्वरूप, कभी दैवी शक्तियों की अनुकूलता के कारण कथा प्रवाह पुन: फल की ओर उन्मुख होकर अग्रसर होता है। नायक नायिका का मिलन होकर कथा फलागम पर समाप्त हो जाती है; किन्तु अधिकांश सूफी प्रेमाख्यानों में मिलन ही फलागम नहीं होता। कथा का जीवनांत में शान्तिपूर्ण अवसान ही इन कथाओं में अधिकांश उपलब्ध होता है। यह आधिकारिक कथावस्तु के संगठन का विश्लेषण है। इसके अतिरिक्त प्रासंगिक कथाओं का समावेश इन सूफी प्रबन्धों में मिलता है। इन कथाओं एवं घटनाओं का समावेश मूल कथानक की गति-वृद्धि के हेतु ही किया गया है, कहीं कहीं किसी भाव विशेष की उत्कृष्टता सिद्ध करने के किये भी इन कथाओं का समावेश किया गया है, जैसे 'प्रेम रस' के अन्तर्गत सम्पूर्ण 'यूसुफ जुलेखा' उपाख्यान का विस्तृत वर्णन केवल प्रेम भावना की उत्कृष्टता सिद्ध करने के लिये हुआ है। मधुमालत में मधुकर एवं मालती के प्रेम प्रसंग के साथ, प्रेमा एवं ताराचन्द का प्रेमाख्यान भी चलता है जिसे हम प्रासंगिक कथा न कहकर सहकारी कथावस्तु कह सकते हैं। इन आधिकारिक एवं प्रासंगिक कथाओं का गुम्फन अत्यन्त सफलता से हुआ है, किसी भी ऐसी घटना का वर्णन कवियों ने नहीं किया जिसका सम्बन्ध कथा प्रवाह से न हो। इस प्रकार इन घटनाओं के सफल संगुम्फन के द्वारा एक ओर जहाँ कवि विषद भावों की व्यन्जना करता है, वहीं दूसरी ओर उसकी कथा को भी गति मिलती है। यही कथासंगठन की निपुणता है।

इन प्रबन्धों के स्वरूप, उद्देश्य, कथावस्तु एवं उसके संगठन पर विचार कर लेने के पश्चात् थोड़ा सा उनमें चित्रित देश-काल, परिस्थिति आदि पर दृष्टि-निक्षेप अनावश्यक न होगा।

देश, काल एवं परिस्थिति :

इन सूफी प्रबन्धों की प्रमुख विशेषता है कि इनका रचयिता आत्मपरिचय देना नहीं भूलता। यद्यपि कवि अपनी काव्य रचना के समय का निर्देश कर देता है, फिर भी वह जिस कथा की चर्चा करता है उसका कवि-समय से सामञ्जस्य नहीं होता। देश एवं काल की परिस्थितियों के चित्रण की ओर कवि का ध्यान नहीं होता वह परम्परागत, रूढ़िबद्ध घटना व्यापारों की योजना करके अपनी कथावस्तु का संगठन करता है किन्तु फिर भी उनमें यथास्थान प्रचलित भारतीय व्रत उत्सव एवं संस्कारों का उल्लेख रहता है। कासिमशाह ने 'हंसजवाहर' में चीन एवं बलख देशों में अपनी कथा को घटित किया है किन्तु कहीं भी इन देशों के सामाजिक रहन सहन, सांस्कृतिक प्रथाओं एवं परिस्थितियों का चित्रण नहीं मिलता। हंस एवं जवाहर के नामकरण के अतिरिक्त उनकी गृह व्यवस्था, सामाजिक रहन सहन एवं रीतिरिवाज सभी भारतीय हैं। जहाँ कहीं भी सिंहल का वर्णन आया है, वहाँ भी कवि सिंहल नामक देश के किसी पृथक समाज एवं संस्कृति का चित्रण नहीं करता। महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने एक बार सिंहल नामक स्थान की खोज राजस्थान के अन्तर्गत की थी। कहा नहीं जा सकता यह कहाँ तक सत्य है और इसका

सम्बन्ध सुन्दरी स्त्रियों से कैसे है। इन सभी कवियों ने सिंहल की सुन्दरी स्त्रियों का बखान किया है। केवल कवि 'जान' 'कामरूप' को यह महत्व देते हैं, जिसके साथ ही उसकी स्थानीय विशेषता 'काँवरू टोना' की भी चर्चा करते हैं।

राजदरबारों के सांस्कृतिक चित्रण में अवश्य कविगण सफल हैं। प्रत्येक राजदरबार में चित्रकार, संगीतज्ञ, गुप्तार एवं ज्योतिषियों का होना आवश्यक था। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक प्रेमाख्यान में राज घराने में निर्द्वन्द प्रवेश पाने वाली मालिन का महत्वपूर्ण स्थान था। मध्ययुगीन प्रेम-चर्चा के इस स्वरूप का कवि ने सफल चित्रण किया है।

नायक एवं प्रतिनायक :

इन प्रेमाख्यानों के नायक, रूप गुण सम्पन्न राजन्य वर्ग के हैं। लगभग प्रत्येक नायक अपने माता पिता की एक मात्र संतान है, और अतिशीघ्र ही राजोचित गुणों एवं अन्य विद्याओं को सीख लेता है। कथाओं में नायकों को लगभग एक से ही गुणों से विभूषित एवं एक सी ही परिस्थितियों का सामना करते दिखाया गया है, अतः उनकी चारित्रिक विशेषताओं का परिचय नहीं मिलता। नायक का 'प्रेमी स्वरूप' ही अधिक निखरा हुआ दृष्टिगोचर होता है। केवल जानकवि ने अपने एक नायक 'पुरोषत्तम' के परोपकारी स्व प का विशेष रूप से चित्रण किया है।

सभी कहानियों में प्रतिनायकों की योजना नहीं है, किन्तु जहाँ कहीं भी प्रनिनायक की योजना हुई है, वहाँ या तो वह नायिका प्राप्ति में बाधक है, या स्वयं नायिका का अपहरण करना चाहता है। इसके अतिरिक्त उसकी चारित्रिक दुष्टताओं एवं नीचताओं का विस्तृत वर्णन नहीं है। प्रतिनायकों की दृष्टि से अवश्य 'कथाछीता' में अलाउद्दीन एवं 'भाषा प्रेमरस' में सम्राट अविद का चरित्र अपनी विशेपता रखता है। 'कथा छीता' में अलाउद्दीन छीता को अपहृत करता है, किन्तु उसके प्रेम का परिचय पाकर उसे राजा राम के साथ पुत्रीवत् विदा कर देता है। इसी प्रकार सम्राट अविद; 'चन्द्रकला' को प्राप्त करने के लिए आक्रमण कर प्रेमसेन का जीवनापहरण करता है, किन्तु उसके रूप सौन्दर्य को देखकर विरक्त हो जाता है। जानकवि एवं शेख रहीम की यह मौलिकता सराहनीय है।

अन्य विशेषताएँ :

(प्रेम, स्वरूप, चमत्कारिक तत्व, एवं साँस्कृतिक चित्रण आदिक)

सूफी प्रेमाख्यानों में, राजकुमारों एवं राजकुमारियों की प्रेमकहानी ही वर्णित रहती है। इस प्रकार जिस प्रेम का वर्णन कवि चाहता है उसका सम्बन्ध स्वाभाविक रूप से राजपरिवार में हो जाता है, किन्तु सूफी प्रेमाख्यानों में वर्णित प्रेम पाश्चात्य प्रेमाख्यानों की भाँति दरबारी प्रेम नहीं है। इन सभी प्रेमाख्यानों में प्रेम को साध्य न मानकर, साधन रूप

में चित्रित किया गया है। प्रेम के द्वारा ईश्वर प्राप्ति के सिद्धान्त का निरूपण इन प्रेमाख्यानों का उद्देश्य है।

पाश्चात्य प्रेमाख्यानों में वर्णित प्रेम वासनात्मक है, उसमें प्रेम के आदर्श स्वरूप का चित्रण नहीं जो अपना सब कुछ भुलाकर केवल प्रिय का ही अस्तित्व चाहता है। पाश्चात्य 'कोर्टलव' दरबारी प्रेम का अर्थ ही वासनात्मक एवं परस्त्रीगमन था।

पाश्चात्य दरबारी प्रेम (Courtly Love) में वैवाहिक सम्बन्ध का नैतिकता मान्य नहीं थी। प्रेम का प्रतिफल विवाह ही हो, यह भावना भी उनमें न थी। वैवाहिक सम्बन्ध उस कोमल तन्तु के सदृश था जिसका विच्छेद किञ्चित झटके से हो सकता था, इधर भारतीय कवि प्रेम एवं विवाह का अनिवार्य सम्बन्ध मानते रहे। विवाह संस्कार भारतीय संस्कृति का दृढ़ स्तम्भ है जिसकी स्थिरता केवल इसी जीवन तक नहीं, परलोक में भी है। भारतीय नारी जन्मजन्मान्तर में एक ही पति को प्राप्त करना चाहती है। मंझन ने 'मधुमालत' में प्रेम के इस पावन स्वरूप का चित्रण कथा के आरम्भ में ही किया है। पाश्चात्य नायिका का चित्रण, एक कठोर शासक के रूप में हुआ है जो विभिन्न प्रतिद्वन्दियों के द्वन्द में आनन्द लाभ करती है, उसका विशेष लगाव किसी एक से नहीं, प्रत्युत उस द्वन्द में विजयी होने वाले से है और वह भी कितना क्षणिक ?

इन सूफ़ी कवियों ने भारतीय संस्कृति के प्रतिकूल कहीं भी वैवाहिक पवित्र बन्धन में शिथिलता नहीं आने दी। नारी के सतीत्व एवं मर्यादा का इन्हें पूर्ण ध्यान था। विदेशी होते हुये भी इन्होंने भारतीय सती प्रथा का जो मर्मान्तक एवं जाज्वल्यमान चित्रण किया है, वह अनुपम है। बहु-विवाह की प्रथा होते हुये भी, इन कवियों ने बहुविवाह की पृष्ठभूमि स्वरूप काम वासना का नग्न चित्रण कहीं भी नहीं किया। सूफी प्रेम काव्यों का नायक या तो दो पत्नियों वाला है या केवल एक। जहां कहीं भी कवि ने उसे अपनी प्रथम पत्नी से विमुख होता हुआ चित्रित किया है, वहां उसका उद्देश्य उसे संसार के ममता-मोहात्मक स्वरूप का दिग्दर्शन कराना मात्र है। वह उस 'परम' को प्रेम करने के पूर्व प्रेम के उत्कृष्ट स्वरूप को देख चुका होता है। अपने सम्पूर्ण आकर्षण से युक्त होते हुये भी, 'इश्क मजाजी' 'इश्क हकीकी' से निम्न है, इसी तथ्य का चित्रण करना कवियों का अभीष्ट है। इन सूफ़ी कवियों ने यद्यपि नायिका के नखशिख वर्णन में एवं स्त्रीपुरुष कामक्रीड़ा वर्णन में अपने कामशास्त्र ज्ञान का परिचय दिया है और इस चित्रण में वे अश्लील भी हो गये हैं किन्तु उनकी स्वच्छन्दता कहीं भी सामाजिक मान्यताओं के प्रतिकूल नहीं होती।

सूफ़ियों के प्रेमकाव्यों पर पलायनवादिता का आरोप भी नहीं किया जा सकता। तत्कालीन जीवन में व्याप्त कटुता एवं विषमता से इनका पूर्ण परिचय था। उस कटुता में मधुरता, एवं वैषम्य में साम्य की स्थापना, केवल प्रेम के द्वारा ही हो सकती थी, यह भी वे भली प्रकार जानते थे अतः उनके काव्य में वर्णित प्रेमानन्द केवल मानसिक तुष्टि या सांसारिक कटुता से दूर केवल भोगविलास में संलग्नता का द्योतक नहीं है। सूफ़ी प्रेमाख्यानों का नायक उस परमसत्ता के प्रेम में मग्न होता है जिसके स्वरूप का

दर्शन वह इस जीवन के कण-कण में करता है। वह उस परमात्मा को केवल प्रेम के द्वारा ही प्राप्त कर पाता है और परम सौन्दर्य की प्रतीक नायिका को प्राप्त कर वह केवल भोग विलास में ही रत नहीं हो जाता, प्रत्युत पुनः अपने कर्तव्य के संसार में वापस आता है जहां प्रेम एवं न्याय का प्रसार ही उसका कर्तव्य होता है। सपत्नियों में प्रेम भावना, इसी परमार्थ एवं लोकार्थ का समन्वय है जो उसके जीवन का अंग बन जाता है, वह जीवन की सारी कटुता, 'परमप्रेम' की पावन धारा से धो डालता है।

उपरोक्त विशेषताओं के अतिरिक्त सूफ़ी प्रेम व्यन्जना की एक और विशेषता यह है कि प्रेमकाव्यों में वर्णित प्रेम भावना का सम्बन्ध राज परिवार से होते भी कहीं भी वह उस स्वच्छन्दता को प्राप्त नहीं होता जो पूर्णतः लोक बाह्य या एकान्तिक हो। राजा होने के कारण हमारी कल्पना में कुछ ऊँचे उठ जाने पर भी, कहीं भी नायक जनसाधारण की भावनाओं की अवहेलना नहीं करते। नायक की पत्नियों का विरह 'राज विरह' नहीं है जहाँ वे अपनी व्यथा को क्रीड़ा द्ववारा कम कर सकें। उन्हें भी, अपने पति के आश्रय का अभाव उसी प्रकार खटकता है जिस प्रकार साधारण स्थिति की नारी को। नायक, नायिका को अपने राजवैभव द्ववारा आकर्षित नहीं करना चाहता प्रत्युत सर्वस्व त्याग कर केवल अपने मानवत्व के मूल्यांकन पर ही उसे प्राप्त करने की आशा रखता है। प्रेम व्यन्जना के अन्तर्गत, स्वच्छन्दता एवं संयम का स्वर्ण संयोग इन प्रेमाख्यानों में सर्वत्र प्राप्त होता है।

पाश्चात्य अद्भुत एवं प्रेमतत्वपूर्ण कथाओं (Romance) में जिस प्रकार जादू की शक्तियों एवं अप्सराओं का वर्णन रहता है, उससे कहीं अधिक इन सूफ़ी प्रेमाख्यानों में देव, दानव, अप्सराओं जलदेवियों, ख्वाजा खिज्र एवं इलियास, तथा गुरु की अद्भुत चमत्कारिक शक्तियों का विवरण रहता है, किन्तु पूर्व और पश्चिम का सांस्कृतिक एवं भौगोलिक अन्तर इनमें स्पष्ट लक्षित है। परियों, दानव, अप्सराओं, अद्भुत शक्ति-सम्पन्न सन्तों आदि के साथ ही साथ भारत में पाये जाने वाले पक्षियों एवं पशुओं की भी चर्चा है। शुक, अश्व, भयकंर अजगर, सहृदय वनमानुष, हाथी आदि की योजना भी चमत्कार की सृष्टि के हेतु हुई है।

ऊपर निर्दिष्ट विशेषताओं से संयुक्त सूफ़ी प्रेमाख्मानों की प्रबन्ध कल्पना सफल है, यह निर्विवाद है।

———

१

प्रतीक - योजना

समाज तथा संस्कृति के इतिहास पर दृष्टिपात करने से यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि प्रतीकों के प्रति विभिन्न कालों में समाज के भिन्न दृष्टिकोण रहे हैं। मध्ययुग में प्रतीकों की प्रधानता सर्वमान्य है, मध्ययुग की शिल्पकला, चित्रकला, वास्तुकला सभी पर प्रतीकों का प्रभाव था। आधुनिक युग में प्रतीकों का महत्व अत्यन्त कम हो गया, प्रत्यक्ष ज्ञान की ओर मानव की कल्पनाओं का झुकाव हो गया है। समय के साथ प्रतीकों के महत्व में कमी, उनकी उस समय के लिए अनुपयुक्तता सिद्ध करती है।

सूफ़ी काव्यान्तर्गत प्रतीक योजना की चर्चा का तात्पर्य ही दूसरा है। सूफी को प्रतीकों की आवश्यकता अपनी भावनाओं के स्पष्टीकरण के हेतु पड़ती है। सूफ़ी सौन्दर्यशाली ब्रह्म तथा उसके परम प्रेम का उपासक है, वह अपने प्रियतम के नूर का अनुभव करता है, तथा उसे व्यक्त करने का प्रयत्न करता है, इसी व्यक्तीकरण में उसे असमर्थ होकर प्रतीकों का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। परम सौन्दर्यशाली ब्रह्म का वर्णन करना असम्भव सा है, फिर उसकी अनुभूति तो और भी अधिक अप्रेषणीय है। जो अनुभव करता है वही जानता है, दूसरा कोई जानता नहीं और जान सकता भी नहीं। जो जानता है वह वाणी के माध्यम से उसे पूर्णरूपेण अभिव्यक्त नहीं कर सकता[1] और यही कारण है कि सूफी साधक, संकेतों तथा प्रतीकों का आश्रय ग्रहण करता है।

संकेतों को, विचार, भाव या अनुभूति समझने का भ्रम नहीं होना चाहिए। संकेत पूर्ण तथ्य नहीं है। संकेतों के द्वारा, संकेतित पदार्थ, सूक्ष्मतम परमसत्य को प्राप्त करने का प्रयास होना चाहिए। संकेत संकेतित वस्तु के तात्विक स्वरूप को उपस्थित नहीं करता केवल उसका आभास और संकेत ही उपस्थित करता है, इस अर्थ में सम्पूर्ण

---

१. जो वहि मुख को परगट देखा, गूँग भयउ भा बाहर लेखा।
नूरमुहम्मद : इन्द्रावती पृ० १८।

मानवीय भाषा सांकेतिक है।[1] कवि अपने काव्य के द्वारा केवल बिम्ब मात्र ग्रहण करवाना नहीं चाहता। वह इष्ट को संकेतित करता है और अपने संकेत को ऐसा रखता है जो सामान्य रूप से पाठक को प्रेषणीय हो। यदि कुछ प्रतीकों की योजना संकेतित वस्तु के पूर्णत: विरोध में हो जाती है तो भी कुछ समय के पश्चात् उन्हीं प्रतीकों का परम्परागत हो जाने पर संकेत स्पष्ट हो जाते हैं।

प्रतीक एवं रहस्य शब्दों के मध्य भी, विद्वानों को अनावश्यक सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता रहा है। रहस्यवाद और प्रतीक-विधान, एवं प्रतीक-वाद, और रहस्यात्मकता का अविच्छिन्न सम्बन्ध विचारकों ने देखा है। प्रतीकों के माध्यम से निरपेक्ष सत्य की प्राप्ति की प्रवृत्ति को ही एक विचारक रहस्यवाद मानता है[2] रहस्य और प्रतीकों में सम्बन्ध अवश्य है, किन्तु दोनों एक दूसरे के समानार्थी नहीं। रहस्यवाद प्रत्यक्ष जीवन की अन्तर्भूत चेतना की उपलब्धि करना चाहता है और प्रतीक केवल उसका आभासमात्र देने का प्रयास करता है।

प्रतीक संकेतिकृत वस्तु के स्वरूप या गुण का किंचित आभास होता है किन्तु चिन्ह में किसी भी तात्विक सम्बन्ध की आवश्यकता नहीं। चिन्ह केवल वस्तु का सूचक है। प्रतीक पद्धति का संबन्ध सान्निध्य से नहीं प्रत्युत सारूप्य और प्रभाव-साम्य से है। वस्तु जिसकी प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति होती है, तथा प्रतीक जिसके द्वारा वह अभिव्यक्ति होती है, में प्रभाव साम्य के कारण सारूप्य और तादृश्य भावना जागती है। ईश्वर के स्वरूप, निवास-स्थान, गुण आदि पर आधारित पौराणिकता की सृष्टि, इसी प्रतीकात्मक पद्धति पर ही हुई।

अण्डरहिल ने प्रतीक के तीन वर्गों का उल्लेख किया है। मानव के त्रिविध उद्वेग के कारण ही ऐसा विभाजन है। प्रथमत: संसार के मायाजाल से मुक्त मानव सत्य का अन्वेषण करता है, इस दृष्टि से मानव यात्री है। दूसरी अवस्था में आत्मा एवं परमात्मा के हार्दिक सम्मिलन की अभिलाषा है। तृतीय वर्ग के अन्तर्गत नैतिक जीवन से संबद्ध भावनायें आती हैं। इन तीनों आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति तीन प्रकार के प्रतीकों द्वारा होती है।

आत्मा एवं परमात्मा के अतिरिक्त बहुत से अन्य ऐसे दार्शनिक साधना सम्बन्धी विषय भी हैं जिनकी सम्यक अभिव्यक्ति, दैनिक जीवन की भाषा के द्वारा संभव नहीं है।

---

१. Mankind, it seems, has to find a symbol in order to express itself. Indeed 'expression' is 'symbolism'.'

Symbolism p. 73.
By wleitehead

२. Christian Mysticism p. 250.

By Inge

कवियों द्वारा प्रयुक्त रूपक समासोक्ति एवं अन्योक्ति अलंकार भी ठीक अर्थों में उन भावों की अभिव्यक्ति नहीं करते हैं।

जहाँ समान भाव वाले विशेषणों से अप्रस्तुत का कथन किया जावे, तथा जिसमें समास या संक्षेप में उक्ति-चातुर्य प्रकट हो, वहाँ समासोक्ति होती है, वहीं अन्योक्ति में किसी व्यक्ति विशेष की बात, किसी अन्य व्यक्ति पर ढाल कर कही जाती है। इन दोनों की कथन शैलियों में प्रतीक की भावना नहीं आ पाती है। इसी प्रकार, प्रतीक और चिन्ह में भी अन्तर होता है। प्रतीक में संकेतित वस्तु के स्वरूप या गुण का आभास होता है, किन्तु चिन्ह में किसी भी तात्विक सम्बन्ध की आवश्यकता नहीं होती, चिन्ह केवल वस्तु का सूचक मात्र है।

प्रतीक का सम्बन्ध सान्निध्य से अधिक न होकर सारूप्य और प्रभाव साम्य से होता है। वस्तु, जिसकी प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति होती है, तथा प्रतीक जिसके द्वारा वह अभिव्यक्ति होती है, में प्रभाव साम्य की कल्पना ही प्रधान रहती है। प्रभाव साम्य के कारण ही सारूप्य और सादृश्य भावना जगती है। ईश्वर के स्वरूप, निवासस्थान, गुण आदि पर आधारित पौराणिकता की सृष्टि इसी प्रतीकात्मक पद्धति पर हुई। 'ज्योति' का प्रतीकात्मक प्रयोग सभी धर्मों में सर्वाधिक और व्यापक रूप से हुआ है। प्राचीन ग्रीक साहित्य में इसका प्रयोग है। मिस्र का मुख्य अधिदेवता 'सूर्य' था। जोराष्ट्रियन धर्म भी सूर्योपासक था। ईसाई धर्म में ईश्वर के प्रकाश की कल्पना है। वेदों में सूर्योपासना है। इसलाम और विशेषकर सूफ़ी मत में ख़ुदा के नूर की चर्चा भरपूर हुई है। सूफ़ी साहित्य में 'नूर' के साथ ही ज्योति तथा अलख निरंजन शब्दों का प्रयोग भारतीय प्रभाव है।

परम तत्व की ज्योति रूप में कल्पना कई कारणों से हुई। अन्धकार से भयभीत मानव को प्रकाश की आवश्यकता थी इसी कारण उसने ईश्वर की कल्पना 'प्रकाश' या ज्योति रूप में की। अन्धकार में वस्तुओं का वास्तविक स्वरूप छिपा रहता है अतः उससे सदैव भय की भावना जाग्रत होती है जब कि प्रकाश वास्तविकता का परिचायक एवं अभयदानी है। प्रकाश ही निराशा के अन्धकार को दूर करता, मृत्युभय से मुक्त करता तथा अमरत्व प्रदान करता है। अविद्या, अज्ञान या अन्धकार ही संसार की वास्तविक नश्वरता को प्रकट नहीं होने देते, और प्रकाश, ज्योति या परमतत्व उसके वास्तविक स्वरूप को उन्मुक्त कर देते हैं।

प्रकाश और ज्ञान का अविच्छेद्य सम्बन्ध है। विभिन्न कालों में प्रकाश की इस भावना के साथ प्रतीक भावना का योग रहा है। वैदिक काल में यही कर्मकाण्ड, उपनिषद काल में ज्ञानकाण्ड और भक्ति काल की विभिन्न साधनाओं के अन्तर्गत सौन्दर्य, शील तथा शक्ति के समन्वित स्वरूप का सांकेतिक प्रतीक प्रकाश हुआ।

सूफ़ियों ने माया, या कर्मकाण्डी काजियों, मुल्लाओं एवं पण्डितों के लिए प्रतीकों की योजना नहीं की है। इन कवियों ने सही अर्थों में केवल अव्यक्त को व्यक्त करने में प्रतीकों का सहारा लिया है। कहीं एकाध स्थलों पर 'दाढ़ी' का प्रयोग अवश्य

कर्मकाण्ड-बहुल काजियों के लिए आया है।[1] शेख रहीम ने ऐसे ही व्यक्ति के लिए 'खरीदार' शब्द का प्रयोग किया है ऐसे व्यक्ति अपनी श्रद्धा, भक्ति, पूजा, उपासना, बाह्य आडम्बर एवं लोकाचार सभी, कुछ के बदले में 'रब' या कर्त्ता से कुछ पाना चाहते हैं, किन्तु न तो रब वेचनेवाला है और न विकने वाला, ऐसे खरीदार उसे पा नहीं पाते।[1]

इन्द्रिय जनित विषय वासनाओं के लिये ठग एवं बटमार प्रतीकों का प्रयोग हंस जवाहिर में हुआ है, जो साधक की साधनात्मक पूंजी का अपहरण करके उसे कहीं का नहीं रखते[2]।

चित्रवली में साधना के निरन्तर विकास को लक्षित करने में कवि ने मार्ग में आने वाले विषयात्मक अन्तरायों को 'पुरों' की संज्ञा दी है। इन पड़ावों या नगरों में ठहरकर भी उनकी ओर आकर्षित न होना साधक का कर्त्तव्य है, जो साधक इसमें सफल हो जाता है वही रूपनगर तक पहुँच पाता है। इन अन्तरायों से घबड़ाकर मार्ग का त्याग उचित नहीं है, प्रत्युत उनका त्याग कर उनसे बचकर अपने सीधे मार्ग पर जाना ही श्रेय है। जो साधक इन अन्तरायों का विचार नहीं करता, उन्हें मार्ग में ही बटमार लूट लेते हैं। पहला नगर 'भोगपुर' है जहाँ विलास की सभी सामग्री उपस्थित है, इस आकर्षण के मध्य से वही साधक सफल होकर जा सकता है जो शरीयत के नियमों का पालन करता रहे। भोगपुर शारीरिक इन्द्रिय-जनित सुख ऐश्वर्यों का प्रतीक है। दूसरा नगर 'गोरखपुर' है, जो बाह्याडम्बर का प्रतीक है। वेष-भूषा या जोगियों जैसे ठाट हृदयशुद्धि नहीं करते, हृदयशुद्धि, आत्मिकशान्ति एवं परम प्रेम के लिये ये सभी वस्तुएँ अनावश्यक हैं[3]। जो

---

१. है वैराग पंथ अति गाढ़ा, चलि न सकें जिनके मुख डाढ़ा।
नूरमुहम्मद : अनुराग बांसुरी पृ० ११६।

१. मक्के गये हज्ज करि आये, कपटी मन फिर संगे लाये।
मक्के और मदीने जावें, खरीदार रब का ना पावें॥
शेख रहीम : भाषा प्रेमरस।

२. देखा गढ़ छींका सबै परघट बैरी पाँच।
शोच रहै निशदिन मनहुं, जीव विधी गुन ज्ञान।
हम बटमार न छाड़ें काहूँ; देव सबै जो चहै बनाहू॥
कासिमशाह : हंसजवाहर पृ० २१।

३. यहि मगु केर करै जो साधा, चलत निचिंत न होइ बल आधा।
चाहै चरन चुभै जो काँटा, चलै बराइ मारग नहि छाँटा॥
जो कोउ जान न चार विचारा, बीचहिं मारि लेहिं बटमारा॥
चारि देस बिच पंथ सो अब सुनु राजकुमार।
बेगर बेगर बरन गुन, जस कछु तहँ व्यवहार॥
प्रथम भोगपुर नग्र सोहाया, भोग विलास पाउ जहँ काया॥
आगे गोरखपुर जहँ देसू, निबहै सोइ जो गोरख भेसू॥

साधक भोगपुर या गोरखपुर की ओर आकर्षित नहीं होता वही 'नेहनगर' में पदार्पण करता है, क्योंकि इस पुर में 'अपनत्व' का 'विलास' एवं 'रूप' का त्याग आवश्यक है। ऐसा साधक ही 'रूपनगर' तक पहुँच पाता है। 'रूपनगर' उस परम सौन्दर्य का प्रतीक है जिसके दर्शन पाकर साधक आत्मविभोर होकर पृथक सत्ता खो बैठता है। सूफ़ी साधना एवं लक्ष्य का कितना सीधा-सादा रूपक इन नगरों के वर्णन में उपलब्ध होता है[1]।

पञ्च इन्द्रियों के सुखों को कहीं-कहीं 'तस्कर' भी कहा गया है। बन्दीखाने के रक्षकों की भांति भी इनका वर्णन हुआ है क्योंकि ये मनुष्य को कभी मुक्त होने का अवसर नहीं देते[2]।

इसी प्रकार 'इन्द्रावती' में भी कवि ने राजकुंवर की आगमपुर यात्रा में कुछ बनों का उल्लेख किया है, जो मार्ग के अन्तराय हैं। माया के विभिन्न स्वरूपों के प्रतीक हैं। प्रथम बन रूपाकर्षण का प्रतीक है। यहाँ की सभी वस्तुएँ सुन्दर हैं, किन्तु साधक नेत्रों के इस क्षणिक सुख की अवहेलना करता है। दूसरा बन 'शब्द-सुख' दायक है, किन्तु राजकुंवर परम शब्द की आशा में उसका भी तिरस्कार करता है। तीसरा वन 'गन्ध-सुख' दायक है, किन्तु साधक सिद्धि की लट-सुगन्ध पर मुग्ध है। चौथा बन 'रस-आनन्द' दायक है, किन्तु साधक केवल दर्शन का भूखा होता है। पांचवां बन 'स्पर्श-सुख' का

एही भेष सिद्धि बहु अहहीं, एही भेष बहुत ठग रहहीं।
येही भेष सों बहु ठग आये, एही भेष सों बहुत ठगाये॥

जो भूले यहि भेष जग, चले न तेहि हिय आछ।
आगे चलैं न तहँ रहैं, वरु फिरि आवैं पाछ॥

जो कोउ आगे चाहै चला, परगट देह भेष सो रला॥

चित्रावली पृ० ७९, ८०, ८१।

१. आगे नेह नगर भल देसू, रंक होइ जहँ जाय नरेसू।
आगे पंथ चलै पै सोई, जाके संग कछु भार होई॥

ऐसन जिअ जेहि लोभ न होई, रूपनगर मग देखै सोई॥
हेरत तहाँ पंथ नहिं पावा, हेरन चहै जो आपु हेरावा॥
पथिक तहाँ जो जाइ भुलाना, विमलपंथ तेहीं पहिचाना॥

चित्रावली पृ० ८२।

२. तैं अबहीं घर आप न बूझा, द्वार देखि पिछवार न सूझा।
बैठे देई सेंध पिछवारे, मूसहिं तसकर वर अँधियारे॥
तैं दे बार रहा गहि कूँजी, रही न एको घर महँ पूँजी॥
पांचों भूत रहें नित घेरे, कोह भरे चख सौंह न हेरे॥
कै अनेक मेगी रखवारी, मांगहिं आपनि आपन बारी॥

उसमान : चित्रावली पृ० १३१।

प्रतीक है। साधक के लिये यह अत्यन्त अनिवार्य है कि वह इन 'बनों' को सफलतापूर्वक पार करे। वास्तव में ये बन 'इन्द्रिय सुखों' के प्रतीक हैं।

वन का स्वरूप कवि ने माया की गहनता का ध्यान रख कर दिया है। जिस प्रकार अपरिचित वनस्पति से निकल सकना सहज नहीं होता उसी प्रकार इन सुखों की अवहेलना करना सुसाध्य नहीं। यह तभी सम्भव होता है जब साधक को नामस्मरण में लगन एवं दर्शन लालसा लगी हो[1]। इन सातों बनों को पार करके राजकुंवर 'देहन्तपुर' पहुँचा। 'देहन्तपुर' विषय वासनाओं एवं शारीरिक सुखों, ऐश्वर्यों के नाश का प्रतीक है। देहन्तपुर के बाद उसका साथी कायापति या संयम होता है जो उसे धैर्यपूर्वक विघ्नों का सामना करने के लिये प्रोत्साहित करता है। कायापति के साथ साथ साधक या जीवात्मा का बसेरा 'जिउपुर' में होता है। अब बहिर्दृष्टि न होकर अर्न्तःदृष्टि हो जाती है, किन्तु अभी तक उसका साथ बुद्धिसेन (तर्क जिज्ञासा एवं शंका) से है; अभी वह रूप सौन्दर्य पर विमुग्ध होकर भाव-विमोहित नहीं हुआ है, जो साधक के लिए आवश्यक है। श्रद्धा की आवश्यकता अनिवार्य है। यहाँ से साधक बुद्धि का साथ छोड़ केवल उसकी रूप माधुरी का पान करता है। उसकी अन्य लालसायें भस्म हो जाती हैं[2]।

---

१. गहन गंभीर हँसि मकोई, तहाँ बेगि संचरब न होई।
पहिले वन माँ राज सरेखा, भाँतिहिं भाँत का पछिय देखा।
राजे कहा जोग हम लीन्हा, आगम पहुँचे पर हित दीन्हा।
दुसरे बन माँ राजा आएउ, मधुर सबद पंछिन सों पाएउ।
राजें कहा थिरउँ तेहि ठाऊँ, जहाँ सुनउँ इन्द्रावति नाऊँ।
तिसरे बन आएउ नरनाहा, मिलेउ सुगन्ध तहाँ बन माहा।
कहा प्रीतम लट कर बासा, चाहत हौं राखत नित आसा।
जब आये चौथे बन जहाँ फले बहुत फल देखा तहाँ।
हौं अनरुध चाहत हौं ऊखा, नहिं दरसन का हौं मैं भूखा।
काटत पंथ महीप सयाना, पचएँ बन माँ आय तुलाना।

मोहि बिसराय कहाँ है जब लग दरस न होइ।
चलेउँ हिर्दै पाछि सों सुख को अच्छर धोइ॥

छठयें बन माँ राजन आवउ, सो बन बाघत बैरेन लाएउ।
नाम जपत इन्द्रावति केरा, सतएँ बन माँ लीन्ह बसेरा।
राजें साथी को समुझावा. जेहि दरसन पर मैं चित लावा।
अहइ हमार संघातिय सोई, काहेक भेट बाघ सों होई।

नूरमुहम्मद : इन्द्रावती पृ० २७, २८।

२. जब जागा मोहा अनुरागा, अधिको प्रेम अगिन मन लागी।
मेधा दारू हितानल पावा, लहर बढ़ावा ताहि जरावा।
जब जिअन्तपुर पहुँचा राजा, बुद्धहि छाड़ तहाँ सो भाजा।

कुँअर अकेला होइ चला लै सारंगी हाथ।
जेहि कारन भा जोगी, तेहिक प्रेम तेहि साथ॥

नूरमुहम्मद : इन्द्रावती पृ० ३१।

आगमपुर का राजा जगपति है तथा वहाँ आनन्द नामक ज्ञानी निवास करता है। यहाँ अगमपुर और जगपति दोनों क्रमश: ईश्वर एवं उसके परमनिवास के परिचायक हैं जहाँ पहुँचकर आनन्द लाभ होता है। इसी प्रकार बुद्धिसेन का निवास-स्थान मनपुर है अर्थात् मन में ही शंकाओं एवं तर्क का उदय होता है।

नूरमुहम्मद ने इसी प्रकार अपनी अनुराग बाँसुरी में भी पात्रों के नामकरण में कुशलता दिखाई है। प्रत्येक पात्र का नाम गुणविशेष का द्योतक है। 'मूर्तिपुर' शरीर का राजा जीव जीवात्मा का प्रतीक है। जीव राजा का एक 'अन्त:करण' नामक पुत्र है। अन्त:करण जीवात्मा को अतीव प्रिय है। अन्त:करण सभी निश्चय अपने साथी संकल्प या विकल्प के कथनानुसार करता है। अन्त:करण की संकल्पात्मक या विकल्पात्मक दो वृत्तियां हैं। अत: कवि ने संकल्प एवं विकल्प को अन्त:करण का संघाती या संगी कहा है। बुद्धि, चित्त और अहंकार भी उसके सखा हैं, वास्तव में जिनमें कोई अन्तर नहीं है। अन्त:करण चतुष्टय में मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार की गणना होती है। नूरमुहम्मद ने यहां मन को अन्त:करण मान लिया है और शेष तीन को उनका सखा; सरवन ब्राह्मण वास्तव में श्रवण का प्रतीक है तथा 'ज्ञातस्वाद' रसना का। इन दोनों में भी विद्या सम्बन्धी मैत्री है, इनका मिलन विद्यानगर में ही हुआ, रसना जो कुछ कहती है श्रवण उसको सुनकर हृदयंगम कर लेता है। श्रवण ने एक मणिमाला 'ज्ञातस्वाद' से पाई, मणिमाला स्नेहनगर के राजा दर्शनराय की पुत्री सर्वमंगला की कृपा का प्रतीक है। प्रेम के वरदान स्वरूप माला को या जिह्वा के द्वारा सर्वमंगला की गुणावली को सुनकर, अन्त:करण उस पर विमोहित हुआ। अन्त:करण में स्नेहनगर एवं सर्वमंगला की प्राप्ति लालसा जग जाने पर विकल्प एवं बुद्धि ने उसे साधना मार्ग से विरत करना चाहा किन्तु संकल्प का कहना मानकर वह स्नेहगुरु की अधीनता स्वीकार करके सर्वमंगला तक पहुँचा।

इस प्रकार मानव अङ्गों एवं अन्त:करण की स्नेह के द्वारा परमात्मा को प्राप्त करने के दृढ़ संकल्प को कवि ने इन रोचक गुणविशेष के द्योतक प्रतीकों के द्वारा व्यक्त किया है। शरीर का अधिपति जीवात्मा है, उसकी चेतना अन्त:करण में सीमित है जहाँ से वह निश्चय या अनिश्चय करता है। जिह्वा से कही एवं कानों से सुनी, उस परमेश्वर की रूपगुण-चर्चा पर वह आकर्षित होता है तथा दृढ़ संकल्प करके केवल स्नेह का आधार लेकर अग्रसर होता है। काल के वशीभूत जीव भावना को इन कवियों ने कुछ प्रतीकों के आधार पर व्यक्त किया है, जिनमें मैना और बाज, मैना और मार्जारी प्रमुख हैं[1]।

इन प्रेमाख्यानों में प्रेम मार्ग के बाधास्वरूप पर्वत, दैत्य, बन, पुर या समुद्र ही आये हैं। वन एवं पुरों की चर्चा हम पीछे कर चुके हैं। पर्वत का उल्लेख जहाँ भी कहीं आया

---

१. काल सीस पर रैन दिन जैस बाज मंडराय।
जिउ की मैना पींजड़े समै पाय लै जाय॥

शेख रहीम : भाषा प्रेमरस।

है वह अवरोध के रूप में, अपनी विशालता एवं दृढ़ता के कारण उसे पार करना भी कठिन रहता है, किन्तु साधक उसे प्रेमसाधना के प्रभाव से सहज ही पार कर लेता है[1]।

दैत्यों का समावेश अधिकांश स्थलों पर केवल चमत्कार या विलक्षणता के लिए है, केवल एक स्थल पर इसे काल का स्वरूप दिया गया है। शेख रहीम ने दैत्य के निधन को महाकाल का निधन बताया है।

समुद्र सदैव 'प्रेम' का प्रतीक बना है। समुद्र की ही भाँति प्रेम भी अत्यन्त गंभीर, विशाल, एवं विस्तृत है। इस प्रेम समुद्र में साधक तभी डूबता, एवं पथ भ्रष्ट होता है, जब वह शरीयत के नियमों का पालन नहीं करता। लोभ मोह में फँसकर, प्रेम की आवश्यक कसौटी त्याग को भूल जाता है, तब वह प्रेम समुद्र में बह जाता है, असफल होता है, सिद्धि को खो बैठता है और विरही ही रहता है। दूसरी अवस्था में वह सांसारिक मोह एवं ऐश्वर्य को न छोड़ अपने साथ हाथी घोड़े, सेना, शक्ति एवं विलास प्रसाधनों को रखने के कारण पथ भ्रष्ट होता है। साधना के क्रमशः विकास से, त्याग के प्रखर होने के कारण वह प्रेम में निमग्न होता है, जहां इस लौकिक संग्रह की भावना का नाश आवश्यक है इस अवस्था में डूबता उतराता 'अलख तीर' पर जा लगता है। इन दो अवस्थाओं में, एक में उसे लोभवृत्ति के कारण दण्ड ग्रहण करना पड़ता है, दूसरे में साधना विकास के कारण वरदान प्राप्त होता है।

समुद्र में 'मरजीया'[2] होकर निकलने की भावना भी इन ग्रंथों में आई है। साधक आत्मविस्मृत होकर दिव्य रत्न प्राप्त करता है जिससे उसे प्रिय की प्राप्ति होती है, यहाँ समुद्र उसके प्रेम का मापदण्ड भी बनता है जो परीक्षा में सफल साधक की रत्न प्राप्ति में सहायता करता है।[3]

सिंहलगढ़ का वर्णन भी अधिकांश प्रेमाख्यानों में प्राप्त होता है जो सुन्दरियों के निवासस्थान के रूप में प्रसिद्ध होता है। वहाँ जाकर ही सिद्धि लाभ होगी ऐसा वर्णन

---

१. दधि अरण्य प्रेम पद आगे, सूधो पंथ होत अनुरागे ॥
नूरमुहम्मद : अनुराग बाँसुरी।

२. मरजीया होके समुद्र में पल में जाओ समाय,
कर से मानिक गहिपकड़ अब ऊपर उतराय ॥
अलीमुराद : कुँवरावत।

३. देखेउँ यदि काआ के माहीं, दूसर घाट अवर कहुं नाहीं।
काया माँझ नयनपुर घाटा, देखेहु सरनदीप के बाटा।
रूप रतन काआ के माँझा, काया माँझ मोर औ साझा।
सब गढ़पति काआ के माँही, दूसर ठाँव लखौं कहुं नाहीं।
नूरजहाँ काआ के जोती, काआ समुद सीप जहाँ मोती ॥
ख्वाजा अहमद : नूरजहाँ।

भी आता है। वास्तव में 'सिंहल' के साथ नाथ पंथियों की रूढ़ भावना का समावेश है जिसे हम यद्यपि 'कायागढ़' तो नहीं कह सकते, किन्तु काया-सौन्दर्य के चरम विकास का निवास-स्थान अवश्य कह सकते हैं। नाथपंथियों एवं सूफियों, दोनों को वहां सिद्धि-लाभ होता है, किन्तु एक विरक्त या विमुख होकर नाथ होता है, और सूफी इस सौन्दर्य पर विमुग्ध होकर 'उसे' प्राप्त करता है, किन्तु 'सिंहल' रहता सिद्धि-लाभ स्थान ही है।

गढ़ का वर्णन कहीं कहीं कायागढ़ के रूप में भी हुआ है।

सूफी साधना एवं साहित्य में कुछ शब्द ऐसे हैं जो विशेष अर्थों के लिए रूढ़ हैं जैसे (रुख) मुख या कपोल ईश्वरीय सौन्दर्य का प्रतीक है, उसमें दयालुता, उदारता, प्रकाश, रक्षण एवं संहार सभी शक्तियों का समन्वय है। सूफी कवि जहाँ भी नायिका के मुख सौन्दर्य का वर्णन करते हैं, उसे इसी समन्वित सौन्दर्य का प्रतीक बनाने की चेष्टा करते हैं।[1]

'जुल्फ' या अलक उस अज्ञान या अन्धकार का प्रतीक है जो जीवात्मा को वास्तविक सौन्दर्य देखने या सत्य ज्ञान समझने में बाधा डालता है, यह परिहारक एवं भुलावा देने वाला है। सूफी कवियों ने नखशिख के अन्तर्गत 'लट' का वर्णन अवश्य किया है और लगभग सभी स्थलों पर, नायक नायिका के मुख या सत्य पर लट को देखकर मूर्च्छित या वास्तविक सत्य से परे हो जाता है। नूरमुहम्मद ने इस लट का विस्तार से वर्णन किया है।[2]

तिल एकत्व का प्रतीक है और इसी कारण इसे काले तिल के रूप में चित्रित किया जाता है, यह एक पूर्ण शून्य का प्रतीक भी है[3]।

---

१. चित्रावली झरोखे आई, सरग चाँद जनु दीन्ह देखाई॥
चित्रावली पृ॰ १०६।

२. बहै उपबन पर लट लटकारी, तपी देवस भा निस अँधियारी।
मोहि परा दरसन कर चौरा, हना बान बन आँखिन फेरा।
एक कहा लट सों मुख सोभा,होत अधिक लखि मुरछा लोभा।
एक कहा लट नागिन मारी, डसा गरल सों गिरा भिखारी।
एक कहा लट जामिन होई, राति जानि जोगी गा सोई॥
इन्द्रावती पृ॰ ६०।

३. तिल है सुन्न इकाई केरा, तेहि दिस करत जगत जिव फेरा।
इन्द्रावती पृ॰ ७०।

परछाहीं तिल एक ही, सब नैनन्ह महँ जोति।
चित्रावली।

'चश्म' या आंख अथवा नेत्र दृष्टि ईश्वरीय अनुकम्पा का प्रतीक है[1]।

'अब्र' या भौंह भी परम सौन्दर्य का प्रतीक है, किन्तु यह उसे प्रकट या व्यक्त होने से रोकता है।[2]

'लब' या अधर परमेश्वर की जीवनदायिनी शक्ति है।[3]

आसव वा मदिरा परमात्मारूपी प्रियतम के दर्शन से प्राप्त आनन्दानुभूति है जो तर्क को नष्ट कर देती है।

'साकी' या मधुबाला सत्य अस्तित्व का प्रतीक है, जिसके सौन्दर्य का दर्शन प्रति कण में होता है।

'जाम' या चषक ईश्वरीय कृत्यों के प्राकट्य का स्वरूप है।

'सबू' एवं 'खुम' परमात्मा के नामरूपात्मक स्वरूप का ज्ञान है।

'बहर' सागर, 'कुलजुम' महासागर परमात्मतत्वों का प्रकट होना है। यह सारा दृश्य और अदृश्य जगत खुमखाना है जिसमें परमात्मा के प्रेम की मदिरा ओतप्रोत है। हरकण अपने अपने परिमाण के रूप से उस परम प्रेम का पैमाना है।

'खराबात' मदिरालय या भट्ठी है जो पूर्ण एकत्व को प्रकट करता है। खराबाती मदिरालय में नियम से जानेवाला है जो इस संसार के सापेक्षिक गुणों, हीनत्व एवं महत्व की भावना से परे हो गया है, और जो ईश्वर के गुणों एवं कार्यों के चिन्तन को ही प्रधान समझता है।

'बुत' या मूर्ति का प्रयोग कभी कामिल (पूर्णपुरुष) कभी मुर्शिद (गुरु) एवं कभी कुत्व या अपने समय के आदर्श व्यक्ति (मापदण्ड) के लिए प्रयुक्त होता है। जुन्नार या जनेउ

---

१. जो काहू पर डारै डीठी, सो जन देइ जगत दिसि पीठी।

इन्द्रावती पृ० ४५।

बर कामिनि चषु मीन सम, निमिष हेर तन जाहि।
बहुरि जनम भरि मीन जिमि, पलक न लागै ताहि॥

चित्रावली।

२. अधर तेहिक जिउ दाता आही, देत भलो जीवन जस चाही।
तो मोहिं सोच जिउ कर नाहीं, होइ सुधा तेहि अधरन माँहीं।
बहुर प्रान देई मोहि सोई, तित जीवन पुन मरन न होई॥

इन्द्रावती पृ० ७७।

अधर सुधानिधि बरनि न जाई॥

चित्रावली।

का अर्थ आज्ञाकारिता और दायित्व भावना से है। कुफ्रे हक़ीक़ी, ईश्वर के सम्बन्ध में एकत्व की भावना है। तरसाई या ईश्वर-भय, रूढ़िवादिता से मुक्ति है। इनमें से मुख, नेत्र, अधर, भौंह, लट, तिल, मदिरा, साकी, एवं मदिरालय का प्रयोग सभी प्रेमाख्यानों में उपलब्ध होता है मदिरा का प्रयोग नूरमुहम्मद ने त्रास-निवारण के हेतु किया है।

"बिना कदम्बरि के पिये, त्रास न मन सो जात।
दयावती होइ दीजिये, हौलिक लागी प्रात॥"

इन्द्रावती पृ० ३४।

इसी प्रकार मदिरालय, साक़ी एवं मदिरा का वर्णन करते हुये नूरमुहम्मद ने लिखा है।

अरे अरे कलवार पियारे, मदिरा ढारे नैन तुम्हारे।
एक पियाला भर मद दीजै, मोल पियारो मानस लीजै।
पियउँ सुरा पर चिन्ता मारउँ, पलकन सों पद सवन बोहारउँ।
तोहि सखन सोहै दुखया, इन अमल सुख सोभा स्या।
यह मन तापर आवई नाई, झूलत है मन देत झुलाई।
दे यह अपने हाथ सों पियउँ देखि मुख तोर।
चाहसि तो मद मोल ले प्रान पियारा मोर॥

जीवात्मा के परमात्मा के प्रति प्रेम को इन कवियों ने कई प्रतीकों के द्वारा व्यञ्जित किया है जिनमें कमल और सूर्य, चन्द्रमा और चकोर, दीपक एवं पतंग, चुम्बक और लोहा, गुलाब और भ्रमर, राग और हिरण प्रमुख हैं। इन प्रतीकों से कवि स्पष्ट ही साधक और साध्य के बीच के व्यवधान की ओर संकेत करता है। सूर्य और कमल में आकाश का जो व्यवधान है वह भी उनकी प्रीति में बाधक नहीं होता, चन्द्रमा और चकोर में भी यही अन्तर है। इस अन्तर के होते हुये भी ये प्रेम-प्रतीक इस रूप में आदर्श हैं कि अपने प्रिय के अतिरिक्त अन्य किसी की उपस्थिति इन्हें आनन्द नहीं दे सकती, इनकी एकनिष्ठता ही सराहनीय है, कुछ लोग 'दीपक और पतंग' के प्रतीक पर आधारित करके, सूफी प्रेमप्रतीकों पर 'जलाने' का आरोप करते हैं किन्तु यह ठीक नहीं है। वास्तव में इन प्रतीकों के पीछे

---

१. तौ उत्तम को ध्यान भला है, कमल सुरुज को प्रीति निबाहै।
कहाँ मयंक कहा ससिनेही, दीपक कहाँ कहाँ तमगेही॥
अनुराग बाँसुरी पृ० १०४।

आनवस्तु पर उपनत दोहा, चुम्बक पाहन चाहत लोहा।
देखौ पतंग गृह्य मन रीझा, मन भावन मग ऊपर सीझा।
पंकरूह तिमिरारि लुभाना, जलमहँ ताहि देखि बिगसाना।
पाइ गुलाब गुलाब सनेही, चहचहात आनन्दत देही।
भ्रमरकोस मृगमद नित रागी, प्रेम की रीति निरार सुभागी॥
अनुराग बाँसुरी पृ० ११२।

प्रेम के त्यागमय स्वरूप का ही दर्शन है। पतंगा यह जानकर भी कि वह दीपक के सम्पर्क में भस्म हो जायेगा, दीपक का प्रेम नहीं छोड़ता, हिरण यह जानकर भी कि राग का मोह उसे बहेलिये का शिकार बना देगा, राग के वशीभूत होता है। जीवन के मोह का त्याग ही प्रेम का आदर्श स्वरूप है।

दर्पण को साधक के हृदय का प्रतीक माना गया है क्योंकि उसी दर्पण के मध्य साधक को परमेश्वर के दर्शन करने हैं, अतः आदर्श या दर्पण का स्वच्छ होना आवश्यक है [1]।

जीवात्मा और परमात्मा के सम्बन्ध की चर्चा करते समय इन सूफ़ी कवियों ने जिन प्रतीकों का आश्रय लिया है, उनमें बूंद और समुद्र, सूर्य और किरण प्रमुख हैं।

इन प्रतीकों में कहीं तो जीव और आत्मा के तात्विक रूप से एकत्व की प्रधानता है, कहीं निर्माता एवं निर्माणकर्ता का सम्बन्ध है किन्तु सर्वत्र ही महानता और लघुता की ओर संकेत अवश्य है।

इसी प्रकार सृष्टि और परमेश्वर के सम्बन्ध की चर्चा करते समय कवियों ने नट और कठपुतली, चित्र और चित्रकार, प्रतीकों का आधार लिया है जिससे स्पष्ट ही सृष्टि अचेतनता के साथ ही परमेश्वर की सर्वशक्तिमत्ता का बोध होता है।

---

१. यह दरपन तुम्ह लेहु संभारी, जेहि महँ देखहु दरस पियारी।
अब नहिं लावहु चित बैरागा, मांजत रहब जौं मैल न लागा॥
चित्रावली पृ० १०२।

प अबहीं नहि उचित परगट देउ देखाय।
देखै मेरो छाया, ऐसो करहु उपाय॥

झांका दरपन मों परछाहीं, परी बदन की बिछुरी नाहीं।
इन्द्रावती पृ० ११४।

२. वह समुद्र आगे हम लोगें, बिन्दु समां आवै केहि जागें॥
अनुराग बाँसुरी।

एकै हम दुइ कै अवतारा, एक मन्दिर दुइ किये दुआरा।
तैं जो समन्द्र लहर मैं तोरी, तैं रवि मैं जग करन अंजारी॥
मधुमालत।

३. कब लगि नट ज्यों आपु छिपावसि। इहि जग पुतरी काठ नचावसि॥
उसमान: चित्रावली पृ० ४।

आदि बखानों सोई चितेरा। यह जग चित्र कीन्ह जेहि केरा॥
उसमान: चित्रावली पृ० १।

श्री आरबरी के अनुसार सूफ़ियों के विचार से वर्णों का एक पृथक अर्थ भी होता है। इस प्रकार के संकेत नूरमुहम्मद की 'अनुराग वाँसुरी,' 'कामरूप की कथा' (अज्ञातकवि) एवं 'इन्द्रावती' में भी मिलते हैं, अतः इन वर्णों की भी व्याख्या यदि प्रतीकों के अन्तर्गत की जाय तो अत्युक्ति न होगी। श्री ए० जे० आरबरी जी को एक हस्तलिखित ग्रन्थ 'अल सिर्र फि अनफास अल सूफ़िया' नाम का 'इजिप्सयन रायल लायब्रेरी' में देखने को मिला जिसके अन्त में 'अल मुजाम फिहुरूफ ऊ मुजम' नाम से एक उपक्रमणिका दी हुई है जिसमें सूफ़ी मत की उनतीस परिभाषायें दी हुई हैं। उन्हीं के अनुसार इन वर्णों के प्रतीकों की चर्चा निम्नांकित है :—

अलिफ—सूफ़ी मत का तात्पर्य सद्गुणों की प्राप्ति एवं दुर्गुणों का अभाव है।
बे— सूफ़ी मत का तात्पर्य आत्मा की खोज एवं लौकिक सुखों का त्याग है।
ते— सूफ़ी मत का तात्पर्य सिद्धान्त रक्षा एवं तुच्छ विचारों का त्याग है।
टे— सूफ़ी मत का तात्पर्य परमेश्वर की सेवा में हृदय की दृढ़ता है।
जीम— सूफ़ी मत का तात्पर्य विषय वासनाओं पर नियन्त्रण रखना है।
हे— सूफ़ी मत का तात्पर्य गुप्त भेद की सुरक्षा, धर्मात्माओं की श्रद्धा एवं पतितों का पार्थक्य है।
ख़े— सूफ़ी मत का तात्पर्य संग्रह त्याग ही नहीं, उसकी आशा का भी त्याग है।
दाल— सूफ़ी मत का तात्पर्य निरन्तर स्मरण एवं चिन्तन है।
जाल— सूफ़ी मत का तात्पर्य ज्ञानोदय एवं पूर्णसमर्पण है, कपट एवं परीक्षा के समय भी शान्त रहना है।
रे— सूफ़ी मत का तात्पर्य दुर्वासनाओं का त्याग एवं परमेश्वर से सदैव भय है।
जे— सूफ़ी मत का तात्पर्य मित्रों का सम्मान एवं जीवमात्र से सहानुभूति है।
सीन— सूफ़ी मत एक साधना है जिसका उद्देश्य मानव को अपराधों से क्षमा करवाना है।
शीन— सूफ़ी मत का तात्पर्य वरदान के प्रति कृतज्ञता एवं दण्ड के सम्मुख अधीनता या धैर्य है।
स्वाद— सूफ़ीमत का तात्पर्य वितर्क के मध्य भी श्रद्धा बनाये रखना है।
ज्वाद— सूफ़ीमत का तात्पर्य दुखों का पूर्ण नाश है।
तोय— सूफ़ीमत का तात्पर्य दुर्भावनाओं को दासत्व एवं परमप्रेम को स्वामीत्व के रूप में परिणत कर देना है।
जोय— सूफ़ीमत का तात्पर्य कष्टों की उपस्थिति में भी हर्ष एवं कृतज्ञता प्रदर्शित करना है।
ऐन— सूफ़ीमत का तात्पर्य महान उद्देश्य एवं ईश्वर की महान अनुकम्पा है।
गैन— सूफ़ीमत का तात्पर्य अवैध वस्तुओं से घृणा एवं परमात्मप्रसाद से प्रेम है।
फ़े— सूफ़ीमत का तात्पर्य मानवत्व से ऊपर उठकर परमात्मा तक पहुँचना है।
क़ाफ़— सूफ़ीमत का तात्पर्य उस प्रकाश की प्राप्ति है जो मुक्ति देता है।

काफ— सूफ़ीमत का तात्पर्य वास्तविकता-लाभ एवं क्षणिकता का विनाश है।
लाम— सूफ़ीमत का तात्पर्य परमेश्वर से एकत्व तथा अन्य वस्तुओं से विछोह है।
मीम— सूफ़ीमत का तात्पर्य आत्मचिन्तन है।
नून— सूफ़ीमत का तात्पर्य लालसासाफल्य के प्राप्ति की आतुरता है।
हे— सूफ़ीमत का तात्पर्य परमेश्वर के क्रोध एवं दण्ड देने के समय भी निर्विकार होना है।
वाव— सूफ़ीमत का तात्पर्य सत्य मार्ग के परिपालन से परमेश्वर की प्राप्ति है।
लाम-अलिफ—सूफ़ीमत का तात्पर्य परमेश्वर की सत्ता के गुप्त भेद का प्रकाश है।
ये— सूफ़ीमत का तात्पर्य पाप कारण के समूलनाश का दृढ़ निश्चय है।

इन परिभाषाओं का मनन करने से सूफ़ीमत की सहन शीलता, उदारता एवं स्नेहाद्रता का परिचय मिलता है।

सूफ़ी कवियों ने प्रतीकों के आधार पर, प्रेमाख्यानों के अन्योक्ति के रूप में उन तथ्यों का मनोरम स्पष्टीकरण किया, जिनके सम्पादन में तर्क असफल रहा है।

१०

रस, छन्द, अलंकार

संस्कृत साहित्य में काव्य और साहित्य शब्द अधिकांश समान अर्थों में प्रयुक्त हुये हैं। बहुधा साहित्य और काव्य ये दोनों शब्द एकार्थवाची ही देखने में आते हैं। साहित्य वह चिह्न अथवा प्रतीक है जिसके द्वारा लोकोत्तर आनन्द, सत्य और सौन्दर्य के माध्यम से प्रकट होने का प्रयास करता है। रसगंगाधर के रचयिता ने काव्य-लक्षण निरूपण में इस अलौकिक आह्लाद का विशेष ध्यान रक्खा है। काव्य की उत्कृष्टता का रहस्य तथा काव्य की आत्मा खोजने के प्रयत्न में कई रस, अलंकार, रीति, बक्रोक्ति तथा ध्वनि सिद्धान्तों का विकास हुआ है; काव्य की भिन्न परिभाषाओं में तीन प्रवृत्तियां ही विशेष लक्षित होती हैं। (१) काव्य को केवल अभिव्यक्ति मात्र मानने वाली (२) काव्य में अर्थ की उत्कृष्टता स्वीकार करने वाली (३) दोनों प्रवृत्तियों में सामञ्जस्य करने वाली।

कवि की रचना का उद्देश्य केवल स्वान्तः सुखाय ही नहीं होता, यदि काव्यगत उक्तियों से पाठक को आनन्द लाभ न हो सका तो काव्य रचना का उद्देश्य सफल नहीं होता। सिद्धान्त-निरूपण के हेतु लिखे गये काव्य का सम्बन्ध विद्वतवर्ग से, चमत्कार प्रदर्शन तथा काव्यगत सौन्दर्य लक्षित करने के हेतु लिखी गई काव्य कथाओं की रचना का सम्बन्ध राजसमाजों तथा काव्यप्रेमियों से, तथा हृदय की सहज आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति का सम्बन्ध साधारण पाठकों से होता है। सूफ़ी कवियों का राज दरबार में सम्मान था। जायसी का सम्बन्ध अमेठी राज्य से सर्वमान्य है। जान कवि ने अपनी रचना 'रतनावति' जहाँगीर के दरबार में सुनाई थी अतः स्वाभाविक रूप से उनके काव्य का स्वरूप भी वही काव्यगत सौन्दर्य प्रदर्शन के हेतु लिखे कथाकाव्य का है, किन्तु उनका उद्देश्य केवल चमत्कार प्रदर्शन करना नहीं है। सूफ़ियों ने कथा का माध्यम अपने सिद्धान्त प्रसरण के हेतु चुना किन्तु उनका सम्पर्क साधारण जनजीवन से अधिक होने के कारण उनके काव्य की आत्मा लोक गीतों के समान ही हुई। तत्कालीन स्थिति, काव्यरूढियों एवं पद्धतियों का पालन भी इनके काव्य में मिलता है।

इन सूफ़ी कवियों ने सर्वत्र इस बात का संकेत किया है कि ये कवि वाणी-विलास के लिए काव्य रचना नहीं करते। मन की उमंग और प्रेम की पीर जनित उल्लास ने इन्हें इन कहानियों को कहने के लिये बाध्य कर दिया। यही कारण है कि इनके प्रेमाख्यान काव्य की रसात्मक कसौटी पर पूरे उतरते हैं इन कथा-काव्यों में हृदय का राग तथा अनुभूति पूर्णरूप से अंकित है। रागात्मकता, बौद्धिकता एवं कल्पना का स्वरूप समन्वित सामञ्जस्य सूफ़ी काव्य में सर्वत्र प्रतिलक्षित होता है।

रस :

रसात्मकता ही काव्य की कसौटी है[1]। रस के मूल में आनन्द-लाभ की भावना अन्तर्हित है। आनन्द की भावना आत्मप्रसार की सम्भावना से संभव है, इसकी सम्भावना 'शृंगाररस' में सर्वाधिक होने के कारण इसे 'रसराज' भी कहा गया है। इसके दोनों भेदों, संयोग एवं वियोग में यह आत्मप्रसार व्याप्त है। संयोग शृंगार में आत्यंतिक सन्निकटता और सान्निध्य का भाव रहता है और विप्रलम्भ शृंगार में आकांक्षा, उत्कंठा आतुरता तथा चिरस्मरण के कारण भाव ऐक्य का। यही रसराज शृंगार अपने अंग उपांगों सहित सूफ़ी काव्य में व्याप्त है।

शृंगार रस :

रति भाव जब पूर्णतया पुष्ट और चमत्कृत होता है तभी उसे शृंगार रस कहते हैं। नायक एवं नायिका इसके आलम्बन होते हैं। सखा, सखी, बन, उपवन, बाग तड़ाग, चन्द्र, चाँदनी, चन्दन, भ्रमर-गुंजन, कोकिल-कूजन, ऋतु विकास आदि शृंगार रस के उद्दीपन माने जाते हैं। भ्रूभंग, अपांग वीक्षण, मृदु मुस्कान, हाव भाव आदि शृंगार रस के अनुभाव के अन्तर्गत आते हैं। उग्रता, मरण, आलस्य एवं जुगुप्सा को छोड़कर शेष निर्वेदादि सम्पूर्ण भाव, इसमें संचारी या व्यभिचारी भाव होते हैं।

शृंगार रस के दो प्रकार हैं (१) संयोग एवं (२) वियोग। विप्रलम्भ शृंगार ही अपने विभिन्न स्वरूपों के साथ सूफ़ी काव्य में अधिक वर्णित है। आत्मा का परमात्मा से विछोह, उसकी परब्रह्म प्राप्ति की उत्कट लालसा एवं उत्कंठा, चिन्ता, स्मरण, गुण-कथन इत्यादि विरह दशायें, पाण्डुता, मलिनता, असौष्ठव इत्यादि विरहावस्थायें, तथा प्रवास, मान, संदेश-प्रेषण आदि की चर्चा ही सूफ़ी काव्य में विस्तार से वर्णित हैं। संयोग शृंगार का वर्णन भी आत्मा परमात्मा के मिलन स्वरूप को अंकित करने के लिये किया गया है, किन्तु उसमें सूफ़ियों की मर्मज्ञता, भावुकता एवं संवेदनशीलता का विशेष परिचय नहीं मिलता। परम्परागत शृंगार-सज्जा रतिक्रीड़ एवं वाक्चातुर्य का प्रभाव ही अधिक दृष्टिगोचर होता है।

---

१. रसात्मकं वाक्यं काव्यं।

शृंगार रस के आलम्बन नायक और नायिका हैं। शास्त्रानुकूल नायक त्यागी, कृती कुलीन, समृद्धिवान, रूपयौवन-सम्पन्न, उत्साही, दृढ़व्रती, दक्ष, लोकरन्जक, तेजस्वी एवं सुशील होना चाहिये।

नायक के भी कई भेद होते हैं। धर्मानुसार नायक के तीन भेद हैं। १— पति, २— उपपति, ३— वैशिक। इसमें से पति के भी कई उपभेद हैं। अनुकूल, दक्षिण, धृष्ट, शठ एवं अनभिज्ञ। स्वाभावानुसार नायक के चार भेद हैं। १—धीरोदात्त, २—धीरोद्धत, ३—धीरललित, ४—धीरप्रशान्त। जहां तक नायकों का सम्बन्ध है, हिन्दी के सूफी प्रेमाख्यानों के नायक सभी राजकुमार या राजा हैं, अतः शौर्य उत्साह एवंरूपयौवन, से सम्पन्न दृढ़निश्चयी समृद्धिवान, दक्ष एवं सुशील होना स्वाभाविक ही है। स्वाभावानुसार इन नायकों को धीरोदात्त के अन्तर्गत रखना चाहिए। यद्यपि प्रिय प्राप्ति के पश्चात् इनकी निश्चिंतता कला एवं विलासप्रियता को देखकर इनके धीरललित होने का भ्रम हो सकता है, किन्तु इसे केवल समय का प्रभाव या कठिन साधना के पश्चात् प्राप्त हुई वस्तु का संतोष ही समझना चाहिए।

धर्मानुसार इन नायकों को हम' पति' के अन्तर्गत ले सकते हैं। नायिका से परिचित होने के पूर्व तक नायक का अपनी पत्नी से ही प्रेम रहता है। उसकी प्रेम भावना में तनिक भी व्यभिचार की गन्ध नहीं है। नायिका की रूपगुण प्रसंशा सुनकर जो उसके हृदय में प्रेम भावना जाग्रत होती है उसमें भी दृढ़ निश्चय एवं एकनिष्ठता है, वासना का लगाव नहीं। उसका नायिका से प्रेम उसी प्रकार का है जैसा अनुकूल पति का अपनी पत्नी के प्रति होता है। अतः नायक की गणना पति के अन्तर्गत करना ही उचित है।

नायिकायें अधिकांश राजकुमारियां हैं जिनमें स्वाभावतः यौवन रूप, गुण, शील प्रेम, कुल भूषण, दातृत्व, कृतज्ञता, पाण्डित्य, उत्साह, तेज एवं चातुर्य आदि गुणों का समावेश होता है। धर्म, आयु, प्रकृति, जाति और अवस्था या परिस्थिति, इन पांच कारणों से नायिकायों के अनेक भेद माने गये हैं। धर्म-भेद से स्वकीया, परकीया, एवं सामान्य आयु बिचार से मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा, तथा प्रकृत्यानुसार उत्तमा, मध्यमा और अधमा; जाति भेद से पद्मिनी, चित्रणी, शंखिनी और हस्थिनी; परिस्थिति के अनुसार खण्डिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, उत्कंठिता, वासक सज्जा, स्वाधीन पतिका, अभिसारिका, प्रवत्स्यपतिका, प्रोषितपतिका एवं आगतपतिका, आदि भेद माने जाते हैं।

इन प्रबन्धों में स्वकीया मुग्धा, मध्या तथा प्रौढ़ा, उत्तमा, पद्मिनी एवं प्रोषितपतिका,

---

२. त्यागी, कृती, कुलीनः सुश्रीको रूपयौवनोत्साही।
दक्षोनुरक्तः लोकस्तेजो वैदग्ध्य शीलवान्नेता ॥

साहित्य दर्पण : पृ० ८४

रूपगर्विता, प्रवत्स्यपतिका, स्वकीया, अभिसारिका आदि नायिका-स्वरूप प्रचुरता से उपलब्ध हैं नूरमुहम्मद ने मानवती एवं दायावन्ती का भी संकेत किया है।

रूपगर्विता :

अति स्वरूप रानी सुन्दरी, धरती पर अपछर औतरी।
छवि सों धन रिझवारि भई, पियहिं रिझाई जीउ जमि गई।

इन्द्रावती० ६।

अनुकूल नायक :

पिउ पियारी सुन्दर नारी, भयउ पिय की प्रान पियारी।
देखी पिउ धन की सुघराई, मन सो मया करे अधिकाई।
सोवै कुंवर लिहे धन कोरा, कबहुँ न पीठ दीन्ह तेहि ओरा।

इन्द्रावती० पृ० ६।

प्रेमगर्विता :

पिय की प्रीत बखानैं, एक ना राखे गोय।
रूप गरबता सुन्दरी, प्रेम गरबता होय।

इन्द्रावती० पृ० ६।

स्वकीया :

लाजवन्ति सुन्दर रही, पियहिं न बरजा जात।
धीरज हिरदै मों धरा, कछु न सुनायहु बात।

इन्द्रावती० पृ० २६।

मध्या :

सखिन साथ भूली सखि केला, औ भूली फागुन की खेला।
धन के अंगन बल तरुनाई, आई छवि अधिकार बढ़ाई।
जोबन लाज नयन मों दीन्हा, मुग्धा सो मध्या तेहि कीन्हा।
गइ चञ्चलता थिरताई, आई लाज निकाइय पाई।
धन सूधै चितवत रही, निस दिन जेहि अंखियान।
सो तीछे चितवन लगी, जोबन के अभिमान।

इन्द्रावती० पृ० ३५।

रूपगर्विता :

अधरन में मुसुकानी रानी, होंइ अभिमानी बोली बानी।
है मोहि रूप विमल उजियारा, बस महं रहै सो प्रीतम प्यारा।
ऐगुन भये न रूठै देऊं, तनु मुसकाय हाथ कै लेऊं।
अंमन होय करउं असमानू, प्रीतम देइ हाथ महं प्रानू।
पाहन समा कठोर जो होई, करउ सिंगार होइ जल सोई।
अब कुछ चिन्ता है नहीं, प्रीतम भा मोहि हाथ।
अंमन कवहुँ न होइहैं, नित रहिहैं मोहिं साथ।
इन्द्रावती० पृ० १७५।

इन सूफ़ी कवियों ने कथा की नायिकाओं को 'पद्मिनी' ही कहा है। केवल 'चित्रावली' में कवि उसमान ने चित्रावली के लिए बार बार 'चित्रनी' शब्द का प्रयोग किया है।

पद्मिनी :

है पदुमिनि इन्द्रावति प्यारी, ताको बदन रूप फुलवारी।
कोमलताई सुन्दरताई, सै रसना सों वरनि न जाई।
िर्गन हरा मान मृग केरा, मन लजाइ वन लीन्ह बसेरा।
ना अति लांब न छोटी आही, है तस इन्द्रावति जस चाही॥
इन्द्रावती पृ० १६।

चित्रनी :

देवन्ह कौतुक अति जिय भाया, चित्रिन दरस अमर भइ काया।
चित्रिनि कहाँ हँकारि परेवा, कहाँ सो जोगि करौं जेहि सेवा॥
उसमान : चित्रावली पृ० ३५।

स्वाधीनभर्तिका :

जो स्वाधीनभर्तिका रही, दिन औ राति प्रीत माँ बही।
अनुराग बाँसुरी पृ० १०१।

आगतरतिका :

इन्द्रावति मन मों हुलसानी, हुलसे कुच कंचुक सकरानी।
मुख पर छबि बाढ़ी अधिकाई, गइ पियराइ भई ललनाई।

भयेउ परमदा परमद भेषा, गै दुख भै सुख जै मुख देखा ॥
इन्द्रावती पृ० १६३ ।

अभिसारिका का वर्णन शेख नबी के 'ज्ञानदीप' में उपलब्ध होता है जिसमें रात्रि के समय 'कृष्णाभिसारिका' का रूप धारण करके रानी देवजानी 'ज्ञानदीप' से समागम की अभिलाषा लेकर गई थी, किन्तु निराश हुई। 'चित्रावली' में कौलावती भी यही भेष धारण करके सुजान के दर्शनार्थ बन्दीगृह जाती थी।

कृष्णाभिसारिका :

आगे भइ सुरज्ञानी बोली, काढ़हु ललित रंगीली चोली।
खोलहु सुरंग छबीली सारी, नील बसन पहिरहु तन वारी ॥

बिछिया बजनी काढ़ि के, छुद्र घंटिका खोलु।
कंगन टाँउ छिपाइ लेउ, रसना नेकु न बोलु ॥

चरन चापि कछु सकुच न आनी, अंग अंग ढाँपि चली देवजानी।
तनिक सो तन जहँ होइ उघारी, चन्द्र जुगुनि प्रगटै उजियारी।
नील बसन मधि सोभत अंग, सीसी भरी कनक जन संग।
साम जलधि बिच दामिनि जैसी, दुरत मुरत अँधियारी तैसी ॥
शेखनबी : ज्ञानदीप।

उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत सखा, सखी, वन, उपवन, बाग, तड़ाग, चन्द्र, चाँदनी, चन्दन, भ्रमरगुञ्जन, कोकिलकूजन, ऋतु विकास, आदि का वर्णन करना कवि-परम्परा रही है। सूफ़ी प्रेमाख्यानों में सखी, चाँदनी, भ्रमर-गुञ्जन, कोकिल-कूजन, ऋतु-विकास आदि का वर्णन हुआ है। सखा का वर्णन भी इन काव्यों में हुआ है। नायिका का विस्तृत नखशिख वर्णन भी इसी के अन्तर्गत आता है।

सखा का वर्णन करते समय कवियों ने अपनी योजना को सफल बनाने के लिए राजपरिवारों की परम्परा का पूर्ण ध्यान रक्खा है। नायक के सखा अधिकांश चित्रकार वैद्य, जौहरी या यौगिकविद्या के पारंगत हैं, जिनका प्रवेश सहज ही राजमहलों में होता था। 'कामरूप की कथा' में तो इन सभी कलाओं के पारंगत व्यक्ति नायक के सखा थे जो क्रमशः उसका समाचार पहुँचाते थे।

सखी परम्परा में अधिकांश 'मालिनों' का चित्रण हुआ है जिनका प्रवेश बड़ी आसानी से राजमहलों में भी होता था और उद्यान तो उनका निवास स्थान था ही। इन्द्रावती में 'चेना मालिन' ने पहले राजकुंवर से इन्द्रावती के अनुपम सौन्दर्य की प्रशंसा की उसके पश्चात् इन्द्रावती से राजकुंवर के सलोने रूप की चर्चा करके उद्यान में उनके मिलन की योजना बनाई, इसी प्रकार 'प्रेमरस' में मालिन ही प्रेमसेन को नारी का भेष

धारण करवा के चन्द्रकला के महल में ले गई थी और अपने इस साहसपूर्ण कार्य के फलस्वरूप उसे एक मोती की माला प्राप्त हुई थी। अनुराग बाँसुरी की सखी चित्रबन्धिनी है, इसके अतिरिक्त दूती सखी के अन्तर्गत, हंस, तोता, हुदहुद, साधारण पक्षी, परी आदि की भी योजना मिलती है।

मालिनें तथा चित्रबन्धिनी की योजना दूतियों के लिए होती रही है। 'पुहुपावती' प्रेमकथा में 'पुहुपावती' के हृदय में प्रेम जाग्रत करने का श्रेय चित्रबन्धिनी को है। मालिनों की चर्चा लगभग सभी प्रेम कथाओं में हुई है।

'यूसुफ-जुलेखा' एवं 'प्रेम दर्पण' में धाय का वर्णन सखी रूप में हुआ है, केशव ने 'रसिक-प्रिया' में सखियों के प्रसंग में 'धाय' और 'मालिन' का भी उल्लेख किया है।

धाय जनी, नायन नटी, प्रकट परोसिन नारि।
मालिनि,बरइन, शिल्पिनी, चुरहारिनि, सुनारि ॥
रागजनी, सन्यासिनी, पटु, पटवा की बाल।
केशव नायक नायिका, सखी करहिं सब काल ॥

रसिक प्रिया पृ० १२०।

इसके अतिरक्त भारतीय साहित्य परम्परा में, पवनदूत, चन्द्रदूत, मेघदूत, आदि दूतों की योजना भी होती रही है, यह मानव हृदय की उस विशालता का परिचय है जो विरहावस्था में ही प्राप्त होती है जब मानव-हृदय जड़चेतन की सीमा त्याग कर सभी में अपनी भावनाओं का आरोप करता है। इन्द्रावती में ऐसे ही पवनदूत की चर्चा आई है।

प्रकृति का वर्णन अधिकांश उद्दीपक रूप में ही हुआ है[1] :—

---

१. एही जुगुति दिन बीतेउ भारी, निसि आई विरहिनि दुख भारी।
देखत चन्द्र चन्द्र विकरारा, पपिहा बोल सबद जिव मारा ॥
बोलहि मोर सोर बन मांहा, झीली झकनि काम तन दाहा।
कोकिल कूकत कलरव बोली, बिरह पसीजि भीजि तन चोली ॥
शेखनबी : ज्ञानदीप।

रितु बसन्त बन आदिन फूला, जोगी जती देखि रंग भूला।
पूरन काम कमान चढ़ावा, बिरही हिये बान अस लावा।
फूले फूल शिखी गुंजारहिं, लागी आगि अनार के डारहिं।
कुसुम केतकी मालति बासा, भूले भँवर फिरहिं चहुं पासा।
मैं का करूँ कहाँ अब जाऊँ, मों कहँ नाहिं जगत में ठाऊँ।
टेसू फूले तो कीन्ह अंजोरा, लागी आगि जरै चहुं ओरा।
पीतम भूल गये सुख पाई, निरमोही का दया नहीं आई।

सूफ़ी प्रेम प्रबन्धों के अन्तर्गत षटऋतु और बारहमासा का वर्णन अधिक हुआ है जिसमें प्रकृति के उद्दीपन स्वरूप के ही दर्शन अधिक होते हैं। दूती, सखी या सखा की जो योजना हुई है वह एक ओर तो उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत आती है और दूसरी ओर कथा के क्रमिक विकास में भी सहायक होती है।

शृंगार रस के अन्तर्गत स्त्रियों की विभिन्न चेष्टाओं एवं मनोविकारों का वर्णन अधिकांश होता है, यही कारण है कि भ्रूभंग, अपांग वीक्षण, मृदुमुसकान, हाव-भाव आदि शृंगार रस के अनुभाव रूप में साहित्य में वर्णित रहते हैं।

यौवनावस्था में नायिका के मुख अथवा शरीर के दूसरे अंगों में उत्पन्न होने वाले विविध विकारों को सात्विक भाव या सात्विक अलंकार कहते हैं। ये अलंकार भी तीन प्रकार के होते हैं—अंगज, अयत्नज एवं स्वाभाविक।

अंगज अलंकारों के अन्तर्गत हाव, भाव और हेला की गणना होती है।

बाल्यावस्था के अन्त और तारुण्य के आरम्भ में निर्विकार मन में पहले पहल काम विकार की उत्पत्ति को 'भाव' कहते हैं।

'निर्विकारात्मके त्रिभाव: प्रथम विक्रिया'

भ्रकुटी तथा नेत्रादि के विलक्षण व्यापारों द्वारा सम्भोगेच्छा को प्रकाशित करने वाले भाव ही, जब भावना-विकार थोड़ा थोड़ा लक्षित करने लगते हैं, हाव कहलाते हैं।

भ्रूनेत्रादि विकारैस्तु सम्भोगेच्छा प्रकाशक।
भाव एवाल्पसंलक्ष्य विकारो हाव उच्यते॥

हेला के द्वारा भाव की व्यन्जना स्पष्टता से होती है।

'हेलात्यंत समालक्ष्य-विकार: स्यातु स एव तु॥'

अंगज अलंकारों में भाव का वर्णन सूफ़ी काव्य में प्रचुरता से हुआ है। अपना स्वरूप दर्पण में देखने पर इन्द्रावती काम पीड़ित हो गई—

यह रितु चित कैसे रहै, सहै विरह के पीर।
पुहुप देखि बसन्त रितु, कैसेहु धरै न धीर॥
कवि नसीर : प्रेम दर्पण।

राजै कहा पवन के साथा, है मेरी मन जा धन हाथा।
जो तेहि ओर बहो तुम आई, दीन्हेउ मोर सन्देश सुनाई।
सुन्दरी मिली दया की पाती, दे मुह में हिर्दै औ छाती।
पढ़ि राखेउँ मन ऊपर, डरेउँ कि मानस दाहि।
पाती कहँ न जराँव, धरेउँ नयन पर ताहि॥
नूरमुहम्मद : इन्द्रावती।

आपुहिं पर रीझी वह प्यारी, रहिल अचेत भइल सुधियारी।

भयेउ बिकल इन्द्रावति, चित ग्राहक पर दीन्ह।
हीरा मनि बिनु जौहरी, कैसेहुँ जाइ न चीन्ह॥

भइ विह्वल इन्द्रावनि वाला, भयो कपोल इंगुर हरताला।
इंगुर अधर दसन वह पारा, प्रेम क आग दोउ कहँ जारा।
अधर न हंसा न रद विहसाना, भा संकेत मन ग़लिप समाना।
ताको कहाँ नींद सुख भोगू, जाको प्रीतम लागि वियोगू।

प्रेम समुद्र बीच घनपरी, झहरैं खाय घरी औ घरी।
हिरदे भीतर करइ पुकारा, कहाँ हमारो खेवन हारा।
काम के बान को वेझा गई, बैरी ताहि भई तरुनाई॥

इस प्रकार अपने ही यौवन जनित सौन्दर्य को देखकर इन्द्रावति काम पीड़ित हो गई, उसमें भाव का उदय हुआ। चित्रावली में सहनायिका कौंलावती में भी यौवनास्था के आगमन पर भावोदय हो गया था। यूसुफ जुलेखा एवं प्रेमदर्पण की नायिका में भी यूसुफ को स्वप्न में देखने के पूर्व ही काम-विकार उत्पन्न हो चुका था। 'पुहुपावती' में नायिका 'पुहुपावती' में यह भाव ानिकचन्द के चित्र-दर्शन के पश्चात् उदय हुआ था। प्रेमाख्यानों में भाव या काम-विकार की चर्चा स्पष्ट रूप से नहीं है, फिर भी अधिकांश में इसका संकेत अवश्य है, और नूरमुहम्मद ने 'इन्द्रावती' में इसका उल्लेख विस्तार से किया है, जिसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है।

हाव और हेला का वर्णन अधिक नहीं हुआ है किन्तु इनका सर्वथा अभाव भी नहीं है। पुहुपावती में हेला का स्पष्ट चित्रण हुआ है। मानिकचन्द के चित्र को देखकर पुहुपावती के हृदय में भाव उत्पन्न हुआ था जिसका स्पष्ट प्रकटीकरण उसकी चित्र की आलिंगन चुम्बन आदि क्रियाओं में होता है, जिसको हम 'हेला' के अन्तर्गत ले सकते हैं।

सामग्रि सो चित्रहि पाई, भौ उद्दीप काम तन आई।
अंक भरै सो चित्रहि बाला, चुम्बन करे काम तन पाला॥
लगि मुख चित्र दाग परिजाई, नख रद लौं सो होहिं लखाई।
अबलों के निसदिनु तहि सोई, के परिरंभु नींद नहि खोई॥

हाव का वर्णन अधिक नहीं मिलता है। 'प्रेमरस' में यूसुफ के सौन्दर्य को देखकर जुलेखा ने कई प्रकार की चेष्टाओं से उसे अपनी ओर आकर्षित करना चाहा था, इन चेष्टाओं को हाव के अन्तर्गत ले सकते हैं।

अयत्नज अलंकारों के अन्तर्गत शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य, आदि आते हैं। अयत्नज अलंकार लगभग सभी नायिकाओं में पाये जाते हैं। 'नखशिख'

वर्णन में शोभा का विस्तार अधिक है। माधुर्य का परिचय भी नायिकाओं के सौन्दर्य वर्णन में हुआ है। सृष्टि का चरम सौन्दर्य नायिका के रूप में समाविष्ट है नायक कभी विमुख नहीं होता उसके प्रेम की एकनिष्ठता सराहनीय है। अतः सदैव नवीन आकर्षण से युक्त नायिका के सौन्दर्य में सहज ही माधुर्य का परिचय मिलता है। प्रगल्भता, औदार्य एवं धैर्य नायिकाओं के चरित्र के प्रधान अंग हैं जिनका प्रस्फुटन कथानक में यथास्थान होता है।

स्वभाव सिद्ध अलंकारों में लीला, विलास, विच्छित्ति, विब्बोक, किलकिञ्चित, विभ्रम, ललित, मोट्टायित, कुट्टमित, विहृत, मद, तपन, मौग्ध्य, विक्षेप, कुतूहल, चकित एवं केलि की गणना की गई है।

इन स्वभाव सिद्ध अलंकारों की अधिक चर्चा सूफी काव्य में नहीं है। विव्वोक का परिचय अवश्य इन ग्रन्थों में अधिक मिलता है। 'जुलेखा' की कामचेष्टाओं में कुट्टमित एवं वियोग वर्णन के अन्तर्गत तपन का किञ्चित आभास मिलता है।

विव्वोक :

यह विनती कै रहेउ सुजाना, चित्रिनि कही न एकौ माना।
तब उठि कुंवर भुजा कर गहा, झिझकि हाथ चित्रावलि कहा।
गहु न हाथ रे बावर जोगी, तासों लागु होइ तोरे जोगी।
तू भिखारि हौं राजा बारी, राजभिखारिहिं कौन चिन्हारी।

(चित्रावली :उसमान)
पृ० २०३।

सञ्चारी भावों की संख्या तैंतीस मानी गई है जिनमें उग्रता, मरण, आलस्य एवं जुगुप्सा को छोड़कर शेष सभी सञ्चारियों का समावेश शृङ्गार के अन्तर्गत हो जाता है। इनमें ग्लानि, दैन्य, चिन्ता, स्मृति, व्याधि, उन्माद, शंका, श्रम, हर्ष, गर्व, आवेग का ही वर्णन साधारणतः अधिक हुआ है।

शृङ्गार रस के दो भेद संयोग और वियोग होते हैं। संयोग शृङ्गार जब नायिका की ओर से प्रारम्भ होता है तो उसे नायिकारब्ध संयोग एवं नायक की ओर से आरम्भ होने पर नायकरब्ध संयोग कहते हैं। इन प्रबन्धों में नायकरब्ध संयोग का ही वर्णन मिलताहै।

इन प्रेमाख्यानों में संयोग शृङ्गार की अधिक चर्चा नहीं है। संयोग शृङ्गार वर्णन में कवि कहीं-कहीं मर्यादा का उल्लंघन कर गये हैं। ऐसा करने के दो कारण हैं। एक ओर तो मुगलकालीन विलासमय वातावरण का साहित्यिक परम्पराओं पर प्रभाव, दूसरी ओर शृङ्गार के अनावृत्त चित्रण के द्वारा वस्ल या मिलन की आत्यन्तिक भावना के प्रदर्शन का प्रयास, जिसका आरम्भ वज्रयानियों की गुह्य साधना में बहुत पहले हो चुका था।

मध्यकालीन राजस्थानी एवं मुगलकालीन चित्रकला में नग्न सौन्दर्य का चित्रण, कला के उत्कर्ष की दृष्टि से देखा जाने लगा था।

सूफ़ी कवियों के रति के अनावृत्त वर्णन में बहुत कुछ इसका प्रभाव है, वे गुप्ताङ्ग वर्णन करने में कहीं भी नहीं हिचके[1]। ऐसे वर्णनों में कहीं-कहीं अश्लील रूपकों की भी योजना हुई है[2]।

संयोग शृङ्गार वर्णन के अन्तर्गत चौसर, शतरञ्ज के खेल एवं पहेलियाँ बुझाने की भी प्रथा पाई जाती है जिनमें हार-जीत के पश्चात् नायक एवं नायिका संयोग में रत होते हैं। इन खेलों एवं पहेलियों के अन्तर्गत एक गूढ़ व्यंगार्थ भी निहित रहता है[3]।

शृङ्गार का दूसरा पक्ष विप्रलम्भ शृङ्गार है। साहित्य शास्त्रियों ने इसके कई भेद माने हैं, अभिलाषा हेतुक (पूर्व राग), ईर्ष्या हेतुक (मान) तथा प्रवास-विरह। इसके अतिरिक्त एक और प्रकार 'करुणात्मक विरह' माना गया है।

---

१. बिहँसि कन्त कामिनि कण्ठ लगाई, बिहरह दगधि उर लाइ बुझाई।
मनमथ दाब जांघ पुनि कांपी, रावन बार लंक गहि चांपी॥
दीन्हीं चार नखच्छत छाती, फूट सिंधोर सेज भय राती।
होइगा अंग भंग नवसाता, अति परसेद शिथिल भइ गाता॥
उसमान : चित्रावली, पृ० २२८।

२. हरें बतीं चाहौं करहारा, अहै मिठाई अधर तुम्हारा।
बरती कहं फरहार करावौ, दोउ जग बीच धरम तुम पावौ॥

कुच श्रीफल, बादाम दृग, अधर खांड सम आहिं।
चाहौं सो फरहार में, भावों लेउँ सराहि॥
नूरमुहम्मद : इन्द्रावती (उत्तरार्ध)।

३. जोगी सोउ जो सेज अनूपा, जोगी नाहि आहि बहुरूपा।
जोगी जो घर घर परसादी, जोगी नाहि आहि रसबादी॥
जोगी जो घरबारी होइ, जोगी नाहि कुटीचर सोई॥
उसमान : चित्रावली पृ० २०३।

अब आवहु खेलौं चौसारी, हम चेरी तुम छत्र हमारी।
तब तो कमल लीन्ह कर पासा, बैठी अस्थिर जोति की आसा।
प्रथम कमल जो हांसा डारा, जग बांधा तब पांव निकारा॥

कमल जो भाषै सत्तरह, मड़े जो पांसा सात।
खेल मांहि दोऊ चतुर, कोऊ न दोउ महँ घाट॥

ऊपर सेज बिसान बिछाई, खेलै लाग लिख चुतुराई।
आगे कीन पियादह पाती, पाछे हब मन्ते राजा भांती॥
कासिमशाह : हंसजवाहर पृ० २३०।

अभिलाषा हेतुक विप्रलम्भ के अन्तर्गत पूर्वराग की गणना होती है जिसकी उत्पत्ति स्वप्न दर्शन, गुण श्रवण एवं साक्षात दर्शन से होती है।

ईर्ष्या हेतुक विरह मान के समय का वियोग है जिसका किञ्चित वर्णन नायक के सपत्नीरत होने के समय पाया जाता है, किन्तु उसका शीघ्र ही समाधान हो जाता है।

प्रवास विरह भी तीन प्रकार का होता है, कार्यवश प्रवास, शापवश प्रवास, अथवा भयवश प्रवास। ईर्ष्याहेतुक विरह या मान विरह से प्रवास विरह अधिक तीव्र होता है क्योंकि मान विरह नायक-नायिका के वश की बात है, जबकि प्रवास विरह ऐसे कारणों से होता है जिस पर अपना वश नहीं चलता। सूफ़ी प्रेमाख्यानों में प्रवास विरह का वर्णन अधिक है।

सूफ़ी प्रेमाख्यानों में विप्रलम्भ शृङ्गार या विरह वर्णन ही अधिक है। इन कवियों ने 'विरह प्रेम की जाग्रत गति है और सुषुप्ति मिलन है' के सिद्धान्त को स्वीकार किया है। विरह का अनुभव किये विना संयोग का आनन्द नहीं प्राप्त हो सकता, अतः वस्ल या मिलन के लिये वियोग आवश्यक है; ये सूफ़ी 'प्रेम की पीर' या विरह में ही मग्न रहते रहे हैं।

नूरमुहम्मद ने इन्द्रावती में स्पष्ट रूप से विरह का महत्व स्वीकार किया है :—

नूरमुहम्मद जगत मों, जो नहि होत वियोग।
तो पहिचान न जात, यह सिंगार संजोग॥

सूफ़ी प्रेमाख्यानों में पूर्व राग का उदय नायक एवं नायिका दोनों में ही लक्षित होता है। स्वप्न दर्शन, गुणश्रवण, चित्र दर्शन या साक्षात दर्शन में से किसी भी प्रकार प्रिय का दर्शन पाकर नायक या नायिका अभिलाषा हेतुक विरह से पीड़ित हो उठते हैं। पूर्वराग या अभिलाषा हेतुक विरह में कहीं कहीं सूफ़ी कवि अत्युक्ति कर गये हैं। नायक एवं नायिका का स्वकर्तव्यों से विमुख होना, चिन्तित तथा व्याधिग्रस्त रहना कुछ समझ में आ सकता है, किन्तु विक्षिप्तों के समान वस्त्र फाड़ना, घर से बाहर भागना आदि क्रियायें अस्वाभाविक एवं असङ्गत प्रतीत होती हैं। फ़ारसी में प्रेमियों की वहशत का प्रभाव सम्भवतः इन सूफ़ियों के उन्माद-वर्णन पर पड़ा है। यूसुफ को स्वप्न में देखकर जुलेखा इसी प्रकार विह्वल हो जाती है:—

बिरह बान बेधा एक बारा, रोम रोम व्याकुल तेहि छारा।
छूटे आँसू चले जस मोती, कहै कि अय मनभावन जोती।
चिनगी बिरह आग के लागी, सुलगै लागि हियै महं आगी।
खिन उठ सेज परै बिकरारा, खिन उठकै बैठै बिसम्भारा।
खिन सो उठै बिरहकै ज्वाला, खिन सुखमंदरत होय बेहाला।

किन्तु इसके साथ ही :—

प्रेम पीर ते भई अधीरा, होय व्याकुल तन फारे चीरा।
उठि-उठि चलै छाँड़ि घरबारा, तन पर लागि चढ़ावै छारा ॥

चित्रावली के हृदय में पूर्वराग का उदय सुजान के चित्र-दर्शन के द्वारा हुआ था, अपनी चित्रशाला में वह कुंवर का चित्र देखकर विमुग्ध हो गई :—

मुनि चित्रिनि चितसारी आई, देखि चित्र मुख रही लोभाई।
सहस कला होइ हियै समाना, निरखि रह चितचेत भुलाना।
नैन लाइ मूरति सौं रही, डोलि न सकी प्रेम की गही।
चित्रिनि कह सुनु सखी पियारी, तुम्ह मोरि पीर सिरावन हारी।
यह सरूप मोहिं सुख देनिहारा, जोबन भयो जिव लेनिहारा।

(चित्रावली:कवि उसमान)
पृ० ४६

'मधुमालत' ग्रन्थ में नायिका मधुमालती के हृदय में पूर्वराग का उदय मनोहर के साक्षात के द्वारा हुआ था। इसी प्रकार 'चित्रावली' ग्रन्थ की सहनायिका 'कलावती' के हृदय में भी सुजान के प्रति रागोदय साक्षात दर्शन के द्वारा ही हुआ था।

देखत रूप कुंवर कर, रही अचक होय ठाढ़ि।
जम होइ हिये समाइगा, लीन्हेसि जिउ जनु काढ़ि।
आनन देखि रही खिन खरी, पुनि मुरछाइ पुहुमि खसि परी।

पृ० १२२

अन्त:करण, सर्वमङ्गला के रूप गुण का वर्णन सुनकर मोहित हो गया था।

सुनतहि सरबमंगला सोभा, भा घायल बरुननि के चोभा।
अंत:करण फंदा लट माहीं, जेहि लट बरही नट गिर जाहीं।

मान विरह के भी कई प्रकारों की चर्चा काव्य शास्त्रियों ने की है। यह मान प्रधानत: दो प्रकार का होता है। (१) प्रणय जन्य मान (२) ईर्ष्या जन्यमान। मान के इन दोनों रूपों का परिचय सूफ़ी काव्य में मिलता है। प्रणय जन्यमान का केवल उल्लेख मात्र प्राप्त होता है—जैसे 'मधुमालत' ग्रन्थ में नायिका मधुमालति, मनोहर की प्रणय याचना करने पर कुछ देर संकोच के बाद आत्मसमर्पण कर देती है यह कहकर कि उसे मान करना नहीं आता।

देखि कुंवर बर कामिन धाई, प्रित अन्तर खिन लिहेरि उचाई।
कहेसि मान मोहिं बूझि न नाहां, मैं तजि मान देउं गलबाहां ॥

इसी प्रकार चित्रावली में 'कलावती' सुजान से प्रणय याचना के पश्चात् कुंवर के उन्मुख होने पर स्वयं मान का दिखावा करने लगी :—

तब हँसि कुंअर उलटि मुंह हेरा, बरबस लाज कौल मुख फेरा।
घूंघट ओट रही मुख गोई, तरुनिन मान सुभावन होई॥

ईर्ष्याजन्यमान का उल्लेख उन्हीं प्रेम कथाओं में सम्भव हो सका है जहाँ नायक की दो या अधिक पत्नियों की चर्चा है, किन्तु इस ईर्ष्या का उल्लेख भी सर्वत्र नहीं हुआ है। 'हंस जवाहिर' और 'इन्द्रावति' ग्रन्थ में इस ईर्ष्या को विनय और स्नेहा-तिरेक के सम्मुख नत होना पड़ा है। ईर्ष्याजन्य मान एवं सौतिया डाह या असूया का चित्रण चित्रावली में बड़ी सफलता से हुआ है। अपने प्रथम समागम के समय चित्रावली कुंवर सुजान से ईर्ष्या-जन्य मान का प्रदर्शन करती है क्योंकि उसके पूर्व ही कुंवर का परिणय कंवलावती से हो चुका था:—

जो मधुकर अंबुज रस पीये, मालति नेह न राखे हीए।
जूठ अधर और कपटी हीआ, नागेसर रस चाहे पीआ॥
कपट रूप गुंजार सुनाई, जोरहिं प्रेम सो नहिं पतिआई॥
जोगी सोउ जो सेज अनूपा, जोगी नाहि आहि बहुरूपा॥
जोगी जो घर-घर परसादी, जोगी नाहि आहि रसवादी॥
जोगी जो घरवारी होइ, जोगी नाहि कुटीचर सोई॥
तोर मन भौंरा अंबुज हीये, लोक छरसि धंधारी दीए॥

तुअ संग सुन्दरि नारि एक, परगट सूझै मोहि।
रूप सलोना आपना, काह देखावौ तोहि॥

(चित्रावली उसमान)

पृ० २०३,

प्रवास विरह का वर्णन इन प्रेमाख्यानों में दो प्रकार मिलता है, कार्यवश एवं शापवश प्रवास।

कार्यवश प्रवास उस समय होता है जब नायक नायिका की प्राप्ति के लिये स्वपत्नी से विमुख होकर प्रस्थान करता है, और शापवश प्रवास उस अवस्था में होता है जब नायक के शरीयत-नियम-विरुद्ध चलने पर या साधना न्युन होने पर उसका विछोह प्रियतमा से हो जाता है। ऐसा विरह अधिकांश समुद्र में नाव के डूब जाने आदि से होता है जिसका कारण नायक का दान देने से विमुख होना होता है।

विरह की मात्रा का वर्णन करने के लिये कवियों में ऊहात्मक या वस्तु-व्यञ्जनात्मक शैली का विधान तीन प्रकार का पाया जाता है। प्रथमत: ऊहा की आधारभूत वस्तु केवल परम्परागत या कवि-प्रौढ़ोक्ति सिद्ध होती है, (२) ऊहा की आधारभूत वस्तु का स्वरूप सत्य एवं स्वत: संभवी होता है, उसमें कल्पना का कोई स्थान नहीं, (३) ऊहा की आधारभूत वस्तु का स्वरूप सत्य होता है किन्तु उसका हेतु कल्पित।

सूफ़ी कवियों ने इन तीनों ही स्वरूपों का परिचय अपने काव्य में दिया है परन्तु केवल कवि प्रौढ़ोक्ति सिद्ध वाक्यों के द्वारा विरह की व्यञ्जना न कर इन कवियों ने उसकी भावात्मक व्यञ्जना अधिक की है। वस्तु-व्यञ्जना के दूसरे एवं तीसरे प्रकार के दर्शन इन काव्यों में अधिक होते हैं यद्यपि ऊहात्मक पद्धति के चित्रणों का भी अभाव नहीं है। इन्द्रावती की पत्रिका पाकर राजकुंवर ने उसे हृदय के समीप रख लिया, प्रिय वस्तु को हृदय के समीप रखना स्वाभाविक ही है किन्तु इस डर से कि कहीं हृदय की विरहाग्नि से वह नष्ट न हो जाय, उसने पत्री को उठाकर अश्रु सिक्त शीतल नयनों पर रख लिया :—

पढ़ि राखेउ मन ऊपर, डरेउं कि मानस दाहि।
पाती कंह न जारवे, धरेउं नयन पर ताहि॥

नूरमुहम्मद : इन्द्रावती

इसी प्रकार शब्द-परी जब जवाहिर का सन्देश लेकर उड़ी तो मार्ग में आने वाले सारे वनखंड जल गये।

लै सन्देश चली जेहि ओरा, विरह लूक धाइ चहुं ओरा।
छूटत जाय विरह की झारा, बनखण्ड जर हुये पतझारा॥

कासिम शाह : हंसजवाहिर

ऐसे ऊहात्मक स्थल अधिक नहीं है। अधिकांश ऊहा की आधारभूत वस्तु का स्वरूप सत्य होता है, केवल उसके हेतु की कल्पना की गई होती है।

पर्वत पर झरने होते हैं, पतझड़ आता है, समुद्र का जल खारी है, मेघ जल बरसाते हैं यह सब सत्य है, किन्तु इनके हेतुओं की कल्पना कवि ने की है। यह सारी सृष्टि उस एक के विरह में व्यथित है इसी कारण दुखी होकर अश्रु प्रवाहित करती है। प्रकृति की व्यथा ही इन वस्तुओं में प्रतिबिम्बित हो रही है। हेतूत्प्रेक्षा का आधार लेकर विरह की व्याप्ति का सजीव चित्रण यत्र तत्र मिलता है :—

धन वियोग सोग जग बोवा, धरती स्वर्ग जरा दुख रोवा॥
खुला जो देख समंद पहारा, रोवन लाग जगत संसारा॥
ठावंहि ठांव भूमि जो रोई, सोत-सोत निकसी जल सोई॥
रोवा गिरि झरना भये आंसू, रोवैं बनपच्छी बनवासू॥
अहि रोवत गये पैठ पतारा, टपके आंस कूप जल धारा॥
रोवैं वृच्छ झरें पुनि पाती, रोवैं नखत तराई राती॥
रोवन चन्द भयो हिय कारा, रोवैं मच्छ समंद भयो खारा॥

मेघ सो रोवै ताहि दुख, भूमि चुवावें आंस।
जग जाने बरसा भई, लागो भादों मास॥

कासिमशाह: हंसजवाहिर

ऊहात्मक स्थलों की अपेक्षा ऐसे मार्मिक स्थल ही अधिक है। प्रिय की स्मृति में कोई भी सांसारिक कार्य, बाधा रूप में उपस्थित नहीं हो सकता। नेत्रों में प्रिय की स्मृति उसी प्रकार स्थित है जैसे जल में दीपक की परछाहीं, जिस पर पवन के झोंके या जल का कोई प्रभाव नही पड़ सकता और वह निरन्तर अप्रतिहत रूप से प्रज्वलित रहता है।

जोगी नरनि रहे चखु माहीं, ज्यों जल मंह दीपक परछाहीं।
झलमल जोति होइ उजियारा, पानी पौन बुझाव न पारा।
उसमान : चित्रावली

विरह में जड़ एवं चेतन की परिधि को पारकर प्रत्येक वस्तु में समभावना की स्थापना हो जाती है। कहीं तो प्रकृति के उपकरण अपने सगे ज्ञात होने लगते हैं। जिनसे विरही अपने हृदय की भावनाओं को व्यक्त करके अपने विरह-भार को हलका कर लेता है। कहीं कहीं वह पवन एवं पक्षियों को सम्बोधित कर अपनी भावनायें व्यक्त करता है। किन्तु अधिकांश जिस रूप में षट्ऋतु या बारहमासे के अन्तर्गत प्रकृति का वर्णन इन काव्यों में मिलता है वह उद्दीपन का है। प्रकृति के इस विलासमय स्वरूप को देखकर विरही या विरहणी को अपने अभाव का ज्ञान होता है और वह अत्यन्त दुखी होकर उन्हें भला बुरा भी कहने लगती है। विरहोद्दीपन के अन्तर्गत ही षटऋतु एवं बारहमासे का उल्लेख इन काव्यों में अधिक मिलता है। कहीं कहीं प्रकृति के कामोद्दीपक स्वरूप का भी चित्रण हुआ है। नायिका इन्द्रावती के अन्तर में काम भावना का उदय फाग के दिनों में हुआ था। इसी प्रकार इन्द्रावती और राजकुंअर का संयोग हो जाने पर कवि ने प्रकृति के कामोद्दीपक स्वरूप की ही व्यञ्जना की है।

विरहवर्णन में चेतनाचेतन भेद को मिटाकर 'उन्माद' की जिस अवस्था का वर्णन होता रहा है उसके अतिरिक्त इन कवियों ने अचेतन में भी सहानुभूति की स्थापना की है। उन्होंने सामान्य हृदयतत्व की सृष्टिव्यापिनी भावना द्वारा मनुष्य और पशु पक्षी, सभी को एक जीवनसूत्र में बद्ध देखा है। वसुमती का बिरह संदेह हुदहुद पक्षी इसी सहानुभूति के कारण ले जाता है। इन्द्रावती में राजकुंवर की विरह-कथा को तोता ध्यान से सुनता है और संदेश पहुँचा देता है।

विरह की स्थितियों एवं अवस्थाओं का शास्त्रीय विवरण इन काव्यों में अधिक नहीं मिलता है। केवल कवि नूरमुहम्मद ने इन्द्रावती में इसका उल्लेख किया है।

---

1. सुन रे चातक चातुर पांखी, तू केहि सोग न लागत आंखी।
नूरमुहम्मद : इन्द्रावती।

इन सभी कवियों ने षट्ऋतु एवं बारहमासे का वर्णन विरह के उद्दीपन के रूप में किया है, यद्यपि ये वर्णन संयोग के उद्दीपन रूप होकर भी हो सकते हैं, किन्तु केवल नूरमुहम्मद को छोड़कर किसी ने इस ओर ध्यान नहीं दिया। इन्द्रावती की कथा के उत्तरार्ध में बारहमासे का इसी रूप में वर्णन है, किन्तु वह मार्मिक एवं हृदयद्रावक नहीं है, नायिका या नायक की भावना के साथ पाठक की भावना का तादात्म्य नहीं हो पाता।

सूफी प्रेमाख्यानों में आया हुआ प्रकृति वर्णन अपनी स्वतंत्र सत्ता नहीं रखता। प्रकृति का वर्णन या तो उद्दीपन की दृष्टि से है या रहस्यवादी भावनाओं के स्पष्टीकरण के लिए। केवल रूढ़िपालन के लिए भी कवियों ने इसका परिचय सरोवर, उपवन, जलक्रीड़ा आदि के वर्णनों में किया है। षट्ऋतु एवं बारहमासे की गणना हम उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत ही करेंगे। इन वर्णनों में कवि एक ओर तो प्रकृति के शोभोपकरणों का निर्देश करता है दूसरी ओर उनका नायिका से भाव-साम्य या विरोध प्रदर्शित करता है। जिन जिन वस्तुओं से प्रेमी का सम्पर्क रहता है, प्रिय वियोग में वे अत्यन्त दुखद हो जाती हैं। इन वर्णनों में कवि का भारतीय जीवन से परिचय भी स्पष्ट होता है। कार्तिक और फागुन महीने में ये कवि दीवाली और होली का वर्णन करना नहीं भूलते हैं।

विभिन्न ऋतुओं के प्रकृति-सौन्दर्य एवं उत्सवों को देखकर वियोगी को अपने अभाव का स्मरण हो आता है तथा उसे सभी सुखद कार्य व्यापार दुखद ज्ञात होते हैं। वे सुखद वस्तुयें उसकी पूर्व स्मृतियों को जाग्रत करके विरह को उद्दीप्त कर देती हैं। 'चन्द्रकला' फागुन में फाग और धमारी की धूम देखकर चिढ़ जाती है।

> ना मोहि भावै फाग धमारी, आग लगै देखत पिचकारी।
>
> शेख रहीम : भाषा प्रेमरस।

बसन्त ऋतु के सौन्दर्य एवं छटा को देखकर इन्द्रावती को अपने 'भ्रमर' एवं सुखद जीवन का स्मरण हो आता है और वह कहती है :—

> ऋतु बसन्त नौतन बन फूला, जहँ तहँ भौंर कुसुम रंग भूला।
> आहि कहाँ सो भौंर हमारा, जेहि बिनु नाहिं बसंत उजारा॥
>
> नूरमुहम्मद : इन्द्रावती।

इसी प्रकार चित्रावली भी, बादलों की घटा एवं बगुलों की श्वेत पंक्ति को अपना बैरी समझती है। श्रीपंचमी के उत्सव में सब लोग आनन्द मग्न हैं किन्तु पति के वियोग में चित्रावली का वियोग द्विगुणित हो गया है :—

> बाढ़ी दिवस दुक्ख तन बाढ़ा, बरबस जीउ जाइ नहिं काढ़ा।
> सिरी पंचमी खेलैं लोगू, मोहि बिनु कन्त दून भा सोगू॥
>
> उसमान : चित्रावली।

जुलेखा भी यूसुफ़ वियोग में प्रकृति सौंदर्य से अपनी भावनाओं की उद्दीप्त पाती है :-

भवन वियोगिनि काटै खाई, देखि देखि यह समै सोहाई।

परहि जो आंसू भूमि पर छूटी, रेंग चली जस बीर बहूटी॥

शेख निसार : यूसुफ जुलेखा।

अगहन में दिन घटता रहता है और रात्रि-अवसान वृद्धि पाता है, मधुमालती भी अपने सुख को इसी प्रकार घटते एवं रात्रि को वृद्धि पाते देखती है।

सुख दिन भाँति घटत तन जाई।
दुख औ निस तिल तिल अधिकाइ॥

मंझन : मधुमालत।

कार्तिक में दिवाली के पर्व पर सब दीपक जलाते हैं, जुआ इत्यादि खेलते हैं, किन्तु चन्द्रकला प्रीत का जुआ हार चुकी है अत: उसे दिवाली का त्योहार सुखद नहीं ज्ञात होता, वह दीपक का प्रकाश केवल प्रियतम की बाट निहारने के लिए ही करती है:—

कार्तिक तकूँ मैं पी की बाटा, दिया बाट हेरों मैं घाटा।
प्रीत जुआ जिव खेल के हारी, कस भावै मोहि दिया दिवारी॥

कहीं कहीं प्रकृति एवं वियोगी की दशा में साम्य भी परिलक्षित होता है। सावन में जिस प्रकार वर्षा की झड़ी लगी है उसी प्रकार चन्द्रकला के नेत्रों से आंसुओं की झड़ी लगी है :—

सावन झड़ी आंस की लागी, चोली चीर चुनर भइ दागी॥

शेख रहीम : भाषा प्रेमरस।

विरोध और साम्य दोनों ही स्वरूपों का परिचय कवि एक ही पंक्ति में बड़ी सफलता से करता है :—

पिय बिनु जिव हिंडोल अस झूले, पड़े फुहार बान अस हूले।

चित्रावली को प्रकृति के कार्य व्यापारों में, अपने प्रति सहानुभूति दिखाई देती है। वन और पर्वत उसके विरह के साक्षी हैं। कोयल और पपीहे की पुकार उसके हृदय की पुकार है :—

जो न पसीजहि जिउ मोरे माली, पूछ देखु गिरि कानन साखी।
करें पुकार मंजोरन गोआ, कुहिक कुहिक बन कोकिल रोआ।
गयो सीखि पपीहा मम बोला, अजहूँ बोकन बन बन बोला।
उड़ा परेवा सुनि मम बाता, अजहूँ चरन रक्त सम राता।
बनसपती सुनि बिथा हमारी, बरहैं मास होइ पतझारी।
दारिम हिया फाट सुनि पीरा, पै पिय तोर न दया सरीरा।

रोय रक्त घुमची भई दुखी, तजी न बोल रही करमुखी ॥
अगहन जाड़ घटे तन मोरा, जिउ काँपै औ लेय हिलोरा ।
शेख रहीम : भाषा प्रेमरस ।

प्रकृति की वही वस्तुयें जो संयोग में सुखद होती हैं वियोग में दुखद हो जाती हैं। वर्षा की फुहार बिरहाग्नि में घी के सदृश हैं :—

दूभर ऋतु जब पावस लागी, घन बरसे पिउ हम तन लागी ॥
नूरमुहम्मद : इन्द्रावती

ग्रीष्म ऋतु में, हर स्थान का जल शुष्क होगया किन्तु जुलेखा के नेत्रों का पानी प्रवाहित हो रहा है । फागुन के पतझड़ को चैत में नवीन पत्रावलियां प्राप्त हुईं, किन्तु चित्रावली का सौभाग्य न जागा:—

फागुन हते जो तरु पतझारी, ते सब भये चैत हरियारी ।
मोहे पतझार जो भा बिनसाई, सो न सखी भोला अवताई ॥
उसमान : चित्रावली

सूखि समंद्र गये रबि तेज, सूखि गये सरिता जलधारी।
सूखि गये पुहुमी पति मदिल, सूखि गये जल मेघ सुखारी ॥
सूखहिं कूप तड़ाग लता द्रुम, बेलि बली बन औ फुलवारी ॥
सुखहिं निसार अम्बुनल, नाहिंन ये अखियान दुखारी ॥
निसार : यूसुफ जुलेखा

ग्रीष्म में प्रकृति एवं विरह दोनों की तपन का अनुभव करके इन्द्रावती अभिलाषा करती है कि:—

होन भलो होनिंउ जरि छारा । देह चढ़ावन राखु प्यारा ॥

चित्रावली भी इसी प्रकार प्रकृति के उल्लासमय स्वरूप एवं सुखद वातावरण को देखकर अभिलाषा करती है कि उसका प्रिय भी प्रेम के वशीभूत होकर घर लौट आये तो चित्रावली के घर भी मंगलचार हो :—

हिमरितु यह विरहानल बाढ़ा, कंत बाजु दुख नाव न काढ़ा ।
बुधि न रही सुधि सब गई, जीव सहे दुख केन ।
मोरे मंगलचार तब पिउ आवे करि हेन ॥

प्रकृति के इस उद्दीपन स्वरूप के अतिरिक्त वियोग की दशाओं एवं अवस्थाओं का उल्लेख भी सूफ़ी काव्य में यथास्थान मिलता है । यद्यपि इन कवियों ने जिस प्रकार षट्ऋतु एवं बारहमासे की चर्चा अपने काव्य में अनिवार्यतः की है, उसी प्रकार इन वियोग

दशाओं एवं अवस्थाओं का उल्लेख निश्चयपूर्वक नहीं किया है। विरह की व्याप्ति का वर्णन करना इन्हें अभीष्ट था, किन्तु उसकी शास्त्रीय विवेचना नहीं। वियोग शृंगार की मान्य दस दशायें इस प्रकार हैं:—

अभिलाषा, सुचिन्ता, गुणकथन, स्मृति, उद्वेग, प्रलाप।
उन्माद, व्याधि, जड़ता भये, होत मरण पुनि जाय॥

अभिलाषा :

अभिलाषा वियोग दशा की प्रथम श्रेणी है। प्रिय मिलन की इच्छा को अभिलाषा कहते हैं। इसका बहुत ही संक्षिप्त वर्णन कवि नूरमुहम्मद ने किया है:—

चित्तध्यान प्रीतम पर राखा, प्रेम बढ़ेउ अभिलाखा,'

चिन्ता :

चिन्ता में विरह की मात्रा एवं दर्शन लालसा बढ़ जाती है:—

चिन्ता कथन बीच धन परी, चिन्ता करै घरी औ घरी।
केहि उपकार दरस वह पावउं, केहि उपकारी के ढिग जावउं॥
नूरमुहम्द : इन्द्रावती

गुणकथन :

मिलनेच्छा पूर्ण न होने पर, प्रिय के गुणों का कथन ही जीवन का आधार बन जाता है। गुणकथन अभिलाषा का व्यञ्जक है:—

धन कहं अन्तरपट भयेउ, गगन ऊँच महि नीच।
छाँड़ि सकल धंधा कहं, परि गुनकत्थन बीच॥

वह रावल जग बीच नवेला, मन परान कहँ कीन्हा चेला।
वह विदग्ध सुकुमार पियारा, रूप गगन सविता उजियारा॥
इन्द्रावती : नूरमुहम्मद

स्मृति :

स्मृति में और सब कुछ भूलकर केवल प्रिय का स्मरण और ध्यान अवशेष रह जाता है। हंस जवाहिर के विरह में इसी प्रकार स्मृति निमग्न हो गया था:—

कहाँ सो वह शीतल कैलासा, कहाँ सो सेज सुरत वह वासा।
कहाँ सो मीठे अधर अमोला, कहाँ सो शब्द सुहावन बोला॥
कहाँ हाथ जिन्ह दीन्ह उवारा, कहाँ सो गात सोवामक धारा।

कहाँ ललाट दुइज उजियारा, कहाँ बैन निज चाटक डारा ॥
कहाँ मो व्याह कहाँ वह भोगू, अब वह पंथ चलूं केहि योगू ।
कासिमशाह : हंसजवाहिर

उद्वेग :

उद्वेग की अवस्था में सुखद वस्तुएँ भी दुखद प्रतीत होने लगती हैं :—

हित जो अहे अहित होइ गये, बिरहानल अब वैरी भये ।
सीतल हुत समीर तुम संगा, अब सो अनल होइ लागे अंगा ॥
सेज सो आहि हेमंचल पूरी, अब सो जरै लाग जनु होरी ।
पुहुप भये कण्टक और सूत्रा, देखि न जाय हाथ को छूआ ॥
चन्दन जो घनसार मिलावा, जनु करवार सान पर लावा ।
उसमान : चित्रावली

प्रलाप :

प्रलाप में मानसिक उद्वेग वचनों के द्वारा व्यक्त होता है, इस अवस्था का उल्लेख सूफी काव्य में कम मिलता है ।

उन्माद :

प्रलाप में जो उद्वेग वचनों द्वारा व्यक्त होता है वही उन्माद में क्रिया द्वारा व्यक्त होता है :—

उन्माद सों रोवई हंसई, आँसू भरती मोती खसई ।
उसमान : इन्द्रावती

व्याधि :

व्याधि में मानसिक उद्वेग, शरीर पर अपना अधिकार जमा लेता है । अङ्ग का वर्ण विवर्ण हो जाता है :—

इन्द्रावति सुकुमार कुमारी, भार वियोग परा तेहि भारी ।
प्रेम सरीर बेयाध ब्रढ़ावा, दूबर पीत भयेउ धन काया ।
पान न खाय न पीवै पानी, भूख पियास भुलायेउ रानी ।
व्याकुल भई रात दिन रोवै, वदन करेज रकत सों धोवै ।
प्रेम आग तन काठिय जारा, मारै चाहा मन को पारा ।

भइउ दूबरी रानी, भै विवरन तन रंग ।
बैरिन होइकै लागेउ, व्याध अंग के संग ॥
नूरमुहम्मद : इन्द्रावती

जड़ता :

जड़ता में प्राय: आशा छूट ही जाती है; सुध बुध विस्मृत हो जाती है, स्थिरता आ जाती है :—

बैरागिन कीन्हा बैरागू, अनुरागिन कीन्हा अनुरागू।
सुमिरै सोवत बैठी ठाढ़ी, मन असमर्थ अवस्था बाढ़ी।
प्रेम झकोर भयेउ तेहि सीसू, बैरी बूझै निस रजनीसू।

सुख भयेउ दुखदायक, सुध मति रहेउ न साथ।
परी जगत प्रानेसरी, जड़ता केरी हाथ॥

मरण :

अन्तिम अवस्था है, रस विच्छेद की सम्भावना के कारण केवल मरणासन्न दशा का उल्लेख मात्र किया जाता है:—

जियत रहे धेयान के बाहां, ना तो हौत मरन पल माहां।
नूरमुहम्मद : इन्द्रावती

बहुत से आचार्य मरण के पूर्व 'मूर्च्छा' की एक और अवस्था मानते हैं, इन्द्रावती में इसका भी उल्लेख है:—

उड़ा बयार सन्देश सुनावा, इन्द्रावति कहं मूर्च्छा आवा।
सुरंग सुपेती ऊपर रानी, मुरुछी छाई सखिय सयानी॥

भयेउ न चेत रतन कहं, किहेन अनेक उपाय।
जीव हाथ नहिं जाके, को तेहि सकै जगाय॥

इन दशाओं के अतिरिक्त कुछ सञ्चारी भावों का विशेष उल्लेख सूफ़ी साहित्य में मिलता है जैसे ग्लानि; शंका; असूया, श्रम, दीनता, चिन्ता, जड़ता और गर्व आदिक।

ग्लानि :

पी रस भानु सो चन्द कर, निकस गयो भिंसार।
सेज फूल फुलवार पर, चटक नखत सब हार॥
आई सखी चंद के तीरा, उठि विहान धन चेत शरीरा।
कंत की सेज जाग निश नारी, उठी उनींदी मस्त खुमारी॥

शंका :

यह समुद्र मों बीच ना कोई, का राजा का जोगिय होई।

सखी मोहिं समुझावहि, धीरज बाँधि न जाइ।
अब कैसे प्रियतम मिलै, दीन्हा समुद्र बहाइ।

असूया :

कौं लहि जानि मौरि संग लटा, चित्रावलि जिउ खरके कांटा।
बरजी सखी सहेली सोई, सेज कौंल दरसौ जनि कोई।
औ पुनि कहहिं जो मोरे गाऊँ, रहै न सरवर कौंल क ठाऊँ।
रस पंडित मुख नांव जो लेई, अम्बुज निरज वारिज कहि देई॥

कौंल चितेरा जो लिखै, ततखन कलपो हाथ।
मुख परगासै नाऊँ, रसना खोउ अकत्थ॥

श्रम :

सेद थंभ रोमंच तन, आंसु पतन सुरभंग
प्रथम समागम जो कियो शिथिल भा सब अंग॥

चिन्ता :

प्रीतम प्रीत पियर भइ गाता, शोक भरी मुख आव न बाता।
दिन दिन अंग जो सूखन लागी, भोग विलास भयो सब आगी॥
परघट करै न बोलै बयना, दुःख हृदय जस बरसै नयना॥

दीनता :

कौंल खोलि मुख बचन हुमासा, ऐ दिनकर साइ जग आसा।
अब जौ जग जाना मैं तोरी, का जिय जानि रहहु मुख मोरी।
सघन तिमिर हिय काटै मोरा, मुख देखाउ जग होइ अंजोरा।
पिता संकलप दीन्ह साजि तोहीं, कस न मया करि हेरहु मोहीं।
तोरे मया वनस्था मोरी, जो आदरहु तो मैं हौं तोरी।
पिता राज सब भया परावा, तोरे मया एक चित लावा।
मोहिं बिनु ताहि नहिं कुछ छूछा, तोहि बिनु मोहि कोउ बात न पूंछा॥

सब औगुन गुन एक नहिं, का परगासौ आनि।
मोहि निरगुनहिं मानि लै, आप बड़ाई जानि॥

गर्व :

अधरन मों मुसुकानी रानी, होइ अभिमानी बोली बानी।
है मोहि रूप विमल उजियारा, बस महँ रहै सो प्रीतम प्यारा ॥

ऐगुन भये न रूठे देऊ, तन मुसकाय हाथ कै लेऊ।
अंमन होय करउँ अस मानू, प्रीतम देइं हाथ महँ प्रानू।
पाहन समां कठोर जो होई,करऊँ सिंगार होइ जल साई ॥

अब कुछ चिन्ता है नहीं, प्रीतम भा मोहि हाथ।
अंमन कबहु न आइहै, नित रहिहै मोहि साथ ॥

शृंगार रस के अतिरिक्त जिन अन्य रसों का उल्लेख इन प्रेमाख्यानों में मिलता है वे हैं वीर, करुण, एवं हास्य।

वीर रस की चर्चा के द्वारा, कवि का अभीष्ट अपने नायक की महानता का प्रदर्शन ही है। नायक अपने प्रतिद्वंदी को परास्त करके विजयी होता है। यहां कवि का उद्देश्य उसकी वीरता के साथ ही सद्वृत्तियों की विजय प्रदर्शित करना भी होता है; जहाँ कहीं भी नायक पराजित होता है वहाँ कवि को ऐतिहासिक सत्य की रक्षा करनी पड़ती है, या उसका दुखान्त प्रेमाख्यान-परम्परा-पालन का आग्रह ही उसे ऐसा करने को बाध्य करता है। कहीं कहीं नायक को मार्ग के विघ्नस्वरूप देवों आदि से युद्ध करना पड़ा है, जैसे 'मधुमालत' एवं 'भाषा प्रेम रस' आदि में। इसके अतिरिक्त नायक को कहीं कहीं केवल अपने क्षत्रिय धर्म पालन के हेतु, गौ, ब्राह्मण एवं अबला की रक्षा के हेतु भी युद्ध करना पड़ा है, जैसे चित्रावली में सुजान को करना पड़ा था। केवल 'इन्द्रावती' में राजकुंवर की पूर्वपत्नी, ने युद्धविजय प्राप्त की है। कालिंजर के राजा कामसेन ने उसके सतीत्व अपहरण के हेतु आक्रमण किया, तो सुन्दर ने युद्ध में उसे परास्त कर दिया। ऐसे युद्ध वर्णन मधुमालत, इन्द्रावती, चित्रावली, भाषा प्रेमरस, कुंवरावत, हंसजवाहिर, ज्ञानदीप आदि में आये हैं। युद्ध की सज्जा, गति एवं वीभत्सता के कुछ चित्र देखिये :—

युद्ध सज्जा :

बरन बरन औ बानहि बानी, मानौ द्वीप जुरे सब आनी।
बारहु कुल सब चलै फिरंगी, मानौ गोरे जहाँ लौ जंगी।

बिदा भयो मुलतान से, जोर जो कटक अपार।
बजे नगाड़े दुन्दुभी, काँपा स्वर्ग पतार ॥

चढ़ि बजाय जो कीन पयाना,भानु अलोपा इन्द्र सकाना।
हाली भुईं, भूधर थर्राये, डोले गढ़ गढ़पति डरपाये ॥

कासिमशाह : हंसजवाहिर।

युद्ध-गीत :

भयेउ घटा ढालेन सों कारी, खरगन भये बीज चमकारी।
गेंदा सीस खरग चौगानू, खेलहिं बीरहिं चढ़ि मैदानू।
हाल आपनो आपनो चाहैं, अरि को शस्त्र चलाव सराहैं।
भाला खरग हनैं सब कोई, बोडन खरग ठनाठन होई।
गगन खरग सों ठन ठन गयऊ, हिनहिन औ धुन हनहन भयेऊ॥
बोनई घटा धूर सो, दिनमनि रहा छिपाय।
तहाँ महाभारत भा. सबद परेउ हू हाय॥

नूरमुहम्मद : इन्द्रावती।

युद्ध की वीभत्सता :

गा रज बीति खेत उठि जागा, वही सो जूझ हाय पुनि लागा।
कहिं तो रुण्ड मुण्ड तन धावैं, कहीं तो मार मार गोहरावैं।
कहीं घायल लोटैं मधुमाते, कहीं तो झूम रक्त रँग राते।
कोइ तो धाय धाय लिपटाही, कहीं तो रोय रोय कहराही।
कोइ तो रटैं पियासे पानी, कोइ तो रक्त पियें ज्यों पानी।
कोई तो लूटैं छार चढ़ाई, कोइ शिरऊपर चँवर डोलाई॥

कासमशाह : हंसजवाहर।

करुण रस :

इसका प्रसंग अधिकांश उन स्थलों पर आया है जहां नायक का निधन हो जाना है। नायक के योग या साधना के हेतु विदा होते समय ऐसे दृश्य नहीं हैं कारण कि अधिकांश विवाहित नायकों ने ही प्रवास किया है। 'इन्द्रावती' में विवाहित राजकुंवर की रानी सुन्दर इतनी संकोची एवं सद्भावपूर्ण है कि न वह पति को रोक सकी और न अनिष्ट की आशंका से रो ही सकी।

सुनिनै मूर्च्छि पड़ी भुंइ नारी, जानो स्वर्ग ते काठ पिठारी।
टूटा तन पिन्जर जिव छूटा, उड़ा सो प्रान प्रेम गढ़ लूटा॥
पिव पिव करत गई पिव साथा, सखी लाग पुनि कल्पे माथा॥
कुमुदिन छार भई संघ पीऊ, कंवल उठी पिव सुनिबन जीऊ॥
कंवल हनै दरपै तुरत, सरवर नीर झुरान।
निकसी पिव पर देन का हाथ लिये जिव प्रान॥
देखत लोथ पड़ी नेह धाई, छाड़ डकारि लिए लिपटाई॥
खोले शीश औ छिटके बारा, तन बावर गरै लटकै हारा॥

नैन रक्त उमड़ैं उल्थाहीं, भंवर फिरैं बूड़ैं उनिराही ॥
कासिकशाह : हंसजवाहिर

हास्य रस :

यद्यपि हास्य के हेतु कवियों के पास अवकाश अधिक थे किन्तु ऐसे स्थलों पर कवियों का पाण्डित्य एवं चमत्कार बाधक होगया है। इन्द्रावती में विवाह के पश्चात् जब राजकुंवर 'इन्द्रावती' के पास जाता है तो इन्द्रावती की सखियां उसके सौन्दर्य की प्रशंसा करते हुये परिहास करती है :—

जानि परत भगिनि तुम्हारी,
होइहि पियारी अति अधिकारी।
तिरछी चितवन सों धन सोई।
न जानहिं कनिक हरे मन होई॥

नूरमुहम्मद : इन्द्रावती

ऐसे स्थलों पर गारी की लोक परम्परा सुरक्षित है।

वात्सल्य एवं रौद्र रस :

वात्सल्य एवं रौद्र (क्रोध) के वर्णन भी कहीं कहीं आये हैं। वात्सल्य का वर्णन स्वभावत: उन स्थलों पर आया है जहां नायक गृहत्याग करके साधना की ओर उन्मुख होता है और उसकी माता व्यग्र होकर पुत्र की कुशल कामना करती है, या उसकी व्यथा देखकर शोक पीड़ित हो जाती है। चित्रावली में सुजान की माता इसी प्रकार अपनी ममता का परिचय देती है :—

उठि अकुलाई मात दुख भरी, कुंवर पास आई एक सरी॥
सीस लाइ के बैठी कोरा, पूछै बात देखि मुख ओरा।
नैन उघारु पूत कहु पीरा, केहि कारन भा पीन सरीरा॥
काहे पीत भयो मुख राता, कहहु बात बलिहारी माता॥
तुही एक दिनमनि कुलकेरा, नैन मूंदि कस करिह अंधेरा।
हम सब घट तुइ जीव सनेही, कस कुमिलाइ देसि देख देही॥
पूत पीर कहु कस जीउ तोरा, नैन खोलु करु जगत अंजोरा॥

तोरे पीर कि औषद जो एहि जग मंह होइ।
अर्थ द्रव्य जिउ देइ कै, वेगि मगावौं तोइ॥

घाट भले नव रानी रोई, सुनत लोग धावा सब कोई
राजा रोवे डारि सिर पागा, जन परिजन सब रोवै लागा॥

क्रोध का वर्णन भी कवि ने अनीति के विरोध में दिखाया है। कुंवरावत में राजकुंवर से जब मुहम्मद गोरी ने कर मांगा तो इसे उसने अपना अपमान समझकर क्रोध प्रदर्शित किया। 'चित्रावली' में जब सोहिल नरेश ने सागरगढ़ नरेश से उसकी कन्या मांगी और इस मांगने के पूर्व ही वह सेनासहित नगर तक आ चुका था तो वीर क्षत्रिय ने अपना अपमान समझ **अनीति के विरुद्ध** क्रोधावेश में दूत को उत्तर दिया :—

सुनि राजा होइ सिंह बईठा, कहेसि गरब जनु बोलु बसीठा।
एहि कलि महँ औतरे जा आई, कोऊ न संतत अमर रहाई।
बूढ़े केत जिउन का हेरौं, खरग नाउँ सुनि का मुख फेरौं।
भलेहिं जो सोहिल राउ कुलीना, महूँ नाहिं अपने कुल हीना।
आज्ञा राउ परछि सिर लेतेउँ, बूझि विचारि उतर तब देतौं।
वे मोपर कीन्हेउ कटकाई, अब जो मानौं कौन बड़ाई।
कहब जाय अब मोर संदेसा, राजा पलटि जाहु सो देसा।

उसमान : चित्रावली।

अलंकार-विधान :

अलंकारों का महत्व काव्य में दो रूपों में मान्य है। कुछ विद्वान अलंकारों की काव्य में अनिवार्यता तथा कुछ अलंकारों को काव्य में केवल शोभा-वृद्धि का उपकरण मानते हैं। एक मत के अनुसार अलंकार बाह्य आभूषण मात्र है, और अनलंकृत काव्य सम्भव है। दूसरा भाव अलंकार के अनस्तित्व में काव्य स्वरूप की कल्पना भी निरर्थक समझता है। इन साहित्य शास्त्रियों के अनुसार अलंकार ही काव्य का मापदण्ड बन गया और कवि कौशल केवल अलंकारों की विविध योजना तक ही सीमित रह गया। यह सत्य है कि काव्य-विधान का सम्बन्ध अलंकार से है, अलंकार भावों को स्पष्टता तथा रूपमत्ता प्रदान करता है परन्तु इनका अति आग्रह काव्य के प्रभाव को नष्ट कर देता है और पाठक की दृष्टि इन अलंकारों में ही उलझ कर रह जाती है। व्यापक रूप में अलंकारों का तात्पर्य शोभाकारी धर्म और चित्रमत्ता से ही है।

कवि और पाठक की सांस्कृतिक चेतना ही अलंकारों के स्वरूप का निर्माण और नियंत्रण करती है, अधिकतर अलंकारों का विधान सादृश्य के आधार पर होता है। सूफी कवियों ने भी अधिकांश सादृश्यमूलक अलंकारों का प्रयोग ही किया है। सादृश्य की योजना दो दृष्टियों से की जाती है—स्वरूप बोध के लिए और भाव तीव्र करने के लिए।

अधिकांश कविगण भावतीव्रता को ही लक्ष्य में रखते हैं किन्तु अगोचर तत्वों एवं तथ्यों के स्पष्टीकरण के लिये तथा स्वरूप बोध के लिये सादृश्य योजना आवश्यक हो जाती है। स्वरूप-बोध के लिये काव्य में प्रयुक्त सदृश वस्तुओं में भावोत्तेजित करने की भी यदि शक्ति हो तो काव्य-स्वरूप की प्रतिष्ठा हो जाती है। सादृश्य के इस स्वरूप-चित्रण की

क्षमता का विचार हम चित्रमत्ता के अन्तर्गत करेंगे। यहां हम अलंकार-विधान में अलंकृत एवं भावोत्तेजित करने की क्षमता पर ध्यान देंगे। इस प्रकार की सादृश्य योजना के पूर्व इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि जिस वस्तु व्यापार एवं गुण के सदृश वस्तु की योजना की जा रही है, उनमें उस वस्तु-व्यापार या गुणोद्दीपन के द्वारा अभीष्ट रस के आलम्बन बनने की क्षमता है या नहीं। सुन्दर नेत्रों के लिये कमल की पंखुड़ियों खञ्जन या मृग के चपल नेत्रों की समता, कोई चमत्कार या किसी सहानुभूति का सञ्चार नहीं करती। सादृश्य के इसी योजना के आधार पर तो सूफ़ियों के 'रक्त के आँसू', 'कलेजा निकालना', हथेली की अरुणिमा के लिये 'रुधिररञ्जित' कल्पना में वीभत्सता का आरोप होता है, जो रति भाव के पूर्णतः विपरीत है। इसी प्रकार नायिका की कटि को अति सूक्ष्म प्रदर्शित करने के लिये लौकिक नेत्रों से दिखाई न देने की बात कहना तो ठीक है, किन्तु उसके लिये सिंह की कमर की उपमा देना, बर्रे की कमर के समान कहना अधिक उपयुक्त नहीं ज्ञात होता। सादृश्य योजना करते समय प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत दोनों के सम्बन्ध में कवि को केवल रूप का ध्यान न रखकर, गुण एवं स्वभाव का ध्यान रखना भी आवश्यक है। तात्पर्य यह कि सादृश्य-योजना में भावप्रेषण की क्षमता होना आवश्यक है।

इन सूफ़ी कवियों ने अपने अप्रस्तुत विधान में अधिकांश परम्परागत सादृश्य योजनायें की हैं तथा रसात्मक प्रसंगों में अधिकांश भाव के अनुरूप अनुरञ्जनकारी अप्रस्तुत की ही योजना की है। इन परम्परागत उपमानों में कुछ अवश्य ऐसे हैं जिनसे भावोत्तेजना में बाधा उपस्थित होती है, जैसे गले की सूक्ष्मता के वर्णन में उसके अन्तर्गत पीक का सञ्चार दिखाई देना, मांस, रक्त एवं मज्जा के द्वारा दुख प्रदर्शित करना, जांघों की उपमा कदली वृक्ष से न देकर हाथी की सूंड़ से देना।

किसी-किसी सूफ़ी कवि ने अपने पुरातन आग्रह या मजहबी आग्रह के कारण भारतीय जीवन और साहित्य से परिचित उपमानों की योजना न करके, फारसी का अनुकरण किया है। हम पीछे कह आये हैं कि अलंकारों की योजना में कवि एवं पाठक दोनों की सांस्कृतिक चेतना योग देती है, अतः ऐसे उपमानों की योजना जिसका परिचय पाठक को न हो कवि को न करनी चाहिये। कवि नूरमुहम्मद ने अपने काव्य में नेत्र के उपमान स्वरूप नरगिस का ही प्रयोग किया है। भारतीय साहित्य परम्परा एवं प्रकृति उपकरणों में ऐसी अनेक वस्तुयें हैं जो नरगिस की अपेक्षा नेत्र के सौन्दर्य, आकर्षण एवं दीर्घता को सफलता से पाठक तक प्रेषित करती हैं। 'नरगिस' पुष्प से अधिकांश भारतीय पाठक का परिचय नहीं है, भारत में 'नरगिस' ऐसी गोल आँखें होतीं भी नहीं।

अंगाश्रितास्त्वलंकाराः मन्तव्याः कटकादिवत्

ध्वन्यालोक

अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती॥

चन्द्रालोक १।८

इन सूफी कवियों ने, वाक्‌वैदग्ध्य दिखाने वाले अलंकारों का प्रयोग अधिक नहीं किया है, न ही इन कवियों को काव्य के क्षेत्र में चमत्कार प्रदर्शन की इच्छा ही थी। सूफी दङ्गलों में करामात का अपना विशेष स्थान है, यही कारण है कि इनके काव्य में अर्थालंकारों की प्रधानता है। शब्दालंकारों की ओर उनकी यह निरपेक्षता खटकने लगती है। श्लेष, अनुप्रास ऐसे साधारण शब्दालंकारों का प्रयोग अधिक हुआ है। अर्थालंकारों में उत्प्रेक्षा, रूपक उपमा, उल्लेख, सन्देह, परिकरांकुर, अतिशयोक्ति, अनन्वय आदि अलंकारों का ही प्रयोग अधिक है। शब्द की लाक्षणिक एवं व्यंजना-शक्ति का प्रयोग इनके काव्यों में प्रचुर है, इनकी यह व्यंजना परमार्थ तत्व की ओर है और समासोक्तियों की सफलता में सहायक है।

उपमा :

अर्धचन्द्र सम भाल सोहाई, रेखा तीनि दिष्ट मोहि आई।

तद्रूप :

जोगी भेष न सकहुँ सराही, गोपीचन्द दूसरो आही।

हेतूत्प्रेक्षा :

दिर्गन हरा मान मृग केरा, मन लजाइ बन लीन्ह बसेरा।
चाल गयन्द देखि मन हारा, तेहिं ते शीश चढ़ावैं छारा।
शुक सों नासिक देखि लजाना, का परबत पर कीन्ह पयाना।
इन्द्रावति दृग लिखत कै, भा विरंच मतवार।
मसि लागेउ, लेखनी गिरेउ, सोभा भै अधिकार॥
खड्ग बान पे खड्ग न होई, वह सों कमल सर ‍र न कोई।

कहीं-कहीं सादृश्य विधान में वीभत्सता भी आ गई है, जैसे हाथ और अंगुलियों के विवरण में मूंगफली एवं हृदय निकालने का प्रसङ्ग :—

कंवल फूल सम दोनों हाथा, औ मेंहदी रांची रङ्गराता।
अंगुरी पहिरन कनक अंगूठी, जग का प्राण लीन्ह तेहि मूठी।
भय तेहि से अंगुरी रतनारी, मनहुँ रकत महं बोर निकारी।
मूंगफली अंगुर सबै, रक्त जोड़ रतनार।
जानो हियरा खोल के, लीनेसि प्राण निकार॥

इसी प्रकार कमर की उपमा में, सिंह एवं चीते की कमर की सादृश्य योजना भी परम्परागत होते हुये भी हृदयग्राही नहीं है :—

बीच ते जान है दुइ आधी, केहि विधि चलै ठाढ़ मन बांधी ॥
केहरि सिंह हारि पुनि चीता, सबकी लंक नारि वह जीता ॥
लंक मृग केरी जस कीन्हीं, तेहि में अधिक दई वह दीन्हीं ॥

इन सादृश्य योजनाओं के आधार पर सूफ़ी काव्य को केवल रूढ़िवादी नहीं कहा जा सकता। कहीं कहीं उपमानों की सफल संयोजना सारा अन्तर्भाव स्पष्ट करने में समर्थ है।

समुद्र में पड़ी सीप बराबर ऊपर मुंह किये स्वाति बूंद की प्रतीक्षा करती है। वर्षा की प्रत्येक बूंद उसमें मोती बनकर नहीं समा सकती, उसी प्रकार 'जवाहिर' रानी हंस की प्रतीक्षा में है:—

मग जोवत बीते दिन राती, समुद्र मांझ जल सीप सुवाती।

एकात्मा का कितना हृदय ग्राहक वर्णन इन पंक्तियों में है :—

गई सो लाग हिये सिमटाई, जेहि विधि फूलन बास सुहाई।

कहीं भी अप्रचलित अलंकारों का प्रयोग नहीं हुआ है। कवियों का आग्रह, अलंकार भरती की ओर न होकर भाव प्रदर्शन करने का है। जिन अलंकारों का अधिकांश प्रयोग हुआ है वे हैं:—

रूपकातिशयोक्ति :

जेहि ते मूंदि गई विकसाऊँ, सो तुमते मैं वरणि सुनाऊँ।

रूपक :

जोवन सिन्धु मांह तन, भाजल कली समान।
खिन बिलात खिन प्रगटत, व्याकुल रहत परान ॥

व्यतिरेक :

है मनोरमा जगत कर सोई, है ससि जौ ससि बोलत होई।

हेतूत्प्रेक्षा :

इन्द्रावति दृग लिखति के, भा विरंच मनवार।
मसि लागेउ लेखनि गिरेउ, सोभा भै अधिकार ॥

अनुप्रास :

पैठिहु जब जल भीतर रानी, पानिपु पायउ नारा पानी।
भुलनी भूलेहु करत नहानू, लहकि चहेउ चुम्बै अधरानू।।
इन्द्रावती

सन्देह :

दसन बीज दाड़िम को, की मोती लर होई।
की हीरा की नषत है, चमक बीज अस होय।।

यमक :

जो मरजिया सो भा मरजिया, मोती लिया दिया भा दिया।

दृष्टान्त :

दिये बहुत दुख सन्त कहं, करै बहुत उद्धार।
जैसे कंचन कीजिये, खरा अगिन महँ डार।।

उल्लेख :

कोउ कहै अहै तम राजा, सोहै तहवां जोत विराजा।।
कोउ कह अहै दिनेस सोहावा, गरत हेत कालिन्दी आवा।।
कोउ कहै कि नागिन कारी, दीन्ह छांड़ि मन सों उजियारी।।
कोउ कहै श्याम अलि मोहा, पुहुप पराग आय तेहि सोहा।।

प्रतीप :

बदन जोति केहि उपमा लावों, ससिहर पटतर देत लजावों।।
ससि कलंक पुनि खण्डित होई, है निकलंक सपूरन सोई।।

छन्द विधान :

सूफ़ी कवियों ने लगभग अपने सभी प्रेमाख्यानों में दोहा-चौपाई छन्द का प्रयोग किया है। केवल कवि नूर मुहम्मद ने दोहे के स्थान पर बरवै का प्रयोग किया है। कवि नसीर ने षट्ऋतु वर्णन के अन्तर्गत कवित्त सवैये का प्रयोग किया है, इन थोड़े से छन्दों के अतिरिक्त मुक्तक काव्य में झूलने, कुण्डलिया एवं फ़ारसी वजनों पर लिखे गये पद पाये

जाते हैं। 'कथा कामरूप' प्रेमाख्यान की रचना मित्र छन्द में हुई है, आदि से अन्त तक पूरा ग्रन्थ एक ही छन्द में लिखा गया है।

जान कवि ने यद्यपि प्रेमाख्यानों में तो दोहे, चौपाई या चौपई पद्धति का ही अनुकरण किया है किन्तु इसके अतिरिक्त उन्होंने प्लवंगम, सवैये, झूलना, बरवै आदि का प्रयोग भी किया है।

भारतीय प्रबन्ध काव्यों में अनेक प्रकार के छन्दों का प्रयोग होता रहा है। साहित्य-दर्पण-कार ने प्रबन्ध काव्य के एक सर्ग में एक ही छन्द के प्रयोग का नियम बनाया है। अन्त का छन्द अवश्य भिन्न होना चाहिये। और यदि कवि अपनी बहुज्ञता प्रदर्शित करना चाहता है तो वह एक सर्ग में कई प्रकार के छन्दों की योजना कर सकता है। इन सूफ़ी कवियों ने चरितकाव्य-परम्परा के अनुसार दोहे चौपाई के क्रम में ही अपने प्रबन्धों की रचना की। दोहे, चौपाई के क्रम में साहित्य रचना की परम्परा अपभ्रंश कालीन है। सहजयानी सिद्धों, सरहपाद एवं कृष्णाचार्य के ग्रन्थों में दो दो या चार चार चौपाइयों के बाद दोहा लिखने की प्रथा पाई जाती है। अपभ्रंश काव्य में दस बारह अर्धालियों के बाद धत्ता, उल्लाला आदि लिख कर प्रबन्ध लिखने का नियम था। अपभ्रंश के पज्झटिका या अड़िल्ल में यह अन्तर है कि चौपाई के अन्त में दो गुरु होने चाहिये। किन्तु अड़िल्ल या पज्झटिका के अन्त में मात्रा लघु ही होती है। अतः दोहे चौपाई में चरित या प्रबन्ध लिखने की पद्धति सूफ़ियों को परम्परा से प्राप्त हुई है। इन सूफ़ी कवियों ने चौपाई को द्विपदी ही समझा था, यही कारण है कि इनके प्रबन्धों में पांच, सात या नौ अर्द्धालियों के बाद दोहा मिलता है, किंतु कवि शेख़ रहीम में यह दोष नहीं पाया जाता, ये चौपाई के चार पद मानते हैं। यही कारण है कि शेख रहीम ने भाषा प्रेमरस में चार चौपाइयों के बाद दोहा प्रयुक्त किया है। कुछ कवि हैं जिनकी अर्द्धालियों में कोई क्रम नहीं है, जैसे 'अलीमुराद' कवि निसार, शाहनजफ अली सलोनी, आदि कवियों के ग्रन्थों में दोहे के मध्य अर्द्धालियों की संख्या घटती बढ़ती रही है।

सूफ़ी प्रेमाख्यान शृंगार-रस प्रधान काव्य हैं, यद्यपि इनमें कहीं कहीं वात्सल्य, वीर, एवं करुण रस का संयोग भी हुआ है, किन्तु उसकी सांगोपांग प्रक्रिया नहीं है।

अलंकारों की योजना स्वाभाविक है, कहीं भी अतिचमत्कार या बहुज्ञता का प्रदर्शन नहीं है, एकाध स्थलों पर फ़ारसी उपमानों का प्रयोग भी हुआ है, तथा कहीं कहीं साम्य प्रदर्शन में अति हो गई है, किन्तु ऐसे स्थल कम हैं, अधिकांश सादृश्य मूलक अलंकारों का ही प्रयोग है।

छन्द प्रयोग में जान कवि ने बहुज्ञता का परिचय दिया है। प्रेमाख्यानों में लगभग सभी ने दोहे चौपाई का क्रम निबाहा है। नूर मुहम्मद ने केवल अनुराग बाँसुरी में दोहे के स्थान पर बरवै का तथा जान कवि ने चौपाई के स्थान पर चौपई का प्रयोग किया है। कवि नसीर ने षट्ऋतु वर्णन में, कवित्त, सवैया एवं सोरठे का प्रयोग किया है, स्फुट काव्य में पद, साखियां, झूलना एवं कुण्डलियों का भी प्रयोग मिलता है।

११

भाषा तथा शैली

काव्य-रचना का उद्देश्य तभी पूर्ण होता है जब उसका सम्मान पाठक एवं श्रोतावर्ग में हो। प्रत्येक युग-द्रष्टा कवि एवं विचारक अपने समय के समाज एवं काव्य परम्पराओं का ध्यान रखता है। कवि की रचना समाज के जिस वर्ग में प्रिय होती है, वह तदनुकूल भाषा प्रयोग करने का प्रयास करता है। विद्यापति का पाठक नागर, एवं तुलसी के प्रबन्ध का आदर करने वाला पाठक बुध है[1]। सूफ़ी कवियों की विशेष शिक्षा-दीक्षा का उल्लेख यद्यपि उनके काव्य में नहीं मिलता फिर भी उनके काव्य को पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये कवि साहित्यिक परम्पराओं से परिचित होते हुये भी अपनी रचना जन साधारण के लिये करते थे। उनके 'इश्क हकीकी' को हृदयगंम करने वाला पाठक साधारण वर्ग का होते हुये भी बुद्धि में साधारण नहीं है, यह हो सकता है कि वह विशेष शास्त्र पारंगत न हो फिर भी है वह पण्डित ही[2]।

संस्कृत के स्थान पर, भाषा की प्रतिष्ठा १३वीं १४वीं शताब्दी में ही प्रारम्भ हो गई थी। अमीर खुसरो ने व्यावहारिक प्रयोगों के अतिरिक्त, मनोरञ्जन एवं मनोविनोद के

---

1. बालचन्द विज्जावइ भाषा दुहु नहि लग्गइ दुज्जन हासा।
   जे परमेश्वर सिर सोहइ, ई णिच्चइ नागर मन मोहइ॥
   विद्यापति : कीर्तिलता।

   जे प्रबन्ध नहि बुध आदरहीं, ते श्रम वृथा बादि कवि करहीं।
   तुलसीदास : रामचरित मानस।

२. में एहि अरथ पंडितन्ह बूझा, कहा कि हम्ह किछु और न सूझा।
   तथा।
   जायस नगर धरम अस्थानू, तहां आइ कवि कीन्ह बखानू।
   औ बिनती पंडितन सन भजा, टूट सँवारहु, नेरवहु सजा॥
   जायसी : पद्मावत।

लिये 'भाषा' को उपयुक्त समझा। विद्यापति ने भाषा को साहित्यिक प्रतिष्ठा प्रदान की। कबीर आदि निर्गुनिये सन्तों, एवं सूर तुलसी आदि सगुण भक्तों को जनभाषा में काव्य रचना अभीष्ट थी। तुलसी ने स्पष्ट ही 'भाषा भनिति भूति भलि सोई, सुरसरि सम सबकर हित होई' कहकर इसी सर्वहितकारिणी भाषा या व्यावहारिक बोली की सराहना की है। जान कवि ने अपने ग्रन्थ 'कंवलावती' में जनबोली की महत्ता प्रतिपादित की है। उनका कथन है कि संस्कृत भाषा दुरूह है। भाषा या जनबोली अपनी बोधगम्यता एवं सरलता के कारण रसचर्वणा में सर्वाधिक सहायक है। स्वाभाविक रूप से कविमुख द्वारा निःसृत होने वाली भाषा ही काव्य भाषा का स्वरूप है।

जन भाषा के अभ्युदय के साथ ही देवनागरी, मैथिली आदि स्थानीय लिपियों का प्रयोग भी होता रहा है: फिर भी फ़ारसी लिपि या नस्तालेख में अपने ग्रन्थों की रचना करना इन कवियों की सुविधा का ही द्योतक है। इसके आधार पर यह कहना कि आलोच्य काल में फ़ारसी लिपि ही प्रधान थी, निरर्थक है।

हिन्दी के सूफ़ी साहित्य की भाषा का रूपनिर्धारण करने में कुछ कठिनाइयाँ हैं। उनमें से अधिकांश का कारण इन काव्यों की रचना फारसी लिपि में होने के कारण है। फारसी लिपि भारतीय भाषाओं के लिये सर्वथा अवैज्ञानिक घोषित कर दी गई है, यही कारण है की अधिकांश ग्रन्थों का अभीतक सम्पादन नहीं हो सका। ग्रन्थों की ठीक-ठीक प्रतिलिपि करना भी सहज नहीं है। साधारणतः प्रतिलिपिकार सूफ़ी प्रेमाख्यानों के विषय एवं परम्पराओं से क्रमशः अपरिचित होते गये; अतः उनके द्वारा भूलें होना स्वाभाविक था।

सम्पूर्ण सूफ़ी साहित्य उपलब्ध नहीं है। एक ही कवि की सभी रचनायें प्राप्त नहीं हैं, अतः उस कवि की भाषा का क्रमिक अध्ययन नहीं हो पाता। इतना होते हुये भी भाषा सम्बन्धी एक सुविधा अवश्य है कि इन कवियों ने अपने समय का स्पष्ट निर्देश कर दिया है। लगभग सभी प्रेमाख्यान जन भाषा अवधी के ठेठ बोली रूप या ब्रज भाषामिश्रित स्वरूप में लिखे गये हैं। 'कथा कामरूप' की रचना अवश्य खड़ी बोली में की गई है जिसका स्वरूप भी लोक भाषा का है

---

१. मुष आनी जो जिय में आई, भाषा जो आनी सो आनी।

रहवो बागर भाउ, किम भाषा आवै भली।
पै दिन ढिग ज्यों सांझ तैसी भाषा उकति ढिग।

उकति विसेष सांचु कै जानहु, भाषा जो आवै सो मानहु।
संसक्रित ग्वारे मिलायो, मध विलायकै साज बजायो।
यह कंवल वामें कठिनाई, ताते कहु यहु जुगति जनाई।

जान कवि : कंवलावती।

इन सूफ़ी कवियों ने या तो भाषा सरलता के कारण अवधी के शुद्ध बोलचाल के स्वरूप का प्रयोग किया है, या प्रेमकथा को भाषा में कह कर उसे सर्वजनग्राह्य बनाने के उद्देश्य से प्रेरित होकर। वचन का मूल्य इन सूफ़ी कवियों की दृष्टि से बहुत है। ये वचन की अमरता में ही विश्वास करते हैं एवं और इस लिये भाषा में प्रेमकथा के महत्व एवं अमरत्व की चर्चा करके अमर होना चाहते हैं, यशलाभ करना चाहते हैं[1]। कहा भी है कि 'कविहि अरथ आखर बल सांचा', सूफ़ियों का अर्थ उनकी सरल भाषा में पूर्ण सुरक्षित है।

अपभ्रंश की साहित्यिक परम्पराओं पर दृष्टिनिक्षेप करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि दो प्रकार की परम्परायें उत्तर भारत में प्रचलित थीं, पूर्वी और पश्चिमी अपभ्रंश को मागधी का पूर्व रूप कहना अधिक उपयुक्त होगा। राहुल सांस्कृत्यायन के विचारानुसार बारहवीं तेरहवीं शताब्दी में द्रविड़ भाषा भाषी आन्ध्र, तामिल, केरल और कर्नाटक को छोड़कर, भारत के सभी प्रान्तों की एक सम्मिलित भाषा थी[2]। पूर्वी एवं पश्चिमी अपभ्रंश का भेद बना रहने पर भी पश्चिमी अपभ्रंश की यही परम्परा अधिक प्रचलित हुई, तथा पूर्वी अपभ्रंश की परम्परा विरल होती गई। इसका स्वरूप बोलियों एवं लोक साहित्य में सुरक्षित रहा। इन सूफ़ी साधकों ने पौराणिक आख्यानों के बदले इन्हीं लोक प्रचलित कथानकों का आश्रय लेकर ठेठ अवधी में जनता तक अपनी बात पहुँचाने का प्रयास किया है। आख्यानों की यह परम्परा 'अवधी' भाषा की एकान्त निधि है किन्तु मानस की अवधी एवं सूफ़ी कवियों की अवधी में अन्तर है। एक में साहित्यिक परम्पराओं एवं स्वरूप का पालन है दूसरी में साधारण जनजीवन की बोली का प्रतिनिधित्व है।

अधिकांश हिन्दी के सूफ़ी कवि अवध प्रान्त के रहने वाले थे, अतः काव्य में अवधी का प्रयोग उनके लिये स्वाभाविक था। अवधी का अर्थ होता है अवध या अवध-विषयक, किन्तु साहित्य या भाषा के क्षेत्र में जब अवधी का प्रयोग होता है तब इस शब्द का अर्थ होता है अवध प्रदेश के अन्तर्गत बोली जाने वाली बोली या विभाषा। हिन्दी की प्रादेशिक बोलियों में अवधी का विशेष स्थान रहा है।

भाषा सर्वे के आधार पर अवधी, फैजाबाद, सुल्तानपुर, प्रतापगढ़, लखनऊ, उन्नाव, लखीमपुर, खेरी आदि जिलों में बोली जाती है। 'लिंग्वस्टिक सर्वे आफ इन्डिया' के अन्तर्गत सर जार्ज ग्रियर्सन ने सबसे अधिक अवधी बोलने वाले व्यक्तियों की संख्या का उल्लेख किया है। डा० बाबूराम सक्सेना ने 'इवाल्यूशन आफ अवधी में अवधी की परिधि निर्धा-

---

१. वचन अरथ है वास समाना, कवि श्रोता है भँवर समाना।
नूरमुहम्मद : इन्द्रावती पृ० ४।

वचन समान सुधा जग नाहीं, जेहि पाए कवि अमर रहाहीं।
उसमान : चित्रावली पृ० १२

२. हिन्दी काव्य धारा : राहुल सांकृत्यायन।

रिन करते समय इसके उत्तर में इसे नैपाल की भाषाओं, पूर्व में भोजपुरी, दक्षिण में मराठी, पश्चिम में पछाहीं हिन्दी कन्नौजी एवं बुन्देलखण्डी भाषाओं की स्थिति मानी है।

कालक्रमानुसार अवधी अर्धमागधी प्राकृत से विकसित जन-भाषा मानी गई है। अर्धमागधी, जैसा कि शब्द विशेष स्पष्ट करता है, शौरसेनी प्राकृत की अपेक्षा मागधी प्राकृत के अधिक निकट थी, परन्तु तत्प्रसूत अवधी धीरे धीरे शौरसेनी की पुत्रियों, ब्रज एवं खड़ी बोली से प्रभावित होती गई और इसी प्रभाव की दृष्टि से अवधी दो भागों में विभाजित की जा सकती है :—

१. पश्चिमी अवधी (बैसवाड़ी): भौगोलिक दृष्टि से ब्रज, खड़ी बोली के निकट होने के कारण इन बोलियों का पर्याप्त प्रभाव अवधी के इस स्वरूप पर पड़ा है। तुलसी के रामचरित मानस में अवधी के इसी रूप के दर्शन होते हैं।

२. पूर्वी अवधी : पश्चिमी हिन्दी से दूर होने के कारण एवं बिहारी बोलियों के सन्निकट होने के कारण यह पश्चिमी हिन्दी, साहित्यिक ब्रजभाषा से कम प्रभावित है। संस्कृत एवं तत्कालीन साहित्यिक बोली के पण्डित न होने के कारण, जायसी आदि सूफ़ी कवियों में अवधी के इसी प्राकृत पूर्वी स्वरूप के दर्शन होते हैं। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि अधिकांश सूफ़ी कवियों की जन्मभूमि यहीं थी। जायसी का जायसनगर, कासिमशाह का दरियाबाद, कवि निसार का शेखपुर, ख्वाजा अहमद का बाबूगंज तथा शेख रहीम का जरवल गांव सभी अवध प्रान्त में है। उसमान एवं कवि नसीर का गाजीपुर तथा नूरमुहम्मद का जौनपुर जिले से सम्बन्ध है।

'मानस' और सूफ़ी कवियों की भाषा का तुलनात्मक अध्ययन करने से एक अन्तर और स्पष्ट होता है। तुलसी की कृतियां पौराणिक कथाओं पर आधारित हैं तथा स्वयम ब्रजभाषा एवं संस्कृत के प्रकांड पण्डित होने के कारण और साहित्यिक परम्पराओं का पालन करते रहने से तुलसी की भाषा जनबोली का प्रतिनिधित्व नहीं करती है।

भारतीय आर्य भाषाओं ने संस्कृत काल में ही भूतकाल क्रियाओं के साथ एक कृदन्त प्रयोग अपना लिया था। कर्तृ प्रयोग में क्रिया कर्म के वचन एवं लिङ्ग के अनुसार बदलती थी। इस कर्म प्रयोग को पश्चिमी भारतीय आर्य भाषाओं ने कृदन्त रूप में ही अपनाया है, जबकि पूर्वी भाषाओं ने, जिसमें अवधी, बिहारी बोलियाँ तथा बङ्गाली उड़िया आदि आती हैं, इस प्रयोग को पुरुषवाची प्रत्यय जोड़कर तिङन्त के रूप में बदल लिया है। अवधी का यह विशिष्ट प्रयोग रामचरितमानस में पश्चिमी हिन्दी से प्रभावित है, जबकि सूफ़ी काव्य में लगभग पूर्णत: सुरक्षित है। इन रचनाओं में स्थान विशेष की कुछ शब्दावली तथा व्याकरण सम्बन्धी विशिष्ट प्रयोग भी मिलते हैं।

जनभाषा का स्वरूप तद्भव शब्दों के बहुल प्रयोगों पर विशेष रूप से आश्रित है। इन कवियों की भाषा में तद्भव शब्दों का प्रयोग अधिक हुआ है, केवल कवि नूरमुहम्मद

ने संस्कृत का प्रयोग बहुलता से किया है। नूरमुहम्मद ने भी संस्कृत शब्दों का प्रयोग तत्सम शब्दों में न करके उच्चारण सरल रूप में किया है। इस प्रकार ये अर्ध तत्सम शब्द, लोकरुचि के नायक होकर ही आये हैं।

कुछ अर्ध तत्सम शब्द :—

परसुन	(प्रसून)
सरब	(सर्व)
सिरेयस्	(श्रेयस्)
दिस्टि	(दृष्टि)

पर इन कवियों की प्रवृत्ति अधिकांशतः तद्भव शब्दों की ओर रही है जैसे :—

कमला	कंवला	कौंल
सुमिरत	सौंरत	
सामने	सौंह	

संयुक्त व्यञ्जनों के शुद्ध उच्चारण में कठिनाई पड़ती है, ऐसे व्यञ्जनों के स्थान पर भी इन कवियों ने अर्धतत्सम रूपों का प्रयोग किया है:—

इस्तरीन	(स्त्री),	दिर्गन	(दृगन)
बरती	(व्रती),	परतिहारि	(प्रतिहारी)
सासतर	(शास्त्र) आदि।		

इस प्रकार के प्रयोगों से जहाँ भाषा लोकरुचि की अनुकूलता ग्रहण करती है, वहीं कुछ अस्त व्यस्त भी हो जाती है। एक हो 'हृदय' शब्द को कवि उसमान ने हिरदै, हिरदय, हिय, हिअ, हियर कई रूप में लिखा है। इसी प्रकार नूरमुहम्मद ने इन्द्रावनी में 'तपी' के लिये तपि, तपा, तपिय, तपसि, तपिसी एवं तप शब्द का प्रयोग किया है।

इसी प्रकार सुपन, स्वाप तथा सप का प्रयोग 'स्वप्न' के लिये तथा दिवस, देवस, दोसा का प्रयोग 'दिवस' के लिये हुआ है।

कहीं-कहीं यह उच्चारण सुलभता, अर्थ क्लिष्टता भी उत्पन्न कर देती है, जैसे 'चिना' तथा 'चित्त' दोनों के लिये 'चित' का प्रयोग :—

कुसुम सेज जानहु चित जोरी (चिता)
(चित्रावली : उसमान पृ० ५०)

चित अकुलाइ चलन कहं चाहा (चित्त)
(चित्रावली : उसमान पृ० ५०)

इनमें से कुछ प्रयोगों का उत्तरदायित्व तो फारसी लिपि पर भी हो सकता है।

संज्ञा तथा विशेषण पद :

हिन्दी की पश्चिमी बोलियों में संज्ञा तथा विशेषण पद दीर्घ रूप में मिलते हैं, जबकि अवधी की प्रवृत्ति ह्रस्व पदों की ओर है :

नारी (हिन्दी खड़ी बोली), नारि (अवधी)
नैना (ब्रज), नैन (अवधी)

अवधी में 'य' एवं 'व' लगाकर एक लम्बा पद भी बना लिया जाता है : नारिया, अहिरवा, घोड़वा आदि ऐसे ही शब्द हैं। ऐसे प्रयोग सूफ़ी काव्य में अधिक नहीं मिलते हैं। सर्वनाम में अवश्य जहं तहं के स्थान पर जहवां तहवां का प्रयोग पाया जाता है। विशेषण पदों में निरर्थक प्रत्यय 'क' एवं 'र' लगाकर भी वृद्धि की गई है :

कछुक थोरक
हियर हरियर

अपभ्रंश में संस्कृत के अराकान्त पद कर्ता एवं कर्म के रूप में उकारान्त हो गये थे। प्राचीन अवधी तथा ब्रजभाषा में भी सम्भवत: इसीलिये आधुनिक उकारान्त पद कभी-कभी उकारान्त रूप में प्रयुक्त हुये हैं।

विशेषण पदों में, एक विशिष्ट प्रयोग भी मिलता है, जहाँ बलाघात प्रत्यय 'ही' का योग भी शब्द में रहता है :

१. का जो बहुतै हिन्दी भाखेउं। (अनुराग बाँसुरी; पृ० ८६)
२. इहै समुझि मैं रोइउं। (इन्द्रावती)
३. सबद पाइ इन्द्रावती अधिकौ रही तवाइ।
   चिन्ता मन्दिर कीन्हा अपने मन्दिर आइ।
   (इन्द्रावती पृ० ६५)

जायसी की भाषा का विश्लेषण करते हुये आचार्य शुक्ल जी ने लिखा है कि 'पारना और 'आछना' क्रिया के रूप, जो कि अब केवल बंगाल में ही सुनाई देते हैं जायसी के काव्य में प्राप्त होते हैं। अन्य सूफ़ी कवियों ने भी 'पारना' का प्रयोग किया है, किन्तु ऐसे प्रयोग विरल हैं। 'आछना' का प्रयोग केवल नाममात्र को है।

१. सीषक एक कहै नहिं पारइ। (इन्द्रावती)
२. तब गढ़ ऊंच बखानै पारै। (इन्द्रावती पृ० ८)
३. कहत न पारौं कुंवर बखानूं। (अनु० बाँसुरी पृ० ६२)

सकना का भी प्रयोग मिलता है :

१. बरनि न सकों मीत निर्मलाई। (इन्द्रावती पृ० ८)
२. राखि न सकै कोउ एक घरी। (पुहुपावती)

निश्चयार्थक शब्द 'पै' भी जिसका आचार्य शुक्ल जी ने निर्देश किया है यत्र तत्र मिलता है :

जो विधि करै होय पै सोई।
(कुंवरावत : अली मुराद)

संस्कृत की विभक्ति बहुलता का धीरे-धीरे लोप होता गया। विभक्तियों के लोप से पदों में एकरूपता आती गई जिससे कहीं-कहीं अर्थ स्पष्टता में बाधा पड़ती थी। फलस्वरूप प्राकृत काल से ही इन एकरूप पदों में विशेष शब्दों के योग से अर्थ स्पष्ट किया जाने लगा। आधुनिक आर्य भाषाओं के कारक चिन्ह अधिकांशतः इन्हीं प्राकृत काल में जुड़े हुये शब्दों के अवशिष्ट हैं। वैसे भी संस्कृत की मूल विभक्तियों के घिसे रूप भी लगे लिपटे भाषा में चले आ रहे हैं। इस प्रकार अवधी के कारकों को दो भागों में बांटा जा सकता है :

१. संस्कृत की विभक्तियों के संश्लिष्ट रूप।
२. प्राकृत काल से जुड़े शब्दों के घिसे रूप।

प्रथम के अन्तर्गत संस्कृत से विकसित मध्ययुग की 'हि' विभक्ति है। इस 'हि' के विभिन्न रूप 'हिं' या 'ह' कारकों में पाये जाते हैं। कर्ता कारक को छोड़कर, सब कारकों में तुलसी की भाषा में तथा व्रजभाषा कवियों में यह प्रयोग पाया जाता है, किन्तु कर्ता में इस विभक्ति का प्रयोग इन कवियों की अवधी का विशिष्ट प्रयोग है :

१. राजै कहा जहां सुख होई। (चित्रावली पृ० ४३)
२. विधिनै अपने हाथ जो लिखा होइ तो होइ। (चित्रावली ४८ पृ०)
६. कौलै राना चीर उतारा। (चित्रावली पृ० १३३)
४. धर्मरूप विधिनै उपराजा। (चित्रावली पृ० १८)

इस 'हि' का संश्लिष्ट रूप विधिनाहि > विधिनाइ > विधनै, आदि रूप में स्पष्ट हुआ है। अन्य कारकों में भी इसका प्रयोग मिलता है :—

कुंवर आनि राजहिं जुहरावा (कर्म)
एहि विधि अहनिसि कौलहिं जाई (सम्बन्ध) (चित्रावली पृ० १३४)
संक संकोच न एकौ हियें (अधिकरण)
जोतिहिं मिलि जोति ठहरानी (अपादान)
सर्वनामों में भी यह 'हि' रूप पर्याप्त मिलता है।

कारक चिह्नों के प्रयोग इस सूफ़ी साहित्य में अस्तव्यस्त मिलते हैं। पूर्वी अवधी की प्रमुख विशेषता 'कर्तृत्व प्रत्यय' 'ने' का सर्वथा अभाव है, क्योंकि पूर्वी हिन्दी की सभी क्रियायें तिङन्त रूप में प्रयुक्त हुई हैं। एकाध स्थलों को छोड़कर 'ने' का प्रयोग नहीं मिलता। यह 'ने' छापे या प्रतिलिपिकार की अशुद्धि भी हो सकती है।

'विधि ने अपने हाथ जो लिखा होइ तौ होइ'

'विधि ने' के स्थान पर 'विधिनै' पाठ सम्भव है, जो युक्तिसंगत ज्ञात होता है, क्योंकि पुरानी 'हि' विभक्ति का योग कर्ता में भी होता था, वैसे यह 'हि' विभक्ति सभी कारकों में प्रयुक्त की जाती थी। इस प्रकार विधिनाहिं > विधिनाइ > विधिनै कर्ता में इस 'हि' का प्रयोग कई स्थलों पर हुआ है :—

१. देवहि मन महं परा विचारा। (चित्रावली पृ० २७)
२. राजै राजकाज तजि दीन्हा। (इन्द्रावती पृ० ११)
३. धर्म रूप विधिनै उपराजा। (चित्रावली पृ० १८)

हिन्दी भाववाचक क्रिया के कर्म के साथ जो 'को' कारक चिह्न रहता है (उसने राम को देखा) वह भी पूर्वी अवधी में प्राप्त नहीं होता, (ते देखे दोउ भ्राता) 'रामायण' तथा (धर्म रूप विधिनै उपराजा) किन्तु इन कवियों ने यत्र तत्र इसका प्रयोग भी किया है।

१. जो वहि मुख को परगट देखा। (इन्द्रावती पृ० १८)
२. सो दीन्हा जिउ को वह दोसू।

आधुनिक अवधी में इस 'को' एवं 'ते' का प्रयोग होने लगा है:—

'जेहि ने वहि मुंह का देखा'

बहुत सम्भव है कि यह पश्चिमी हिन्दी का प्रभाव हो।

सम्बन्ध कारक चिह्नों में यह प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। आचार्य शुक्ल जी के अनुसार पुलिंग सम्बन्धकारक का चिह्न 'कर' और स्त्रीलिंग का 'के' है। अधिकांश स्थानों पर यही चिन्ह प्रयुक्त हुये हैं जैसे :

१. आया मान तपी कर।
२. रक्त कै धारा।

पर 'पितु के राजू' ऐसे प्रयोग भी उपलब्ध हैं, साथ ही पश्चिमी हिन्दी के प्रभाव स्वरूप स्त्रीलिंग 'की' का प्रयोग भी पर्याप्त हुआ है।

१. ते सुबहान अली 'की' भाखा। (अनुराग बाँसुरी पृ० ८६)

और पुलिंग में 'का' तथा 'को' भी प्रयुक्त हुये हैं। दूसरे रूप 'कर' 'केरा' (पुलिंग) और 'केरी' (स्त्रीलिंग) भी प्राप्त होते हैं। मात्रा का ध्यान रखने के कारण पुलिंग 'को' का एक लघुतम रूप 'क' भी मिल जाता है। तुलसी ने भी अपनी भाषा में इसका प्रयोग किया है। सर्वनामों में इस प्रकार का प्रयोग विशेष नहीं खटकता (जेहिक, तेहिक आदिक) जब प्रश्नवाचक सर्वनाम 'का' (हिन्दी 'क्या') के लघु रूप 'क' के साथ मिलकर आता है तब अर्थ में भ्रम उत्पन्न कर देता है।

१. हस्ति क भार क गदहा लेई। (चित्रावली पृ० १६)
६. गंग क सपन भयो मोर लेखा। (चित्रावली पृ० ४०)

लघु करने की प्रवृत्ति न केवल सम्बन्ध कारक तक ही सीमित है वरन् अधिकरण कारक चिह्न 'मों' को 'म' और अव्यय 'तो' का 'त' भी हुआ है।

१. अंक म गहो जो हिय सियराई। (चित्रावली पृ० १५५)

२. नगर म होन धरम को काजा। इन्द्रावती पृ० १५)

ऊपर उदाहरण 'हस्ति क भार क गदहा लेई' में दूसरा 'क' 'कि' भी हो सकता है।

इन कवियों द्वारा प्रयुक्त कारक चिह्न निम्न प्रकार से हैं। 'हि' का प्रयोग तो सभी कारकों में हुआ है जैसा कि आचार्य शुक्ल जी ने भी निर्देश किया है कि यह प्रयोग अपभ्रंश काल से ही चला आ रहा था जो अब नष्टप्राय है शेष:—

कर्ता :

कर्म : कहं (कां) के, को।

करण : सन् से, सों, सेनीं।

सम्प्रदान : कहं (का) लागि (विद्या लागि) हुते, (मरन हुते)

अपादान : से, ते तैं, (चन्द्रहुते तैं)

सम्बन्ध : कर, कै, की, क, को, केर, केरा केरी।

अधिकरण : महं (मां) पट, पे, (मो, में)।

घरहि, परदेसे, हिएं, हियरैं में भी अधिकरण का कारक चिह्न लुप्त रहता है।

सर्वनामों के प्रयोग में उल्लेखनीय बात यह है कि एक ही सर्वनाम के कई रूपों का प्रयोग एक ही स्थान के लिये पाया जाता है।

उत्तम पुरुष एक वचन में 'मैं' 'हम' तथा बहु वचन में 'हम' 'हम्ह'।

एकाध स्थल पर व्रजभाषा का हौं (मैं) भी प्रयुक्त हुआ है जैसे :—

हौं आखर होइ चली न साथा। चित्रावली पृ० १७५।

हौं तो वही चित्र कर मारा। चित्रावली पृ० ५५।

मध्यम पुरुष: एक वचन (तुई, तैं)

मध्यम पुरुष: बहु वचन (तुम, तुम्ह)

प्रथम पुरुष: (ओ, वह, उन, उन्ह, सो)

प्रथम पुरुष: (ता; इह, तिन, इन, इन्ह, यह)

१. ओहि मूरत कां चीन्हा।

२. सो निर्प को भूपति नाऊँ।

३. ता मुख केरा।

४. तिन मग कीनहिं।

बलाघात (Emphatic Particle) के साथ मिलकर मध्यम एव उत्तम पुरुष कर्ता के रूप भी त, म रह जाते हैं जैसे तहीं (तूने ही), महीं (मैंने ही)।

१. तहीं सरग ससि सूर बनावा।

२. कहेसि महूँ निकसकै जाऊँ। चित्रावली पृ० १३०।

कहीं कहीं पर प्रयोगों में अन्तर भी है जैसे :
जिउ लेइ कीन्हेसि हौं रोगी। यहाँ पर 'हौं' के स्थान पर 'मोहि' उचित था।
एक वचन के 'हम' का प्रयोग बहुवचन में हम लोग होने लगा था :

'ममता भरे कहौं हम लोगैं'

कारक चिह्नों के लोप हो जाने के उदाहरण प्रचुर मिलते हैं :

१. धरमसाल एक जोगी आवा (में) चित्रावली पृ० ५८।
२. महादेव हम परसन अहा (पर) चित्रावली पृ० १८।
३. जागत बरस एक दिन जाई। (सम) चित्रावली पृ० ५०।
४. बसन सोहाइ अंग जो आहा। (में) चित्रावली पृ० ४३।

क्रिया :

क्रिया के व्याकरणगत रूपों पर भी पड़ोसी बोलियों का प्रभाव स्पष्ट है। इन कवियों के ग्रन्थों में अवधी की ही सहायक क्रियाओं के रूप नहीं बल्कि ब्रज, कन्नौजी तथा भोजपुरी के भी रूप स्थान स्थान पर मिल जाते हैं।

सहायक क्रिया (होना)

होना क्रिया के वर्तमान काल के रूपों के आदि में 'अ' अक्षर पाया जाता है जोकि खड़ी बोली हिन्दी में नहीं है। अवधी में 'है' के स्थान पर 'अहै' बोलते हैं। सूफ़ी काव्य में 'है' रूप भी कहीं-कहीं मिल जाता है जो सम्भवत: खड़ी बोली का प्रभाव है और अधिकांशत: मात्राओं के कारण उसका लोप भी पाया जाता है। यह 'अहै' बुन्देली में 'आय' रूप में वर्तमान है। इसके भूतकालिक रूपों का प्रयोग भी इन कवियों ने किया है। बहुत सम्भव है ये इसी रूप में उस समय प्रचलित रहे हों।

वर्तमान काल

१. बूड़त अहौं समुंद मंझ नीरा (उत्तमपुरुष एकवचन पुल्लिंग)
२. रूप समुद्र अहै वह प्यारी (अन्यपुरुष एकवचन स्त्रीलिंग)
३. अहसि तुही अब मेरी साखी (मध्यमपुरुष बहुवचन पुल्लिंग)
२. प्रगट होसि बैरागी भूपा (मध्यमपुरुष बहुवचन पुल्लिंग)
५. भेद अलख के अहैं संवारे (अन्यपुरुष बहुवचन पुल्लिंग)
   बदन अरुण हिय हुलसन अहहीं (अन्यपुरुष बहुवचन पुल्लिंग)
६. जहं तहं मढ़ी गुफा बहु आई (अन्यपुरुष बहुवचन स्त्रीलिंग)
७. समि के संग जो अहैं तराई (अन्यपुरुष बहुवचन स्त्रीलिंग)
   कोउ कह अहि कोउ कह नाहीं (अन्यपुरुष एकवचन पुल्लिंग)
८ तैं कहु सत को हसि का नाऊं (मध्यमपुरुष एकवचन स्त्रीलिंग)
६. हहु अन्तरजामी तुम्ह देवा (मध्यमपुरुष एकवचन पुल्लिंग)

उपर्युक्त उदाहरणों में पाँच बातें द्रष्टव्य हैं :

१. राष्ट्रभाषा हिन्दी की ये क्रियायें तिङन्त रूप में हैं अर्थात् पुरुष, वचन, भेद के अनुसार बदलती हैं किन्तु पुल्लिग या स्त्रीलिंग के अनुसार नहीं।

२. 'है' के पूर्व 'अ' कभी मिलता है कभी लुप्त रहता है।

३. 'सि' मध्यम पुरुष के अन्त में लगता है।

४. 'अहै' 'है' 'अहि' 'अहई' आदि अनेक मात्रा भेद के कारण उपलब्ध होते हैं।

५. 'नाहिं' शब्द में सम्भवतः 'न आहि' का योग है, इसलिये नहीं है के अर्थ में सर्वत्र प्रयुक्त है।

६. यह 'अहै' रूप संस्कृत की 'अस्' धातु में मिलता है : असति, असइ, अहइ अहै। भूतकाल में इस 'अहै' के रूप सम्भवतः अवधी की अपनी विशेषता है। यह रूप भी राष्ट्रभाषा हिन्दी के समान कृदन्त नहीं है अर्थात् यह पुरुष भेद के अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं।

१. कुमुदिनी नाउं सखी एक अही (अन्यपुरुष एकवचन स्त्रीलिंग)

चित्रावली पृ० १३४।

२. नेहि कुल सुमति पूत एक अहा (अन्यपुरुष एकवचन पुल्लिंग)

चित्रावली पृ० ३९।

३. सोवत भाग अहे सो जागे (अन्यपुरुष बहुवचन पुल्लिंग)

४. इहै घरी हम जोगवत अहहीं (उत्तमपुरुष बहुवचन स्त्रीलिंग)

इस प्रकार पुरुष के अनुसार भी रूप परिवर्तित हुये हैं। पुल्लिङ्ग तथा वचन के अनुसार तो बदले ही हैं। हिन्दी में 'वे थे' -हम थे' पुरुष के अनुसार रूप नहीं बदलते।

ध्यान देने की बात यह भी है कि अन्य पुरुष बहुवचन का रूप 'अहे' कहीं-कहीं 'अहा' के रूप में भी प्रयुक्त मिलता है :

१. अथिति सहस एक बैठे अहा (थे) चित्रावली पृ० ५८।

२. वसन सोहाइ अङ्ग जो आहा (था) चित्रावली पृ० ४३।

इसी 'था' के अर्थ में प्राकृत कृदन्त 'हुत' का भी प्रयोग इन कवियों ने किया है।

१. सोहिल सेन जहाँ हुत राजा (अन्यपुरुष एकवचन पुल्लिंग।

चित्रावली पृ० १३४।

२. कहेसि राति रानी हुत आई (मध्यमपुरुष एकवचन पुल्लिंग)

३. जो संग हुते सयान (अन्यपुरुष बहुवचन पुल्लिंग)

ब्रज एवं बुन्देली में 'हतौ, हती, हते' के रूप अब भी व्यवहृत होते हैं।

'था' के अर्थ में भूतकालिक कृदन्त 'रहा' पाया जाता है। राष्ट्रभाषा में जिन अर्थों में 'रहा' का प्रयोग होता है वह भी पूरी तरह से सुरक्षित है। 'था' के उदाहरण में भिन्न प्रयोग द्रष्टव्य हैं :

१. मैं का रहेउं रहीं बहुतेरी (इन्द्रावती पृ० ९५)

२. रहा सो निर्प को भूपति नाऊं (था) इन्द्रावती पृ० ७।

३. आठों मों मन्त्री एक रहा, राजा मानै ताकर कहा। इन्दावती पृ० ११२।

४. रहित रही इन्द्रियपुर नाऊं। अनुरागबाँसुरी पृ० १२।

५. बुद्धसेन रह ताको नाउं (था) इन्द्रावती पृ० १२।

६. पूंजी रही तइस मैं लीन्हा (थी) इन्द्रावती पृ० ३०।

७. आंगन बीच रहा जो सोवा।

सम्भव है कि इस प्रकार के बोलचाल का प्रयोग पहले 'रहना था' से प्रारम्भ हुआ हो पर अब 'था, थी' का ही अर्थ सुस्पष्ट है। 'वह आवा रहा' आधुनिक अवधी में इसका प्रयोग पाया जाता है।

यहाँ पर इन कवियों के वर्णलोप की चर्चा करना असङ्गत न होगा। कवियों के कुछ प्रयोग भ्रमपूर्ण है :

१. 'कुंवर अंधेरे हा जहं परा'

(वहाँ अंधेरा था जहाँ कुंवर जा पड़ा)

२. 'मैं जस हा तस कीन्ह गुसाईं'

'हा' के पहिले निश्चय ही 'अ' अथवा 'ऐ' रहा होगा क्योंकि दोनों ही 'था' के अर्थ में प्रयुक्त हो सकते हैं। प्रारम्भिक 'र' का लोप अनुमान प्रमाण के आधार पर ठहरता नहीं है अत: 'अ' का लोप मानना ही न्यायसङ्गत है।

'हा' तथा 'ही' का प्रयोग व्रजभाषा में हुआ है। अत: इन ग्रन्थों में 'हा' का प्रयोग व्रजभाषा का प्रभाव हो सकता है।

(१) अकर्मक भूतकाल में हिन्दी क्रियायें कृदन्त हैं और ये कर्ता के अनुसार लिङ्ग, वचन, भेद रखती हैं। पुरुष भेद नहीं रहता है।

जैसे राम गया, सीता गई (लिङ्ग भेद)

राम गया, राम और सोहन गये (वचन भेद)

राम गया, मैं गया, तू गया (पुरुष भेद नहीं)

पूर्वी हिन्दी की बोलियों की भाँति इन कवियों की भाषा में अकमक भूतकाल की क्रियायें कृदन्त नहीं रह गई है, प्रत्युत तिङन्त में परिणत हो गई हैं। इस प्रकार क्रिया कर्ता के लिङ्ग वचन भेद के अनुसार तो बदलती ही है, पुरुष भेद के अनुसार भी बदलती है।

१. गौरी पेम सों बौरी भई (भएउ) अनुराग बाँसुरी पृ० ६१।

२. एक सखी आएउ धन ओरा। इन्द्रावती पृ० ३६।

३. चले भवानी और महेनू। चित्रावली पृ० १७।

४. लगीं साथ आगमपुर बारीं। इन्द्रावती पृ० १८।

५. मैं फूल चुनै पर आएउं ? इन्द्रावती पृ० ६।

६. आएउं भलो लाभ फुलवारी।

यहाँ १ २ एवं ३ ४ में लिङ्ग भेद है।

१ ३ एवं २ ४ में वचन भेद है।

२ और ५ में पुरुष भेद है।

(२) सकर्मक भूतकाल में हिन्दी क्रियायें हैं तो कृदन्त ही पर कर्म के अनुसार लिङ्ग वचन भेद रखती हैं। कर्ता के अनुसार नहीं।

मैंने रोटी खायी मैंने फल खाया	लिङ्ग भेद
मैंने पपीते खाये	वचन भेद

किन्तु पूर्वी बोलियाँ यहाँ भी तिङन्त रूप धारण करती हैं। अर्थात् पुरुष और वचन के अनुसार बदलती हैं पर लिंग भेद के अनुसार नहीं। कर्ता के अनुसार ही इनका रूप बदलता है तथा कर्म के अनुसार नहीं :

१. आली खोलेउ द्वार। २. सपन कहानी कहेउ न कोई। ३. गाएउ होरिय विरहिन गोरी। ४. भोर होत धन सखिन हंकारी।	कर्म के अनुसार क्रिया का रूप का परिवर्तित नहीं हुआ। १, २ में लिंग भेद नहीं है। ३, ४ में वचन भेद नहीं है।

भूतकाल में प्रथम पुरुष स्त्रीलिंग में दो प्रयोग रूढ़ पाये जाते हैं।

	प्रथम	द्वितीय
एक वचन	भई, हंकारी	भयेउ हंकारेउ
बहु वचन	भई	भइहि

१. गौरी प्रेम सों बौरी भई २. एक सखी आएउ धनि ओरा	एक वचन
१. लगीं साथ आगमपुर बारी २. चले भवानी और महेसू	बहु वचन

पहले रूप आधुनिक हैं और यही अधिक प्रचलित भी हैं। कर्ता के अनुसार तिङन्त रूप में जहाँ क्रियायें बदलती हैं वे रूप इस प्रकार हैं :

प्रथम पुरुष:	दोष न पाइस कुंवर सरीरा। पुरुष एक वचन रहसि रानि जब देखिसि चेतू। स्त्रीलिंग एक वचन
मध्यम पुरुष:	आजु आस तैं पुरएसि मोरी।

किन्तु पश्चिमी बोलियों की भाँति कृदन्त रूप भी क्रियाओं के मिलते हैं :

१. नेगिन्ह साजी वेगि रसोई। कर्म के अनुसार एक वचन है,
कर्ता के अनुसार बहुवचन नहीं।

२. भाववाच्य में क्रिया की गति प्रधान होती है। हिन्दी में भाववाच्य के समान प्रयोग की तटस्थ क्रिया (Impersonal Construction) कहना उचित है।

मैंने राम को देखा मैंने सीता को देखा	लिंग भेद नहीं है।

मैंने लड़कों को देखा हमने रमेश को देखा	वचन भेद
हमने रमेश को देखा उन्होंने रमेश को देखा	पुरुष भेद

इसी प्रकार इन कवियों में भी भूतकाल में एक सामान्य आकारान्त रूप पाया जाता है जिसका प्रयोग तीनों पुरुषों दोनों लिंगों एवं वचनों में समानरूप से होता है। कर्ता एवं कर्म की भी उपेक्षा हो जाती है।

कर्मानुसार
१. दीन्हा नैन पन्थ पहिचानौं।
२. दीन्हा रसना ताहि बखानौं।
३. कीन्हा रात्रि मिलै सुख तासौं।
४. कीन्हा दिन कारज है जासौं।

कर्मानुसार
१. राजकुंवर छांड़ा सुखभोगू।
२. रानी फूल चढ़ावा।
३. सुवा रस रसना खोला।
४. आठ मित्र राजा के पहिरा जोग दुकूल।
५. कालिञ्जर के लोग जो रहा।

पुरुष के अनुसार
१. तहीं सरगससि सूर बनावा।
२. प्रेम चकोर ससि नेही कीन्हा।
३. अलिश्रेणी ने देखा।
४. सोवत जमल उपत मैं देखा।
५. रानी फूल चढ़ावा।

इसके अतिरिक्त किहिस, दिहिस, कीन्ह, भूलसि, पावसि, आवसि आदि प्रयोग भी मिलते हैं किन्तु कीन्हेसि, दीन्हेस आदि प्रयोग विरल हैं।

भूतकाल में कुछ 'न' वर्णान्त क्रियाओं का प्रयोग हुआ है जो कभी आदर के और कभी बहु वचन के अर्थ में प्रयुक्त हुई हैं।

१. पूछेन कहाँ परान तुम्हारा।
२. कहेन बहुत आगम सूझा।
३. गइन सखी चेता चलि आई।
४. बोलिन राजदीप की नारी।

ब्रजभाषा के 'गयो भयो, चलि आयो' रूप भी जैसे के तैसे मिलते हैं।

गइल, रहिल एवं होला आदि रूप भोजपुरी के हैं जिनका प्रयोग भी कहीं कहीं हुआ है। नूरमुहम्मद ने 'इन्द्रावती' में ऐसे प्रयोग अधिक किये हैं।

१. गइल जहाँ इन्द्रावती रानी।
२. रहिल रतन दर्पन में प्यारी।

३. रहिल अचत भइल सुधकारी।

४. रहिल एक तौ अलप अहारी।

भविष्यत् का 'व' वर्णान्त रूप है जो कि उत्तम तथा मध्यम पुरुष के साथ प्रधान रूप से और यत्र तत्र अन्य पुरुष के साथ भी आता है।

उत्तम पुरुष { होब मैं जोगू। / काढ़ि देव हम एकसरी।

मध्यम पुरुष { कहे न पाउब बात कछु। / रहब मरोरत हाथ।

अन्य पुरुष { चलहिं न कोऊ साथ। / मरम हमार जनाइहै, जाइ वसीठ तुम्हार। / कोला परिहै होइ अकाजा। / सब मरिहैं बौराइ।

प्रथम पुरुष एक वचन 'होइहि' का आधुनिक रूप 'होई' हो गया है। उसका प्रयोग इन पंक्तियों में अधिक पाया जाता है जैसे

'जब कीरात नाभी कटि लेई।'

एकाध स्थल पर वर्णान्त श्लिष्ट रूप उत्तम पुरुष के एक वचन के साथ में भी मिल जाता है।

'होइ निरास मरिहौं बौराइ।'

क्रियार्थक संज्ञा :

भविष्यकाल की ही भाँति क्रियार्थक संज्ञा में भी 'ब' वर्णान्त रूप पाया जाता है।

१. तिरबो एकै बार न आवै। (कर्ता) अनुराग बाँसुरी पृ० १०६।

२. अैहै गुलिक काढ़िवो गाढ़ा। (कर्म) इन्द्रावती पृ० २०।

३. रूप भेद पावे के कारन (सम्प्रदान) इन्द्रावती पृ० ६६।

इनमें तिरबो एवं काढ़िबो रूप ब्रजभाषा का प्रभाव है। जबकि 'पावे' अवधी का ही है। रामचरित मानस में भी 'मैं तव दसन तोरिवे लायक' पंक्ति में 'वे' वर्णान्त क्रियार्थक संज्ञा का प्रयोग है। अवधी की यह विशेषता है कि क्रियार्थक संज्ञा में कारक चिह्न जोड़ने के पहले क्रिया को प्रथम पुरुष एक वचन वर्तमान काल का सा रूप दे देते हैं—जैसे 'भाषै कंह'; पर पश्चिमी हिन्दी की बोलियों में पृथक चिन्ह – जैसे करने के लिये 'करन खां' का प्रयोग होता है।

'कन्या दान दिहै सों'।

'फिर हिन्दी भापै पर आवा'।

किन्तु हिन्दी के ये सूफ़ी कवि अधिकांशत: बिना कारक चिह्नों के ही इसका प्रयोग करते पाये जाते हैं।

१. कहां लिखै आवै वह नारी (में)
२. खेलै गये अहेरा (खेलने के लिये)
३. एक मनुष भेजै जो जाऊं (भेजने से)

कहीं कहीं पर अन्त में अनुनासिक ध्वनि भी पाई जाती है।

१. दुइ बसीठ जब पूछैं आवै ।
२. पाप न रहै छिपाएं छिपा।
३. पूछैं कहै न बैन ।
४. गएं विदेस ।

संयुक्त क्रियाओं में भी क्रियार्थक संज्ञा का कहीं कहीं कारक चिन्ह विलुप्त रूप में पाया जाता है :

१. अस गढ़ उन्नत तजै न चाही। इन्द्रावती पृ २३।
२. 'कामयाब' रस भाखै लागा। अनुराग बाँसुरी पृ० ८५।
३. खेलै लागिन तारा मांहां। इन्द्रावती पृ० ६३।

पर कहीं कहीं 'राज काज पुनि पूछा चाही' भूतकालिक कृदन्त रूप में भी क्रियार्थक संज्ञा प्राप्त हो जाती है और कहीं कहीं पर

'लाग लोग घर आवन छावै' मिलता है।

संयुक्त क्रियाओं का प्रयोग उपलब्ध सूफ़ी काव्य में बहुत ही कम पाया जाता है। उन क्रियाओं का प्रयोग भी इन कवियों ने स्वतंत्र रूप से किया है जिसका प्रयोग पश्चिमी हिन्दी में सहायक क्रियाओं के बिना होना ही नहीं।

१. वरनौं राजमंदिर की सोभा। (वर्णन करता हूँ) इन्द्रावती पृ० ८।
२. भूलहिं मनुष देषि सै बाटा। (भूल जाते हैं) इन्द्रावती पृ० १५।

संज्ञा एवं विशेषणों से भी बहुत सी क्रियाये इन कवियों ने बनाई हैं जिससे संयुक्त क्रियाओं का प्रयोग बच गया है।

सपनाएउ, रहंसाए, मिरतहिं, लंगवै, पियराना, अधिकाना आदि।
'ना' वर्णान्त क्रियार्थक संज्ञा का भी प्रयोग मिलता है।

१. खेलब हंसन सोई पै लहना।

सर्वनाम :

सर्वनाम शब्दों के रूपों में भी बहुलता है। इन प्रयोगों में न केवल पश्चिमी हिन्दी के प्रयोग सम्मिलित हैं प्रत्युत मात्रा के फेर के कारण अन्य नवीन रूप भी गढ़ लिये गये हैं :

	एकवचन	बहुवचन
उत्तम पु०	मैं, हौं	हम, हम्ह
कर्म	मोहि, मो	हम, हम्ह कहीं-कहीं 'हमें भी !'
सम्बन्ध	मोर	हमार

मेरा, मेरो आदि प्रयोग भी मिल जाते हैं। सर्वनामों पर प्रमुखतः पश्चिमी हिन्दी का प्रभाव है। कर्ता के लिये 'हौं' रूप का भी प्रयोग हुआ है।

'हौं आखर होइ चली साथा।'

'मौं' प्रातिपदिक शब्द में 'हि' विभक्ति का योग सब कारकों में संज्ञा की ही भांति हुआ है।

भाषा की इन व्याकरणगत विशेषताओं का निर्देश सम्पादित ग्रन्थों चित्रावली (जगन्मोहन वर्मा द्वारा) इन्द्रावती (श्यामसुन्दर दास द्वारा) अनुराग बांसुरी (आ० रामचन्द्र शुक्ल एवं श्री चन्द्रवली पान्डे) के आधार पर किया गया है। हस्तलिखित ग्रन्थों की भाषा के स्वरूप का निर्धारण सम्पादन के अभाव में सम्भव नहीं है अतः उनसे अधिक उद्धरण नहीं लिये गये हैं।

अधिकांश प्रेमाख्यानों की रचना अवधी भाषा में ही हुई है। जान कवि एवं हुसेनअली के ग्रन्थों की भाषा पर ब्रज का प्रभाव कुछ अधिक है। नूरमुहम्मद की 'इन्द्रावती' की भाषा भी साहित्यिक ब्रजभाषा से प्रभावित है तथा इसमें भोजपुरी शब्दों के प्रयोग भी अधिक हैं जबकि 'अनुराग बांसुरी' में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग प्रचुरता से किया गया है।

केवल 'कामरूप की कथा' की भाषा खड़ी बोली का आरम्भिक स्वरूप ज्ञात होती है। कथा के आरम्भ में फारसी शब्दों का प्रयोगबाहुल्य है किन्तु वर्णनात्मक भाग में भाषा सरल और बोधगम्य है।

इन कवियों की भाषा बड़ी समर्थ है, इन्होंने संज्ञा एवं विशेषण पदों से भी क्रियापदों का निर्माण किया है जो भाषा में सरलता के साथ ही अर्थव्यापकता का समावेश भी करते हैं। जैसे पियराना, सपनावा, विरधाहीं, उपनेउ, रिसयाना आदि। कहीं कहीं ऐसे शब्दों का प्रयोग भी है जो कवि-कल्पना, स्वरूप एवं वस्तुविशेष के गुण-परिचायक हैं जैसे तोते के लिये 'अरुनतुन्ड' शब्द का प्रयोग तथा काजल के लिये 'दीपस' का। संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग अपेक्षाकृत कम है। केवल नूरमुहम्मद ने ही ऐसे कुछ प्रयोग किये हैं जैसे हुतासन, कलभ, पनच, नमिस्त्रा आदि।

इसके साथ ही विदेशी अरबी, फ़ारसी शब्दों का प्रयोग भी हुआ है, ऐसे शब्दों में सीना, फौव्वारा, वाहिद, लाशरीक, माबूद, कारसाज, क़ादिर, मुख्त्यार, रब, वेनियाज़, मुनाज़ात, लाजवाल, दराद, आल, हाज़िर, नाज़िर, सदके, यारगर, यारगनी, उस्ताद, खुद गाज़ी, वतन, आलिम, ख्वाम, असहाब, साकी, तलब, जुल्म, अदल, जोखम प्रमुख हैं। इन कवियों की भाषा में कुछ स्थानीय शब्दों का प्रयोग भी मिलता है 'भाषा प्रेमरस'

के रचयिता शेख रहीम ने बहराइच में प्रयुक्त शब्दों एवं मुहाविरों का प्रयोग किया है। बाद के ग्रन्थों में कुछ अंगरेजी के शब्दों सीन, डबल आदि का भी प्रयोग मिलता है।

मुहाविरों का प्रयोग भाषा में प्रवाह ला देता है साथ ही भाव भी सुगमता से स्पष्ट हो जाता है। इन कवियों की भाषा में मुहाविरों का ऐसा ही सजीव प्रयोग है, कहीं भी चमत्कार के लिये इनका प्रयोग नहीं हुआ है। लोकोक्तियों एवं सूक्तियों का सहज प्रयोग भाषा की विशेषता है। नित्य जीवन में प्रयुक्त लोकोक्तियों और मुहाविरों का ही प्रयोग अधिक मिलता है :

१. टर गई पांव तरे से धरती।
२. जैसे कञ्चन पाइ सुहागा।
३. सूलन सेज कांट अस खरके, नींद कहां तुम बिन हिया दरके।
४. आजु सिरान हिया दुख जरा, मुए धान जनु पानी परा।
५. पुनि मन कछु गियान उपराजा, जांघ उघारे मरिये लाजा।
६. कौन सुनै अस को मति देई, हस्ति क भार क गदहा लेई।
७. धोवहु बेगि आहि जो लोना, कान टूट का करिये सोना।
८. तिय बिन घर नाहिन बनै, ज्यों मोती बिन सीप।
९. भई है बात छछून्दर नाग।
१०. हमहूँ दूध पान सों नाहीं, जो कोई अँचै जाय पल माहीं।
११. पेट पचै नहिं पान।
१२. जो जेहिके जस लिखा लिलारा।
१३. मारु न छीर भात मो लाता।
१४. बातहिं हाथी पाइये, बातहिं हाथी पाव।
१५. दिवस चार की चांदनी, फिर अंधियारो पाख।

मुहाविरे भाषा को सङ्गठित और सुलभ बनाते हैं। भाषा की लाक्षणिकता का चमत्कार बहुत कुछ इन प्रयोगों पर निर्भर रहता है।

कुछ सूक्तियों का प्रयोग भी है :

१. सत्य समान पूत जग नाहीं, सत सों रहै नाउं जग माहीं।
कोखि पूत एक देस बखाना, सत्य पूत चारौ खण्ड जाना।
२. सील बिना कवि जान कहि, घर - घर रूप बिकाइ।

ये सूक्तियां, लोकोक्तियां एवं मुहाविरे भाषा की लोकरुचि को और अधिक स्पष्ट कर देते हैं। विभिन्न संस्कृतियों के सम्पर्क के कारण इन सूफी कवियों की भाषा में अरबी, फारसी एवं संस्कृत शब्दों का प्रयोग होना स्वाभाविक है। ऐसे मिश्रणों को स्वीकार कर लेना भाषा की शक्ति तथा सजीवता का परिचायक है।

शैली :

प्रत्येक प्रकार के काव्य की आत्मा रस होते हुये भी भावों को सुष्ठु, क्रमबद्ध तथा प्रभावोत्पादक बनाने के लिये एक विशिष्ट शैली की आवश्यकता होती है। बुद्धि, राग और कल्पना के अतिरिक्त जिस तत्व का महत्व काव्य में है, वह शैली या रूपचमत्कार ही है। इन सूफ़ी प्रेमाख्यानों की कथावस्तु, पूर्ण रूप से चरित काव्य के उपयुक्त होते हुये भी इन प्रेम गाथाओं की रचना भारतीय चरित काव्यों की सर्गबद्ध शैली पर न होकर, फ़ारसी की मसनवियों के ढङ्ग पर हुई है। मसनवी की कथावस्तु के लिये महाकाव्य की भांति ऐतिहासिक होना आवश्यक नहीं है। मसनवी को सीधे-सादे शब्दों में हम प्रेमाख्यान कह सकते हैं। इन प्रेमाख्यानों की कथावस्तु अध्यात्म एवं रहस्यवाद से सम्बन्धित भी हो सकती है और शुद्ध प्रेम की व्यञ्जना भी इसका लक्ष्य हो सकता है। मसनवी के विद्वानों का कहना है कि भारत में मसनवी की रचना, प्रारम्भ में रहस्यवाद से सम्बन्धित होती थी, जैसे 'बहरी' की 'मनलगन' आदि, किन्तु बाद में सामन्तीय प्रभाव के कारण केवल प्रेमव्यञ्जना के हेतु प्रेमाख्यानों की रचना भी हुई। ऐसे ही शुद्ध प्रेमाख्यानों के अन्तर्गत 'ख्वाबोख्याल' की गणना होती है।

हिन्दी के सूफ़ी प्रेमाख्यान में इन दोनों ही प्रवृत्तियों का परिचय पाया जाता है। आरम्भिक प्रेमाख्यान रहस्य भावना से अनुप्राणित हैं, जबकि बाद के कुछ प्रेमाख्यानों में शुद्ध प्रेमव्यञ्जना अधिक मुखरित है। जान कवि के अनेक प्रेमाख्यान, कवि निसार का 'यूसुफ जुलेखा' तथा नसीर का 'प्रेमदर्पण' ऐसी ही कृतियाँ हैं।

इसके अतिरिक्त मसनवी के सम्बन्ध में ध्यान देने की बात यह भी है कि मसनवी की रचना किसी एक छन्द या बहर में होती है, अनेक छन्दों का प्रयोग वर्जित है। इन सूफ़ी कवियों ने इस क्षेत्र में फारसी बहरों या छन्दों को नहीं अपनाया प्रत्युत अपभ्रंशकालीन चरित काव्यों की पद्धति पर लगभग सभी ने दोहा, चौपाई छन्दों में अपनी कथा कही है। किसी-किसी कवि ने, जैसे नूरमुहम्मद ने अपनी 'अनुराग बाँसुरी' में दोहे के स्थान पर बरवै का प्रयोग किया है। कवि नसीर ने षट्ऋतु वर्णन में ब्रजभाषा के प्रिय छन्द कवित्त का प्रयोग किया है।

कथा के आरम्भ में परमेश्वर की वन्दना, मुहम्मद साहब का गुणगान भी मसनवी की परम्परा है। इसके बाद सुन्नी कवियों के द्वारा मुहम्मद साहब के चार मित्रों, एवं शियाओं के द्वारा मुहम्मद साहब की पुत्री उनके पति एवं पुत्रों का यशोगान रहता है। शाहेवक्त की प्रशंसा भी एक आवश्यक अंग है। सभी सूफ़ी प्रेमाख्यानों में मसनवी की इस परम्परा का पालन किया जाता है, केवल जान कवि के उन प्रेमाख्यानों को छोड़कर, जहाँ कवि केवल किसी भाव विशेष की व्याख्या एवं महत्व प्रदर्शित करना चाहता है।

कवि अपना आत्मपरिचय देने के साथ ही, कथा रचना का उद्देश्य भी कहता रहता है। गुरु-परम्परा का निर्देश भी इन प्रेमाख्यानों में उपलब्ध होता है।

कथा का विभाजन सर्गों या अध्यायों में विस्तार के अनुसार न होकर स्थान-स्थान पर घटनाओं या प्रसंगों के अनुसार रहता है। यह उल्लेख भी किसी-किसी मसनवी में केवल संकेतात्मक और किसी में विस्तृत होता है। किन्हीं मसनवियों में कथा सीधे-सादे ढंग से आरम्भ कर दी जाती है और किसी में कुछ पंक्तियाँ वस्तु निर्देश करती हुई पाई जाती हैं।

सूफ़ी प्रेमाख्यानों में यह सभी लक्षण यथास्थान प्राप्त होते हैं।

सूफ़ियों का उद्देश्य परमप्रेम की प्राप्ति था और उसी के हेतु लोकजीवन में प्रेम की पीर जगाना उनका साधन था। इन्होंने अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए खण्डनात्मक पद्धति की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। यदि कहीं ऐसा किया भी है तो वहाँ दृष्टान्त अलंकार का आधार लेकर अपने खण्डन को भी साधु बना दिया है। ऐसे स्थल मूर्तिपूजा या पाषाण पूजन के विरोध में ही अधिक आते हैं, अन्यथा इन सूफ़ी कवियों की कथन शैली खण्डनात्मक नहीं है।

फारसी मसनवियों को कुछ लोग चार वर्गों में विभक्त करते हैं —१. लम्बे-लम्बे महाकाव्य २. प्रेमाख्यानक काव्य ३. साधारण आख्यानक काव्य ४. किसी विशेष दृष्टिकोण से लिखी गई छोटी-छोटी कहानियाँ जिनका संकलन किसी सूत्र के आधार पर कर दिया जाता है।

हिन्दी के सूफ़ी प्रेमाख्यान, प्रेमाख्यानक मसनवी काव्य की भाँति ही हैं। उनकी कथन शैली भी वर्णनात्मक अधिक है। इन प्रेमाख्यानों में विषय-प्रधान शैली का स्वरूप ही दृष्टिगोचर होता है। विषय प्रधान शैली में विषय वर्णन ही प्रधान होता है, कृतिकार की स्वकीय वैयक्तिकता पृथक लक्षित नहीं होती।

अतः शैली की दृष्टि से ये प्रेमाख्यान फारसी मसनवी पद्धति पर लिखे गये हैं जिनमें भारतीय काव्य के तत्वों का भी सन्निवेश है। इनमें वर्णन शैली की मार्मिकता एवं प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है।

भाषा की दृष्टि से संक्षेप में ये काव्य लोकभाषा में लिखे गये। अधिकांश प्रेमाख्यान अवधी में लिखे गये हैं। जान कवि एवं हुसेनअली के ग्रन्थों पर ब्रजभाषा का प्रभाव है तथा 'कथा कामरूप' की रचना खड़ी बोली में हुई है।

—— ——※——·——

१२

सूफ़ी-काव्य की सामान्य प्रवृत्तियां

सूफ़ी प्रेम-कथाओं की रचना विशेष लक्ष्य-सिद्धि के हेतु की गई। लौकिक प्रेमाख्यानों की भांति केवल प्रेम या रति का वर्णन इनका ध्येय नहीं रहा। इन कवियों को काव्य के माध्यम से अपने सिद्धान्तों को प्रसारित करना था। इनका लक्ष्य जनजीवन में अपनी साधना का स्थान बनाना, तथा लोकमत को अपनी ओर आकृष्ट करना था। अतएव उन्होंने सिद्धान्त प्रतिपादन के हेतु आकर्षक कथानक चुना तथा उसे रस, अलंकार, छन्द एवं प्रचलित भाषा से समन्वित करके मनोहर रूप प्रदान करने का प्रयास किया इस प्रकार अपनी भावाभिव्यक्ति को काव्य का सरस परिधान इन कवियों ने पहनाया।

कथानक अधिकांश भारतीय हैं। बहुत सम्भव है कि लोक प्रचलित कहानियों को जैसे का तैसा इन कवियों ने ग्रहण किया हो, अत: स्वाभाविक रूप से पात्र भी भारतीय हो गये हैं। हिन्दू देवी देवताओं का अवतार तथा उनके प्रति श्रद्धा प्रदर्शित करना, भारतीय वातावरण एवं संस्कृति, भावों तथा परम्पराओं के सम्यक् निर्वाह के द्वारा एक ओर तो कथानक में स्वाभाविकता का समावेश हुआ है तथा दूसरी ओर कवि का लक्ष्य सिद्ध हो कर, उसका काव्य जन-जीवन की वस्तु बन गया है।

कुछ सूफ़ी कवियों ने इसके अतिरिक्त भी अपनी मनोवृत्ति प्रदर्शित की है, कथानक को शामी परमपरा से चुनना एवं कथा प्रसंग के व्याज से हिन्दू मूर्तियों एवं हिन्दू मान्यताओं की अवहेलना करना तथा स्वयं को कट्टर मुसलमान और इस्लामानुयायी घोषित करना आदि इसी के अन्तर्गत हैं। नूरमुहम्मद ने 'अनुराग-बांसुरी' में स्पष्ट रूप से अपनी कट्टरता की घोषणा की है। उन्होंने इस्लाम की बांसुरी के सम्मुख हिन्दू देवी देवताओं को मूर्छित होते दिखाया है। कवि नसीर एवं निसार ने प्रेमदर्पण, तथा यूसुफजुलेखा का कथानक शामी परम्परा से ही चुना। मूर्तिपूजा का विरोध तो लगभग सभी कवियों ने किया है; मंझन, उसमान, जान, कासिमशाह, शेख रहीम, अलीमुराद, कवि नसीर एवं निसार, किसी ने भी इस विषय को नहीं छोड़ा है। ये कवि सम्भवत: बहुदेवोपासना के स्थान

पर एकदेवोपासना की स्थापना करना चाहते थे और साथ ही पाषाणमूर्तिपूजन के किसी आदर्शात्मक स्वरूप को स्वीकार नहीं करते थे। सूफ़ी कवियों की इस मनोवृत्ति का संक्षिप्त परिचय देने के बाद उनके काव्य की सामान्य प्रवृत्तियों की चर्चा उपयुक्त होगी।

प्रेमकथाएं :

भारतवर्ष में प्रेमाख्यानों की परम्परा बड़ी प्राचीन है। ऋग्वेद के यम यमी, पुरुरवा उर्वशी आदि कथा के बीज उपनिषत् काल में कथा के रूप में व्यक्त हुये, संस्कृत के ललित साहित्य में कुमार सम्भव, मेघदूत, कादंबरी, अभिज्ञान शाकुन्तल आदि प्रमुख प्रेमाख्यान उपलब्ध हैं। इसके पश्चात् अपभ्रंश कालीन जैन एवं बौद्ध साहित्य में प्रेमाख्यानों के द्वारा नीति और धर्मोपदेश देने का प्रयास दिखाई देता है। अन्त में हिन्दी साहित्य में प्रेमाख्यानों की एक पृथक परम्परा ही दृष्टिगोचर होती है जिसकी चर्चा 'सूफ़ी काव्य की पृष्ठभूमि' अध्याय में हो चुकी है।

सूफ़ियों के प्रेमाख्यान, उपमिति कथा के समान, योरोप की धार्मिक सुखान्त कथाओं (Religious comedies) की कोटि में आते हैं। अधिकांश भारतीय प्रेमाख्यान योरोप के प्रेम महाकाव्यों (Love Epics) तथा धार्मिक सुखान्त कथाओं के समान हैं। प्रेम व्यंजना को छोड़कर भारतीय और विदेशी प्रेमाख्यानों में कथानक-संगठन लगभग एकसा है। इन दोनों में राजकुमारों और राजकुमारियों की प्रेम कहानी वर्णित रहती है, किन्तु सूफ़ी प्रेमाख्यानों में वर्णित प्रेम, पाश्चात्य प्रेमाख्यानों की भाँति सामन्तीय प्रेम नहीं है। पाश्चात्य अद्भुत एवं प्रेमतत्व पूर्ण कथाओं में जिस प्रकार जादू की शक्तियों एवं अप्सराओं का वर्णन रहता है, उससे कहीं अधिक सूफ़ी प्रेमाख्यानों में, दैत्य दानव, अप्सराओं, वनदेवियों, अदृश्य संत ख्वाजा खिज्र एवं इलियास तथा गुरु की अद्भुत चमत्कारिक शक्तियों का समावेश रहता है।

लगभग सभी सूफ़ी प्रेमकथायें प्रबन्धकाव्य की कोटि में आती हैं। इन प्रेमकथाओं का कथानक किसी राजपरिवार से सम्बन्ध रखता है। कथानकों के चुनाव में तथा प्रमुख घटनाओं के यथासम्भव स्वाभाविक चित्रण में कवियों ने बड़ी सतर्कता प्रदर्शित की है। बीच बीच में ऐसे प्रसंगों का समावेश किया गया है जिनसे पूरे प्रबन्ध में रोचकता आ जाती है। परिस्थितियों के संयोजन में विशृङ्खलता नहीं है प्रत्युत कार्यकारण सम्बन्ध है। ऐतिहासिक कथानकों के विकास में कल्पना का भी विशेष योग है। कथानिर्वाह की इस स्वाभाविकता के साथ ही कवियों को सदैव यह भी ध्यान रखना पड़ा है कि घटनायें तथा परिस्थितियाँ किसी प्रकार से उनके कथारूपकों और आध्यात्मिक उद्देश्य के विरुद्ध तो नहीं पड़तीं, वे किसी भी प्रकार से कथारूपक के आदर्श को विकृत या अंगहीन तो नहीं कर देतीं।

सारी घटनाओं को स्वाभाविक स्वरूप प्रदान करना तथा अन्त में घटनाओं को एक रूपक का अंग बनाकर उससे अध्यात्म की व्यंजना करना सरल काम नहीं था। इस दोहरे

प्रयत्न में हर सूफ़ी कवि सफल नहीं हो सका। स्वयं जायसी भी इस प्रयत्न में सफल नहीं हो पाये हैं। उन्हें अपने कथारूपक की व्याख्या करने को बाध्य होना पड़ा और फिर भी कहीं कहीं घटनाओं में विरोध लक्षित होता है। जायसी अपने कथारूपक के निर्वाह में पूर्ण सजग हैं, किन्तु जान ऐसे सूफ़ी कवि हैं जिन्हें अपनी प्रेमकथा को रूपकात्मक स्वरूप देने की अधिक चिन्ता नहीं ज्ञात होती, फलस्वरूप उनकी कथायें प्रेमकथायें ही जान पड़ती हैं तथा सूफ़ियों का अन्तिम लक्ष्य 'वस्ल' इन प्रेम कथाओं से पूर्णत: सिद्ध नहीं हो पाता। हिन्दी सूफ़ी प्रेमकथाओं में घटनाओं की संयोजना भारतीय चरित काव्यों की भाँति ही है, किन्तु कथारूपकों की इस पद्धति पर जैनचरित काव्यों के साथ ही साथ फारसी की मसनवी परम्परा का भी प्रभाव है। सूफ़ियों का सिद्धान्त प्रचार के हेतु प्रेमकथाओं को ही प्रश्रय देना इन दोनों ही कारणों से सम्भव है। जामी की 'यूसुफ-ज़ुलेखा' में इसी प्रकार प्रेम के अध्यात्मीकरण का प्रयास किया गया है।

चरित्र चित्रण :

प्रबन्ध काव्यों में चरित्र चित्रण का विशेष महत्व है। पात्रों के चरित्र और अनेक कार्यों से उत्पन्न समताओं और विषमताओं के मध्य पात्र का उत्थान पतन प्रदर्शित करने में कवियों को जहाँ एक ओर कथा में संगति बैठाने का प्रयत्न करना पड़ता है, वहीं दूसरी ओर उन्हें अपने अध्यात्मिक उद्देश्य को भी सिद्ध करने का प्रयास करना पड़ा है। कथा के अन्त में इन सूफ़ी कवियों ने अपने चित्रित पात्रों को कथारूपक के अनुसार प्रदर्शित करने की चेष्टा की है। यहीं पर कवि-कथन तथा कथा की स्वाभाविकता पर विचार करने का अवसर पाठक को प्राप्त होता है।

ऐतिहासिक कथानकों से सम्बन्धित प्रेम कथाओं में कवि ने ऐतिहासिक पात्रों के साथ साथ काल्पनिक पात्रों की अवतारणा की है। इन पात्रों की अवतारणा कवि ने केवल प्रधान पात्र के चरित्र को उत्कृष्टता देने या घटनाओं में स्वाभाविकता का समावेश करने के लिये ही नहीं की है, प्रत्युत वे कवि के अन्तिम उद्देश्य अध्यात्मिक तत्व की व्याख्या में भी सहायक हैं। जायसी के पद्मावत में तोते की अवतारणा कथा प्रवाह की स्वाभाविक गति में सहायक होने के साथ ही 'गुरु सुआ जेइ पन्थ देखावा' की दृष्टि से सूफ़ी मत के सिद्धान्त विशेष की व्याख्या करता है। ऐसे पात्रों के लिये, प्राय: सभी प्रेमकथाओं में, परी परेवा, तपी या ब्राह्मण आदि की अवतारणा सूफ़ी कवियों ने की है, तथा ऐसे कुछ पात्रों का समावेश भी हुआ है जिनकी आवश्यकता केवल कथा की स्वाभाविक गति के हेतु है, जैसे राक्षस, दूती, मालिन, जोगी, बनचर आदि।

चरित्र चित्रण की दृष्टि से जायसी, नूरमुहम्मद आदि कवि जितने सफल हुये हैं उतने अन्य कवि नहीं हो सके। इसका प्रधान कारण सम्भवत: इन कवियों का शामी परम्परा से अनुप्राणित अलिफ लैला आदि मसनवियों की अनुकरण प्रवृत्ति है, जिनमें परियों, सिंहों, अजगरों, दानवों और अन्य अलौकिक तत्वों की भरमार मिलती है। इन अलौकिक

तत्वों के समावेश से घटित अस्वाभाविक घटनाओं को केवल कल्पना की सहायता से ही सत्य समझकर, कथा-कौतूहल को जाग्रत रक्खा जा सकता है।

कुछ सूफ़ी कवियों ने पात्रों का नामकरण अपने अध्यात्मिक उद्देश्य के आधार पर ही किया है। इस अवस्था में कथा की स्वाभाविकता तथा कवि का अभीष्ट 'इश्क हक़ीक़ी' का स्पष्टीकरण भी सरल हो जाता है। कवि नूरमुहम्मद ने 'अनुराग बाँसुरी' में पात्रों की योजना इसी प्रकार की है। राजा 'जीव' का पुत्र 'अन्तःकरण' है, तथा पुत्र के सखा हैं बुद्धि, चित्त एवं अहंकार आदि। इस प्रकार कवि को एक सुगमता प्राप्त हो जाती है, और वह कथा की मनोरञ्जकता के साथ-ही-साथ अध्यात्म का भी स्पष्टीकरण सरलता पूर्वक करता जाता है, किन्तु इस प्रयत्न में चरित्रचित्रण की उत्कृष्टता लक्षित नहीं होती। व्यक्तित्व एवं चरित्र की दृष्टि से किसी काव्य ग्रन्थ की आलोचना करना आधुनिक प्रणाली है। पुरानी परिपाटी के इन कवियों का ध्यान भी चरित्र का सूक्ष्म विश्लेषण करने की ओर नहीं था।

भाव-व्यंजना :

चरित्र चित्रण में कहीं कहीं असफल होने पर भी भाव-व्यञ्जना में सूफ़ी कवि अधिकांश सफल हुये हैं। सूफ़ी प्रेमकथा की प्रचलित परम्परा के कारण इन कवियों की भाव-व्यञ्जना अधिकांश रूढ़िगत ही है। उसमें किसी मौलिकता का समावेश करने का अवसर कवि को नहीं मिल पाता। ऐसी रचनाओं के प्रमुख पात्र एक परिस्थिति विशेष में जन्म लेते हैं। एक ही ढङ्ग के प्रेम में पड़ते तथा आतुर होकर मार्गप्रदर्शक के अनुसार प्रेममार्ग में अग्रसर होकर विरह वेदना सहते हैं, और अन्त में संयोग हो जाता है। नायक के जीवन की अधिकांश बातें परम्परागत ज्ञात होती हैं। नवीन घटनाओं का समावेश, विरोध की भयंकरता, प्रेम-व्यञ्जना की उत्कृष्टता आदि सहायक कथा की मौलिकता में ही प्राप्त हो सकती हैं अन्यथा प्रेमियों का प्रेमभाव अतिशयता की कोटि में पहुँच कर, पारस्परिक मिलन के अभाव में, विरह पीड़ित रहना और फिर उसी के चिन्तन में घुलघुल कर कालयापन करना इन कथाओं का प्रधान विषय हैं। ऐसे विषयों का वर्णन करते समय कवियों ने अधिकांश ईरान तथा भारत की रूढ़िगत परम्पराओं का ही अनुसरण किया है।

विरहदशा का वर्णन करते समय कवि यदि कहीं नवीनता का समावेश कर पाता है तो या तो वह ऊहा के आधार पर नवीन उत्प्रेक्षा और अत्युक्तियों का आश्रय लेता है, या कहीं-कहीं गूढ़ भावों के सूक्ष्म विश्लेषण में प्रवृत्त होता है। प्रेम और विरह के अतिरिक्त ईर्ष्या, उत्सुकता, सहानुभूति, विवशता आदि भावों की व्यञ्जना भी उपलब्ध होती है। भावों का सफल निरूपण केवल उन्हीं कवियों से सम्पन्न हो सका है जिन्होंने चरित्रचित्रण का महत्व, घटनाप्रवाह से अधिक समझा है।

वस्तु एवं घटना वर्णन :

इन सूफ़ी कवियों के वस्तु तथा घटना वर्णन में भी कोई नवीनता दृष्टिगोचर नहीं होती। सरिता, समुद्र, उद्यान, महल आदि के रूढ़िगत वर्णन ही इन काव्यों में उपलब्ध होते हैं। इन वस्तुवर्णनों में कवि को अवसर प्राप्त होता है कि वह अपनी नवीन कल्पना और परिस्थिति से लाभ उठाकर सजीव वर्णन करे, किन्तु अधिकांश कवियों ने इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया है। कहीं-कहीं वर्णन इतना विस्तृत है कि उनसे कवियों के वस्तु ज्ञान के अतिरिक्त कौतूहल, आकर्षण या प्रभावशीलता में किञ्चित भी वृद्धि नहीं हो पाती। जायसी का बारहमासा प्रसिद्ध है तथा लगभग सभी सूफ़ी प्रेमकथाओं में बारहमासे वर्णित हैं, परन्तु अधिकांश कवियों ने परम्परा का पालन किया है। नवीनता या मौलिकता का दर्शन विशेष नहीं होता।

इसी प्रकार प्रेममार्ग या साधनामार्ग में प्रवृत्त साधक की कठिनाइयों के प्रति सहानुभूति उत्पन्न होने के पूर्व ही एक निश्चित उद्देश्य और वर्णनसाम्य के कारण जिज्ञासा शान्त हो जाती है। प्रतिनायक या विरोधी दैत्य दानव आदि से युद्ध वर्णन लगभग सभी कथाओं में उपलब्ध हैं, किन्तु वहाँ भी नायक के प्रभुत्व एवं शौर्य को प्रकट करने की शीघ्रता ने वीररस का सम्यक परिपाक नहीं होने दिया है।

भाषा एवं शैली :

सूफ़ी कवियों ने अपने काव्य में अधिकांश अवधी भाषा का ही प्रयोग किया है। प्राप्त कथाओं में केवल कथा 'कामरूप' की भाषा खड़ी बोली है। इस क्षेत्र में जायसी, कवि जान, उसमान और नूरमुहम्मद अधिक सफल हुये प्रतीत होते हैं, यद्यपि जान कवि के काव्य में ब्रजभाषा और पञ्जाबी का पुट अधिक है। जायसी द्वारा शुद्ध लोक भाषा अवधी का मुहाविरेदार प्रयोग तथा नूरमुहम्मद का संस्कृत ज्ञान विशेष उल्लेखनीय है। जायसी की भाषा में जहाँ सादगी और स्वाभाविकता अधिक है, वहीं ऐसे प्रौढ़ स्थल भी हैं जहाँ अलंकारों की छटा तथा शब्द योजना दर्शनीय है।

कवि उसमान की भाषा में भोजपुरी के शब्द तथा मुहावरे भी प्राप्त होते हैं, फलस्वरूप इनकी उक्तियों में सरसता अधिक है।

जान कवि का भाषा पर सर्वाधिक अधिकार है। भाव तथा पात्र के अनुकूल भाषा का संयोजन, अवध और ब्रज दोनों ही भाषाओं का प्रयोग तथा अलफ खां की पैड़ी आदि में राजस्थानी और पंजाबी का मिश्रित प्रयोग उल्लेखनीय है। हुसेन अली कृत 'पुहपावती' की भाषा पर भी ब्रज भाषा का प्रभाव है। नूरमुहम्मद का संस्कृत ज्ञान उच्च कोटि का जान पड़ता है। वे बहुज्ञ कवि थे जिनके काव्य में यमक बाहुल्य पाया जाता है। सूफ़ी कवियों द्वारा प्रयुक्त फ़ारसी, अरबी एवं तुर्की आदि भाषा के शब्दों और

मुहाविरों का प्रयोग स्वाभाविक रूप से हुआ है। सरसता तथा सहृदयता का समावेश सर्वाधिक कवि मंझन के वर्णनों में प्राप्त होता है।

छंद योजना में इन सभी कवियों ने दोहा चौपाई की प्रचलित पद्धति को अपनाया है। कवि नूरमुहम्मद ने अनुरागबांसुरी में चौपाई और बरवै क्रम रक्खा है।

इन काव्यों में अधिकांश शृंगार रस का परिपाक हुआ है, जिसमें संयोग तथा विप्रलम्भ दोनों का यथास्थान वर्णन है। शृंगार रस प्रधान इन काव्यों में नायक के उत्कर्ष को अंकित करने के लिये कहीं कहीं, वीर, वीभत्स और भयानक रसों का वर्णन भी हुआ है, किन्तु उनसे शृंगाररस-चर्वण में किसी भी प्रकार का व्यवधान उपस्थित होता नहीं जान पड़ता।

अलंकार योजना में अधिकांश इन कवियों ने रूपक, अनन्वय, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, उपमा, यमक या अनुप्रास का प्रयोग किया है, किन्तु अन्य अलंकारों का भी अभाव नहीं है।

सभी प्रेमाख्यानों की रचना मसनवी पद्धति पर हुई है।

सूफ़ी प्रेम कथाओं की प्रमुख विशेषतायें

यद्यपि हिन्दी साहित्य में सूफ़ी प्रेमकथाओं के पूर्व भी प्रेमाख्यानों की परम्परा प्रचलित थी किन्तु सूफ़ी कवियों ने इन प्रचलित प्रेमाख्यानों के स्वरूप को ज्यों का त्यों ही ग्रहण नहीं किया, प्रत्युत इन प्रेमगाथाओं की विशेषताओं को ग्रहण करते हुए उनमें विशेषता एवं नवीनता का समावेश कर दिया है। सूफ़ीमत के इश्क से संबन्धित विचारों के प्रचार के हेतु इन कवियों ने अपने प्रेमाख्यानों को कथा- पक का रूप दे डाला है।

इस प्रकार के प्रेमाख्यानों में पौराणिक आख्यान केवल भारतीय स्रोतों से ही न आकर इस्लामी एवं शामी परम्परा के यूसुफ जुलेखा ऐसे उपाख्यानों के रूप में भी आते हैं। इन प्रेम कथानकों के वर्णन में भी भारतीय वातावरण तथा संस्कृति का चित्रण रहता है। भारतीय पौराणिक आख्यान में 'नल एवं दमयन्ती' प्रेमोपाख्यान विशेष प्रिय रहा है। इसी प्रकार सूफ़ी कहानियों में चित्रदर्शन, स्वप्नदर्शन, साक्षातदर्शन तथा सौन्दर्य-कथन के आधार पर उनके प्रेम के चित्रण में उस शुद्ध एवं नैसर्गिक प्रेम व्यञ्जना का आभास मिलता है जो भारतीय लोक गीतों की अपनी विशेषता है।

ऐतिहासिक कथानकों के रूप में सूफ़ी कवियों ने रत्नसेन एवं पद्मावती, तथा देवलदेवी एवं खिज्रखां की प्रेमकथा का वर्णन अधिक किया है। अन्यकथाओं के मध्य भी इन कवियों ने ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन किया है। कवि जान एवं अलीमुराद इस कला में सर्वाधिक निपुण प्रतीत होते हैं। ऐतिहासिक घटना के स्थान पर कहीं कहीं केवल ऐतिहासिक नाम ही मिल जाता है। जैसे 'छीता' प्रेमोपाख्यान में अलाउद्दीन का नाम ऐतिहासिकता का परिचायक है किन्तु उसका चरित्र ऐतिहासिक न होकर कविकल्पित

है। इसी प्रकार ख्वाजा अहमद की 'नूरजहां' का ऐतिहासिक नाम होते हुये भी रचना पूर्णरूपेण काल्पनिक है। अधिकांश सूफ़ी कथायें, मधुमालत, चित्रावली, इन्द्रावती, अनुराग बांसुरी, नूरजहां, हंसजवाहर, भाषा प्रेमरस, पुहुपावती, कुंवरावत, ज्ञानदीप, आदि कल्पना प्रसूत हैं।

इन कथारूपकों का वास्तविक उद्देश्य 'इश्क मजाज़ी' के द्वारा 'इश्क हक़ीकी' का प्रतिपादन करना रहता है, जिनमें प्रेम भावना की उत्पत्ति स्वप्नदर्शन, चित्रदर्शन गुणश्रवण या साक्षात दर्शन से होती है। नायक नायिका के सौन्दर्य पर विमोहित होकर, मिलन के लिये आतुर हो जाता है और फिर लक्ष्य प्राप्ति के हेतु सर्वस्व त्याग, कठिन तप बाधाओं को सहर्ष सहने को सन्नद्ध हो जाता है। विघ्न बाधाओं को झेलता हुआ वह अग्रसर होता है और सफलता प्राप्तकर पुनः अनेक अड़चनों को पार कर वह स्वदेश प्रत्यावर्तन करता है।

ऐसी प्रेमगाथाओं के रचयिताओं ने इसी मूलसूत्र के आधार पर लगभग सभी रचनाओं का ढाँचा खड़ा किया है तथा यह पुष्ट करनेका प्रयत्न किया है कि प्रेमका भूखा साधक किस प्रकार सर्वप्रथम प्रेम-तत्व का संकेत पाता है तथा उससे प्रभावित होकर विभिन्न साधनाओं में प्रवृत्त होता है। साधक अपनी सिद्धिप्राप्ति के हेतु अड़चनों की भयंकरता एवं दुरूहता पर ध्यान नहीं देता और न किसी प्रलोभन में पड़ता है तथा अन्त में सफलता प्राप्त कर ही लेता है। प्रस्तुत कथानकों में प्रेमी का पथ सहायक कोई परी, देव अथवा पक्षी आदि रहते हैं जो कठिनाई के समय मार्ग का विवरण देकर सहायता करते हैं। इसी प्रकार साधक का मार्ग प्रदर्शन कोई गुरु या पीर करता है। मार्ग में आने वाली विघ्न बाधाओं से, साधना में विघ्न उपस्थित करने वाले प्रलोभनों का संकेत इन प्रेमकथाओं में प्राप्त होता है। विकट दुर्गों पर विजय प्राप्त करना अथवा घोर युद्धों में सफल होना साधक की शारीरिक एवं मानसिक वृत्तियों के विरोध में उसकी सफलता होने का सूचक है तथा प्रियमिलन से ईश्वरोपलब्धि का आभास होता है।

कथारूपक के इस प्रकार के रहस्य का उद्घाटन कभी-कभी कवि स्वयं कर देता है। जायसी, कासिमशाह तथा कवि नसीर ने ऐसा ही किया है। नूरमुहम्मद ने 'अनुराग बाँसुरी' में पात्रों का नामकरण गूढ़ार्थ स्पष्ट करने के लिये किया है।

प्रेम और रूप का अनिवार्य सम्बन्ध इन कहानियों की एक अन्य विशेषता है। अधिकांश प्रेमारम्भ का मूल कारण रूप सौन्दर्य ही है जो वस्तुतः 'खुदा के नूर' की ओर संकेत करता है। ईश्वरीय सौन्दर्य की अवतारणा अधिकांश सूफ़ी कवियों ने अपनी नायिकाओं में की हैं। यह सौन्दर्य ही साधक को साधना की ओर प्रेरित करता है और अन्त में उस अनन्त सौन्दर्यशाली परमेश्वर में वह साधक अवस्थित हो जाता है। उपलब्ध प्रेमकथाओं में 'यूसुफ' ही एक ऐसा नायक है जो उस खुदा के नूर का प्रतीक है। कवि निसार तथा नसीर ने इस प्रकार इन भारतीय प्रेमकथाओं में एक नवीन प्रयोग किया जो पूर्णतः शामी परम्परा से प्रभावित है। अन्य प्रेमकथाओं में भी कवियों ने अपने नायक को नायिका के रूपगुण के अनुसार ही चित्रित करने का प्रयास किया है जिससे

सम्भवत: यह स्पष्ट होता है कि मनुष्य खुदा के नूर का प्रतिबिम्ब है। नायक का सुन्दर एवं आकर्षक होना इस धारणा को भी बल प्रदान करता है कि सच्चे साधक के प्रति ईश्वर स्वयं आकृष्ट होता है।

प्रेम कथाओं का नायक अधिकांश अपने सांसारिक सम्बन्धों के प्रति उदासीन रहता है। उसे पारिवारिक बन्धन नहीं बांध पाते। नायक तथा नायिका दोनों ही अपने माता पिता या किसी निकट सम्बन्धी के प्रति आकर्षित प्रतीन नहीं होते। उनके लिये सम्बंधियों की सलाह की अवहेलना करना साधारण सी बात है, सम्भवत: कविगण इस प्रकार के व्यवहार द्वारा 'इश्क हकीकी' के सम्मुख 'इश्क मजाजी' को हेय प्रदर्शित करना चाहते थे।

उपरोक्त विषयगत विशेषताओं के अतिरिक्त सूफी प्रेमकथाओं की रचना शैली भी कुछ विशेषतायें लिये हुये है। सूफ़ी प्रेम कथा का रचयिता आरम्भ में ईश्वरवन्दना करता है। वह उसकी सृष्टि रचना के कार्य की चर्चा करके उसकी महानता के सम्मुख नत होता है, फिर क्रमश: रचयिना मुहम्मद साहब तथा उनके चार साथियों एवं प्रारम्भिक चार खलीफ़ा, की प्रशंसा करना है। इस प्रकार के परिचय में 'शाहेवक्त' या तत्कालीन शासक की प्रशंसा आना भी अनिवार्य है, और अन्त में लेखक अपना व्यक्तिगत परिचय भी देता है।

रचना के आकार के अनुरूप ही परिचय आदि भी छोटा-बड़ा होता है और कहीं कहीं किसी किसी का परिचय छूट भी जाता है। कथा प्रधान पात्रों के परिचय से प्रारम्भ होती है। नायक का जन्म अनेक पूजा, दान एवं यत्न के पश्चात् होता है और अधिकतर वह एकलौता ही रहता है। स्वप्न दर्शन, साक्षात् दर्शन आदि के बाद क्रमश: नायक और नायिका का प्रेमभाव जाग्रत होता है। गाम्भीर्य के हेतु उनकी लगन और विरह का वर्णन बड़ा विस्तारपूर्ण रहता है।

लगभग सभी ग्रन्थों में बारहमासे का समावेश होता है। वस्तु वर्णनों में हाटवर्णन, समुद्र-यात्रा वर्णन तथा जलक्रीड़ा वर्णन विशेष हैं।

कथा का अन्त संयोग हो जाने पर भी अधिकांश दुखान्त होता है। इस प्रकार सम्भवत: कवि संसार की अनित्यता की ओर संकेत करना है। इसके विपरीत कुछ रचयिता कथा को दुखान्त करने की परम्परा पर खेद प्रकट करते हैं और अपनी रचना को सुखान्त बनाते हैं। ऐसे कवियों में कवि मन्झन, कवि जान, उसमान, नूरमुहम्मद, ख्वाजा अहमद एवं शेख रहीम का नाम उल्लेखनीय है।

भाषा के विचार से सूफ़ी कवियों ने अवधी का प्रयोग किया है, सम्भवत: इस कारण कि इनका निवासस्थान अधिकांश अवध का कोई स्थान या पूर्वी उत्तर-प्रदेश ही रहा। दोहा, चौपाई छन्दों की परिपाटी का विशेष महत्व अवधी में ही था और उनका प्रयोग क्रमश: फारसी तथा उर्दू की मसनवी के स्थान पर, परम्परानुसार किया जा रहा था। कुतबन एवं मन्झन के निवासस्थान के विषय में अधिक ज्ञात नहीं किन्तु इतना अवश्य

प्रतीत होता है कि ये दोनों भी अवध प्रदेश के किसी नगर से ही सम्बन्धित थे। मलिक मुहम्मद जायस नगर के, कासिमशाह दरियाबाद के, कवि निसार शेखपुर के, ख्वाजा अहमद बाबूगञ्ज तथा शेख रहीम जरवल ग्राम के निवासी थे। उपरोक्त स्थान अब भी अवध में वर्तमान हैं। कवि उसमान एवं नसीर गाजीपुर जिले से तथा नूरमुहम्मद जौनपुर से सम्बन्धित थे। कवि जान ही सुदूर जययुर के अन्तर्गत फ़तेहपुर के निवासी ज्ञात होते हैं। जान कवि ने व्रजभाषा का प्रयोग अधिक किया है। कवि निसार ने भी 'यूसुफ़ जुलेखा' में विरह वर्णन के अन्तर्गत कवित्त सवैयों का प्रयोग व्रजभाषा में किया है।

सूफ़ी-काव्य रचयिताओं ने अधिकांश दोहा चौपाई के क्रम से काव्य-रचना की है, तथा चौपाइयों के क्रम में विशेषकर पाँच चौपाइयों से लेकर सात या नौ तक के अन्तर में दोहा रक्खा है। चौपाई का प्रयोग भी एक अर्द्धाली के समान हुआ है जिसके अन्त में दोहे का प्रयोग है। जान कवि ने बरवै, कवित्त, चौपई आदि छन्दों में भी अपनी काव्य रचना की है। कवि निसार ने बारहमासे के अन्तर्गत कवित्त और सवैये प्रयुक्त किये हैं, अन्यथा उपरोक्त विशेषतायें लगभग सभी प्रेमगाथाओं में समान हैं।

प्रेमाख्यानों की विषयगत एवं शैलीगत इन विशेषताओं के अतिरिक्त कुछ और प्रवृत्तियाँ सूफ़ी प्रेमकथाओं में लक्षित हैं। कविगण बहुधा अपनी बहुज्ञता का परिचय देने के लिये, दान, क्षमा, दया, शौर्य आदि भावों का विस्तृत वर्णन यथास्थान करते हैं। संगीत-सभाओं, भिन्न राग रागिनियों की विशेषता एवं समय का निर्देश भी ये कवि करते हैं।

इनके अतिरिक्त कामशास्त्र खण्ड नाम से कवि उसमान ने एक पूरा अध्याय ही रच डाला है। नायक नायिका भेद की चर्चा भी कम नहीं, जिसमें रूपगर्विता, स्वाधीनभर्तिका, मध्या, मुग्धा एवं प्रोषितपतिका आदि के वर्णन विस्तार से है।

माता पिता की सेवा, स्त्री का समाज में स्थान, श्वसुरगृह का भय आदि सामाजिक समस्याओं पर भी कवियों ने अपने विचार प्रकट किये हैं। नूरमुहम्मद ने राजधर्म का वर्णन विस्तार से किया है।

हिन्दी के प्रायः सभी सूफ़ी कवियों की लोकदृष्टि बड़ी सजग थी। अपने आस पास के विस्तृत वातावरण से कहीं पर अदृश्य की निराधार कल्पना इन कवियों ने नहीं की, वरन् इनकी रचनाओं में भारतीय जीवन एवं संस्कृति का बड़ा सजीव चित्रण हुआ है। प्रकृति-चित्रण के अन्तर्गत भी भारतीय प्रकृत छटा के ही दृश्य हैं। षट्ऋतु एवं बारहमासे के वर्णन में भारतीय गार्हस्थ्य जीवन की समस्यायें एवं प्रकृति के उपकरणों का चित्रण है। उपवन, वाटिका एवं अमराइयों का वर्णन इन सूफ़ी कवियों के द्वारा बड़ा सजीव हुआ है। नूरमुहम्मद ही ऐसे कवि हैं जिनको विदेशी उपमान, 'नरगिस' ही आँख के लिये भाया, किन्तु अलंकार योजना में अधिकांश साधारण जीवन से सम्बन्धित प्राकृतिक उपकरण ही अन्य कवियों के समान नूरमुहम्मद ने भी उपमान के निमित्त लिये हैं। भारतीय सामाजिक जीवन में आनन्दोल्लास एवं मर्यादा के प्रतीक त्योहारों, उत्सवों एवं रीतिनीतियों का वर्णन भी इन प्रेमाख्यानों में यत्र तत्र प्राप्त होता है। छठी, नामकरण, लग्न विचार,

पाटी पूजन, सगाई, व्याह (भांवर, लहकौर एवं सुहागरात) तथा अन्त में निधन तथा सती होने का उल्लेख तक इन कवियों ने यथास्थान बड़ा ही सजीव एवं मार्मिक किया है। ज्ञात होता है कि इन कवियों को हिन्दू जन्मान्तरवाद पर भी विश्वास था। 'मधुमालत' का नायक 'मालती' से प्रथम मिलन पर अपने पूर्वजन्म की प्रीति की चर्चा करता है।

प्रेमाख्यानों के अतिरिक्त सूफ़ी कवियों ने स्फुट रचनायें भी की हैं जिनमें से कुछ का सम्बन्ध सिद्धान्त सम्बन्धी विषयों के प्रतिपादन एवं नीतिकथन से है, तथा अन्य कुछ ग्रन्थ कवियों का बहुज्ञान भी प्रदर्शित करते हैं। अपनी स्फुट रचनाओं में कविगण स्पष्टरूप से चेतावनी देने में सजग ज्ञात होते हैं।

स्फुट रचनाओं की भाषा भी अधिकांश अवधी ही रही है। पंजाबी एवं राजस्थानी मिश्रित खड़ी बोली का प्रयोग स्फुट रचनाओं में पर्याप्त है। प्रेमाख्यानों में दोहा, चौपाई या बरवै का प्रयोग अधिक हुआ है किन्तु स्फुट काव्य में सवैया, कवित्त, सिंहावलोकन, पद, दोहे एवं फारसी की वजनें आदिक समानरूप से प्रयुक्त हुये हैं।

स्फुट रचनाओं में भाषा की सफाई एवं कथन शैली की सजीवता दर्शनीय है। इनमें निजी अनुभव की गम्भीरता के साथ साथ स्वाभाविक उद्गारों की सरलता भी है जो कवि तल्लीनता के कारण चित्ताकर्षक एवं तन्मय कर देने वाली है। सूफ़ी साहित्य का यह अंग व्यावहारिकता की दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण है। नीति तथा सिद्धान्त सम्बन्धी गम्भीर विषयों के साथ ही 'रोटी' के महत्व तक की चर्चा इस काव्य में मिल जाती है। गुरु के महत्व एवं सम्मान में लिखे गये पद अधिक हैं।

जान कवि ने सूफ़ी प्रेमाख्यानों के अतिरिक्त शुद्ध प्रेमाख्यान एवं भावविशेष के स्पष्टीकरण के हेतु भी प्रेमकथायें लिखी हैं।

यहाँ सूफ़ी प्रेमाख्यानों एवं स्फुटकाव्य की वस्तुगत तथा शैलीगत विशेषताओं का संक्षेप में निर्देश हुआ है। वास्तव में जीवन की भाँति ही सूफ़ी काव्य भी विस्तृत है।

१३

सूफ़ी कवियों की बहुज्ञता

सूफ़ी प्रेमाख्यान रचयिताओं ने अपने प्रबन्धों में इतिवृत्त एवं रसात्मक स्थल दोनों का सम्यक् निर्वाह करते हुये भी कहीं कहीं कथा की गति को अवरुद्ध सा कर दिया है। विराम के लिये ऐसे पाण्डित्यपूर्ण स्थल केवल कवि की बहुज्ञता का परिचय मात्र देते हैं। इन कवियों की बहुमुखी प्रतिभा सराहनीय है। काव्य-मर्मज्ञ होने के साथ ही साथ इनका साधारण-ज्ञान, ज्योतिष-ज्ञान, संगीत-ज्ञान, कामशास्त्रज्ञान, पुराणज्ञान एवं औषधिज्ञान भी उच्चकोटि का था।

साधारण ज्ञान के अन्तर्गत हम उनके दान, नम्रता, वचन-महिमा, उपकार, थाती, साहस, द्रव्य, परदेश गमन ऐसे विषयों पर प्रकट किये गये विचार ले सकते हैं। दान प्रसंग की चर्चा इनके साधना-पक्ष के अन्तर्गत भी आती है। ऐसे प्रसंगों को रुचिकर बनाने के लिये कविगण या तो उनके प्रति अनुराग, श्रद्धा, विरक्ति आदिक भाव व्यञ्जित करते हैं या केवल चमत्कार की सृष्टि करते हैं। भावविशेष के उत्कर्ष या अपकर्ष प्रदर्शन के हेतु कवि को अधिकांश अत्युक्ति का सहारा लेना पड़ा है, साथ ही सूक्ति-रूप में भी इन कवियों ने अपने विचारों का प्रदर्शन किया है।

दान-महिमा :

दिये बिना कछु काहु न पावा, दिया असि सब इच्छ पुरावा।
दिया धरे तप करै अंजोरा, दिया हुतै घर मुसे न चोरा।
एहि जग मांह सार है दीआ, जे न दिया ते अमिरत जीआ।
दिया हुते निसि आगे सूझा, दिया हुते पर आपन बूझा।

उसमान : चित्रावली।

वचन-महिमा :

वचन समान सुधा जग नाहीं, जेहि पाये कवि अमर रहाहीं।
औ जो यह अमिरित सों पागे, सोऊ अमर जग भये सभागे।

पढ़ि गुनि देखा मान कवि, बैठि खोइ संसार।
और जगत सब थोथरा, एक वचन पै सार॥

उसमान : चित्रावली।

सत्य-प्रशंसा :

सत्य समान पूत जग नाहीं, मत सों रहे नाउं जग माहीं।
कोखि पूत एक देस बखाना, सत्य पूत चारों खण्ड जाना।

उसमान : चित्रावली।

मित्र-चर्चा :

मीनहि होइ मीत की चिन्ता, चारि भाँति जग कहिये मित्रा।
नैन मीत एक जग आवा, नैन देखि कै मीत कहावा।
मुख फेरत भा औरै लेखा, गयो भूलि जनु सपना देखा।
इच्छा मीत होइ एक दूजा, तौ लहु मीत इच्छ जब पूजा।
हींछा पूजी गई मिताई, बहुरि बार नहिं झांके आई।
बैन मीत बैन रस रसा, बैनहि लागि रहै मन बसा।
प्रान मीत वहि कहिन है, पर न सकै निरवाहि।
सो दुख आवै आप जिय जा महं सुख हो ताहि॥

विदेश-गमन :

उत्तर दीन्ह परदेशी जोभा, जिष्णु पराज दच्छ जनु सोभा।
जनम भूमि सों जब लगि कोई, तब लगि गुनी विदग्ध न होई।
सुमन तोरि जब बाहर आवै, उन्नत ठौरि पाग तब पावै।

नूरमुहम्मद : अनुराग बांसुरी।

काल-महिमा :

अपनी समय पपीहा बोले, सुनि ता वचन बहुत मन डोले।
अपनी समय मेघ जल डारा, हरित होय धरनी संसारा।
समय पाय जोबन तन आये, सुन्दरता छवि देह बढ़ावे।
समय पाय जब मालति फूले, तब मधुकर मन तापर भूले।

नूरमुहम्मद : अनुराग बांसुरी।

थाती-चर्चा :

जो थाती काहू सों नासै, आपुइ आप न ताही आसै।
जो थाती थाती लै धरई, नासै उतर ताहि को करई।
जो थाती दूसर धर माहीं, डर सो डारा कर तेहि नाहीं।
हंसजवाहिर : कासिमशाह।

द्रव्य-महिमा :

दरबहिं ते यह राज पसारा, दरब लागि जग आइ जोहारा।
उसमान : चित्रावली।

लालच :

लालच बांधा सब संसारा, लालच सों मृदु होइ पहारा।
लालच हस्ती कर बल हरा, लालच सों हरनाकुस धरा।
उसमान : चित्रावली।

भूगोल-ज्ञान :

उत्तर दिसा दीप अति भला, धौलागिरि पर्वत कंह चला।
प्रथमहि नगर कोट कर फेरी, काशमीर पुनि तिब्बत हेरी।
हरद्वार पै गंग नहावा, मांगी हींछा सिंधु मनावा।
सिरी नगर गढ़ देखि कुमाऊं, खसिया लोग बसेह तेहि गांऊं।
पुनि बदरी केदार सिधारा, ढूंढ़ा फिरि फिरि सकल पहारा।

इसके अतिरिक्त काबुल, बदख्शां खुरासान, रूम, मक्का, मदीना, बगदाद इस्तम्बोल, मिश्र, लद्दाख, गुजरात, सेतुबन्ध-रामेश्वर, लंका, बरार, देवगिरि, चित्तौर, मथुरा, वृन्दावन, दिल्ली, आगरा, प्रयाग, काशी, रोहिताश्वगढ़ आदि का वर्णन क्रम से किया गया है। विभिन्न स्थलों में पाई जानी वाली जातियां, उनकी विशेषता, एवं स्थल विशेष से सम्बन्धित आचार विचार का वर्णन भी कवि उसमान ने किया है।

बलंदीप देखा अंगरेजा, जहां आइ नहिं कठिन करेजा।
ऊंच नीच धन सम्पति हेरा, मद बराह भोजन जिन केरा।

अंगरेजों का भारत में आगमन सन १६०० में हुआ सन १६१२ में सूरत में कंपनी के गुदामों की स्थापना हुई। चित्रावली का रचना काल सन १६१३ है। काव्य में उनकी विशेषता के साथ अंगरेजों का वर्णन कवि की सजगता का सूचक है।

बंगाल प्रदेश के अन्तर्गत अंग्रेजों के नगरों और बन्दरगाहों का वर्णन भी मिलता है। वेलीबन्दर की चर्चा ऊपर हो चुकी है, इसके अतिरिक्त पोर बन्दर, सोनारगांव, मलुआ, चटगांव, सोनादीप, मनीपुर, कूचकछार, आदि का वर्णन भी मिलता है। बंगालियों की भोजन विशेषता का उल्लेख भी कवि उसमान ने एक ही दोहे में पूर्णरूप से कर दिया है।

सब कंह अमरिन पांच हैं, वंगाली कंह सात।
केला, कांजी, पान, रस, साग, माछरी भात ॥

मगहर प्रदेश की वर्जित यात्रा, एवं तिरहुत के प्रसिद्ध कवि विद्यापति का उल्लेख करना भी कवि नहीं भूला है।

'मगगह देखि फिरा सिर धुनी, तिरहुति में विद्यापति सुनी'।

प्रयाग और काशी की धार्मिक विशेषताओं का कवि ने उल्लेख किया है।

आइ पयाग कीन्ह तिरबेनी, करवट देखी सरग निसेनी।
कासी मांह विसेसर पूजा, जाहि देव सर आहि न दूजा।

इसी प्रकार कवि उसमान, जहां अपने भूगोल-ज्ञान का पूर्ण परिचय देते हैं वहीं दूसरी ओर हंसजवाहिर के रचयिता का मन कथा के इतिवृत्त में अधिक रमा है, वे चीन से बलख देश तक का वर्णन करने में भी अपने भौगोलिक ज्ञान का विशेष परिचय नहीं देते।

पौराणिक कथा-ज्ञान :

कथा के मध्य, विशेष भावों की पुष्टि के हेतु दृष्टान्त रूप में इन कवियों ने कई पौराणिक आख्यानों का उल्लेख किया है, जिनमें नल दमयन्ती, उषा-अनिरुद्ध, अर्जुन-द्रोपदी, समुद्र एवं अगस्त्य, रावव-सीता, कृष्ण-बहेलिया, रति एवं तिलोत्तमा का उल्लेख है। फ़ारसी के प्रेमाख्यान लैला-मजनू, शीरी-फरहाद, मेहरशाह और दिलाराम, एवं पौराणिक प्रेमाख्यान युसुफ जुलेखा का भी उल्लेख आया है। लोक कथाओं में, विक्रम, भोज और हरिश्चन्द्र की दानशीलता और सत्यवादिता का उल्लेख है। साधना सम्बन्धी महान व्यक्तियों, गोपीचन्द, मानिकचन्द, गोरखनाथ, मत्यस्येन्द्रनाथ आदि का भी वर्णन है।

मनोविज्ञान : (स्वप्न विश्लेषण)

स्वाप आप नहि राखन काया, है वह जाग लोक के छाया।
स्वाप नगर मों है परछाहीं, काया मूल तहां है नाहीं।

नूरमुहम्मद : अनुराग बांसुरी।

षट ऋतु :

ऋतु वर्णन के अन्तर्गत इन कवियों ने अपने नक्षत्र-ज्ञान का भी परिचय दिया है। वर्षा काल के अन्तर्गत कई नक्षत्रों की चर्चा होती है। कवि नूरमुहम्मद ने आद्रा, पुनर्वस, अगस्तय, स्वाती, पुष्य, मघा और हथिया का वर्णन किया है।

पुख्य नक्षत्र अस धन झरलाई, चला सरेखा सेज नहाई।
बरसै मघा अवनि झर लाई, बूड़ा बूड़ जगत जल छाई।
हथिया बरसै पवन झकोरी, नैंन चुवैं जिमि छपरा ओरी।

नूरमुहम्मद : इन्द्रावती।

इन कवियों को प्रचलित रोग और उनके निदान का भी ज्ञान था। कवि नूरमुहम्मद और उसमान का इस ओर विशेष झुकाव ज्ञात होता है। उसमान ने मूर्च्छा के जिस उपचार की चर्चा अपनी 'चित्रावली' में 'चित्र धोवन' प्रसंग के अन्तर्गत की है वह आधुनिक है।

सुन न कछू कहै जो कोई, जनु मनि खोई भुअंगिनि सोई।
कोई सखि दसन खोलि जल नावै, कोउ गहै नाकि सांस जेहि आवै।
कोई अञ्चल गहि पौन डुलावै, कोइ करतल पातल सुहरावै।
कोइ चंदन घसि पोतै काया, बरत अगिन जानौ घिउ नाया।

घरी चारि बीतै बहुरि, भयो चेत कछु तासु।
नैन उघारि निहारि तब, कहेसि ऊभि लै सांसु॥

उसमान : चित्रावली।

नूरमुहम्मद ने 'इन्द्रावती' के अन्तर्गत एक पूरा खण्ड ही 'औषधिखण्ड' रक्खा है। इसके अतिरिक्त अपनी कथा में जहाँ कहीं भी उन्हें अवकाश मिला है वहाँ अपनी दोनों ही रचनाओं 'इन्द्रावती और अनुराग बाँसुरी' में कवि ने रोगों और उनकी औषधियों की चर्चा की है। जान कवि ने एक पृथक ग्रन्थ 'वैदिक सत' के नाम से रोगों पर लिखा है।

वायु-पित्त असलेखन स्रोनित, रोग उपजावैं कुन्छद जो नित।

नूरमुहम्मद : अनुराग बाँसुरी।

पित्त बढ़ै तो औखट पावै, चन्दन और गुलाब मिटावै।
जो मारुत तन दुख उपजावै, मृगमद केसर ताहि नसावै।
जहं असलेखन व्याधि सरीरा, ग्रंथि मागधी नासै पीरा।

अजा दुग्ध महं माती, पीसि पियै जो कोइ।
मासे चार तीन दिन, सबल नेहिक मन होइ।

स्वाद तजै जो रसना, बात न सुधरै जाहि।
भूंज सोंठ औ हरदी, मिर्च पीस मल ताहि।

इस प्रकार कवि नूरमुहम्मद ने अनेक रोगों की औषधि का वर्णन बड़े विस्तार से किया है। बहुत सम्भव है कि नूरमुहम्मद का वैद्यकशास्त्र में प्रवेश हो। इसके अतिरिक्त ज्योतिष शास्त्र की चर्चा भी इन सूफ़ी कवियों ने मनोयोग से की है।

ज्योतिष-ज्ञान :

मिथुना लगन अंस औनीसी, उदै पुनर्वसु अति सुभ दीसी।
तिसरे सुर्ज चन्द्रमा नएँ, दुसरे बुद्ध सुक्र संग लएं।
सनमुख सूर ससी पुनि देखा, चौथ चरन सतभिषा सरेखा।
राहु जनम दसएं पुनि सनी, जिउ एगारहैं जासौं धनी।
भौम एगारहै पुनि सुख देखा, गढ़पति हनै बिट गढ़ लेखा।
राहु केतु दोउ अपने ऊँचा, सीस छत्र गए सर्ग पहूँचा।

मीन माथे हरदै नषत, गनि गुन कीन्ह बखान।
होड़ा चक्र विचारि कै, राखौ नाउ सुजान।

उसमान : चित्रावली।

इसके अतिरिक्त कवि नूरमुहम्मद ने सामुद्रिक शास्त्र की भी चर्चा की है।

वाम कपोल मसा जेहि होई, सुखी सोहागिन नारी सोई।
भौंह दुइज के चांद सम, लघु अंगुली सम नाक।
प्रीत बहुत तेहि कन्त सों, सुख संपति को आंक॥

नूरमुहम्मद : इन्द्रावती।

दिशाशूल-विज्ञान :

देखें पण्डित वेद बिचारी, अदित शुक्र पछिम दिशि मारी।
मङ्गल बुध उत्तर दिशि गाढ़ा, समहुँ काल कटक लिये ठाढ़ा।
सोम सनीचर पूरब हीना, वेफै दखन सो औगुन चीना।
जोरे उताहिल चहै सिधावै, औषध खाय मियै सुख पावै।
बुध दधि औ वेफै गुड़ मीठा, रवि तांबूल खाय सुख दीठा।
राई खाय शुक्र पग धारै, दर्पण देख सो सोम सिधारै।
बायबिडंग शनीच्चर मूरी, मङ्गल भनियाँ ग्वा दुख दूरी।

कासिमशाह : हंसजवाहिर।

राशि-चर्चा :

मेष सिंह धन पूरब शशी, सुता मकर बृष दक्खिन लसी ।
तुला मिथुन घट पश्चिम में बस, कर्क मीन बृश्चिक उत्तर बस ।
धनो मकर सांकर दुख लिये, देखे पाप जो पाछे दिये ।
चले बिदेश औ गिरह बतावै, समहूँ चाँद महासुख पावै ।
उत्तरकाल अदित कहं रहै, सोमकाल बायब फल कहै ।
पश्चिम निरतकाल भव माहां, दक्खिन अगिन शुक्र गुरु ताहां ।
सोम काल पूरब मा रहै, काल पीठ दे चल सुख लहै ।
छीजै निर्मल चन्द्रमा, हुये बली औतार ।
ऐसे बिन लक्षण कहे, धनी करे करतार ॥

कासिमशाह : हंसजवाहिर ।

ग्रहण-विचार :

पहिले सखी पियारी, रविससि गहन विचार ।
फेर कहानी भाषेउ, चाहा जीव हमार ॥

कहा मेष के बीच पियारी, जो रवि गहन होइ अंधियारी ।
अगिन टरै पसु मरै बहूत, घटै सुफल अनपढ़े अकूता ।
बाढ़ै विग्रह मानुष माही, मलिन प्रीत रहै कछु नाहीं ।
जो ससि गहन मेप में होई, दुख के फांद परै सब कोई ।
सिंहासन पति जीत न पावै, तापर जो रिपुता पर आवै ।

नूरमुहम्मद : इन्द्रावती ।

इसी प्रकार प्रत्येक राशि के मध्य सूर्य और चन्द्र ग्रहण की चर्चा की गई है ।

योगिनि-चक्र :

सत्ताइस उन्निस बारह चारी, योगिनि पश्चिम चली विचारी ।
इन नौ सोरह चौबिस माही, पूरब दखिन कोण बिच माहीं ।
छब्बिस अठारह ग्यारह तीन; योगिनि देखै पाँच प्रवीन ।
दुइ पचीस सत्रह दस होई, दखिन पछिम बिच जानों सोई ।
चौदह सात उनीस औ बाइस, योगिन पूरब सहुँ जिन जाइस ।
पन्द्रह तीस आठ बत्तीसा, योगिनि उतर सहुँ महं दीसा ।
बीस पाँच और तेरह जानो, योगिनि बायब महं पहिचानो ।

कासिमशाह : हंसजवाहिर ।

संगीत-ज्ञान :

सूफ़ी कवियों का संगीत-ज्ञान बहुत पूर्ण ज्ञात होता है। विभिन्न राग, रागिनियां, भेद, उपभेद, ताल स्वर, गायनकाल आदि सभी का निर्देश इन कवियों ने अपने काव्य में किया है। संगीत वर्णन में उनकी आध्यात्मिक कल्पना भी सजग है।

जहाँ-जहाँ चलि पग धरै, उठैं छतीसो राग।
मोहि इन्द्र सों सब्द सुनि, जगत भयो वैराग।
उसमान : चित्रावली।

हैं षट् राग, छत्तीस रागिनी, और संग पुत्र पुत्रभामिनी।
प्रथम राग भैरौं की जानहु, मालकोस दूसर पहिचानहु।
पुनि हिण्डोल दीपक अहही, श्री राग धरती को कहही।
षष्ठमराग मलार कहावै; पुत्र भारजा कौन गनावै।

ताल एक सै सात हैं; सात भांत सुर जान।
तीन लाख सत्रह सहस, नौ तीस मतान।

इसी प्रकार सभी रागों की चर्चा है। प्रति राग के अन्तर्गत रागिनियों और उनके वादन समयों का वर्णन है।

भैरों गुनन सखिन सहेली, गुजरी, रामकली रंग खेली।
टोड़ी संग जान देवगिरी, बरनि न जाय सो धन शिरी।

कन्त राग भैरव तहां, नारि मेखी मोर।
सखी गूजरी और श्री, रामकली यकठौर।

कातिक क्वार शरदऋतु माहां, प्रथम राग भा भैरों नाहां।
नूरमुहम्द : इन्द्रावती

कवियों के नायक नायिका सम्बन्धी साहित्यशास्त्र ज्ञान की चर्चा काव्य-तत्व के अन्तर्गत की गई है। यहां एक और विशेष ज्ञान, कामशास्त्र का परिचय देना अभीष्ट है। कवि उसमान ने अपनी चित्रावली में एक पूरा खण्ड 'कामशास्त्र' का रक्खा है, जिसमें भिन्न जाति के पुरुष, एवं स्त्रियों की चर्चा के अतिरिक्त कामकेलि, उनका काल एवं प्रतिफल सभी विषयों की चर्चा की गई है; अतः स्पष्ट है कि जिन विषयों का वर्णन इन कवियों ने अपने काव्य में किया, लगभग उन सभी का ज्ञान इन सूफ़ी कवियों को स्वयं था। 'काम-शास्त्र' की महत्ता प्रतिपादित करते हुये कवि उसमान कहते हैं।

जो यह बान सौंह होइ खावा, एहि जग जिअन अमरपद पावा।
काम भेद जो जानै कोई, दम्पति सेज महासुख होई॥

सुनहु पदुमिनी केर बखाना, आनन पूरन इन्दु समाना।
हेम कंवल तन सुन्दरताई, फूल सरखि गात कुंबराई।
चित्रा सारंग सावक नैनी, सुक नासिक मराल सुभ गैनी।
पुहुप सरोज बास तन बामा, लज्जावति मानति बिसरामा।
तीन रेख कटि त्रिवली बनी, हंसमुखी और अलपासनी।

इसी प्रकार प्रत्येक विषय का विस्तार से वर्णन इन कवियों ने किया है।

जान कवि ने अपनी एक और विशेषज्ञता का परिचय 'पाहन परीक्षा' ग्रन्थ की रचना करके दिया है, जिसमें कवि ने भिन्न प्रकार के पत्थरों की पहचान और उनके उपयोग की चर्चा की है। ग्रन्थ की रचना दोहों में है। इस ग्रन्थ में उन्होंने भारतीय और तुरकी दोनों ही प्रकार के पत्थरों की चर्चा की है। नीलकन्ठ, चतुरवक्र, गररमनि, मनिराजा, हंसचर्म, मोहन मनि, सेषनाग मनि, कउस्थ मनि आदि भारतीय एवं सेतमुहन्, गौहरासा, सलवांनह, हमजा कलवा, पाइनहर बर्न, लाजवरद, पाहन ऊद, पाहन जंगार आदि तुर्की पत्थरों की चर्चा है।

अंबरी पाहन गुन :

तीन भांति बिन्दुका अभिराम, तापर सेत पीति पुनि स्याम
वाकौ भाजन करिकै खाई, वात सन्न कौ रोग घटाई।
कीरपंष सौ नीलौ होत, छिटके बीच सेत तिन जोत।
सुकमुष जानहु ताको नाम, पुजवन मन इच्छा सब काम।
जान कवि: ग्रन्थ पाहन परीक्षा।

उपरोक्त विषयों पर हिन्दी के सूफ़ी कवियों के विशेष ज्ञान का परिचय मिलना, उनकी बहुमुखी प्रतिभा का द्योतक है। वास्तव में ये कवि केवल काव्य-मर्मज्ञ ही न थे, इनकी दृष्टि अपने चतुर्दिक व्याप्त जगत और जीवन के प्रति जागरूक थी।

१४

सूफ़ियों का स्फुट साहित्य

हिन्दी के सूफ़ी कवियों ने केवल प्रेमाख्यानों की ही रचना नहीं की है। प्रेमाख्यानों के अतिरिक्त इन कवियों की अन्य रचनायें भी उपलब्ध हैं जिनकी विषयगत विवेचना करने पर उनके कई प्रकार प्राप्त होते हैं।

विविध प्रकार

स्वतन्त्र एवं भावमूलक प्रेमाख्यान :

सूफ़ी प्रेमाख्यानों, जिनमें प्रेम के अध्यात्मिक स्वरूप के दर्शन होते हैं, के अतिरिक्त ऐसे स्वतन्त्र प्रेमाख्यान भी मिलते हैं जिन्हें फिर हम दो प्रकारों में बाँट सकते हैं। प्रथम तो अविवाहित नायिका से प्रेममूलक, द्वितीय विवाहित नायिका से व्यभिचार मूलक प्रेम-प्रयास की कहानियाँ। ऐसे स्वतन्त्र प्रेमाख्यानों की अधिक रचना जानकवि ने की है। उसके सूफी प्रेमाख्यानों के अतिरिक्त कथा पीतमदास, कथा कलन्दर, कथा देवल देवी, कनकावती कथा, कथा कौतूहली की, कथा सुभटराइ की,कथा निर्मल देवी, कथा सतवन्ती, कथा सीलवन्ती, कथा कुलवन्ती, कथा तमीम अन्सारी, कथा बलूकिया विरही आदि प्रेम कथायें उपलब्ध होती हैं। कथा निर्मल देवी में व्यभिचार मूलक प्रेम का वर्णन है किन्तु निर्मल देवी के सतीत्व के कारण नायक को अपनी निम्न वासना का सुधार करना पड़ा, और ऐसा ज्ञात होता है कि कवि कथा के माध्यम से सतीत्व एवं पातिव्रत की महिमा स्थापित करना चाहता है। जान कवि ने ऐसी कई प्रेम कथाये लिखी हैं जिनमें कवि का उद्देश्य वास्तव में किसी भाव विशेष का स्पष्टीकरण ही है। ऐसी कहानियों के अन्तर्गत हम कथा सीलवन्ती, कथा कुलवन्ती आदि को ले सकते हैं, इन कहानियों में कवि ने शील, कुल एवं सतीत्व-धारण के महत्व का प्रदर्शन ही अधिक किया है। इसी प्रकार 'चन्द्रसेन राजा सीलनिधान की चौपई' के अन्तर्गत भी कवि नारियों के मध्य शील की महत्ता का ही प्रदर्शन करना चाहता है। उसका कथन है कि सभी नारियां 'शीलवन्ती' नहीं होती और अपने इसी

विचार की पुष्टि के हेतु उसने अपने नायक का परिचय चार स्त्रियों से कराकर उनमें से केवल एक जो अपेक्षाकृत अन्य पत्नियों से असुन्दर थी, को ही शीलवती प्रदर्शित किया है। वह शील और कुल का भी अटूट सम्बन्ध मानता है। उच्च एवं भद्रवंश की महिला ही शीलवती होती है। इसी प्रकार कथा कुलवन्ती, कथा सीलवन्ती, कथा सतवन्ती आदि में भी कवि ने व्यभिचार-मूलक प्रेम का वर्णन कर उसे शील, कुल एवं सतीत्व के सम्मुख पराभूत होते प्रदर्शित किया है।

पद्यात्मक सिद्धान्त-ग्रन्थ :

स्वतन्त्र एवं भावमूलक प्रेमाख्यानों के अतिरिक्त, सूफ़ी साहित्य में उन स्फुट दोहों, चौपाइयों एवं पदों का भी महत्व है जिनमें कवि ने वर्णमाला के क्रम पर रचना करके, सूफ़ी सिद्धान्तों को स्पष्ट करना चाहा है। जायसी की अखरावट ऐसी रचनाओं में अकेली नहीं है। जायसी के अतिरिक्त जानकवि का 'बर्ननामा' एवं यारी साहब का 'अलिफनामा' तथा वजहन का 'वजहननामा' उल्लेखनीय हैं जिनमें जान कवि ने नागरी वर्णाक्षरक्रम से तथा यारी साहब और वजहन ने फारसी वर्णाक्षरक्रम से इन ग्रन्थों की रचना की है [1]। जायसी ने भी अपनी 'अखरावट' की रचना हिन्दी वर्णमाला के क्रम से की थी। इन सूफ़ी काव्यों में अलिफ आदि वर्णों की महत्ता की ओर भी कहीं कहीं संकेत मिलता है। नूरमुहम्मद ने इसका उल्लेख अपने दोनों उपलब्ध ग्रन्थ इन्द्रावती एवं अनुरागबांसुरी में किया है। सूफ़ीमत पर अपने विचार विस्तारपूर्वक व्यक्त करने वाले पाश्चात्य पंडितों में श्री ए० जे० आरबरी ने 'रॉयल एशियाटिक सोसाइटी' के बाम्बे ब्रांच वाले जरनल में सूफ़ियों के दृष्टिकोण से वर्णमाला की चर्चा की है।

लोकगीतात्मक सिद्धान्त एवं चेतावनी सम्बन्धी पद :

कुछ ऐसी रचनायें भी हैं जिनका स्वरूप एवं विषय, लोकगीतों की भाँति है। ये पद विभिन्न राग रागनियों के अनुसार लिये गये हैं अतः इनकी गीतात्मकता में किंचित सन्देह नहीं है। ऐसी रचनाओं में मुराद कवि रचित बसन्त एवं होरी गान सम्बन्धी पद आते हैं। कवि अब्दुलसमद आदि ने भी ऐसे गीतों की रचना की है।

---

१. टटै टेकु गहे नाम की, जपहु अलप दिन रैन।
संतनि की यहु रीति है सुमिरन ही में चैन।
जान कवि : बर्ननामा।

जीम जगत पती हरि दैयै रामहु, हे हलीम होय नरहरी भाषहु।
खे खालक छाडहु सब झूठा. दाल दआल सुमिरहु अनुठा।
यारी साहब : अलिफनामा।

परम्परा :

कुछ ऐसी मुक्तक रचनायें भी हैं जिनका सम्बन्ध परम्परागत काव्यरूढ़ियों से है। ऐसे ग्रन्थों की रचना जानकवि ने अधिक की है। इनके अन्तर्गत उनके 'षटऋतु बरवा, बारहमासा, कन्द्रप कलोल, अलकनामा, षटऋतु पवगंम, मानविनोद, आदि की गणना की जा सकती है।

काव्य-शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ :

जानकवि ने इनके अतिरिक्त ऐसे ग्रन्थों की रचना भी की है जिनका विषय मुख्यत: काव्य-शास्त्र से सम्बन्ध रखता है। ऐसे ग्रन्थों में भावसत, बिरहसत, भावकलोल, रसकोष, श्रृंगार तिलक, रस तरंगिनी, आदि उल्लेखनीय हैं। इन ग्रन्थों में भिन्न रसों एवं भावों की व्याख्या की गई है, यद्यपि इन ग्रन्थों में रस एवं भाव की जो व्याख्या की है उसमें शास्त्रीय विवेचना के दर्शन नहीं होते हैं। ग्रन्थ बहुत छोटे एवं काव्यात्मक ढंग पर लिखे गये हैं।

जानकवि ने प्रेम के स्वरूप, बिरह एवं दर्शन विषयों को लेकर भी कई ग्रन्थों की रचना की है। ऐसे ग्रन्थों में प्रेमनामा, प्रेमसागर, विरहसत, दरसनामा, दरसननामा, वियोगसागर एवं 'बिरही को-मनोरथ' आदि प्रमुख हैं। इन ग्रन्थों में प्रेम की तीव्रता एवं विरह की व्याकुलता का वर्णन मिलता है। ग्रन्थ वियोगसागर 'संग्रह ग्रन्थ' है। यह ग्रन्थ वियोग सम्बन्धी उन दोहों, सवैयों एवं कवित्तों का कोष है जो कवि जान की काव्य-कसौटी पर पूरे उतरे हैं। इसके अतिरिक्त इसमें कवि जान के कवित्त एवं दोहे भी हैं। कवि ने कहीं भी संग्रहीत रचनाओं के रचयिताओं का उल्लेख करने का प्रयास नहीं किया है।

बहुज्ञताबोधक ग्रन्थ :

ऐसे ग्रन्थ भी प्राप्त होते हैं जिनसे केवल कवि की बहुज्ञता का बोध होता है। ऐसी रचनायें जान कवि की ही अधिक मिलती हैं। इन सूफी कवियों की वर्णनप्रियता इनके प्रेमाख्यानों में भी देखने को मिलती हैं जहां कवि अपने औषधिवर्णन, ज्योतिष एवं शकुन विचार आदि विषयों पर निस्संकोच विस्तार पूर्वक लिखता है; किन्तु ऐसी रचनाओं में पृथक रूप से जानकवि रचित बाजनामा, कबूतरनामा, गूढ़-ग्रन्थ, बांदीनामा, देसावली एवं पाहन परीक्षा आदि आ सकते हैं।

---

१. नये पुराने आपुने कवितु किये संजोग।
मन सहंस सरुध्यासठे कीनै उदधि वियोग॥
ग्रन्थ वियोग सागर: कवि जान।

मुक्तक पद :

इन विषयगत विभिन्नताओं के होते हुये भी ऐसे स्फुट पद एवं दोहे प्रचुरता से उपलब्ध होते हैं जिनमें संसार की निस्सारता, गुरु की वन्दना, जीवन का लक्ष्य, निर्गुण निराकार की उपासना आदि विषयों पर विचार प्रकट किये गये हैं। ऐसे सूफ़ी काव्य में कवि के अपने मत सम्बन्धी विचार स्पष्ट रहते हैं। ऐसी रचनाओं में शेख फरीद, यारी साहब एवं बुल्लेसाह की साखियां, वजहन का वजहननामा, कवि जान का सिषग्रन्थ एवं चेतननामा आदि आते हैं।

जानकवि ने, ऐसा ज्ञान होता है कि उस समय तक प्रचलित सभी काव्य परम्पराओं पर कुछ न कुछ लिखा है। सूफ़ी मतावलम्बी होने के कारण सूफ़ी प्रेमाख्यान, शुद्ध प्रेमाख्यान; काव्यशास्त्र सम्बन्धी रचनायें केवल बहुज्ञान प्रदर्शन के हेतु लिखे गये ग्रन्थ एवं पहेलियों आदि की रचना भी की है। 'गूढ़-ग्रन्थ' में उसकी ऐसी ही पहेलियों का संग्रह है।

सूफियों की स्फुट काव्य-रचना भी सूफ़ी प्रेमाख्यानों के साथ ही आरम्भ हुई। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने खुसरो को सर्वप्रथम सूफ़ी मुक्तक काव्य का रचयिता माना है। भारतीय साहित्य में स्फुट रचनाओं की प्रणाली अति प्राचीन है। संस्कृत एवं अपभ्रंश से परम्परा रूप में प्राप्त होने के अतिरिक्त हिन्दी साहित्य में स्वयं भी ऐसी रचनायें प्रचुर हैं। सिद्धों एवं नाथों ने अपने सिद्धान्तों एवं विचारों के व्यक्तीकरण के लिये, काव्य के इसी रूप को चुना था। वीरगाथाओं के अन्तर्गत वीसलदेव रासो एवं आल्हखंड की रचना भी वीरगीत के रूप में हुई। कबीर, दादू, मलूकदास आदि निर्गुण पन्थी सन्तों ने भी काव्य के मुक्तक स्वरूप को ही अधिक उपयुक्त समझा। वीरगाथाकाल की समाप्ति होते होते, खुसरो एवं विद्यापति ने जनभाषाओं में मुक्तक पदों, मुकरियों एवं दोहों की रचना की। भक्त प्रवर सूरदास को भी मुक्तक पद रचना अधिक प्रिय थी। अत: सूफ़ियों की इस ओर रुचि को नवीन नहीं कहा जा सकता किन्तु यह सत्य है कि विषय एवं शैली की दृष्टि से ऐसा कोई प्रयुक्त मुक्तक काव्य-रूप न था जो सूफ़ी विविध साहित्य के अन्तर्गत उपलब्ध न हो। सिद्धों, नाथों एवं निर्गुनिये सन्तों की भांति, सूफियों ने सिद्धान्त सम्बन्धी पद रचना की है साथ ही खुसरो एवं विद्यापति की भांति वे सदैव लोक भाषा के प्रयोग में भी सतर्क रहे हैं।

अमीरखुसरो का मूल नाम अबुल हसन था। इनका जन्म एटा जिला के पटियाली ग्राम में संवत् १३१० में हुआ था। ये शेख निजामउद्दीन औलिया के शिष्य थे। दिल्ली के गुलाम खिल्जी एवं तुगलक सुल्तानों के आश्रित रहे थे। इन्होंने अपने जीवनकाल में राजनीतिक हलचलों का अत्यधिक अनुभव किया। दर्बारी कवि होने पर भी इनकी कविता सरल एवं सरस रही है, चमत्कार प्रधान नहीं! फ़ारसी के विद्वान होते हुये भी इनको खड़ी बोली का सर्व प्रथम कवि माना जाता है। इन्होने अपनी 'आशिका' नामक रचना में हिंदी

की बड़ी प्रशंशा की है। अरबी, फारसी, तुर्की एवं हिन्दी भाषा में कुल मिलाकर इन्होंने ६६ ग्रंथ रचे हैं जिनमें से केवल २२ ही अभी तक उपलब्ध हो सके हैं इनकी हिन्दी रचनाओं के विषय अधिकतर दैनिक अनुभवों से सम्बन्ध रखते हैं। डा० रामकुमार वर्मा के अनुसार खुसरो की कविता में गम्भीरता के लिये कोई स्थान नहीं; किन्तु इनके कुछ दोहों और पदों में रहस्यात्मक ढंग से जीव और ब्रह्म की चर्चा की गई है।

'खुसरो रैन सुहाग की जागी पी के संग।
तन मेरो मन पिऊ को, दोऊ भये इक रंग॥

तथा

बहुत रही बाबुल घर दुलहिन, चल तेरे पी ने बुलाई।
बहुत खेल खेली सखियन सों, अन्त करी लरकाई॥
न्हाय धोय के बस्तर पहिने, सबही सिंगार बनाई।
बिदा करन को कुटुम्ब सब आये, सिगरे लोग लुगाई॥
चार कहारन डोली उठाई संग पुरोहित नाई।
चले ही बनैगी, होत कहा है नैननीर बहाई॥'

अपने गुरु निजामुद्दीन औलिया की मृत्यु का इन्हें अत्यन्त शोक था और सम्भवत: उन्हीं के वियोग में इनकी मृत्यु संवत् १३८१ में हो गई।

शेख फरीद फरीदउद्दीन चिश्ती के वंशधर थे। इनके कई नाम (फरीद सानी, सलीम फरीद, शेख इब्राहीम) सुने जाते हैं। डा० मैकालिफ ने खुलासातुत्तवारीख के आधार पर इनकी मृत्यु २१ वीं रज्जब हिजरी १५६० अर्थात् सन् १५५३ में निश्चित की है। दो बार इनकी भेंट गुरु नानक से हुई थी, तथा इनकी स्फुट रचनायें आदिग्रन्थ में संग्रहीत हैं, जिनमें कुछ सलोक एवं पद हैं।

काशी नागरी प्रचारिणी सभा के हस्तलिखित ग्रंथ संग्रह में भी शब्दसागर नामक एक संग्रह ग्रन्थ है, जिसमें सन्तों एवं भक्तों जैसे दादू, सेन, नानक, रज्जब फरीद, सूरदास एवं गरीबदास के पदों और सलोकों का संग्रह है। परमात्मा के अन्तर्यामी स्वरूप का परिचय फरीद साहब इस प्रकार देते हैं:—'फरीद शाखाओं और काटों को अलग करता हुआ जंगल जंगल क्यों भटकता है। संसार का कर्ता तेरे हृदय में निवास करता है फिर तू जंगल में उसे क्यों ढूंढता है' [१]। इसीलिये संभवत: वे किसी के दिल को दुखाना नहीं चाहते।

१. फरीद जंगलु जंगलु किआ भवहि वणि कंडा मोड़ेहि।
रबु हिआलीऐ जंगलु किआ ढूंढेहि॥

वे लिखते हैं कि हर हृदय एक रत्न के समान है, उसे दुखाना किसी भी प्रकार अच्छा नहीं है। अगर तू वास्तव में परमेश्वर से प्रेम करता है तो किसी के हृदय को न दुखा [1]। वास्तव में परमेश्वर के सच्चे साधक वे ही हैं जो दैन्य,धैर्य एवं शील को धारण करते हैं[2]। ये संसार एक तालाब की भाँति है जिसमें निवास करने वाले पक्षी को फंसाने के लिये माया रूपी पचास जाल हैं। इस जीवात्मा को एक परमेश्वर का सहारा है [3]। परमेश्वर के प्रति प्रेम वही कर सकता है जिसके हृदय में लोभ न हो। जहाँ लोभ है वहाँ प्रेम नहीं हो सकता। भला वर्षा ऋतु में टूटे छप्पर के नीचे मेह से कोई कब तक बच सकता है [4]। शेखफरीद ने मृत्यु को जीवात्मा और परमात्मा के बीच का व्यवधान हटाने वाले के रूप में चित्रित किया है। धनवती के व्याह का दिन पहले ही निश्चित हो चुका था। जिस दूल्हे के बारे में बहुत दिन से चर्चा थी वह अपना मुंह दिखाने आ पहुँचा। 'हड्डियों को कड़काकर वह उसको अपने साथ बरबस ले जायगा। तू अपनी जीवात्मा को समझा दे कि नियत घड़ी बदली नहीं जा सकती। विदा होते समय वह बेचारी किसके गले बाहें डालेगी। क्या जानते नहीं कि दुलहिन बाल से भी अति सूक्ष्म है। फरीद जब तेरा बुलावा आये उठ कर खड़े हो जाना, अपने को धोखा न देना [5]।'

अन्य सूफियों की भाँति शेख फरीद भी विरह को महत्व प्रदान करते हैं, जिस हृदय में विरह उत्पन्न नहीं होता वह शरीर श्मशान के समान है। 'मेरा शरीर तंदूर की भाँति तप रहा है, हड्डियाँ ईंधन की भाँति जल रही हैं। मेरे पैर अगर थक भी जायँ तो भी अपने

---

१. संभना वन माणिक ठाहणु मलिय चांगवा।
जे तारु पोरी असिक हिआउ न ठाहे कहीदा॥

२. निवणु सु अखरु खवण गुणु जिहवा मणिआ मन्तु।
ऐत्रै भैंड़े वैस करि तावसि आवी कंतु॥

३. सरवर पखी हेकड़ो फाहीवाल पचास।
रहु तनु लहरी गुणु तिया सचे तेरी आस॥

४. फरीदा जा लबु त नेहु किआ लबु त कूड़ा नेहु।
किचरु मायि लघाईये छपरि तुटै मेंहु॥

५. जितु दिहोड़े धनवरी साहे लये लिखाई।
मलकु जिकंनि सुनी दा, मुंह देखाले आइ।
जिन्दु निमाणी कढी ये, हड़ा कु कड़काइ।
साहे लिखे न चलनि जिन्दुकु समझाइ।
जिन्दु बहूरी करणु वरु, लै जासी परणाइ।
आपण हथीं जोलि कै, कैवलि लैगधाइ।
वालुहु निकी पुरसलाल, कन्नी न सुनी आइ।
फरीदा किड़ी पवन दई, खड़ा न आप मुहाइ।

प्रीतम से मिलने; सिर के बल चलकर जाऊँगी [1]।' फरीद ने शरीयत या कर्मकाण्ड की चर्चा भी की है किन्तु हृदय की स्वच्छता उन्हें विशेष रूप से मान्य है। सबेरे उठकर वजू करने के पश्चात्, नमाज पढ़; वह सर काटकर फेंक देने के योग्य है जो मालिक के आगे न झुके [2]। धन संग्रह एवं विलासमय जीवन बिताना साधक का कर्तव्य नहीं। किसी के पास तो खाने को सूखी रोटी नहीं और किसी के पास अन्न ही अन्न है। लेकिन यह तो उनके यहाँ से जाने के बाद ही मालूम होगा कि दंड कसे भुगतना पड़ेगा। काठ की जैसी रोटी और नमक ही मेरा भोजन है। जो घी चुपड़ी खाते हैं, उन्हें बहुत दुःख उठाना पड़ेगा [3]।

इसके अतिरिक्त शेख फरीद के राग-रागिनियों में लिखे गये भी पद उपलब्ध होते हैं।

राग मुलतानी टोड़ी

क्यूं क्यूं क्यूं मैंडे सजना क्यूं
मैंनन जोबन तो कूं संज्यो, सब रस रस रस यूं।
टेक : नैन प्राण तौऊं परिवारूं, जिमु तरसै धूं यूं यूं यूं।
सेख फरीद ग्रैसी ल्यौ लाई, ज्यूं रब रखै त्यूं त्यूं त्यूं।

राग सूही

तपि तपि लुहि लुहि हाथ मरोरउं, बावलि होइ सो सहु लोरउं।
तैं सहि मन महि कीग्रा रोसु, मुझै ग्रवगुन राह नहीं दोसु।
तैं साहिब की मैं सार न जानी, जो बनु खोइ पाछे पछितानी।
कालीकोयल तू कित गुन काली, अपने प्रीतम के हउ बिरहै जाली।

---

१. बिरहा बिरहा आखीये बिरहा तू सुल्तानु।
फरीदा जिन तनु बिरहु न ऊपजै से तनु जाण मसाणु।
तनु तपै तनूर जिउ, बालण हड बलन्हि।
पैरि थंका सिरिजुलां जे मूं पिरी मिलंन्हि।

२. उठु फरीदा एजूसाजि सुबह निवाज गुजारि।
जो सिरु साईं नां निवें, सो सिरु कपि उतारु।

३ फरीदा इकना आटा अगला, इकना नाहीं लोणु।
अग गये सिञासपन्हि चोटा खासी कोणु।
फरीदा रोटी मेरी काठकी लावणु मेरी भुख।
जिन्हा खाधी चोपड़ी घणे सहनिगे दुख।

पिरीह बिहून कतहि सुखु पाए, जा होइ कृपालु ता प्रभु मिलाए !
विधरण, कुही मुंध अकेली, ना कोइ साथी ना कोइ वेली।
वाट हमारी खरी उडीणी, खंनिअहु निखी बहुतु पिइणी।
अमु ऊपीर है मारगु मेरा, सेख फरीदा पंथु सम्हारि सवेरा।

(विरह ज्वर से मेरा अंग अंग जल रहा है और मैं अपने हाथों को मरोड़ती हूँ।
प्रीतम से मिलन की लालसा ने मुझे बावली बना दिया है।

प्यारे, तू अपने मन में मुझसे रूठ गया था :
सो इसमें मेरा ही दोष था प्यारे, तेरा नहीं :
मेरे स्वामी, मैंने तेरे गुणों को पहचाना नहीं।
मैंने अपना जोबन गवां दिया और बहुत पीछे पछताई।
री काली कोयल तू किस कारण काली हुई ?
अपने प्रियतम के विरह में जल-भुनकर
अपने प्यारे से विलग होकर क्या किसी को कभी सुख मिला ?
उस प्रभु से मिलना उसी की कृपा से बन सकता
कुआं यह बहुत दुखदाई है और वह बेचारी अकेली उसमें जा पड़ी है।
न उसकी वहाँ कोई सहेली है, न कोई वेली।
मेरी बड़ी ही विकट बात है
दोधारी तलवार से भी तेज़ और बहुत पैनी।
उस पर मुझे चलना है
शेख फरीद, तैयार हो जा उस मार्ग पर चलने को
अभी समय है)[1]

यारी साहब का मूल नाम यारमुहम्मद था। इनके पूर्वज दिल्ली के शाही घराने से सम्बन्धित थे। पहले ये सूफ़ी थे किन्तु बाद को दिल्ली की बावरी साहबा के शिष्य वीरू के शिष्य हो गये जिन्होंने इनको चेताकर शब्दमार्ग का रहस्य बताया था। इनकी बहुत सी बानियाँ अब भी प्रचलित हैं। दिल्ली में ये वि० अठारहवीं शताब्दी में रहते थे, जहाँ इनकी एक गद्दी अब भी वर्तमान है। इनके मुरीदों में केसोदास, शेखतशाह, सूफ़ीशाह, हस्न मुहम्मद, बूलासाहब बहुत प्रसिद्ध हैं। कहा जाता है कि इनके गुरुमुख शिष्य बुल्लासाहब ने इनके पंथ की एक शाखा भुरकुड़ा जिला गाजीपुर में स्थापित की थी। पन्थ परम्परा के अनुसार इनका केवल इतना ही परिचय प्राप्त होता है।

'रत्नावली' के नाम से यारी साहब का एक छोटा सा संग्रह 'वेलवेडियर' प्रेस, इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ है। सम्पादक महोदय ने बड़ी खोज से गाजीपुर, बलिया दिल्ली के आस-पास से इनकी बानियों का संग्रह किया है। इनकी कुछ फुटकर बानी अन्य

---

१. सन्त सुधा सार : श्री वियोगी हरि।

संग्रह ग्रन्थों में भी मिल जाती हैं। इन्होंने भजन, कवित्त, साखी, झूलने आदि के अतिरिक्त एक अलिफनामा भी लिखा है जो काशी नागरी प्रचारिणी सभा के हस्तलिखित ग्रन्थों में उपलब्ध है।

मुख से नाम स्मरण करते-करते जब हृदय स्वाभाविक गति से नाम जपने लगता है, दृष्टि बहिर्मुख न होकर अन्तर्मुखी हो जाती है तभी प्रभु-दर्शन होता है।

शब्द

रसना राम कहत तें थाको,
पानी कहे कहुँ प्यास बुझत है, प्यास बुझै जदि चाखो।
पुरुस नाम नारी ज्यों जानै, जानि बूझि नहिं भाखो।
दृष्टी से मुष्टी नहिं आवै, नाम निरञ्जन वाको।
गुरु परताप साधु की सङ्गति, उलटि दृष्टि जब ताको।
यारी कहै सुनो भाई संतो, बज्र वेधि कियो नाको॥

उस परमेश्वर को किसी ने देखा नहीं है। उसके विषय में विभिन्न मत होने का यही कारण है। सब के विचार अंधों के द्वारा हाथी के विवरण के समान है।

कवित

आंधरे को हाथी हरि हाथ जाको जैसो आयो,
बूझो जिन जैसो तिन तैसोई बनायो है।
एका टोरि दिन रैन हिये हू के फूटे नैन,
आंधरे को आरसी में कहा दरसायो है।
मूलि की खबरि नाहिं जासों यह भयो मुलक,
वाको बिसारी भोंदू डारेन अरुझायो है।
आपनो सरूप रूप आप माहि देखै नाहिं,
कहे यारी आंधरे ने हाथी कैसो पायो है॥

परमात्मा हर घट में व्याप्त है। घट में ही उसकी खोज की जा सकती है। अंड में ही ब्रह्माण्ड समाया है:—

हेली जोति सरूपी आत्मा घट घट रहो समाय हेली।
परमत तुम न भाव नो हेली नेकु न इत उत जाय हेली।
रूप रेख का भलौं हेली कोटि सुर प्रकास।
अगम अगोचर रूप है कोऊ पावै हरि को दास।

नैनन आग देखी ये रहैमी तेज पुन्ज अगदीस ।
बाहर भीतर रमी रह्यो सो धरी रखो सीस हेली ।
कहेइ यारी घट ही मिलो जाकंह खोजन दुरी है ।
आठ पहर नीरखत रहो, रहेली सन्मुख सदा हजुर हेली ॥
(काशी नागरी प्रचारिणी की हस्तलिखित प्रति से)

इस संसार में परमेश्वर की सेवा ही तत्व है। बिना सेवा के खाना हराम है। वही भक्त है जो आठों याम सेवा करता है। जीवनान्त में तो कब्र में सो ही रहना है अतः जीते जी बंदगी करना श्रेय है।

झूलना

बिन बंदगी इस आलम में खाना तुझे हराम है रे।
बंदा करै सोइ बंदगी, खिदमत में आठो जाम हैरे।
यारी मौला बिसारिके, तू क्या लागा बेकाम हैरे।
कुछ जीते बंदगी करले, आखिर को गोर मुकाम हेरे।

ज्योतिस्वरूप परमात्मा प्रत्येक घट में निवास करता है। वह ज्योति, मनभावन परम-तत्व थोड़ा भी इधर उधर नहीं जाता है। उस परमेश्वर की रूप रेखा का क्या वर्णन करूं वास्तव में वह करोड़ों सूर्य के प्रकाश के सदृश है। वह अलख एवं अगम्य है। उसे कोई बिरला हरि का दास ही पा सकता है।

साखी

जोतिसरूपी आतमा, घट घट रही समाय।
परमतत्त मनभावनो, नेक न इत उतु जाय।
रूप रेख बरनों कहा, कोटि सूर परगास।
अगम अगोचर रूप है, कोउ पावै हरि को दास।

अपने अलिफनामे में यारी साहब ने फारसी की वर्णमाला के क्रम से, नीति एवं उप-देश सम्बन्धी कथन किये हैं। नागरी प्रचारिणी सभा के संग्रहालय में प्राप्त अलिफनामा पूर्ण नहीं है।

अलिफ नामा

आलोक येक देहु अनेका आदी अन्त केरी एकै एक।
इन्ह मन में ममीता मनत्यागी, आवा मेटी चरनमसी लागी।
हमजा नरहरि सुमिरन करैं, बीनु प्रयास भवसागर तरैं।
जीम जगपती ही दैये राषहु, हे हलीम होय नरहरी भाषहु।

खे खालक छाड़हु सब झूठा, दाल दयाल सुमिरिहु अनूठा ।
जाल जीव मंह राषहु प्रीती, राम सुमरु मनतजी जग चीनी ।
गाफ गुरु का सिर पर हाथ, लाम लाज तुम छोड़हु साथ ।
ऐ इयारी हरी हीये में राखहु, बड़े इआर सों सत्ये भाषहु ।

वह एक ही इस व्यक्त संसार में, अनेक रूप से दिखाई दे रहा है। मन की ममता का त्याग करके, अहं को नष्ट करके, साधक को चाहिये कि वह अपने को उसके चरणों में लगा दे। उस नरहरि का स्मरण करके, साधक बिना प्रयास ही भवसागर पार कर लेता है। जगतपती का हृदय में स्मरण करना चाहिये। इस संसार का त्याग उचित है, और उस दयालु का स्मरण ही सार है। जीव मात्र से प्रेम अभीष्ट है। राम का स्मरण, एवं जग का त्याग ही श्रेय है। संसार की मर्यादा एवं लज्जा का त्यागकर केवल गुरू की सहायता से उस परमात्मा तक पहुंचा जा सकता है। हृदय में हरि का स्मरण अभीष्ट है।

मिश्रबन्धु विनोद में, अहमद नाम के एक और कवि का उल्लेख प्राप्त होता है जिसका समय संवत् १६६६ के लगभग कहा जाता है। मिश्रबन्धुओं के कथनानुसार इनका मत सूफ़ी या वेदांतियों जैसा है। स्फुट रचनाओं के अतिरिक्त, काशी नागरी प्रचारिणी सभा को इनका 'रस विनोद नामक' एक ग्रन्थ और मिला है जिसमें विभिन्न रोगों की औषधियां लिखी हुई हैं। इसके अतिरिक्त इनका कुछ परिचय ज्ञात नहीं होता।

स्फुट दोहा

कहा करौं बैकुन्ठ लै, कल्प वृक्ष की छांह।
अहमद ढाक सुहावने, जंह प्रीतम गलबांह।

ताज़ नामक एक और कृष्णभक्त कवि का उल्लेख होता रहा है। पंडित झावरमल शर्मा का अनुमान है कि प्रसिद्ध ताज, नवाब अलफ़ खां जो कवि जान के पिता कहे जाते हैं के पितामह की सहोदरा भगिनी थी। गोविन्द गिला-भाई, इन्हें स्त्री न मान कर पुरुष मानते हैं। जान कवि के साथ इनका सम्बन्ध होने पर भी इनकी सूफ़ी विचारसम्बन्धी कोई रचना प्राप्त नहीं होती। ये प्रमुख रूप से कृष्ण भक्त थे या थीं।

अठारहवीं शताब्दी के दरिया साहब, जिनका जन्म मारवाड़ के जैतारन नामक गांव में भादों वदी अष्टमी संवत १७३२ में हुआ था, भी स्वतंत्र विचार के कवि थे। ये जाति के धुनियां थे। उन्होंने स्वयं कहा है :

'जो धुनियां तौ भी मैं राम तुम्हारा।
अधम कमीन जाति मति हीना, तुम तौ हौ सिरताज हमारा ॥'

सात साल के थे जब इनके पिता की मृत्यु हुई। रैन नाम के एक गांव में, जो मेड़ता परगने में था, इनके नाना नानी ने इनको पाला पोसा। ये पढ़े लिखे नहीं थे। ईश्वर भक्ति की पिपासा इन्हें बचपन से ही थी। कई मुल्लाओं पन्डितों से कुछ सीखना चाहा, किन्तु भक्ति रस का भेद कहीं नहीं पाया। अन्त में दरिया साहब, प्रेम जी महराज के पास पहुंचे जो एक पहुंचे हुये सन्त थे। यह खिमानसर गांव (बीकानेर राज्य) में रहते थे और दादू दयाल जी के शिष्य थे। दरिया साहब ने इन्हीं से प्रेम पन्थ सीखा।

कतिपय दरियापन्थी भक्तों का विश्वास है कि दरिया साहब महात्मा दादू दयाल के अवतार थे, उनका कहना है कि दरिया साहब के प्रकट होने से सौ वर्ष पहले यह साखी कही थी।

देह पंडतां दादू कहै, सौ बरसां इक संत।
रैन नगर में परगटै, तारै जीव अनन्त[1]।

कबीर की भांति राम, परब्रह्म एवं सतगुरु की महिमा मानते हुये भी ये इस्लाम से अधिक प्रभावित थे। इनके कुछ साखी एवं शब्द प्राप्त होते हैं। अपनी एक साखी में उन्होंने 'लाइलाही इललिल्लाह मुहम्मदउरसूललिल्लाह' की व्याख्या नवीन ढंग से करके अपने मत को स्पष्ट किया है।

साखी

ररां तौरब आप है, मामा मुहम्मद जान।
दोय हरफ में माइना, सबहीं वेद पुरान।
मतवादी जानै नहीं, ततवादी की बात।
सूरज ऊगा उल्लुआ, गिनै अंधेरी रात।

प्रेम पंथ के लिये सतगुरु की आवश्यकता है। गुरू ही राम रहीम के पन्थ पर लगाता है:

नहिं था राम रहीम का, मैं मतिहीन अजान।
दरिया सुध बुध ग्यान दे, सतगुर किया सुजान।
सोता था बहु जन्म का, सतगुर दिया जगाय।
जन दरिया गुर सब्द सौं, सब दुख गये बिलाय।

यह संसार नश्वर है। काल हिन्दू मुसलमान का भेद नहीं करता:

---

1. सन्त सुधासार: श्री वियोगीहरि।

मुसलमान हिन्दू कहा, बर दरसन रंक राव।
जन दरिया हरिनाम बिन, सब पर जम का दांव ॥

परमेश्वर का शब्द, रसना से उतरकर जब हृदय में निवास कर लेता है, तो बारहों मास प्रेम की वर्षा होती रहती है :—

रसना सेती ऊतरा, हिरदे कीया बास।
दरिया बरसा प्रेम की, षट्ऋतु बारा मास।
दरिया हिरदे राम से, जो कभु लागे मन।
लहरे उठ्टे प्रेम की, ज्यों सावन बरषा घन।

कुछ राग रागिनीयों के अन्तर्गत भी इनके पद प्राप्त होते हैं :—

राग बिहंगड़ा

राम नाम नहिं हिरदै धरा, जैसा पसुवा तैसा नरा।
पसुवा पर उद्यम कर खावै, पसुआ तो जङ्गल चर आवै।
पसुआ आवै पसुवा जाय, तो पसुवा चरै व पसुवा खाय।
रामध्यान ध्याया नहिं भाई, जनम गया पसुवा की नाईं।
राम नाम से नाहीं प्रीति, यह सबही पसुवों की रीति।
जीवत सुख-दुख में दिन भरै, मुआ पछै चौरासी परै।
जन दरिया जिन राम न ध्याया, पसुवा ही ज्यों जनम गवांया।

'मुआ पछै चौरासी परै' में जन्मान्तरवाद की भावना पाई जाती है।

प्रेम प्रकास नाम की एक पुस्तक और प्राप्त होती है जिसमें 'प्रेमी' नाम का उल्लेख कई स्थान पर आता है। ऐसा ज्ञात होता है कि ये कवि का नाम न होकर उपनाम है। इस ग्रन्थ में पहले सूफ़ी परम्परा के अनुसार खुदा एवं रसूल की वन्दना या स्तुति की गई है। मुरशीद के रूप में किसी शाह मुहीउद्दीन की प्रशंसा भी है। बहुत सम्भव है यह शाह मुहीउद्दीन चिश्ती ही हों। पुस्तक में कवित्त, छप्पय तथा दोहों के अतिरिक्त रागरागिनियों का भी समावेश है। कवि ने अपना परिचय केवल इतना ही दिया है कि मैं श्रीनगर का निवासी हूँ और 'मारहर' ऐसे नगर में आ बसा हूं जहाँ न तो साह रहते हैं न चोर। वह अपने को पुरबिया कहता है, जिसकी जात-पांत कोई नहीं पूछता। इस परिचय में अध्यात्मिक संकेत भी हो सकता है। पुस्तक का रचनाकाल वह औरङ्गजेब का शासनकाल बताता है[1]।

---

१. सूफी काव्य संग्रह : श्री परशुराम चतुर्वेदी : पृ० २५२।

दोहे

सुधि आवे जब मिन्त की, औ होत सुरत में ऐन।
मोती माला आंस की, नौछावर करें नैन॥
मन पारा तन की खरी, ध्यान ज्ञान रस मोय।
विरह अगन सू फूंक दै, निरमल कुन्दन होय॥
तुम सूरज हम दीप निस, अजुगत कहै सुनाय।
बिन देखे नाहीं रहि सकूं, देखे रहो न जाय॥

बुल्लेशाह कादिरी शत्तारी सम्प्रदाय के अनुयायी थे तथा सूफ़ी इनायतशाह को अपना पथ-प्रदर्शक पीर स्वीकार करते थे। इनका जन्म लाहौर जिले के पण्डौल नामक गांव में संवत् १७७३ में मुहम्मद दरवेश के यहाँ हुआ था। आजन्म ब्रह्मचारी रहकर कुसूर नामक स्थान में साधना करते रहे। इनकी रचनाओं में सीहर्फी,अठवारा,बारामासा, काफी, दोहरे आदि अधिक प्रसिद्ध हैं। इनकी रचनाओं का विषय अधिकांश चेतावनी से सम्बन्धित है। इनकी आलोचना बड़ी स्पष्ट एवं कटु होती है। भाषा पर पञ्जाबीपन का प्रभाव अधिक है। विरह की तीव्रता का वर्णन एक पद में उन्होंने इस प्रकार किया है :—

कद मिलसी मैं विरह सताई नूं।
आप न आवै न लिखि भेजै भट्ठि अजेही लाई नूं।
नैं जेहा कोइ हरि न जाणा, मैं तनि सूल सवाई नूं।
रात दिनैं आराम न मैंनू, खावै विरह कसाई नूं।
बुल्लेशाह धृग जीवन मेरा, जौं लग दरस दिखाई नूं।

दीन दरवेश का समय उन्नीसवीं सदी का पूर्वार्ध बताया जाता है। ये गुजरात तथा पालनपुर के अन्तर्गत रहने वाले एक साधारण लोहार थे तथा कुछ दिनों तक ईस्ट इण्डिया कम्पनी में मिस्त्री का काम भी करते थे। फौज से इनका सम्बन्ध अपांग हो जाने पर ही छूटा। एक हाथ वेकार हो जाने पर ये साधुसङ्गति में रहकर विरक्त हो गये। इन पर सूफ़ियों का विशेष प्रभाव था। अपने अन्तिम समय में काशी में आकर रहने लगे थे। ये उपदेशपूर्ण रचनायें अधिक करते थे। इनके दो ग्रन्थ 'दीन प्रकाश' एवं 'भजन भड़ाका' का उल्लेख मिलता है किन्तु वे उपलब्ध नहीं है। इन्होंने कुंडलियों की रचना भी की है।

कुण्डलियाँ

हिन्दू कहैं सो हम बड़े, मुसलमान कहैं हम्म।
एक मूंग दो फाड़ हैं, कुण जादा कुण कम्म।

कुण जादा कुण कम्म, कबी करना नहिं कजिया।
एक भगन हो राम, दूजो रैमान से रजिया।
कहे दीन दरवेश, दोय सरिता मिल सिन्धू।
सबदा साहब एक, एक मुसलमान हिन्दू।

नजीर अकबराबादी का मूल नाम शेख वली मोहम्मद तथा पिता का नाम मुहम्मद फारूख था जो दिल्ली के रहने वाले थे; किन्तु नजीर के अकबराबाद या आगरा को अपना निवास स्थान बनाने के कारण ये अकबराबादी कहलाये। इनका जन्म सन् १७४० ई० के लगभग हुआ था। इनका जन्म अमीरवंश में न होने के कारण ही सम्भवत: इनके काव्य में अत्यन्त सरलता है। ये जीविकोपार्जन के हेतु लड़कों को शिक्षा दिया करते थे, विशेषकर आगरे में माईथान मुहल्ले में सेठों और महाजनों के लड़कों को पढ़ाने जाया करते थे। जिस समय पेशवा के लड़के आगरे में नजर बन्द थे उस समय ये उन लड़कों को भी पढ़ाया करते थे [1]। इनका हृदय अत्यन्त कोमल और दयापूर्ण था। अभावग्रस्त व्यक्तियों की सहायता ये बहुधा किया करते थे। इनमें धार्मिक उदारता बहुत थी। अरबी एवं फारसी के अच्छे विद्वान थे, साथ ही बोलचाल की सीधी सादी भाषा में भी काव्य रचना करके ये अत्यन्त जनप्रिय हो गये। इन्होंने परिचित तथा नित्य संसर्ग में आने वाले विषयों पर कवितायें लिखीं हैं। तरबूज तथा ककड़ी पर लिखे गये पद तो अक्सर बेचनेवालों के मुंह से थोड़े बहुत परिवर्तित रूप में सुनने को मिल जाते हैं।

फैलन साहब ने नजीर के व्यक्तित्व तथा काव्य की बहुत प्रशंसा की है, वहीं सर जार्ज ग्रियर्सन इनके काव्य में अश्लीलत्व पाते हैं और इसी कारण उन्हें श्रेष्ठ कवि नहीं समझते [2]। नजीर की कविताओं का वह भाग जो राग सागरोद्भव, राग कल्पद्रुम में छपा है अश्लील अवश्य है किन्तु अश्लीलता का मापदन्ड भी परिस्थिति तथा सामाजिक नियमों के अनुसार परिवर्तित होता है। नजीर के समय का अधिकांश काव्य ऐसे ही चित्रों से भरपूर है जिसे अब हम अश्लील कह सकते हैं।

नजीर स्वभाव से संतोषी, विनोदप्रिय तथा विचार स्वातन्त्र्य के प्रेमी थे। अपने समय के अन्य कवियों की भाँति इन्होंने कभी किसी की खुशामद नहीं पसन्द की। धन का लोभ

---

१. कवि नजीर : रघुराजकिशोर बी. ए.

२. 'नजीर का कविता निस्संदेह एक विशेष प्रकार के पाठकों में प्रचलित है किन्तु सूरदास, तुलसीदास, मलिक मुहम्मद जायसी तथा उस समय के धुरन्धर कवियों की भाँति साधारण में ग्राह्य नहीं हुई। उनकी कविता साधारण बोलचाल में होने पर भी ऐसी अश्लील है कि उसको अंग्रेजी के शिष्ट और शिक्षा प्राप्त लोग पढ़ने के योग्य नहीं समझते।'

ग्रियर्सन, : रघुराज किशोर बी. ए. वतन : नजीर अकबराबादी।

उन्हें न था, अतः उनका जीवन पूर्ण स्वच्छन्दता से बीतता था। इस संसार में केवल प्रेम ही वास्तविक है, सौन्दर्य अस्थिर होने पर भी आराधना की वस्तु है।

ऐश कर ख़ूंबा में ऐ दिल शादमानी फिर कहां।
शादमानी गर रही, तो जिन्दगानी फिर कहां।
लज्जतें जन्नत के मेवों की बहुत होंगी वहां।
पर ये मीठी गालियां ख़ूबां की खानी फिर कहां।

नजीर सूफ़ी होते हुये भी विरहजन्य नैराश्य से दूर रहते थे। सदैव प्रसन्न चित्त रहकर ईश्वर का स्मरण करना उनकी विशेषता थी।

शाहबाज साहब, औरंगाबादी ने अपने दबिस्ताने नजीर की भूमिका में इनकी बहुत प्रशंसा की है और इन्हें समाजसुधारक तक कहा है। कवि नजीर अपने समय की जनता में खूब प्रसिद्ध थे। इन्हें लोग शाह नजीर के नाम से अब तक स्मरण करते हैं। इनका देहान्त सन् १८२० ई० के लगभग अपने निवास स्थान आगरे के ताजगंज मुहल्ले में हुआ। इनकी कब्र पर हर साल होली के दिनों में मेला लगा करता था जब लोग रतजगा करते और इनकी कवितायें गाते थे, किन्तु कुछ दिनों से यह मेला बन्द हो गया है।

कवि नजीर स्वतन्त्र विचारों के पक्षपाती तथा सूफ़ी विचारधारा से प्रभावित थे अतः इनकी रचनाओं में धार्मिक पक्षपात के दर्शन नहीं होते हैं। काली और भैरव की स्तुति भी ये उसी दृढ़ता से करते हैं जिस गम्भीरता से मुहम्मद तथा कलमे की प्रशंसा। साधारण से साधारण विषयों पर अत्यन्त प्रभावपूर्ण काव्य रचना इनकी विशेषता है। इनकी रचनायें बड़ी सजीव हैं। उनमें प्रभाव तथा स्वाभाविकता के गुण सर्वत्र व्याप्त हैं। इनका काव्य ही इनका जीवन चरित्र है, उसमें इनके व्यक्तित्व एवं गहरी स्वानुभूति की स्पष्ट छाप है। इनकी भाषा अपनी सादगी, और प्रभाव में अद्वितीय है। इनके काव्य के कुछ उदाहरण निम्नांकित हैं।

ईश्वर के विरह में आत्मा सदैव तड़पती रहती है और आश्चर्य तो यह है कि वह एक होते हुये भी अनेक में सर्वत्र वर्तमान है :

उधर उसकी निगाह का नाज से आकर पलट जाना।
उधर मुड़ना, तड़पना, गश में आना, दम उलट जाना।
ये एकताई, ये यकरंगी, तिस ऊपर यह कयामत है।
न कम होना, न बढ़ना और हजारों घट में बट जाना।

इनकी कृष्ण जन्म तथा बाल लीला की कवितायें प्रसिद्ध हैं। होली, दिवाली, राखी इत्यादि त्योहारों पर भी इन्होंने कवितायें लिखीं हैं।

प्रेम ही इस जीवन का साध्य है। इस संसार के कण में सर्वत्र वही प्रियतम झांकता दृष्टिगोचर होता है। ऐसे सर्वशक्तिमान प्रियतम के प्रेमी को भी कभी कोई अभाव या चिन्ता हो सकती है? वह तो सदैव आनन्द मगन रहता है :—

जिस सिम्त नजर देखे हैं उस दिलवर की फुलवारी है।
कहीं सब्जी की हरियाली है और कहीं फूलों की गुलपारी है।
दिन रात मगन खुश बैठे हैं, और आस उसी की भारी है।
बस आप ही वह दातारी है और आप ही वह भंडारी है।
हर आन हंसी हर आन खुशी हर वक्त अमीरी है बाबा।
जब आशिक मस्त फकीर हुये,फिर क्या दिलगीरी है बाबा॥

यह जीवन तथा इसकी चिन्तायें केवल भार हैं। जीवन की कोई वस्तु अन्तिम क्षणों में साथ नहीं देती, केवल वही परमेश्वर सबका साथी है अत: उसी का स्मरण कर।

टुक हिर्सहवा को छोड़ मियां मत देश विदेश फिरै मारा।
कज्जाक अजल का लूटे है दिन रात बजाकर नक्कारा।
क्या वधिया भैंसा वैल गुतर, क्या गोनी पल्ला सर मारा।
क्या गेहूँ चावल मोठ मटर, क्या आग धुआं और अंगारा।
सब ठाठ पड़ा रह जायगा, जब लाद चलेगा बन्जारा॥

समाधिस्थ होकर ब्रह्म में लीन हो जाने की चर्चा भी इन्होंने की है। इस छन्द में उनकी भाषा की सरलता तथा भाव की गम्भीरता दोनों ही सराहनीय हैं।

था जिसकी खातिर नाच किया जब मूरत उसकी आय गई।
कहीं आप कहा कहीं नाच कहा और तान कहीं लहराय गई।
जब छैल छबीले सुन्दर की छवि नैनों भीतर छाय गई।
एक मुरछागति सी आय गई, और जोत में जोत समाय गई।
है राग उन्हीं के रंग भरे, और भाव उन्हीं के सांचे हैं।
जो बेगत बे सुरताल हुये, बिन ताल पखावज नाचे हैं॥

प्रेमी का वतन क्या और देश क्या, धर्म क्या और स्थान क्या; सब कुछ प्रिय की प्रसन्नता पर आश्रित है।

और वतन पूंछ हमारा तो या सुन रख बाबा।
या गली दोस्त की या यार के घर आँगन।

× × × ×

जब से उस शेख के फन्दे में फँसे टूट गये।
जितने थे मजहबी मिल्लत के जहाँ में बन्धन।

नाम को पूंछे तो है नाम हमारा आशिक।
सबसे आजाद हुये यार का लेकर दामन।

× × × ×

जा पड़ें याद में उस शेख की जिस बस्ती में।
वही गोकुल है हमें, और वही बृन्दावन।

यह संसार मिथ्या है। यहाँ की सारी वस्तुओं का अस्तित्व कुछ नहीं, केवल एक वही सत्य है। यह दुनियां की पैंठ भी अजीब है। यहाँ नित्य नये होने वाले कार्य व्यापारों के मध्य भी जड़ता है। यहाँ का सौन्दर्य बाह्य है जो नष्ट हो जायगा। वास्तव में यह दुनियां केवल धोखे की टट्टी है :—

यह पैंठ अजब है दुनियां की, और क्या-क्या जिन्स इकट्टी है।
यां माल किसी का मीठा है और चीज किसी की खट्टी है।
कुछ पकता है, कुछ भुनता है, पकवान मिठाई पट्टी है।
जब देखा खूब तो आखिर को नै चूल्हा भाड़ न भट्टी है।
गुल शोर बबूला आग हवा और कीचड़ पानी मिट्टी है।
हम देख चुके इस दुनियां को यह धोखे की सी टट्टी है।

× × × ×

कोई नाज खरीदे हँसकर कोई तख्त खड़ा बनाता है।
कोई कपड़े रंगे पहने है कोई गुदड़ी ओढ़े जाता है।
कोई भाई, बाप, चच्चा, नाना कोई नाती पूत कहाता है।
जब देखा खूब तो आखिर को ना रिश्ता है ना नाता है।
गुल शोर बबूला आग हवा और कीचड़ पानी मिट्टी है।
हम देख चुके इस दुनियां को यह धोखे की सी टट्टी है।

× × × ×

कोई सेठ महाजन लाखपती बजाज कोई पंसारी है।
यां बोझ किसी का हल्का है और खेप किसी की भारी है।
क्या जाने कौन खरीदेगा और किसने जिन्स उतारी है।
जब देखा खूब तो आखिर को दल्लाल न कोई व्योपारी है।
गुल शोर बबूला आग हवा और कीचड़ पानी मिट्टी है।
हम देख चुके इस दुनिया को यह धोखे की सी टट्टी है।

हाजी वली के सम्बन्ध में केवल इतना ही ज्ञात होता है कि वे कसबा नूढ़ इलाका ग्वालियर के निवासी थे। उनका क्या समय था एवं प्रेमनामा के अतिरिक्त उन्होंने कोई और भी रचना की है, इसका कोई विवरण नहीं मिलता। मिश्रबन्धु विनोद के तृतीय भाग में 'प्रेमनामा' के रचयिता का नाम केवल हाजी दिया हुआ है। उसकी कविता के सम्बन्ध में लिखा है कि वह संवत् १६१७ के पूर्व की रही होगी किन्तु इसका कोई प्रमाण नहीं दिया है। इनकी 'प्रेमनामा' पुस्तक नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, द्वारा प्रकाशित है। रचना के आरम्भ में ईश्वर स्तुति के पश्चात् कवि ने अपने पीर सैयद मुहम्मद अबूसईद तथा अपने गुरु शेख अहमद बिन कुतुबउद्दीन का नाममात्र का परिचय दिया है।

दोहे

एक कहूँ तो एक है दोय कहूँ तो दोय।
हाजी पूजा दूर कर रहे अकेला होय॥

जो कुछ गढ़े सो आज गढ़, हाजी लागा दाव।
जनम सेराना जात है, लोहे का सा ताव॥

मुख दरपन है आसरिन, हाजी दरस अलेख।
जो तू चाहे आप को, आप - आप में देख॥

रैन अँधेरी पीउ दुख कोकिल करत कलोल।
विरहिनि जरती देखिके सरग हंसो मुख खोल॥

करीमवख्श भी बीसवीं सदी के सूफ़ी कवि ज्ञात होते हैं। ये कस्बा मानिकपुर तहसील कुन्दा जिला प्रतापगढ़ के रहने वाले थे। इनके पीर का नाम शाह मुहम्मदी अता था[1]। आत्मा की, परमात्मा की खोज तथा उसके ब्रह्म के सम्बन्ध के बारे में कवि कबीर की भाँति ही रूपक बाँधता है। यह संसार नैहर है। सती का कर्तव्य नैहर से विमुख होकर प्रियतम की सेवा करना है। आत्मा को चाहिये कि संसार का अधिक ध्यान न रखकर परमेश्वर के चिन्तन में कालयापन करे :

साखी

कैसे तुम आ नैहरवा भुलानी,
सैयां का कहना कबहुँ नहिं मानी।

---

१. हिन्दी के मुसलमान कवि।

काम कियो नित निज मनमानी,

पिया की सुधि काहे बिसराये।

गारी का तोरे हिय में समानी,

टेढ़ी चाल अजहुँ तज मूरख।

चार दिना की तव जिन्दगानी,

गुन ढङ्ग सों जो पियाको रिझावे।

करीम वही है सखी सयानी।

अब्दुल समद का नाम हजरत साह साहब, किबला मुहम्मद अब्दुल समद साहब, उर्फ रहमान खां लिखा हुआ मिलता है। इनके पूर्वम सम्भवत: अफ़गानिस्तान से आये थे। समद साहब का जन्म लगभग १८१० ई० के कोरा जहानाबाद फतेहपुर हसवा जिले में हुआ था। बचपन से ही इनमें धार्मिक भावना का उदय हुआ और ये मानव समाज की सेवा में रत रहने लगे। इन्होंने तहसील साहाबाद जिला मथुरा में एक चपरासी की नौकरी कर ली। तब इनकी उम्र केवल चौदह साल की थी। किन्तु नौकरी इनकी पूजा, उपासना एवं भजन चिन्तन में बाधक थी, अत: इन्होंने उसे शीघ्र छोड़ दिया। अब इन्होंने 'रियाज' पारम्भ कर दिया और 'तजकिय नफस' (आत्मशुद्धि) और 'तरके लज़्ज़ात' (सुखों का त्याग) करने लगे क्योंकि ये बातें खुदा की ओर बढ़ने के आवश्यक साधन हैं। इस दशा में ये केवल एक छटांक चना खाकर ही रहते थे। कुछ दिनों बाद इन्होंने जंगल में शरण ली और चिन्तन में अधिक रत रहने लगे जिसमें तरह-तरह की कठिनाइयाँ सामने आईं। इनको अब अनुभव हुआ कि दरख्त परिवरिश पा गया है केवल फल आना बाकी है। निदान आपको गुरु की तलाश हुई। टोंक के इलाके में डीक स्थान पर अमानुल्ला शाह बहुत प्रसिद्ध थे। राजा भरतपुर उनका आदर करते थे। वे केवल लाल मिर्च खाकर रहते और यदि राजा उन्हें रहने को झोपड़ी देता जला डालते और ओढ़ने को दुशाला भेजता तो फाड़ डालते। समद साहब इनसे मिले। इन्होंने बताया कि तुम्हारा स्थान दूसरी जगह है। इस उत्तर से समद साहब को बड़ी निराशा हुई और ये बेचैन रहने लगे। एक दिन ख्वाब में इन्हें एक बुजुर्ग के दर्शन हुये जिसने बताया कि उनका हिस्सा हमारे पास है। अब स्वप्न में देखे गये व्यक्ति का पता पूछना इन्होंने शुरू कर दिया। थोड़े दिन बाद किसी ने बताया कि 'पीर शाह नामदार' साहब नथियाल जिला रावलपिन्डी में हैं, जो ख्वाम के बुजुर्ग जान पड़ते हैं। इन्होंने उनके लिये दुआब से पंजाब तक की पैदल यात्रा की तथा निम्नांकित पद गाते हुये ये वहां तक जा पहुँचे।

आतिशे इश्क कु कज़ असरश

अक्ल आतिश बदफ्तर अन्दाजत।

शाम होते होते ये अपनी मंजिल पर जा पहुँचे। नामदार साहब बीमार थे। मालूम हुआ कि वे अब्दुल समद साहब की प्रतीक्षा चिरकाल से कर रहे थे और कहा करते थे कि एक दिन उनका हिन्दी बेटा अवश्य आजायेगा। आते ही उन्होंने कहा तुमने हमको बहुत इन्तजार कराया, फिर हाथ मुंह धोने की आज्ञा दी नमाज़ पढ़वाकर खिलाफत की इजाजत दी फिर वापस भेज दिया और कहा कि रास्ते में कोई बुरी खबर सुनना तो लौटना नहीं। रास्ते में अपने गुरु की मत्यु का समाचार इन्हे मिला। वापस आकर ये अतरौली जिला अलीगढ़ आये जहां मियां जी मदेह खां का मदरसा था। खां साहब से इनकी भेंट हुई और उनकी लड़की से उनका ब्याह भी यथा समय हो गया। यहीं से समद साहब को कुतुबखाने से 'नक्शबंदिया' गुरु परम्परा मिली। इनके खास मुरीद खलीफा मीर कुर्बान अली हुये जो आगरे और अलीगढ़ में सरकारी वकील थे, और उसके बाद जयपुर में मिनिस्टर हो गये। वकील साहब के परपोते इस समय भी गद्दी पर हैं। इनके पिता अनवारुर्रहमान के समय से इस शाखा में चिश्तिया सम्प्रदाय का प्रभाव हो गया था। बाबा साहब १८६३ ई० तक जीवित रहे और ५२ साल की अवस्था में हि० सन् १२८०, रविवार, ३ मुहर्रम को ११ बजे दिन में इनकी मृत्यु हो गई[1]।

अब्दुल समद साहब या बाबा साहब के दो ग्रन्थ तुहफतुल आशकीन एवं 'मंसाकुल आरफीन' प्रकाशित हैं। पहला ग्रन्थ मसनवी है दूसरा सिद्धांत प्रतिपादन के हेतु लिखा गया गद्य ग्रन्थ है। अभी हाल में एक ग्रन्थ 'मक्तुबाते समदिया' मिला है जिसमें आपके लिखे छः पत्र भिन्न व्यक्तियों के नाम हैं।

अपनी मसनवी के अन्त में इन्होंने कुछ हिन्दी के स्फुट पद भी लिखे हैं जिनका विषय हृदय को शुद्धता, एवं सरलता तथा कुर्मकाण्ड की निंदा है और साथ ही संसार की चर्चा भी है। घट में ही ब्रह्मोपासना की बात कई तरह से समझाई गई है। इन्होंने कुछ राग रागनियों के आधार पर भी पद लिखे हैं किन्तु विषय का सम्बन्ध चेतावनी एवं सिद्धान्त निरूपण से ही है। कुछ दोहरे भी लिखे हैं। एक स्थल पर वे जीव को संसार से विमुख होकर हृदय में ही परमेश्वर का ध्यान लगाने की चेतावनी देते हुये लिखते हैं।

जाग रे मूरख सोवन का है
देखतो जग में रोवन का है।
लाख बार कह्यो समझायो, ध्यान में तेरे एक ना आयो।
मुंह फाड़े धरती तो है बैठी, औरन को तो रोवत का है।
तीन तिलोक और साहब तो में ढूंढ़ी है मैमें तो में।
अंधरा मूरख देखत नाहीं, तो में बोलन का है।

---

1. इनके जीवनवृत्त में लेखिका को अब्दुल समद की शिष्य परम्परा के डा० शमशेर बहादुर समर्दी (अरबी विभाग) लखनऊ विश्व० वि० से ज्ञात हुआ।

नहनो अकरब मालिक बोला, मन करफाने याकौ खोला।
याको बूझ रे मस्ता, नाहक जन्म तू सोवत का है।

तथा

या दुनियां है रंग बिरंगी, यासे बचकर चलना रे।
जो तू आशिक सादिक मस्ता सब पर लानत करना रे।
लाख तरह से तेरे होंये, तू मत इनका होना रे।

परमेश्वर के ध्यान के हेतु स्मरण या जिक्र की महत्ता अब्दुल समद भी मानते हैं। उनके पदों से ऐसा ज्ञान होता है कि वे हठयोग की साधना से अत्यधिक प्रभावित थे, वह बाह्य पूजोपासना की अपेक्षा हृदय में परमात्मा का स्मरण उत्तम समझते थे इसके आगे इन्द्रिय संयम, जाप एवं अनहदनाद की चर्चा करने के पश्चात कवि 'सोऽहं' की चर्चा भी करता है; जिस प्रकार 'फ़ना' के बाद 'बका' की अवस्था में साधक परमेश्वर में ही स्थित हो जाता है उसी प्रकार अनहद नाद जब न सुनाई दे तब एक 'वही' अवशेष रह जाता है।

अजपा जाप जपे जो भाई, हर का दरसन वेग वह पाई।
पहले ध्यान तिहुकुई बांधे, ओउम कंवल में चित्त सो साधे।

× × ×

जेते तकत बिलाई मूसा, ऐसे ताक लगाई।
अगिनि की चन्द्रा ऊयें, चांद सुरज ये दो डूवे।
सुन्दर मूरत शब्द ज्ञान की, अनहद साध सुनाई।
अनहद मिटी ज्ञान मिट जावे, सोऽहं पूरन जब फिर जावे।
या से आगे कहा कहीं मस्ता, एक ही एक लखाई।

सच्चे साधक की कोई जातिपांति नहीं होती। वह जाति वर्ण से परे केवल उस परमसत्ता का उपासक होता है :—

ना हम हिन्दू ना हम तुर्का, ना हम बालक ना हम पुर्खा।
सब में हम हैं सब हैं मो मे, जो जाने सो पूरे गुरका।

अब्दुल समद बाह्य पूजापासना के भी विरोधी थे। उन्होंने पंडित जोगी, गोसाई शाह एवं मुल्लाओं के कर्मकाण्ड का विरोध किया है। वाह्याडम्बर से हृदय शुद्धि नही होती, और यदि हृदय शुद्ध न हुआ तो साधना व्यर्थ है। ऐसी ही भावनाओं को व्यक्त करते हुये रनमस्त खां लिखते हैं :—

अपनी कथा जाने नहीं, पंडित हुआ तो क्या हुआ।
जोगी गोसाइं सेवड़े, कपड़े रंगे हैं गेरुये।

मन को तो रंगते ही नहीं, कपड़े रंगे तो क्या हुआ।
शैली व अलफी डालके बन बैठे होंगे शाह जी
दिल का कुफ्र तोड़ा नहीं जो शाह हुये तो क्या हुआ।
ठाकुर द्वारे जाये के पूजै सभी हैं मूरतें।
कर में तो हर जाना नहीं पूजा किया तो क्या किया।
जो पाठ पूजा करते हैं और नाम पाया गुरु का
उस गुर से तो महरम नहीं जो गुर हुये तो क्या हुआ।
चिल्ले में बैठे जायके और मन फिरे है सब कहीं।
पर दिल तो चिल्ले में नहीं जो तन हुआ तो क्या हुआ।
भंगे शरावें पीवते चिलमें उड़ती चरस की
पर वह नशा पिया नहीं भंगड़ हुआ तो क्या हुआ।
ठठरी बांकी है सिपाह, लड़ते हैं सब जा जाय के।
घर का तो ठग मारा नहीं बांका हुआ तो क्या हुआ।
पढ़कर किताबें बहुत सी कहता फिरे है और को
हक्कुल यकीं जाना नहीं आलिम हुआ तो क्या हुआ।

कवि ने नक्शवंदिया एवं चिश्तिया सम्प्रदाय के सिद्धान्तों की चर्चा भी एक स्थल पर की है। नक्शबंदिया सिद्धान्त में ईश्वर की सर्वव्यापकता तथा चिश्तिया में योग साधना की प्रधानता लक्षित होती है :

दर सुलूके तरीके नक्शबंदिया
हर-हर करे और गुरु को देखे, उसको मिलता प्यारा है।
नाम निरंजन का सुख दीजे, ध्यान करौ मधवारा है।
पाक रसूल का आशिक होवे, वही सुख मतवारा है।
अलख लिखे और सबको मेटे, उसने ज्ञान संवारा है।
पट भीतर के चित्र से खोले, फिर क्या साहब न्यारा है।
क्या ही अचरज देखो साधू, बूंद में समुन्द्र समाया है।
जो कोई इसको पी जाये मस्ता वही गुरु हमारा है।

चिश्तिया समप्रदाय की साधना के सम्बन्ध में कवि लिखता है :

क्या ही मज़ा है साधू, अनहद बाजा बजता है।
इस अनहद में लाखों बाजे, इसको कोई न सुनता है।
इस अनहद को जो कोई सुनले रय्यत से शाह बनता है।
पहले दिल में चन्दा ऊभै जगजग जगजग करता है।
उसके अन्दर है एक मूरत विरला कोई लखता है।
सब हैं मस्ता दिल के अन्दर गुरु से सीखो इसका मन्तर।
बिना गुरु में ज्ञान न आवे, निगुरा सिर को धुनता है।

इस प्रकार कवि गुरु के ममत्व को भी सर्वत्र मानता है।

अहं और परमात्मा इन दो का अस्तित्व एक साथ नहीं रह सकता। जब 'मैं' रहता है तब 'वह' नहीं जब 'वह' रहता है तब 'मैं' का विनाश हो जाता है।

मोहन मेरा है नियरे, हर देखन में नहीं आवे रे।
हर आवे हम जावे साधू, हम आवें हर जावे रे।
मस्ता ऐसे आवागमन में देखन कहां से पावे रे॥

शिवसिंह ने अपने ग्रन्थ 'सरोज' में वजहन का नाम निर्देश करके रचनाओं के उदाहरण स्वरूप केवल एक दोहा दे दिया है। इसी प्रकार मिश्रबंधु विनोद के तीसरे भाग में इनका नाम लिखकर नीचे केवल साधारण श्रेणी लिख दिया गया है। नवल किशोर प्रेस से प्रकाशित फारसी के एक संग्रह में इनका 'अलिफबाये' नामक एक ग्रन्थ मिलता है। इसमें दो अर्धालियों के बाद एक दोहे का क्रम रचना के अन्त तक निवाहा गया है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा के संग्रहालय में इनका एक ग्रन्थ 'वजहननामा' भी उपलब्ध है जिसमें सिद्धान्तकथन एवं उपदेश ही प्रधान है। सम्भवतः ये दोनों ग्रन्थ एक ही हैं।

वजहननामा के आरम्भ में एक और दोहा 'संबत वीनइसै वर्ष तैंतालिस दिन मान। चैत कुदी दसवीं को लिखी भक्ति हेतु कर ज्ञान।' प्राप्त होता है। इस दोहे में वजहन नामा के रचनाकाल की अपेक्षा ग्रन्थ के प्रतिलिपिकाल का ही परिचय मिलना संभव है क्योंकि वजहन का स्थितिकाल सत्रहवीं शताब्दी निश्चित होता है। 'दक्खिनी हिन्दी' के लेखकों में वजहन का स्थान महत्वपूर्ण है। उन्हें गद्य और पद्य, दोनों में समान रूप से सफलता प्राप्त हुई है। जिन दिनों गोलकुण्डा में इब्राहीम कुली कुतुबशाह का शासन था, वजहन ने कविता लिखना आरम्भ किया। वजहन ने सन् १६३६ में अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सबरस' समाप्त किया जो उस समय तक लिखे गये हिन्दी गद्य का श्रेष्ठतम उदाहरण है। अब्दुल्ला कुतुबशाह के समय आप अपनी कीर्ति के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचे। मुहम्मद कुली कुतुबशाह के समय भी ये जीवित थे। कुतुबशाही वंश के लगातार तीन नरेशों के यहां इनको प्रशंसा मिलती रही मुहम्मद कुली कुतुबशाह पर इन्होंने 'कुतुबमुश्तरी' नामक मसनवी लिखी है, जिससे उस समय के रीति रिवाजों और स्थिति का परिचय मिल सकता है। वजहन फारसी एवं अरबी के विद्वान थे। उन्होंने सूफी ग्रन्थों के साथ साथ वेदान्त दर्शन का भी अच्छा अध्ययन किया था। हिन्दी का ज्ञान भी उन्हें था। हिन्दी भाषी क्षेत्र के मुहाविरों का प्रयोग भी इन्होंने किया है। अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए वजहन ने स्थान स्थान पर सूक्तियों एवं मुहाविरों का प्रयोग किया है। 'वजहन नामा' या 'रिसालये अलिफ बाये' की रचना अरबी वर्णाक्षरक्रम से हुई है। अरबी में अलिफ की एक दूसरी आकृति भी है किन्तु वजहन ने उसे छोड़ दिया है। कवि वजहन के जीवन परिचय के सम्बन्ध में यह जानकारी सेप्टेम्बर अंक १९५३ ई० की हैदराबाद से प्रकाशित 'अजन्ता' नामक पत्रिका से प्राप्त होती है।

इस पत्रिका में 'वजहन का रिसाला अलिफ बे' शीर्षक निबन्ध गवर्नमेन्ट कालेज गुलबर्गा के श्री रामशर्मा जी ने लिखा था।

श्री शर्मा जी ने कवि को दक्खिनी हिन्दी का कवि माना है, किन्तु 'वजहननामा' में खड़ी बोली हिन्दी, ब्रजभाषा एवं कहीं-कहीं अवधी के शब्दों का भी प्रयोग है। प्रचलित मुहावरों के प्रयोग में भी कवि बहुत पटु है। कुछ उद्धरण उनके विचारों को स्पष्ट कर सकेंगे। 'वह परमेश्वर एक है किन्तु अनेक रूप धारण करके विभिन्न स्वरूपों में प्रकट हो रहा है। वजहन कुछ कह सकने में असमर्थ है। समुद्र बूंद में समाया है यह अत्यन्त आश्चर्यजनक होते हुये भी सत्य है।'

अलिफ एक बहुरंगी साई, हर घट में वाकी परछाहीं।
जहाँ देखो तहाँ रूप है न्यारा, ऐसा है बहुरंगी प्यारा॥
वजहन कहैं तो क्या कहै, कहने की नहिं बात।
सिन्धु समानी बिन्दु में अचरज बड़ा देषात॥

अन्य सूफियों की भाँति वजहन भी गुरु का महत्व मानते हैं। प्रेम मार्ग में प्रवेश करने के पूर्व साधक को गुरु-दीक्षा ले लेना आवश्यक है। यदि साधक गुरु विहीन है तो चाहे वह धरती से लेकर आकाश तक यत्न करे, उसे सिद्धि नहीं मिलती। गुरु विहीन साधक स्वार्थ और परमार्थ दोनों से हाथ धो बैठता है।

बे बिनु गुरु कोइ भेद न पावैं, धरती से अकास को धावै।
पहिले प्रीत गुरु से करै, प्रेम डगर में तब पगु धरै॥
बिनु गुरु वजहन जो कोई लेत है बसन रंगाय।
यह तुम निस्चय जानियो तो दोउ ओर से जाय॥

'स्वामी का रूप अद्भुत है, उसके रूप का दर्शन वही कर पाता है जो इन्द्रिय दमन कर लेता है। यदि योग सफल हो गया तो 'अनहद नाद' या आनन्द प्रदान करने वाला बाजा बजता है। साधक सिद्धि प्राप्त करता है। इस तन में सभी साज बजते एवं सभी राग सुनाई देते हैं। कोई विरला ही इस नाद को सुन पाता है, उसके भाग्य धन्य हैं।

पे पाविन्द का रूप है न्यारा, मूंद देव तू दशौ दुआरा।
सुन परिहै अनन्द का बाजा, परजा से होइ जइहै राजा॥

सभी साज तन में बजै, ऐसी मची है राग।
वजहन जाको सुन परै, बड़े हैं वाके भाग॥

इसके अतिरिक्त 'अल्लानामा' नाम की एक अज्ञात कवि की रचना प्राप्त होती है। यह रचना मसनवी के ढंग पर लिखी गई है, इसमें अल्लाह के नामस्मरण का उपदेश दिया गया है। कवि ने इस तथ्य को कई प्रकार से स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

जग फानूस की शकल बनाया, आपको चातर होय जताया ॥
हाथी - घोड़े वामें बनाये, दीपक बल सब सैर दिखाये ॥
जब दीपक हो वामें आया, वह मन्दिर सब जग को भाया ॥
दीपक हो जब आया अन्दर, सूझे तारे सूरज अन्दर ॥
जब लग दीपक वामें रहे, हँसी खुसी जग वाको कहे ॥
जब दीपक फानूस से जाये, काहू को फानूस न भावे ॥
कहीं बुलबुल कही फूल होआया, कई भांत अपनारूप दिखाया ॥
कही लैली कहीं मजनू हुआ, कहीं कली कहीं मधुबन हुआ ॥
कहीं रोवे कहीं खिलखिल हँसे, वह प्यारा कई रंग में बसे ॥
कहीं अल्ला कहीं राम कहाया, कहीं बन्दा पूजन आया ॥
आप ही गंग में नीर बहाया; फिर सेवक हो पूजन आया ॥
आप अनलहक आप पुकारा, किया बदनाम मंसूर बिचारा ॥
फिर काजी हो कायल कीना, और वाको सूली पर दीना ॥
कौन चढ़ा औ कौन चढ़ाया, आपही यह कई रूप में आया ॥

(यह सारा संसार फानूस के समान है जिसमें चारों ओर तरह तरह के आकार बने हुये हैं। उसके मध्य परमात्मा दीपक रूप में स्थित है। जब तक यह तत्व उसमें वर्तमान रहता है फानूस की शोभा है। दीपक ही, परमात्मा ही इस जगत की शोभा है। इस संसार में एक उसी की व्याप्ति है। फूल एवं बुलबुल में उपवन और कली में प्रिय और प्रेमी में, एक उसी के दर्शन होते हैं। राम और रहीम एक ही है, वह स्वयं ही उपासक एवं उपास्य भी है। भिन्न रूपों में वही अवस्थित है।)

काशी नागरी प्रचारिणी सभा के संग्रहालय में सरमद एवं शाह फ़कीर के कुछ बैत एवं पद प्राप्त होते हैं।

बैत सरमद की 'दया गुरु'

नागाह मषफीगञ्ज से हरफान का सोहरा हुआ ॥
याने जिमी पैदा हुई और आसमां वरपा हुआ ॥
हमभी अदमसे चौंक उठे हस्ती का जब गौगा हुआ ॥
कि समन का दफ्तर खा हुआ कोई गदा कोई साह हुआ ॥
गर यो हुआ तो क्या हुआ गर वो हुआ तो क्या हुआ ॥ १ ॥

कोई इसवी कोई मूसवी कोई चिस्ती के है दीन में ॥
कोई राफू जी कोई षार जी कोई कुफ्र के आइन में ॥
हादी नेह मसके हिदी आ, पहिले दि सब तलकीन में ॥
नैरंग का जिलवा है सबईस आलमे रंगीन में ॥
गर यो हुआ तो क्या हुआ गर वो हुआ तो क्या हुआ ॥ २ ॥

मुद्दत तलक पढ़ते रहे हम दरसले कुराश्रान का ॥
ईसलोक हमको याद था गीता का और कुछ ज्ञान का ॥
यहाँ नेम है और धर्म हैं वहाँ जीक्र है ईमान का ॥
जो गौर करके देषिये सब दीद है पहिचान का ॥
गर यो हुआ तो क्या हुआ गर वो हुआ तो क्या हुआ ॥ ३ ॥

कोई सलानो सौम में मसगुल सुवा औ साम है ॥
कितनों को तसवी है षुदा कितनो के सुमरन राम है ॥
कोई पड़ाव हमस्त है और षल्क में बदनाम है ॥
जो गौर करके देखिये दोनों का एक अञ्जाम है ॥
गर यो हुआ तो क्या हुआ गर वो हुआ तो क्या हुआ ॥ ४ ॥

इस आलमे रंगी से ती आजादगी उमेदकर ॥
मुह्लद नवा अब हो अगर उसकी तू मत तकलीद कर ॥
तू इस फलक की सैर में फिखाक की उमेद कर ॥
आजादगी मंजूर है कमकर तमासा दीद कर ॥
गर यो हुआ तो क्या हुआ गर वो हुआ सो क्या हुआ ॥ ५ ॥

अब उदा मन चल निकल उलझावे से फिर काम क्या ॥
फिराउन और रहामं हुआ ईसकाम में आराम क्या ॥
मन से दुई जब दूर की फिर कुफ्र और ईसलाम क्या ॥
जब हक उजाग्र हो गया अल्लाह और फिर राम क्या ॥
गर यो हुआ तो क्या हुआ गर वो हुआ तो क्या हुआ ॥ ६ ॥

इसी प्रकार अपनी अन्य वैनों में भी कवि ने परमात्मा एवं संसार की सत्ता का विवेचन किया है। यह संसार उसी का प्रतिबिम्ब है और परमात्मा एक है। जो जिस मार्ग का अनुयायी है उसकी मुक्ति उसी मार्ग से होती है। यदि परमतत्व का ज्ञान साधक को हो गया है तो फिर राम और रहीम के विवाद में पड़ना अभीष्ट नहीं है। साध्य तो केवल उसके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान है यदि वह उपलब्ध हो गया तो फिर धर्म और सम्प्रदाय के चक्कर में पड़ना श्रेय नहीं है। इस प्रकार कवि अपनी उदारता का परिचय देता है।

शाह फ़क़ीर के कुछ पद नागरी प्रचारिणी सभा के संग्रहालय में मिलते हैं किन्तु उनके जीवन चरित्र के बारे में कुछ सूचना नहीं मिलती।

साह फकीर 'जीव की' राग काफी

नदीआ जोरव होरी में कैसे के उतरब पार।
नाहीं मोरे नइया नहीं मोरे भइया न मोरे खेवनी हार।

मुरनी नीरनी सो मृतु बनायो येही वीथी उतरो पार।
नाभी कमल ते पवन चलावहु, मन लगावहु त्रीगुनी द्वार।
एह मत मेडुक जाने कोइ रहनी बहिग्रम सार।
जोर जो जमुना अनिहि मश्रावनी पनीश्रा बहन न थीर।
बीना नावरी बीना पावरी उतरे साहब फकीर।

हिन्दी का सूफ़ी स्फुट साहित्य अभी अधिक प्राप्त नहीं हो सका है, यद्यपि बहुत संभव है कि सूफी प्रेमाख्यानों की अपेक्षा मुक्तक काव्य की रचना अधिक हुई हो। विविध साहित्य के अन्तर्गत विषयगत विभेद होते हुये भी कवियों ने विभिन्न प्रकार के छन्दों का प्रयोग नहीं किया है। अधिकांश प्रयुक्त छन्द, साखी, शब्द, पद, कुंडलियां, दोहे, सीहर्फी, बारहमाह, अठवारा, एवं फारसी वजनों पर लिखे गये पद हैं।

जानकवि को छोड़कर, जिन्होंने चेतावनी, आलोचना एवं सिद्धान्त निरूपण के अतिरिक्त काव्य शास्त्र सम्बन्धी, शुद्ध प्रेम सम्बन्धी, बहुज्ञता सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना भी की है, लगभग सभी कवियों ने सिद्धान्त निरूपणात्मक, चेतावनी एवं उपदेशात्मक, रचनायें ही की हैं। इन सूफी कवियों ने भी कर्मकांड एवं झूठे प्रदर्शन की निन्दा की है, किन्तु वह कबीर की भांति कटु नहीं है।

भाषा का बहुविध प्रयोग सूफी विविध काव्य में मिलता है, क्योंकि अधिकांश स्फुट काव्य गुरुओं और शिष्यों के मौखिक कथन में स्थान पाता रहा है, अतः वक्ता की प्रादेशिक बोलियों का उस पर प्रभाव पड़ा है, साथ ही, संग्रहकर्ता की बोली का प्रभाव पड़ना भी स्वाभाविक था, अतः इस भाषा परिवर्तन के बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। अवधी, ब्रज, पंजाबी मिश्रित खड़ी बोली का पूर्वस्वरूप एवं राजस्थानी से प्रभावित ब्रज का ही अधिक प्रयोग सूफ़ी काव्य में हुआ है।

भाषा, छन्द एवं विषय की विविधता एवं व्यापकता देखते हुये सूफी विविध साहित्य अपना पृथक महत्व रखता है।

१५

सूफ़ी कवियों की देन

सूफ़ी प्रेमाख्यानों के आधार पर चौदहवीं से बीसवीं शताब्दी तक की साहित्यिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और सामाजिक प्रवृत्तियों का अध्ययन सुगमता से किया जा सकता है।

एक ओर जहां इन काव्यों में लोक गीतों के तत्व सुरक्षित हैं वही दूसरी ओर साहित्यिक परम्परायें भी। लोक गीतों की सामान्य प्रवृत्तियां, जैसे प्रेमी को पाने के लिये नायक अथवा नायिका का प्राणप्रण से प्रयत्न करना और अनेक बाधाओं के रहते हुये भी प्रेम के उल्लास में मग्न रहना, वीरत्व की प्रशंसा, आश्चर्य तत्वों में विश्वास, पहेलियां सुलझाना, पुनर्जन्म एवं भाग्य पर विश्वास, व्यक्ति के अनेक सम्बन्धों की चर्चा, कहानी में उपदेश का निहित होना, पशुपक्षियों द्वारा मानवहित संपादन आदि तत्वों का समावेश सूफ़ी काव्य में है। रस चर्चा, सादृश्य मूलक अलंकारों का प्रयोग, प्रकृति चित्रण, वर्णन प्रियता, काव्य शास्त्र सम्बन्धी चर्चा, भूगोल, ज्योतिष, वैद्यक सम्बन्धी ज्ञान इन कवियों की रचनाओं को साहित्यिक श्रेणी में ला देता है। अपभ्रंश के चरितकाव्यों की परम्परायें इन प्रेमाख्यानों में सुरक्षित हैं।

प्रत्येक प्रबन्ध में एक प्रधान प्रेमकथा अवश्य है। प्रेम, विवाह के पूर्व गुणश्रवण, चित्रदर्शन, साक्षात दर्शन या स्वप्न दर्शन से उद्भूत होता है। सिंहलयात्रा या उसके अभाव में किसी अन्य यात्रा का वर्णन अवश्य रहता है, लौकिक कथाओं में अध्यात्मिक तत्व निहित रहता है। इनके अतिरिक्त अपभ्रंश के चरित काव्यों से इन कथाओं का साम्य, किसी हाथी या राक्षस से सुन्दरी को छुड़ाने, उजाड़नगर या वन में किसी सुन्दरी से साक्षात्कार, नायिका चित्र-निर्माण, पशुपक्षियों का मनुष्य की बोली में बोलना एवं उनकी भाषा समझना, नायक नायिका के मिलन में अधिकांश शुक का योग इत्यादि रूढ़ियाँ भी हैं।

इन कवियों ने अपने प्रेमाख्यानों में लोककथाओं को प्रश्रय दिया है। एक ओर जहां प्रबन्ध काव्य की भांति इन कथाओं का विस्तार एवं सम्बन्ध निर्वाह है, वहीं मसनवी काव्य शैली की भांति इन कवियों ने अपनी कथा का विभाजन भी किया है। कथा

निरन्तर एक गति से चलती रहती है, बीच बीच में घटनाओं का उल्लेख हो जाता है। कथा में गतिशीलता बनाये रखने के लिए कवि शुक, परी या किसी सन्त के अनुग्रह की अपेक्षा रखता है। महाकाव्य में रसचर्चा की दृष्टि से काल्पनिक कथानक को प्रश्रय नहीं दिया जाता है, किन्तु इन कवियों ने काल्पनिक कथानक को भी वह विस्तार एवं रमणीयता प्रदान की है कि कथानक प्रबन्धकाव्य के अनुकूल हो गया है। ग्रन्थों के घटना एवं वर्णन प्रधान होने के कारण दृश्य-काव्य की भाँति चमत्कार भी वर्तमान रहता है।

कवियों ने चमत्कार एवं कथा में कौतूहल को निरन्तर बनाये रखने के लिये कुछ आश्चर्य तत्वों की योजना भी की है जिनमें परी, पशु (हाथी,अश्व) पक्षी (तोता, गरुड़, हुदहुद), वनमानुष, अजगर, देव, दानव, चुड़ैल आदि प्रधान हैं। ये पशु, पक्षी, देव, दानव आदि मनुष्य की भाषा बोलते एवं समझते हैं। कहीं पर इनका सहायक और कहीं विरोधी स्वरूप प्रकट होता है। इन आश्चर्य तत्वों की योजना में भी कवि ने भारतीय भौगोलिक एवं सांस्कृतिक विवरणों का ध्यान रक्खा है। एक ओर जहाँ इन आश्चर्य तत्वों की योजना से कथा में कुतूहल एवं जिज्ञासा की वृद्धि होती है, वहीं दूसरी ओर कहानी को लोककथा का स्वरूप प्राप्त होता है।

सूफी कवियों ने लोककथाओं का वर्णन करके मौलिक-कथा-परम्परा को नष्ट होने से बचा लिया।

अपनी प्रेम कहानियों को, बोलचाल की भाषा में कहने के कारण, इन्होंने हिन्दी साहित्य की भी अभिवृद्धि की। प्रान्तीय एवं प्रादेशिक बोलियों में काव्य रचना करके, इन कवियों ने हिन्दी के बोली साहित्य को पुष्ट किया है। सिन्ध में प्रचार करने वाले कवियों ने सिन्धी, पंजाब में पंजाबी, बंगाल में बंगाली एवं दक्खिन में दक्खिनी हिन्दी में रचना की। हिन्दी में काव्य रचना करने वाले सूफ़ियों ने अवधी, व्रज, खड़ी बोली, राजस्थानी एवं व्रज-मिश्रित अवधी आदि ठेठ बोलियों में काव्य रचना की। ये कवि साहित्यिक परम्पराओं से भी अवगत थे यही कारण है कि इनके काव्य में साहित्यिक पुट भी पाया जाता है। कुछ कवियों ने तो अपनी काव्यशास्त्र सम्बन्धी योग्यता का परिचय तत्सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना में दिया है, जान कवि एवं नूरमुहम्मद ने अपनी बहुज्ञता एवं साहित्यिक ज्ञान का परिचय संस्कृत मिश्रित साहित्यिक भाषा के प्रयोग में दिया है। लोकभाषा या जनभाषा का समादर करने वाले इन कवियों का साहित्य में विशिष्ट स्थान है। लोक भाषा की मान्यता के सम्बन्ध में 'प्रेमचिनगारी' में एक स्पष्ट उल्लेख है :—

हिन्दी भाषा में करै, हिन्दी जाप हमार।
सिन्धी करै सिन्धि में, सुमिरन मोर सुधार॥

जनता में प्रचलित कथाओं को उन्हीं की ठेठ भाषा में कहकर इन कवियों ने अपना जन-कवि होना सिद्ध कर दिया है।

सूफ़ी प्रेमाख्यानों के अतिरिक्त जो भारतीय प्रेमाख्यान परम्परा है उसमें प्रेम के लौकिक स्वरूप के दर्शन होते हैं। यही कारण है कि हम ऐसे ग्रन्थों की गणना शुद्ध प्रेमाख्यानों की कोटि में करते हैं, किन्तु सूफ़ी कवियों के प्रेमाख्यानों में एक अध्यात्मिक अर्थ भी व्यंजित रहता है। कथानक एवं उसका संगठन, लौकिक प्रेमप्रबन्धों की भाँति ही है किन्तु ग्रन्थ-रचना का उद्देश्य अलौकिक तत्व की व्यंजना है। कवि लौकिक प्रेम-वर्णन के द्वारा अलौकिक प्रेम की प्रतिष्ठा करना चाहता है। इन काव्यों में वर्णित लौकिक-प्रेम अलौकिक-प्रेम का सोपान है। वह विषम से सम की ओर अग्रसर होता है। इसी कारण इन काव्यों को हम अन्यापदेशिक, या उपमिति कथाओं के अन्तर्गत लेते हैं, इस प्रकार सूफ़ी कवियों ने अपने प्रेमाख्यानों के द्वारा हिन्दी प्रेमाख्यान साहित्य के एक नवीन स्वरूप की पुष्टि की।

सूफ़ियों ने केवल उपमिति कथाओं की ही रचना नहीं की है। उनके साहित्य को देख कर स्पष्ट हो जाता है कि इन्होंने हिन्दी साहित्य का संवर्द्धन एवं विकास कई क्षेत्रों में किया है। उपमिति कथाओं के अतिरिक्त सूफ़ियों के स्वतन्त्र एवं भावमूलक प्रेमाख्यान भी प्राप्त होते हैं जिनमें किसी एक भाव की व्यंजना एवं स्थापना ही कवि को अभीष्ट है। ऐसे प्रेमाख्यानों के अन्तर्गत हम कथा सतवन्ती, कथा सीलवन्ती, कथा कुलवन्ती आदि ले सकते हैं।

इन कवियों ने प्रेम के भव्य स्वरूप का ही चित्रण अधिकांश किया है, किन्तु कहीं कहीं इनमें व्यभिचार मूलक प्रेम की भी व्यंजना है यद्यपि कवि का उद्देश्य उसमें भी सत्पक्ष की विजय दिखाना है। 'कथा निरमलदे' में ऐसे ही प्रेम का वर्णन है। विजय निरमलदे के सतीत्व की ही होती है जिसके प्रभाव में आकर नायक को अपनी वासना का परिष्कार करना पड़ता है।

इन स्वतन्त्र एवं भावमूलक प्रेमाख्यानों के अतिरिक्त सूफ़ी साहित्य में उन स्फुट दोहों, चौपाइयों एवं पदों का महत्व है जिनमें कवि ने वर्णमाला के क्रम पर सिद्धान्त निरूपण का प्रयास किया है। जान कवि का वर्णनामा, यारी साहब का अलिफ़नामा, वजहन का अलिफवाए या वजहननामा तथा शाहनजफअली सलोनी की अखरावटी ऐसी ही कृतियों के अन्तर्गत आती हैं। इस प्रकार सिद्धान्तनिरूपण के लिये इन सूफ़ी कवियों ने एक नवीन शैली प्रारम्भ की जो हिन्दी साहित्य को इनकी मौलिक देन है।

प्रबन्ध काव्यों में लोक गीतों के तत्वों के समावेश के अतिरिक्त, इन सूफ़ी कवियों ने विभिन्न राग-रागनियों के आधार पर कुछ गीतों की रचना भी की है। अलीमुराद इस कला में विशेष पटु थे। उनके होरी, बसन्त और मल्हार प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। इन गीतों में भी कवि ने अध्यात्मिक तथ्यों का उद्घाटन किया है। इसी परम्परा में हम इन कवियों के द्वारा लिखे गये बारहमासा आदि ले सकते हैं। लोक-गीतों की इस परम्परा को बनाये रखकर, सूफ़ी कवियों ने निस्सन्देह हिन्दी साहित्य की अभिवृद्धि की है।

इन कवियों की काव्यशास्त्र सम्बन्धी रचनायें भी मिलती हैं। विरह, प्रेम एवं संयोग के विभिन्न स्वरूपों पर भी इन कवियों ने लेखनी उठाई है। ग्रन्थ 'वियोग सागर' जान कवि का संग्रह ग्रन्थ है।

जान कवि ने बहुज्ञता प्रदर्शनार्थ बाजनामा, कबूतरनामा, गूढ़ग्रन्थ बांदीनामा, देसावली एवं पाहनपरीक्षा आदि ग्रन्थों की रचना भी की है।

इसके अतिरिक्त ऐसे स्फुट पद एवं दोहे प्रचुरता से उपलब्ध होते हैं जिनमें संसार की निस्सारता, गुरु की वन्दना, जीवन का लक्ष्य, निर्गुण या निराकार की उपासना आदि विषयों पर विचार प्रकट किये गये हैं।

सूफ़ी साहित्य में विषयगत विभिन्नता होते हुये भी विभिन्न काव्य-शैलियों का प्रयोग नहीं हुआ है। सूफ़ी प्रेमाख्यान लगभग सभी दोहे चौपाई, चौपाई बरवै, दोहा चौपई के छन्द क्रम पर लिखे गये हैं जिनमें भारतीय प्रबन्धकाव्य एवं फ़ारसी की मसनवी काव्य शैली का मिला जुला रूप द्रष्टव्य है।

इस प्रकार सूफ़ी कवियों ने लोक कथाओं एवं लोक गीतों की लोक भाषा में रचना करके जहाँ अपने जन कवि होने का परिचय दिया है वहीं समय के साथ बदलते हुये काव्य विषयों पर लेखनी उठाकर अपनी सजगता का परिचय भी दिया है। कवि जान ने रीतिकालीन, अलफ़नामा, बांदीनामा आदि से लेकर पाण्डित्यप्रदर्शनार्थ भावसति आदि की भी रचना की है। उसकी भाषा पर तत्कालीन साहित्यिक ब्रज भाषा का प्रचुर प्रभाव है; इसी प्रकार कवि निसार के षटऋतु वर्णन में कवित्त एवं ब्रजभाषा का प्रयोग, तत्कालीन साहित्यिक प्रभाव को सूचित करता है।

'भाषा प्रेमरस' के रचयिता शेखरहीम ने प्रेमकथा के साथ-ही-साथ गांधी युग की अहिंसा एवं सत्य प्रेम का उपदेश भी दिया है। उसके विचार से किसी भी धर्म का अनुयायी होकर मनुष्य सदाशय रह सकता है क्योंकि सत्यप्रेम, दया और धर्म ही मनुष्यत्व का द्योतक है। मनुष्य को बाह्य क्रिया कलाप से दूर रहना चाहिये।

समय की गति विधि के प्रति उनकी यह जागरुकता उनके ग्रन्थों को साम्प्रदायिकता से ऊपर उठा देती है।

इन कवियों ने अपने ग्रन्थों में भारतीय संस्कृति के मूलस्तम्भ सामाजिक लोकाचारों की सम्यक् अभिव्यञ्जना की है। इनकी लोकदृष्टि सचेत थी। जीवन के विभिन्न पक्षों के सजीव चित्र इनके काव्य में मिलते हैं। व्यक्तिगत जीवन के अतिरिक्त माता, पिता, भगिनी के प्रति व्यक्ति के कर्तव्य एवं उनका निर्वाह, परम प्रेम की महत्ता, नारियों का समाज में स्थान, उनकी शिक्षा, विवाह संस्कार एवं उनकी पवित्रता, विभिन्न त्यौहार एवं उत्सव, जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त के विभिन्न संस्कार, मनोविनोद के साधन, लोकगीतों के स्वरूप आदि का यथास्थान विवरण इन काव्यों में उपलब्ध होता है। उपासना के दृष्टिकोण से सामाजिक जीवन में समता की स्थापना, जो उस समय की बड़ी विशेषता है, का परिचय भी इनके काव्यों में मिलता है।

कुछ धार्मिक विश्वासों एवं अंधविश्वासों का भी विवरण इन प्रबन्धों में है। हठयोगियों के समाज पर कुप्रभाव की चर्चा भी है तथा साथ ही जन्त्र मन्त्र, जादू, टोना, आदि के विश्वासों का भी वर्णन है।

रीतिकालीन उन्मुक्त वातावरण के बीच भी ये कवि सामाजिक पक्ष को नहीं भूले हैं। लोक मर्यादा और आदर्शमय जीवन का दृष्टिकोण सामाजिक क्षेत्र में इन कवियों की सबसे बड़ी देन है।

भारत और इस्लाम के सम्पर्क होने पर दो विरोधी संस्कृतियों का संघर्ष हुआ। अन्य संस्कृतियों की भाँति मुस्लिम संस्कृति का भारतीय संस्कृति में खप जाना सम्भव न था। कर्मकाण्ड एवं बाह्य पूजोपासना के विधानों को अत्यधिक महत्व देने के कारण भारतीय संस्कृति की समन्वयवादिनी प्रवृत्ति क्षीणप्राय थी। ऐसे समय में सन्त कवियों ने बुद्धिवादिता के सहारे खण्डन-मण्डन पद्धति का आधार लेकर हिन्दू और मुसलमान दोनों के विरोधी तत्वों में सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयास किया। भक्त कवियों ने केवल उपासना के क्षेत्र में प्राणिमात्र की समानता स्वीकार की। सन्तों की व्यक्तिगत साधना के द्वारा समाज सुधार न हो सका किन्तु सूफ़ियों की रचनाओं, फुटकल पदों तथा गजलों आदि ने समाज संस्कार में सहायता की। सन्तों की स्पष्टवादिता निराश और क्लान्त जनता के विचारों को केवल धक्का लगा सकी, किन्तु सामान्य जड़ीभूत जनता के जीवन में आशा, प्रेरणा एवं आस्था की चेतना का जागरण सूफ़ी साधकों द्वारा ही सम्भव हो सका।

सूफ़ियों ने आचार विचार, रूढ़ियों और परम्पराओं को अधिक महत्व नहीं दिया। शुद्ध हृदय से सदाचार सम्बन्धी नियमों का पालन करते हुये प्रेमस्वरूप जगत के कण-कण में व्याप्त ब्रह्म की उपासना ही इनका ध्येय था। इनका उद्देश्य अधिकाधिक सामञ्जस्य एवं समन्वय था। इनका ब्रह्म अलख और निरन्जन, वाहिद और लाशरीक है, निर्गुण भी है, सगुण भी। हृदय की शुद्धि एवं प्रेम की व्याप्ति ही सूफ़ियों की कसौटी है।

मध्यकालीन संस्कृति, हिन्दू मुस्लिम संस्कृति का समन्वित रूप है। साहित्यिक, राजनैतिक, धार्मिक तथा संगीत और कला सन्बन्धी क्षेत्रों में समन्वय स्पष्ट लक्षित होता है और इस समन्वय में सूफ़ियों का बड़ा हाथ है।

सूफ़ियों की इस महत्वपर्ण देन के साथ उन पर एक बड़ा लांछन भी है कि राजनीति के क्षेत्र में जब अत्याचार,साम्राज्यवादिता तथा अमीरों का बोलबाला था,आये दिन दुर्भिक्ष, महामारी आदि का प्रकोप था, राजा और प्रजा में कोई सम्पर्क न रह गया था। फिर क्यों ये सूफ़ी कवि इन परिस्थितियों के प्रति मौन रहे। इसका स्पष्ट कारण संभवतः यह है कि ये सूफ़ी राजसत्ता के विरोध में पहले ही परास्त हो चुके थे। ये जान गये थे कि राजसत्ता के विरोध में ये फलफूल नहीं सकते, साथ ही भारत में जिस समय सूफ़ीमत का आगमन हुआ वह इस्लाम का एक अंग बन चुका था और उसका एक उद्देश्य इस्लाम का प्रचार भी था, यद्यपि यह प्रचार 'मिशिनरियों' की भाँति राजसत्ता से संचालित नहीं था। इनका प्रचार प्रच्छन्न था, फिर भी इन कवियों ने कहीं किसी विशेष सम्राट की राजनीति की

सराहना नहीं की है। मसनवी काव्य-रूढ़ियों के अनुसार शाहेवक्त की प्रशंसा की है, यह भी धर्मानुकूलता की दृष्टि से। वे राजा को 'दीन क थूनी' कहकर सन्तुष्ट हो जाते थे। कवि नूरमुहम्मद ने एक स्थल पर 'राजधर्म' पर भी अपने विचार प्रकट किये हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि सूफी कवियों ने प्रेमाख्यानों में जनसाधारण के प्रचलित लोकगीतों की परम्परा को अपनाकर, लोककथाओं को लोक भाषा के माध्यम से कहकर, उनकी रक्षा की, साथ ही भाव भाषा, अलङ्कार एवं छन्द विधान आदि में प्रचलित साहित्यिक परम्पराओं को अपनाकर इन काव्यों को हिन्दी साहित्य की अनुपम निधि बना दिया। इन कवियों ने सूफ़ी सिद्धान्तों के प्रचार के साथ ही शुद्ध मानव अनुभूतियों का चित्रण करके इन्हें जन-समाज की वस्तु बना दिया। अपभ्रंशकालीन लुप्तप्राय चरित काव्यों की परम्परा को पुर्नजीवन मिला।

सूफ़ी कवियों ने प्रेम प्रबन्धों की रचना करके एक ओर जहाँ साहित्यिक विकास में योग दिया वहीं दूसरी ओर उनके काव्य में सामाजिक, सांस्कृतिक एवं गार्हस्थ्य जीवन का प्रतिबिम्ब मुखर है।

१६

प्रमुख कवि और काव्य
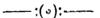
(प्राप्त ग्रन्थों का विशिष्ट अध्ययन)

मधुमालत

(कवि मंझन कृत)

सन् १९१२ के पूर्व मंझन एवं उनकी मधुमालत से हिन्दी संसार सर्वथा अपरिचित था। उसी वर्ष 'मधुमालत' की एक अपूर्ण प्रति स्वर्गीय श्री जगन्मोहन वर्मा के सहयोग से, रायकृष्णदास जी को काशी के गुदड़ी बाजार में मिली। यह प्रति फारसी लिपि में है, तथा इसके आदि एवं अन्त के कई पृष्ठ अनुपलब्ध हैं। यह प्रति काशी नागरी प्रचारिणी सभा के 'भारत कला भवन' की संपत्ति है। इसके बाद मधुमालत की एक दूसरी हस्तलिखित प्रति जो कैथी मिली देवनागरी लिपि में है, 'भारत कला भवन' को सन् १९३० में मिली। यह प्रति भी अधूरी है किन्तु इसका अन्तिम भाग पूर्ण है जिसकी पुष्पिका है:— 'इती श्री मधुमालती कथा सेष मंझन क्रीती समापितं संवतु १६४४ समये अगहन सुदिपुरनमासी ॥ ब्रीहसपती वसरे ॥ लीषीतं माधोदास कोहली कासी मधे पोथी माधोदास कोहली की ॥'

उपरोक्त दोनों हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर बहुत दिनों तक मंझन की जाति एवं समय पर विवाद चलता रहा। स्वर्गीय श्री जगन्मोहन वर्मा एवं उनके आत्मज श्री सत्यजीवन वर्मा दोनों ने ही यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि कवि मंझन जाति के मुसलमान थे एवं उनकी 'मधुमालत' की रचना जायसी के पूर्व हुई[1]। श्री ब्रजरत्नदास जी ने इन्हीं प्रतियों के आधार पर मंझन को हिन्दू ठहराया[2]। उनका कहना है कि मंझन हिन्दू थे, इसी कारण उन्होंने ग्रन्थारम्भ में न तो निर्माणकाल दिया है और न शाहेवक्त की प्रशंसा की है; किन्तु वास्तविकता यह है कि जिस प्रति के आधार पर उन्होंने मंझन के हिन्दू होने की बात कही है उसके आरम्भ के पृष्ठ ही नहीं है।

इसी प्रकार मंझन के जायसी के पूर्ववर्ती कवि होने की चर्चा भी बहुत चली। जायसी ने 'पद्मावत' के आरम्भ में जिन प्रेमाख्यानों की सूची दी है उसमें 'मधुमालत' का उल्लेख मिलता है। जायसी के इस कथा क्रम में वर्णित प्रेमाख्यानों की रचना जायसी के पूर्व हो चुकी थी यह निश्चित नहीं, बहुत सम्भव है जायसी ने जन साधारण में प्रचलित प्रेम कहानियों का ही उल्लेख किया हो और वे उस समय तक कविताबद्ध न हुई हों। इसके अतिरिक्त हिन्दी में मसनवी ढंग पर लिखे गये काव्यों का ही उल्लेख जायसी को अभीष्ट

---

१. चित्रावली की भूमिका पृष्ठ ४, ५ एवं आख्यानक काव्य, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, संवत १९८२, पृष्ठ ३१६।

२. हिन्दुस्तानी (हिन्दी संस्करण) सन् १९३८ ई० अप्रैल, पृष्ठ २१२।

था, निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। बहुत सम्भव है कि वे केवल प्रेमाख्यानों का ही उल्लेख कर रहे हों।

यह निश्चित नहीं कि 'मधुमालती' के उल्लेख से कवि का आशय मंझन की 'मधुमालत' से ही था। क्या अन्य किसी कवि के द्वारा 'मधुमालती' ग्रन्थ की रचना सम्भव नहीं है? यह भी नहीं कहा जा सकता कि जिन प्रेमाख्यानों का जायसी ने उल्लेख किया है उनके निर्माणकाल के सम्बन्ध में वे पूर्णतः जानकारी पा चुके थे।

स्वर्गीय जगन्मोहन वर्मा जी ने मंझन को जायसी का पूर्ववर्ती मानने में एक और प्रमाण दिया है कि 'मिरगावति' में पाँच चौपाइयों के बाद दोहा मिलता है और पद्मावत में सात चौपाइयों के बाद। 'मधुमालत' में भी पाँच चौपाइयों के बाद एक दोहा मिलता है अतः यह निश्चित है कि मंझन और कुतबन, जायसी के पूर्ववर्ती कवि हैं।

दोहे चौपाइयों के क्रम से किसी कवि का काल निर्णय करना ठीक नहीं है। यदि इसी आधार पर कवियों का काल निर्णय किया जाय तो 'इन्द्रावती', जो 'पद्मावत' के बहुत बाद की रचना है, भी 'पद्मावत' की पूर्ववर्ती रचना मानी जाती। अतः यह तर्क भी युक्तिसंगत नहीं ज्ञात होता। तीसरी बात श्री जगन्मोहन जी ने कवि की भाषा के सम्बन्ध में कही है। उनका कहना है कि 'मधुमालत' की भाषा 'पद्मावत' से प्राचीन है, साथ ही वे यह बात भी मानते हैं कि 'मधुमालत', 'मिरगावति' और 'पद्मावत' के बीच की रचना है। मिरगावति का रचनाकाल ६०६हिजरी, एवं पद्मावत का रचनाकाल ६२७ हिजरी माना जाता है। इस सोलह सत्रह वर्ष के अन्तर में क्या भाषा सम्बन्धी कोई विशेषता ऐसी हो सकती है जो सहज ही पृथकता स्थापित कर सके। मंझन के जायसी से पूर्ववर्ती होने के तर्क को लगभग सभी लेखकों ने मान लिया है। इतिहास ग्रन्थों एवं आलोचना पुस्तकों में मंझन को जायसी का पूर्ववर्ती लिखा गया, किन्तु वास्तव में मंझन जायसी के परवर्ती कवि थे यह एक और हस्तलिखितप्रति से पुष्ट होता है। यह प्रति रामपुर रियासत के राजकीय पुस्तकालय की सम्पत्ति है। इस प्रति का केवल प्रथम पृष्ठ ही प्राप्त नहीं है ऐसा ज्ञात होता है।

इस प्रति में पद्मावत की भांति ईश्वर वन्दना, मुहम्मद साहब एवं उनके चारों मित्रों की प्रशंसा है। शाहेवक्त के स्थान पर शाह सलीम का उल्लेख है। शेख बदी, शेख मुहम्मद एवं गुलाम गौस की प्रशंसा भी पीर के रूप में हुई है। इन सबके अन्त में निर्गुण की महिमा का गान है। जो प्रतियां 'कला भवन' के स्वाधिकार में हैं वे यहीं से आरम्भ होती हैं। अतः उनमें रचनाकाल, पीर, शाहेवक्त, मुहम्मद एवं उनके मित्रों का प्रसंग उपलब्ध नहीं होता।

रचना-काल :

रामपुर रियासत के राजकीय पुस्तकालय वाली इस प्रति से यह निश्चित हो जाता है कि इस ग्रन्थ का रचनाकाल शेरशाह के पुत्र शाह सलीम का राज्यकाल

था१। यह शाह सलीम अपनी दानशीलता के कारण विख्यात था। सलीमशाह शेरशाह की मृत्यु के पश्चात् ९५२ हिजरी या संवत् १३०२ विक्रमी, १५४५ ईसवी में राज्यसिंहासन पर बैठा था और तभी कवि मंझन के हृदय में कथा रचना की इच्छा जागृत हुई। इस प्रकार 'मधुमालती' का रचना काल सन १५४५ निर्विवाद सिद्ध होता है।

गुरू या पीर :

मंझन के गुरु और पीर कौन थे यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, किन्तु पीर के रूप में शेख मोहम्मद शेख बदी, एवं मोहम्मद गौस आदि का परिचय मिलता है[२]। इनमें कौन उनका गुरू था यह स्पष्ट नहीं होता।

माता पिता आदि :

मलिक मंझन के माता, पिता एवं मित्रादि का कोई परिचय नहीं प्राप्त होता। उनके सामाजिक जीवन पर भी इस ग्रन्थ से कोई प्रकाश नहीं पड़ता।

निवासस्थान :

मंझन कवि के निवासस्थान के बारे में एक स्थल पर संकेत अवश्य मिलता है जिससे ज्ञात होता है कि अनूपगढ़ नामक कोई नगर उनका निवासस्थान था जो सम्भवत: गढ़ी

---

१. साह सलेम जगत था (था) तिहारी, जेहीं यह बरनै मन्द न मारी।
जोरी × × जाप, इन्द्र का इन्द्रासन काप॥

न्याय करव जग ऊंच और चंगा, भेंड डुंगर चरिहिं एक संगा।
केहि मुख कहं दान कै बाता, रायन जात मुक्त कर दाता।

× × ×

सन् नौसै बावन जब भए, सनै बरख कुल परिहर गए।
तब हम जी उपजी अभिलाषा, कथा एक बाधौं बस भाषा।

२. शेख बदी जग सिद्ध पियारा, ग्यान समुन्द और दतयारा।
शेख मुहम्मद पीरु अपारा, सात समंद नांव कंडहारा।
मन की आखर विषम अपारा, गुरु होय तो लावै पारा।

ये दोऊ विध निरमइ सिस्टि राव जग धीर।
तेहिं देखों मध्य ऊपर गौस मुहम्मद पीर।

की भांति सुरक्षित एवं सुदृढ़ था, जिसकी पूर्व दिशा में बहरायच नगर है, तथा उत्तर पश्चिम में लंका गढ़ के सदृश सुदृढ़ खाई है[1] ।

कथा-सारांश :

कनेसर नगर के राजा सूरजभान के पुत्र मनोहर को सोते समय कुछ अप्सरायें रातों रात मधुमालती की चित्रसारी में ले गईं। मधुमालती महारस नगर के राय विक्रम की पुत्री थी। जागते ही दोनों एक दूसरे पर मोहित हो गये। पूछने पर मनोहर ने अपना परिचय देने के पश्चात् अपने प्रेम की दृढ़ता बताई कि मनोहर का प्रेम मधुमालति के प्रति जन्म जन्मान्तर का है। बातचीत करने के पश्चात् दोनों प्रेमनिन्द्रा में निमग्न हो गये। मधुमालति को प्रेम पूर्वक सोते देखकर अप्सरायें चिन्ता के वशीभूत हो गई क्योंकि उन दोनों को यदि अलग करतीं तो उनके विरह की चिन्ता थी, यदि दोनों को एक साथ ही रहने देती तो कुंवर मनोहर के माता पिता को दुःख होने का भय था, क्योंकि वह उनका एक मात्र पुत्र था। अन्त में सबने यही सोचा कि राजकुंवर को उसके माता पिता के पास पहुँचा दिया जाय। इस प्रकार मनोहर एवं मधुमालति को अप्सराओं के कारण संयोग एवं वियोग दोनों ही भोगना पड़ा।

जागने पर मनोहर अत्यन्त विकल हुआ और माता पिता के समझाने बुझाने पर भी वह मधुमालति की प्राप्ति के लिये गृह त्याग करके चल दिया, मनोहर समुद्र के मार्ग से चला, उसके साथ हाथी घोड़े आदि राज्य वैभव था, जो मार्ग में बोहित के लहर में पड़ जाने के कारण नष्ट हो गया, एवं मनोहर अपने मित्रों से बिछुड़ कर अकेला ही एक काठ का सहारा लेकर किनारे पर पहुँचा और एक अगम्य बन में अग्रसर हुआ। उसी बन में उसे एक पलंग पर एक सुन्दरी लेटी हुई दिखाई दी। जागने पर उसने मनोहर से उसका परिचय पाकर अपनी दुःखकथा सुनाई कि वह चितविसराम-पुर के राजा चित्रसेन की पुत्री, प्रेमा थी। एक बार वह अपनी सखियों के साथ अमराई में खेल रही थी तभी एक राक्षस उसे उठा लाया और तब से वह यहीं जंगल में अकेली रहती थी। उसे उस जंगल में रहते हुये एक साल हो गया था। प्रेमा ने मनोहर से अपनी मधुमालति की मैत्री की चर्चा की और बताया कि वर्ष में एक बार मधुमालति उसके घर आती है। मनोहर ने प्रेमा को वहाँ छोड़ कर आगे बढ़ने से इन्कार कर दिया और उस राक्षस को मारकर प्रेमा को भी साथ लेकर चितविसरामपुर की ओर प्रस्थान किया।

---

1. गड़ अनूप बस नगर............ढी, कलजुग मंह लंका सौं गाढ़ी।
पुरब दिसा जाकी बहराई। उतर पछिम लंकागट खाई,
नगर अनूप सोहावन और गढ खेम अगाम।
पर मन हाथ नहि आवै बिन जस पुब करम।

प्रेमा के घर पहुँचने से उसके माता पिता हर्षित हुये और दूसरे ही दिन दुइज होने के कारण मधुमालति के घर आने का समाचार पाकर मनोहर अत्यन्त प्रसन्न हो उठा। प्रेमा को छुटकारा दिलाने के उपकार स्वरूप प्रेमा के माता पिता ने प्रेमा का विवाह मनोहर से करना चाहा किन्तु 'प्रेमा' एवं मनोहर ने अपने भाई-बहन के सम्बन्ध को दृढ़ता से निबाहा।

दूसरे दिन जब मधुमालति अपनी माता रूपमन्जरी के साथ प्रेमा के घर आई तो प्रेमा ने यत्नपूर्वक चित्रसारी में उन्हें मिला दिया। रूपमञ्जरी देर होते देख व्यग्र होकर स्वयं उन्हें देखने गई तो उसने मनोहर तथा मधुमालति को एक साथ पाकर प्रेमा को बहुत भला बुरा कहा और दोनों को वियुक्त कर दिया। मधुमालति मनोहर के प्रेम में घुली जा रही थी, उसे इस प्रकार प्रेमपीड़ा में व्यथित देखकर उसकी माँ ने उसे समझाना चाहा किन्तु उसके न मानने पर रूपमंजरी ने उसे चिड़िया हो जाने का शाप दे दिया। मधुमालति चिड़िया होकर मनोहर की खोज में उड़ चली। इधर मनोहर भी गृहत्याग कर भटक रहा था।

एक दिन मधुमालति जब उड़ी जा रही थी तो पिपनेर मानगढ़ के राजकुंवर ताराचन्द के रूप का मनोहर से साम्य देखकर वह उसकी छत पर बैठकर उसे निहारने लगी। ताराचन्द ने उसे पकड़ लिया और नित्य अपने साथ रखने लगा। प्रसंगवश मधुमालति ने अपनी सारी प्रेमकथा बताई; ताराचन्द अत्यन्त मर्माहत होकर मधुमालति का पिंजरा लेकर उसकी माँ के पास महारस नगर पहुँचा। उसकी माता ने प्रसन्न होकर मधुमालति को फिर से राजकुमारी कर दिया और प्रेमा के पास मधुमालति के पुनरागमन तथा मनोहर से विवाह का संदेश भेजा। अकस्मात् मनोहर भी उसी समय वहाँ आ पहुँचा, समाचार पाकर मधुमालति के माता-पिता उसे लेकर चल दिये। इसी प्रकार मधुमालति और मनोहर का पाणिग्रहण हो गया।

एक दिन ताराचन्द और मनोहर जब शिकार करके लौट रहे थे तब ताराचन्द की दृष्टि प्रेमा पर पड़ी जो मधुमालति के साथ झूला झूल रही थी। ताराचन्द उसके प्रेम में व्याकुल हो गया। मधुमालति ने प्रेमा के पिता से कहकर दोनों का विवाह करा दिया। दोनों मित्र अपनी पत्नियों सहित आनन्द मग्न रहने लगे। कुछ समय पश्चात् मनोहर एवं मधुमालति तथा ताराचन्द और प्रेमा अपने घर लौटकर राज्योपभोग करने लगे। इस प्रकार कथा का अन्त सुख एवं समृद्धि में होता है।

कथा-संगठन :

'कथा मधुमालत' के पूर्व प्राप्त सूफ़ी प्रेमाख्यानों में केवल 'मृगावती' एवं 'पद्मावत' का नाम आता है। इन कहानियों के कथानक से 'मधुमालत' के कथानक में अन्तर है। प्रमुख कथा के साथ साथ इसमें एक और अन्तरकथा का संगुम्फन है। इस प्रकार उपनायक और

उपनायिका की योजना करके कथा को विस्तृत करने के साथ ही प्रेमा और ताराचन्द के चरित्र के द्वारा सच्ची सहानुभूति, निस्वार्थ प्रेम, एवं संयम का आदर्श भी उपस्थित किया गया है। भाई बहिन के इस आदर्श प्रेम को सम्मुख रख कर कवि ने भारतीय संस्कृति के उज्ज्वल पक्ष का उद्घाटन किया है जो उसकी सहृदयता का परिचायक है।

आश्चर्यतत्व की योजना इन सभी कथाओं में होती रही है। 'मधुमालत' में भी अप्सराओंका महत्वपूर्ण भाग है। इसके अतिरिक्त मधुमालति की मां का उसे मन्त्र फूंककर पक्षी बना देना तथा पुनः पूर्वरूप प्राप्त होना ऐसी ही घटनायें हैं जो कथा को गति देने के साथ ही साथ उसे आकर्षक भी बनाती हैं।

। कवि मंझन ने अपने नायक एवं नायिका के प्रथमदर्शन में ही उद्भूत प्रेम की अस्वाभाविकता को समझा था। उन्होंने नायक एवं नायिका को प्रथम तो साक्षात् दर्शन कराया और फिर प्रेम की शाश्वतता का परिचय देते हुये उन्होंने उसे स्वाभाविक बनाने का प्रयास किया। इस प्रकार कथा का आरम्भ अत्यन्त आकर्षक एवं स्वाभाविक ढंग से हुआ है। एक राजकुंअर का एक राजकुमारी स परिचय और वह भी परियों के द्वारा उड़ाये जाने पर एक ऐसी घटना है कि जितना आश्चर्य एवं हर्ष राजकुमार को जागने पर राजकुमारी को देखने पर होता है उतना ही आकर्षण एवं कुतूहल पाठक को आरम्भ से ही हो जाता है। इसके बाद कथा की गति स्वाभाविक है। मिलन के बाद विछोह, नायक का प्रयास, उसकी कठिनाइयाँ, उसके सहायक, दर्शन, पुनः विछोह, प्रेम की तीव्रता एवं शाश्वत मिलन इसी क्रम से कथा आगे बढ़ती रहती है। कई स्थलों पर पाठक का कुतूहल अत्यन्त वृद्धि पाता है, जैसे जंगल में प्रेमा को पाने पर पाठक को मनोहर एवं प्रेमा के सम्बन्ध को लेकर जिज्ञासा होती है, क्योंकि कवि प्रेमा के रूप सौंदर्य का वर्णन मधुमालति से कम नहीं करता है। दूसरी बार जब रूपमंजरी मधुमालति को पक्षी बनाकर उड़ा देती है तब पाठक की मनःस्थिति डावांडोल हो जाती है। वह सूफी प्रेमकथाओं के दुखान्त होने का स्मरण कर व्यथित होता है, किन्तु आशा का सम्बल ले आगे बढ़ता है। 'मधुमालति' का पक्षी होकर मनोहर या प्रिय की खोज में उड़ते फिरना योरोपीय दुःखान्त रोमांस, 'प्रिमस' एवं 'थिसवी' का स्मरण कराता है। आशंका होती है कि कहीं 'प्रासने' और 'फिलमिला' जिस प्रकार 'स्वालो' एवं 'नाइटिंगेल' के रूप में अपनी व्यथा सुनाती फिरती हैं उसी प्रकार 'मधुमालति' भी सम्भवतः अपने प्रियतम की खोज में इसी प्रकार घूमती एवं वेदना गायन न करती रहे।

इन सब बातों के अतिरिक्त कथा का अन्त विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। कवि मंझन अत्यन्त सहृदय हैं तथा 'इस सरब सार जग प्रेम' के अनुसार संसार में केवल प्रेम ही सार है, सिद्धान्त को मानते हैं। प्रेम अमृत है अतः जो कोई प्रेम करता है वह अमर हो जाता है। अन्य कवियों ने अपनी कथा में नायक का निधन कराके नारी को सती होने दिया है, किन्तु कोमल हृदय मंझन ऐसा न कर सके, उन्होंने अपनी कथा को सुखान्त ही

रक्खा है। अतः कथा का अन्त भी मौलिक एवं नवीनता लिये हुये है [1]। कवि ने जान-बूझकर कथा को सुखान्त बनाया है, यह उसके कथा-संगठन की मौलिकता है। इस स्थल पर प्रयुक्त भाषा उसकी सहृदयता का परिचय देती है, 'मैं छोहन्ह येइ मार न पारे' में कितनी कोमल एवं स्पृहणीय भावना है।

कथा वर्णनात्मक अधिक है, किन्तु जहाँ कहीं भी प्रेम एवं विरह का वर्णन कवि करता है वहाँ अधिक रहस्यात्मक एवं सहानुभूतिमय हो उठा है, वहाँ उसकी उक्तियाँ भी काव्यात्मक तथा मार्मिक हैं।

यह कथा बहुत लोकप्रिय रही है। उसमान ने अपनी चित्रावली में इसका उल्लेख किया है [2]।

जैन कवि बनारसीदास ने संवत् १६६० के आसपास की रचना अपने 'आत्मचरित' में इसका उल्लेख किया है। दक्षिण के शायर नसरती ने दक्खिनी उर्दू में 'गुलशने-इश्क' नाम से मधुमालति एवं मनोहर के प्रेम की चर्चा की है।

प्रेम-पद्धति :

'मधुमालत' की प्रेमपद्धति भी नवीन एवं स्वाभाविक है। इसकी अपनी विशेषता है—साक्षात् दर्शन से प्रेम का उद्भूत होना। कवि ने नायक एवं नायिका दोनों का मिलन रात्रि में कराया है अतः किञ्चित स्वच्छन्दता के साथ दोनों में वार्तालाप होता है, किन्तु कहीं भी मर्यादा या संयम का उल्लंघन नहीं है। दोनों में प्रेमोदय ही नहीं होता, पुष्ट भी हो जाता है, और वे अत्यन्त संयम पूर्वक सदैव एक दूसरे के प्रेमी बने रहने का निश्चय कर लेते हैं। सहिदानी रूप में वे दोनों एक दूसरे की अंगूठी ही धारण करते हैं जबतक कि मधुमालति के माता-पिता उसका कन्यादान करके उसे मनोहर की पत्नी बनने की आज्ञा नहीं देते। इस प्रकार प्रेमोदय या वृद्धि में कहीं भी अस्वाभाविकता दृष्टिगोचर नहीं होती।

---

१. कथा जगत जेती कवि आई, पुरुष मारि ब्रज सती कराई।
मैं छोहन्ह येइ मार न पारे, मरिहहिं महि जो कलि औतारे।
जेहि मैं प्रेम अमी अस परचै काल करै का पार।
उदधि सहसदस काल कै तरअहि प्रेम अधार।
प्रेम सरनि जिन आप उधारा, सो न मरै काहू का मारा।
एक बार जो मरि जिव पावै, काल बहुरि तेहि निअरे नहिं आवे।
मधुमालत : मंझन।

२. मधुमालति होइ रूप देखावा, प्रेम मनोहर होइ तहं आवा।
उसमान : चित्रावली।

विछोह हो जाने पर प्रयत्न नायक मनोहर की ओर से ही होता है। मनोहर एवं मधुमालति की विरह-व्यथा के प्रदर्शन में कवि ने संयम से काम लिया है। कहीं भी अतिवर्णन या वीभत्स चित्र उपस्थित नहीं होते। मधुमालति की व्यथा मूक है, वह सुलग-सुलग कर काली हो रही है, उसमें मुखरता एवं अधिकार याचना की भावना नहीं, समर्पण एवं त्याग प्रधान है। कुंअर मनोहर का प्रेम एकान्तिक है, वह माता-पिता के महत्व को मानता है, लोककर्तव्यों को जानता है फिर भी माधुमालति की प्राप्ति को श्रेय समझकर उनका स्नेह-त्याग करता है, मधुमालति की उपलब्धि के लिये गृहत्याग करता है। उसके प्रेम की दृढ़ता में कहीं भी शिथिलता नहीं आती, आरम्भ से ही उसका विशिष्टोन्मुख प्रेम कहीं भी दुविधा में नहीं पड़ता। वह प्रेमा के साथ अपने बहन के सम्बन्ध को, अत्यन्त संयम से निवाहता है। संयमी एवं शुष्क मनोहर, मधुमालति को पाकर पुनः आकाँक्षाओं से पूर्ण हो सुखोपभोग में रत, शिकार एवं राज्यशासन में दत्तचित्त हो जाता है।

मंझन की प्रेमपद्धति में सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रेम की अखण्डता है। जन्म-जन्मान्तर और योन्यतंर के बीच की अखण्डता दिखाकर मंझन ने प्रेमतत्व की व्यापकता एवं नित्यता का परिचय दिया है, उसमें रहस्यात्मकता के दर्शन भी होते हैं, और साथ ही यह पूर्णतः भारतीय भावना के अनुकूल भी है। मंझन के अनुसार यह सारा जगत एक ऐसे रहस्यमय सूत्र में बँधा है जिसका अवलम्बन लेकर जीव उस प्रेममूर्ति तक पहुँच सकता है, इस सारे जगत में उसी एक की ज्योति छिपी है। उसी का दर्शन पाकर खुदा के बन्दे मग्न हुआ करते हैं। जगत और ब्रह्म की एकात्मकता का परिचय इन सूफ़ी कवियों ने सर्वत्र दिया है। कवि मंझन लिखते हैं कि ब्रह्म का रूप ही जड़ एवं सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त है।[1] यह सारा संसार उस एक से मिलने के लिये व्याकुल है। ईश्वर का विरह ही सूफ़ियों की सम्पति है, वे जीवन देकर भी उसके विरह को मोल लेते हैं।[2] आत्मा उत्पन्न होते ही, परमात्मा के विरह में व्याकुल हो जाती है। दुःख

---

१. देखत हीं पहिचान्यो तोहीं, एहीं रूप जिन छन्दरयो मोहीं।
एहीं रूप बुत अह्यो छिपाना, एहीं रूप अब सृष्टि समाना।
एहीं रूप सकती और सेवऊ, एही रूप त्रिभुवन कर जीऊ।
एहीं रूप प्रगटे बहु भेसा, एहीं रूप जग रंक नरेसा॥

एहीं रूप त्रिभुवनवर असी, महि पताल अकास।
सोई रूप प्रगट तंह मानहीं, देख्यौ कहां हवास।

एहीं रूप प्रगट बहु रूपा, एहीं रूप जेहि भाव अनूपा।
एहीं रूप सब नैनन्ह जोती, एहीं रूप सब सागर मोती।
एहीं रूप सब फूलन्ह बासा, एहीं रूप रस भंवर बरासा।

२. यह जग जीवन मोह ते लाहा, मैं जिव दे तोर दुख बेसाहा।

या विरह की एक रात्रि पर सुख की सहस्त्रों रात्रियाँ न्योछावर करने योग्य हैं [1]। वासुकि, इन्द्र एवं कुबेर के अतिरिक्त यह सारी प्रकृति भी उसी परमसत्ता के वियोग में विकल है। ऐसे स्थलों पर कवि हेतूप्रेत्क्षा का आश्रय लेकर भावाभिव्यक्ति करता है। इसी प्रकार कमल का रक्ताभ होना, अनार के दानों का विछिन्न होना, नीबू का पीला पड़ना, खजूर की गुठली में दरार होना, आग का दुखातिरेक से बौराना, महुये का निष्पात होना, टेसू में आग लगना, जामुन का विरह से श्याम वर्ण होना एवं कटहल की छाल का काँटेदार होना सब एक उसी वियोग-दुःख के परिचायक हैं [2]। कवि प्रेमी के विरह का वर्णन ऐसी मार्मिक उक्तियों के द्वारा करता है।

विरह ही सूफ़ियों का जीवन है। विरह ही इस सृष्टि का आदि है, साथ ही सृष्टि का अन्त हो जाने पर केवल विरह ही अवशिष्ट रहता है। विरह की कथा का कभी अन्त नहीं हो सकता [3]। ऐसे स्थलों पर कवि का 'विरह' से तात्पर्य 'प्रेम' से है।

'मधुमालत' में वर्णित प्रेम कहीं अमर्यादित नहीं है। कवि को लोकाचार, समाज एवं कुल की मर्यादा का पूर्ण ध्यान है। मधुमालती अपनी सखी प्रेमा के कुरेद कर पूछे जाने पर भी उसे अपने प्रेमसम्बन्ध के विषय में कुछ नहीं बताती। वह चुपचाप अपने समाज एवं कुल की मर्यादा को संभाले, अपनी वेदना सहती रहती है, किन्तु सखी, एवं बाद में माता रूपमंजरी द्वारा उसके रहस्य परिज्ञापन के बाद मधुमालति का चुपचाप

---

१. मोहि न आज उपज्यो दुख तोरा, तोर दुख आदि सँघाती मोरा।
मैं यह दुख की रैन बलिहारी, सहस सुख यह दुख पर वारी।

२. सूरज चन्द तराइन बासुक इन्द्र कुबेर।
प्रेमा दुक्ख सम रोईं, धरती गगन सुमेर।

प्रेमा नैन रकत ज्यों रोवा, सोतें ताहि रकत मुख धोवा।
कमल गुलाल भईं रतनारे, फूल सबहिं तन कापर फारे।
देख अनार हिया भरि आना, नीबू तरु निज डार पियराना।
नारंगि कत खूंट भइ राती, खाईं खजूर फार गई छाती।

आम भयो दुख बउरा, महुआ भयो बिन पात।
ऊख भई दुख टकटक, सुन प्रेमां उतपात।

टेसू आगि लागि सिर रहा, कलें वदन दुख सम्पत कहा।
जामुन भई डार दुख कारी, कटहर पहिर कांट के सारी।

३. कतहूं पै मोहि कही न जाइहि, विरह कथा का कहत सिराइहि।
उतपत विरह ते सबै कहाहीं, अन्त विरह चारिहुं जुग माहीं।

सातो समुन्द जो होंहिं मसि, कागज सात अकास।
जुग जुग लिखत न निघटै, प्रेमां विरह अदास।

सहन करना असम्भव हो जाता है। किन्तु कहीं भी फ़ारसी मसनवियों की भांति, वस्त्र फाड़ना, सिर पर धूल डालना एवं हथकड़ियों में बंधकर भी अनाप शनाप बकने की स्थिति नहीं देखी जाती। वह अति उन्माद की दशा को प्राप्त नहीं होती।

इसी प्रकार प्रेमा एवं मनोहर की दृढ़ता भी सराहनीय है। एक ओर, जहां कवि दाम्पत्य प्रेम में एकनिष्ठता की महत्ता प्रदर्शित करता है, दूसरी ओर वहीं वह सदाचार का आदर्श भी उपस्थित करता है। इसी प्रकार ताराचन्द एवं मधुमालति का सम्बन्ध भी सराहनीय है। माता पिता के अनुमोदन के पश्चात् भी, ताराचन्द का मधुमालति एवं मनोहर का प्रेमा से विवाह करने से इन्कार करना उनकी चारित्रिक दृढ़ता का द्योतक है।

मनोहर एवं मधुमालति के प्रेम की दृढ़ता का परिचय उनके कष्टसाध्य प्रयासों एवं व्यवधानों के रहते हुये भी, स्थिरता से किया जा सकता है, अन्यथा 'पद्मावत' की भांति इस कथा में कोई खल प्रतिनायक न होने के कारण नायक या नायिका को अपने शौर्य एवं पातिव्रत प्रदर्शन का अवसर प्राप्त नहीं हो पाता। कवि ने अपनी कथा को सुखान्त बनाया है, अतः सतीत्व के निर्वाण एवं आनन्दमय प्रशान्त वातावरण का भी कथा में अभाव है।

मधुमालति के नवअंकुरित प्रेम, एवं उत्तरोत्तर उसकी वृद्धि के दर्शन ही मधुमालत में अधिक होते हैं। मधुमालति के प्रेमिका स्वरूप के अतिरिक्त उसके गार्हस्थ्य परिपुष्ट प्रेम के दर्शन नहीं होते। वास्तव में प्रेम की तीव्रता का वर्णन करने के पश्चात्, कवि को नायक एवं नायिका के मिलन का दृश्य उपस्थित करते ही अपने उपनायक एवं नायिका ताराचन्द एवं प्रेमा की चिन्ता हो गई और वह अपनी कथा की गति में मनोहर एवं मधुमालति के लौकिक जीवन एव गार्हस्थ्य जीवन की झांकी प्रस्तुत नहीं कर सका।

रस :

'मधुमालत' कथा में पूर्णरूप से रसराज शृंगार का राज्य है। अन्य कथाओं की भांति इसमें युद्धवर्णन; सतीवर्णन एवं वीभत्स-चित्रणों का सर्वथा अभाव है, अतः करुण, वीर एवं भयानक रस, जिनका वर्णन सूफ़ी प्रेमाख्यानों में शृंगार के अतिरिक्त मिल जाता है इस प्रेमाख्यान में नहीं प्राप्त होते। इसमें केवल शृंगार के ही दोनों पक्ष, संयोग एवं वियोग का वर्णन है।

विप्रलम्भ शृंगार :

जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, सूफ़ियों की साधना में विरह का बहुत महत्व है, यही कारण है कि सूफ़ी प्रेमाख्यानों में विरह या वियोग का वर्णन प्रचुरता से मिलता है। ऐसे स्थलों पर कवि का हृदय बहुत रमा है। उसकी सपूर्ण सहृदयता ऐसे ही स्थलों पर

बिखरी पड़ी है। कवि मंझन ने भी विरह के ऐसे ही हृदयस्पर्शी दृश्य उपस्थित किये हैं।

मनोहर और मधुमालति को जब अप्सराओं ने पृथक कर दिया, उस समय, तथा प्रेमा के मधुमालति से विरह दुख पूछने के समय, मधुमालति के विरहप्रदर्शन में संयम प्रधान है। सखियों के पूछने पर वह बात बनाकर कहती है :—

कुंअर एक सपने में देखा, सपन रूप सौतुख कर लेखा।
जम की मृतु खनके दुख देई, बिरह मरन तिल तिल जिव लेई।
अब न सकूं रहि वहि बिन घड़ी, अचक काज यह मोहि सिरपरी।
विरह दगध औ कुल की लाजा, परयो आय मोहि दुहुँ सों काजा।

इसी प्रकार प्रेमा से बार बार पूछे जाने पर भी, वह कुल एवं प्रेम दोनों की मर्यादा का ही वर्णन करती है।

एक दिस पीर प्रेम की, एक दिसि कुल की कान।
मोहि दोऊ दिसि दोभर, इत कुल, उत जी हान।

किन्तु कुल और प्रेम की मर्यादा उस समय नष्ट हो जाती है जब उसे ज्ञात होता है कि मनोहर अपने लोक कर्त्तव्यों एवं मर्यादाओं को त्यागकर इतने कष्ट सहता हुआ उसकी प्राप्ति के हेतु वहां तक आया है। उसके बिछुड़ने से मधुमालति को बहुत व्यथा होती है और वह लज्जा एवं मर्यादा का ध्यान न रखकर अपनी व्यथा प्रदर्शित करती है। उसके बिखरे हुये केश, भादों की काली रात्रि है; उसके बहते हुये नेत्राश्रुओं से संसार को दो वर्षा ऋतुओं का भय होता है :—

मधुमालत जो सोवत जागी, विरह अगिन नखसिख तन लागी।
नैन मरन धार जनु छूटी, सेन पवरि जनि बीर बहूटी।
जबही दसन दुफरत खोला, दामिन चमक चमक जनि बोला।
विकलित केस रैन अंधियारी, सहज भाव भादों छिटकारी।

रोदनि करत मधुमालति, विरह विथा तन साल।
लोकहिं अचज बरखा सदा, अब बरखा दुइ काल।

कनक देह सब मिल गइ मांटी, नैन नीर धोयन बुध पाती।
फारयो तार तार तन चोला, रोवन भइ रानी दुइ डोला।

इस प्रकार कवि मंझन ने विरह जन्य रुदन एवं कृशता का वर्णन अधिक किया है। कवि ने कहीं भी शास्त्रीय ढंग से, केवल विप्रलम्भ श्रृंगार के अंग उपांगों की गणना कराने का प्रयास नहीं किया है, किन्तु विरह वर्णन के अन्तर्गत 'बारहमासे' की पद्धति का अनुकरण करना कवि मंझन नहीं भूल सके। बारहमासे में वर्ष के बारह महीनों का वर्णन विप्रलम्भ

शृंगार के उद्दीपन की दृष्टि से है। संयोग की आनन्दप्रद वस्तुयें ही वियोग में दाहक हो जाती हैं। एक ओर तो विशेष माह के प्राकृतिक व्यापारों एवं वस्तुओं का वर्णन इनमें होता है, दूसरी ओर उनसे प्रेमी के दुखों के तीव्रतर होने का भाव वर्णित रहता है। कहीं तो प्रकृति के व्यापारों से साम्य प्रदर्शित किया जाता है, और कहीं विरोध। कहीं प्रकृति का सहानुभूतिमय दृश्य सम्मुख आता है कहीं खीझभरा। वास्तव में प्रकृति के इन नाना रसों की निर्णायक, प्रेमी की दृष्टि ही रहती है। मधुमालति के आँसुओं एवं सावन की झड़ी, तथा बीर बहूटी का साम्य देखिये :—

सावन घटा घोर घहरानी, सुमिरि प्रेम आनौ चख पानी।

तथा

आंस रक्त ढर परी जो टूटी, सावन भई ते बीर बहूटी॥

आंसुओं की वर्षा की बूंदों से सीधी उपमा न देकर उन्हें रक्त के आंसू बनाकर बीर बहूटी से साम्य प्रदर्शन करना फ़ारसी की परम्परा है, जहां विरह में प्रेमी खून के आंसू पीते और कलेजे का मांस खाते हैं। कवि मंझन ने यद्यपि फ़ारसी की मसनवियों की भांति विरह वर्णन में वीभत्स चित्रों का अधिक प्रदर्शन नहीं किया है, फिर भी वे आँसुओं को रकत के आंसू बनाना नहीं भूले।

वारि, शरद् ऋतु की स्वच्छ चांदनी, शीतलता एवं स्वाति अमृत किस प्रकार विरही को दाहक एवं नाशक प्रतीत होते हैं, इसका वर्णन भी कवि ने सुन्दर किया है, जिन प्राकृतिक व्यापारों को देखकर, एवं सुविधाओं को पाकर संयोगी सुखी होते हैं, उन्हीं को देख सुनकर वियोगी को अपना अभाव खटकता है और वह अत्यन्त दुखी हो जाता है।

कातिक सरद सताई जारा, अमी बुन्द बरखै बिख धारा।
मोहि तन विरह अगिन प्रचारा, सरद चांद मोहि सेज अंगारा।

सरद रैन तेहि सीतल, जेहि पिय कंठ निवास।
सब कंह परब देवाली, मो कंह सखी बनवास॥

फागुन में पतझड़ हुये वृक्षों को, चैत में फिर नव जीवन दान मिलता है। सभी को दुख के बाद सुख मिल गया किन्तु विरही को केवल विरह से ही काम है। उसका सुख, अगहन के दिन की भांति घटता है, और दुख रात्रि की भांति बढ़ता है।

फागुन हते जो तरु पतिझारी, ते सब भये चैत हरियारी।

तथा

सुख दिन भांति घटत तन जाई, दुख औ निसि तिल तिल अधिकाई।

इस प्रकार कवि मंझन ने बारहमासे में विरही की दुखानुभूतियों का बड़ी सफलता से चित्रण किया है। एक स्थल पर मधुमालति बड़े ही मर्मपूर्ण शब्दों में कहती है कि मुझे आश्चर्य यह है कि मैं सदा रोती ही रही किन्तु नेत्रों में बसी मनोहर की मूर्ति धुल नहीं गई, नष्ट नहीं हुई, वह अब भी वहीं उसी रूप में स्थित है।

अचज ऐह में सन्तत रोई, पै न गयहु तुम्ह चख सों धोई।

संयोग शृंगार :

सूफ़ी कवियों के संयोग वर्णनों पर अश्लीलता का आरोप लगाया जाता है, किन्तु कवि मंझन इस आरोप से पूर्णत: मुक्त हैं। 'मधुमालत' में संयोग चित्रण तीन स्थलों पर मिलता है। सबसे आरम्भ में जब राजभवन में मनोहर और मधुमालति मिलते हैं। उसके बाद प्रेमा के प्रयास से फुलवारी में उनका संयोग होता है। अन्त में विवाहोपरान्त वे यथाविधि संयोग प्राप्त करते हैं, किन्तु कहीं भी वर्णन में अश्लीलता नहीं है। संयोग की सुखद अनुभूति का ही भावात्मक चित्रण है। आत्मा और परमात्मा की रहस्यात्मक अनुभूति का आभास भी ऐसे स्थलों पर मिलता है।

संयोग वर्णन :

सहज परम मद दोनों माते, प्रेम रंग पूरब के राते।
प्रेम भाव दुहुँ अस अनसरेऊ, पर आपन भय जी नहि धरेऊ।
कबहूँ आलिंगन रस देई, कबहुँ कटाछ जीव हर लेई।
कहत सुनत रस बचन सुहाई, लोयन अवल नींद भर आई।

रहस्यात्मक संयोगानुभूति वर्णन :

उठि दोऊ गहि अंकम लागे, ओटे जिमि दोउ सोन सोहागे।
प्रेम बिछोहे जाहि दिन, दुहुँ मिल पूजी आस।
तीन्ह लोक बधावरा, महि पताल अकास।

संयोग का भावात्मक वर्णन :

दगध दुहूँ हिय केर जुड़नी, मिलन उरहिं उर तपत सिरानी।
नैन-नैन स्यों लोभे, मन सों मन अरुझान।
दुइ हिये मिल एक भय, भज्यो सो प्रानहि प्रान॥

संयोग शृंगार के अन्तर्गत वाक्चातुर्य, हास परिहास एवं पहेली बूझने की परम्परा भी कवियों में रूढ़ रही है किन्तु कवि मंझन ने इसका आश्रय नहीं लिया है, अवश्य विदा के समय कुछ अध्यात्मिक उक्तियाँ कहलवाई गई हैं, जैसे :

आज सखी तुम गवन सोहागे, कालिह बहुरि यह दिन हम आगे।

सूफ़ी कवियों का प्रेम विषमता से समता की ओर अग्रसर होता है, यही समता संयोग में प्राप्त होती है, समता से उत्पन्न आनन्द की अनुभूति अनिर्वचनीय है, वह 'गूंगे केरी सर्करा' है, प्रेमा इसी भाव को कितने सीधे-सादे शब्दों में व्यक्त करती है :

दुइ जी बीच जो निर्वही, बिलस सनेही कन्त।
सो कैसे नहिं आवै, सखी ये जीभ कहन्त॥

नखशिख वर्णन

रूप सौन्दर्य की चर्चा सभी सूफ़ी प्रेमाख्यानों में प्रचुरता से मिलती है। रूप ही प्रेम को उकसाता है, प्रेम और विरह ही जीवन का सार है, अतः रूप वर्णन में नखशिख की परिपाटी का सहारा लगभग इन सभी कवियों ने लिया है। उपमानों की योजना भी काव्य रूढ़ियों के अनुसार ही हुई है।

निरकलंक ससि दुइज लिलारा, नव खन्ड तीन भुवन उज्यारा।
वदन पसेव बूंद चहुँ पासा, कच पेचैं जनु चान्द गरासा॥
मृगमद तिलक ताहि पर धारा, जानहिं चान्द राह बस पारा।

कहीं-कहीं कुछ वर्णन अधिक आकर्षक हो गये हैं जैसे सोते हुये किञ्चित मुस्कान की समता :

तकि बिसनाइ नींद मंह हंसी, जान स्वर्ग से दामिन खसी।

इसी प्रकार प्रेमा के रूप का वर्णन भी परम्परागत है। उसमें नवीनता नहीं है। नायिका के रूप सौन्दर्य का वर्णन करते समय सूफी कवियों की रहस्य भावना सजग हो जाती है और वे उसके रूप सौन्दर्य में उस परम सौन्दर्यशाली परमात्मा के स्वरूप का आरोप करते हैं, किन्तु कवि मंझन को मधुमालति या प्रेमा दोनों में से किसी के रूप वर्णन में, इस ओर विशेष आग्रह नहीं है।

इसके अतिरिक्त, नगर, जलक्रीड़ा, वन विहार, समुद्रयात्रा, युद्ध-यात्रा, युद्ध, भोज, विवाह आदि के वर्णन सूफी प्रेमाख्यानों में पाये जाते हैं, उनका भी लगभग इस ग्रन्थ में अभाव सा ही है। कवि मंझन चमत्कार प्रदर्शन को सराहनीय नहीं समझते थे। कथा में लगभग सभी स्थलों का समावेश हुआ है किन्तु कवि की दृष्टि इन वर्णनों में अधिक नहीं रमी है। नगर, गढ़, हाट आदि का केवल संकेत मात्र कवि ने किया है। युद्ध एवं युद्धयात्रा प्रसंग की चर्चा कथा में आती ही नहीं है। मनोहर के राक्षस से युद्धप्रसंग में अवश्य कवि चाहता तो युद्ध की सज्जा और गति का वर्णन कर सकता था, किन्तु वहाँ भी कवि ने आश्चयतत्व का आश्रय अधिक लिया है। विवाह वर्णन को भी अधिक विस्तार नहीं प्राप्त हुआ है। पक्षी होकर मधुमालति जो एक वर्ष तक भटकती रही

थी उसी का विवरण देते हुये कवि ने 'बारहमासे' का वर्णन किया है, किन्तु यहाँ भी ऐसा ज्ञात होता है कि कवि एक परम्परा का निर्वाह मात्र कर रहा है। दो चार चौपाइयों में एक माह का वर्णन समाप्त कर वह आगे बढ़ता है, नागमता के बारहमासे का जो विस्तार एवं व्यापक प्रभाव है, वह मधुमालति के बारहमासे में दृष्टिगोचर नहीं होता है।

भाषा :

अन्य सूफ़ी प्रेमाख्यानों की भांति 'मधुमालत' की भाषा भी बोलचाल की अवधी है :

सदा ठांव जी भीतर तोही, मोर दुख तैं का पूंछस मोही।
हियें माहिं जेहि केर बसेरा, सो का दुख पूंछस तेहि केरा।
छोटे हाथ न पहुँचे पारूं, तौ मुख ऊपर सों कच टारूं।
जो कोइ देखि चहै मम रूपा, सुनहु बात एक कहूँ अनूपा।

× × × ×

जहाँ न तोर रूप उजियारा, तहं दीअंर आछत अँधियारा।
सदा हंई मोहि रहन तुम्हारी, का मोसों गोपन मुख बारी।

छन्द :

'मधुमालत' की रचना भी दोहे चौपाई के क्रम में हुई हैं। पांच अर्द्धालियों के बाद एक दोहे का क्रम निर्वाह किया गया है।

अलङ्कार :

अलंकारों की ओर भी कवि का विशेष आग्रह नहीं है। कवि की लेखनी से कथा प्रवाह के मध्य जो अलंकार निःसृत हुये हैं, वे सरल एवं स्वाभाविक हैं। ऐसे अलंकारों में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अनुप्रास, यमक, अनन्वय आदि का प्रयोग ही अधिक हुआ है।

उत्प्रेक्षा :

सम्मुख में केलि जिन करहीं, की जनु दुइ खञ्जन उड़लरहीं।

ताकि बिसनाइ नीद महँ हँसी, जानि स्वर्ग से दामिनि खसी।

दृष्टान्त :

नरियल जइस प्रीत करूं बारा, ऊपर कटकट हियें रसारा।

उपमा :

सुधा समान जीभ मुख बाला, औ बोलत अति वचन रसाला।

रूपकातिशयोक्ति :

सजग भई मृग दुहुँ दिसि हेरी, चीन्ह कीहिस सदोरा हेरी।

गम्योत्प्रेक्षा :

लवैं दुऊ पूर जल भरे, सीप फूट जिन मोती झरे।

हेतूत्प्रेक्षा :

आम भयो दुख बउरा, महुआ भयो बिन पात।
ऊख भई दुख टकटक, सुन पेमा उत्पात।

यमक :

निभ्रम चित्त अकेली, बन महँ भइ रहस निरसंक।
हरि नैनी, हरि बैनी, हरि बदनी, हरि लंक।

स्वभाव-चित्रण :

प्रत्येक पात्र के शील विकास का स्वतन्त्र अवकाश इन प्रेमाख्यानों की रूढ़िवद्ध कथा के कारण नहीं रहता है, अतः सभी कथाओं के पात्र लगभग एक से ही ज्ञात होते हैं किन्तु 'मधुमालत' के पात्र, आदर्श रूप में अधिक हैं। किसी एक ही पात्र में शक्ति शील एवं सौन्दर्य का संग्रहीत आदर्श कवि मन्झन प्रतिष्ठित नहीं कर सके, किन्तु उनका मनोहर प्रेम का आदर्श है। ताराचन्द एवं प्रेमा सच्चे मित्र एवं सहायक के आदर्श हैं। मनोहर एवं प्रेमा, ताराचन्द एवं मधुमालति का निःस्पृह प्रेम-सम्बन्ध भी सर्वथा भारतीय आदर्शों के अनुकूल है। मनोहर को कहीं-कहीं अपने जातीय गौरव का भी ध्यान आता है जैसा कि वह प्रेमा को दैत्य से मुक्त करते समय कहता है कि रविबंशी किसी भी कठिनाई से भयभीत नहीं होते, किन्तु वह किसी भी जाति स्वभाव का प्रतीक नहीं है।

'मधुमालत' प्रेमाख्यान अपने कथा संगठन एवं प्रेम-पद्धति दोनों ही दृष्टियों से नवीन एवं आकर्षक है, साथ ही कवि मन्झन की सहृदयता ने इस ग्रन्थ को रूढ़िवद्ध प्रेमकथा मात्र होने से बचा लिया है। कवि का भारतीय संस्कृति एवं जीवन से घनिष्ट परिचय ज्ञात होता है, जो सराहनीय है।

चित्रावली

(कवि उसमान कृत)

निवास स्थान :

कवि 'उसमान' गाजीपुर नगर के निवासी थे। गाजीपुर का वर्णन करते समय कवि ने उसकी भौगोलिक स्थिति, उसके निवासी, तथा वहाँ की सुख शांति का वर्णन किया है। वह लिखता है कि गाजीपुर गंगा और गोमती के संगम पर बसा है। द्वापर में वहाँ देवताओं ने तपस्या की थी। कलियुग में भिन्न जाति वर्ग के व्यक्तियों के बस जाने से यह अमरपुरी की भांति सुखसमृद्धि पूर्ण हो गई, जहाँ देवताओं का ध्यान करते समय ज्ञानी, युद्ध के समय वीर, तपस्या के समय मौन एवं सभा स्थलों में वाक्‌पटु, शत्रु के सम्मुख सिंह के समान व्यवहार करने वाले वीर एवं ज्ञानी विद्‌वान रहते हैं। मुगल, पठान, राजपूत, खंडवाहे ऐसे वीर सुभट, तथा पिंगल और संगीत में पारंगत कलावंत भाट एवं अमीर उमराव सभी निवास करते हैं। ब्राह्मण धार्मिककृत्यों, वेद पठनपाठन एवं होम यज्ञादि में लगे रहते हैं, वैश्य धनवान तथा शूद्र पटु खेतिहर होते हैं। इस प्रकार गाज़ीपुर का चित्र कवि बड़ा समृद्धपूर्ण प्रस्तुत करता है।[1]

---

1. गार्जीपुर उत्तम अस्थाना, देवस्थान आदि जग जाना।
   गंगा मिलि जमुना तंह आई, बीच मिलि गोमती सुहाई।

   × × ×

   बसहिं लोग बुध बहु विज्ञानी, सैयद सेख बसै गुरु ज्ञानी।

   ज्ञान ध्यान कंह देवता, सुमर सगै पुन सूर।
   तप मंह मौन सभा चातुर, अरि मुख सिंह सदूर।

   पुनि तंह लोग बसैं सुखबासी, घर घर देखि इन्द्रासन भासी।
   मोगल, पठान, बसहिं षंडवाहे, रन अमेट जिन्ह साह सराहे।
   पुनि रजपूत बसहिं रन रूरे, और गुनी जन सब गुन पूरे।

   ताजी, तुरकी. चढि चलहिं, जानुहु उमरा मीर।
   सब सुखवास नगर मंह, परसन बासी तीर।

   ब्राह्मन सब पन्डित औ ज्ञानी, चारों वेद बात जिन्ह जानी।
   होम जाप अस्नान बिकाला, तजहि न एको तिनहु कहाला।

माता पिता भाई आदि :

कवि उसमान ने अपने निवास स्थान के बाद अपने पिता एवं भाइयों का परिचय दिया है। इनके चार भाई शेख अजीज़, इमानुल्लाह, शेख फैजुल्लाह, शेख हसन नाम के थे। कवि ने अपना परिचय सबसे अन्त में दिया है। ये पाँचों भाई अपनी पृथक विशेषता वाले थे। शेख अज़ीज़ विद्वान, शीलवान तथा दानशील थे, इमानुल्ल ह योग साधना में रत थे, शेख फैजुल्लाह पीर थे एवं शेख हसन संगीतज्ञ थे। कवि अपना परिचय साहित्यक के रूप में देता है। उसका कहना है कि इस नश्वर संसार में केवल वचन ही अमर है, वचन उस अमृत के समान है जिसे पीकर कविगण भी अमर हो जाते हैं, अतः उसने विद्यालाभ करके साहित्य रचना की ओर ध्यान दिया।[1]
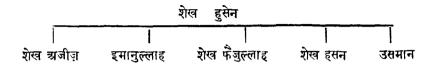
स्थिति एवं रचना काल :

कवि ने 'शाहेवक्त' की प्रशंसा के अन्तर्गत जहाँगीर की प्रशंसा की है। उसके राज्य विस्तार तथा न्यायप्रियता की चर्चा भी कवि ने यथेष्ट की है ; व्यापारिक सम्बन्ध तथा सुख समृद्धि का वर्णन मिलता भी है। जहांगीर के दान की प्रशंसा सुनकर सम्भवतः

खत्री बेस सबै पुनि धर्नी, नैन न फेरहि देखे अर्नी।

घर घर नगर बधावरा, गलियन सुगंध बसाइ।
एक दिस बाजत आवै, एक दिस बाजत जाइ। पृ० ११, १२।

१ कवि उसमान बसै तेहि गाऊं, सेख हुसैन तनै जग नाऊं।
पांचा भाइ पाचो बुधि हीये, एक इक भांति सो पांचो लीये।
सेख अज़ीज़ पढ़ै लिखि जाना, सागर सील ऊंच कर दाना।
मानुल्लह विधि मारग गहा, जोग साध जो मौन होइ रहा।

सेख फैजुल्लह पीर अपारा, गनै न काहु गहे हथियारा।
सेख हसन गाएन भल आहा, गुन विद्या कहं गुनी सराहा।

शील उदधि पुनि सबै सुजाना, जो कोउ मिला सोई पै जाना।

सुने नाउ उत्साह चित, मिले होइ जिय सांति।
पांच भाइ जगु पांच मित्रं, अपनी अपनी भांति।

आदि हुता विधि माथे लिखा, अच्छर चारि, पढ़े हम सिखा।
मोहं चाउ उठा पुनि हीए, होउं अमर यह अमिरित पीए।

कवि स्वयं भी एक बार उसके दरबार में गया था।[1] जहांगीर का पूरा नाम अबुल मुजफ्फर नूरुद्दीन मुहम्मद था। उसका शासन काल सं. १६६२-१६८४ था, अतः कवि का स्थिति काल भी यही हो सकता है। जहांगीर की न्यायप्रियता के हेतु उसके घन्टे की चर्चा ऐतिहासिकों ने की है। कवि उसमान ने भी इस ओर संकेत किया है।

कवि ने सन १०२२ हि० में कथा का आरम्भ किया था, वह इस जग की काली अज्ञान रात्रि को सरलता से बिताने के लिये एक इच्छा-तरु रूपी प्रेम-कथा कहता है। कथा को लिखने में कवि ने अपने हृदय का समस्त रस पुञ्जीभूत करके उड़ेलने का प्रयास किया है। हृदय के लहू का पानी करके कवि ने कथा कही है। कवि अत्यन्त विनीत होकर, अपनी त्रुटियों की क्षमा चाहता है और विद्वतवर्ग से प्रार्थना करता है कि वे स्वयं एक दूसरी कहानी लिख लें[2]। इस प्रकार निश्चित यह होता है कि कवि ने वचन की अमरता तथा अज्ञान निशा के कालयापन के हेतु ही इस प्रेम-कथा की रचना की है। इसका रचना काल सन् १०२२ ई० है।

---

1. नूरुद्दीन महीपति भारी, जाकर आन मही मंह सारी।
आवहि अरबी और इराकी, रस मिसिरी कस्तुरी खतां की।
आवहि चली चीन की चीनी, सहसन मांह एक इक बीनी।
सांत खन्ड बिनवई सेवकाई, फिरी चलइ हर ओर दुहाई।
तपइ साह जस रवि उजियारा, ग्रीषम होइ रहा संसारा।
भानु सौंह बरु चख ठहराई, संमुख साह निहारि न जाई।

पुनि कलि अदल उमसम कीन्हा, धन सो पुरुष जो यह जग लीन्हा।
पुहुमी परै न पावै कांटा, हस्ती चांपि सकै नहिं चांटा।

सहस खार कंचन के साजे, पाटडोर तेहि बार बिराजे।
दुखिया छुअत होय झनकारा, उठैं कांपि सकटक खन्धारा।
पात साह सुन निकट बुलावै, दरसन पाय दाद पुनि पावै।
कलप बिरिछ भा यह जग माहीं, कोस सहस दस पसरी छांहो।
एकहि बेर एक कहं देई, दूसरि बेरि न कोऊ लेई।
आयो सोई बार सुनि लिए गरीबी साज।
कहत जो मांगु गरीब है, साह गरीब नेवाज॥
पृ० ६, ७, ८, ९।

२. सन् सहस्त्र बाइस जब अहै, तब हम बचन चारि एक कहै।

कहत करेज लोहू भा पानी, सोई जान पीर जिन्ह जानी।
मोरी बुद्धि जहां लहु अही, जहं लहु सुझि कथा में कही।
जाकी बुद्धि होइ अधिकाई, आन कथा एक कहै बनाई।

मैं अजान जग बाल सम, आन न कछु सोहाय।
कहौं कहानी प्रेम की, जेहि निसि जाय बिहाय। पृ० १४, १५।

गुरु :

गुरु परम्परा का वर्णन करते समय कवि ने सिद्धदायक शाह निज़ाम पीर की प्रशंसा की है, इनका निवासस्थान नारनौलि नामक स्थान था। शाह निजामुद्दीन चिश्तिया ही, कवि के पीर थे। इनकी कृपा या आशीर्वाद, व्यक्ति को जीवनमुक्त बना देता था। कवि उसमान के दीक्षा-गुरु बाबा हाजी थे। इनके पास हिन्दू मुसलमान सभी अपनी इच्छा पूर्ति के लिये आते थे। इन्हीं ने एक दिन दया करके कवि उसमान को भी दीक्षा दी थी[1]।

कवि उसमान विनीत स्वभाव के, तथा एक गुणी परिवार के सदस्य थे। इनके निवास स्थान, ग्रन्थ रचनाकाल, स्थिति काल, गुरु पिता एवं भाइयों के नाम के अतिरिक्त, सामाजिक जीवन का और कुछ परिचय ज्ञात नहीं होता।

कथा सारांश :

अन्य सूफ़ी प्रेमाख्यानों की भांति इसका आरम्भ कवि निरन्जन ब्रह्म, मुहम्मद साहब, उनके चार मीत और शाहेवक्त एवं गुरु की प्रशंसा के पश्चात् करना है। नैपाल देश के राजा धरनीधर तथा रानी हीरा के कोई संतान न होने के कारण वे अत्यन्त चिन्तित रहते थे। राजा धरनीधर ने एक दिन बहुत निराश होकर राज-पाट छोड़कर तपस्या करनी चाही, किन्तु उसके मंत्रियों ने उसे घर पर ही शिवाराधना करने को कहा और दान पुन्य की महिमा को समझाकर उसे घर पर ही रोक लिया। उसके दान की प्रशंसा शिवलोक तक पहुंची और पार्वती सहित शंकर ने उसकी दृढ़ता तथा एकनिष्ठता की परीक्षा करनी चाही। शिवपार्वती साधू वेश धारण कर राजा धरनीधर के पास पहुंचे और कहा कि यदि राजा अपना सिर उन्हें दान कर दे तो वे उसे शंकर पर चढ़ाकर श्री आशुतोष को प्रसन्न कर लेंगे। विचार करने के पश्चात् राजा ने सिर दान करना स्वीकार कर लिया, और उन तपस्वी वेश धारी शंकर पार्वती से कहा कि वे उसे मन्दिर तक ले चलें जहां वह अपनी रुधिरधार श्री शंकर पर चढ़ा कर शंकर को तपस्वियों के लिये प्रसन्न कर सके।

---

१. शाह निजाम पीर सिधदाता, दिप्ट तेज जिमि रवि परभाता।
नारनौलि भीतर अस्थाना, उदे अस्त लइ सब कोइ जाना।
गहि भुज कीन्हें पार जे, बिनु साहस बिनु दाम।
कस्ती सकल जहाज के, चस्ती शाह निजाम॥
बाबा हाजी पीर अपारा, सिद्ध देत जेहि लाग न बारा।
हिन्दू तुरक सबै कोइ जाना, निसि दिन जांचहि इंछादाना।
मोहिं दया कै एक दिन, श्रवन लाग गहि माथ।
गुरु मुख वचन सुनाय कै, कलि मंह कीन्ह सनाथ।
पृ० ६।

शिव पार्वती उसकी दृढ़ता देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुये और स्वयं अपने अंश को राजा के यहां पुत्र रूप में अवतरित होने का आश्वासन दिया। यथासमय राजा के यहां पुत्र उत्पन्न हुआ, लगन नक्षत्र आदि का ज्योतिष से विचार करने के पश्चात् उसका नाम सुजान रक्खा गया। सुजान अत्यन्त गुणशाली तथा कुशाग्रबुद्धि था, उसने अनतिकाल में ही अनेक विद्यायें सीख लीं।

कुंवर बहुत अच्छा अश्वारोही था। उसे शिकार का बहुत चाव था। एक दिन मृगया के पश्चात् जब वह दलबल सहित घर लौट रहा था तो मार्ग में आंधी के कारण मार्ग भूलकर एकाकी, एक पर्वत पर स्थित किसी देव की मढ़ी में जा सोया। वह देव अपने देश के राजा के एक मात्र पुत्र की रक्षा के हेतु मढ़ी के द्वार पर बैठ गया किन्तु इसी समय उसका एक मित्र आया और उसने रूपनगर की चित्रावली के वर्षगांठ के उत्सव का अत्यन्त आकर्षक वर्णन करके उससे भी देखने चलने को कहा। कुमार की रक्षा का प्रश्न देव को मढ़ी से न जाने को बाध्य कर रहा था। तभी उसके मित्र ने कुंवर को साथ ले चलने की सलाह दी, निदान कुंवर को इन दोनों ने चित्रावली की चित्रसारी में लिटा दिया और स्वयं उत्सव देखने में संलग्न हो गये।

इधर कुंवर की नींद खुली और अपने को नवीन स्थान पर देखकर वह आश्चर्य चकित हो गया। चित्रावली का चित्र देखकर वह मन्त्रमुग्ध सा हो उसे निहारने लगा। उस रूप-सौन्दर्य ने उसके हृदय में प्रेमोन्मेष कर दिया। चित्रसारी में चित्र-रचना का सामान देखकर उसने अपना भी एक चित्र वहीं, उसके चरणों के पास बना दिया और फिर निद्रा के वशीभूत हो गया।

उत्सव समाप्त हो जाने पर देव कुंवर को लेकर फिर मढ़ी में आगया। प्रातःकाल जागने पर कुंवर अत्यन्त दुखी हुआ और प्रेम में विह्वल हो ज्ञानगर्व खो बैठा। उसके साथी ढूंढ़ने के पश्चात उसे इस अवस्था में देखकर अत्यन्त चिन्तित हुये और उसे नगर में ले आये। सुजान के माता पिता उसकी यह अवस्था देखकर अत्यन्त विकल हो गये; किन्तु कुंवर किसी से कुछ नहीं कहता था। अन्त में उसके गुरुपुत्र सुबुद्धि ने उससे सब हाल जान लिया और परामर्श करने के पश्चात यह स्थिर किया कि वे फिर उसी मढ़ी पर जाकर रहें। ये दोनों मित्र उसी मढ़ी की नवीन रचना करवा कर रहने लगे तथा दान का प्रभाव अमिट मानकर इन्होंने भी अन्नसत्र आरम्भ कर दिया।

दूसरे दिन रूपनगर की राजकुमारी चित्रावली, अपनी सखियों के साथ स्नान तथा शृंगार करने के पश्चात, जब चित्रसारी में पहुँची तो वहां कुंवर का चित्र पाकर उस पर प्रेमासक्त हो गई वह अपना सारा दिन चित्रदर्शन में तथा रात्रि अपने महल धौराहर पर बिताने लगी किन्तु एक नपुंसक ने रानी हीरा से उसकी शिकायत करदी और उसकी मां ने कुंवर के चित्र को धो डाला। चित्र की अनुपस्थिति में चित्रावली की बेचैनी और अधिक बढ़ गई, उसने उस कुटीचर को दण्ड देने के पश्चात् चार नपुंसकों को कुंवर की खोज में भेजा।

परेवा नाम का एक दूत योगी का भेष धारण कर उत्तर के देशों में भ्रमण करता हुआ नैपाल जा पहुँचा,वहां उसके भोजनपान न करने पर चिंतित होकर जब कुंवर ने उसे अपने पास बुलाया तो वह उसे पहचान कर अत्यन्त हर्षित हुआ। परेवा ने कुंवर को रूपनगर के मनोहर वैभव तथा भव्य सौन्दर्य का विवरण सुनाकर उसे रूपनगर के लिये प्रस्थान करने को आतुर कर दिया। परेवा गुरु के प्रताप तथा 'लुक अंजन' के प्रभाव से कुंवर अदृश्य होकर रूपनगर की ओर चला। मार्ग में मन की वृत्तियों को रमाने वाले कई आकर्षक स्थानों को पारकर हृदय में केवल एक चित्रावली के दर्शन-लाभ की इच्छा लेकर कुंवर रूपनगर तक पहुंचा। परेवा कुंवर से शिवमन्दिर पर ठहरने के लिये कह-कर स्वयं चित्रावली को सूचित करने गया।

चित्रावली कुँवर आगमन का समाचार पाकर अत्यन्त हर्षित हुई किन्तु नारी सुलभ लज्जा के कारण उससे मिलने स्वयं वहाँ न जा सकी, परेवा से कहला भेजा कि 'शिवरात्रि के दिन मैं जोगियों को भोजन कराऊँगी, तभी झरोखे से तुम्हें दर्शन भी दूंगी। तब तक दर्पण में तुम उस मूर्ति का प्रतिबिम्ब देखकर अपने ज्ञान तथा चर्म चक्षुओं को दृढ़ कर लो क्योंकि एकाएक कोई चित्रावली के अनन्त सौन्दर्य का दर्शन नहीं कर सकता'। इस सन्देश के साथ परेवा ने वह दर्पण कुँवर को दे दिया।

शिवरात्रि के दिन सम्पूर्ण शृङ्गार करके चित्रावली ने कुँवर को दर्शन-लाभ दिया। कुँवर प्रथम छवि को देखकर मूर्च्छित हो गया किंतु उपचार के पश्चात् चैन आने पर परेवा ने उसे फिर दर्शन-लाभ पाने की सूचना दी, सुनकर कुँवर अत्यन्त हर्षित हुआ और चित्रावली नित्य इसी प्रकार झरोखे से कुंवर को दर्शन देने लगी।

इसी समय जिस कुटीचर को चित्रावली ने दण्डित करके निकाल दिया था उसके मन में नित्य अन्नसत्र की बात सुनकर सन्देह उत्पन्न हुआ और वह भी योगी का भेष धारण करके वहाँ गया। कुँवर के चित्र को पहले देख चुकने के कारण उसने शीघ्र ही कुँवर को पहचान लिया और उसे बहकाकर अपने साथ ले गया तथा धोखे से उसे अन्धा करके एक निर्जन वन की गुफा में डाल दिया। इस प्रकार योगियों का जमघट हट गया और चित्रावली को विरह का दुख सहना पड़ा। वह अत्यन्त पीड़ा से व्याकुल हो अपना समय बिताने लगी।

इधर जंगल में कुँवर अकेला भटक रहा था और ईश्वर का स्मरण कर रहा था। तभी एक अजगर उसे निगल गया किन्तु उसकी विरहाग्नि की ज्वाला से घबड़ाकर उसने कुँवर को उगल दिया। एक बनमानुष इस घटना को देख रहा था, उसे यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ और उसने कुँवर से सारी कथा जान ली। सारा हाल जानकर उसने कुँवर को एक अंजन दिया जिसे लगाने से उसकी नेत्रज्योति पुनः पूर्ववत् हो गई। इसी समय उसे एक मत्त हाथी ने पकड़ लिया। उसका जीवन समाप्त होने ही वाला था कि एक पक्षिराज हाथी को ले उड़ा। हाथी ने घबड़ाकर कुँवर को छोड़ दिया और वह एक समुद्रतट पर जा गिरा। वहां एक फुलवारी में वह विश्राम कर रहा था तभी सागरगढ़ की राजकुमारी कौलावती उसे देखकर रूपासक्त हो गई।

कुवँर चित्रावली के वियोग में एक क्षण कहीं रुकना नहीं चाहता था, किन्तु कौंलावती ने उसे रोकने का अन्य उपाय न पाकर योगियों को भोजन खिलाने के बहाने उसके भोजन में हार छिपाकर उसे चोरी के दण्ड में बन्दी बना लिया। कुवँर सुजान कैद में ही था और किसी भी प्रकार से कौंलावती के अनुकूल नहीं हो रहा था कि कौलावती के रूप-सौन्दर्य को सुनकर सोहिलनरेश ने सागरगढ़ पर आक्रमण कर दिया। चार महीने गढ़ के घिरे रहने के कारण राजा सागर को जीतने की आशा नहीं रह गई, तभी कुवँर सुजान को कौंलावती पर दया आई; उसने संग्राम में अपने पराक्रम से सोहिल नरेश को मृत्यु के घाट उतार कर सागरगढ़ की रक्षा की। सागर नरेश ने सुजान के साथ कौंलावती का विवाह कर दिया, किन्तु साथ ही कुवँर ने कौंलावती से यावत् चित्रावली मिलन तक प्रतीक्षा करने की प्रतिज्ञा करवा ली थी।

इधर चित्रावली वियोग से पीड़ित थी। उसने कुवँर को ढूंढ़ने के लिये फिर परेवा को भेजा, वह सारे देशों में खोजता हुआ गिरनार पर्वत पर पहुँचा। वहीं उस समय कुवँर और कौंलावती भी शंकर पूजन के हेतु गये थे। योगी ने कुवँर को पहचान कर, उसे फिर रूपनगर के लिये प्रस्थान करने को प्रेरित किया। कुवँर कौंलावती से फिर मिलने की प्रतिज्ञा करके रूपनगर की ओर चल दिया।

इसी अवसर पर राजा रूपनगर को एक कथक ने सागर राजा और सोहिलनरेश के युद्ध तथा कुवंर सुजान के पराक्रम की कथा सुनाई जिसे सुन राजा को कन्या के विवाह की चिन्ता उत्पन्न हुई और उसने चार चित्रकार राजकुमारों के चित्र लाने के लिये भेजे। इसी बीच रानी को चित्रावली की उदासी देखकर चिन्ता हुई और एक चेरी के द्वारा उसे परेवा के द्वारा सन्देश भेजने का समाचार ज्ञात हो गया।

परेवा जब कुवँर को सीमा पर बैठाकर चित्रावली को सुसम्वाद देने आ रहा था तभी वह परेवा, रानी हीरा के दूतों द्वारा पकड़ लिया गया। परेवा के सन्देश लेकर न आने पर कुंवर विरह से अत्यधिक संतप्त होकर पागलों की तरह चित्रावली का नाम ले-लेकर इधर-उधर दौड़ने लगा। राजा ने अपयश के भय से उसे उन्मत्त हाथी के द्वारा मरवाना चाहा किन्तु कुंवर सुजान ने उस हाथी को भी पछाड़ डाला। उसकी वीरता देखकर चित्रावली के पिता को भय उत्पन्न हुआ और उसने चारों ओर से घेर कर उसे पकड़ लिया।

इसी अवसर पर सागरगढ़ से आये हुये चित्रकार ने कुंवर सुजान का चित्र उपस्थित किया जो इस योगी से पूर्णरूपेण मिलता था तथा रानी हीरा ने परेवा को बन्दीगृह से मुक्त कराकर सब हाल पूछा तो ज्ञात हुआ कि यही कुंवर सुजान है। राजा को यह जानकर हर्ष हुआ और उसने चित्रावली का विवाह सहर्ष सम्पन्न किया। चित्रावली ने, कौंलावती के सन्देश से कुंवर को वञ्चित रक्खा और रंगनाथ पांडे तथा चित्रावली दोनों कुंवर को रस-चर्चा में मग्न रखने लगे।

कौंलावती ने हंसमित्र को अपना दूत बनाकर विरह-व्यथा सुनाने रूपनगर भेजा। वहाँ उसने भ्रमर पर आक्षेप करके कुंवर को कंवलावती का स्मरण करवाया।

कुंवर ने अपने माता-पिता और कंवलावती का स्मरण करके रूपनगर के राजा से विदा मांगी। चित्रावली की विदा का वर्णन बड़ा मार्मिक है। वहाँ से विदा कराके कुंवर मार्ग में कंवलावती को लेता हुआ अपने घर की ओर चला। समुद्र में तूफान आया किन्तु संकट पार करके वे जगन्नाथपुरी पहुँचे। वहाँ कुंवर की भेंट पुरोहित केशी पाँडे से हुई जिसने उसे पाँच अमूल्य नग भी दिये। वहाँ से सब प्रकार से सुसज्जित हो, कुंवर अपने देश आया जहाँ उसके माता पिता पुत्र वियोग में अन्धे हो गये थे। पुनः पुत्र को प्राप्त कर उनके के नेत्र खुल गये और राजा ने अपने पुत्र का राज्याभिषेक करके स्वयं शिवाराधना में ध्यान लगाया।

कवि उसमान कथा को दुःखान्त नहीं बनाना चाहता था। उसने अपनी कथा का अन्त इसी कारण राज्याभिषेक के बाद ही कर दिया है।

कथा—संगठन :

अन्य सभी सूफी कवियों की भांति कवि उसमान ने भी अपने सम्बन्ध में कुछ ज्ञातव्य बातों का परिचय चित्रावली के आरम्भ में दिया है। सर्वप्रथम निर्गुण निरन्जन परमात्मा की प्रशंसा, तथा महत्व का वर्णन एक चित्रकार के रूप में किया है। उसके कर्ता एवं दाता स्वरूप की स्तुति भी कवि ने की है। इसके बाद कवि ने मुहम्मद साहब के अवतार एवं महत्त्व का वर्णन किया है। परमात्मा ने पहले अपने ही अंश से 'नूरुल मुहम्मदिया' उत्पन्न किया। इबलीस द्वारा आदम के विरोध की चर्चा भी कवि करता है। मुहम्मद साहब की परछाहीं नहीं थी तथा उन्होंने चाँद के दो टुकड़े किये थे। उनको जब किसी ने विष दिया तो विष का ग्रास हाथ में बोल उठा था। ये सभी चमत्कार मुहम्मद साहब के महत्व की स्थापना करते हैं।[1]

इसके अतिरिक्त कवि ने मुहम्मद साहब के चार मित्रों की स्तुति की है। इन चारों का क्रम लगभग सभी ग्रन्थों में 'अबूबकर, उमर, उसमान एवं हजरत अली' इसी रूप में रहता है। अली की प्रशंसा शूरवीर के रूप में हुई है।[2] इसके पश्चात् कवि ने

---

१. आपन अंस कीन्ह दुइ ठाऊं, एक क धरा मुहम्मद नाऊं।
जो परान संसारक माहीं, कस न भई तेहि संग परछाहीं।
संग्या करन चांद मनियारा भा विखन्ड जानै संसारा।
औ कपटी भोजन विषविसा, बोलि उठा कर मांह गिरासा।
करनी खोटी मोर सब, का कहि बिनवौं तोहिं।
अपनी उम्मति जानि कै, लै निरबाहब मोंहि।

२. पहले अबूबकर मनबाड़ी, मन्त जान जो भो अनबाड़ी।
दूजे उमर न्याउ प्रतिपारा, जे विष कारन सुतहि संघारा।
तीजे उसमां पंडित ज्ञानी, जे करि ज्ञान लखा विधि बानी।
चौथे अली सिंह रन सूरा, दान खड़ग जे तिहुं जग पूरा। पृ० ६।

शाहेवक्त (जहाँगीर) एवं अपने पीर शाह निज़ाम तथा बाबाहाजी की प्रशंसा की है। आत्मपरिचयात्मक रूप में गाजीपुर तथा अपने पिता एवं भाइयों का परिचय भी कवि देता है।

कवि ने कथा के आरम्भ में प्रस्तावना लिखते समय रूप, प्रेम और विरह तत्वों की चर्चा की है, अन्य कथाओं में परम्परा निर्वाह के बाद कवि सीधे से कथा के पात्रों का परिचय दे कथा आरम्भ कर देता है, किन्तु यह इस दृष्टि से नवीन है।

इस संसार में रूप और प्रेम का साथ है। जहाँ रूप है वहीं प्रेम है। रूप प्रेम के संयोग से जो सुख उत्पन्न होता है, उसी की स्वाभाविक प्रक्रिया विरह है। इस प्रकार रूप, प्रेम, विरह इन तीनों का चिरन्तन साथ है। इन्हें सृष्टि के मूल स्तम्भ मानकर कवि अपनी कथा आरम्भ करता है। कथारम्भ में वर्णनात्मक है किन्तु फिर भी रूप, प्रेम और विरह की चर्चा से सरसता आ गई है। कथा-रचना के हेतु का वर्णन करते हुये भी कवि ने कथा में रुचि उत्पन्न करने का प्रयास किया है। इस कलिकाल की अज्ञाननिशा में वही पुरुष धन्य हैं, जो जागते हैं राजा राजसुखोपभोग करते हुये जागता है। सेवक सेवा करता है, चोर चोरी करता है। विरही व्यथा पीड़ित रहता है। जुआरी जुआ खेलता है। सिद्ध ध्यान लगाते हैं। दुखी दुखानुभव करते हैं। पंडित अध्ययन अनुशीलन करते हैं और अबोध बालक कहानी सुनकर रात्रि बिताना चाहता है। कवि अपने को ऐसे ही अज्ञान बालक की भांति बताता है जो प्रेमकथा कहकर अज्ञान अंधकार का निवारण चाहता है[1]।

इसके अनन्तर कवि अपनी कथा आरम्भ करता है। मंझन के विपरीत कवि उसमान को, घटनाओं का विस्तृत वर्णन करना ही अधिक प्रिय लगा। कवि ने राजा धरनीधर का पुत्राभाव, दान, शम्भू परीक्षा, पुत्रोत्पत्ति, उसकी शिक्षा, चित्रदर्शन, विरह, परेवा की खोज, राजकुमार सुजान का स्वदेश प्रस्थान, मार्ग की कठिनाइयां अन्त में प्रिय प्राप्ति आदि सभी परम्परायुक्त घटनाओं का वर्णन किया है किन्तु कुछ घटनाओं और आश्चर्य तत्वों की संयोजना अवश्य नवीन रूप में हुई है। कुछ यौगिक क्रियाओं का समावेश हुआ है, जैसे लुकअञ्जन लगाने से लोगों की दृष्टि से अदृष्ट होना आदि।

---

१. रूप प्रेम विरहा जगत, मूल सृष्टि के थम्भ।
हौं तीनहु के भेद कहु, कथा करौं आरम्भ॥

जागै राउ राजसुख करई, सेवक जगि सेवा चित धरई।
जागैं चोर जो परधन चहा, बिरही जगि बिरहानल दहा।
जागैं ज्वारी खेलत जूआ, काहु एक काहू मन दूआ।
जागहिं सिद्ध ध्यानधरि हीए, जागहिं दुखी दुःख मन होए।
जागैं पंडित पढ़त हरिबानी, जागहिं बालक कहैं कहानी।

मैं अजान जग बाल सम, आन न कछु सोहाय।
कहौं कहानी प्रेम की, जेहि निसि जाय विहाय। पृ० १४।

आश्चर्य तत्वों की योजना में कवि ने केवल एक देव की ही ऐसी योजना की है जो अपने रूप से ही आश्चर्यजनक है, साथ ही उसके कृत्य भी ऐसे हैं कि राजकुमार सुजान को लेकर चित्रसेन के राज्य रूपनगर उड़ जाना और फिर दूसरे ही दिन सबेरे उसे लाकर मढ़ी में लिटा देना आदि। दूसरे प्रकार के आश्चर्य तत्वों में वे हैं जो अपने नाम या रूप से आश्चर्यजनक नहीं है किन्तु जिनके कार्य अवश्य आश्चर्यजनक हैं, जैसे अजगर का राजकुवँर सुजान को विरह ज्वाला के कारण उगल देना, हाथी का राजकुंवर को सूंड़ में लपेटना, एक पक्षी का सुजान और हाथी दोनों को लेकर आकाशमार्ग से उड़ना आदि। ये ऐसे कार्य हैं जो कथा को परियों की कहानी का स्वरूप प्रदान करते हैं।

मसनवी-रचना की एक और पद्धति पाई जाती है कि नायक का परिचय प्रत्येक कठिन स्थल पर एक सुन्दरी से होता है और वह अपने लक्ष्य परमसौन्दर्य के प्रतीक प्रिय तक पहुँचने के पूर्व उन सभी से विवाह कर लेता है। मलिक मंझन ने भी अपने नायक का परिचय एक सुन्दरी से करवाया, किन्तु नायक मनोहर और प्रेमा के भाई-बहन के सम्बन्ध की स्थापना, उनकी मौलिकता एवं भारतीय परम्परा से परिचय को स्पष्ट करती है। कवि उसमान ने सुजान से कौंलावती का परिचय कराके कई उद्देश्यों की पूर्ति की है। एक ओर तो उसने सुजान की कौंलावती के प्रति उपेक्षा तथा गौ, नारी एवं ब्राह्मण की रक्षा के हेतु क्षत्रिय धर्म पालन दिखाकर नायक के चरित्र का उत्कर्ष दिखाया है। दूसरी ओर नायक के अविवाहित होने के कारण उसके गृहत्याग से नायक की दृढ़ता का परिचय नहीं होना था, किन्तु सुजान ने कौंलावती से विवाह करके भी चित्रावली की प्राप्ति के पूर्व संयोगसुख लाभ नहीं किया, यह उसके लक्ष्य की एकात्मकता है। अतः कंवलावती से नायक का पाणिग्रहण केवल परम्पराभुक्त नहीं है।

कवि नूरमुहम्मद की भाँति उसमान ने अपने कथा के पात्रों का नाम संकेतात्मक नहीं रक्खा है, किन्तु कुछ नाम अवश्य ऐसे हैं जो प्रतीक रूप में आते हैं। गुरुपुत्र 'सुबुद्धि' का नाम ऐसा ही है जो विवेक का परिचायक है। सुजान के, चित्रावली की खोज में प्रस्थान करने पर सुबुद्धि, राजा धरनीधर को दान धर्म करने की सम्मति देता है जिससे सुजान का साधना-मार्ग सरल हो जाय। रूपनगर के बीच पड़ने वाले नगरों के नाम भी प्रतीक रूप में आये हैं : भोगपुर, इन्द्रियपुर, गोरखपुर, नेहनगर और फिर रूपनगर आदि शारीरिक विषय-वासना, उनके दमन; आनन्द वृत्ति और रमणवृत्ति के परिचायक हैं। कथा का संगठन एवं घटनाओं का क्रम लगभग एक सा ही है। इन सभी कथाओं का विभाजन स्थूल रूप से तीन भागों में हो सकता है, प्रेमारम्भ, प्रयास एवं प्रिय-प्राप्ति।

चित्रावली का अन्त अवश्य ध्यान देने योग्य है। जिस प्रकार कवि मंझन ने अपनी 'मधुमालत' को जानबूझ कर सुखान्त बनाया है, उसी प्रकार कवि उसमान ने भी। कवि उसमान का विश्वास है कि प्रेमी गण, जो एक-दूसरे के ऊपर मर-मर कर ही जीते हैं, इस संसार में अमर हैं। अन्य कवियों की भांति वह अपने उन नायक

नायिका को दुखी नहीं देख सकता जो जीवन भर दुःख भोगते रहे हैं, और दीर्घ दुःख के पश्चात् ही जिन्हें सुख प्राप्त हुआ है[1]।

कथानक पूर्णतः काल्पनिक है इसका कोई ऐतिहासिक या पौराणिक आधार नहीं है।

राजा धरनीधर की परीक्षा के पश्चात् शिव का आशीर्वाद, तथा उसके यहां स्वअंश के पुत्र रूप में अवतरित होने का वरदान मनु और शतरूपा को दिये गये विष्णु के वरदान का स्मरण कराता है। कंवलावती के राज्य का यह नियम, कि चोर को वह व्यक्ति, जिसकी वस्तु चोरी गई है, बन्दी रख सकता है, साथ ही उसकी इच्छा चोर के दण्ड निर्धारण में महत्वपूर्ण सहयोग देती है, कुरान में वर्णित यूसुफ जुलेखां के आख्यान का स्मरण कराता है। यूसुफ ने अपने भाइयों के सामान में अपना कटोरा रखवाकर अपने छोटे भाई को अपने पास बन्दी रूप में रक्खा था, उसी प्रकार कंवलावती ने जोगी के भोजन में अपना हार छिपाकर उसे अपने पास बन्दी बनाकर रक्खा, दोनों ही कृत्यों में प्रेरक, द्वेष की भावना न होकर प्रेम है।

हंसमित्र के द्वारा कंवलावती का संदेश भेजना, तथा उसका भ्रमर पर आक्षेप करके कुंवर को कंवलावती का स्मरण कराना साहित्यिक संदेशप्रेषण परम्परा के अन्तर्गत आता है, कवि का हंसमित्र नाम संकेतात्मक ज्ञात होता है। अन्य प्रमाख्यानों की अपेक्षा 'चित्रावली' की एक और विशेषता यह है कि नायिका का वर्णन परम्परा के अनुसार पद्मिनी रूप में न होकर, चित्रनी रूप में है।

प्रेम-पद्धति :

कवि उसमान ने चित्रदर्शन के द्वारा नायक के हृदय में प्रेमोन्मेष दिखाया है, किन्तु उसमें अस्वाभाविकता नहीं है। सुजान चित्रावली के चित्र सौन्दर्य को देखकर मुग्ध हो जाता है और उसके स्मरण में विकल रहता है। इस बीच उसकी भावनाओं का परिष्कार भी होता है। दूसरी बार परेवा के मुख से चित्रावली का गुणश्रवण कर, उसका पूर्वराग पूर्ण परिपक्व होकर मंजिष्ठाराग हो जाता है, वह एकनिश्चयी होकर, केवल चित्रावली की प्राप्ति के हेतु निकल जाता है, किन्तु सम्भवतः चित्रावली इससे भी अधिक दृढ़ प्रेम का आग्रह करती है और वह नित्य झरोखे से सुजान को दर्शन देकर, उसको तीव्रतर

---

१. मनहिं कहेउ ते अति दुख देखा, अब जिउ मानहिं सुख कर देखा।
कवितन्ह मरन कथा कै गाई, मोहिं मरत हिय लागु छोहाई।
औ जे प्रेम अमी रस पीया, मरै न मारे जुग जुग जीया।
एक जियन एक मरन संसारा, मरे मरि जियहिं ताहि को मारा।

ज्ञान ध्यान मद्धिम सबै, जप तप सञ्जम नेम।
मान सो उत्तम जगत जन, जो प्रतिपारै प्रेम।

पृ० २३६।

एवं उन्नत बनाती है। चित्रावली के दर्शन के पश्चात् सुजान के हृदय में किसी अन्य के लिऐ स्थान नहीं रह जाता और वह कंवलावती के अनेक प्रयासों के बाद भी उसके प्रति उदासीन रहता है, यही उसके प्रेम की दृढ़ता है अन्यथा कथा में किसी प्रतिनायक या परीक्षा करनेवाली समुद्र-पुत्री तथा अप्सराओं की योजना नहीं है।

चित्रावली का प्रेम भी आदर्श है, वह सुजान के चित्र को देखकर उस पर मोहित हो गई और चित्रदर्शन से ही शान्तिलाभ कर रही है। उसकी माता के चित्र धो देने से उसका वियोग बढ़ गया, और प्राप्ति का प्रयास पहले चित्रावली की ओर से ही आरम्भ होता है। परेवा के सुजान सहित रूपनगर आ जाने से चित्रावली को प्रसन्नता होती है और वह मर्यादा का उल्लङ्घन न कर, नित्य सुजान के दर्शन मात्र से सन्तुष्ट हो जाती है; किन्तु कुटीचर की दुर्भावना से सुजान और चित्रावली का वियोग हो जाता है। चित्रावली एक ओर तो विरह से कृश होती जाती है दूसरी ओर सुजान की खोज में भी तत्पर रहती है। गिरिनार के मेले में वह अपने भी कुछ चरों को खोज में भेजती हैं और वहाँ से समाचार पाकर, उसके नाम पत्र लिखकर, अपनी व्यथा प्रदर्शित करती है। अब तक सुजान यथेष्ट प्रतिष्ठा पा चुका होता है, निदान राजा चित्रसेन को चित्रावली एवं सुजान के विवाह में विरोध नहीं होता।

कवि ने चित्रावली और सुजान के प्रेम को लगभग एक साथ ही उद्भूत कराके नवीनता का परिचय दिया है। अन्य कथाओं में नायक के विरह पीड़ित हो जाने पर ही नायिका के हृदय में अभाव का अनुभव, तथा दर्शन हो जाने पर प्रेम का प्रादुर्भाव होता है, किन्तु चित्रावली में दोनों ओर प्रेम जाग्रत होता है। दूसरी नवीनता यह है कि सुजान का मढ़ी-प्रस्थान एक प्रकार से वेदना-शन्ति का प्रयास था, किन्तु चित्रावली के खोज-प्रयास से ही नायक सुजान सही मार्ग पर अग्रसर हो सका।

सुजान, चित्रावली एवं कंवलावती का प्रेम, पूर्णतः लोकबाह्य नहीं है। उसमें लोक कर्तव्य एवं सम्बन्धों का भी समन्वय है। सुजान को व्यथित देखकर उसकी माता का :

> उठि अकुलाइ मात दुख भरी, कुंअर पास आई एक सारी।
> सीस लाइ के बैठी कोरा, पूछै बात देखि मुख ओरा।
> नैन उघारू पूत कहु पीरा, केहि कारन भा षीन सरीरा।
> काहे पीत भयो मुख राता, कहहु बात बलिहारी माता।
> पृ० ३८।

बिलपना तथा सुजान का अपनी विवशता प्रदर्शित करना, उसके प्रेम में लोक-पक्ष का दर्शन करा देते हैं। मां के वात्सल्य भाव का भी स्वाभाविक वर्णन है। सुजान के नेत्र ऐसी जगह अटके हैं जहां शरीर ही नहीं, मन भी नही पहुँच सकता :

> माता पीर सो ऊपजी, ताहि न मूरि उपाइ।
> लोयन अटके तहां पै, मन न सके जहं जाइ ॥पृ० ३९।

इसी प्रकार, चित्रावली के सुजान के चित्राभाव में मूर्छित हो जाने पर, उसकी सखियों का उसका उपचार करना; तथा माता का उसके प्रेम में वृद्धि हो जाने पर अपनी असमर्थता का ध्यान करना आदि प्रेम के ऐसे ही पक्ष हैं १।

प्रेमतत्व :

कवि ने स्थान स्थान पर प्रेम के स्वरूप की चर्चा की है। प्रेम का आधार रूप है। जहां भी सौन्दर्य या रूप होना है वहीं प्रेम उत्पन्न हो जाता है। दीपक की ज्योति पर पतंगा जिस प्रकार बरबस आकृष्ट होता है उसी प्रकार रूप की ओर प्रेम आकृष्ट होता है। केतकी की कली पर भ्रमर के गुन्जन के सदृश ही, रूप और प्रेम का सम्बन्ध है। २

परमात्मा के रूप या सौन्दर्य की ओर साधक भी आकृष्ट होता है। वह इस सृष्टि के सौन्दर्य को देखकर, इसके कर्ता के रूप का स्मरण करता है। इस प्रकार साधक का प्रेम भी रूप की ओर आकृष्ट हो कर जन्म पाता है। ३

प्रेम को बल एवं गति देने वाला विरह है। प्रेम की आग सुलगते ही, विरह रूपी पवन उसे बढ़ावा देता है; प्रेम रूपी अंकुर के उत्पन्न होते ही, विरह रूपी नीर उसे पनपाता है। प्रेम दीपक की ज्योति को विरह निरन्तर उकसाता है। प्रेम और विरह का निरन्तर साथ है।४

प्रेम की सफलता के लिये धैर्य एवं दृढ़ निश्चय आवश्यक है। धैर्यवान व्यक्ति सुमेरु पर्वत की चोटी पर भी चढ़ सकता है ५। लक्ष्य के दूर होने पर भी

---

१. सुनि रानी मन कीन्ह विचारा, उपजत बीरौ जो न उपारा।
भएं बिरष पुनि हाथ न आवे, जो बल करै सोई दुख पावै॥ पृ० ५२।

२. जहाँ रूप जग बनिज पसारा, आइ प्रेम तहं कीथ व्योहारा।
दीपक जोति प्रेम उजियारा, प्रेम पतंग आनि तंह जारा।
रूप वास भा केतिक केवा, प्रेम भौंर भौ जिव परछेवा॥ पृ० १३।

३. जेहिक चित्र अस जिउ लेनिहारा, दहुँ कस होइहि सिरजनहारा।

४. रूप प्रेम मिलि जौ सुख पावा, दुनहुँ मिलि बिरहा उपजावा।
जेहि तन प्रेम आगि सुलगाई, विरह पौन होइ दे सुलगाई।
प्रेम अंकुर जहं सिर काढ़ा, विरह नीर सों दिन-दिन बाढ़ा।
प्रेम दीप जंह जोति दिखाई, बिरह देइ छिन-छिन उसकाई।
एहि विधि प्रेम बिरह एक संगा, एकमते भौ मानहुं रंगा। पृ० १३।

५. धीरज धरि जो लेइ पथ हेरी, चढ़े जाइ जंह शृंग सुमेरी॥

प्राप्ति का दृढ़ निश्चय उसे पास ला देता है[1]। इनमें सर्वोपरि परमात्मा की कृपा दृष्टि है।[2]

अन्य वर्णन–प्रसंग :

कथा में इतिवृत के मध्य, विराम रूप से, रसात्मकता उत्पन्न करने के लिये कविगण कुछ वर्णन करते हैं। इनमें से कुछ तो परम्परायुक्त होते हैं, और कुछ कवि की नवीन उद्भावना फलस्वरूप। इसके अतिरिक्त, काव्यों में विस्तृत वर्णन दो रूपों में उपलब्ध होते हैं।

१. कवि द्वारा वस्तु वर्णन के रूप में।

२. पात्र द्वारा भाव व्यन्जना के रूप में।

कवि द्वारा जिन वस्तुओं का वर्णन विस्तार से हुआ है, उनमें गाजीपुर नगर वर्णन, आखेटवर्णन चित्रावली सौन्दर्य वर्णन, जलक्रीड़ा, रूपनगर यात्रावर्णन, बारहमासा युद्धयात्रा, युद्धवर्णन, भोजवर्णन, कंवलावती सौन्दर्य वर्णन, भरतखण्ड यात्रावर्णन आदि प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त, कवि ने केवल अपनी बहुज्ञता प्रदर्शित करने के लिये विभिन्न रागरागिनियों, वाद्यों, देशगत विशेषताओं एवं कामशास्त्र सम्बन्धी भेदोंपभेदों का वर्णन किया है।

आखेट-वर्णन :

आखेट की क्रियाओं का वर्णन करके कवि अपने विचार प्रकट करता है। सुजान की आखेट में रुचि थी। एक पारधी सदैव उसके पास रहता था जो उसे शिकार की सूचना देता, फिर चारों ओर से घेरकर पशु पक्षियों को मारता था।

अस अहेर कह मन चित बांधा, निसि दिन रहहि पारधी राधा।

पहिले पारधि जाई बन, घात करै चहुँ फेर।
सवरि कुंअर तव कटक ले, खेलै जाइ अहेर। पृष्ठ २५।

शिकार मार लेने के पश्चात् जब लोग उसे भून कर खाते तथा बखानते हैं, तो कवि की उक्तियाँ दर्शनीय हैं :

---

१. जेहि काहू खोजे कोऊ, एक मन एक चित लाइ।
होइ दूरि जो अति तऊ, नियरहि मिले सो आइ।

२. पावै खोज तुम्हार सो, जेहि देखलावहु पन्थ।
कहा होइ जोगी भए औ पुनि पढ़े गरन्थ। पृ० ४८

सेवकन्ह मांस भूंजि के कहा, आपन मीठ मोछ कर गहा।
हंसि हंसि करहिं अहेर बखाना, नैना हिएं न होवै ज्ञाना। पृ० २५।

भूंजहि मांस जीभ रस लाहू, आपन माँस न सूझै काहू।
भूजत चुवै सरागन पानी, रोवै मांस हिये अस जानी।
हम खर खास निचंत जो सोई, एहिसें गात सराग परोई।
फिर फिर जारहि छाड़हिं नाहीं, होइहि कहा मांस जो खाहीं। पृ० २६।

दया और अहिंसा की यह भावना, इन कवियों में सर्वत्र पाई जाती है।

जल-क्रीड़ा :

जल-क्रीड़ा वर्णन में कवि आत्मा के द्वारा परमात्मा की खोज का रूपक ही स्पष्ट करना चाहता है। वर्णन में काव्यात्मकता भी अधिक है। चित्रावली के अपनी सखियों के साथ सरोवर में प्रवेश कर जाने पर कवि कल्पना करता है :

तीर धरिन सब चीर उतारी, धाइ धंसी सब नीर मंझारी।
कनकलता फैलीं सब बारी, पुरइनि तोर जानु जल डारी।
मानहुँ ससि संग सरग तराई, केलि करत अति लाग सोहाई।
हंस देखि जलहर तजि गए, पदुम सबै दिन कुमुदिनी भए।
आइ चकोर देखि मुख रहा, सरवर नाहिं गगन सब कहा।
भूले गगन अचक रहे तहां, अब निसि नखत कहहि दिन कहां। पृ० ४७।

इस प्रकार सरोवर वर्णन में कवि ने एक ओर जहां काव्य-सौन्दर्य बिखेरा है, वहीं दूसरी ओर आत्मा परमात्मा की खोज का रूपक निबाहा है।

बूढ़ि बूढ़ि हेरहिं सबै, जेहि जस भाग सो पाउ।
कोउ घोंघा कोउ मोति ले, कोउ छूंछे बहराउ।
सरवर ढूंढि सबै पचि रहीं, चित्रिनि खोज न पावा कहीं।
निकसीं तीर भई वैरागी, धरी ध्यान सब बिनवै लागी।
गुपुत तोंहि पावहिं का जानी, परगट मंह जो रहहिं छपानी।
चतुरानन पढ़ि चारौ वेदू, रहा खोजि पै पाव न भेदू।
संकर पुनि हारे कै सेवा, वाहि न मिलिउ और को देवा।
हम अंधी जेहि आपुन सूझा, भेद तुहार कहां लौं बूझा।
कौन सो ठांउ जहां तुम नाहीं, हम चपु जोति न देखहिं काहीं।

पावै खोज तुम्हार सो, जेहि देखलावहु पन्थ।
कहा होइ जोगी भए, और पुन पढ़े गरंथ। पृ० ४७, ४८।

इस प्रकार कवि ने परमात्मा-प्राप्ति की अगम्यता, तथा जीव की अल्पता, दोनों का वर्णन करके परम अनुग्रह को ही एकमात्र सफल साधन माना है, जो सूफी-साधना का प्रमुख अंग है।

रूप–नगर वर्णन :

कवि ने रूपनगर का वर्णन करते समय, वहां के वैभव विलास की चर्चा के अतिरिक्त चित्रावली की वाटिका, सरोवर एवं चित्रशाला का विस्तृत वर्णन किया है। इन वर्णनों में, काव्य सौन्दर्य अधिक न होकर कवि का पाण्डित्य प्रदर्शन अधिक है जैसे चित्रावली की वाटिका का वर्णन कवि इस प्रकार करता है।

सरवर तीर पछिम दिसि जहां, चित्रावलि की वारी तहां।
सीतल सघन सुहावन छाहीं, सूर किरिन तंह संचरै नाहीं।
मंजुलडार पात अति हरे, और तंह रहहिं सदा फर फरै।
तुरंज जमीरी अति वहुताई, नेवू डारन गलगल जाई।
अमिरित फर औ दाड़िम दाखा, संतति जियै निमिष जो चाखा।
नरियर और सोपारी लाई, कटहर बड़हर कोऊ न खाई।
आंव जमुनि लै एक दिसि लाए, वर पीपर तंह गनत न आए। पृ० ६१।

कवि इसी प्रकार फलों के नाम गिनाता चला गया है।

नखशिख वर्णन :

चित्रावली के सौन्दर्य का वर्णन तो कई स्थलों पर आया है, किन्तु नखशिख के रूप में, केवल एक ही स्थल पर परेवा के द्वारा वर्णित है। कवि उसमान ने नखशिख वर्णन विस्तार से किया है। केश से लेकर चरणों तक, अंग प्रत्यंग का वर्णन कवि ने किया है। बरौनी, दांत, जीभ एवं ठोढ़ी के गड्ढे तक की चर्चा कवि ने की है। उपमान अधिकांश रूढ़ि गत ही हैं। कहीं कहीं कवि ने बड़ी स्वाभाविक एवं सरल व्यन्जना की है। पके आम को अंगुली से दबाने पर जिस प्रकार गड्ढा पड़ जाता है उसी प्रकार चित्रावली की ठोढ़ी में गड्ढा है।

आंव सूल सम ठोड़ी भई, वह आमिल यह अमिरत भई।
तेहि तर गाड़ अपूरब जोवा, पाक आंव जनु अंगुरी टोवा। पृ० ७३।

कहीं कहीं कवि की कल्पना, ऊहात्मक तथा अस्वाभाविक भी है जैसे कटि-चर्चा करते समय उसकी उपमा वाल की सूक्ष्मता से देना।

अति सुकुंवारि लंक पुनि छीनीं, दिष्टि न परै बारहु तब खीनी।
देखत सकुचै देखनहारा, टूटि न परै दिष्टि के भारा। पृ० ७६।

सौन्दर्य-वर्णन में परमार्थिक संकेत अधिक नहीं हैं, फिर भी वरुनी वर्णन करते समय, कवि जगत की ब्रह्म प्राप्ति लालसा का वर्णन करता है। उसका कथन है, कि जिस पदार्थ को उन बरौनियों का बान नहीं लगा, उसका अस्तित्व ही व्यर्थ गया। यह सारा संसार स्वेच्छा से उनका लक्ष्य बनना चाहता है।

लाग न बरुनि बान जेहि हीया, सो जग मांह अभिरथा जीया।
जेते अहैं जीव जग माहीं, साधन जाइ बान सो खाहीं। पृ० ७१।

इसी प्रकार चित्रावली के चरणों का वर्णन करते समय, साधक की पलक पांवड़े बनने की आकांक्षा की ओर संकेत किया है :

चरन कंवल पर मन बलि गए, जेहि मगु चले तहाँ रज भए।
मकु तेहि पन्थ गौन पुनि करई, भूलि पाँव इन्ह नैनन धरई। पृ० ७७।

कवि की बहुज्ञता :

उपरोक्त वर्णनों के अतिरिक्त, कवि ने, केवल अपने पाण्डित्य प्रदर्शन या परम्परा निर्वाह के लिये कुछ प्रसंगों का समावेश किया है। जैसे राग-रागिनियों एवं वाद्यों का वर्णन :

महुअर सुर जनु मद महुआरा, छुकटी माह करे मतवारा।
चंग अतंक सुनत न भूले, बंसी धुनि सुनि अहि कुल भूले।
पुनि बुधि हरन कमाइचि साजी, डोल सुमेरुबनि जब बाजी।
गहि पिनाक जानहुँ सुर गहा, जत कत जगत बेझ होइ रहा।
हुड़ुक बाज जलजन्त बजावा, को न जन्तु वै सबद भुलावा।
डफ बजाइ मुनिवर चितहरा, को न जाइ तेहि घेरे परा।
बाजे झांझ मंजीरा तूरा, राजहिं भाव सोई सुर पूरा। पृ० २६।

राग-रागिनी वर्णन :

सिरी राग की रागिनि अहीं, कहौं बनाइ जा गिरिजै कहीं।
गौरी मधु माधवी केदारी, तरिवन औ मालवी बिहारी। पृ० ३०।

इसी प्रकार सभी राग-रागिनियों की चर्चा कवि ने की है। जिस प्रकार नूरमुहम्मद ने अपनी इन्द्रावती में एक 'औषधि खण्ड' लिखकर अपने वैद्यक ज्ञान का परिचय दिया था, उसी प्रकार कवि उसमान ने 'कामशास्त्र खण्ड' में अपने कामशास्त्र का परिचय दिया है। इसी के अन्तर्गत कवि चित्रिनी नारी का वर्णन इस प्रकार करता है :

नैन चपल पुनि चित्रिनि नारी, पातर मुख और अलय अहारी।
मोट न पातर वीचहिं बनी, जेहि घर होइ पुरुष सो धनी।

अति कटि छीन मृदुल पुनि होई, सबद मंजोर कण्ठ सुर होई।
सुभग नितम्ब पयोहर खीना, कामिनि सुघर बजावै बीना।
चित्र लिखै चतुराई करई, सुन्दर बचन सेज मन हरई।
छोट बड़े सों मया जनावै, स्याम चिहुर सिर भौंर न पावै।
अलप काम जल मद की बासा, अलप रोम तन काम निवासा।

सुन्दर जंघा पातरी, अछबाई पुनि चाउ।
अंग बास पै अधिक है, चित्रिनि मांह सुभाउ। पृ० २११।

कवि को भौगोलिक ज्ञान भी अधिक था। सुजान को ढूंढने के लिये, जब परेवा चला उस समय कवि ने दिशा एवं देशों का यथार्थ वर्णन किया है। इसके साथ ही नगरों की विशेषता का भी वर्णन है जो कवि के विविध ज्ञान का परिचय देता है :

'जे पूरब दिस कहं मुंह फेरा, पहिलेहिं आइ सो मथुरा हेरा।
बिन्द्राबन महं ढूंढे योगी, जैसे गोपी कृष्ण बियोगी।
दिल्ली तखत जो साहन केरा, सो देखा अगरा पुनि हेरा।
आइ पयाग कीन्ह तिरबेनी, करवट देखी सरग निसेनी।
कासी माहिं बिसेसर पूजा, जाहि देवसर आहिन दूजा।
रहि दिन चारि फिरा पंच कोसी, पूछे फिरिफिर बाभन जोसी।
आस न पाएसि चला निरासा, हेरेसि चढ़िके गढ़ रोहितासा।

× × × ×

मग्गह देखि फिरा सिरधुनी, तिरहुति में विद्यापति सुनी। पृ० १६०।

कवि उसमान ही एक ऐसे कवि हैं जिन्होंने नगरों की वास्तविक भौगौलिकस्थिति तथा विशेषताओं का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त अंग्रेजों के खान-पान का भी वर्णन है। सन् १६१२ में अंग्रेजों की सूरत में कम्पनी बनी और ग्रन्थ का रचनाकाल सन् १६१३ है, अतः कवि को अपने समय की पूरी जानकारी होना भी सिद्ध होता है। वह लिखता है :

बलंदीप देखा अंगरेजा, जहां जाइ नहिं कठिन करेजा।
ऊँचनीच धन सम्पति हेरा, मद बराह भोजन जिन केरा। पृ० १६०।

वह बंगालियों के भोजन की भी चर्चा करता है :

सब कहं अमिरित पांच है, बंगाली कहं सात।
केला कांजी पान रस, साग माछरी भात। पृ० १६१।

इसके अतिरिक्त कवि को ज्योतिष विषयक ज्ञान भी है, जिसका परिचय वह सुजान की जन्मकुण्डली बनते समय देता है। इन कवियों का सूफ़ी साधना के अतिरिक्त अन्य

योग साधनाओं से भी सम्बन्ध था जिसका परिचय ये स्थलस्थल पर श्री गोरक्ख, गोपीचन्द आदि के स्मरण द्वारा तथा बिन्दु, नाद और त्रिकुटी का परिचय देने में करते हैं। कवि उसमान की चित्रावली में ऐसे स्थल निम्नांकित हैं :

तन्त वितन्त औ सिखर पुनि, अन्त परे पुनि तार।
पांचौ सबद जो जगत महं, होइ रहा झनकार। पृ० २६।

× × × ×

मृगमद माह बास ज्यों रहई, त्यों घट मांह निरञ्जन अहई।
करहु कान जनि एकहू, कहै कोऊ जो लक्ख।
पहिरि लेहु पग पांवरी, बोलहु सिरी गोरक्ख। पृ० ८५।

× × × ×

जो सेना गौनत एहि पंथा, गोपिचन्द नहिं पहिरत कंथा।

कवि को शास्त्र विषयक इस ज्ञान के अतिरिक्त लौकिक ज्ञान भी अधिक था, वह तत्कालीन रीति-रिवाजों, छुठी, बरहां, वर्षगांठ, विवाह, मण्डप, कोहबर आदि का वर्णन बड़ा सजीव करता है। वर्षगांठ के त्यौहार में वर्ष गिनने के हेतु डोरे में गांठ लगाना, सम्भवतः तब भी प्रचलित था :

वरष गये जो जन्मदिन आवा।
गांठि देहिं और करहिं बधावा। पृ० २८।

कवि को राजकुमारों की शिक्षा-दीक्षा के विषय का भी अच्छा ज्ञान है :

अस चित लाइ गुरु समझावा, थोरे दिवस गुन हिरदै छावा।
अमरकोश ब्याकरन बखाना, जोग बैदकन्हि कै सब जाना।
पिंगल लघु दीरघ दिढतासी, कंठहिं मांझ छन्द चौरासी।
पढ़ी संगीत ताल देखरावा, एक सुर महं दस राग सुनावा।
जोतिष महं कोइ बाद न आंटा, एकपल सहस बार कै वांटा।
अंस भुगोल बखानि सुनावा, पल महं मनु पुहुमी फिरि आवा।

पढ़ि गुनि चौदह वरष लगु, दस औ चारि निधान।
निपुन दुवा दस भाव महं, सब पढ़ि बैठु सुजान। पृ० २३।

क्षत्रिय वर्ग गो, ब्राह्मण तथा नारी की रक्षा करना अपना कर्तव्य समझता था, इस पर भी कवि ने प्रकाश डाला है :

क्षत्री सुनि जो ना करै, तिय अरु गाय गोहारि।
पुहुमी कुल गारी चढ़ै, सरग होइ मुख कारि। पृ० १४६।

रस :

चित्रावली में प्रमुख रूप से शृङ्गार रस विद्यमान है। इसके अतिरिक्त, 'वीररस' का भी वर्णन है। शृङ्गार रस के दोनों, संयोग एवं वियोग, पक्षों का सम्यक् परिपाक हुआ है। नायिकाओं के भेदों के भी कुछ नाम गिनाये गये हैं; किन्तु उनकी चर्चा अधिक नहीं है। इसी प्रकार शास्त्रीय ढंग से संयोग या वियोग की अवस्थाओं एवं स्थितियों के वर्णन करने का कवि आग्रह नहीं करता है, किन्तु उद्दीपन की दृष्टि से, षट्ऋतु एवं बारहमासे का वर्णन कवि ने किया है।

विप्रलम्भ शृंगार :

विरह वर्णन में सूफी कवियों का मन अधिक रमा है। साथ ही, नायक और नायिका, दोनों को ही विरह पीड़ित प्रदर्शित किया है। मढ़ी में जागने पर कुंवर की विरह दशा का वर्णन करते समय, कवि उसकी कृशता का परिचय इस प्रकार देता है।

> अरुन बदन पियराय गा, रुहिर सूखिगा गात।
> रहा झांपि लोचन दोऊ, कहै न पूछै बात॥ पृ० ३७।

अति विरह में नायक या नायिका की पागलों सी स्थिति, या उन्माद का वर्णन भी कविगण किया करते हैं। कुंवर सुजान भी कुछ ऐसा ही अनुभव करता है।

> कल न परे पल अति विकरारा, हांथ पांव सिर दै दै मारा। पृ० ३८।

मूर्च्छा का वर्णन भी उसमान ने किया है :

> अतंक विरह आइ जिउ हरा, धर बिनु जीउ पुहुमि खस परा।

प्रिय की उपस्थिति में जो वस्तु सुखद होती है, वही उसकी अनुपस्थिति में दुःख दायक हो जाती है। सुजान के चित्र की उपस्थिति के कारण जो चित्रशाला चित्रावली को प्राणों से भी अधिक प्रिय थी, वही उसकी अनुपस्थिति में काली नागिन, तथा फूल अंगार, बन गये।

> चित्रावलि कंह सो चितसारी, जानहु भई भुंअगिनि कारा।
> फूल अंगार भये फुलवारी, कछु न सुहाय विरह की मारी॥ पृ० ५४।

कवि ने, षटऋतु तथा बारहमासे का वर्णन करके एक ओर जहां कवि-परम्परा का पालन किया है, वहीं दूसरी ओर विरह की व्यापकता का परिचय भी दिया है। चित्रावली सुजान को पत्र लिखते समय लिखती है कि उसका विरह सारी सृष्टि में व्याप्त है।

जो न पसीजसि जिउ मोर भाखी, पूछु देखु गिरि कानन साखी।
करै पुकार मँजोरन गोवा, कुहुकि कुहुकि बन कोकिल रोवा।
गयो सीखि पपीहा मन बोला, अजहूँ कोकत बन बन डोला।
उड़ा परेवा सुनि मम बाता, अजहूँ चरन रकत सों राता। पृ० १६७।

वह अपने निरंतर अश्रुप्रवाह की ओर बड़ी चतुराई से संकेत करती है कि :

लोयन सिंधु थाह को पावै, बुड़िवे के डर नींद न आवै।

जायसी की नागमती वर्षा ऋतु में जहां 'हौं बिनु नांह मंदिर को छावा' कहकर अपने अभाव का संकेत करती है, वहीं चित्रावली 'मोर कंत जोगी बन बासी, मंदिर संवार करौं का हांसी' कहकर संतोष कर लेती है। आनन्द के पर्व एवं त्योहारों पर विरहिणी का विरह और तीव्र हो जाता है। कार्तिक मास में, दीपावली के अवसर पर, लोग पूजन करते, गाते और आनन्दित होते हैं; किन्तु विरहाग्नि और प्रज्वलित होती है :

'मानहिं परव देवारी लोगू, पूजहि गाइ करहिं रस भोगू।
जग सेरान यहि समय सोहाई, हम तन दीन्ह दवां जनु लाई।' पृ० १७२।

अपनी कृशता और पतझड़ में गिरे पत्तों की समता करते हुये वह कहती है :

'फागुन विरह पवन अधिकाना, हम तनु जस तरु पात पुराना।' पृष्ठ १७३।

सुजान के अश्रुप्रवाह को कवि पर्वतीय जलप्रपात के समान वर्णित करता है।

'भये सुनत चित्रावलि वरना, कुंवर नयन पर्वत के झरना।'

संयोग वर्णन :

संयोग वर्णन में कवि ने पहेली बूझने एवं वाक्चातुर्य की भी चर्चा की है। चित्रावली कुंवर सुजान के जोगी होने पर व्यंग करती है, तथा अंत में समर्पण कर देती है। अन्य कवियों की अपेक्षा इनका यह वर्णन अश्लील अधिक है।

घूंघट खोलि रूप अस देखा, सो देखा जेहि सीस सुरेखा।
अधर घूंट सो अमिरित पीआ, जेहिके पियत अमर भा हीया।
राहु गरास कलानिधि कांपा, लोचन पल आनन पट झांपा।
पुनि मनमथ रति फागु संवारी, खोलि अछूत कनक पिचकारी।
रंग गुलाल दोउ लै भरे, रोम रोम तन मोती झरे।

सेद थंभ रोमंच तन, आसु पतन सुरभंग।
प्रथम समागम जो कियो, सीतल भा सब अंग॥ पृ० २०४।

मंझन की भांति कवि उसमान के संयोग चित्रण भावात्मक नहीं हैं। कुछ नायिकाओं के प्रकारों का उल्लेख भी कवि ने किया है।

मुग्धा :

सब मुगुधा जीवन अंगिराता, कोइ ज्ञाता कोई अज्ञाता।

वासकसज्जा :

कंत बचा परतीति पर, सोरह साजि सिंगार।
बासकसेजा होइ रही, लाइ नैन दुइ बार। पृ० ३२८।

धीरा :

परी चौंक लागे कर सीरा, दच्छिन नाहिं नायका धीरा। पृ० २२६।

अलंकार :

सादृश्यमूलक अलंकार में प्रतीप, हेतूत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, उल्लेख, रूपक, उपमा का प्रयोग विशेष हैं।

रूपक :

ज्ञान डोरि करु हिया मथानी, साँस लेत डोरी लपटानी।
उल्टी दृष्टि रहे टुक लाई, सजग रहै जेहि तन्तु न जाई।
तौ लहु मथै बैठि दे जीऊ, निसरै छांछ मही ते घीऊ।

निजुसो मथनी एक दिन, मथन-मथत गा फूटि।
तत्वमसी पुनि तत्व सों, जाय नरक सब छूटि॥

उपमा :

यह जग जस पानी कर धावा, जो कछु गा सो बहुरि न आवा।

अतिशयोक्ति :

बैठे पंछी रैनि के, भयो जानि जग भोर।
उठे जागि सब दिवस गे, फिरन लगे चहुँओर॥

उत्प्रेक्षा :

छूटहिं अलकावलि वदन, भौंहें चढ़ीं कमान।
जाल रोपि कुसमेखु जनु, मारन चाहति प्रान॥

प्रतीप :

बदन जोति केहि उपमा लावौं, ससिहर पटतर देत लजावौं।
ससि कलंक पुनि खण्डित होई, हैं निकलंक सम्पूरन सोई।

छन्द :

चित्रावली की रचना दोहे-चौपाई के क्रम में हुई है। सात अर्धालियों के बाद एक दोहे का क्रम, सम्पूर्ण ग्रन्थ में निवाहा गया है।

भाषा :

चित्रावली की भाषा भी अवधी है। बोलचाल के शब्द जैसे आला, थोथरा, बेगर, केव, लोन, मेहरिह्व के साथ संस्कृत के भी शब्दों का प्रयोग है। ग्रन्थ में अरबी या फारसी के शब्दों का प्रयोग भी है जैसे साफ तथा सीना। कवि ने कहावतों का प्रचुर प्रयोग किया है।

संस्कृत शब्दों में 'तत्वमसि', 'कलभ', 'पनच', ऐसे शब्दों का प्रयोग है। सौंरि, राउत एवं लोयन ऐसे तद्भव शब्द भी प्रयुक्त हुये हैं।

कहावतों के प्रयोग से भाषा अधिक व्यवहारिक हो गई है और साथ ही भावों की सफल व्यञ्जना हुई है। प्रयुक्त कहावतों में से कुछ ये हैं :

१. धोवहु बेगि आहि जो लोना, कान टूट का करिये सोना।
२. आजु सिरान हिया दुख जरा, मुए धान जनु पानी परा।
३. ऐसे केन बिगचे पाए, थोरा छाड़ि बहुत कंह धाए।
४. पुनि मन कछु गियान उपराजा, जांघ उघारे मरिये लाजा।
५. भूख न मानै लावन सेती, नींद न मानै सोरि सवेती।
६. सत्य समान पूत जग नाहीं, सत सौं रहै नाउं जग माहीं।
कोखि पूत एक देस बखाना, सत्य पूत चारौ खन्ड जाना।
७. बिनु रस अवनि जनम जे पावा, सूने घर जस पाहुन आवा।

लोकोक्तियाँ :

काहुहिं मोहि देखाइ न जाई, छेरी मुंह कोहंडा न समाई।
कौन सुनै अस को मति देई, हस्ति क भार क गदहा लेई।

बिगसत कौंल न बारभइ, गयौ अथै जग भान।
मारेसि ईंट देखाइ गुड़, सोई भा उपखान।

भाव-व्यन्जना :

यद्यपि प्रेमाख्यान में इतिवृत्त की चर्चा अधिक है, किन्तु कवि के अनुभव एवं सतर्क लेखिनी के फलस्वरूप भावों की व्यञ्जना सफल हुई है।

आतुरता का वर्णन करने में कवि ने जिस उपमा का सहारा लिया है, वह स्वयं अपने में ही बहुत अधिक समर्थ है। कुंवर सुजान को चित्रावली को प्राप्त कर लेने की उत्कट आकांक्षा है, वह अपने इस कार्य में सोचविचार या ऊहापोह की आवश्यकता नहीं समझता। सुजान उसी प्रकार परेवा के साथ चल दिया जिस प्रकार विच्छिन्न पत्र वायु-वेग के साथ चल देता है।

जोगी चला कुवंर संग लाई, जैसे पौन पात लै जाई। पृ० ८८।

चित्रावली के नखशिख वर्णन को सुनकर कुंवर के हृदय में जो अभिलाषायें, आकांक्षायें जाग्रत हो गईं, उनका परिचय कवि इन शब्दों में देता है।

कहिसि कुंवर सुनु गुरु परेवा, सुनि सो पन्थ उपजे उर केवा। पृ० ८३।

चित्रावली की परिछाहीं को दर्पण के मध्य देखकर कुंवर अपनी चेतनता खो बैठा और मूर्च्छित हो गया, उसकी इस अवस्था का उल्लेख कवि अपने ज्ञान का परिचय देते हुये इस प्रकार करता है :

सूर जोति दरपन महं अई, महि दुहु बीच कुंवर भा रुई। पृ० १०६।

अत्यन्त हर्ष एवं आनन्द में शरीर का रोमांचित होना, नयन का सुखातिरेक से तरल होना, तथा पीनवदन का रक्ताभ हो जाना आदि भावों एवं क्रियाओं का कवि ने अत्यन्त स्वाभाविक वर्णन किया है :

अब पिउ आइ चाह तोइं दीन्हा, सुनि सुख हंस फुरहुरी लीन्हा।
तेहि की पांख, पानि जो अरा, सो दुहु लोचन कै मगु ढरा।

कौंल आइ दिनकर पहिचाना, भा रतनार बदन पियराना। पृ० १२७

भय का वर्णन भी कवि ने बड़ा स्वाभाविक किया है। सुजान के पराक्रम को सुनकर, चित्रसेन का भय इन शब्दों में साकार हो जाता है :

सुनि के राजा थकि रहा, रुहिर सूखि गा गात।
हिए थरथरी, पेट डर, मुख नहिं आवै बात। पृ० १६०।

चित्रावली की यह आकांक्षा कि उससे तो पत्र ही अधिक भाग्यशाली है जो प्रिय के हाथ में पहुँचेगा, यदि वह ही अक्षर हो सकती तो प्रियतम तक पहुंच जाती —

'पाती चढ़िहि जाए पिय हाथा,
हौं आखर होइ चली न साथा।' (पृ० १७५)

शब्दों में साकार हो जाती है।

कुछ अन्य प्रसंग

दान-महिमा :

दिये बिना कुछ काहु न पावा, दिया आनि सब इच्छ पुरावा।
दिया धरें तम करै न जोरा, दिया हुते घर मुसै न चोरा।
एहि जग मांह सार यह दीआ, जे न दिया वे अबिरथा जीआ।
दिया हुते निसि आगे सूझा, दिया हुते पर आपन बूझा।
दिया हुते घर पावै सोभा, आइ पतंग दीप पर लोभा।
दीया बाजु मग जाइ न जोवा, दिया होइ तौ पावै खोवा। पृ० १६।

सत्य-महिमा

सत्य समान पूत जग नाहीं, सत सो रहै नाउं जग माहीं।
कोखि पूत एक देस बखाना, सत्य पूत चारौ खंड जाना।
निश्चय सत्य अमर की मूरी, प्रगट देखियै हरिचन्द पूरी॥ पृ० १८।

मित्र-भेद :

मीतहि होई मीत की चिन्ता, चारि भांति जग कहिये मिंता।
नैन मीत एक जग आवा, नैन देखि कै मीत कहावा।
मुख फेरत भा औरे लेखा, गयो भूमि जनु सपना देखा।
इच्छा मीत होइ एक दूजा, तौ लहु मीत इच्छ जब पूजा।
हींछा पूजी गई मिताई, बहुरि बार नहिं झाकैं आई।
बैन मीत बैन रस रसा, बैनहि लागि रहै मन बसा।
प्रान मीत वहि कहिन है, पर न सकै निरबाहि।
सो दुख आनै आप जिय, जा मंह सुख हो ताहि। पृ० ३१।

पाप :

पाप न रहै छिपाएं छिपा, छिपै पुन्य जो अहनिसि जपा।
पापहिं गोइ कहां कोउ सोवा, आपहिं पाप जनम तेहि खोवा।
तजहु पाप पंथहि जिय जानी, करहु पुन्य औ रहै कहानी।
पुन्य करत जनि लावहु धोखा, जासौं होइ दुहं जग मोखा। पृ० ५४।

——:(०):——

न्यामतखाँ (जान कवि) के ग्रन्थ

जीवन-चरित :

कवि जान के जहाँ अन्य सूफी कवियों की अपेक्षा इतने अधिक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, वहीं उनके जीवन-चरित के सम्बन्ध में बहुत सी ज्ञातव्य बातें स्पष्ट नहीं हो पातीं।

'जान', कवि का मुख्य नाम नहीं ज्ञात होता केवल उपनाम मात्र विदित होता है, किन्तु उनका वास्तविक नाम क्या है इस सम्बन्ध में कुछ विवाद हैं। स्व० पुरोहित हरिनारायण शर्मा ने 'जान' को फतेहपुर (जयपुर) के नवाब अलफ खाँ का उपनाम समझा था, तथा उसे बादशाह शाहजहाँ का बहुत ही कृपापात्र व सम्बन्धी बतलाया था। कुछ अन्य लोगों ने उसे उक्त बादशाह का साला होना भी माना था[1]। श्री अगरचन्द नाहटा ने अपनी खोजों के द्वारा यह सिद्ध किया है कि यह उपनाम वास्तव में उनका न होकर उनके पुत्र न्यामत खाँ का है। वे 'जान' का वास्तविक नाम न्यामत खाँ बताते हैं जो उचित ज्ञात होता है। इस निर्णय के आधार निम्नांकित हैं :

(१) श्री अगरचन्द नाहटा जी को 'अलिफ खाँ' की पैड़ी नाम का एक जान रचित ग्रन्थ प्राप्त हुआ है जिसकी रचना कविवर जान ने अपने पिता अलिफखाँ की वीरता की स्मृति में की थी। इसमें नगरकोट के युद्ध का वर्णन है। भाषा पंजाबी मिश्रित हिन्दी है जिसका अधिक परिचय इनके अन्य ग्रन्थों में नहीं मिलता है। इस ग्रन्थ की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :

पहले अल्लुहु सुमिरिये, जिन्ह सभट उपजाया।
बोल जिलावंण कारणैं, रक्खे नहीं काया।
मान सदै सारै नहीं, सो कर सु भाया।
सोई जिन्से जांन कहि, जिस वोडखुदाया।
कयाम खाँ दादा, अलिफखाँ ० ० ०।
सोलाह सै ईकईस में जनमें दीवांण।
कीये उजले क्याम खां, चकवै चौहाँण।
संवत् हुआ नियासिया, लेखै परवाण।
बेकुंठ पहुँच अलिफ़ खाँ, छड्ड दिया जहाँण।

१, परशुराम चतुर्वेदी : सूफी काव्य संग्रह पृ० १३६

इस प्रकार इस ग्रन्थ से यह निश्चित होता है कि अलिफ़खाँ, जो कवि 'जान' के पिता माने जाते हैं, का जन्म समय संवत् १६२१ है, तथा उनका निधन काल संवत् १६८३ है।

(२) दूसरा ग्रन्थ बुद्धिसागर है। इसे अगरचन्द नाहटा जी पंचतंत्र नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ का स्वतंत्र अनुवाद सा मानते हैं और इसके आधार पर यह सिद्ध करते हैं कि कवि 'जान' का नाम न्यामत खाँ था क्योंकि ग्रन्थ के मध्य 'जान' नाम प्रयुक्त हुआ है, एवं उसके अन्त में 'इति क्यामंखानी न्यामत खाँ कृत ग्रन्थ बुद्धि सागर समाप्त' लिखा हुआ है। यह ग्रन्थ हिन्दुस्तानी एकेडेमी वाले कवि 'जान' के ग्रन्थ संग्रह में नहीं है। लेखिका को इसी कवि का ग्रन्थ बुध-सागर प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। नवलगढ़ (जयपुर) के कुंवर संग्रामसिंह को प्राचीन चित्र संग्रह करने की रुचि है। इसी मध्य वे उपलब्ध हस्तलिखित ग्रन्थों को भी संग्रहीत करते रहे हैं। उन्हीं के पास 'बुद्धिसागर' न होकर एक ग्रन्थ 'बुधसागर' नाम का है। इस ग्रन्थ में कहीं भी कवि जान का नाम 'न्यामत खाँ' उल्लिखित नहीं है। ग्रन्थ के अन्त में भी 'सोरह सै पच्यानवे संबतु हो दिन मान। अगहन सुदि तेरसहुती ग्रन्थ कियो कवि जान॥ इति श्री ग्रन्थ बुधसागर कवि जानंकृत संपूर्ण॥ संवत् १८३३ वर्षमिती आसाढ़वदिदश निवास रांते लिषतमं भ्रित कूरांम फतेपुर मध्ये॥ और बाचे पढ़े तांकूं हमारी जै श्री कृष्न छै जी॥ श्रीरस्तुकल्याणमस्तु॥' लिखा है।

इस ग्रन्थ की रचना शैली भी पंचतंत्र जैसी ही है।

(३) एक और ग्रन्थ 'कायमरासों' की चर्चा अगरचन्द नाहटा जी करते हैं जिसमें

कहत जान अब बरनिहों, अलिफ खान की बात।
पिता जानि बढ़ि ना कहौं, भाखों साची बात॥

पंक्तियाँ पाई जाती है। ऊपरलिखित पंक्तियाँ जान के पिता अलिफखान थे, यह सूचित करती हैं।

उत्तररासो में अलिफखाँ के पाँच पुत्र बतलाये गये हैं दौलत खाँ, न्यामत खाँ, शरीफखाँ, जरीफखाँ एवं फकीरखाँ। कायमरासों, एवं अलिफखाँ की पैड़ी, ये दोनों ग्रन्थ अगरचन्द नाहटा जी के पास हैं। अतः उनके कथनानुसार यह सिद्ध होता है कि 'जान' का वास्तविक नाम न्यामतखाँ था, एवं वे अलिफखाँ (फतेहपुर के नबाब) के पुत्र थे।

इनके पूर्व पुरुष चौहान राजपूतों से धर्मान्तरित होकर मुसलमान बने थे। न्यामतखाँ को अपने पूर्व राजपूत संस्कारों के लिये बड़ा गर्व था।

कविजान कृत प्रेमाख्यान :

जान कवि के लगभग ६० ग्रन्थ उपलब्ध हुये हैं जो इस समय 'हिन्दुस्तानी एकेडेमी' (प्रयाग) संग्रहालय में सुरक्षित हैं, जिनमें से २६ की गणना प्रेमाख्यानों के अन्तर्गत

हो सकती है यद्यपि सभी प्रेमाख्यान सूफ़ी परम्परा में नहीं आते हैं। सूफ़ी परम्परा में आने वाले प्रेमाख्यानों में 'कथा रतनावति', 'कथा कनकावती', 'ग्रंथ बुधिसागर', 'कथा कंवलावती' प्रमुख हैं। मसनवी पद्धति पर आरम्भ में निर्गुण निरन्जन की वन्दना, मुहम्मद साहब की प्रशंसा, उनके चार मित्रों की वन्दना, शाहेवक्त का गुणगान एवं आत्मपरिचयात्मक पंक्तियों से आरम्भ होने वाले ग्रन्थों की संख्या अधिक है, यद्यपि इन ग्रन्थों में सूफ़ी विचारधारा का स्पष्टीकरण अधिक नहीं होता है। ऐसे ग्रन्थों में 'कथा मोहिनी,' कथा 'नल दमयन्ती,' 'ग्रन्थ लैलै मजनू' 'कथा कलावती' 'कथा रूपमंजरी' 'कथा खिज्र खां साहिजादे व देवल दे की चौपाई' 'कथा कलन्दर' 'कथा तमीम अन्सारी' 'कथा अरदसेर पातिसाह की,' आदि प्रमुख हैं। कुछ ऐसे प्रेमाख्यान भी हैं जिनमें मसनवी परम्परा का पालन नहीं है। ग्रन्थ का आरम्भ केवल कथारम्भ से ही हो जाता है जैसे कथा छबिसागर, कथा निरमल दे, कथा काम रानी आदि। कुछ मुक्तक ग्रन्थों में भी कवि ने मसनवी परम्परा का पालन किया है जैसे ग्रन्थ बिरहलन, ग्रन्थ बारहमासा, ग्रन्थ वियोगसागर आदि।

गुरु :

कथा कंवलावती में, जिसकी रचना कवि ने जहांगीर के समय में की थी, अपने गुरु का परिचय देते हुये कवि लिखता है :

> पीर सैख महमद है चिस्ती, वदन नूरि भापतु है फिस्ती।
> रहन गांव जानहु तिहि हांसी, देखत कटै चित्त की फांसी।

इन्हीं पीर के कुतुबों की चर्चा भी कवि करता है जिसके अन्तर्ग। क्रमशः कुतुब जमाल, शेख बुरहान एवं नूरदीन आते हैं। ग्रन्थ वियोग सागर में गुरु चर्चा के अन्तर्गत—

> 'साहि मुहदी औलिया सब कुतबनि सुलितानं।
> तिन सुत पीर जलालमुहिदी विद्या गुन ग्यानं।'

कवि, पीर जलाल मुहीउद्दीन की चर्चा करता है। कथा बुधसागर में :

> सेख महमद पीर हमारो, जाकौ नांव जगत उजियारो।
> रोज उपपर बरसत नूर, करामात जग भई जहूर।
> ज्यारत करन फिरिस्ते आवत, मनुसन की को वात चलावत।
> नई नाहिं कछु होती आई, इनके कलमें आदि बड़ाई।
> कुतुब भये इनके कुल चारि, तिनको जानत सब संसार।
> पहिले जानत कुतुब जमाल, जेहि तन तक्यो सु भयो निहाल।
> दूजे भये कुतुब बुरहान, प्रगट्यो जाको नांव जिहान।

× × × ×

कुतुब नूरदी पूरजहान प्रगट भये जगु जैसे भान।
हांसी में इनकौ बिसराम, ज्यारत किये सरैं मन काम।

हांसी ऐसी ठौर है, कुसित जु रोवत जाय।
इच्छा पूजै सुखि नकै, हसत खेलत घरि आय।

प्राप्त ऊपर लिखित पंक्तियां शेख मुहम्मद का ही गुणगान करनी हैं। इसके अतिरिक्त 'कथा पुहुपबरिषा' में भी कवि ने अपने पीर का नाम 'शेख मुहम्मद' ही लिखा है।

'सेष मुहम्मद मेरो पीर, हांसी ठाव गुननि गंभीर।

इन ग्रन्थों में जहां कहीं भी पीर का वर्णन आया है वहां . हिवक्त के रूप में जहांगीर, एवं शाहजहां का परिचय उपलब्ध होता है; अतः निश्चित होता है कि शेख मुहम्मद चिश्ती इनके गुरु थे जिनका समय जहाँगीर के शासन का अन्तिम काल एवं शाहजहां के शासन काल का आरम्भ रहा होगा। इनका निवासस्थान 'हाँसी' था तथा इनके चार पुत्र कुतुब, जमाल, शेख बुरहान (नाम अस्पष्ट है) एवं शेख नूरुद्दीन थे।

स्थिति-काल :

कवि ने अपने ग्रन्थों में शाहेवक्त की प्रशंसा करते समय जहांगीर, शाहजहां एवं औरंगजेब की प्रशंसा की है अतः यह निश्चित होता है कि कवि को दीर्घायु प्राप्त हुई थी, तथा उसने इन तीनों राजाओं का शासनकाल देखा था।

कथा कनकावती में कवि :

सोलह सै पचसत्तरै, जहांगीर के राज।
तीन धौस में जान कहि, यहु साज्यौ सब साज।

लिखकर स्वयं को जहाँगीर के शासन काल में स्थित घोषित करता है। कथा पुहुपवरिषा में वह शाहेवक्त के स्थान पर 'शाहजहां' की प्रशंसा करता है :

'सुन वखान अब छत्रपती को, चिरंजीव वगताकोरी को।
साहिजहां साहिन को साह, जहांगीर सुन जगत पनाह।
ताकी सनुन करी नहिं आवै, सागरवाद्धन को कृपावै।

कहन जान हों सुलपमति, करत न आह बषांन।
चिरंजीव जुग जुग रहौ सहित दीन ईमान।

'कथा नल दमयन्ती' के आरम्भ में कवि औरंगजेब का परिचय इन शब्दों में देता है

दीनदार कबझौ भूभार, औरंगजेब साहि मूछार ॥

'जफरनामानौसेरवां का' ग्रन्थ में भी कवि औरंगजेब का स्तुतिगान करता है। इस प्रकार कवि के दीर्घजीवन का परिचय मिलता है। अपने ग्रन्थों के रचनाकाल का निर्देश करते हुये कवि जिन तिथियों का उल्लेख करता है वे इस प्रकार हैं।

संवत् सोरह सै पच्चासी, अगहन मास कथा प्रकासी।
(कथा रूपमन्जरी)

सोरह सै इकहत्तरै, जहांगीर जगसाह।
दोइ धौस में जान कवि, कियो भाव अवगाह ॥
(ग्रन्थ भावसति)

नये पुराने आपुने, कवितु किये संजोग।
सन संहस अरुध्यासठै कीनों उदधि वियोग ॥
(ग्रन्थ वियोग सागर)

सोरह सै इक्यानुवैं ह फिगन बद येक।
जानि कवि कीनी कथा करिकै ग्यान बिवेक ॥
(ग्रन्थ बुधिसागर)

रतनमंजरी जान कवि भाषी विसवाबीस।
तबहिं सन्न यों कहत है येक सहस चालीस ॥
(कथा रतनमञ्जरी)

सोरह सै इक्यानुवे वरप, रतनावति बाँधी मैं हरप।
अगहन बदि सातैं कहि जान,कथा संपूरन करयो बखान।
(कथा रत्नावति)

नाव धरयो बरिषा पुहुप, सुनि रीझत अलि प्रान।
सन् सहंस सैंतीस में कथा कथही यह जान ॥
(कथा पुहुप बरिषा)

द्वादस दिन में जान कवि, करी सुमिर जगदीस।
तबहिं सनु यों कहत है, येकस सन् सत्तेइस ॥
(कथा कंवलावती)

संवत् १७०० में ग्रन्थ 'सिंगार तिलक', संवत् १६६७ में 'रस कोष' का निर्माण हुआ। अतः निश्चित होता है कि कवि का स्थितिकाल सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से

लेकर अट्ठारहवीं शताब्दी के आरम्भ तक था। यही समय जहांगीर से लेकर औरङ्गजेब के शासनकाल के अन्तर्गत भी आता है अत: कवि का उस समय स्थित होना सिद्ध हो जाता है।

कवि के स्थिति काल, पिता एवं भाई, गुरु तथा ग्रन्थ संख्या के सम्बन्ध में अन्तर्साक्ष्य के द्वारा इतना ही ज्ञात होता है।

कवि स्वभाव एवं योग्यता के सम्बन्ध में भी कुछ ज्ञातव्य बातों का संकेत इनमें मिल जाता है। कवि स्वभाव से विनीत एवं उतावला होते हुये भी अपनी उम्मत का गर्व रखता है। वह स्पष्ट कहता है :—

मुसलमान मन नबी न ध्यावै, मुसलमान क्यों नाम कहावै।

इसके अतिरिक्त कवि ऐसे प्रेमाख्यानों की रचना में अत्यधिक दक्ष था। वह दो-ढाई पहर से लेकर बारह दिन की अवधि तक में अपने ग्रन्थों को पूर्ण कर लेता था। अपनी लेखनी की शीघ्रगति की ओर उसने संकेत भी किया है। कवि ने एक स्थल पर अपने ज्ञान का परिचय भी दिया है। कंवलावती के आरम्भ में वह संस्कृत एवं प्राकृत की दुरूहता को चर्चा करके 'भाषा' में काव्य रचना करने का कारण स्पष्ट करता है। अत: बहुत सम्भव है कि कवि को संस्कृत एवं प्राकृत का भी ज्ञान रहा हो।

कवि जान रचित ग्रन्थ .

कथा रतनावती ग्रन्थ लैले मजनू, कथा कामलता की चौपाई, कथा कनकावती की चौपाई, कथा छबिसागर, कथा मोहिनी, चन्द्रसेन राजा सीलनिधान की कथा चौपाई, कथा नल दमयन्ती, कथा कलावती, कथा रूपमंजरी, कथा पिजरषा साहिजादे वा देवल दे की चौपई, कथा निरमल दे, कथा कलन्दर, कथा तमीम अन्सारी, कथा कामरानी, कथा अरदेसर पातिसाह की, कथा सुभटराइ की, ग्रन्थ बुधिसागर, कथा कंवलावती, छीता, कथा पीतमदास, कथा देवलदेवी, कथा कौतूहली, कथा सतवन्ती, कथा सीलवन्ती, कथा कुलवन्ती, कथा बलूकिया बिरही, ग्रन्थ बारहमासा, सवईया वा भूलनाह कवि जानकिते, षट्ऋतु बखा, षट्ऋतु पवंगम, घूंघटनामा, सिंगार सत, भावसत, बिरह सत, दरसनामा, अलकनामा, प्रेमसागर, वियोग सागर, कंद्रपकलोल, भावकलोल, मानविनोद, बिरही के मनोरथ, प्रेमनामा, रसकोष, शृङ्गार तिलक, रसतरंगिनी, चेनतनामा, सिषग्रन्थ, सुधासिष, बुद्धिदायक, बुधिदीप, सतनामा, बर्ननामा, उत्तमसवद, सिषसागर, बंदनामा, जफरनामा, अनेकार्थ नाममाला, बाजनामा, कबूतरनामा, गूढ़ ग्रन्थि, देसावली, वैदिक सिषनामा, पाहन परीक्षा।

ये ग्रन्थ 'हिन्दुस्तानी एकेडमी' में सुरक्षित हैं। इसके अतिरिक्त कथा बुधसागर की हस्तलिखित प्रति लेखिका के पास है तथा ग्रन्थ बुद्धिसागर, अलिफ खां की पैड़ी तथा कायम रासो, ग्रन्थों का उल्लेख श्री अगरचन्द नाहटा जी ने किया है।

कथा रतनावती

कथा सारांश :

अमृतपुरी नामक नगर के राजा का नाम जगतराइ था। उसका राज्य अत्यन्त समृद्ध तथा वह बहुत ऐश्वर्यशाली था किन्तु निस्सन्तान होने के कारण वह निरन्तर चिन्तित रहता था। एक बार चिन्ताग्रस्त होकर उसने बनवास ग्रहण करने का विचार किया। तभी उसके ज्योतिषियों ने कहा कि वे तीसरे दिन ग्रन्थों में खोजकर राजा के भविष्य की सूचना देंगे. तीसरे दिन ज्योतिषियों का उत्तर आशाजनक था। उन्होंने कहा कि उदैभान राजा की पुत्री जगरानी से विवाह करने पर तुम्हारे पुत्र उत्पन्न होगा। हर्षित होकर राजा ने अपने मन्त्री जगजीवन को उदैभान के पास रत्न पदार्थ से सम्पन्न हाथी और ऊंट आदि की भेंट के साथ भेजा। दो माह पश्चात् जगजीवन जब वहाँ पहुँचा तो उदैभान ने उसका अत्यन्त सम्मान किया और राजा जगतराइ की इच्छानुसार, अपनी पुत्री को राजा के हेतु, मन्त्री के साथ भेज दिया।

ज्योतिषियों के कथनानुसार राजा के यथासमय पुत्र उत्पन्न हुआ तथा लगन देखकर ज्योतिषियों ने बताया कि इसे चौदहवर्ष के उपरान्त कष्ट भोगना पड़ेगा। इसके कारण अनेक मनुष्यों की मृत्यु होगी, तुमसे विछोह होने के बाद इसे अभीष्ट प्राप्त होगा। तत्पश्चात् यह सब सुखों का भोक्ता तथा राजा होगा। इसी समय मन्त्री जगजीवन के यहाँ भी एक पुत्रोत्पन्न हुआ। दोनों का नाम क्रमशः 'महिमोहन' तथा 'उत्तिम' रक्खा गया।

राजा और मन्त्री के पुत्र साथ रहते थे। यथासमय राजोचित शिक्षा राजकुंवर को मिली। राजकुंवर जब चौदह वर्ष का हो गया, तब राजा ने एक दिन कुंवर तथा मन्त्री-सुत दोनों को बुलाया और राजपुत्र को एक जामा तथा मुद्रिका दी और कहा कि इन दोनों को अत्यन्त संभाल कर रखना क्योंकि मुझे यह नबी सुलेमान ने अत्यन्त प्रेमपूर्वक दी हैं। उत्तिम को भी राजा ने सरपाव देकर विदा किया।

मोहन को रात्रि में नींद नहीं आई। वह बार-बार उस जामे को ही देखता था। उसी जामे पर चित्रित एक चित्र को देखकर महिमोहन उस पर आसक्त तथा विरह पीड़ित होगया। पुत्र की व्यथा से पीड़ित होकर राजा ने वैद्योपचार का विधान किया। कोई लाभ न देखकर राजा ने उत्तम को भेद लेने भेजा। उसने सब भेद जानकर राजा को सूचना दी। राजा को जामे के चित्र की कथा याद आई और वह उस चित्र की नारी रतनावति की उपलब्धि अलभ्य समझ कर अत्यन्त चिन्तित हो गया। उसने बताया कि जब यह जामा और मुद्रिका देने सात अप्सरायें मेरे पास आई थी तब मैंने भी साश्चर्य पूछा था कि क्या यह केवल चित्र है या किसी सत्य का प्रतिबिम्ब है।

तब उन अप्सराओं ने कहा कि फुलवारी नामक नगर के राजा सूरज की पुत्री रतनावती का यह चित्र है। यह अत्यन्त श्रेष्ठ अप्सरा है तथा इसका केवल नाम सुना है, ज्ञात नहीं कि वह कहाँ और कैसी है ?

राजा ने कुंवर को इस अलभ्यता की सूचना न देकर अनेक खोजियों को भेजा किन्तु उन्हें कहीं कोई पता न लगा। लोगों के इस प्रकार असमर्थ हो जाने पर कुंवर स्वयं पिता से आज्ञा लेकर रत्नावती की खोज में निकल पड़ा। राजा ने अर्ध लाख व्यक्तियों का समूह कुंवर के साथ कर दिया जिसमें सभी प्रकार के गुनी कलावंत थे। उत्तम तथा अन्य सप्त भोपाल उसमें प्रमुख थे। नौकारूढ़ होकर ये सब रतनावती की खोज में चल दिये। सर्व प्रथम कुंवर चीन देश पहुँचा। वहाँ के चित्रकारों से रतनावती का कोई पता न चला; वह चित्रपुरी की ओर चला। वहां भी कुछ स्पष्ट सूचना न प्राप्त हुई किन्तु वहां के चित्रकारों ने कहा कि यदि कुंवर वन में जाकर वहां अवस्थित एक वृद्ध से पूछेगा तो तत्वदर्शी होने के कारण वह सब कुछ बता देगा। किन्तु दो सौ सत्तर वर्ष का वह वृद्ध भी रतनावती के बारे में कुछ न बना सका और उसने कुंवर से 'रूपदेश' जाने को कहा और साथ ही यह भी बता दिया कि वहां मार्ग में अत्यन्त कष्ट है।

कुंवर महिमोहन को रतनावती से मिलने की तीव्र चाह थी अत: वह कष्ट और विघ्नों की परवाह न करके आगे बढ़ा। मार्ग में तूफान आने से नाव फट गई। पचास हजार व्यक्ति डूब गये, तथा कुंवर, सप्तभूपाल एवं उत्तम से बिछुड़ गया।

कुंवर उत्तम के वियोग में अत्यन्त दुखी होकर आगे बढ़ा, और किसी 'जांगी' के हाथ में पड़ गया। जांगी कुंवर को अपने घर ले गया। वहां उसकी स्त्री कुंवर पर मोहित होगई। कुंवर के विरोध करने पर उसने उसे कष्ट देना प्रारम्भ किया। एक बार जबकि 'जांगिन' के कथनानुसार, सप्त भूपलों के साथ कुंवर वन में लकड़ी बीनने गया ये सब वहां से भाग निकले। किन्तु उनमें से पांच को मगर ने निगल लिया और मोहन फिर स्वानांन प्रेत, पंछी, अप्सरा, दानव, दानवी, चमत्कार युक्त पत्थर तथा घोड़ा आदिसे मिला और कई वर्ष इन्हीं के चक्कर में भटकता और दु:ख उठाता रहा। अनेक कष्ट उठाने के बाद कुंवर की ख्वाजा खिज्र से भेंट हुई जिन्होंने कुंवर पर दया करके उसे फिर दोनों भूपाल मित्रों के पास बाग़ में पहुंचा दिया।

कुंवर इसी प्रकार अनेक कौतुक देखता और भटकता हुआ भ्रमण करता था कि उसे एक महल में दैत्य के द्वारा नजरबन्द की हुई पद्मिनी से भेंट हुई। दोंनों ने एक दूसरे से अपना हाल कहा और पद्मिनी ने रत्नावती का पूरा पना देकर कहा कि वे दोनों घनिष्ट मित्र हैं।

कुंवर ने सयत्न चतुराई से दैत्य का विनाश करके पद्मिनी को वहां से छुड़ाया और सिहंल की ओर प्रस्थान किया। सिहंल में कुंवर का अत्यन्त सम्मान हुआ और पद्मिनी ने उसे 'रत्नावनी' का दर्शन दिखाने का वादा किया। संयोगवश उसे वहीं अपना मित्र उत्तिम भी मिल गया जो स्वयं भी कुंवर की ही भांति भटकता और कष्ट उठाता रहा था।

एक दिन उपवन में पद्मिनी के प्रयास से कुंवर को रतनावती के दर्शन हुये। कुंवर तथा रतनावती दोनों ही एक दूसरे पर मोहित हो गये। रतनावती ने अपना सर्व परिचय देकर मिलन की दुष्करता का परिचय दिया किन्तु साथ ही वह मिलन का एक उपाय भी बता गई। रतनावती फुलवारी से वापस चली गई और मोहन को एक देव रूपपुरी में रूपरम्भा के पास उड़ाकर ले गया। रूपरम्भा मोहन को फुलवारी में ले गई और रत्नावती के माता पिता को दोनों के विवाह के लिये समझाया।

इसी बीच जिस दैत्य को मोहन ने मारा था, उसके भाई ने छल करके मोहन को फिर अपने यहां पकड़वा मंगाया। रतनावती के अत्यन्त कष्ट और विरह दुख को देखकर 'सुरज' राजा ने दैत्यों को युद्ध में पराजित किया और मोहन तथा रतनावती का विवाह सन्पन्न करवा दिया।

विवाहोपरान्त सुखपूर्वक विहार करके मोहन रतनावती के साथ सिंहल आया। इसी बीच उत्तिम और पद्मिनी में भी प्रेमसञ्चार हो गया था। रतन के आग्रह पर पद्मिनी के माता पिता ने उसका विवाह उत्तिम से कर दिया। वहां से बिदा होकर धन सम्पत्ति से पूर्ण होकर कुंवर पहले अमृतपुरी गया फिर स्वानांन के नगर में उनका तथा जांगियों का संहार किया किन्तु जांगिन का पूर्व अनुग्रह स्मरण करके उसे जीवित छोड़ दिया। तत्पश्चात् कुंवर चीन गया और वहाँ भी आदरसम्मान पाकर अपने नगर वापस आया। माता पिता को अत्यन्त आनन्द देता हुआ कुंवर राज्य शासन में मग्न राज-सुख का उपभोग करने लगा।

आरम्भ में कवि ने निर्गुण परब्रह्म की बन्दना की है जिसके स्मरण करने से सर्वत्र आनन्द छा जाता है।

'प्रथमहि तपु समरु सोई, नामलेत जेहि सुन सुष होइ'

उसके बाद नबी मुहम्मद, उनके चार मित्र और शाहे वक्त का वर्णन भी परम्परानुसार ही है। वर्णन रूढ़िगत है।

कवि के 'इमाम' (धार्मिक गुरु) का नाम 'आजमजम' है वे बड़े शास्त्रज्ञ और नीतिनिपुण थे[1]। न्याय शास्त्र और धर्म की व्याख्या उन्होंने की थी।

---

१. अबहुं असतुति करुं इमांम, कहियत आजम ताको नाम।
भले देष कर समझ कुरान, कीन्हे मसले सत बषांन।
नाइ शास्त्र धरम बीचार, नीकै समझाऔ संसार।
सेष महिमद पीर हमारो, आजमबंस जगत उजियारो।

सेष महिमद हांम्वा, पीर हमारो आहि।
करामात परगट भई, सब जग पुजत ताहि॥

रचना-काल :

कथा रतनावती का रचनाकाल शाहजहां का शासन काल था। बादशाह आगरे में रहता था, किन्तु उसका भय सर्वत्र व्याप्त था। रूम और स्याम के व्यापारी उसके राज्य में आते थे; उसने मार्ग में यात्रियों की सुविधा के लिये आवास बनवाये थे। उसने क्रोधित होकर दौलताबाद को जीत लिया था, तबसे इन्द्रपुरी तक उसके डर से थहराती थी।

रहत आगरे मांहि पतसाहि, सवत दीप मैं डरपत ताहि।
सेव करै आवैं द्रुगिपाल, रुम स्याम को आवै माल।
मील मील उजबक औ आवास, दंड देहिने पठवै अरदास।
लियौ दौलताबाद रीसाइ, ईंद्रपुरी तबतै थहराइ।

कथा की भाषा और उद्देश्य

कथा का वर्णन करते हुये कवि ने स्पष्ट कर दिया है कि सरल और सीधी भाषा में मनोमुग्धकारिणी तथा मन और चित्त में आनन्द उत्पन्न करने वाली कथा का वर्णन करना ही कवि का उद्देश्य है। भाषा के गूढ़ और संस्कृत गर्भित होने से कथा को समझना तथा हृदयगम करना दुरुह हो जाता है, अतः भाषा कवित्त में कथा कहना ही कवि ने उचित समझा। संसार की ऐसी कोई अनुभूति नहीं जो इस कथा में न हो। प्रेम, दुख और सुख तो इसमें बिंधा ही हुआ है। प्राणों का सुख पाना ही इस कथा का सार है[1]। सरल भावों को सरल भाषा के द्वारा अभिव्यक्त करना ही कवि ने चाहा है और वह अपने इस प्रयास में सफल भी हुआ है।

कथा की उत्पत्ति :

कवि ने अपनी कथा रतनावती की उत्पत्ति की चर्चा भी की है। महमूद गजनवी को कथा सुनने का बहुत चाव था, उसके राज्य काल में लिखा गया 'शाहनामा' प्रसिद्ध है। एक बार एक 'गुनी' की कथा पर प्रसन्न होकर महमूद ने उसे दस हजार मुहरें दी, तथा

---

१. कहैत जान जीव बढ़्यो हुलास, करहु कथा अनुपम प्रकास।
ताकै सुनत होइ सुष प्रान, तुक मुक लई सुकीरत कान।
अक्षर सरल सरल ही भाव, समझत ही बाढ़ै चित चाव।
अक्षर सरल होइ सुध भाषा, ताकी सब करहै अभिलाषा।
हवों गुढारथ समझ्यो जातन, सोच तरु कै सरवन सुहातन।
भाषारथ किमैं करहु जान, सहंसकृत है युगन वषांन।
सहंसकृत जामै बोहु ठांव, भाषा कवित कहाँ कह बिन नांव।
बीर है, पेम दुष सुष या माँही, कोसु सुवाद जुया माँहि नाहीं।

उसकी कथा को संसार में अद्विवतीय कहा। तभी 'हसन' नाम का उनका मन्त्री हंस पड़ा। तब महमूद ने उसकी ओर उन्मुख होकर कहा कि वह यदि इससे सुन्दर कथा उसे नहीं सुनायेगा तो वह उसे मंत्रीपद से च्युत कर देगा। 'हसन' ने सातों द्वीप में दूत भेजे, किंतु उन्हें कहीं सफलता नहीं मिली। एक दिन रूम में जहां अनेक पंडित निवास करते थे एक 'महागुनीराय' नामक पंडित मिला जिसने एक हजार मुहर लेने पर कथा कही। इस कथा का भेद वही समझ सकता है, जिसके हृदय में ज्ञान हो, अन्यथा मूर्ख तो केवल उसे 'बतकही' समझता है[1]।

इस प्रकार उन महागुनीराय के मष्तिष्क में उद्भूत यह कथा महमूद गजनवी की राजसभा में आई। यह कथा सब कवियों के मन में घर कर गई और उन कवियों ने इसे नज़्म और नसर के बंध में बाँधकर सुनाया। यह कथा फिर हिंदुस्तान भी आई और दिल्ली सम्राट जहांगीर ने इसे सराहा। कवि जान ने भी इसे सुनकर भाषाबन्ध किया, तथा इसे भारतीय नामालंकारों से विभूषित कर भारतीय आवरण प्रदान किया। यही इस कथा की कथा है जिसका वर्णन कवि जान ने किया है।

जहांगीर बादशाह की रुचि की चर्चा करके कवि ने यह स्पष्ट कर दिया है कि इसे भाषा बद्ध करने के पूर्व ही यह कथा जनप्रिय हो चुकी थी। सरल भाषा में अत्यन्त मनोहर विषय का प्रतिपादन ही इस कथा की विशेषता है। इस कथा में चमत्कार तथा अलौकिक पात्रों और आश्चर्यमयी घटनाओं का आधिक्य है। कथा का महत्व सामाजिक दृष्टिकोण से अधिक है। राजा की जीवन चर्या, उसकी शिक्षा, दीक्षा, विवाह सम्बन्ध, मार्ग की कठिनाइयां, अनजाने व्यक्तियों का अविश्वास आदि ऐसी बातें हैं जो उस समय की परिस्थितियों का परिचय देती हैं। कथा में कौतूहल की सृष्टि आश्चर्यजनक घटनाओं, जादू के घोड़े, परियों एवं तरह तरह के जीव जन्तुओं के द्वारा ही हुई है। वर्णनात्मक स्थल अधिक हैं। भावात्मक स्थलों का अभाव है।

कथा पुहुपबरिषा

परम्परा के अनुसार इसमें भी कवि ने अलख स्तुति, मुहम्मद की प्रशंसा, चार मीत वर्णन तथा शाहेवक्त शाहजहां का वर्णन करने के उपरान्त कथा आरम्भ की है। इस कथा को लिखने के पूर्व कवि सात कहानियां लिख चुका था। संवत १६८५ में श्रावणमास की प्रथम पंचमी को कथारम्भ की गई।

---

1. भेद बात को समझै सोइ, ग्यान जाह कै हिरदै होइ।
 मुरख आगे कहियै बात, वह जानत है बाजै बात॥

कथावस्तु :

चौहान वंशीय सिरीनगर के प्रतापी सम्राट का नाम भूपाल था, तथा पार्वती नामक अपनी पटरानी से वह अत्यन्त प्रसन्न था। अन्य कथाओं की भांति इसमें भी दम्पति पुत्र वियोग से अत्यन्त व्याकुल थे। दान पुन्य के पश्चात उन्हें एक पुत्र की प्राप्ति हुई। उसके गुणों के आधार पर ज्योतिषियों ने उसका नाम पुरुषोत्तम रक्खा। एक बार जब राजकुंवर राजसभा में बैठा नाद और संगीत में मग्न हो रहा था, तभी एक अनेक वर्ण और गुणों से विभूषित पक्षी उसे दृष्टिगोचर हुआ। कुंवर उस पक्षी को पाने के लिये अत्यन्त व्याकुल हुआ; किन्तु पक्षी भी असाधारण गुणसम्पन्न था। 'जाल' में रक्खे गये दाना चारे से उसे मोह न था। जब पक्षी को पकड़ने की तत्परता में राजकुंवर का मुकुट गिर गया तभी वह पक्षी वशीभूत हो सका।

कुंवर दिन रात उसी पक्षी की देखरेख में रहता था। एक बार वह पक्षी बोला कि मैं भाग्य की अत्यन्त मन्द हूँ तभी तो छत्रपती मेरी सेवा करता है और मैं उसका प्रतिदान नहीं कर पाती।

उसके दुःखपूर्ण वचन सुनकर राजा ने उसकी कथा सुननी चाही और अत्यन्त सोच संकोच के पश्चात् पक्षी ने इस प्रकार कहना आरम्भ किया।

प्रेमपुरी में जगमन नामक राजा राज्य करता है। उसकी रानी अनिन्द्य सुन्दरी 'रूपनिधि' है, मैं उन्हीं की पुत्री सुकेसी (सुबासी) नाम की हूं। अब आगे पक्षी होने की बातों को सुनो। कंकनपुरी नगर का राजा पंवार गोत्र का उदय सिंह है, उसकी रानी का नाम दुर्गावती तथा पुत्र का नाम सुरपति है। एक बार उसी कुंवर की राजसभा में सुन्दर नारियों की चर्चा होने लगी। अपनी अपनी सम्मति के अनुसार कोई पद्मिनी कोई इन्द्राणी के गुण गाने लगा। एक वृद्ध पुरुष ने सुकेसी के रूप का वास्तविक वर्णन किया।

उसका रूप वर्णन सुनकर कुंवर अत्यन्त शिथिल हो गया और उसके हृदय में विरह की चिनगी सुलग गई। विरह रोग की औषधि करने में सभी असमर्थ रहे। राजा ने अत्यन्त चिन्तित होकर सुकेसी की खोज की, किन्तु कोई उसे नहीं जानता था। राजकुवर अपने एक बचपन के मित्र महानन्द को साथ लेकर सुकेसी की खोज में चला। इसी प्रकार खोज में एक वर्ष बीत गया, समुद्र में कुंवर अपने मित्र महानन्द से बिछुड़ गया, किन्तु कुंवर ने हिम्मत न हारी। वह अकेला ढूंढता फिरा। एक दिन एक घोर जंगल में उसने एक पलंग पर एक स्त्री को सोते हुए देखा। उस स्त्री ने अपनी दुखकथा कुंवर से कही कि उसके पिता का चतुर्भुज नाम है तथा माता को गिरिजा कहते हैं। निरमल दे, और परमल दे, नामक हम दो उनकी पुत्रियां हैं। हम अप्सरा गोत्र की हैं। निरमल दे ने उसे सुकेसी का पता बताने का वादा करके आगे बढ़ने से रोक दिया। उसने कहा, कि एक बार मुझे मेरी मां दूध पिला रही थी तभी एक स्त्री आई और मेरी बहन परमल दे को दूध पिलाने लगी। मेरी माता के पूछने पर उसने बताया कि मैं प्रेमपुरी की रहनेवाली रूपनिधि

नामक अप्सरा हूं। मेरी पुत्री का नाम सुकेसी है, तबसे मेरी माता और वह मित्र हैं। पूरे एक वर्ष के पश्चात् वह अपनी पुत्री को लेकर आती है और कई दिन रहती है। यदि तुम नगर चतुरपुर जाओ तो वहाँ 'परमल दे' को पाओगे। वह मेरा समाचार और संदेश पाकर सब प्रकार से तुम्हारी सहायता करेगी। कुंवर ने कहा कि मैं तुम्हें इस प्रकार यहां छोड़कर नहीं जाऊंगा। उस दानव को मारकर तुम्हें अपने साथ लेकर जाऊंगा। युद्ध में दानव मारकर निरमल दे को लेकर कुंवर आगे चला। चतुरपुरी के पास आकर निरमल दे ने संदेशा भेजा।

माता और पुत्री मिलकर अत्यन्त हर्षित हुईं। निरमल दे ने अपनी माता से सुकेसी को बुलाने के लिए कहा। वहीं चतुरपुर में पुरुषोत्तम की भेंट अपने मित्र महानन्द से भी हो गई।

एक दिन फुलवारी में निरमलदे ने सुकेसी को बुलाया और सुकेसी के पूछने पर उसने सारी कथा कह दी। सुकेसी को कुंवर की व्यथा सुनकर दुख हुआ। कुवंर को देखकर सुकेसी के हृदय में भी कुवंर के प्रति प्रेम जाग्रन हुआ। कुछ लाज संकोच के बाद दोनों ही निश्चिंत होकर प्रेममग्न होगये। देर होने पर सुकेसी की माता आई और उसने निरमल दे तथा परमल दे को डांटा। अप्सरायें उन दोनों को अलग अलग देशों में ले गईं। सुकेसी कुवंर के विरह में अत्यन्त दुखी रहने लगी तब उसकी माता ने लोक-लज्जा बचाने के लिये पक्षी बना दिया।

एक साल हो गया, मैं इसी प्रकार प्रियतम की खोज में भटक रही हूँ तुम्हें देखकर कुछ भ्रम व मोह उत्पन्न हो गया और मैं तुम्हारे जाल में आगई।

पुरुषोत्तम ने उसे धर्म की बहन बनाया और कहा कि वह उसे उसके प्रिय से मिलाने का प्रयास करेगा। यही निश्चय करके कुंवर सिर पर पिंजड़ा रखकर सुरपति की खोज में चला। दो बरस के पश्चात वह प्रेमपुरी पहुँचा। उसकी माता अपनी पुत्री को पाकर अत्यन्त हर्षित हुई। उसने उसे फिर अप्सरा बनाकर उसका ब्याह सुरपति से करना चाहा। किन्तु सुरपति का कोई पता न होने के कारण निरमल दे के पास खबर भेजी गई महानन्द और निरमल दे को भी उसका कोई पता न था, किन्तु उसी समय संयोगवश सुरपति भी वहां आगया।

इस प्रकार पुरुषोत्तम की परोपकारी भावना ने सुकेसी और सुरपति का संयोग करवा दिया। इसी समय पुरुषोत्तम और निरमल दे, तथा महानन्द और परमल दे का भी प्रेम होने के कारण विवाह संबन्ध होगया। इस प्रकार सुख में इस कथा का अवसान होता है।

पुहुप वरिया की कथा को सुनकर अलि रूपी प्रान मुग्ध हो जाते हैं।

विशेषतायें :

कथा पुहुपवरिया का कथानक मंझनकृत 'मधुमालत' से बहुत साम्य रखता है। जिस प्रकार 'मधुमालति' की मां ने उसे पक्षी बना दिया था, उसी प्रकार सुकेसी की मां ने उसे

पक्षी बना दिया। मनोहर को मार्ग में जिन परिस्थितियों के मध्य 'प्रेमा' मिली थी, उन्हीं परिस्थितियों के मध्य 'निरमलदे' और सुरपति का साक्षात्कार हुआ। सम्पूर्ण कथा की कथन शैली में अन्तर है, तथा मधुकर के मित्र की भांति सुरपति के मित्र महानन्द के विवाह की चर्चा नहीं है, अन्यथा कथानक में बहुत साम्य है।

रचनाकाल :

कथा पुहुपबरिषा की रचना कवि ने 'शाहजहाँ' के शासन काल में की।

छन्द :

पाँच चौपई के बाद एक दोहे का क्रम निर्वाह है।

रस :

इसमें श्रृंगार रस की ही प्रधानता है।

कथा में आये हुए नखशिख, पनघट, बारहमासा आदि वर्णन रूढ़िगत हैं किन्तु कवि ने कथा को सुखान्त बनाने के साथ ही 'परोपकार' की महिमा का गुणगान भी किया है जो उसकी विशेषता है :

इंछ्या तिहं पुरवे करतार।
जाते हुवे आवे उपगार॥

कोऊ थिर नाहिंन रहे जो उपज्यो सैंसार।
अमर रहत है जगत में जान सुजस उपकार।

रीतिकालीन परम्परा का भी कवि पर प्रभाव है। एक दोहा इस प्रभाव को स्पष्ट कर देगा।

जाके अंग-संग लाल है, सुफल वहै जग नारि।
बिरहनि वपुरी लागि है ज्यों फागुन तरमारि।

कथा रतनमञ्जरी

इस कथा के प्रारम्भ के सात पृष्ठ नहीं हैं। प्राप्त कथा का आरम्भ नखशिख वर्णन से होता है। रतनमन्जरी नामक एक सुन्दरी नारी को, मधुसूदन नामक सूर्यवंश के कुंवर ने स्वप्न में देखा। चेत आने पर कुंवर प्रेम बाधा से पीड़ित हो गया। अत्यन्त

उपचार के पश्चात् कुंवर ने अपनी माता से अपने हृदय की व्यथा कही। माता-पिता ने संगीत, अध्यात्म आदि सभी प्रकार से कुंवर का मन बहलाने की चेष्टा की, किन्तु उसे किसी भी प्रकार शान्ति न प्राप्त होती थी। उसने एक चित्रकार से अपने मन में बसी स्त्री का चित्र खिंचवाया और निरन्तर उसी को देखकर कालयापन करने लगा।

रतनमञ्जरी भी इसी प्रकार जागने पर अत्यंत दुखी हुई। उसने अपनी सखियों से अपनी व्यथा कही, और एक चित्र बनवाया जिसे देखकर चित्त में चैन रखती थी। माता पिता के पूछने पर उसने सत्य न बताकर अपना दुःख छिपा लिया।

इधर कुंवर को एक पारधी ने बताया कि जंगल में बहुत से सिंह और गायें आई हैं। कुंवर शिकार करने गया और एक सोते हुये सिंह को उसने छोड़ दिया। इसी समय पारधी के हंकारने पर शेर जाग गया और कुंवर का घोड़ा भाग गया। कुंवर ने अत्यन्त साहस से कटार के द्वारा सिंह को मार डाला।

कुंवर ने अपने पिता के पास संदेश भेजा किन्तु पिता के आने के पूर्वही कुंवर को एक पक्षी ले उड़ा। पिता ने पुत्र को न पाकर आत्मघात कर लिया,और रानी चन्द्रावती अत्यन्त दुखित हो गई।

दो तीन सहस्र कोस चले जाने के पश्चात् कुंवर ने पक्षी के पैर छोड़ दिये किन्तु वहां उसे अपना कोई मित्र न दिखाई दिया। इसी प्रकार घूमते हुये उसे वहां एक बाग और उसके बीच में सुन्दर भवन स्थित दिखाई दिये और उनका स्वप्न से साम्य देखकर कुंवर अत्यन्त हर्षित हुआ। उसने निश्चय करके उस पक्षी को अपना गुरु मान लिया। यहीं पर गुरु की महिमा का भी वर्णन है।

कुंवर हर्षित हो वृक्ष के पीछे से तालाब के पास बैठी हुई रतनमञ्जरी का स्वरूप निहारने लगा। रतनमञ्जरी के सौन्दर्य को देखकर वह मूर्छित हो गया। रतनमञ्जरी ने उसे पकड़वा मंगाया और उससे पूछा कि किस प्रकार वह मार्ग की भूत प्रेत बाधाओं को पार करता हुआ यहां तक आ पाया है तथा उसका क्या परिचय है।

कुंवर ने बताया कि वह चंदपुरी के राजा अजयचन्द का प्रिय पुत्र मधुसूदन है, तथा उसने अपनी सारी स्वप्न और विरह की कथा कह सुनाई।

राजकुमारी अत्यन्त क्रोधित हुई और उसने उसे मृत्यु का भय दिखाकर भाग जाने को कहा किन्तु कुंवर भी अपने प्रेम में दृढ़ था। उसके प्रेम की दृढ़ता देखकर राजकुमारी ने उसका प्राणाधार चित्र देखना चाहा। कुंवर के पास अपना ही चित्र देखकर राजकुमारी अत्यन्त हर्षित हुई। उसके माता पिता से सखियों ने सारा समाचार कहा।

राजा को अत्यन्त हर्ष हुआ और दोनों का व्याह पुष्य नक्षत्र में निश्चित किया गया। दोनों का विवाह सुखपूर्वक समपन्न हुआ और आनन्द में दिन व्यतीत हो रहे थे

तभी एक दिन एक पक्षी को देखकर रतनमन्जरी उस पर मोहित हो गई। कुंवर ने जैसे ही उसे पकड़ने का प्रयास किया कि पक्षी उसे ले उड़ा। रतनमञ्जरी विरह से पीड़ित हो अपने वस्त्र इत्यादि फाड़ने लगी।

पक्षी कुंवर को उड़ाकर उसी स्थान पर छोड़ आया जहां से उड़ा लाया था। कुंवर दुख में बावला हो भटक रहा था कि तभी उसे एक जोगी दिखाई दिया जिससे दीक्षा ले वह जोग में निरत हो गया।

कुंवर जंगल जंगल भटक रहा था तभी एक रूपधारी देव उसे दृष्टिगोचर हुआ। कुंवर ने उसके कहने पर अपनी विरह से ओतप्रोत बीन बजाई जिसे सुनकर वह वशीभूत हो गया। मृग जंगल से आकर वहाँ एकत्र हो गये।

संगीत मुग्ध देव ने कुंवर का भेद जानकर उसका उपकार करने की इच्छा प्रकट की। उसे रतनमञ्जरी का पति जानकर देव अत्यन्त क्रोधित हुआ क्योंकि वह स्वयं रतनमञ्जरी का प्रेमी था जिसे उसने कई बार प्रणय याचना करने पर निराश किया था। उपकार का वचन देकर देव उसके प्रतिकूल कार्य न कर सका और उसने कुंवर से रातभर अपने यहां ठहरने को कहा, प्रातःकाल रतनमञ्जरी के निवासस्थान उदयपुरी की ओर प्रस्थान करना निश्चित हुआ।

रात्रि में उस देव ने कुंवर को उसी बन में छोड़ दिया जहां पक्षी उसे छोड़ आया था कुंवर विलाप करता हुआ फिर उसी मार्ग पर चल दिया। मार्ग में वही देव उसे फिर मिला, कुंवर के प्रणय प्रदर्शन पर उसने कहा कि रतनमञ्जरी उसके भाग्य में नहीं है। कुंवर प्रेम मार्ग पर अडिग रहा। उसकी इस दृढ़ता को देखकर देव अत्यन्त क्रोधित हुआ और उसने कुंवर को उठाकर पहाड़ में फेंक दिया।

एक दिन पहाड़ों में भटकते भटकते कुंवर को एक गुफा में एक सिद्ध मिला, कुंवर ने उसके पैर पकड़कर दया याचना की। सिद्ध ने बताया कि उदयपुरी का मार्ग अत्यन्त दुःसाध्य है अतः मैं तुम्हें दो बाण [1] देता हूँ जो तुम्हें मार्ग प्रदर्शित करेंगे। कुंवर फिर आगे बढ़ा। मार्ग में वही देव फिर मिला जिसे कुंवर ने भस्म कर दिया तथा मार्ग में आने वाले अन्य विघ्नों को भी कुंवर ने उन्हीं बाणों की सहायता से परास्त किया।

मार्ग में आने वाले राक्षसों को मारकर कुंवर ने उदयमान के भाई को मुक्त किया तथा उनके विचारानुसार एक वर्ष पश्चात् वे उदयमान के यहां जाने वाले थे कि उदयमान स्वयं वहां आगये और तीनों मिलकर अत्यन्त प्रसन्न हुये। उदयपुरी आकर रतनमन्जरी और कुंवर फिर सुखपूर्वक रहने लगे।

---

१. अग्नि बाण और पवन बाण।

कुंवर को अपने माता पिता की स्मृति आजाने पर विदा कराके घर की ओर चल दिया तथा अपनी माता से मिलकर वह सुखपूर्वक राज्य तथा कालयापन करने लगा।

विशेषता :

कवि जान ने अपनी प्रेमकथाओं में आश्चर्य तत्व की योजना अधिक की है। कथा रतनमन्जरी में भी देव, राक्षस, हाथी, दरवेश, अग्निबाण, पवनबाण आदि हैं। कथा संगठन एवं कथानक में कोई नवीन बात नहीं है। किन्तु 'देव' के चरित्र का चित्रण आदर्श हुआ है। कुंवर को सहायता का वचन दे चुकने के कारण उसने उसका कोई अनिष्ट नहीं किया इससे अधिक एक राक्षस से और क्या आशा की जा सकती है।

छन्द :

पांच अर्द्धालियों के बाद एक दोहे का क्रम है।

रस :

शृंगार रस प्रधान है।

अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा रतनमञ्जरी की अपनी विशेषता यह है कि कवि ने नखशिख वर्णन किया है। राग रागिनियों की चर्चा के साथ ही कवि ने गुरु, जीवन, जगत इत्यादि के सम्बन्ध में भी अपने विचार प्रगट किये हैं।

अब नैनन की सुनहु निकाई, षंजन बरन मीन चपलाई।
कै संग भूलि पर्यो म्रिग छौना, कै कछु इन मैं टांमन टोना।

नेत्रों के वर्णन में इस प्रकार सभी प्रयुक्त उपमानों की योजना तो समझ में आती है, किन्तु कपोल के लिये कुकुम और ईंगुर रचित होने की कल्पना उपयुक्त नहीं :

दोऊ कपोल अमोल सुहाये, कुकुंम ईगुर घोरि बनाये।

रतनमञ्जरी का सौन्दर्य अवर्णनीय है। रतनमञ्जरी के सौन्दर्य के लिये 'गिरा अनयन, नयन बिनु बानी' (तुलसीदास) की भांति कवि जान को भी कहना पड़ा :

नैननि कै रसना नहीं, बरनत रूप सुभाइ।
रसना बिन देखी कहै, तातें कही न जाइ॥

इस नश्वर एवं माया विवश संसार में गुरु ही एकमात्र आधार है। उसके बिना सफलता प्राप्ति असंभव है। अपने इन विचारों को कवि ने कई स्थानों पर व्यक्त किया है।

गुर बिन मारग कौन बतावै, को प्रीतम दरसन परसावै।
कठिन पन्थ पुनि दुचित कुहेला, गुर किरपौ बिन चलत न चेला।

काम क्रोध तिसना लुबध, माया मोह् जंजार।
मारग चलि नाहिन सकै जो सिर परि यह मार ॥

गुरु बिन को मेटै चित चिन्त, गुर बिन कौन मिलावै मिंत।

प्रेम मार्ग में सफलता उसी को मिलती है जो 'आपे' एवं 'अहं' का त्याग कर देता है।

जाप कीजिये आप तजि, तो पिय पईये आप।
जब लै आपु न दूर है, कौन काज को जाप।

अपनी इन विशेषताओं के अतिरिक्त कथा 'रतनमन्जरी' में भी वर्णन प्रसंग परम्परागत हैं।

कथा छीता

कथा-सारांश

देवगिरि के राजा देव की अपार रूपराशि सम्पन्न एक कन्या थी। उसका नाम छीता था। राम नाम के एक राजा को छीता के रूप सौन्दर्य को देखने की इच्छा हुई। अपनी इसी इच्छा की पूर्ति के हेतु वे धोती धागा धारण कर के और तिलक लगा के एक विप्र के वेष में देवगिरि में राजा देव के पुरोहित के यहाँ रहने लगे। कुछ दिन बाद राजा राम को पुरोहित ने पहचान लिया और राजा राम की इच्छा पूर्ति में सहायता देने का वचन दिया।

छीता को एक दिन पूजा करने के अवसर पर राजा राम ने देखा और वह उसके सौन्दर्य से अत्यन्त प्रभावित हुआ। राजा राम ने अपने नगर को अपना सब समाचार कहला भेजा, और वहां से अपने स्वजनों और परिजनों को पूर्ण सजधज के साथ बुला भेजा। उन लोगों के आ जाने पर उसने अपने को प्रकट कर दिया तथा राजा देव ने उनका इस रूप में अत्यन्त स्वागत किया। राजा राम ने अपनी इच्छा राजा देव पर प्रकट कर दी। राजा देव को सम्बन्ध स्वीकार था और उन्होंने तीन साल की सगाई कर दी। राजा राम अपने देश को लौट गये और वहां किसी प्रकार लाख युग के समान इन तीन वर्षों को काटने लगे।

इधर राजा देव की यह इच्छा हुई कि वह अपनी पुत्री और जमाता के लिये एक चित्र महल बनवाये, अत: उसने राजा अलाउद्दीन के यहाँ से अच्छे अच्छे चित्रकारों को बुलवाया। चित्रकारों ने अत्यन्त सुन्दर चित्र बनाये, किन्तु संयोगवश उन्होंने छीता को भी देख लिया और उसका एक चित्र बनाकर अलाउद्दीन के पास भेज दिया। अलाउद्दीन उस चित्र से प्रभावित होकर छीता के सौन्दर्य का साक्षात् करने के हेतु देवगिरि आया। राजा देव के विरोध करने पर युद्ध छिड़ गया। गढ़ के न टूट सकने पर राघव चेतन के परामर्श के अनुसार बादशाह अपने दूत के चाकर के वेश में गढ़ में पहुँच गया।

छीता जब उद्यान में पूजा करने आई तो उसने बादशाह को पक्षियों पर गुलेल फेंकते समय पहचान लिया। उसने बादशाह को पकड़वा मंगाया और उसे समझाकर दिल्ली लौट जाने को कहा। वह एक प्रकार से लौट ही चला था, कि राजा देव की, उसके बचे हुए लोगों को लूट लेने की इच्छा जानकर, वह फिर क्रुद्ध होकर लौट आया और गढ़ घेर लिया। इस बार उसने गढ़ के भीतर तक एक सुरंग खुदवाई और उद्यान में उसका एक आदमी रहने लगा।

एक दिन छीता के वहाँ आने पर उसने छलपूर्वक उसे दिल्ली पहुँचा दिया। अलाउद्दीन ने छीता को प्रसन्न करने के अनेक प्रयास किये किन्तु वह उदासीन रही। एक दिन उसने अपनी सगाई की बात अलाउद्दीन से कही।

उधर राजा देव ने छीता के अपहरण का समाचार राजा राम से कहला भेजा। वह अत्यन्त दुखी होकर जोगी का वेष धारण करके दिल्ली पहुँचा। उस जोगी का समाचार जानकर अलाउद्दीन ने उसे अपने दरबार में बुला भेजा। उसकी बीन सुनकर छीता आँसू बहाने लगी जिनसे उसकी भस्म धुलने लगे।

बादशाह प्रेम का प्रभाव तथा प्रगाढ़ता देखकर अत्यन्त प्रभावित हुआ और उसने छीता को राजा राम के साथ पुत्रीवत् विदा कर दिया।

विशेषता :

छीता कथा की विशेषता उसके पात्रों के चरित्र चित्रण में है। राघव चेतन और अलाउद्दीन ऐतिहासिक पात्रों का वर्णन 'रतनसेन पद्मावती' कथा में भी आ चुका है। राघव चेतन का वर्णन एक भेदिये के रूप में हुआ है। अलाउद्दीन के चरित्र को जो कवि ने उत्कर्ष प्रदान किया है, वह कवि की अपनी मौलिकता है। सुन्दर रूप को देखने की चाह स्वाभाविक है। राजा राम भी छीता के सौन्दर्य-दर्शनार्थ देवगिरि गये थे और अलाउद्दीन भी, किन्तु राजा देव की कुमंत्रणा की सूचना पाकर उसने छीता का अपहरण करवाया। छीता के शील एवं चरित्र की दृढ़ता से प्रभावित होकर, तथा उसके प्रेम की गंभीरता का परिचय पाकर, अलाउद्दीन ने पुत्रीवत् छीता को विदा कर दिया। अलाउद्दीन के चरित्र को ऐसा उत्कर्ष कहीं प्राप्त नहीं हुआ होगा।

दस चौपइयों के बाद एक दोहे की योजना कवि ने की है।

कथा कामलता

कवि जान ने यह कथा 'चौपई' छन्द में लिखी है। हंसपुरी में रसाल नामक एक राजा रहता था। उसके मंत्री का नाम बुधवन्त था। एक दिन रात में राजा ने अपने को एक सुन्दरी से मिलते देखा। वह अभी स्वप्नावस्था में ही था कि प्रधान ने आकर जगा दिया। राजा का क्रोध तथा बिरहाकुलता देखकर प्रधान ने राजा के द्वारा वर्णित छबि के अनुसार एक चित्र बनवा कर मार्ग में रख दिया। इस प्रकार चित्र को मार्ग में रखने का कारण था कि कोई पथिक संभवतः चित्र को देखकर वास्तविकता का पता दे सके। एक दिन एक पथिक ने उस चित्र को देखकर बताया कि वह चित्र सुन्दरपुरी की शासिका कामलता का है, किन्तु वह व्याह या पुरुष मैत्री के नाम से भी चिढ़ती है।

इस समाचार को पाकर बुधवंत और रसाल सुन्दरपुरी की ओर चले। वहां भी बुधवन्त ने वही उपाय सोचा। राजा रसाल का एक चित्र बनवा कर मार्ग में रख दिया कामलता उस चित्र को देखकर मोहित हो गई और उसने रसाल को बुलवा भेजा। अन्त में उन दोनों का विवाह सम्बन्ध हो गया। जान कवि की अन्य रचनाओं की भांति यह भी सुखान्त है।

इस कथा के आरम्भ में ही कवि ने ब्रह्म की स्तुति चित्रकार रूप में की है। उसके निर्मित चित्रों की प्रशंसा ही कवि का उद्देश्य सा है। कथा में सुन्दरचित्रों का प्रभाव स्पष्ट है। रानी कामलता, राजा रसाल के सुन्दर चित्र को देखकर मोहित हो गई। उस अनुपम चित्रकार तथा उसकी सुन्दर सृष्टि की प्रशंसा ही कवि का उद्देश्य ज्ञात होता है। इसमें पांच चौपई के बाद एक दोहा का क्रम है।

कथा कनकावती

अपनी अधिकांश कथाओं के आरम्भ मे जान कवि ने कथा की प्राचीनता की दुहाई दी है। इस कथा के सम्बन्ध में भी यही निर्देश करके प्रेम प्रभाव के स्पष्टीकरण के हेतु ही वह कथा-वर्णन करना है। भरथ नामक एक राजा अपनी राजधानी 'भरथनेर' में रहता था। राजा के कई रानियां थीं किन्तु किसी के भी सन्तान नहीं थी। अनेक धार्मिक

अनुष्ठानों के पश्चात् राजा के एक अत्यन्त सुन्दर पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम 'परमरूप' रक्खा गया। परमरूप ने स्वप्न में एक अनिंद्य सुन्दरी को देखा और उसके विरह में व्याकुल हो गया।

कुंवर की व्याकुलता देखकर उसकी सान्त्वना के लिये उसी सुन्दरी का चित्र बनवाया गया। एक विप्र ने उस चित्र को देखकर बतलाया कि वह चित्र सिंहपुरी के राजा की पुत्री कनकावती का है जिसका व्याह बिना जगपति राय की आज्ञा के किसी से नहीं हो सकता तथा सिंघपुरी भरथनेर से केवल ४०० कोस की दूरी पर है।

इस सूचना को पाकर, परमरूप को कनकावती का परिचय तथा प्राप्ति का साधन भी ज्ञात हो गया। अतः कुंवर ने प्रधान से सेना के साथ चलने को कहा तथा वह स्वयं जोगी का वेष धारण करके चल दिया। उधर ब्राह्मण ने जाकर कनकावती के समक्ष 'परमरूप' का सौन्दर्य वर्णन करके उसके हृदय में परमरूप के लिये अनुराग उत्पन्न कर दिया।

भरथराय ने पहले अपने मन्त्री के द्वारा जगपतिराय के पास कनकावती को पुत्रवधू रूप में पाने का प्रस्ताव भेजा किन्तु जब वह सम्मत नहीं हुआ तो दोनों में युद्ध आरम्भ हो गया। युद्ध में भरथराय हार गया तथा परमरूप को एक सन्यासी अपने साथ जङ्गल में ले गया।

विप्र ने भरथराय तथा कनकावती दोनों को धैर्यपूर्वक जीवन बिताने के लिये कहा और वह स्वयं परमरूप को ढूंढ़ने के लिये निकला। उसे सन्यासी के आश्रम में पाकर विप्र ने उस दिन कनकावती और परमरूप के मध्य सन्देशवाहक का कार्य करना आरम्भ कर दिया। फलस्वरूप दोनों का प्रेम प्रगाढ़तम होता गया। उधर सन्यासी ने कुंवर को 'कच्छप निधि' नाम की विद्या सिखला दी जिसको पाकर एक दिन कुंवर अदृश्य होकर विप्र के साथ सिंघपुरी जा पहुँचा। वहाँ विप्र ने उन दोनों का विवाह सम्बन्ध सम्पन्न करवाया तथा परमरूप और कनकावती आनन्दमग्न रहने लगे। एक दिन भरथनेर का स्मरण हो आने पर कुवंर कष्टसाध्य मार्ग पार करके स्वदेश पहुँच गये।

जब राजसिंघ को पुत्री का इस प्रकार अदृश्य होना ज्ञात हुआ तो उसने जगपतिराय से सब समाचार कहला भेजा। जगपतिराय ने क्रुद्ध होकर भरथनेर पर आक्रमण कर दिया और एक सुरङ्ग के सहारे नगर के आधे भाग को ध्वंस कर दिया। नगर के लोग पानी में बहने लगे। कुवंर परमरूप और रानी कनकावती भी इन्हीं में थे। कुवंर बहता हुआ जगराय तथा कनकावती जगपतिराय को प्राप्त हुई। दोनों ने उन्हें पुत्र और पुत्रीवत् ग्रहण कर लिया, दोनों विरह में तड़पा करते थे कि संयोगवश जगराय ने जगपतिराय को इन दोनों प्राप्त हुये पुत्र और पुत्री का ब्याह करने के लिये लिखा। इस प्रकार ये विरही फिर मिल गये। कथा का अन्त अन्य कथाओं की भाँति सुखान्त ही है।

ग्रंथ बुधिसागर या कथा मधुकर मालति

ग्रन्थ के नाम से प्रेम कहानी का आभास नहीं होता किन्तु है यह प्रेम कहानी ही।

अयोध्या नगर में रतन नामक एक सौदागर का पुत्र मधुकर रहता था जो नित्य गुरु के पास पढ़ने जाता था। एक बार उसकी दृष्टि चटसार को जाती हुई लड़कियों में से मालती नामक एक लड़की पर पड़ गई जो अतीव सुन्दरी थी। मधुकर तथा मालती दोनों ही एक-दूसरे पर मोहित हो गये। मधुकर ने पिता से बहाना करके अकेले पढ़ने में मन न लगने के कारण चटसार पढ़ने जाने की आज्ञा पा ली। अब मधुकर और मालती दोनों साथ हो गये। मालती की यौवनावस्था देखकर उसके पिता ने उसे घर पर ही शिक्षा देना चाहा और चटसार के गुरु से उसके लिये उपयुक्त अध्यापक मांगा। गुरु ने इस कार्य के लिये मधुकर को ही नियुक्त कर दिया।

मधुकर के पिता को इन दोनों के प्रेम का पता लग गया और वह मधुकर को लेकर विदेश चला गया। फलस्वरूप दोनों प्रेमियों को विरह दुख भोगना पड़ा। इधर मालती को किसी विलायत के बादशाह ने एक सहस्र मुद्रा देकर खरीद लिया। मालती उस बादशाह के पास से उसके वजीर के पास चली गई और विरहिणी के समान कालयापन करने लगी।

मधुकर का पिता वहीं विदेश में मर गया और मधुकर अपनी माता के पास लौट आया तथा मालती की खोज करने लगा। गुरु के द्वारा उसे पता लगा कि मालती बेच दी गई है। वह खोजता हुआ वजीर के यहाँ भी पहुँचा। वहाँ उसे पता लगा कि वह वजीर की चेरी उसके यहाँ नहीं रहना चाहती थी। इसी अपराध पर वह उसे मारना चाहता था किन्तु बादशाह द्वारा उसे अपने यहाँ बुला लेने के कारण वह मारी नहीं जा सकी। मालती ने बादशाह के यहाँ रहने से भी इन्कार कर दिया और अनेक प्रलोभनों का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। तब बादशाह ने क्रोधित होकर उसे मरवा डालने का विचार किया, किन्तु असफल रहने पर उसने मालती को तुर्किस्तान के छत्रपति के हाथ बेंच दिया।

मालती को लेकर छत्रपति तुर्किस्तान जाने लगा। किसी प्रकार बहाना करके मधुकर भी उसके साथ तुर्किस्तान पहुँच गया। वहाँ छत्रपति ने मालती को अपनी लड़की की सेवा में रक्खा। मालती के सौन्दर्य पर छत्रपति का दामाद मोहित हो गया। मालती ने उसका तिरस्कार किया। फलस्वरूप उसने क्रोधित होकर आधी रात के समय मालती को सन्दूक में बन्द करवा के पानी में फिकवा दिया। मधुकर भी हर तरह मालती के संकटों में साथ था। मालती के सन्दूक को एक अरमनी ने पानी से निकाल लिया और उसे अपने साथ नाव पर ले चला। सन्दूक से मालती के निकलने पर अरमनी ने उसे

अपनाना चाहा किन्तु मालती ने तिरस्कार किया और अरमनी के क्रोधित होने पर मधुकर ने उसे समझाया कि वह मालती को किसी प्रकार अवश्य मना लेगा, वह उसकी भाषा भली प्रकार जानता है। इसी बीच नाव बन्दर पर पहुँच गई, वहाँ के बादशाह ने अपने मन्त्री को अरमनी का सारा सामान खरीदने को भेजा। प्रधान, मालती के सौंदर्य पर मुग्ध हो गया किन्तु मालती के इन्कार करने पर उसे दण्ड देने पर तुल गया। इसका समाचार पाकर बादशाह ने मालती को अपने यहां पांच रत्न में खरीदकर बुलवा लिया, किन्तु मालती को मधुकर के बिना कहीं संतोष न था। अब बादशाह ने उसकी अपने यहां रहने की अनिच्छा देखकर उसे फिर अरमनी को लौटा देना चाहा। बादशाह के आदमियों ने मधुकर को ही अरमनी समझकर उसे मालती लौटा दी किन्तु राजा के पांच रत्न लौटाने में मधुकर असमर्थ था अत: उन आदमियों ने उसे माकसी में डाल दिया।

जब मधुकर माकसी में रहता था तभी उसका एक मांझी मित्र उसे खाने के लिये नित्य एक मछली पहुँचा देता था। एक दिन संयोगवश मधुकर को एक मछली के पेट में पांच रत्न प्राप्त हो गये जिन्हें देकर वह माकसी से मुक्त हुआ और मालती को ले आया।

दोनों प्रेमी नाव में बैठकर भाग निकले किन्तु मार्ग में उनकी नाव फट गई और वे फिर अलग हो गये। मालती बहती हुई एक देश में जाने लगी जहां के बादशाह ने उसे दस सेवकों के साथ अपने घर पहुँचा देना चाहा किन्तु उन सेवकों ने उसे घर न पहुँचाकर अप्सराओं को दे दिया जिनके बादशाह ने उसे अपने लिये रखना चाहा और मालती के विमुख होने पर उसे फिर पहले बादशाह के आदमियों के पास पहुँचा दिया जिन्होंने उसे अवध के मार्ग पर ला दिया जहां से चलते चलते किसी प्रकार वह बगदाद जा पहुँची। इधर मधुकर भी बहते हुये एक जंगी की नाव से लगा जो उसे बगदाद ले गया। इस प्रकार दोनों प्रेमा बगदाद की किसी सराय में एक साथ हो गये किन्तु दोनों एक दूसरे से अनजान थे। प्रात:काल उस सराय का पौरिया दोनों को बादशाह हारूं रशीद के यहाँ पकड़ ले गया जहाँ दोनों पृथक पृथक वन्दी बना दिये गये। क्रमश: बादशाह हारूं रशीद को इन दोनों के प्रेम का हाल विदित हुआ और उसने इन दोनों के प्रेम की परीक्षा लेकर उनका विवाह करा दिया, साथ ही उन्हें अयोध्या तक पहुँचवा भी दिया। दोनों प्रेमी इतने कष्ट और वेदना के पश्चात मिलकर अत्यन्त हर्षित हुये।

कथा में जान कवि की चमत्कार-प्रियता प्रधान है। दास प्रथा का उल्लेख यूसुफ जुलेखा ग्रन्थ के बाद जान कवि की इस कथा में हुआ है। बादशाह हारूं रशीद की सहृदयता सराहनीय है; किन्तु कवि का दोनों प्रेमियों को इतनी बार एक सी ही जटिल घटनाओं में डालना अच्छा नहीं लगता। मधुकर और मालती की चटसार में भेंट उस समय की सामाजिक स्थिति पर भी प्रकाश डालती है। कथा में पांच चौपाइयों के बाद एक दोहे का क्रम निर्वाह हुआ है।

कथा कंवलावती

रूपपुरी नगरी का राजा रूपराइ था। उसकी रानी का नाम रूपरेख था। उनके एक अत्यन्त सुन्दर इन्दुवदन (ससि) नाम का पुत्र था। जब कुंवर वयस्क हुआ तो राजा ने उससे व्याह करने को कहा जिसके उत्तर में उसने कहा कि जब तक उसे मनभावती स्त्री नहीं मिलेगी वह व्याह नहीं करेगा।

राजा ने कुंवर की इच्छा जानकर देश विदेश में चित्रकारों को सुन्दर नारियों का चित्र बना लाने के लिये भेजा। वे चित्रकार एक सहस्त्र के लगभग चित्र लाये किन्तु कुंवर को एक भी चित्र पसन्द न आया। राजा बहुत हताश होकर कुंवर के व्याह का कोई अन्य उपाय सोचने लगा।

एक दिन कुंवर राजमहल में बैठा हुआ था तभी एक अत्यन्त सुन्दर तोता आकर कुंवर के हाथ पर बैठ गया। कुंवर के पूछने पर उसने बताया कि मदन नगरी में मदनराइ नाम का राजा तथा मदनकला नाम की रानी है। उनकी एक अत्यन्त सुन्दर कंवलावती नाम की पुत्री है। उसके व्याह की चर्चा होने पर उसने एक स्वप्न का बहाना बनाकर स्पष्ट कर दिया कि उसे श्री शंकर जी ने आदेश दिया है कि अपने समान से ही व्याह करना अतः राजकुमारों के चित्र आने तथा उनमें से पसन्द करने के पश्चात् ही उस राजकुमारी ने व्याह करने का निश्चय किया। राजा ने पान देकर चित्रकारों को चित्र बनाने के लिये भेजा। चित्रकार दो सहस्त्र से भी अधिक चित्र लाये किन्तु कुमारी को एक भी चित्र पसन्द न आया। सारे चित्र जला दिये तब उसने मुझे सुन्दर कुंवरों की खोज में भेजा। मैं सब जगह घूमा फिरा हूँ। तुम्हें देखकर कुछ मन मोहित हो गया है वह राजकुमारी अत्यन्त सुन्दर है अतः तुम चित्रकार को भेजकर उसका चित्र मंगवाओ।

सुवा ने इस प्रकार से कुंवर के हृदय में प्रेम उत्पन्न करके, राजकुमारी कंवलावती से कुंवर (ससि) की प्रशंसा की, तथा उससे चित्रकार के सम्मुख चित्र खिंचवाने के लिये बैठने को कहा। कंवलावती पहले तो अत्यन्त संकुचित हुई किन्तु जब वह प्रकट में आई तो चित्रकार बेसुध होने लगा। उसकी यह अवस्था देखकर कंवलावती ने कहा कि तुम मेरी ओर पीठ फेर कर बैठो और दर्पण में मेरा स्वरूप देखकर चित्र अंकित करो। जब उस चित्रकार ने कंवलावती का चित्र बना लिया तो उसी चित्रकार के साथ कंवलावती ने भी अपने एक चित्रकार को भेजा। इस प्रकार दोनों ही एक दूसरे का चित्र पाकर अत्यन्त प्रसन्न तथा एक दूसरे पर मुग्ध हो गये।

उन दोनों का व्याह हो गया और दोनों अत्यन्त आनन्द में अपने दिन बिताने लगे। एक दिन साथियों ने कुंवर से घर चलने को कहा तब कुंवर शुभ मुहूर्त की खोज

करने को कह कर भीतर सोने चला गया। जब यह दम्पति सो रहे थे तभी सुदर्शन ने अपनी सभा में चरों से कहा कि एक अत्यंत रूपमान दम्पति को मेरी 'इन्द्रसभा' देखने के लिये ले आओ और चर इन दम्पति को अत्यन्त रूपवान देखकर उठाकर इन्द्रसभा में ले गये। वहां अनेक प्रकार के बाद्य राग रागनियों को सुनकर कुंवर विमोहित हो गया। सभा समाप्त होने पर इन्द्र के चर उसे फिर चौराहर पर छोड़ गये। दूर से एक देव इन दम्पति को देख रहा था। वह कंवलावती को उठा ले गया। कुंवर जब नींद से जागा तो कंवलावती को न पाकर अत्यन्त पछताने लगा। उसने तोते को कंवलावती की खोज में भेजा किन्तु कई दिनों तक तोता लौटकर नहीं आया। तब कुंवर जोगी होकर कंवलावती की खोज में बन बन घूमने लगा; इस प्रकार घूमते हुये उसे बन में एक मस्त हाथी मिला वह कुंवर को मारने दौड़ा तब वह पेड़ पर चढ़ गया। हाथी ने पेड़ उखाड़ लिया। भगवान से प्रार्थना करने पर हाथी पागल हो गया और भाग चला। इस आपत्ति से छुटकारा पाकर अभी वह सांस ही ले रहा था कि उसे एक सांप अपने आगे और एक पीछे दिखाई दिया। एक सांप आपस में लड़ मरा। एक को पेड़ की जड़ से निकल कर एक न्योले ने मार डाला। इसी समय एक नाहर कुंवर के ऊपर दौड़ा और भगवान ने चक्र से उसकी गर्दन अलग कर दी। इसी प्रकार उसे अनेक भूत, प्रेत, पिसाच, आदि विपत्तियों का सामना करना पड़ा। अन्त में अपनी इस विपत्ति और दुख से पूर्ण असफल यात्रा से थक कर, वह बैठा था कि एक पक्षी उसे ले उड़ा, किन्तु आगे बैठे गरुड़ ने उस पक्षी को मार भगाया और शरणागत को न मारने का आश्वासन देकर उसे गुरु के पास ले गया। गुरु ने कंवलावती का पता कुंवर को बता दिया।

कुंवर खोजता हुआ कंवलावती के पास पहुँचा और फिर पूर्व निश्चय के अनुसार रात्रि में कंवलावती ने देव से उसके मरने का उपाय पूछ लिया। दूसरे दिन कुंवर जब देव को मारने का प्रयास करने लगा तो देव घबड़ाया और उसने वादा किया कि अब वह कभी नहीं सतायेगा। ऐसा कहकर वह इन्द्रपुरी चला गया।

कंवलावती को पा लेने के बाद कुंवर पहले राजकुमारी के घर गया और वहां से अपने माता पिता के पास संदेश भिजवाया। इसी बीच कंवलावती की रूप प्रशंसा सुनकर एक बलसागर नाम का राजा उस पर मोहित हो गया और उसने कुंवर पर आक्रमण दिया किन्तु वह स्वयं हार कर लौट गया और इन दम्पति के दिन सुख में व्यतीत होने लगे।

एक बार आनन्द विहार करते हुये इन की नाव भंवर में पड़कर टूट गई दोनों अलग अगल होकर नदी में बह गये। कंवलावती बहते बहते पति के नगर पहुँची। वहां के महुओं ने उसे राजा की भेंट कर दिया। राजा ने उससे पुत्री की भांति सुखपूर्वक रहने को कहा। कालान्तर में राजा ने अपनी वधू को पहचान लिया। कंवलावती विरह में अपने दिन बिताने लगी।

उधर कुंवर बहते बहते अप्सारात्रों के हाथ लगा जो उससे प्रणय याचना करने लगीं। निराश होने पर कुंवर को कष्ट पहुँचाने लगीं। कुंवर ने पूरा एक वर्ष विरह तथा विपत्ति में बिताया।

इसी समय पहले कुंवर का भेजा हुआ तोता कंवलवती के पास पहुँचा और कंवलावती की नवीन व्यथा सुनकर वह फिर कुंवर को ढूंढ़ने निकल पड़ा। उसने कुंवर से कंवलावती का समाचार सुनाया और कुंवर से कंवलावती के लिये पत्री लेकर उड़ा। कंवलावती ने भी एक पत्र कुंवर के लिये भिजवाया।

कुंवर ने तोते से कुछ उपाय सोचने को कहा, तभी उसे गरुड़ की कृपा का ध्यान आ गया और कुंवर ने एक बार फिर गरुड़ से कृपादृष्टि की प्रार्थना की। गरुड़ ने दया पूर्वक उसे माता-पिता के यहां पहुंचा दिया। उसके बाद वे दोनों अत्यन्त सुख पूर्वक अपने दिन व्यतीत करने लगे।

अन्य कथाओं भांति कवि जान ने इस कथा में भी चमत्कार उत्पन्न करने के लिये सांप, हाथी, नाहर, भूत पिशाच, इन्द्रसभा, देव और अप्सराओं की योजना की है कंवलावती और ससि दोनों की विवाह सम्बन्धी स्वतंत्र भावना भी ध्यान देने योग्य है।

इस कथा की रचना कवि ने जहांगीर के शासन काल में की थी।

इस ग्रन्थ में कवि ने ६ चौपाइयों के बाद एक दोहे की योजना की है। अन्त में एक सवैये की रचना भी है।

कथा मोहिनी

कथा का आरम्भ कवि मसनवी की परम्परा से करके परमात्मा के मोहिनी रूप की प्रशंसा करता है। उस मोहिनी की चाह संसार के सभी ज्ञानियों को है। प्राची देश के राजपुत्र मोहन को भी उसकी चाह है। वह उनकी व्यथा में पीड़ित था। वह एक दिन रात्रि को घर से निकल पड़ा। मोहिनी पहेली रूप में सबसे प्रश्न पूछती थी। मोहन से भी उसने ऐसे ही प्रश्न पूछे जिनका उत्तर मोहन ने सफलता पूर्वक दिया। अन्त में मोहिनी ने मोहन के ज्ञान की परीक्षा हो चुकने पर उससे पाणिग्रहण कर लिया। यहीं पर कवि कथा का अन्त कर देता है।

कथा की विशेषतायें

कथा का आरम्भ अन्य सूफ़ी प्रेमाख्यान की भांति ही होता है किन्तु कवि का उद्देश्य पहेलियां बुझाने का अधिक ज्ञात होता है। वह पहेलियों के द्वारा ही नायक के

ज्ञान को परखना चाहता है। इस पहेलियों वाले स्थल को पढ़कर कालिदास और विद्योत्तमा की कथा का ध्यान आ जाता है इसके अतिरिक्त कवि का परमात्मा की भावना 'मोहिनी' रूप में करना भी उचित है जो खुदा के सौन्दर्यमय स्वरूप का प्रतीक है।कथा में सूफ़ी विचारधारा या अध्यामिक तथ्यों का स्पष्टीकरण अधिक नहीं है। ऐसे स्थल एकाध ही हैं।[1]

कथा नलदमयंती

निषध देश का राजा वीरसेन था। उसके नल और पुहकर दो पुत्र थे। वीरसेन का निधन हो जाने के पश्चात् नल राजा हुआ। विदर्भ देश के राजा भीम की कन्या दमयन्ती थी जो अत्यन्त सुन्दरी थी। नल और दमयन्ती दोनों में स्वप्न-दर्शन गुणश्रवण चित्रदर्शन के कारण प्रेमारम्भ हुआ। नल दमयन्ती के प्रेम में विह्वल था। वह कभी पवन से और कभी हंस से अपने प्रेम संदेश भेजना चाहता था। अन्त में हंस के द्वारा उसने अपना संदेश दमयन्ती तक पहुँचाया। दमयन्ती ने भी पत्र के द्वारा अपना विरह कहला भेजा। रानी और राजा को इन दोनों का प्रेम व्यवहार ज्ञात हो गया और उन्होंने दमयन्ती का स्वयंवर रचा। देवताओं के नल का रूप धारण करने के कारण नल के पाँच रूप प्रकट हुये थे, किन्तु दमयन्ती ने वास्तविक नल को पहचान कर उसके गले में माला डाल दी। पाणिग्रहण हो चुकने के पश्चात् दोनों सानन्द रहने लगे, किन्तु जुआ में अपना सब कुछ हार जाने के कारण उन्हें देशत्याग करना पड़ा। मार्ग में उसकी एक बहेलिया एवं अजगर से भेंट, का वर्णन भी कवि करता है। वह जंगल में भ्रमण करती हुई कुछ ऋषियों के पास पहुँची जहाँ पर उसे यह ज्ञान हुआ कि अशोक वृक्ष की पूजा से उसे अभीष्ट लाभ होगा। वह अपने सत् एवं शील पर दृढ़ रही अन्त में उसकी भेंट कुछ सौदागरों से हुई जिनके साथ वह अपनी जन्मभूमि पहुँची।

---

1. रूपवन्त अति मोहिनी, मोह्यो सब संसार।
   और इसे पर ग्यान को, आवत नाहिंन पार।
   ससिकिन पुनि प्राकित पढ़ी, बढ़ी ग्यान की जोति।
   कोविद जिते जहान में, कोऊ नासम होत।

   वा की बातें अति विकट, अरथ सहत घट कोइ।
   बुद्धि आगर नागरि सुभग, ऐसी भई न होई।
   जेते ग्यानी जगत में, सबकों उपजी हाँस।
   जरे मोहनी मोहनी रोवत हैं निस धौंस।

   कवि जान : कथा मोहिनी।

इधर नल को भी भारी विपत्तियों का सामना करना पड़ा। अन्त में जाकर वह अयोध्या नगर में रितुवर्न के यहाँ देवव्रत नाम से सारथी का कार्य करने लगा। दमयन्ती ने नल की खोज की और अन्त में स्वयंवर के बहाने उसने नल को पा लिया। नल ने फिर जुआ खेला और राज्य पाकर आनन्द से रहने लगा। कुछ समय पश्चात् उसका निधन हो जाने पर दमयन्ती सती हो गई और कथा यहीं समाप्त हो जाती है।

कथा-संगठन :

कथा का आरम्भ कवि मसनवी पद्धति पर ही करता है। वह कहता है कि उसने नल-दमयन्ती की कथा कई ग्रन्थों में भिन्न प्रकार से वर्णित पाई है, किन्तु उन ग्रन्थों के नाम का उल्लेख कवि नहीं करता है। यह अवश्य कहता है कि उसने उन सभी से सार लेकर अन्त में नल दमयन्ती की कथा को अपने ढङ्ग से वर्णित किया है :

> वाँची मैं जु ग्रन्थन मांहि येक भाँति पाई पै नाहिं।
> सबही कौ मति चुनि-चुनि लीयौ चतुरन हेत अरगजा कीयौ।
> बहुत मिलौनी मिलै सुबास, अति सुगन्ध है लेत प्रकास।

किन्तु कवि ने कथा में किन भिन्न कहानियों का समावेश किया है, स्पष्ट नहीं होता, केवल 'अशोक वृक्ष' के पूजन को छोड़कर अन्य कोई नवीन घटना का समावेश भी नहीं मिलता सूफी साधना या सिद्धान्त का स्पष्टीकरण भी इस कथा में कहीं प्राप्त नहीं होता है। यह ग्रन्थ शुद्ध प्रेमाख्यान की कोटि में आता है। कथा पूर्णरूप से वर्णनात्मक है। दोहे चौपाई के अतिरिक्त सवैया का भी प्रयोग कवि ने किया है जिनमें रीतिकालीन काव्य की स्पष्ट छाप है। दमयन्ती का नल को लिखा हुआ पत्र :

> भूख प्यास उदास रहै नित, भोजन भूलेहु नाहिन बैहै।
> फूल की माल जो सूंघत बाल, जरै तत्काल उसांस जुलैहै।
> जोवन कैसे बनै वनिता कौ, अबै जु पियारे को नाहन पैहै।
> मैन करी अति मैन नें कोमल, ज्यौं प्रित धाम ढरी तन जैहै।

कथा पौराणिक है। ग्रन्थ का रचनाकाल हि० सन् १०७२ है।

ग्रंथ लैला मजनूं

लैला और मजनूं की प्रेमकथा अत्यन्त प्रसिद्ध है। लैला और मजनूं के प्रेम का आरम्भ पाठशाला में होता है। दोनों एक ही साथ रहने तथा पढ़ने के कारण एक-दूसरे से प्रेम करने लगे। तभी लैला की माता ने यह भेद जानकर लैला का पाठशाला में पढ़ना

बन्द कर दिया। इस विछोह से मजनूं बहुत दुखी हुआ और उसने भिखारी का रूप धारण करके लैला के दर्शन किये। मजनू ने पवन द्वारा अपना संदेश भिजवाया।

मजनूं के पिता ने भी उसके प्रेम की बात सुनी और उसे सीख दी किन्तु मजनूं ने अपने उत्तरों से उन्हें परास्त कर दिया। वह मजनूं को साथ लेकर मक्के चला गया और वहीं रहने लगा। लैला भी मजनूं के विरह में दुखी रहती थी। मजनूं के पिता ने लैला के पिता से लैला का मजनूं के साथ व्याह कर देने को कहा, किन्तु वह सहज ही सहमत न हुआ और लैला की प्राप्ति के लिये कुछ शर्तें रक्खीं। जब मजनूं उन शर्तों को पूर्ण करने के प्रयास में लगा हुआ था तभी इब्नसलाम लैला पर आसक्त हुआ और उसका ब्याह लैला के साथ हो गया।

एक बटोही के द्वारा इब्न और लैला के व्याह का संवाद मजनू को प्राप्त हुआ। दोनों ने पत्र व्यवहार के द्वारा अपनी व्यथा प्रदर्शित की। इसी बीच मजनूं के पिता की मृत्यु हो गई, और मजनूं ने स्वप्न में सूर्य चन्द्र एवं तारों से बातें करते हुए अपने को देखा। कुछ दिन बाद उसे इब्नसलाम की मृत्यु का समाचार उपलब्ध हुआ। लैला अपने पति के विरह से अत्यन्त दुखी हुई और विलाप करती हुई सती हो गई। लैला की समाधि के पास मजनूं ने भी अपना प्राणत्याग कर दिया और इस प्रकार उनका मिलन अबाध तथा शाश्वत हो गया।

विशेषतायें :

कवि का यह ग्रन्थ भी शुद्ध प्रेमाख्यान है। कथा में रसात्मक स्थल बहुत थोड़े हैं, वर्णनात्मक ही अधिक हैं। अन्य कथाओं की अपेक्षा कवि ने इसमें प्रत्येक भावी घटना का निर्देश प्रसंग के आरम्भ में कर दिया है।

रचना दोहे चौपाई में है।

कथा का रचना काल संवत् १६६१ है।

कथानक फ़ारसी मसनवियों में अति प्रसिद्ध है।

कथा कलावती

कथा का आरम्भ परम्परागत है।

विलापुर का राजा सिंघरथ था, उसकी रानी का नाम कनकावती था। निस्सतान होने के कारण वे सदैव दुखी रहता थे। एक दिन स्वप्न में सुरपति ने उसे पुत्र प्राप्ति का वरदान दिया। थोड़े दिन पश्चात् उनके पुरन्दर नामक पुत्र हुआ जो अत्यन्त विद्वान तथा सुन्दर था। उसे अपने सौन्दर्य का बड़ा गर्व था। उसने आठ विवाह

किये थे। एक दिन मृगया के समय जंगल में उसने एक मनुष्य को रोते हुये देखा। पूछने पर उसे ज्ञात हुआ कि गिरिवर्त गढ़ के राजा सुधरास रत्नचूर और रानी रत्नाव्रत की कलावती नाम की पुत्री अनुपम सुन्दरी है। कुंवर उसके नखशिख को सुनकर आसक्त हो गया और बीन लेकर घर से निकल पड़ा, उसने बीन में ही अपनी विरह व्यथा गाकर सुनाई जिसे सुनकर राजा रत्नचूर मोहित हो गया तथा राजकुमारी कलावती का भी मन उसने हर लिया। पिता का विरोध न होने पर सहज ही उन दोनों का पाणिग्रहण हो गया।

कथानक में कोई नवीनता नहीं है, अतिरिक्त इसके कि नायिका का पिता ब्याह का विरोध नहीं करता और सहज ही नायक और नायिका का मिलन हो जाता है। कवि ने न तो सूफ़ी विचारधारा की चर्चा ही इसमें की है और न नायक नायिका के प्रेमोत्कर्ष प्रदर्शन का प्रयास ही है। दोहे चौपाई के अतिरिक्त कवि ने बारहमासे के अन्तर्गत प्लवगंम छन्द का प्रयोग भी किया है।

कथा छोटी है तथा कवि जान ने इसकी रचना केवल दो पहर में ही कर ली थी। रचनाकाल हि० सन् १०२३ है।

कथा रूपमञ्जरी

कवि ने इस कथा की रचना कहीं से सुनकर की है।

हस्तिनापुरी गाँव का राजा हस्तिमल था। उसकी अनेक पत्नियाँ थीं किन्तु उन सबकी पटरानी परमावती थी। उनके ग्यानसिंह नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसकी मित्रता न्यायसिंघ से थी, वे दोनों घनिष्ठ मित्र थे और ज्ञान-चर्चा में ही अपना समय व्यतीत करते थे। एक दिन आधी रात तक इसी प्रकार की चर्चा करने के पश्चात् जब वे सो गये तो राजकुंवर ग्यानसिंह ने एक स्वप्न देखा। कुछ दिन पश्चात् उसने द्वितीय स्वप्न फिर देखा। पूछने पर ज्ञात हुआ कि स्वप्न में आने वाली सुन्दरी कंकनपुर के राजा कर्न एवं रानी हंसगवन की पुत्री, रूपमंजरी है। राजकुंवर उसकी प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील होकर घर से निकल पड़ा। चार मास पश्चात् वह अपने ननिहाल पहुँचा और वहाँ उसका एक चित्र देखा। उससे प्रेरित होकर वह फिर अपनी साधना में लग गया, और दो महीने के बाद कंकनपुर पहुँच गया। वहाँ उपवन में राजमहल की मालिन से भेंट हुई जिसे उपहार देकर कुंवर ने अपना कार्य करवाने को मना लिया। मालिन के कहने पर रूपमन्जरी उपवन में कुंवर से मिलने आई। कुंवर को देखकर वह भी रूपासक्त हो गई। इसी बीच कुंवर का साथ कुछ तपस्वियों से हुआ जिन्होंने राजकुंवर को सफलता का आशीर्वाद दिया। रूपमन्जरी और ग्यानसिंह

का विवाह उनके मातापिता के अनजाने में ही इन तपस्वियों के द्वारा सम्पादित हुआ रूपमञ्जरी राजकुंवर के साथ चल दी, मालिन के द्वारा राजपरिवार में यह बात व्यक्त हुई और जबतक उन्हें पाने या खोजने का प्रयास हो तपस्वियों के आशीर्वाद से वेष परिवर्तन करके जोगी जोगिन के वेष में दोनों हस्तिनापुरी पहुँच गये और प्रेमपूर्वक कालयापन करने लगे।

अन्य छोटे प्रेमाख्यानों की अपेक्षा कथा रूपमञ्जरी में रसात्मकता अधिक है, वैसे नायक के कष्टों या प्रेम की उत्कर्षता का वर्णन इसमें भी अधिक नहीं मिलता। कथा वर्णनात्मक ही अधिक है। 'रूपमन्जरी' के उपवन में ग्यानसिंह का मिलने आने पर कवि का वर्णन कुछ रहस्यात्मक हो गया है।

पात वसन की सोभा रूपन, फूले सो पहिरि आभूषन।
मधुर बचन मधुकर बहु बोलें, अंबर पत्र पौन लगि भोले॥

येक पाव तरवर खरे तकन चौंप मन माहिं।
रुपमन्जरी आइहै करे बिछौना छांहिं॥

गुरु की महिमा का भी वर्णन है, जो गुर की सेवा एकाग्रचित से करता है, उसकी सब इच्छायें पूर्ण होती हैं। गुरु जिस प्रेमगांठ को बांध देता है वह इतनी घुल जाती है कि फिर खुल नहीं सकती :

जो गुर की सेवा करे इक मन इक जिय होइ।
इंछया पूजे प्रान की चिन्ता रहे न कोइ॥

तथा

पैमुगांठि पुनि गुरु की दई, पुलत न नेकु महाघुरि गई।

यह कथा भी कवि जान ने अत्यन्त अल्पकाल में ही पूर्ण कर दी थी।

देतप्याली मन्जरी, कुंवर करत है पान।
स्रवन सुनी मुष ऊचरी, लगे तीन ही जाम॥

इस कथा का रचनाकाल नहीं दिया गया है।

कथा षिजरषाँ साहिजादे, व देवल दे की चौपई

इस कथा में अलाउद्दीन के पुत्र खिज्रखां तथा कर्णभूधार की पुत्री देवल दे की प्रेम कथा वर्णित है। अलाउद्दीन अत्यंत प्रतापी और वीर राजा था। राज्य पाने के पश्चात्

उसने मानिकपुर, देवगिरि, दिल्ली, रणथम्भौर, चित्तौर, मालवा आदि देशों को जीत लिया। सागर के पास राजा कर्ण निवास करता था, उसके आधिपत्य न स्वीकार करने पर अलाउद्दीन ने स्वयं उस पर आक्रमण किया। राजा कर्ण हारने की संभावना देखकर भाग खड़ा हुआ उसकी रानी कंवला को अलाउद्दीन ने अपनी पटरानी बनाया। देवलदे जो राजा कर्ण की पुत्री थी, अपने पिता के पास गुजरात गई। देवगिरि के राजा सिंहदेव को उसकी चाह थी। राजा कर्ण ने देवल दे को देवगिरि भेज दिया। मार्ग में ही अलफखां ने, जो अलाउद्दीन का पुत्र था उसे घेर कर देवल दे को पकड़ लिया और उसे लेकर दिल्ली आया। यहाँ खिज्रखाँ में अपने भाई की रूप की छवि पाकर देवलदे खिज्रखाँ से प्रेम करने लगी, खिज्रखाँ की माता अपने भाई की पुत्री से उसका विवाह करना चाहती थी और इस इच्छा की पूर्ति के लिये उसने चार चेरियों के द्वारा देवल दे को मरवाना चाहा। देवलदे कैद में अत्यंत दुखी थी और खिज्रखाँ उसके बाहर। गुप्त रूप से उनका कभी कभी मिलन होता था, देवलदे को यह जानकर कुछ संतोष हुआ कि खिज्रखाँ उसके विरह में दुखी है।

कथा वर्णनात्मक अधिक है जिसपर इस्लामी संस्कृति का प्रभाव है। कथा के आरम्भ में कवि ने 'रूप' की प्रशंसा करते हुये 'प्रस्तावना' लिखी है जो उसकी अन्य रचनाओं में प्राप्त नहीं होता। वह लिखता है कि सौन्दर्य इस संसार को आकर्षक बनाता एवं प्रेमोदभूत करता है :

रूपवन्त कीने नर नार, धरनी को छवि भई अपार।
रूपवन्त मुख दर्पन बान, जिय कौ रूप दिखायौ आन।

रूपवन्त कौ देषि कै ताकत सब संसार।
नैननि कौ ज्यों रूप है, जीवत इहीं अधार॥

कवि ने कथा के मध्य अपनी शृंगार प्रियता का परिचय भी स्थल स्थल पर दिया है। एक स्थल पर वह राजा कर्ण के अन्तःपुर की चर्चा करते हुये लिखता है :

पान भार है अधर कौ, नैननि अंजन भार।
भूषन अति भारी लगैं, नारि रही थकि हार।

कथा कलन्दर, कथा तमीम अन्सारी, कथा अरदसेर पातिसाह की, कथा कौतूहली की, कथा कुलवन्ती की, कथा सीलवन्ती की, कथा सतवन्ती की, वलूकिया बिरही की कथा आदि प्रेमाख्यानों का न तो कथानक ही सूफीपरम्परा में आता है और न स्वरूप ही।

कथा कलन्दर, कथा तमीम अन्सारी, कथा अरदसेरपातिसाहि की, कथा कौतूहली की कथायें शुद्ध प्रेमाख्यान हैं। इनमें कवि का उद्देश्य केवल एक कथा की वर्णनात्मक ढंग से रचना करना है।

कथा कुलवन्ती, कथा सीलवन्ती, कथा छबिसागर, कथा निर्मलदे आदि ऐसी कथायें हैं जिनके द्वारा कवि किसी भाव को (पातिव्रत, शीलरक्षा या सदाचरण का) स्पष्ट करना एवं उसका महत्व प्रदर्शित करना चाहता है। इन कथाओं में कवि नायक के चरित्र को मर्यादा से गिरा हुआ दिखाता है। वह लोभी, कामी एवं क्रोधी होता है। उसकी ओर से नायिका के शील, कुल एवं सत्त को डिगाने का भरसक प्रयत्न होता है, किन्तु नायिका प्रलोभन और प्रवंचनाओं के मध्य भी, अपने धर्म की रक्षा करती है। कथा कुलवन्ती में सौदागर की पुत्री कुलवन्ती कामुक 'कुतुबदी' के दर्शनार्थ नहीं जाती और उसका आकर्षण अस्वीकार कर कुल की रक्षा करती है। उसके चरित्र के वशीभूत हो कुतुबदी उसे अपनी पुत्री के रूप में स्वीकार कर लेता है।

'कथा सीलबन्ती' में एक सौदागर की पत्नी अत्यन्त 'शीलवान' है। उसके सौन्दर्य को एक बाजदार उसे पति को विदा करते समय देख लेता है। नारी स्वभाव से सुन्दर वस्त्रालंकार पर मोहित होती है। बाजदार ने भी सुनारिन तथा रंगरेजिन के द्वारा सीलवन्ती पर अपना प्रभाव डालना चाहा किन्तु उसने एक न सुनी और वह अपने शील पर अडिग रही।

सीलवन्ती का रंगरेजिन को यह उत्तर :

> सीलवन्ती कवि जान कहि, रंगी लाल के रंग।
> जौ लौं जीवै ना मिटै, पीनि चटक अंग अंग ॥

बड़ा ही मार्मिक है।

कथा सतवन्ती में भी मन्सूर नामक सौदागर की पत्नी 'सतवन्ती' पनवारिन, कलालिन, मालिन और जोगिन इन चार दूतियों के प्रयास करने पर भी अपने सत्त की रक्षा करती है।

कथा निरमलदे में, निरमलदे क्षत्रिय विधवा है, जिस पर वहां का राजा रूपासक्त हो गया। राजा ने दूती के द्वारा उसका पातिव्रत डिगाना चाहा, किन्तु वह अडिग रही। राजा ने जब कामासक्त होकर उसे बलात् पाना चाहा, तो उसने आकर्षण के मूल अपने दोनों नेत्र निकाल दिये जिससे प्रभावित होकर उस राजा ने भी भविष्य में फिर कभी ऐसा नहीं किया।

यह कथा भी पूर्ण रूप से वर्णनात्मक है तथा सूफ़ी प्रेमाख्यान परम्परा में नहीं आती।

भाषा :

कवि की भाषा ब्रजभाषा से अधिक प्रभावित ज्ञात होती है। कवि ने प्रयासपूर्वक किसी साहित्यिक भाषा का प्रयोग नहीं करना चाहा है। भाषा के सम्बन्ध में कवि का एक

निश्चित दृष्टिकोण है। उसका विचार है कि काव्य-रचना उसी भाषा में होनी चाहिये जो सहज ही बोली और पढ़ी जाती हो[१]। सफल काव्य के लिये साहित्यिक भाषा का प्रयोग आवश्यक न होकर उसमें उक्ति प्रधान होती है। साधारण बोली में जो कोमलता एवं माधुर्य है, वह संस्कृतमिश्रित भाषा में नहीं। यही कारण है कि कवि काव्य में दैनिक प्रयोग की भाषा का उपयोग उचित मानता है[२]।

ब्रजभाषा का प्रयोग उसके 'हों, वामें, तातें, बतियां, बिही' ऐसे प्रयोगों में स्पष्ट देखा जा सकता है। कवि ने संज्ञा क्रियापद का निर्माण भी किया है, जैसे कथा से कथी।

जान ने अरबी, फारसी या संस्कृत शब्दों का प्रयोग अधिक नहीं किया है। लोकोक्तियों का प्रयोग भी है 'तिय बिन घर नाहिन बनै, ज्यों मोती बिन सीप' तथा 'भई है बात छछून्दर नाग' 'शील बिना कवि जान कहि घर घर रूप बिकाइ'। शब्दों के तद्भव प्रयोग भी पाये जाते हैं जैसे 'हरनंषी'।

छन्द :

कवि ने अन्य सूफ़ी प्रेमाख्यान रचयिताओं की अपेक्षा छन्दों के प्रयोग में उदारता का परिचय दिया है। उसके प्रेमाख्यानों में प्रयुक्त छन्द, चौपाई, दोहा, चौपई, सवैया सवङ्गम मुख्य हैं।

अलंकार :

कवि की विशेषता रचनाओं की पंक्तियों की द्रुतगामिता में ही देखी जा सकती है और यही कारण है कि कवि का ध्यान अलंकार की ओर अधिक नहीं है। उसके काव्य में स्वाभाविक रूप से प्रयुक्त उपमा, रूपक, अनुप्रास, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त अलंकार ही प्रमुख हैं।

---

१. भाषा आनी जो मुख आई, ग्वारेरी हू मनसा धाई।
लिषत हाथ नाहिन अकुलावै, पढत नहीं रसना अरसावै।
कथा कनकावती।

२. मुख आनी जो जिय में आई, भाषा जो आई सो आनी।
रहबो बागर भाऊ किम, भाषा आवै भली।
पै दिन ढिग ज्यों साँझ, तैसी भाषा उकति ढिग।
उकति विसेष सांचु के जानहु, भाषा आवै सो मानहु।
उकति भली भाषा में आवै, तौ वह सोना सुगन्ध कहावै।
संस्कृत ग्यारे मिलावौ, मद्य विलाय के साज बजवो।
यह कंवल वामें कठिनाई, ताते कहि बहु जुगति जताइ।
कथा कंवलावती।

रस :

जान कवि के ग्रन्थों में शृङ्गार रस का पूर्ण प्रसार दृष्टिगोचर होता है। इनके दुखान्त ग्रन्थों में भी करुणरस के दर्शन नहीं होते। कवि घटना का उल्लेख मात्र करके कथा का अन्त कर देता है। वीर रस का भी किञ्चित परिचय जान के किसी-किसी ग्रन्थ में हो जाता है।

विरह एवं विप्रलम्भ शृंगार :

अन्य सूफी प्रेम प्रबन्धों की भाँति जान कवि के प्रेमाख्यानों में विरह की व्यापकता नहीं रहती। कुछ प्रेमाख्यानों में वर्णन की प्रचुरता के कारण केवल विरह-व्यथा का संकेतमात्र रहता है, किन्तु कुछ प्रेमाख्यानों जैसे कथा पुहुपबरिषा, कथा कंवलावती, कथा कनकावती आदि में इसका विस्तार लक्षित होता है। विरह-व्यथा का वर्णन करना असम्भव है। प्रथम तो वह उस वेदना में इतना निमग्न रहता है कि वह स्वयं भी उसका वर्णन करने में असमर्थ रहता है दूसरे उस वेदना को सुनने वाला भी सुन नहीं सकता।

पिय को भेदु जीव ही जानै।
जौं हूं कहौं आपनो भेदु, सुनत करेजा पीर है छेदु।
सो जानै जेहि अङ्ग में विरह लेत विस्तार।

एक बार विरह उद्भूत हो जाने पर फिर उसको शान्त करने का कोई उपाय नहीं है, चाहे स्वयं धन्वन्तरि ही क्यों न उसकी औषधि करना चाहें।

विरह रोग उपज्यो घट माहिं, ताकी औषध तुम पहि नाहिं।
जौ उठि आवै आप धन्वन्तर, जानत नाहिं कहा मन अन्तर।

विरह या प्रेम का रोग चाहे कितना ही असाध्य क्यों न हो, वह है साध्य ही। कवि जान तो स्पष्ट कहते हैं :

कौन काज मनु पैमु विनु, कहा दीप बिन गेहु।
जैसे धरनी मेह बिनु, नेह बिना ज्यों देहु।

जिसके हृदय में विरह या प्रेम उत्पन्न हो जाता है वह प्रिय के अतिरिक्त और किसी का चिन्तन नहीं कर सकता। विरह दबाने से और बढ़ता है, व्यापक होता है, विस्तार पाता है :

विरह बसै जाके मुख नैन, देखै पिय भाषै प्रिय बैन।
विरह रोग उपजै जेहि कान, मीत नांव बिनु सुनै न आन।

प्रेम बस्यौ जेहि प्रान में, ताकौ आनन चिन्त।
जहँ-जहँ नैन पसारिहै, तहँ-तहँ देखै मिन्त ॥

प्रेम जाग्रत हो जाने पर मर्यादा पालन एक समस्या बन जाती है।

सुकेसी भी इसी प्रकार कुंवर से बिछुड़कर दुखी हुई और उसे घर बन्धन प्रतीत होने लगा :

घर मोपर घेरो कियो घरो न छाजत पास।
प्रान पतो प्रीतम बिना निस दिन रहौं उदास।

कहीं कहीं विरह की व्यञ्जना अति को सीमा तक पहुँच गई है, जैसे विरही के तप्त पैर रखने के कारण पृथ्वी पर ग्रीष्म ऋतु होने की कल्पना :—

"चरन धरन धरनी जरि जाइ, तातें कीनीं ग्रीषमताइ।"

वेदना के फलस्वरूप, निरन्तर अश्रुप्रवाह होने पर भी शरीर की तपन नहीं बुझती :—

भरे नैन रहे झर लाइ, तौऊ तन की तपनि न जाइ।

षट् ऋतु एवं बारहमासे की चर्चा उद्दीपन विभाव के अंतर्गत होती है। कवि जान ने भी इसकी चर्चा की है। सावन ऐसे सुखद एवं क्रीड़ा पूर्ण महीने में भी, विरहिणियों की अवस्था कितनी दुखद होती है :

बहुरो भयो जगत में सावन, व्याकुल कीनीं बिनु मन भावन।
बोलत पिक चातक घन घोर, कौंधा कौंधत नाचत मोर।
मेघ बूंद से तीछन बान, छेदत बिरहिन के तन प्रान ॥

अरुन बसन रंग संजोगिनी, पेन्हत है करि चाइ।
आसूं रक्त में बिरहनी, पहरत बसन रंगाइ।

कार्तिक की शीतल चन्द्रिका उसे अग्नि से भी अधिक दुखदायी है :

चंद चाँदनी देखिके संजोगिनी हुलास।
बिरहनि भाये जरि उठे धरनी और अकास।

कहीं कहीं कवि की उपमा हास्यास्पद हो गई है जैसे :

बिरहिन को कोइल की कूक, लागत मानहु गोली बन्दूक ॥

कथा पुहुपबरिषा के अतिरिक्त कथा कंवलावती में भी, कवि ने विरह पर अपने विचार प्रगट किये हैं। जब कुंवर का पत्र लेकर तोता कंवलावती के पास जाने को उड़ा

तो कुंवर का मन दुविधा में था। उसका संदेशभार हल्का हो गया था किन्तु तोता क्या कंवलावती के पास तक पहुँच सकेगा या कंवलावती भी उसकी वेदना समझ सकेगी आदि शंकायें उसके हृदय में थीं।

पंछी लेइ गयो जब पाती, कछु मलीन कछु निरमल छाती।

कंवलावती का पत्र पाकर कुंवर ने उसे अतिशीघ्रता से नेत्रों के ऊपर रख लिया, कितनी स्वाभाविक व्यञ्जना है। प्रेम भाव की, उन्माद की यह छटा कहीं कहीं ही प्राप्त होती है:

'पाती कंवलावत की दीनी, देषति कुंवर नैन धरि लीनी।'

जिन वस्त्रों का सम्पर्क कंवलावती से हो चुका था, कुंवर ने उन्हें न तो देह से पृथक ही किया और न धुलाया ही। उन वस्त्रों से ही उसे कंवलावली का संसर्ग प्राप्त होना था:

'जिन बसन तुम्ह तें भये हाते, नाहिं उतारे धोये नाते।

प्रिय का रूप सौन्दर्य प्रेमी को नित्य आकर्षित करता रहता है किन्तु यदि कोई कहे कि प्रेमी उसका पूर्ण वर्णन कर दे तो यह सम्भव नहीं। बहुत कुछ तुलसी के अनुसार ही कवि जान ने भी कथा रतनमंजरी में ऐसी भावाभिव्यक्ति की है:

नैनिन कें रसना नहीं बरनत रूप सुभाइ।
रसना बिन देखीं कहैं, तातें कही न जाय॥

जो लोग विरह व्यथा में पूर्ण रूप से परिपक्व हो जाते हैं उन्हें ही संयोग सुख लाभ होता है:

विरह पन्थ जो मरि मरि जीवे।
अंम्रत अधर महारस पीवे।

जिसके हृदय में एक बार वह नैन कोर गड़ जाती है, वह फिर जीवन भर उसकी कसक नहीं भूलता:

नैन बान कवि जान कहि, जिह उर लागत आइ।
सालि करेजे में रहे करक न कबहूं जाइ॥

कथा कलावती में तो कवि स्पष्ट कह देता है कि सुख की प्राप्ति के लिये साधक को दुख सहना ही पड़ता है:

यहे पुरानन में लिष्यो जान लेहु कहि जान ।
सुष काजे दुख देषिये तो सुषु होइ निदान ॥

इस प्रकार कवि ने विरह की चर्चा अपने प्रेमाख्यानों में यथेष्ट की है। साथ ही उसने मुक्तक ग्रन्थों के रूप में भी विरहसत, बारहमासा, वियोगसागर आदि की रचना की है।

संयोगशृंगार :

संयोग पक्ष के वर्णन विशेष आकर्षक नहीं हो सके हैं क्योंकि उनमें केवल वर्णनात्मकता है, कहीं सुखानुभूति की भावात्मक व्यञ्जना नहीं।

'बरके गहि गर गई लगाई, इक भये दूसर कह्यो न जाई' कहकर कवि रतिक्रियाओं के वर्णन आरम्भ कर देता है जिनमें अश्लीलता के साथ ही केवल परम्परापालन का आग्रह ही अधिक ज्ञात होता है। कवि ने अपनी इस सम्बन्ध की पूर्ण जानकारी का परिचय कंद्रपकलोंल, मान विनोद, रसकोष, रसतरिंगिनी आदि ग्रन्थों में दिया है। कहीं-कहीं नायिका भेद का भी उल्लेख है :

घूंघट पट मेती नऊढ़ा, अति निरझाई दुराइ ।
बरिषा रित के चन्द ज्यों, झांकि-झांकि फिरि जाइ ।

प्रत्येक प्रबन्ध में नखशिख वर्णन की परम्परा का पालन है। अधिकांश वर्णन रूढ़िबद्ध हैं। उपमानों की संयोजना नवीन नहीं है, जैसे :

मांग सेत मुकताहल भरी, मधि कालिन्दी के सुरसरी ।

× ×

कहा स्यामता बार बखानौं, मधुप कि निसा साँवरी मानौं ।

× ×

नाक कीर मुकता अधिकार, मोलन मैं मोलत संसार ।

(कथा पुहुप वरिषा)

कपोल की अरुणिमा के बारे में कवि की कल्पना देखिये :

दोऊ कपोल अमोल सुहाये, कुंकुम इंगुर घोरि बनाये ।

× ×

देषि नासिका रह्यो न धीर; चप्यौ करी मकरी मनु कीर ।

(कथा रतनमञ्जरी)

इसी प्रकार अङ्ग प्रत्यङ्गों का वर्णन करते समय कवि कहीं-कहीं अति कर बैठा है जैसे कटि की एक साथ ही चीते, सिंघ एवं बरैया की कमर से तुलना। इन उपमान एवं उपमेय में किसी भी प्रकार का सादृश्य लक्षित नहीं होता।

कटि कर माहि बारिसी आवै, बार-बार देवै तो पावै।
कहयत चीतौ सिंघ तनइया, इनकी उपमा देत बलइया।

इसी प्रकार अधरों की चर्चा करते समय मुंह में पानी भर आने की बात भी कुछ समझ में नहीं आती :

अधर भेद काष जन काहि, नैकु न बरन्यौ जाहि।
नांव लेत मुष मिष्ट है, पानी भरि - भरि आइ।

ऐतिहासिक तत्व :

कथा खिज्रखां साहिजादे वा देवलदे की चौपइ में कवि ने अलाउद्दीन के बेटे, खिज्र खाँ एवं अलफ खाँ सिपहसालार का वर्णन आया है। राजा रामदेव से देवगिरि का लेना, मानिकपुर पर अधिकार करना, रुकुनुद्दीन से दिल्ली का सिंहासन छीन लेना तथा सबसे दण्ड लेकर अपना आश्रित बना लेने का उल्लेख है। इसके पश्चात् कवि सिपहसालार अलफ खां के द्वारा रणथम्भौर पर किये गये आक्रमण का वर्णन करता है। गौड़ का राजा राय हम्मीर देव चौहान था। छः महीने तक गढ़ घेरने के पश्चात् राजा हम्मीर देव मारा गया। उसके पश्चात् चित्तौरगढ़ के घेरे का उल्लेख है। खिज्रखाँ को चित्तौर का अधिकारी बना दिया गया। इसके बाद मालवे के राय को परास्त किया, दुर्गमगढ़ को छः साल तक घेरे पड़ा रहा, उसके राय को परास्त करके जब लौट रहा था तभी उसे राजा कर्ण की उद्दण्डता का परिचय मिला। अफजल खाँ राजा कर्ण को जो सागर के पास रहता था हराने चला। राजा कर्ण अपनी रानियों को छोड़कर भाग गया। उसकी पुत्री देवलदे उसके साथ गुजरात गई। देवगिरि का राजा सिंहदेव, देवलदे को प्राप्त करना चाहता था। राजा कर्ण की भी सहमति थी। अतः उसने देवलदे को वहां भेजा किन्तु मार्ग में ही अफजलखां ने उसे पकड़ लिया और दिल्ली ले आया। इसके बाद अलाउद्दीन के पुत्र खिज्रखां से देवलदे की प्रेम-कथा वर्णित है।

उपरोक्त वर्णनों में कुछ का साम्य तो इतिहास से हो जाता है और कुछ का नहीं। देवगिरि के राजा रायदेव पर आक्रमण की घटना ऐतिहासिक सत्य है। रणथम्भौर को अधिकृत करने का प्रसङ्ग भी इतिहास में आता है। चित्तौरगढ़ को जीतकर उसका अपने पुत्र खिज्रखाँ को अधिकारी बना देने की चर्चा भी इतिहास में आती है। ऐनुलमुल्क की मालवा विजय भी इतिहास प्रसिद्ध है। इन घटनाओं के इतिहासप्रसिद्ध होने के साथ ही कवि कल्पना का भी हाथ जान पड़ता है। इतिहास में जहाँ सिपहसालार उलुगखाँ

का नाम आता है, वहाँ इस ग्रन्थ में अलफखाँ का उल्लेख है। उलुगखाँ का अलफखाँ ध्वनि साम्य होने के कारण हो जाना आश्चर्यजनक नहीं। गुजरात के बघेल वंशीय राय कर्ण का परास्त होकर अपने परिवार को छोड़ जाना तथा उसकी स्त्री और पुत्रियों का सुल्तान के दरबार में भेजा जाना ऐतिहासिक माना जाता है, किन्तु देवलदेवी का बच कर अपने पिता के साथ भाग जाना एवं कई वर्ष बाद अलफ खाँ के हमले में पकड़ा जाना, खिज्रखाँ के उससे प्रेम और विवाह की बात काल्पनिक जान पड़ती है[1]। इन दोनों के प्रेम की कथा खुसरो ने भी अपनी मसनवी 'देवल रानी' या 'आशिका' में कही है।

जहांगीर का परिचय केवल प्रशंसात्मक है। ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख शाहजहाँ के शासनकाल से सम्बन्धित है। आसफखाँ, महावतखाँ, दौलतखाँ, चौहान आदि उमराओं का उल्लेख है। दौलतखाँ के द्वारा पहाड़ी राजाओं के दमन का वर्णन भी कवि जान कृत 'कथा पुहुपबरिषा' में आता है[2]।

प्रेमाख्यान 'छीता' में शाहजहाँ के राज्य विस्तार का भी उल्लेख है। दौलताबाद (देवगिरि) और बीदर के किलों को हस्तगत करने का वर्णन दिया हुआ है।[3]

---

१. मध्यकालीन भारत : डा० परमात्मा शरण

२. बड़े - बड़े जाके उमराव, नीके - नीके करहिं उसाव।
आसफखाँ थंभनि पति साही, ऐसी दीन्हों ज्ञान इलाही।
साहिजहाँ बहुतै सुख पावै, जी भावै सो करि दिखरावै।
दयावन्त सम्पूरन ज्ञान, वाकी सम उमराव न आन।
और महावत खाँ बलवन्त, जाके संग बहुतै साबन्त।
जहाँगीर पृथ्वी के पाल, सहंसाह भये दस काल।
कियो अचानक साहि पयानो, सकलजगत पल में थहरानो।
तेहि छन दौलत खाँ चौहान, रोपे पांव मेड़ पर आन।

नीके राख्यो कांगरी, स्वामि धर्म जो माहिं।
अलिफखान जाको पिता, तातै अचरज नाहिं॥

एक बार सब मिले पहारी, वैरो कियो भयो जुध भारी।
जेते आदि पहारी राजे, एक एक करि सबहीं भाजे।
साहिजहाँ सुनि एहु भाख्यो, गाढ़े पाइ भलै गढ राख्यो।

इनको दादो क्याम खाँ, मानौ मेरी साहि।
दौलत खाँ को बावनो, पै करिऔं समन्ताहि॥

३. साहिजहाँ बलु कहा बखानों, महाबली समं कोकों आनों।
अपने दलबल के परसाद, लीजे बादि दौलताबाद

लियो देवगिर पुनि बिदर जाणु रसब ठौर।
साहिजहाँ नित देस ले आज और कब और।

औरंगजेब के अपने भाइयों को मारकर राज्यसिंहासन पर बैठने की घटना का संकेत कथा 'नलदमयन्ती' में है।

सामाजिक तत्व :

कवि जान कृत रचनाओं में लोक-जीवन के तत्व कुछ अधिक हैं। व्यक्ति के जन्म से लेकर मरण तक के प्रमुख संस्कारों का वर्णन है। जन्म होने पर चौक पुराना, मंगलकलश रखना, बधाई गाना आदि आज भी प्रचलित हैं।[1] विद्यारम्भ करना तथा क्षत्रियवर्ग की शिक्षा के विषय आदि की चर्चा भी इनके ग्रन्थों हैं।[2]

विवाह के सम्बन्ध में उदार धारणाओं का प्रारम्भ इनके समय में हो चुका था। कन्या इच्छावर प्राप्त करना चाहती थी, किन्तु ऐसा करने में कुलमर्यादा एवं लोक लज्जा बाधा डालती थी। कभी कभी तो कन्या दैवी घटनाओं का सहारा लेकर अपनी इच्छापूर्ति में तत्पर होती थी और कभी पहेलियों या प्रश्नों के उत्तरों से वर की योग्यता का परिचय पाती थी। विवाह का अर्थ सुख माना जाता था और यह तभी प्राप्त हो सकता था जब वर एवं कन्या का मतसाम्य हो, अतः कन्या और वर की सम्मति विवाह की समस्या में महत्वपूर्ण होती थी। विवाह की तिथि आदि का शोधन भी होता था। जन्म होने पर ज्योतिषियों, पंडितों द्वारा बनाई गई जन्मपत्री जीवन संबंधी घटनाओं का सही लेखा देती थी। वैवाहिक संस्कारों का विस्तृत वर्णन इनके काव्य में नहीं मिलता है, किन्तु लगन आदि का उल्लेख आजाता है।

जीवन का आनन्द संयोग ही था। पुत्र के लिये पत्नी की आवश्यकता थी। पत्नी का अनुगामी होना हेय था। पनघट लोक सौन्दर्य का जमघट था। वहाँ नारियाँ अपनी चपलता एवं सौन्दर्य से जीवन बिखेर देती थीं। नारी का शील, कुल एवं सत् की रक्षा परमकर्तव्य था। वही नारी धन्य थी जो शील की रक्षा कर सके। राजा स्वेच्छाचारी भी होते थे। अपनी कामलिप्सा की पूर्ति के लिये वे तरह तरह के उपाय करते थे। राजा

---

१. पिंगल अमर व्याकरन मरथु, सब ग्रंथनि के भावतु अरथु।
कबहूं हार्था कूट लरावहिं, कबहु हरन जुग्यो मैं भावे।
(कथा कलावती)

बहुतें नीकी सभा बनावें, सुरपति थके कौतिक आवे।
(कथा पुहुपबरिषा)

२. ब्याह बिना संतान न होई, मुये नाम न लेहै कोई।
(कथा छबिसागर सीलनिधान की)

जाके अंग-अंग लाल है सुफल वहै जग नारि।
(कथा पुहुप बरिषा)

निरंकुश था, वह अपने मन्त्री से लेकर निम्न अनुचर तक पर एक छत्र शासन करता था[1]। उनकी मर्यादा का ध्यान उसे न था।

जीवन के अंत पर कवि ने कहीं दुख प्रकट नहीं किया है प्रत्युत ग्रन्थ लैलेमजंनू में मृत्यु के उपरान्त शाश्वत मिलन की ओर संकेत किया है।

स्फुट प्रसंग :

पाहन सेती कैसी प्रीत, समझत नाहिं नेहु की रीति।
जो तू मया के पीर हो पाय, हाथ पकरि ना लेत उचाइ।
वाका जै हम आसूं परि हैं, वाके नैन तीर न मरि हैं।
जो तुम्ह बकहो सब दिन रात, येक तुम्हारी सुने न बात।
नैन सहज यहु अंधरी आहि, कछु रंचक सूझै ना ताहि।
स्रवन आहि पै सुनत न नेक, सिल्पकार कीने हैं छेक।

शैली एवं विषयों की विविधता के कारण, रीतिकालीन साहित्य में जान कवि का विशिष्ट स्थान है। जितने प्रेमाख्यान जानकवि ने लिखे हैं, उतना ग्रन्थ सम्पूर्ण हिन्दी सूफ़ी-कव्य में उपलब्ध नहीं होते।

---

१. आगें भाजत आग्याकारी, पाछें राइ देत बहु गारी।

कथा कामलता की चौपाई।

ज्ञानदीप

(कवि शेखनबी कृत)

जीवनचरित् :

कवि के जीवन-चरित्र सम्बन्धी कुछ ही तथ्य 'ज्ञानदीप' में अन्तर्साक्ष्य रूप में उपलब्ध होते है। कवि का नाम 'शेख नबी' था। इनका स्थिति काल सम्राट जहांगीर का शासन काल ज्ञात होता है। ग्रन्थ का रचना काल हि० सन् १०२६ दिया हुआ है अत: सन् १६१६ ग्रन्थ का रचनाकाल निश्चित होता है। कवि जौनपुर सरकार के दोसपुर थाने के अन्तरगत अलदेमऊ को अपना निवासस्थान बताता है[1]।

कवि अपने ग्रन्थ के सम्बन्ध में लिखता है कि उसने इसमें 'शब्द अमर, गुण, पिंगल वीर, सिंगार, विरह आदि वर्णनों के अतिरिक्त जोग का वर्णन भी किया है।[2] कवि अत्यन्त विनम्र है। वह अपने को तृष्णा, लोभ, क्रोध आदि का भांडार मानता है। संसार में जितने भी अवगुण हैं वह उन सबको अपने में पुञ्जीभूत हुआ देखता है, उन सब अवगुणों के मध्य केवल एक गुण है कि वह परमात्मा का स्मरण करता है[2]। उसी एक

---

१. मुराद्दीन दिनपति जहांगीर नित नेम।
कुलदीपक दुति सकल की साहेब सहित सलेम॥
साहि सलीम छत्रपति छौनी, दल के मार कंवल दस द्रोनी॥
रूम सामपति दण्ड पठावै, खण्ड खण्ड के क्षत्री आवैं।
निसदिन डरै विभीषन लंका,
अल सदल चारि खण्ड माला, अदल रूप भौं निरमाला।
सोध सुभग संपूरन गली, जूथ जूथ बहु बनिता चली॥
काम वाम सी जाइ जोहारी, हंसि पाये दासी साझारी॥

एक हजार सन् रहे छबीसा, राज सुलही गनहु बरीसा।
संवत सौलह से छिहरा, उक्ति गरत कीन्ह अनुसारा॥
अलदेमऊ दोसपुर थाना, जाउनुपुर सरकार सुजाना॥
तहंवा शेख नवी कवि कहीं, शब्द अमर गुन पिंगल महीं।
वीर सिंगार विरह किछु पावा, पूरन पद लै जोग सुनावा॥

× × × ×

२. हौं अजान मूरख दुखदायी, अधम अधीन हिये जड़ पापी॥
तृन्ना लोभ क्रोध जिय कीन्हें, मोर मोर लाए लब लीन्हें॥
सब ऐगुन हैं मोहि पहं, एकै गुन गंभीर।
लैं लैं नाव रावरो, पोखऊं अधम सरीर॥

× × × ×

को वह आत्मसमर्पण कर देता है[१]। वह पाठकों से अपनी त्रुटियों की क्षमा चाहता है, साथ ही अमरकोश से ललित शब्दों की योजना में उसे सहायता मिली है इस सत्य को भी स्वीकार करता है। इस कथा के कहने में उसका एक ही उद्देश्य है आनन्द का सृजन। यदि इस कथा से पाप का नाश एवं पुण्य का उदय हो सका तो वह अपने को धन्य समझेगा[२]। कथा के सम्बन्ध में कवि कहता है कि उसने इस कहानी को सुना था और उसी को उसने अपनी भाषा शैली के अनुसार लिख दिया है[३]। कवि परमात्मा के निर्गुण स्वरूप का ध्यान करता है[४]। मुहम्मद साहब की प्रशंसा करते हुये कवि उनके नूर का उल्लेख करता है, उन्हें कलियुग के पापियों को तारने वाला कहा है, कलमा पाप नाश का साधन है, मुहम्मद मनुष्य के सहायक हैं[७]।

कथा-सारांश :

आरम्भ में परम्परानुसार निर्गुण ब्रह्म की उपासना एवं शाहेवक्त की प्रशंसा करके कवि ने कथा आरम्भ की है। नैमिसार मिश्रिक का राजा राय सिरोमनि था। शङ्कर जी की कृपा से उसके ज्ञानदीप नाम का एक पुत्र उत्पन्न हुआ। ज्ञानदीप बहुत योग्य और प्रतिभाशाली था। एक दिन आखेट खेलते हुये वह अकेला मार्ग में भटक गया। सिद्धनाथ जोगी ने उसे प्रतिभाशाली देखकर संसार से विमुख करना चाहा, किन्तु नीरस सिद्धान्तों की ओर उसे आकर्षित न होते देखकर सिद्धनाथ ने उसे राग-रागिनियों या सङ्गीत के द्वारा वश में करना चाहा।

---

१. सोइ करो कृपानिधि, रहै हमारी लाज।
तुम सो अवर न मन मँह, महागरीब नेवाज॥

२. बूझि बिचारी दोष मोहि लाएहु, धोख होय, तो मैटि बनायहु॥
ललित रूप जो आखर गढ़े, चुनि चुनि अमरकोस से काढ़े।
सब रस पाइ किहेउ सनमाना, जो आन्नद हिय होइ निदाना॥
बिनती एक किहेउ विधि पाहीं, मिटै पाप, पुन्नि उपजै ताहीं॥

३. पोथी बाच नबी कवि कही जो कुछ सुनी कहूँ से रही।
आखर चारि कहा मैं जोरी, मन बपराजा न कीन्हेउ चोरी॥

४. प्रीति मुहम्मद रचेउ अकास, कीन्हेउ लोक ओक चहुँपास॥
मितुंलोक मंह तोही अवतारे, कलजुग के पापी सब तारे।
कलि में कलमा कलुष नेवारन, सलावदीन कीन्ह जगतारन॥

५. सब घट घट मंह उहै प्रधाना, सब मंह जोति उहै सतनामा।
वोहि के रूप सब होत सरूप, केह निरूप नहिं काहू के रूप॥
वोहि सब मंह वोहि मंह कोउ नाहीं, वोह निरूप सब जग उपराहीं॥
वोहीं के गुन सब गुनी कहावै, निरगुन होइ गुन सभै सिखावै॥

विद्यानगर का राजा सुखदेव बहुत ज्ञानी एवं संगीत विशारद था, उसके यहाँ नित्य संगीत का अखाड़ा होता था। राजा सुखदेव के देवजानी नाम की एक विदुषी कन्या थी, जिसकी सहेली का नाम सुरज्ञानी था। ज्ञानदीप को जोगी के भेष में अत्यन्त बेसुध अवस्था में पाकर सभी उसकी चेतना के हेतु चिन्तित हो गये। सुरज्ञानी ने अपने संगीत एवं नृत्य से उसे विमोहित करना चाहा। चेत आने पर ज्ञानदीप ज्ञानपूर्ण वार्तालाप करके अपनी कुटिया में जाकर ध्यानमग्न हो गया। सुरज्ञानी ज्ञानदीप के सौंदर्य पर मुग्ध हो गई, उसने राजभवन में जाकर देवजानी से सारा वृत्तान्त कहा किन्तु उसे विश्वास न होने पर सुरज्ञानी झरोखे में से ज्ञानदीप को दिखाने के लिये ले चली। इसी बीच में उसने टूटे माले का बहाना करके देवजानी को माला, सुई, डोरा लाकर दिया। देवजानी ज्ञानदीप के सौन्दर्य को देखकर इतनी मोहित हुई कि उसे माला का ध्यान ही न रहा, और अंगुली में सुई चुभने की पीड़ा भी उसे न मालूम हुई।

देवजानी को ज्ञानदीप का विरह सताने लगा। उसे किसी प्रकार भी चैन न आती थी। अन्त में सुरज्ञानी उसे अपने वशीकरण मन्त्र का सम्बल दे रात्रि में शृङ्गार कराके ज्ञानदीप के पास ले चली। ज्ञानदीन समाधिस्थ था, सुरज्ञानी और देवजानी दोनों ही अपनी सारी चेष्टाएँ करके हार गई किन्तु उन्हें किसी प्रकार भी सफलता न मिली। राजमहल में लौटकर जोगी की उदासीनता के कारण देवजानी का विरह और तीव्र हो हो गया। सुरज्ञानी ने फिर एक उपाय किया और कागज का मन्त्राभिषिक्त एक घोड़ा बनाकर पार्वती की कृपा से उसे जीवन दान दिलाया, स्वयं भेष बदल कर उसकी रास थामे सहायता की याचना करती हुई ज्ञानदीप की कुटी के पास गई। ज्ञानदीप उसे विकट अवस्था में देखकर दयार्द्र हो गया और उसने घोड़े की रास थाम ली, उसके घोड़े पर सवार होते ही घोड़ा उसे आकाश मार्ग पर ले चला और देवजानी के महल की छत पर रुक गया। वहाँ सुरज्ञानी और देवजानी को एकत्र देखकर वह इनकी चाल समझ गया और इनकी चेष्टाओं से विमुख होने जा ही रहा था तभी देवजानी की संस्कृत भाषा में पाण्डित्य पूर्ण बात-चीत सुनकर वह देवजानी के प्रति आकर्षित हो गया। अब नित्य ही इस प्रकार घोड़े पर कुंवर ज्ञानदीप देवजानी के पास पहुँचने लगा। महल के रक्षकों ने नित्य ही एक घोड़े को आकर छत पर उतरते देखा तो राजा से शिकायत की। राजा एक दिन रात्रि को धनुष-बाण लेकर खड़ा हो गया और जैसे ही ज्ञानदीप घोड़े पर बैठकर महल की ओर जाने लगा। राजा ने बाण चला दिया, आहत होकर ज्ञानदीप भूमि पर गिर गया। ज्ञानदीप को बन्दी बनाकर राजा ने सारा वृत्तान्त पूछा तो देवजानी की मर्यादा का स्मरण कर वह झूठ बोल गया कि देवसभा में संगीत का अद्भुत अखाड़ा आज हो रहा है और ज्ञानदीप को वहाँ उपस्थित होने का आदेश मिला है, इसी हेतु वह देवलोक जा रहा था कि राजा ने आहत कर दिया। राजा को तो इस बात पर विश्वास हो चला था किन्तु अङ्गरक्षकों के बार-बार कहने से राजा ने ज्ञानदीप को प्राणदण्ड की आज्ञा दे दी। मन्त्री ने राजा को हत्या की सलाह न दी। तब राजा सुखदेव ने उसे एक काठ की पेटी में बन्द करके नदी में बहा दिया। बहता हुआ ज्ञानदीप राय मानराय की राजधानी मानपुर

में जा लगा। उस पेटी से निकालकर ज्ञानदीप राजसभा में लाया गया। राजा के द्वारा प्रश्न किये जाने पर उसने अपना सारा वृत्तांत बता दिया। राजा भीमराय निस्संतान था उसने ज्ञानदीप को अपने यहाँ पुत्रवत् रख लिया।

इधर देवजानी को ज्ञानदीप का समाचार ज्ञात होने पर बहुत व्यथा हुई और वह अग्निकुण्ड में भस्म होने के लिये कूद पड़ी, किन्तु शङ्कर एवं पार्वती की कृपा से बच गई। उसी रात्रि को शङ्कर जी ने राजा सुखदेव को ज्ञानदीप की निर्दोषिता का स्वप्न दिया। राजा सुखदेव ने ज्ञानदीप की खोज का कोई उपाय न पाकर कुमारी देवजानी के स्वयम्बर की सूचना सर्वत्र भिजवा दी, इस आशा में कि यदि ज्ञानदीप जीवित होगा तो अवश्य आयेगा। राजा भीमराय सूचना पाकर ज्ञानदीप को लेकर स्वयम्बर की ओर चल दिये। देवजानी ने वरमाला ज्ञानदीप के गले में डाल दी और देवजानी एवं ज्ञानदीप का विवाह सुसम्पन्न हो गया। राजा सुखदेव शीघ्र ही अपनी एकमात्र सन्तान को विदा करने के लिये तैयार नहीं हुये और इसी झमेले में बरात वहाँ लगभग सात माह तक रही। इसी बीच राय सिरोमनि गुरू सिद्धनाथ के साथ विद्यानगर आ पहुँचे। वहाँ ज्ञानदीप को देखकर उन्होंने उसे अपने साथ लेना चाहा, इस प्रश्न पर कुछ देर विवाद होने के पश्चात् यही तय रहा कि ज्ञानदीप राय सिरोमनि का पुत्र है। ज्ञानदीप के सम्भावित विरह से पीड़ित होकर राजा मानराय की मृत्यु हो गई। ज्ञानदीप उसका अन्तिम संस्कार करने के लिये मानपुर गया, वहाँ राजा की तीन-सौ-साठ रानियाँ अपनी सखियों के साथ सती हो गईं। इस प्रकार माता-पिता दोनों के निधन हो जाने से उनकी पुत्री दामावती अकेली रह गई। ज्ञानदीप को अपने कर्तव्य का ध्यान था, वह उसे अकेली छोड़कर नहीं लौटा। उसने दामावती का योग्य वर से विवाह कर दिया और स्वयं राजपाट सँभालने लगा। इधर देवजानी उसके विरह में अत्यन्त दुखी थी, उसका दुख न देख सकने के कारण सुरज्ञानी ज्ञानदीप की खोज में जोगिन होकर घर से निकली और मार्ग में अत्यन्त थक जाने के कारण एक स्थान पर विश्राम के हेतु वृक्ष की छांह में लेट गई, वहाँ की भिन्न-भिन्न वनस्पतियाँ प्रकट होकर उसे समझाने लगीं और वनस्पती रानी ने उससे उसकी कथा जाननी चाही।

उसका दुख समझ कर बनस्पती रानी को दया आ गई और उसने तुरन्त ही अपनी शक्ति से पलभर में उसे मानपुर पहुँचा दिया। ज्ञानदीप ने उसे शीघ्र ही पहचान लिया और दोनों मिलनसुख से आनन्दित हो उठे; किंतु सुरज्ञानी को देवजानी का बराबर ध्यान था और वह शीघ्र ही ज्ञानदीप को लेकर विद्यानगर की ओर चल दी। मार्ग में बनस्पती की भेंट इनसे भी हुई, मार्ग के सारे विघ्न को पार करके ये देवजानी के पास पहुँचे।

देवजानी के पिता से विदा होकर जब ज्ञानदीप स्वदेश जा रहा था तो मार्ग में एक स्थान सुन्दरपुर में विश्राम के हेतु ठहर गया। उस नगर में स्थित सरोवर, फुलवारी, एवं हंसपंक्ति को देखने के लिये सुरज्ञानी तथा देवजानी भी वहाँ गई, और स्नान किया। सुन्दरपुर की स्त्रियों ने नगर में जाकर इन दोनों रूपवती नारियों की चर्चा की। चर्चा

सुनकर नगर का राजा सुंदरसेन स्त्रीरूप धारण करके सरोवर के निकट पहुँचा और देवजानी को देखकर उसका पूर्व प्रेम जाग्रत हो गया। देवजानी के स्वयम्बर में सुंदरसेन भी गया था किंतु उसे निराश ही लौटना पड़ा था तभी से देवजानी का सौंदर्य उसे भूलता न था। सुंदरसेन ने अवसर देखकर छलपूर्वक देवजानी को अपनाना चाहा।

इधर देवजानी की सखियों से सूचना पाकर ज्ञानदीप ने सुंदरसेन पर आक्रमण कर दिया और सुंदरसेन को हराकर देवजानी के साथ वह स्वदेश लौटा। माता पिता पुत्र को पुन: पाकर बहुत प्रसन्न हुये। सुरज्ञानी तथा देवजानी दोनों बहुत प्रेम से रहती थीं। ज्ञानदीप शासन में दत्तचित्त रहने लगा। कथा सुखान्त है।

कथा-संगठन :

अन्य कथाओं की अपेक्षा ज्ञानदीप का कथा-संगठन कुछ अंतर रखता है। कवि ने साक्षात दर्शन के द्वारा प्रेम का आविर्भाव दिखाया है। साक्षात दर्शन भी अकस्मात् नहीं होता, प्रत्युत गुरु सिद्धनाथ ही उसे सिद्धि (देवजानी) के निकट तक पहुँचाते हैं। सिद्धिनाथ जोगी उसे योग साधना के लिये उपयुक्त ठहराते हैं, किंतु नीरस ज्ञान-चर्चा इश्क हकीकी में साधारणत: किसी का मन नहीं लगता, ज्ञानदीप का भी मन नहीं लगा तथा उसे ज्ञानचर्चा से विमुख होते देख सिद्धनाथ ने उसे रसरंग (इश्क मजाजी) की ओर आकर्षित किया और इसी हेतु गुरु ने उसे परम सौंदर्य के प्रतीक स्वरूप देवजानी के निकट पहुँचाया। कथा का यह प्रारम्भिक भाग अन्य कथाओं से कुछ अंशों में अंतर रखता है, नायक विरह पीड़ित होकर स्वेच्छा से गृह त्याग नहीं करता। गुरु के द्वारा उपयुक्त पात्र समझा जाकर वह गृह त्याग करता है तथा बाद में उसकी वृत्तियों के अनुकुल ही परम मार्ग का प्रदर्शन गुरु के द्वारा होता है। कथामें आश्चर्यतत्वोंकी योजना भी कम नहीं है। सुरज्ञानी को मंत्र-सिद्ध है, वह एक मायाश्रश्व निर्मित करती है जो आरम्भ में छलपूर्वक और फिर नित्य स्वेच्छा से ज्ञानदीप को देवजानी के पास पहुँचाता है। राजा सुखदेव क्रोधित होकर ज्ञानदीप को पेटी में बन्द करके नदी में फिकवा देता है, बाद में ज्ञानदीप से पुत्रवत् प्रेम हो जाने पर राजा भानराय की पुत्र वियोग में मृत्यु होती है। इन घटनाओं की संयोजना में एक ओर तो कवि देवजानी और ज्ञानदीप का विरह प्रदर्शित कर उनके प्रेम का महत्व प्रदर्शित करता है, दूसरी ओर राजा भानराय ऐसे सहृदय पात्र की संयोजना से कथा में करुण भावों का सचंरण करता है।

कथा की गति को लेखक जहाँ भी कहीं उद्देश्य या लक्ष्य की ओर मोड़ना चाहता है वहाँ सर्वत्र उसे शंकर की कृपा की आवश्यकता हुई है। नायक की उत्पत्ति एवं नायिका मिलन दोनों ही अवसरों पर शंकर जी की कृपा ही अभीष्ट सिद्ध करती है। एक स्थल पर वनस्पति रानी की कृपा भी हुई है किन्तु उसका घटना प्रवाह पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि सुरज्ञानी का अन्तत: ज्ञानदीप तक पहुँचना निश्चित था। इससे प्रकृति की मानव वेदना से सहानुभूति अवश्य सिद्ध हो जाती है।

कथा सुखान्त है। कवि ने कथा के सुखान्त करने के कारण को प्रगट नहीं किया है। यूसुफ जुलेखा आख्यान में जिस प्रकार मिश्र देश की नारियों को तरबूज काटते समय हाथ कटने का ध्यान नहीं रहा था, उसी प्रकार देवजानी को भी अंगुली में सुई का चुभना ज्ञात नहीं हुआ। नलोपाख्यान की भांति ज्ञानदीप की खोज का भी एक मात्र साधन स्वयम्वर की घोषणा समझा गया। काल्पनिक कथानक के साथ ही, आश्चर्य तत्वों की योजना कौतूहल वृद्धि में सहायक होती है।

प्रेम-पद्धति :

कवि ने प्रेम का आविर्भाव साक्षात्-दर्शन से कराया है, प्रेमोदय पहले नायिका के हृदय में होता है। देवजानी जिसे सुरज्ञानी के कहे हुये रूप गुण वर्णन पर विश्वास ही नहीं होता था, ज्ञानदीप को देखकर सुध बुध खो बैठती है। प्रथम दर्शन के बाद ही उसकी विरह वेदना तीव्र हो जाती है; जब किसी प्रकार उसे शान्ति लाभ नहीं होती तब सुरज्ञानी उसे अभिसारिका का रूप धारण कराकर रात्रि में ज्ञानदीप के पास ले चली, किन्तु अभी तक ज्ञानदीप के हृदय में प्रेम का आविर्भाव नहीं हुआ और वह देवजानी से विमुख रहा इधर देवजानी की व्यथा बढ़ती गई और सुरजानी ने फिर अपने मन्त्रबल से छलपूर्वक ज्ञानदीप को महल में बुला लिया। ज्ञानदीप दोनों को एकत्र देखकर घबड़ाकर भागने को हुआ तभी देवजानी ने उससे संस्कृत में वार्तालाप किया जिसे सुनकर ज्ञानदीप रुक गया 'और वह भी देवजानी के प्रति आकर्षित हुआ, नित्य दोनों के मिलने से यह प्रेम वृद्धि पाता गया। प्रेम की पुष्टि हो जाने के बाद उन्हें विरह सहना पड़ता है।

देवजानी के पिता सुखदेव ने ज्ञानदीप को दण्ड देने के लिए नदी में बहा दिया। जिस प्रकार नल की खोज के लिए स्वयम्बर की घोषणा की गई थी, उसी प्रकार ज्ञानदीप की खोज के लिये स्वयम्वर की घोषणा करवा दी गई। ज्ञानदीप के आने पर दोनों का पाणिग्रहण हो जाता है किन्तु राय मान की मृत्यु के कारण कर्तव्य के वशीभूत होकर उसका भानपुर जाना आवश्यक हो जाता है। ज्ञानदीप कभी भी प्रेम में कर्तव्य को नहीं भूला। राय सुखदेव ने जब ज्ञानदीप को बन्दी बनाकर उससे उड़ने के बारे में पूंछा तो उसने युक्तिपूर्वक कहा कि वह योगबल से इन्द्र की सभा में उड़ कर जा रहा था। उसने अपने प्रेमोन्माद का वर्णन नहीं किया और शान्तिपूर्वक दण्ड सहन किया। भानपुर में अपनी भगिनी सदृश दामा का ब्याह करके ही वह फिर देवजानी के पास लौट कर आया। देवजानी के प्रेम का बड़ा स्वाभाविक विकास कवि ने दिखाया है। वह ज्ञानदीप पर मोहित होकर उसे सब प्रकार से पाने का प्रयास करती है। ज्ञानदीप के नदी में बहाये जाने के पश्चात् वह अत्यन्त विरह पीड़ा से पीड़ित हो 'जहवा ढरा तोमर पसेऊ, ढारों रकत दसोवर कोऊ' कहकर अग्निकुंड में कूद पड़ती है।

रस :

ज्ञानदीप में भी शृंगार रस के ही दर्शन प्रधान रूप से होते हैं। कवि ने विरह की चर्चा अधिक की है। संयोग का वर्णन कवि ने अवकाश होते हुये भी नहीं किया है। नायक नायिका के मिलन का वर्णन मात्र उपलब्ध है।

विरह-वर्णन :

प्रेम का आरम्भ मर्यादा त्याग करके होता है।

> नबी प्रेम मद सो पियै जो खोवे कुलकानि।
> मानिक देइ कलाल कहं, सदा जो पत की हानि ॥

देवजानी ज्ञानदीप के सौन्दर्य को देखकर मर्यादा का विस्मरण करके विमोहित हो गई और उसकी वेदना निरन्तर वृद्धि पाती गई।

प्रकृति-वर्णन :

कवि ने प्रकृति का वर्णन उद्दीपन रूप में किया है, कोयल की कूक, मोर का शोर एवं पपीहा की पीपी से विरह का उद्दीप्त होते हुये वर्णन है।

> एही जुगुति दिन बीतेउ भारी, निसि आये विरहिन दुखभारी।
> देखत चन्द चन्द विरारा, पपिहा बोल सबद जिउ मारा।
> बोलहि मोर सोर बन माहा, झीलीझूकति काम तन ढाहा ॥
> कोकिल कूकत कलरव बोली, विरह पसीजि भीजि तन चोली ॥

इन विरहोद्दीपक उपकरणों को दूर करने के लिये सुरज्ञानी जो उपचार करती है उसमें ऊहा एवं बुद्धि का चमत्कार अधिक है।

> चैननि सो लिखेसि भुमिइ राहू, चात्रिक कह से चाननी बाहू, ॥
> लिखि मजारी मोर डेरवावा, झीलनिकोउ फूल बनवावा ॥
> लिखि भुअंग औ सोहिल लिखा, विरह समुंद्र जेइ सोखे सीखा।

इसी प्रकार सूर की भांति शेख नबी ने भी वीणा वादन पर मुग्ध होकर चन्द्रमा की गति का अवरुद्ध होते दिखाया है।

> कबहुँ बनि का ठाठ बनावे, मधुर मधुर सुर गाइ सुनावे

> म्रीग थकिन होइ चन्द को, रैन घटत बढ़ जाय।
> मदन सुता तब जागे, तेहि गुन दिहेसि अड़ाइ ॥

कहीं कहीं कवि उपमानों की योजना में भ्रनि कर बैठा है और हृदय की वेदना का परिचय अंगीठी के दहकने से देता है।

अब नित हिये अंगीठी बरई, तुम्हरे विरह अगिनि नित जराई

विरह वर्णन के अन्तर्गत कवि ने बारहमासे की भी चर्चा की है। बारहमासे का आरम्भ कवि ने आसाढ़ मास से किया है। प्रकृति के जो उपकरण संयोगियों को सुखद होते हैं, वही वियोगियों की व्यथा को तीव्र करते हैं। सावन महीने के संयोग सुखद एवं वियोग दुखद स्वरूपों का वर्णन कवि इस प्रकार करता है:—
संयोग सुखद :

सघन मेघ रचि रहा लुकाई, निस पति निसा नहीं देषराई।
हरिअर पुहुमी भइ चहुँ ओरा, राजहि सखी बिराजि हिंडोरा।
झूलहिं औ मलार रस गावहिं, रीझि कंत सो रीझि झुलावहिं।
दंपति मदन चहहिं संग्रामा, रति सनेह चाहे बर बामा।
मानिनि तिय हिय भुष अनुहारी, लाज बीच नहिं मानिहिं हारी।
सुष समेत सव रैन बिहाई, चैन चाउ रस भाउ अघाई॥

सारंग मोर पपीहा, विरह भरे मुष बैन।
सुनि सुनि सुष संयोगिनि, देषि देषि पिय नैन॥

वियोग दुखद :

एहि सावन विरहिन तन तावन, बरसत जल दुष बीच जमावन।
मेचक मेघ मनों कज सैना, अंकुस चड़ित महाउत मैना।
पिक नकीब चात्रिक हरवाहे, सोक सबद बोलहिं षडवाहे॥
बुंद बरन बरसे चहुँ ओरा, दुख प्रान चढ़ि त्रास हिंडोरा॥
त्रिपति बिरह चढ़ि दीन्ह दमामा, बोलहि घन माजहि डरि बामा॥
भरा न धाम पैठि विश्रामी, नैन मूंदि संवरसि सुष सामी।
कवन उबारे नायक, वोड़न हिया हने दुख सायक।

एह दुष वितवै नायका, नायक जेनहिं विदेश।
भूल सबै सिंगार रस, भई सो जोगिनि बैस॥

विरह के इस परम्पर गत वर्णन के साथ ही, कवि ने पूर्वराग का भी उल्लेख किया है। ज्ञानदीप के सौन्दर्य पर मुग्ध हो, देवजानी अपने प्रेम का वर्णन इस प्रकार करती है :—

हौं वहि दरसन देखि विलानी, जैसे लोन मिलत बिन पानी॥
पीरि खांड जस भए मिलावा, कह केहि भांति जाहि बिलगावा॥

रूप समुंद जिउ बूंद सेवाती, परा परन मिलिगा तेहि भांती ॥
जौं जीव निउउं न छोड़ौ रंगू, जोगी भोगी भए एक संगू ॥

संयोग वर्णन में कवि की वृत्ति अधिक नहीं रमी है, किन्तु मिलनाश्रुओं का उल्लेख अवश्य है:—

देखत पिय मुष लोचन भरे, नलिन नील जनु जलमधि परे ॥
मानहु खंजन, नीर नहानी, बूड़ि उठी ऊपर फहरानी ॥
कोकिल सुर धरि दूनउ रोई, नएन नीर सों चीर निचोई ॥

कवि ने एक स्थल पर कृष्णाभिसारिका का भी चित्र खींचा है। देवजानी कृष्णाभिसारिका का रूप धारण करके कुंवर ज्ञानदीप से मिलने गई।

आगे भई सुरज्ञानी बोली, काढ़हु ललित रंगीली चोली ॥
षोलहु सुरंग छबीली सारी, नील बसन पहिरहु तन बारी ॥

बिछिवा वजनी काढ़िके, क्षुद्रघंटिका षोलु।
कंगन टांड़ छपाइ लेई, रसना नेकु न बोलु ॥

कुल की दीपक जगत पियारी, परबल काम कीन्ह अभिसारी ॥
चरन चांदि कुछ सकुच न आनी, अंग अंग ढांपि चली देवजानी ॥
तनिक सो तन जंह होइ उघारी, चन्द्र जुगुति प्रकटै उजियारी ॥
नील बसन मधि सोभित अंग, सीसी भरी काक जस संग ॥
साय जलधि बिच दामिनि जैसी, दुरत मुरत अंधियारी तैसी ॥

शृंगार रस के अतिरिक्त ग्रन्थ में वीर रस की भी किन्चित चर्चा सुन्दरसेन और ज्ञानदीप के युद्ध वर्णन में हुई है। युद्धोत्साह आदि का वर्णन न होकर, सेनाओं की सज्जा एवं युद्ध की वीभत्सता का ही वर्णन अधिक है:

भए संजोइल तुएन चढ़े, हस्तिन पषरी लोहेन मढ़े ॥
घुमरहिं घटा जनु सावन आये, अंकुस कीन्ह तुरत चमकाये ॥
घुमरहिं घन जनु बाजु निसाना, जनु बगुपांति फरहरा बाना ॥
मारू बाजन में सहनाई, मानहु सारंग सबद सुनाई ॥

इस प्रकार सेनाओं के उपस्थित हो जाने पर युद्ध हुआ। युद्ध की भयानक गति एवं वीभत्सता, जोगिनी, एवं गीधों के वर्णन से और बढ़ जाती है:

झरहिं तो नैन परग बहु टूटैं, बषतर जेब गांसी नहिं फूटैं ॥
टूटहिं कन्ध भुजा एक तोरी, उठहिं कबन्ध षेलु जनु होरी ॥
श्रोनिन धार जानु पिचकारी, हाहा हुत नंह होइ हहारी ॥

हंमहिं षषाहि मसान मसूरी, कलकलाहिं जंमुक सुरपूरी ॥
जोगिनि जोरि ज्मातैं जुरी, सूरन ढूढ़ैं टुकै सब मुरी ॥

गीधन माड़ौं छायउ, महि चोंचन बिंबियात ।
आपु आपु कहं पांचहि, मनहु सरमा पांच ॥

भाषा :

ज्ञानदीप की भाषा अवधी है ।

छन्द :

ज्ञानदीप की रचना दोहे चौपाई के क्रम से हुई है । सात अर्द्धालियों के बाद एक दोहे का क्रमनिर्वाह ग्रन्थ में हैं ।

अलंकार :

अधिकांश अनुप्रास, अनन्वय, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदिक अलंकारों का प्रयोग कवि ने किया है ।

अनुप्रास

नवी नबी नित रटत हैं, नितहिं नबी की आस ।
करता करिहि से होइही, चित मति करो उदास ॥

अनन्वय

आयु रूप वोह करता, जानै कौन वखानै रूप ।
वौहिका रूप वोही उपमा, जस वौह अहै अनूप ॥

उत्प्रेक्षा

घूंघट पट के वोट मधि दुलहिनि निरखत नाहिं ।
कनन सरीके पींजरे, खंजनु जनु अकुलाहिं ॥

ज्ञानदीप में अन्य प्रेमाख्यानों की भांति वस्तु वर्णन की अधिकता नहीं है । कवि ने नगर गढ़ और जलक्रीड़ा आदि का वर्णन नहीं किया है । देवजानी के सौंदर्य का वर्णन, रागरागिनी वर्णन, एवं मन्त्र-ज्ञान चर्चा अवश्य उपलब्ध होती है ।

देवजानी के सौन्दर्य का वर्णन करते समय कवि ने परम्परायुक्त उपमानों का प्रयोग

किया है। अन्य प्रेमाख्यानों की भांति नखशिख वर्णन अधिक नहीं है।[1] शृंगारसज्जा का वर्णन करते समय कवि ने कुछ आभूषणों, कर्णकुण्डल, हार, गुलूबन्द, खौर, टड़िया, बाहुत, छुद्रावलि, चूरा एवं बिछिया आदि की चर्चा की है[2]।

कवि ने बहुज्ञता प्रदर्शन के लिये भैरों, मालकोष, हिण्डोल, मेघमलार, दी क, बिलावल, सूही, गालसिरी, माहुर, सिन्धु, सोरठ, टोड़ी, गूजरी, मरहठी आदि राग रागिनियों का उल्लेख किया है।

सुरज्ञानी अपने मन्त्र-ज्ञान का भी परिचय देती है :

सुरज्ञानी कहु राजदुलारी, मोहनमंत्र मैं जानत भारी।

मोहन जोहन बसिकरन, बिरह नवान उचाट।
पाँच वान सरसिज के, जेहि तन ज्ञान जेकाट।

समाज एवं संस्कृति :

इस दृष्टिकोण से 'ज्ञानदीप' महत्वपूर्ण है। विद्यानगर के राजा सुखदेव की पुत्री देवजानी जब बारह वर्ष की हुई तो वह चौदहों विद्या में निपुण हो गई। सम्भवत: कन्या की

---

१. अति कोमल लहकारे केसा, स्याम बरन चकित जनु सेसा॥
ता मुख भपन सीस अआ, तापर बांजन बैठेउ सूआ।
अंजन सलिल एक संग बहा, मानहुं कामसूत कर किहा।
कुच कंचन जस स्रिफल जोरी, सकसी कसनी अधर बटोरी।
अंग लाइ तेहि लंक निसंकी, केसरि पीसि अरगजनु अंकी।
जंघ जुगल जनु वैदली जोरी, कै हस्तीकर केसरि बोरी।

२. प्रथमहिं अञ्जन सोवे कीन्हा, बहुरि वसन घसि ता घसि दीन्हा।
मुख तमोल देइ अञ्जन नैना, जनु सहरस अञ्जन सुख चैना।
पाएन जावक सोभा दीन्हा, जावक जग सोभा कहं लीन्हा।
आछे चिहुर नीर सम गूंदा, चन्दन चेति अरुन सुत मूंदा।
तिलक तमोल अधर मधि तिला, सीस लिलाट विद्रुमझिलमिला।

नासिक छवि मुक्काहल, मुकुता अधर परोस।
रवी कंवल के कोस पर, मनो बुन्दि दुति ओस॥

सखन बीर हरि जैरि आरे, जरत सूर बीरन से हारे।
गलै गुलबन्द जलजसुत माला, जलसुत चाहि अधिक उजिबाला।
आड़ लिलार टाड़ भुज मांहा, कनक जड़ित बाहुट भुजमाहा।
छुद्रावलि बांधै मधि लङ्का. बरनि न जाय मदन की सङ्का।
पाएन पाएल चूरा सोहै, बरनत बरन सरस्वती मोहै।
चन्द सूर मानहु मनियारी, बिछुआ उडुगन निमि उजियारी।

विवाह योग्य अवस्था उस समय आठ वर्ष की जगह बारह वर्ष मानी जाने लगी थी; संस्कृत का समादर तब भी समाज में अधिक होता था। संस्कृतभाषी पण्डित समझे जाते थे, जब देवजानी ने (सांसकिरत महं बोलेउ बोला) संस्कृत में वार्तालाप किया तभी ज्ञानदीप प्रभावित हुआ।

पण्डित पण्डित मिलै जो कोई, बहुत सवाद बात कर होई।

बालक के जन्म के पश्चात् छठी संस्कार का वर्णन कवि उसमान के बाद शेखनबी ने ही किया है। राजा के रनिवास में रानियों की संख्या बढ़ती जाती थी, राजा मानराय के की मृत्यु पर उसकी तीन सौ साठ रानियां सती हुईं।

कवि ने समाज में प्रचलित शकुनों का वर्णन भी किया है। इनमें गाय, धोबी, मृग, मालिन, वंशी, नीला, क्षेमकरी, लोआ, अहीरिन, धीमर, पूर्णगट, ब्राह्मण आदि का विशेष उल्लेख है। ज्ञानदीप के विद्यानगर की ओर प्रस्थान करने पर ये सभी शकुन हुये थे।

दहिने काग सवरिया बोला, जबकि मिलै धन होइ निडोला।
रजक परोहन भारे आवा, दहिने ओर मिरग देखरावा।
मालिनि आइ फूल कर दीन्हा,बंसी बजाइ काहु सुर लीन्हा।
नीला खेमकरी देखराइ, लौआ नाचत ढिग मा आइ।
दहिउ अहीरिन लेउ पुकारी, धीमर आइ मच्छ लेइ मारी।
बाएँ दिसि बोला पतिहारा, तरुनी सीस कलस जलभरा।
बाभन तिलक दुआदस कीन्हें,सिद्धि-सिद्धि सुख असीस दीन्हें।

चली सगुन सुभ देखिकै, सुरज्ञानी बिहसाइ।
भावत मिलीहिंए नबी, निज विधि भेरइहि आइ॥

इसके अतिरिक्त कवि ने विवाह संस्कार का विस्तृत वर्णन किया है। मण्डप, वेदी, सेंदुरदान, गठबन्धन, कोहबर आदि वैवाहिक संस्कारों का उल्लेख है :

माड़ौ छाइ सरग लेइ आवा, एक खम्भ कस माड़ौ छावा।
चांद सुरज तहां धरा उरेही, उडहन बन्दनवार सनेही।

वेदी सात सर्ग पर नवी चौदहों भाँति।
धूप धूप नथ बोझेउ उपजे उत्तम कान्ति॥

दुलहिन सिर पर सोहै मौरी, लोग ठगे जनु साह ठठोरी।
दुलहिन करके दीन्ह सिधोरे, बांभन आइ पढ़ा गठि जोरें।
मौरि टारि कुवंर कर लीन्हा, अति अनन्द सों सेंदुर दीन्हा।

घूंघट पट के वोट मधि दुलहिनि निरखत नहिं।
कनक सरीके पींजरे खञ्जनु जनु अकुलाहिं॥

पुनि कोहवर का धनिहि चलाई, टेक भइ तहं छेकेनि जाइ।
लागी सखी खियावै पाना, जूठि सोपारी रंग कमाना।

कोहबर के लिये जाते हुये बर-कन्या का मार्गावरोध तथा उसे कन्या की जूठी सोपारी से युक्त पान खिलाना आदि ऐसी ही क्रियाओं का उल्लेख करना भी कवि नहीं भूला है। बारात का चार दिन तक रहकर स्वदेश लौटने की प्रथा के अतिरिक्त कवि ने गुलूबन्द, कुण्डल, हार, टड़ियां, चूरा, बिछिया, आदि आभूषणों का उल्लेख किया है।

कङ्गन खुलने के पश्चात् मौर सिराने की प्रथा का भी उल्लेख कवि ने किया है:

कङ्गन छोरि कुअंर नहवाया, बनक उतारि सो फेरि बनावा।
मङ्गल गाय सो मौर सिराएनि, बहुत असीष असीष सो गाएनि।

कवि वेद विहित मार्ग का अनुगमन उचित समझता है:—

वेद भेद जो मारग जइया, पंथ हेरान तही छिन पइया॥
वेद विहून सुनी सो काया, पसु के अंस धरी नर काया॥

इन संस्कारों के वर्णन में कवि की परम्परा एवं मर्यादा पालन की प्रवृत्ति स्पष्ट लक्षित होती है।

स्त्रियों के सम्बन्ध में उस समय भी विशेष आदरपूर्ण भावना नहीं थी। स्त्री का सौन्दर्य ही सम्भवत: उसे आदरणीय बनाता था, अन्यथा वह सब प्रकार के अवगुणों से युक्त है:—

त्रिय जोबन जल नद को पानी, उतरि गये को मखै आनी।
तिरिया जानि दूध की नाईं, बिनसे बहुरि सवाद न पाई।
तिरिया कंवल एम सम तूला, पानी गये न सो रंग फूला॥
तिरिया केदलि पभं की नाईं, एकबार फर होय मिटि जाई॥
तिरिया माटिक बासन जैसे, पाए छूति रसोइ न पैसे।
तिरिया जस माटी की गगरी, माहुर बूंद परत पन बिगरी॥

औगुन भरी सो तिरिया, तैसा गुन अधार।
संत करहु चित भीतर जो पुरवहि करनार॥

घर में सास और ननद का आतंक भी कम नहीं था, उनकी झूठमूठ कही गई आज्ञा पालन करना भी वधू के लिए उचित था, तभी गृह शान्ति सुरक्षित रह सकती थी:—

आयसु ननद सीस पर लीन्हे, झूठे कहहिं सांच सो कीन्हे ॥

ढोंगी योगियों से सामाजिक मर्यादा भंग होने का भय लगा रहता था, ज्ञानदीप और देवजानी के प्रेम प्रसंग के सम्बन्ध में रक्षकों ने राय सुखदेव को योगियों का विश्वास न करने का परामर्श दिया तथा जनसमुदाय में योगियों के प्रति अविश्वास की चर्चा चल पड़ी :—

जोगी भयल रूप सब रहहीं, कहहिं अवर कुछ अवरै करहीं।
जोगी नहिं बातन पतिआइय, जंह देखी तंह मारि अड़ाइय।
जोगी छलत फिरहिं संसारा, हाथ धंधारि लाइ मुष छारा ॥

जो गहि नहिं पतिआइय, बैठिय पास न दौरि।
देई भीषि मंगाइके, बैठे देइ न पौरि ॥

'ज्ञानदीप' का महत्व कथा संगठन एवं सामाजिक दृष्टिकोण से विशेष है।

—:(०):—

हंसजवाहिर

(कवि कासिमशाह कृत)

कासिमशाह ने ग्रन्थ 'हंसजवाहिर' में अपना थोड़ा बहुत परिचय दिया है।

निवासस्थान :

कवि का निवासस्थान अवध सूबे के अन्तर्गत लखनऊ जिले का 'दरियाबाद' नामक नगर था।[1]

जाति पांति एवं मातापिता :

किसी भी सूफ़ी कवि ने अपनी माता का परिचय नहीं दिया है, कवि कासिमशाह केवल अपने पिता इमानुल्ला के नाम का उल्लेख करते हैं। इनके पिता का नाम इमानुल्ला था तथा ये जाति के हीन, या नीच जाति के थे[2]। इतने पर भी प्रेम-ज्ञान के ऊँचे पन्थ की चर्चा करके उच्च वर्ग के मध्य सम्मानित होने की इनकी आकांक्षा थी। कवि स्वभाव से विनीत है, साथ ही जायसी की ही भांति 'बिनती सकल पन्डितन आगे, हौं सेवक जिन कर पुछ लागे' कहकर अपनी त्रुटियों का परिमार्जन चाहता है।

रचना एवं स्थिति काल :

कवि अपने ग्रन्थ का रचनाकाल हि० सन् ११४६ लिखता है।[3] शाहेवक्त की प्रशंसा करते हुये वह दिल्ली सुल्तान मुहम्मदशाह के रूप एवं ऐश्वर्य का बखान करता है। कवि सम्राट मुहम्मदशाह को सुन्दरता, वीरता एवं बुद्धिमता में अपूर्व मानता है।

---

१. है लखनऊ अवध मंझियारा, दरियाबाद नगर उजियारा ॥ पृ०७।

२. दरियाबाद मांझ मम ठाऊं, इमानुल्ला पिता कर नाऊं।
   तहवां मोहिं जन्म विधि दीना, कासिम नांव जात का हीना। पृ०७।

३. ग्यारह से उनचास जो आजा, तब यह कथा प्रेम कवि साजा। पृ० ८।

सुलतान के सम्मुख हिन्दू एवं तुर्क सभी नत होते थे तथा उसका राज्यकाल सुख शान्ति का युग था।[१]

मिश्रबन्धुओं ने हंसजवाहिर का रचनाकाल सं० १६०० माना है, साथ ही उन्होंने दरियाबाद को जिला बाराबंकी के अन्तर्गत बताया है। मुहम्मदशाह का शासनकाल सन् १७७६-१८०५ है साथ ही कवि ग्रन्थ का रचनाकाल हि० सं० ११४६ या सन् १७६३ बताया गया है, अतः कवि का स्थितिकाल मुहम्मदशाह का राज्यकाल ही निश्चित होता है।

गुरु :

अपने पीर की चर्चा करते समय कवि करीमशाह की बन्दना करने के पश्चात् सलोन नगर के पीरमुहम्मद एवं पीरअशरफ का गुण गान करता है। ऐसा ज्ञात होता है पीर मुहम्मद के पुत्र पीर अशरफ ही कासिमशाह के दीक्षा गुरु थे। इनकी दया, महानता एवं चमत्कारशक्ति का परिचय भी कवि देता है। अन्त में कवि मुहम्मद अशरफ के पुत्र पीर अता का गुणगान भी करता है। इन चारों में कौन इनका गुरु था, यह स्पष्ट नहीं होता, फिर भी रेखांकित पंक्तियों के कारण मुहम्मद अशरफ ही इनके दीक्षा गुरु ज्ञात होते हैं[४]। कवि उन्हीं को पार लगाने वाला और सुमिरन का आधार मानता है।

---

१. महम्मदशाह देहली सुल्तानू, कामी गुण वह कीन बखानू।
छाजै पाट चीर सरताजा, नावहिं शीश जगत के राजा।
रूपवन्त दरशन मुहराता, भागवन्त वह कीन विधाता।
द्रव्यवन्त धर्म मुह पूरा, ज्ञानवन्त खरग मंह सूरा।
होथ बलवन्त कटक कहि चोरा, देशवन्त चितवै चहुं ओरा।
नावैं शीश हिन्दू तुरकाना, कांपे देश देश के थाना।
देश देश तहं के अमराऊ, कान अचल होय करैं निबाऊ।
बैठा आप सुपाट पर राज करै सुख भोग।
सुखी भई सब पिरथवी, राय रंक जन लोग। पृ० ६।

२. सुमिरौं नाम करीम सो पीरा, जेहि की नाव चढ़े वहि बीरा।
हौं केहि योग जो करौं बखाना, वह न कलंक जगत कर भाना।
तेहि ज्योति में दीपक बारा, पीर महम्मद जग उजियारा।
पुनि वहि ज्योति दिये उतारा, जो कछु लाग चला संसारा।
धर्मवन्त निरमल गुरु, अलख दुलारे पीर।
तिन घर दीपक बुध रहा, अशरफ जोत शरीर॥
चख चितवन गिरि कन्चन होई, कस पग परस तरै नहिं कोई।
जो न होत अस कबहूं हारा, को मम पन्थ लगावत पारा।
है अधार सुमिरनमेरे, महमद अशरफ नांव।
यहि मग रस्ता नहिं चलत, ज्यहिमा है नहिंनाव॥

कथा-सारांश :

बलखनगर के सुल्तान बुरहानशाह की एकतीस सुन्दर नारियाँ थीं। पुत्र के अभाव में सुल्तान अत्यन्त दुखी रहता था। एक दिन अत्यन्त उदास होकर वह घर छोड़कर निकल गया, मार्ग में उसे हजरत खिज्र ख्वाजा मिले जिन्होंने सुल्तान को पुत्रप्राप्ति का आशीर्वाद दिया। फलस्वरूप यथासमय उसके हंस नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। ज्योतिषियों ने हंस के नक्षत्र देखकर यह बतलाया कि एक बार कारणवश यह स्वदेश से बिछुड़ जायगा किन्तु अन्त में यह फिर बलख लौटेगा और यहाँ का सुल्तान बनेगा। कुछ समय पश्चात् बुरहानशाह का देहावसान हो जाने पर देश में अशान्ति व्याप्त हो गई। सर्वत्र अनबन फैली थी। हंस अभी बालक ही था। वह भी बन्दी बना लिया गया। उसकी मां किसी प्रकार यत्न से उसे वहाँ से बाहर लाई और बलख देश छोड़कर चल पड़ी। मार्ग में अनेक प्रकार के कष्ट झेलने के उपरान्त, किसी प्रकार हजरत खिज्र ख्वाजा के परामर्श से वे रूम देश के शाह तक पहुँच गये जहां उन्हें यथोचित सम्मान प्राप्त हुआ।

एक वर्ष उपरान्त जब हंस अपनी फुलवारी में सो रहा था उसे स्वप्न में एक सुन्दरी दीख पड़ी जिसके सौन्दर्य पर वह तत्काल ही विमोहित हो गया।

इधर चीन देश के राजा आलमशाह की रानी मुक्ताहर के गर्भ से जवाहर नाम की पुत्री उत्पन्न हुई। एक दिन जब वह उपवन में विचरण कर रही थी, एक परी तालाब में स्नान करने आई। स्नान करते समय वह अपना चीर किनारे पर ही छोड़ गई थी। जवाहर ने उसका चीर कहीं छिपवा दिया और फिर परी को लौटते समय उससे सखीरूप में रहने का वादा ले लिया। वह परी जवाहर की अन्य सखियों के साथ 'शब्द' नाम से वहीं धौराहर में रहने लगी। जवाहर के वयस्क होने पर उसके पिता को उसके ब्याह की चिन्ता हुई और उसने किसी देश के सुल्तान भोलाशाह के पुत्र दिनौर से उसका सम्बन्ध स्थिर किया। 'शब्द' परी होने के कारण दिनौर के सम्बन्ध में शीघ्र ही सब कुछ जान गई। उसने दिनौर की अत्यन्त निन्दा की और अपनी प्रिय सखी जवाहर के लिये योग्य वर ढूंढ़ने परेवा बनकर उड़ चली।

'शब्द' उड़ते हुये रूम देश में हंस के निकट पहुँच गई और वहाँ अन्य पक्षियों से वार्तालाप में जवाहर के अनुपम सौंदर्य का वर्णन किया। हंस उस वर्णन को सुनकर 'शब्द' के प्रति आकृष्ट हुआ और उसे अपने हाथ पर बिठाकर उसने क्रमशः जवाहर का

नगर सलोन ठान त्यहि केरा, चहुंदिशि जग माहै उजियेरा।
तेहि घर रतन प्रीत तरमला, पीर अता सब पूरण कला।

× × ×

पीर दुलारे करीम के, अशरफ पीर के नन्द।
निरमल दोऊ जगत महँ, निहकलङ्क जस चन्द॥ (पृ० ५-६)

सारा वृत्तान्त जान लिया। 'शब्द' के किये गये नख-शिख वर्णन से वह अत्यन्त प्रभावित हुआ और उस सौंदर्य को स्वप्न में देखे गये सौंदर्य के समान ही मानकर जवाहर का वियोगी बन बैठा। वह जोगी होकर प्रियतम की खोज में निकल जाने को हुआ किन्तु 'शब्द' ने उसे सात दिन तक ऐसा न करने के लिये मना कर दिया और स्वयं हंस के पास उड़ चली। वहाँ उसने सारा वृत्तान्त जवाहर को बताया किन्तु किसी के शिकायत कर देने पर रानी ने 'शब्द' को बंदिनी बना लिया तथा उसका चीर भी छीन लिया। अब वह उड़ सकने में असमर्थ थी। इस घटना के कारण जवाहर अत्यंत दुखी और विरहाकुल हुई क्योंकि उसने भी स्वप्न में हंस के सौंदर्य का दर्शन किया था।

इस प्रकार हंस और जवाहर के प्रेम-विकास में व्यवधान उपस्थित हो गया और जवाहर के विवाह की तैयारियां दिनौर के साथ होने लगीं। इधर जवाहर चिन्तित थी उधर हंस 'शब्द' द्वारा जवाहर के सौन्दर्य को सुनकर अत्यन्त विकल था। शाह ने अनेक सुन्दरियों को उपस्थित किया किन्तु वह सन्तुष्ट न हुआ। इसी बीच में उसका प्रिय सखा बाज भी खो गया, जिसकी खोज में दुखी होकर वह भटकते हुये किसी पहाड़ पर जाकर सो रहा। वहां से उसे परियां उठाकर ले गईं और केवल कौतुक के लिये दिनौर को सजी सजाई बरात से उठा ले गईं और हंस को उसके स्थान पर बिठा आईं। इस प्रकार वास्तव में हंस और जवाहर का विवाह हो गया। दोनों प्रेमियों की भेंट अचानक गई। उन दोनों ने अपनी अँगूठियां बदल डालीं और आनन्दकेलि के पश्चात् वे सो गये। इसी समय परियां फिर हंस को वहां से उठा ले गईं और उसकी जगह दिनौर को लिटा आईं।

जवाहर ने दिनौर को वर के रूप में स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। परीक्षा के पश्चात् भी दिनौर असफल रहा और दिनौर बदला लेने के लिये जोगी होकर निकल पड़ा। वह गुरू वीरनाथ से मिलकर अपनी ध्वंसकारी साधना में संलग्न हुआ। हंस जागकर फिर विरह पीड़ित हो गया और जवाहर भी विरह दुःख से सन्तप्त रहने लगी। जवाहर का दुःख निवारण करने के लिये उसकी माता से अनुमति लेकर एक बार फिर 'शब्द' अपना चीर लेकर उड़ी और हंस के हाथ पर आकर बैठी। शब्द के द्वारा जवाहर का वृत्तान्त सुनते ही हंस जोगी होकर निकल पड़ा और उसके साथ कई अन्य साथी भी हो लिये, शब्द उनका मार्गप्रदर्शन करने लगी। मार्ग की अनेक बाधाओं को पार करते हुये किसी प्रकार वे समुद्र पार कर गये। समुद्र पार करते ही 'शब्द' ने जाकर जवाहर को सब हाल सुनाया और हंस फिर जवाहर से मिल, अपने दिन सुख में बिताने लगा। इसी आनन्दकेली के मध्य हंस को अपने देश रूम का स्मरण हो आया और वह जवाहर के साथ अपने देश की ओर चल दिया किन्तु मार्ग में बीरनाथ के चेले ने अवसर पाकर उन्हें फिर अलग कर दिया। हंस जोगी होकर भ्रमण करने लगा और जोगी देश में घूमता हुआ भोलाशाह के यहां पहुंचा। वहां उसकी पुत्री एवं दिनौर की बहन से उसका विवाह हो गया और 'शब्द' के प्रयत्न से उसे जवाहर भी मिल गई। हंस दोनों पत्नियों को लेकर रूम देश को लौट आया। उसने रूम का अधिपति बनकर बलख को पुनः प्राप्त किया। यहां उसके घर जवाहर के गर्भ से 'हमीन' नाम का एक पुत्र उत्पन्न हुआ।

मीरदौला, जो उसके विरोधियों में से था, के पुत्र ने अन्य सुलतानों द्वारा उस पर आक्रमण करवाया और युद्ध में स्वयं उसे छूरी से मार डाला। उसकी दोनों पत्नियों ने भी प्राण त्याग किये और तीनों की एक साथ समाधि बना दी गई। बाद में हसीन राजा हुआ।

कथा–संगठन :

'हंसजवाहिर' का कथानक पूर्णरूप से काल्पनिक है। कवि ने घटनास्थलों के लिये बलख, चीन एवं रूम प्रदेशों को चुना है किन्तु इन स्थलों के निवासी पात्रों का नामकरण भारतीय ही है। ज्ञात होता है कि कवि इन दूरस्थित देशों के नामों के द्वारा केवल चमत्कार एवं कौतूहल की सृष्टि करना चाहता है।

कथा की घटनाओं में विशेष अन्तर नहीं है। राजा का पुत्राभाव, आशीर्वाद के द्वारा पुत्रोत्पत्ति, जन्मकुंडली, प्रेमोत्पत्ति, मार्ग की कठिनाइयां, गुरु, शब्द या परेवा की सहायता, विरोधी तत्वों का दमन्, जीवन की निस्सारता, शाश्वत मिलन आदि घटनाओं में कोई विशेष नवीनता लक्षित नहीं होती है; किन्तु कवि की संयोजना में नवीनता है।

साधक के दो विरोधी हैं। एक लौकिक और दूसरा अध्यात्मिक। मीरदौला उसे लौकिक उत्तराधिकार से वंचित करना चाहता है तथा दिनौर उसकी जवाहर प्राप्ति में बाधक है। हंस को मार्ग की कठिनाइयों एवं बिछुड़ने का दुःख तीन बार सहना पड़ता है। एक बार वह 'शब्द' की प्रतीक्षा में चिन्तित हो घर से निकल पड़ता है, दूसरी बार अप्सराओं के द्वारा संयोग सुख प्राप्त कर लेने के पश्चात् उसे फिर वियोग दुख सहना पड़ता है। तीसरी बार दिनौर की कुचेष्टा उसे जवाहर से वियुक्त कर देती है। जीवन के अन्त का वियोग, शाश्वत मिलन की लालसा में वियोग नहीं रह जाता।

आश्चर्यतत्वों की योजना में कवि ने अप्सरा एवं परी का ही उल्लेख किया है। 'मधुमालत' में जिस प्रकार अप्सराओं ने मधुमालती एवं मधुकर का संयोग करवा दिया था, चित्रावली में देव के कारण सुजान और चित्रावली का मिलन हुआ, ठीक उसी प्रकार अप्सराओं के कौतूहल के कारण हंस और जवाहर का अकस्मात मिलन हो गया। अन्तर केवल इतना है कि मधुकर एवं मालती, सुजान एवं चित्रावली का प्रेम उनके प्रथम मिलन के पूर्व उद्भूत नहीं हुआ था, किन्तु हंस और जवाहर इस मिलन की प्रेमव्यथा से पीड़ित थे।

अन्य कथाओं में 'गुरू' या किसी सिद्ध की चर्चा सहायक के रूप में होती रही है किन्तु गुरू वीरनाथ की चर्चा विरोधी रूप में होती है। गुरू वीरनाथ का पर्वत पर निवास, उनके अनेक चेलों एवं सिद्धियों की चर्चा कवि जहां करता है वहां सिद्धों की साधना स्मरण हो आती है।

जायसी की 'पद्मावत' के पश्चात् प्रमुख रूप से दूती का वर्णन 'हंस जवाहिर' में आता है यद्यपि जान कवि ने भी अपने प्रेमाख्यानों में इनका उल्लेख किया है। चित्रावली में जिस प्रकार जोगी भेष में भ्रमण करते हुये सुजान पर कंवलावती विमोहित हो गई थी ठीक उसी प्रकार भोलाशाह की पुत्री हंस के सौन्दर्य पर मोहित हो जाती है। कवि हंस के चरित्र की उत्कृष्टता का परिचय इस स्थान पर नहीं दे पाता है। उसका विवश होकर व्याह करना फिर अति निष्ठुरता एवं उतावली से गौना लेकर वहां से चलना नायक के चरित्र को उत्कृष्टता नहीं प्रदान करता।

कथा का संगठन बहुत कुछ 'पद्मावत' से मिलता है किन्तु एक में ऐतिहासिक तथ्यरक्षा आवश्यक थी और दूसरी पूर्णतः काल्पनिक है, अतः अन्तर स्वाभाविक है। जायसी ने ऐतिहासिक तथ्यरक्षा के हेतु पद्मावत को दुखान्त बनाया। नूरमुहम्मद ने 'इन्द्रावती' में परदुःख कातरता का आदर्श उपस्थित करते हुये कथा को दुखान्त रक्खा। कासिमशाह ने संसार एवं जीवन की नश्वरता का प्रदर्शन करने के लिये अपनी कथा को विषादान्त बनाया[1]। पद्मावत और हंसजवाहिर इन दोनों ग्रन्थों की प्रसिद्धि लगभग समान रूप से रही है। कवि शेखरहीम अपनी शिक्षादीक्षा का परिचय देते हुये लिखते हैं :

> पद्मावत देखों निरथाई, मलिक मुहम्मद केर बनाई।
> हंस जवाहिर कासिम केरी, पढ़यो सुन्यों पुस्तक बहुतेरी।

कथा के अन्त में कवि ने पद्मावत की भांति कथारूपक की ओर संकेत किया है।

> कासिम कथा जो प्रेम बखानी, बूझे सोई जो प्रेमी ज्ञानी।
> कौन जवाहिर रूप सोहाई, कौन शब्द जो करत बड़ाई। पृ० (२७२)
>
> कौन हंस जो दरशन लोभा, कौन देश जेहि ऊँचे शोभा।
> कौन पंथ जो कठिन अपारा, कौन शब्द जो उतरे पारा।
> कौन मीत जिन संग जिव दीना, कौन सो दुर्जन अतिछल कीना।
> को ज्ञानी जिनबानि सुनावा, कौन पुरुष जिव सुन चित लावा।
> कौन दुष्ट जेहि दरशन जूझा, कौन भेद जेहि शब्दहिं बूझा।

---

1. पोतहि पांत सोवाय की, देह उपर तें छार।
   छानहि करत ओढ़ाय के, अन्त छार की छार।

   कासिम जक्त जान सब धोखा, जो जग भूल गयो सो खोखा।
   धोखा गगन फिरै दिन राती, धोखा देखि बुलबुला भांती॥

   (पृ० २७०-२७१)

बांच कथा पोथी भुवन परसन तेहि जगदीश।
हमहिं बोल सुमिरे सोई, कासिम दई अशीश। (पृ० २७२)

और इस प्रकार कवि कथा के पाठक को आशीर्वाद भी देता है कि इस जीवन एवं शक्ति का एक ही उपयोग है कि प्रेम-ज्ञान में चित्त लगाया जाय :

कासिम यौवन हाथ है, चहे-सो काज सवांर।
पुनि हस्तीबल जायगो कौन उठावे भार। पृ०२७२

सूफी प्रेम-काव्यों का संगठन पूर्णरूप से प्रबन्ध काव्यों के अनुसार हुआ है। प्रबन्ध काव्य में मानव जीवन की पूर्ण प्रतिच्छवि होती है। उसमें घटनाओं की संबद्ध शृंखला और स्वाभाविक क्रम के सम्यक निर्वाह के साथ ही, मार्मिक स्थलों का समावेश होता है। घटनाओं का यथातथ्य वर्णन, रस की निष्पत्ति नहीं कर सकता। अन्य सूफी प्रेम काव्यों की भांति हंस-जवाहर में भी कथा प्रवाह के मध्य मार्मिक स्थलों का अभाव नहीं है। बलख के शाह बुरहान का निधन, हंस की मां की व्यथा, प्रेम मार्ग के कष्ट, हंस और जवाहर का संयोग, चीन से लौटते समय हंस और जवाहर का वियोग, जवाहर की असहाय स्थिति तथा अन्त में हंस की छल से असामयिक मृत्यु आदि ऐसे ही स्थल हैं जिनका कथा में इतिवृत्त या घटनाओं का उल्लेख तो होता है किन्तु उनकी सफलता इन्हीं रसात्मक स्थलों पर आधारित होती है। पूरी कथा में संबन्ध-निर्वाह भी अच्छा है यद्यपि आश्चर्य और अद्‌भुततत्व, परी आदि की सहायता से कवि का मनोनीत सिद्ध होता है, किन्तु कहीं भी घटनाओं में सम्बन्ध विच्छेद नहीं होता। परी के चीर चुराने की घटना, उसके 'शब्द' रूप में जवाहर के साथ रहना, हंस का परियों के द्‌वारा अपहरण, हंस का जवाहर-वियोग हो जाने के पश्चात् जोगीरूप में भ्रमण करते हुये दिनौर शाह की बहन से भेंट आदि घटनायँ ऐसी हैं जिनकी संभावना तथा सार्थकता पर कथा के कई महत्वपूर्ण स्थलों का होना टिका हुआ है।

कथा की घटनायें भिन्न तथा दूर स्थित देश रूम-बलख तथा चीन में घटित होती हैं। पात्रों के नाम तथा स्थान, सभी काल्पनिक हैं। कथा के पूर्ण रूप से कल्पित होने पर भी उसका सम्बन्ध लोक जीवन से है।

प्रेम-पद्धति :

दाम्पत्यप्रेम-आविर्भाव वर्णन करने की विभिन्न पद्धतियों का उल्लेख पीछे हो चुका है। सूफी कवियों ने अधिकांश स्वप्न दर्शन, चित्रदर्शन, गुणश्रवण एवं साक्षात् दर्शन के द्‌वारा विवाह के पूर्व ही प्रेम के आविर्भाव का वर्णन किया है, हंसजवाहिर में भी कवि ने स्वप्न-दर्शन के द्वारा प्रेम के आविर्भाव का वर्णन किया है। हंस के हृदय में स्वप्न में एक अज्ञात सुन्दरी को देखकर उसके प्रति प्रीति का आविर्भाव हुआ। प्रेम की चिनगी सुलग जाने के पश्चात्, वह संसार के रागरंग से उदासीन रहने लगा। इसी

मध्य, जवाहिर के पिता के द्वारा निश्चित वर के 'शब्द' परी के द्वारा अयोग्य प्रमाणित हो जाने के बाद, उसके योग्य वर ढूंढने के लिये 'शब्द' ने प्रस्थान किया और संयोग से वह 'हंस' को ही सर्वाधिक योग्य मान उसे जवाहिर का रूप-सौन्दर्य सुना बैठी। कुंवर पहले से ही एक अनुपम रूपवती पर आसक्त था और उसी सौन्दर्य का विवरण 'शब्द' से सुनकर उसे विश्वास हो गया कि स्वप्न में देखी गई सुंदरी जवाहर ही है।

शब्द के हंस के पास से लौटकर आने पर, जवाहर भी हंस के गुणों तथा रूप पर मोहित हो गई।

कासिमशाह ने प्रेम का आविर्भाव स्वप्न दर्शन, तत्पश्चात् गुणश्रवण के आधार पर कराया है। मानसिक पक्ष अधिक प्रधान है, हृदय के उल्लास और वेदना को जितना विस्तार मिला है, उतना रति क्रियाओं के विवरण को नहीं। अन्य सूफ़ी कवियों की भांति वस्ल के द्योतक प्रथम संयोग के वर्णन में भी कवि ने अनावृत रति का वर्णन नहीं किया है। प्रयत्न नायक की ओर से अधिक है और इसी के आधार पर कवि ने उसकी साधना या प्रेमभावना का अनुमान किया है।

नायक के मन में स्वप्न-दर्शन से प्रेम-भावना का उदय अस्वाभाविक नहीं ज्ञात होता। स्वप्न में अनुपम सुन्दरी को देखकर उसे प्राप्त करने की 'अभिलाषा' का जाग्रत होना तथा उसकी प्राप्ति का कोई साधन न पाकर, चिन्ताग्रस्त होना स्वाभाविक है। निरन्तर उसी सौंदर्य का ध्यान, चिंतन करते रहने के कारण हंस के हृदय में उत्पन्न 'पूर्वराग', 'शब्द' के द्वारा जवाहर के सौंदर्य वर्णन के सुनने तक 'मंजिष्ठा राग' की अवस्था को पहुँच चुका था। पूर्वराग रूपगुण प्रधान होने के कारण सामान्योन्मुख होता है, वही आगे चलकर प्रिय के स्वरूप निश्चय हो जाने पर विशेषोन्मुख हो जाता है। प्रेम में निश्चयात्मकता है। बुद्धि तथा तर्क की प्रेम के सम्मुख नहीं चलती। प्रेम की एकनिष्ठता के लिये एक निर्दिष्ट भावना आवश्यक है जो पूर्णरूप से साक्षात् दर्शन के द्वारा ही सम्भव हो सकती है, किन्तु कविगण इस हेतु चित्रदर्शन की भी योजना करते हैं। हंसजवाहिर में कवि ने चित्रदर्शन की पद्धति को न अपनाकर अद्भुत-तत्व परी इत्यादि की सहायता से साक्षात् दर्शन की योजना की है। हंस और जवाहर का विवाह हो जाने के पश्चात् जब हंस जवाहर से अलग होता है, तभी उसके प्रेम के अलौकिक स्वरूप के दर्शन होते हैं।

विवाह होने के बाद जवाहर के प्रेम की उत्कृष्टता का दर्शन होता है। ब्याह को आये हुये वर दिनौर को अयोग्य प्रमाणित करके, उसने साहस तथा धैर्य का परिचय दिया। उसे इस बात की शंका पहले से ही थी, अत: उसने पुष्टि के हेतु अंगूठियाँ बदल ली थीं। हंस के बियोग में वह अपना सुख भूलकर केवल उसके पुनरागमन की प्रतीक्षा में अपना समय बिताती है। दिनौरशाह की माता तथा दूतियों के सारे प्रयत्न निष्फल होते हैं और वह पतिव्रता के धर्म का पूर्ण पालन करते हुये कभी अपनी विरह-दशा पर शोक प्रकट करती है और कभी प्रियतम के कष्टों का स्मरण कर चिंतित हो जाती है। 'शब्द' के द्वारा फिर

उसने एक बार 'हंस' से मिलने का सफल प्रयास किया और हंस के निधन पर अपने प्राणों का परित्याग कर दिया।

सूफी कवि प्रेम के अधिकांश ऐकांतिक स्वरूप का वर्णन करते हैं, जिसका कारण है साधक का साध्य के प्रति उत्कट प्रेम का प्रदर्शन करना। पारलौकिक प्रेम में लौकिक तत्व का निराकरण यदाकदा हो ही जाता है। फ़ारसी मसनवी-पद्धति का भी यह प्रभाव इन कवियों पर पड़ा किंतु प्रेम के इहलोक एवं बाह्य-पक्ष का चित्रण 'यूसुफ़ जुलेखा' में ही अधिक निखरता है। अन्य ग्रंथों में लोकतत्व का समन्वय हो गया है। हंस के जवाहर के हेतु प्रस्थान करने पर उसकी मां का विलखना एवं बलख के सुल्तान का समझाना इसी तत्व के द्योतक हैं। जवाहर का हंस के प्रति प्रेम तथा दिनौर की स्पष्ट अवहेलना न कर सकने का सङ्कोच, परमप्रेम में लोकतत्व का समावेश कर देता है।

अलङ्कार :

कवि ने अधिकांश प्रचलित अलङ्कारों का प्रयोग किया है। अलङ्कार-योजना प्रयासजन्य नहीं है। साधारण जनबोली में काव्यरचना करते समय कवि की रचना में अलङ्कारों का स्वतः प्रयोग हो गया है। कष्टसाध्य तथा अपरिचित उपमानों का प्रयोग नहीं के बराबर है।

रूपकातिशयोक्ति :

तहाँ ठाढ़ शशि कमल शरीरा, लहरैं लेय लाग जल तीरा।

हेतूत्प्रेक्षा (गम्य) :

हुलसि नीर जो लहर उठावैं, उमड़ैं चरण चहूँ का धावैं।

सम्बन्धातिशयोक्ति :

केहि सर देऊँ जगत महं कोऊ, चाँद सुरज सरि करहि न दोऊ।

निदर्शना :

जस घन महं दामिनि चमकाहे, तस यह मांग शीश उपराहे।

व्यतिरेक :

खड्ग बाण पै खड्ग न होई, नौन बाण जेहि वरण न कोई।
टोंट सुआ पै टोंट न होई, यह सों कंवल सर करै न कोई।

प्रतीप :

शुक सो नासिक देखि लजाना, का परबत पर कीन्ह पयाना ।

उत्प्रेक्षा :

सुनो हंस मन बीच मां, ऐस जवाहिर जोत ।
काया मनो समन्द बिच, हिया सीप बुधि मोत ॥

अनुप्रास :

टीका मिलि भा ललित लिलारा, फीका भयो रङ्ग रतनारा ,

छन्द :

'हंसजवाहिर' की रचना भी दोहे चौपाइयों के क्रम से हुई है। सात अर्द्धालियों के बाद एक दोहे के क्रम का निर्वाह किया गया है।

रस :

हंसजवाहिर शृंगार रस प्रधान काव्य है। कथा के अन्त एवं आरम्भ में कुछ करुण-रस का परिचय भी मिलता है, किंतु व्यापकता शृङ्गार रस की ही है। हंस एवं उसके प्रति-द्वन्दियों के मध्य युद्ध वर्णन के अंतर्गत वीर रस का परिचय मिलता है।

विप्रलम्भ शृंगार :

विरह की आग सुलगकर किसी भी प्रकार से शांत नहीं होती। उसकी उष्णता ही उसका जीवन है ,

कासिम आगी विरह की, पड़ी बहुत तन धाव ।
दहकी विरह भिकोर बहु, अब केहि बार बुझाय ॥ (पृ० ३०)

इसी कभी न शान्त होने वाली अग्नि में पड़कर सूफ़ी साधक को अपनी परीक्षा देनी होती है। जवाहर ने जब शब्द को अपने योग्य वर की खोज में भेजा उस समय उसे अपना अभाव खटक रहा था। उसका हृदय सूना था और वह उसमें प्रिय को स्थान देने के लिये उसी प्रकार उत्सुक थी जिस प्रकार सीप स्वाति बूंद के लिये निरन्तर उर्ध्वमुखी होकर समुद्र में पड़ी रहती है। वह अपने प्रिय की प्रतीक्षा में बेचैन थी। उसकी इस बेचैनी एवं उत्सुकता का वर्णन कवि कितने सीधे सादे शब्दों में करता है :

भय अधराति ठाढ़ पछिताई, खन आंगन खन भीतर जाई।
मग जोवन बीते दिन राती, समुद्र मांझ जस सीप सुवाती। पृ० ६०

जवाहर 'शब्द' के द्वारा अपने प्रिय हंस के पास अपने स्वेच्छाउत्सर्ग का समाचार 'नयनन मांझ चरण दै लेऊँ, हिरदय मांझ ठाऊँ दै देऊँ' कहकर भेजती है।

विरह में व्यक्ति जड़ चेतन का भेद खो बैठता है। इस अवस्था में विरही का पशुपक्षियों लता गुल्मों से वार्तालाप तो अन्य कवि भी दिखाते आये हैं, किन्तु इन पदार्थों का भी प्रत्युत्तर देना या सहानुभूति प्रदर्शित करना इन सूफ़ी प्रेमाख्यानों में ही मिलता है। पपीहे को 'पीपी' रटते देख, हंस उससे पूछते हैं कि वह किस वियोग में है जो पी की रट लगा रहा है 'सुन चातक रे चातुर पांखी, तू केहि सोग न लावत आंखी'— और वह इस उत्तर

'छोड़यो कारन पीउ सब, भयो पपीहा पांख
रटते फिरौं पिउ पिउ सदा, पलक न लाऊं आंख'

के द्वारा वह हंस के प्रति अपनी अवस्था प्रदर्शित करता है। इतना ही नहीं, पपीहा हंस का शुभचिन्तक है, वह उसे सद्मार्ग पर जाने का आदेश देता है :

दुबिधा का मग छांड़ि के, एक पन्थ तू साज।
कै निज लेउ जवाहिरे कै रूमी कर राज।। पृ० ७६

ऐसी स्वाभाविक व्यञ्जनाओं के अतिरिक्त, कवि ने बारहमासे की विरह परम्परा का पालन भी किया है। प्रिय के वियोग में आश्रयहीनता एवं दुखकातरता का भाव, इसमें पूर्णत: व्यञ्जित है। कहीं तो कवि प्रकृति के क्रियाव्यापारों से उसका सादृश्य प्रदर्शित करता है और कहीं संयोगियों के सुख से उसके विरह को उद्दीप्त हुआ प्रदर्शित करता है :

नैन चुवैं जस सावन ओरी, पिउ बिन नाउ को खेवै मोरी।
सखी कन्त संग करें किलोला, राधा पहिरि सु झुलैं हिंडोला।
मोर सिंगार सो लैगा नाहा, गही को बांह पड़ेउ औगाहा।

पवन झुलावे मनहि मम, विरह झकोरे देय।
गगन चढ़े उतरे अवनि, पिउ बिन थाम को लेय।। पृ० (१३१)

तथा

चहुँ दिशि चांचर होय धमारी, हौं सो रहिउ छार शिरडारी।। पृ० (१३३)

विरह की यह व्यथा धरती स्वर्ग सभी स्थलों में व्याप्त है :

उठी आग नहिं जाय बुझाई, धरती लाग स्वर्ग का धाई।। (पृ०१३५)

शब्द जब जवाहिर का विरह-संदेश लेकर जा रही थी तो मार्ग में पड़ने वाले वनखन्ड जल गये, सरिता सूख गई, पक्षियों का वर्ण श्याम होगया :

लै सन्देश चली जेहि ओरा, विरहलोक धाई चहुँ ओरा।
छूटत जाय विरह की धारा, बनखण्ड जरैं हुये पतझारा ॥
पंखी सहूँ न बाँचे कैकेई, जो बाँचे तन श्याम सो होई।
सूखे सरवरसरिता पानी, जेहि दिशि जाय सो पंखी उड़ानी। पृ० १३७-३७

कहीं कहीं ऐसे मार्मिक वर्णनों के अतिरिक्त, वीभत्स चित्रण भी मिल जाते हैं जैसे :

विरह आग ते जारे मांसू, झरना भये नैन के आंसू।
कन्त बिछोह औटगा मांसू, हियरा फाट रक्त भा आंसू ॥ (पृ० ८२)

विरह पक्ष में कवि रहस्यवाद का परिचय भी देता है। यह सारी पृथ्वी, आकाश उसके विरह में व्याकुल हो उसे प्राप्त करना चाहता है, किन्तु उसकी असमर्थता सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है :

धन वियोग सोग जग बोवा, धरती स्वर्ग जरा दुख रोवा।
खुला जो देख समंद पहारा, रोवन लाग जगत संसारा।
ठाउंहि ठाउं भूमि जो रोई, सोत सोत निकसी जल सोई।
रोवा गिरि झरना भये आंसू, रोवैं बनपक्षी बन बासू।
अहि रोवत गये बैठि पतारा, टपके आंस कूप जलधारा।
रोवैं वृक्ष झरैं पुनि पाती, रोवैं नखत तराईराती।
रोवत चन्द भयो हियकारा, रोवैं मच्छ समन्द भयो खारा।

मेघ सो रोवैं ताहि दुख, भूमि चुवावैं आंस।
जग जाने बरसा भई लागो भादौं मास। (पृ० २०४)

कवि के संयोग वर्णनों में अश्लीलता नहीं है। वर्णनात्मकता का अभाव है तथा काव्य-सौन्दर्य एवं भावात्मक मिलन के चित्रण अधिक हैं :

गई सो लाग हिये लपटाई, जेहि विधि फूलन बास सुहाई।
मानहि मिली चन्द उजियारी, होइ गइ एक न जायनिहारी।
जानो घिरत दूध के माहीं, मेंहदी रंग लखे कोउ नहीं ॥ (पृ० ९७)

संयोग वर्णन में पहेली बूझना वाक्चातुर्य एवं शतरञ्ज आदि खेलने का वर्णन भी कविगण करते हैं। कासिमशाह ने भी ऐसा ही किया है। जवाहिर योगी शब्द को लेकर हंस पर व्यंग करती है :

केहि गुन रहो रहस के माहीं, तुम तन दया मया कछु नाहीं।
जिउ मारत नहिं करौ बिचारा, छलन फिरो सिगरो संसारा।
सुनो नाथ तुम योगी भेखा, सीख्यो छन्द जगत बहु देखा।
अब मोंहि शोच अधिक हिय माहीं, तुम योगी रहियो थिर नाहीं।

किन्तु यह वर्णन कहीं भी पाण्डित्यप्रदर्शन के हेतु नहीं जान पड़ता। इसी प्रकार हंस एवं जवाहिर का शतरञ्ज खेलना भी कवि ने दिखाया है।

ले आई सतरञ्ज धन, चतुराई के हाथ।
जो हारूँ तो नाह की, जो जीतूँ तो नाथ॥ (पृ० १८२)

कवि ने संयोग का वर्णन तीन स्थलों पर किया है। एक स्थल पर वह कुछ अधिक स्पष्ट हो गया है :

छिटकी मांग छिटक गे बारा, टूटा गा गज मुक्तन हारा।
टीका मिलि भा ललित लिलारा, फीका भयो रङ्ग रतनारा॥
टूक-टूक भइ कंचुकि चोली, पवन वास भइ कोकिल बोली।
छुटिगये बन्द जो छतियनसाजे, खुलिगये पायल पायनबाजे॥
ठावहिं ठांव मसकि गा जोरा, जहं-जहं हाथ कंत गहि बोरा। (पृ० १८४)

वीर रस :

हंस जब अपनी माता के साथ बलख को छोड़कर रूम की ओर प्रस्थान कर रहा था तब उसके पिता के शत्रु दौलामीर, माहअली और माहरूप ने मिलकर उसको रोकना और बन्दी बनाना चाहा। यहीं पर कुछ युद्ध का वर्णन भी आता है। इसमें युद्धोत्साह, वीर दर्पपूर्ण वार्तालाप, सेना की सजावट या युद्ध सज्जा का वर्णन नहीं प्राप्त होता है। केवल अस्त्र शस्त्रों का चलना एवं घायलों की चर्चा मात्र है।

माहरूप कर गही कमाना, खैंचा तीर सो कीन सकाना।
माहअली पुनि खड्ग संवारा, और न लीन और कीनसंघारा।

× × × ×

निकसी खंग वज्र की धारा, कांप उठा सब स्वर्ग पतारा।
मांहरूप के छूटे तीरा, फूटी पुरुस बीर एक नीरा।
जो कोउ निकट हंस के आवा, मारि बाण तेहि छार मिलावा। (पृ० २२-२३)

हंस के बलख सम्राट हो जाने पर एक बार पुनः युद्ध वर्णन आता है। इस स्थल पर युद्ध का वर्णन विस्तृत नहीं है। छल के द्वारा मीरबहादुर ने हंस को मार डाला और उसके बाद माहअली के दल तथा हंस की सेना में हुये युद्ध का भी संक्षिप्त वर्णन है।

तबलौं कटक पार कहं रोका, गोला बान कोटि यक भोंका।
लोहैं लोह पड़ी घमसाना, लियै लोथ उठी घर आना।
जो जेहि गली चहैं वह भागै, ईंट ईंट सो बरसै लागै।
जो जेहि ठांव तहैं सो मारा, रुण्ड मुण्ड भये हाट बजारा।

लोथन खानौ बाटकी, रक्त भरे सब ताल।
दीपक हंस बुझाय गा, जक्त रक्त सों लाल ॥ (२६८)

हंस के द्वारा बलख राज्य की प्राप्ति का विस्तृत वर्णन मिलता है। हंस को युद्ध का उत्साह अपनी माता से प्राप्त हुआ जिसने बैरियों के दुष्कर्म का वर्णन करके हंस को प्रेरित किया। हंस की युद्ध सज्जा तथा पत्र भेजकर देश विदेश के राजाओं को एकत्रित करने का विस्तृत वर्णन है। तोप, बाण, हाथी, ऊँट, घोड़ों आदि का वर्णन हुआ है।

चली घटा हस्तिन की भारी, राती हरिअरि छाय धियारी।
निकसे तुरी छांड़ि कैलासा, चरण भूमि गर लाग अकासा।
ताजी तुर्की कछुक इराकी, गरभी जो धर कनक बुलाकी।
निकसी कटक जो बख्तर डारे, स्वर्ग चढ़े तन तीरस मारे।

विदा भयो सुल्तान जोर जो कटुक अपार।
बजे नगाड़े दुन्दुभी कांपा स्वर्ग पतार ॥

युद्ध वर्णन :

भये सहौं दल दूनौ बाजे, बजे वीर रन जूझ जो बाजे।
बोले भाट बीच रन बाना, पुरुष चेत भये लोह समाना।
निकसी खड्ग बीज की बानी,खनहिं हाथ खन गगन समानी।
अली अली की भई पुकारी, उठे तुरी भइ घन अँधियारी।
बरसै लाग लोह चहुँ ओरा, मिल गइ खेत धमुर घनघोरा।
अरभै वीर वीर बरबण्डा, बरसैं तीर और करषैं खण्डा।
लोहै लोह उठै भनकारा, रकतै रकत देश रतनारा।

हांकै हांकै चहुँ दिशा, घटै छूटै मार।
कोउ काहू संसार नहिं, आपन कौन परार ॥

करुण रस :

करुण रस का चित्रण हंस के निधन पर कवि ने किया है :

केहि गुन भरै चीन की नारी, सबे पंतग को भिन हारी।
काइ तो संग हंस की लेखा, सीस उतारि चरण पर दीन्हा।

कोई सीस फोड़ भई छारा, कोई लै छुरी पेट मंह मारा।
कोइ मुर्छि पड़ी भई मारी, कोइ तो ठाड़ि हिये की फारी।

चन्द्र सूर अथये दोऊ, नखत भये अंधियार।
जगत महां परलौ भयौ, सून सकल संसार ॥ (पृ० २६६)

भाषा :

ग्रन्थ की भाषा अवधी है। कासिमशाह दरियाबाद के रहने वाले थे अतः उनकी भाषा में स्थानीय शब्द खांग, खुखा, विनियाँ, टोंट भी प्रयुक्त हुये हैं, साथ ही तिहुअन, तुरय, ऐसे तद्भव शब्द भी पाये जाते हैं। हसीन, अता, आतिश, फिसाद आदि फारसी के शब्द उनके ज्ञान का परिचय देते हैं। साधारण लोकोक्तियों के प्रयोग ने भाषा में प्रवाह एवं प्रभाव उत्पन्न कर दिया है।

'हमहूँ दूध पान सों नाहीं जो कोउ अंचै जाय पलमाहीं,'
'पेट पचै नहिं पान,' 'नहिं लावत आंखी,' 'गाज पड़ै,' एवं
'जो जेहि के जस लिखा लिलारा, सो सो भय को मेटनहारा,'

'जिन' और 'नेक' ऐसे शब्द भाषा में ब्रजभाषापन का पुट देते हैं, अन्यथा भाषा साधारण जन बोली अवधी है। कहीं कहीं ध्वन्यात्मक शब्दों का भी प्रयोग हुआ है जैसे :

झिमिक झिमिक जो बरसै मेहा।
पवन झकोर दहै मम देहा ॥

भाषा अत्यन्त सरल एवं दैनिक व्यवहार में आने वाली अवधी है :

कहि यह वचन जो कीन्ह जोहारा।
गा पञ्छी उड़ि भा भिनुसारा ॥

हंस सो हेर गहिय सो नाना, कस पञ्छी केहि देश उड़ाना।
रैन मांझ मोहि भेद बताया, भोर भये वह दृष्टि न आवा।
सांचे शब्द जो कहिगा पांखी, दैगा भेंट होउँ की साखी।
अहूँ सो योगी भेसू, होय भिखार हेरूं सब देसू।

वस्तु-वर्णन :

हाट का वर्णन करते समय कवि ने उस समय के कुछ खेलों के साथ ही वाणिज्य-व्यापार का भी वर्णन किया है। इसी प्रसङ्ग में कर्मानुसार फल प्राप्ति की चर्चा भी आ जाती है :

कतहूँ चढ़ाय नाच नचावै, कहूँ सुबस वा चाटक लावै।
कहूँ भगवती भेप जो कीन्हें, कहूँ गहकटा सो फांसी दीन्हे।

कोउ नचाय मिरदंग बजावे, कहुँ मरकट बहु भांति देखावे ।।
कहूं भेदियन बांसन चढ़े, कहूँ सुबरवा कंचन मढ़े ।।
ऐसी हाट बसत उजियारी, वेचें तहाँ चतुर सुपियारी, ।
सहस अनूपम बसत लुकाई, कोऊ लेय कोऊ पछिताई ।
एक तो सोच करे बन सांठी, एक तो लीन द्रव्य जेहि गांठीं ।
एक वेस हैं माणिक मूंगा एक तो मूरख होय भये गूंगा ।। (पृ० ३१-३२)

इसके अतिरिक्त कवि ने नगरगढ़, घड़ियाल, कविलास एवं अन्तःपुर आदि का भी वर्णन किया है, किंतु वह न तो काव्यात्मक ही है और न विस्तृत ।

जलक्रीड़ा :

जलक्रीड़ा का वर्णन लगभग इन सभी प्रेमाख्यानों में आता है । इस प्रसंग का उद्देश्य कहीं तो मायके की स्वच्छन्दता प्रदर्शित करना होता है कहीं नायिका का सौन्दर्य चित्रण, और कहीं आत्मा-परमात्मा की खोज के रूपक का स्पष्टीकरण । कवि कासिमशाह का उद्देश्य केवल जवाहिर के रूप-सौन्दर्य और मायके की स्वच्छन्दता का प्रदर्शन करना ही है, वह स्पष्ट कहता है :

भोर कहां आवो फुलवारी, जब सब जाब गवन ससुरारी,
खेल लेब जो खेलब गोरी, जब लग रहौ पिता घर मोरी । पृ०३६

सब अबला औ बारी मोरी, खेलैं खेल जो सांवर गोरी ।
कौतुक खेल करे जल माहीं , काली लट ऊपर पैराहीं ।। (पृ०३६)

इसके अन्तर्गत काव्य चमत्कार एवं स्वाभाविक भावव्यञ्जना के दर्शन भी होते हैं । अत्यन्त सुन्दर वस्तु को देखकर व्यक्ति (अचक) आश्चर्य चकित रह जाता है । सखियों के साथ जाती हुई जवाहिर के सौन्दर्य को देखकर पक्षीगण आश्चर्यचकित रह गये ।

चला चन्द फुलवार ज्यों, लिये नखत सब नार,
पंखी देखि भुलान सुधि, रहिगे पंख पसार ।। (पृ० ३४)

कहीं कहीं जवाहिर के ईश्वर स्वरूप के भी दर्शन होते हैं । तट पर खड़ी हुई जवाहिर के चरणस्पर्श की लालसा लहरें करती हैं :

तहाँ ठाढ़ शशि कमल शरीरा; लहरें लेय लाग जल तीरा ।
हुलसि नीर जो लहर उठावैं, उमड़े चरण चहूं का धावैं ।। (पृ० ३४)

नखशिख-वर्णन :

नखशिख वर्णन में नवीनता नहीं है। उपमान परम्परागत ही हैं जिनकी योजना भी लगभग परम्परा से चले जाते हुए ढंग पर हुई है। कहीं कहीं पर कुरुचिपूर्ण उपमान भी पाये जाते हैं, जैसे हथेली एवं अंगुलियों की रक्तिमता का वर्णन कवि रक्त में डूबी मूंगफली से करता है।

अंगुरी पहिरत कनक अंगूठी, जगकर प्राण लीन्ह तुहि मूठी।
भय तेहि से अंगुरी रतनारी, मनहुँ रकत मंह और निकारी।
मूंगफली अंगुरी सबै, रकत बोड़ रतनार।
जानौ हियरा खोलकै, लीनेसि प्राण निकार ॥ (पृ० ५४)

ग्रीवा में पान की लीक का वर्णन :

अति निरमल वह दई बनाई, पड़ गई लीक पान जो खाई।

नखशिख वर्णन के मध्य कवि का अपने रूपक को स्पष्ट करने का प्रयास सराहनीय है। कवि स्थल स्थल पर संकेत करता है कि जवाहिर ही परमात्मा के स्वरूप का प्रतीक है :

जग महं छाई किरन सब, ज्योति मांझ कैलास।
तपसी थकित जगत के,बैठ सो तेहि की आस॥ (पृ० ५०)

+ +

सब जग बहि कर आशा करई, भगकर लिये वास पुनि लेई।
को जिव देव और साधे योगू, जेहि पावै अउ अमृत भोगू॥ (पृ० ५२)

+ +

हारे हिये सो जगत चितेरा, लिखि नहिं सकै रूप तहि केरा। (पृ० ५५)

अन्य प्रसंग :

कवि ने कथा प्रवाह के मध्य विराम रूप से कुछ ऐसे प्रसंगों का समावेश भी किया है जो उसकी बहुज्ञता के परिचायक हैं :

संसार की नश्वरता :

कामिम जक्त जान सब धोखा,जो जग भूल गयो सो खोखा।
धोखा गगन फरै दिन राती, धोखा देखि बलबला भांती।

धोखा नगर कोटि घर बारा, धोखा द्रव्य और रूप सिंगारा
धोखा राजकाज सुख भोगू, धोखा सब लच्छण कुल लोगू।
धोखा किया पुरुष जंह पाई, धोखा अहै सबै दुनियाई।
धोखा अहै मर्म पट दिया, छाड़ सो धोख खोल पट दिया।
धोखा छांड़ि सुमिर करतारा, वही सो सांज धोख संसारा। (पृ० २७१)

छार-महिमा :

कासिम छार सबै गुन पावा, छारहि लै सब जक्त फिरावा।
छारहि महं वह मोल समाना, छारहि बृच्छ जक्त अस जाना।
छारहि जोति आनि परकासी, छारहि वीरपती संन्यासी
छारहि भाग भक्त सब कीन्हा, छारहि योग जक्त तब लीन्हा।
छारहि फिसै सकल संसारा, छारहि भई कीर्त्ति करतारा।
छारहि अर्थ सकल जग साजा, छारहि धुन औगुन उपराजा।
छारहि रूप स्वरूप देखावा, छारहि माँह जक्त बौरावा ॥ (पृ० २७१)

दान-महिमा :

दान दियो नहिं होहु उबारा, दान बिना बूड़ो मंझधारा।
दान सुपत ऊपर पति होई, दान शुद्ध पावै सब कोई।
दान देत दोऊ जग केरा, जिन दीना तिन कीन उजेरा।
मोच्छहु दान द्रव्य ते पावै, दियो दान विधि पार लगावै।
चालिस अंश मंह एक निकारो, देउ दान तो पार सिधारो ॥ (पृ० २६८)

तप-महिमा :

तपसी से डर मानिस राजा, कर सेवा जनि बूड़स काजा।
तपसी शाप जगत जरि जाई, भवो शाप तिनहीं बिलमाई।
तपसी शाप बरस कर भीरा, गयो हिराय न काहू हीरा।
तपसी शाप अजम कर देशू, रहा न कोउ तंह शाह नरेशू।
तपसी शाप अन्त कर राजा, छार भयो तेहि काहु न साजा।
तपसी शाप लंक भई छारा, कंस बिलान तपसि कर मारा।
तपसी शाप न बाचा कोई, वे सम्हार सहस तो होई ॥ (पृ० १६२)

इसके अतिरिक्त कवि ने सामाजिक संस्कारों एवं राजनीति की चालों का भी परिचय दिया है। पुत्र के बड़े होने पर राजा के निधनोपरांत शत्रु का साम्राज्य पर आधिपत्य तथा पुत्र की शिक्षा दीक्षा में अवरोध आदि ऐसी घटनायें हैं जो साधारणत: घटित होती हैं।

माना एवं पुत्र के देश छोड़ने में दौलामीर के द्वारा उसे पकड़ने की घोषणा करवाना तथा हंस के द्वारा अपना राज्य प्राप्त कर लेने के पश्चात् मीरदौला के पुत्र का उसे छल करके मार डालना भी राजनीति के दाँवपेचों में कोई नवीन बात नहीं है। सामाजिक संस्कारों में से जन्म, लगन, विवाह एवं पुत्रनिधन का विस्तृत वर्णन है।

सामाजिक तत्व :

पुत्र के उत्पन्न होनेपर हर्ष प्रदर्शित किया जाता था[1]। कन्यायें ससुराल की अनिश्चितता के कारण विवाह विषयक स्वतंत्रता चाहती थीं[2]। उनके स्वेच्छाचरण में कुल मर्यादा के साथ ही माता पिता का भय भी बाधक था[3]। कन्या के वयस्क हो जाने पर उन्हें घर से बाहर निकलने की स्वतंत्रता नहीं रह जाती थी[4]। लड़कियों के प्रिय खेलों में धमारी मुख्य था[5]। उच्चवर्ग के मध्य शतरंज और चौसर प्रिय मनोरंजन के साधन थे। दूतियां[6] अपनी अनेक चालों से कन्याओं एवं सुन्दरी विवाहित नारियों के सतीत्व डिगाने का प्रयास करती थीं।

जन्मोत्सव पर बधाई एवं सोहर तथा ब्याह में सोहाग गाने का प्रचलन था। कवि वैवाहिक ज्योनार आदि का विस्तृत वर्णन करता है[7]।

---

१. धनि वह रैन पुत्र की होई, धरती स्वर्ग हुलस सब कोई ॥ (पृ० ११)

२. सुनत नाम ससुराल को, धड़कि उठा मम जीव। (पृ० ४१)

३. हौं सो बारी पिता घर, बोलत बचन लजाऊं।
तब मैं बचौं कलंक ते, प्राण कांप मर जाऊं।
मात पिते मोंहि दीन बहाई, हौं का करौं मरौं बिसखाई। (पृ० ४१)

४. दिष्ट परी बारी तबै, लिए फूल भण्डार।
करौं वह कित घर बाहिरे, कस निकसी ये बार।
देहौं अभी धौरहर बासा, औ सब सखिन रहें तेहिं पासा। (पृ० ३८)

५. आवें तहाँ भरन पनिहारी, भूलें कोट औ देखि धमारी।

६ पढ़त भरोसे मन्डिल चढ़ी, सीढ़ी परऊं धरत कुछ पढ़ी।
अमरन पानी तेल सुवासा, लेके चली जवाहिर पासा।
दूतिन सखी चढ़ी तेहि साथा, अक्षत लिए पढ़त केहि हाथा। (पृ० १२६)

७. सखी हुलसि सोहाग जो गावें, कमल संवार चढ़ाव चढ़ावें।
घर घर बाजे नन्द बधावा, मंगलचार लोग सब गावा।
बड़े लोग छत्तीसों जाती, जो जेहिं भाँति सो तेहि तेहि पाँती। (पृ० ४०)

समाज में कई प्रकार के साधू सन्यासी पाये जाते थे। रूपवान योगियों पर कन्यायें आसक्त हो जाती थीं।

कुछ समाजिक विश्वासों की ओर भी कवि संकेत करता है[1]।

पति की निरंकुशता पर पत्नी कुछ नहीं कह सकती थी। कभी कभी क्रोधावेश में पति पत्नी को मायके से बलात् ले आता था।

अन्य कवियों ने मुसलमान पात्रों के मध्य भी हिन्दू पंडित को ब्याह आदि संस्कार सम्पादित करते दिखाया है, जबकि कासिमशाह ने काजी को यह कार्यभार सौंपा है[2]।

कवि ने कामाख्या देवी की पूजा का वर्णन भी किया है[3]।

स्त्रियों का सम्मान समाज में नहीं था, उन्हें तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता था[4]।

अत्याचारी शासक के राज्य में चोर, ठग बढ़ जाते थे, अशान्ति का साम्राज्य हो जाता था[5]।

---

१. गंगा मर बहुतर रहै, अहै सो अचरज खेल (पृ० २)
धरे भोग जो सबै कखानी, आस्वाद चौंसठ विधि आनी।
जंह लकोय लो मठ मन्डप वह ठांऊ, उठ धाये सुनि योगी नाऊं।
महा मंहत जो नाथ गुसाईं, तेहि संग सब योगी जंह ताईं।
उरध वाह नाना जबधारी, पूरी गिरि जल बास तिवारी।
जग डंडी औघड़ कनकटा, सेउरा यती बिरही शरकटा।
कह्मवार सेउरा सन्यासी, पांच अगन निर्जला अकासी।

दूधाधारी संगर्मी, सूफी दरश कबीर।
भये सहाय योगिनी के आय महापति तीर। (पृ० १६१)

ठाढ़ी सखियाँ मिलन का, मिले न पावै बारि।
ऐसे कन्त उताहिली, सुनै न कछु मनुहारि। (पृ० २३५)

२. काजी महा जो पंडित ज्ञानी, बैठा निकट दुहल के आनी। (पृ० ८७)

३. तहाँ मूर्ति कमिख्या केरी, पूजै राय राव और चेरी। (पृ० १६४)

४. तिरिया चरित न कीन्ह विचारा, तिरिया मते बूढ़ संसारा।
तिरिया जल मंह आग लगावै, तिरिया सूखे नाउ चलावै।
तिरिया छार पुरुष मुख मेले, तिरिया छल नाटक खेले। (पृ० १६५)

५. देश उजाड़ और लोग गवांरा, चाल कुचाल भाव अधियारा।
पन्थी पन्थ चलत नहिं बांचा, करै न न्याव कोई पुनि सांचा।

हंसजवाहिर ग्रन्थ का महत्व कई दृष्टियों से है। सूफ़ी सिद्धान्तों की सम्यक विवेचना इस ग्रन्थ में हुई है साथ ही कथा के घटनास्थल चीन, बलख एवं रूम ऐसे दूरस्थित देशों में होने के कारण, कथा में चमत्कार एवं कौतूहल अधिक है। समाजिक एवं राजनीतिक दृष्टिकोण से ग्रन्थ महत्वपूर्ण तथा काव्यत्व की कसौटी पर खरा उतरा है।

नगर सूनि जानौ बिन राजा, करता कठिन करैं सब काछा।
दूतन मिला रहै कोतवारा, दिन दोपहर लूटै बटापरा।
क्रोध दिवान मन्त्र अभिमानी, लोभि भंडार दया बिन रानी।
भोला शाह भोग गन लोभा, करै न न्याव इहै नहिं शोभा।
सुनै न फेऊ दुखी की बाता, चहै तो यकदिन रहै न छाता।

देखा ठाकुर नगर अस, सेवक चंचल चोर।
देख मोर रांबों बहुत, तब देखा बर तोर। (पृ० ४२)

इन्द्रावती

(कवि नूरमुहम्मद कृत)

कवि नूरमुहम्मद 'इन्द्रावती' में अपने जीवन सम्बन्धी तथ्यों का उद्‌घाटन करते हैं। अनुरागबाँसुरी, उनकी इन्द्रावती के बाद की रचना है। इसमें आत्मकथा, शाहेवक्त एवं मुहम्मद साहब की प्रशंसा के क्रम पर उतना आग्रह नहीं है यद्यपि कर्बला की घटना को कवि शिया होने के कारण प्रत्येक स्थल पर स्मरण करता है।

निवासस्थान :

'इन्द्रावती' में कवि आत्मकथा के अन्तर्गत लिखता है कि जिस स्थान को कवि ने अपना निवासस्थान बनाया उसका नाम 'सबरहद' है। सबरहद को कवि अपनी जन्मभूमि नहीं कहता और न अपने पूर्व पुरुषों के निवासस्थान की ओर संकेत करता है किन्तु बहुत सम्भव है कि कवि की भाषा एवं वाच्य के कारण यह शंका हो, और कवि स्वयं 'सबरहद को निवासस्थान बनाया' के स्थान पर 'सबरहद मेरा निवासस्थान है' कहना चाहता हो।

कवि 'सबरहद' स्थान की स्थिति का परिचय देने का भी प्रयास करता है। 'सबरहद' की पूर्व दिशा में 'नसीरुद्दीन' का थाना या स्थान है, एवं सबरहद में पहुँचकर व्यक्ति को ऐसा ही आनन्द एवं शान्ति प्राप्त होती है जैसी एक बटोही को कठिन यात्रा के पश्चात् घनी छांह प्राप्त करने पर होती है। साथ ही, कवि यह भी कहता है कि इस जगत में पथिक की भांति रहना ही उचित है एवं यहां से 'आगम' लाभ करने का प्रयास करना ही श्रेय है। यदि 'इहासों' शब्द का सम्बन्ध 'सबरहद' से किया जाय तो यह निश्चित होता है कि नसीरउद्दीन भी कोई सूफ़ी सन्त रहे होंगे जिनका या तो निवास स्थान सबरहद के पूर्व में वर्तमान होगा या कोई समाधि अथवा मजार होगी। 'अनुराग-बाँसुरी' के सम्पादक अपनी 'बीनीबान' के अन्तर्गत कहते हैं कि 'आपका स्थान सबरहद

---

1. कवि अस्थान कीन्ह जेहि ठांऊ, सोवह ठांऊ सबरहद नाऊं।
   पूरब दिस कइलास समाना, अहे नसीरुद्दीं को थाना।
   है भल जग मंह पंथिक रहना, लेहु इहासों आगम लहना।

   इन्द्रावती पृ० २।

(शाहगंज जौनपुर) था [१]। यह सबरहद गाँव जौनपुर जिले की शाहगंज तहसील में वर्तमान है किन्तु इसके पूर्व की ओर किसी नसीरुद्दीन का थान वर्तमान होने की सूचना नहीं है। श्री चन्द्रबली पाण्डेय जी की एक और स्थापना है कि कवि अपने अन्तिम दिनों में भादौं (फूलपुर, आजमगढ़) में रहने लगे थे। यहीं आपकी सुसराल थी। फ़ारसी में 'कामयाब' नाम से कविता करते और लगभग सन् १७८५ ई० तक विराजमान थे। अपने इस सन् का आधार लेखक ने अपनी स्मृति के अनुसार कवि के लिखे हुये किसी फ़ारसी दीवान में लिखे हि० सन् ११९३ (सन् १७७९ ई०) माना है। 'कामयाब' उपनाम का प्रयोग कवि ने इन्द्रावती में भी कई स्थलों पर किया है।

रचनाकाल :

नूरमुहम्मद 'इन्द्रावती' में यह भी बताते हैं कि इन्द्रावती की रचना के समय अभी वह 'नया तरुण' ही है। कवि का अभी लड़कपन नहीं छूटा है अत: उससे बहुत चूकें हो सकती हैं किन्तु वयोवृद्ध पण्डित उन अशुद्धियों पर ध्यान न देकर उन्हें यथास्थान सुधार लें[२]। इन्होंने इन्द्रावती का रचनाकाल सन् ११५७ हि० दिया है[३]। संवत् १८५१ में कवि अपने तरुण होने का उल्लेख करता है। अत: इन्द्रावती को कवि की प्रारम्भिक रचना कहा जा सकता है। 'इन्द्रावती' के बाद उसने 'नलदमन' प्रेमाख्यान एवं उसके अनन्तर 'अनुरागबाँसुरी' की रचना की[४]। अनुरागबाँसुरी का रचनाकाल कवि ने सन् ११७८ ई० अर्थात् संवत् १८२१ दिया है[५]।

सन् ११५७ हि० तथा हि० सन् ११७८ के मध्य इन्होंने नलदमन की रचना की होगी जो अभी अप्राप्त है। हि० सन् ११७८ तक नूरमुहम्मद के रचनाकाल का विवरण प्राप्त हो जाता है अत: श्री चन्द्रबली पाण्डेय जी की स्मृति में उनके दीवान का समय यदि हि० सन् ११९३ है तो उसमें शंका का बहुत स्थान नहीं रह जाता। इस प्रकार नूरमुहम्मद का रचनाकाल हि० सन् ११०७ से हि० ११९३ तक ठहरता है।

---

१. अनुराग बांसुरी, 'बीर्तावात' पृ० ६

२. है कवि समै नई तरुनाई, छूट न अबहीं कवि लरिकाई।
जाके हिएं लरिक बुधि होई, बहुतै चूक कहत है सोई।
बिनवत कविजन कहं कर जोरी, है थोरी बुधि पुंजिया मोरी॥

३. सन् इग्यारह सै रहेउ, सत्तावन उपनाह।
कहै लगेउ पोथी तबै, पाय तपी कर बांह।

३. आगे हिंद समुद्र तिराना, भाखा इन्द्रावति जो जाना।
फेर कहा नलदमन कहानी, कौन गनावै दूसरि बानी।

४ यह इग्यारह सै अठहत्तर, फेर सुनाएउ बचन मनोहर।

'इन्द्रावती' में कवि ने शाहेवक्त की प्रशंसा करते समय 'मुहम्मदशाह' की प्रशंसा की है।[४] अनुरागबांसुरी में शाहेवक्त की प्रशंसा नहीं है। बहुत सम्भव है कि दोनों ग्रन्थों की रचना मुहम्मदशाह के शासनकाल में ही हुई हो और कवि ने अनावश्यक समझकर मुहम्मदशाह की प्रशंसा न की हो। मुहम्मदशाह का शासन काल सं० १७७६-१८०५ है।

नूरमुहम्मद फारसी भाषा में 'कामयाब' उपनाम से कविता किया करते थे एवं इस भाषा के माधुर्य के बड़े प्रशंसक थे, किन्तु 'इन्द्रावती' की सफलता ने उन्हें 'नलदमन' और अनुरागबांसुरी की रचना को प्रेरित किया।

ये कट्टर मुसलमान तथा शिया सम्प्रदाय के थे। यथास्थान ये अपने पक्के मुसलमान होने, और भाषा के माध्यम से केवल दीनेइस्लाम के प्रचारक होने की पुष्टि करते हैं[२]। ऐसा ज्ञात होता है कि आरम्भिक दर्वेशों का गुप्त मन्तव्य नूरमुहम्मद की वाणी में मुखर हो गया[3]।

नूरमुहम्मद ने अपने ग्रन्थों में कहीं भी अपनी गुरु परम्परा का उल्लेख नहीं किया है। इनकी 'इन्द्रावती' में केवल नसीरुद्दीन का नाम आता है। कहा नहीं जा सकता ये नसीरुद्दीन कौन हैं? इतिहास में एक काजी नसरुद्दीन हुसैन जायसी, जिन्हें अवध के नबाब शुजाउद्दौला से सनद मिली थी, का वर्णन आता है किन्तु इन्हीं का सम्बन्ध 'सबरहद' से है, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता।

सूफी मुसलमान फकीर तथा दर्वेशों के अतिरिक्त अन्य और कई सम्प्रदायों गोरखपंथियों, वेदान्तियों आदि से भी इनका सम्बन्ध रहा ज्ञात होता है। इन्होंने सत्संग की बड़ी महिमा गाई है। हठयोग की इला आदि नाड़ियों के अतिरिक्त दशम द्वार की भी चर्चा इन्होंने की है। अन्य सूफी कवियों की भांति इन्होंने केवल शैतान की चर्चा ही नहीं की है प्रत्युत माया के स्वरूप और कार्यों की ओर भी संकेत किया है। सिंहलद्वीप

---

१. कहौं मुहम्मदसाह बखानूं, है सूरज दिल्ली सुलतानूं।
सब काहू पर दाया धरई, धरम सहित सुलतानी करई।

२. जानत है वह सिरजनहारा, जो किछु है मन मरम हमारा।
हिन्दू मग पर पांव न राखेउं, का जौं बहुतै हिन्दी भाखेउं।
मन इसलाम मसल के भाजेऊं, दीन जेवरी करकस भाजेऊं।
(अनुरागबाँसुरी पृ० ८६)

३. 'इन बुजुर्गों के घरों में भी हिन्दी बोलचाल का रवाज था और चूंकि यह इनके मुफीदे मतलब था इसी लिये वह अपनी तालीम व तफलीन में भी इसी से काम लेते थे।'
दक्खिनी हिन्दी: डा० बाबूराम सक्सेना।
डा० अब्दुलहक की पुस्तक "उर्दू की इब्तिदाई नशो व नुमा में सूफियान कराम का काम' से उद्धृत।

में योगियों का सिद्धि के लिये जाना तथा मछन्दरनाथ का असफल होना आदिक कथाओं की ओर भी लक्ष्य है। अतः ज्ञात होता है कि ये एक जिज्ञासु सूफ़ी थे और अन्य सम्प्रदायों के साधकों से मेल जोल रखते थे। इन्हें सत्संग के सुफल का ज्ञान था।

अपनी मिल्लत या उस समाज में जिसमें इनका जन्म हुआ था, पर इन्हें पूरा विश्वास था। मुहम्मद साहब के मार्ग पर इनका दृढ़ विश्वास कट्टरता की सीमा को पहुँच गया था। 'अनुरागबांसुरी' में इन्होंने लिखा है कि यह अनुरागबांसुरी 'मुहम्मदीजन' की बोली है जिसे सुनकर देवता विमोहित हो जाते हैं, मंदिर गिर जाते हैं और शंखनाद आदि पूजोपकरण मिट जाते हैं[1]।

इतना होते हुये भी नूरमुहम्मद तरुणावस्था में लिखी गई इंद्रावती में विनयपूर्वक अपनी अशुद्धियों की ओर संकेत करके ग्रंथ को केवल अपनी बालक्रीड़ा कहता है[2]।

कथा सारांश :

कालिञ्जर राज्य के राजा का नाम 'भूपति' था उसकी एक मात्र संतान 'राजकुंवर' नामक कुमार था। कुमार के कुछ वयस्क होने पर उसकी माता का देहान्त हो गया। भूपति ने राजकुमार की शिक्षा दीक्षा बड़ी तत्परता से की, तथा उसे सब भांति योग्य देखकर उसका विवाह एक सुन्दर कन्या से कर दिया। अपने पिता के बाद राजकुंवर राज्यसिंहासन पर बैठा तथा एक योग्य शासक सिद्ध हुआ, एक रात्रि को राजकुमार ने स्वप्न में, दर्पण के अंदर किसी सुन्दरी का प्रतिबिम्ब देखा। दूसरी रात को उसने फिर उसी सुन्दरी को स्वप्न में देखा, किन्तु इस बार उसके सुन्दर मुख पर लटें बिखरी हुई थीं। राजकुंवर उस अनुपम सुन्दरी पर विमोहित हो गया एवं राज्यकार्य की ओर से उदासीन होकर उसका बिरही बन गया। राजा की चिंता तथा उदासीनता से सभी दुखी हुये। उसके मंत्री बुद्धसेन

---

१. यह मुहमम्दी जन की बोली, जामों कंद नवातें घोली।
बहुत देवता को चित हरैं, बहु मूरति औंधी होइ परैं।
बहुत दवहरा ढाहि गिरावैं संख बाद की रीति मिटावैं।

अनुरागबांसुरी पृ० २२।

२. कवि है नूर मोहम्मद नाऊं, है पछलग सबको जग ठाऊं।
हौं हीना विद्या बुधि सेतीं, गरब गुमान करौं केहि तेतीं।

हौं में लरिकाई को चेला, कहौं न पोथी खेलउं खेला।
गुरुजन सों यह बिनतिय मोरी, कोप न मानहि भौंह सिकोरी।

मोहि विवेक कछु नाहीं, नहिं विद्या बल आहि।
खेलत हौं यह खेल एक दिप्टा दय निबाहि।

इन्द्रावती पृ० ४।

ने कई चित्रकारों द्वारा चित्र बनवाये और सौन्दर्य शास्त्रियों द्वारा भिन्न भिन्न सुन्दरियों का वर्णन करवाया, किन्तु राजा पर बुद्धसेन की इन युक्तियों का कोई प्रभाव न पड़ा। वह निरन्तर उसी की चिन्ता में मग्न रहने लगा। अन्त में राजा की फुलवारी में ठहरे हुये एक तपस्वी ने राजा के स्वप्न का अर्थ विचार कर बताया कि राजा की स्वप्नसुन्दरी समुद्रपार बसे हुये, आगमपुर नामक नगर के जगपति नामक राजा की रतनजोत इन्द्रावती नाम की कन्या है। गुण तथा सौन्दर्य में वह अदिवतीय है।

इन्द्रावती का जन्म शिवाराधना के पश्चात् उन्ही के आर्शीवाद से एक रत्न से हुआ था। उसका सौन्दर्य रत्न की भांति ही ज्योतिर्मय था।

राजा को इन्द्रावती का सौन्दर्य वर्णन सुनकर विश्वास हो गया कि उसी सुन्दरी को स्वप्न में देखा है। तपस्वी की बातों से अत्यन्त प्रभावित होकर राजकुवंर ने तपस्वी 'गुरुनाथ' को अपना गुरु स्वीकार कर लिया और इन्द्रावती के हेतु जोगी होकर गृहत्याग को तत्पर हो हुआ। कालिञ्जर निवासियों ने मार्ग को विपदाओं तथा गुरु की बातों के असत्य होने की सम्भावना की ओर लक्ष्य करके उसे जोगी बनने से रोकना चाहा किन्तु राजकुवंर दृढ़ निश्चयी था; उसने केवल अपने आठ साथियों को लेकर 'आगमपुर' की ओर प्रस्थान किया। मार्ग में सात बीहड़ वन पड़े जिनमें क्रमशः इन्द्रियों को आकर्षित करने वाले रस तथा भोग प्रधान थे, किन्तु राजकुवंर को इनके प्रति कोई आसक्ति न थी और वह आगे बढ़ता गया। मार्ग में उसकी कायापति नामक बनजारे से भेंट हुई और आगे मार्ग पर वे दोनों एक साथ अग्रसर हुये। कुवंर इसके पूर्व ही बुद्धसेन के अतिरिक्त अन्य साथियों को छोड़ चुका था। समुद्र पार करके दोनों 'जिउपुर' पहुँचे। यहाँ राजकुंवर की विरह-व्यथा अत्यन्त तीव्र हो उठी और वह बुद्धिसेन को वहीं छोड़कर सारङ्गी लेकर चल दिया। मार्ग में उसकी भेंट एक यती से हुई। यती ने आगमपुर के विश्रामस्थानों की चर्चा करते हुये शिवमन्दिर की ओर भी संकेत किया। उसी मन्दिर में राजकुंवर को शिवाराधना करते समय आकाशवाणी के द्वारा प्रेमपुर में स्थित इन्द्रावती की मनफुलवारी में जाने का आदेश हुआ। राजकुंवर दूसरे ही दिन वहाँ पहुँच गया।

उधर अगमपुर में होली का उत्सव मनाया जा रहा था। एक सखी के कहने पर इन्द्रावती ने काजल लगाकर अपना सौंदर्य दर्पण में देखा। स्वयम् अपने पर मुग्ध होकर उसे अपने सौंदर्योपासक का अभाव खटका तथा इसके बाद ही उसने क्रमशः दो स्वप्न देखे। प्रथम स्वप्न में उसने एक अर्धविकसित कमल को मधुकर के साथ जाते हुये देखा, तथा द्वितीय में एक जोगी को समुद्र से प्रण मोती को खोज निकालने तथा अपनी मांग में सिन्दूर भरते हुये देखा।

इधर राजकुवंर की भेंट मनफुलवारी में पहुँचकर चेता नामक मालिन से हुई जिसने राजकुंवर की व्यथा सुनकर इसकी सूचना राजकुमारी इन्द्रावती को दी और साथ ही उसे राजकुंवर के दर्शनार्थ प्रोत्साहित किया। इन्द्रावती निश्चित समय पर वाटिका में पहुँच गई और युक्तिपूर्वक राजकुंवर के दर्शन किये। इन्द्रावती के बदन पर एक लट को

देखकर राजकुंवर मूर्छित हो गया। प्रयास करने पर भी जब राजा को चेत न हुआ तो इन्द्रावती एक पत्र में जिव-कहानी नामक एक कथा-रूपक को लिखकर उसके पास छोड़ गई।

'जिव-कहानी' स्वयं अपने में एक उपदेशपूर्ण कथा थी जिसमें मन का केवल रूप पर मुग्ध न होकर प्रीति की उपासना का भाव था, एवं 'दुर्जन' शत्रु के परास्त करने के हेतु बुद्धि, साहस, क्रिया एवं आनन्द आदि सद्‌गुणों की सराहना थी। 'जिव-कहानी' का मर्म समझना राजकुंवर के लिये कठिन था। संयोगवश उसी समय राजकुंवर का मन्त्री बुद्धसेन उसके निकट आ पहुँचा और उसने जिवकहानी के कथारूपक को राजा के प्रति स्पष्ट किया। इसके पश्चात् राजकुंवर तथा इन्द्रावती के मध्य पत्र-व्यवहार आरम्भ हुआ और 'चेता' उनके मध्य सन्देशवाहक का कार्य करती रही।

इसके अनन्तर राजकुंअर इन्द्रावती को प्राप्त करने की अभिलाषा से उसके धौराहर के पास, स्नेहपादप के नीचे जा बैठा। अकस्मात् इन्द्रावती अपने झरोखे में आई और दोनों के पारस्परिक दर्शन से राजकुंवर की प्रेम-वेदना तीव्रतर होगई। वह समुद्र से प्रणमोती निकालने के हेतु आतुर हो उठा। किंतु मार्ग में ही दुर्जनराय ने उसे बंदी बना लिया। राजकुंवर ने तोते के द्वारा इन्द्रावती के पास अपने बंदी होने का समाचार भेजा। इन्द्रावती ने उसी के द्वारा कृपा नामक राजा की सहायता से उसके मुक्त होने का उपाय लिख भेजा। बुद्धसेन ने कृपा नामक राजा की सेवा करके, उसे दुर्जन राय के ऊपर आक्रमण करने को प्रेरित किया। घमासान युद्ध में दुर्जनराय मारा गया और राजकुंवर बंधन मुक्त होगया। मोती निकालने के लिये वह फिर आगे बढ़ा इधर इन्द्रावती राजकुंअर का बंदी होना सुनकर अत्यंत दुखित हुई और उसकी सखियाँ उसे नित्य रात्रि को 'मधुकर मालती,' 'हीरामानिक' आदि प्रेमकथाओं को सुनाकर उसकी विरहाग्नि शांत करने का प्रयास करती थीं। इसी मध्य उसे राजकुंवर के मुक्त होने का समाचार प्राप्त हुआ।

राजकुंवर के पुनः प्रणमोती निकालने के प्रयास में राजा जगपति के परामर्शदाताओं ने राजकुंवर के क्षत्रियत्व को प्रमाणित करने के लिए कहा। इसी मध्य, तपस्वी गुरूनाथ के आगमन से राजकुंवर को इन समस्त कठिनाइयों से मुक्ति मिल गई और वह समुद्र से मोती निकालने को चल पड़ा। अपनी इस यात्रा में भी उसे तूफान आदि प्राकृतिक विघ्नों के अतिरिक्त, अपने प्रेम की परीक्षा भी देनी पड़ी और समुद्र में निवास करने वाली देवी कमला ने, उसे प्रेम में दृढ़ पाकर, प्रसन्न होकर वह मोती प्रदान किया। राजकुंवर के द्वारा वह मोती प्राप्त करने के पश्चात् इन्द्रावती के पिता जगपति ने उन दोनों का विवाह कर डाला।

यहीं पर कथा का पूर्वार्ध समाप्त होता है जो काशीनागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित है। इस का उत्तरार्ध अप्रकाशित है।

इन्द्रावती उत्तरार्ध

कथासारांश :

इन्द्रावनी का उत्तरार्ध काशीनागरी प्रचारिणी सभा (आर्य भाषा पुस्तकालय) में सुरक्षित है। पूर्वार्ध इन्द्रावती और राजकुंवर के विवाह हो जाने पर समाप्त हो जाता है। उत्तरार्ध का आरम्भ राजकुंवर और इन्द्रावती के समागम से होता है। इधर इन्द्रावती और राजकुंवर संयोग सुख में लीन थे उधर राजकुंवर की पहली रानी सुन्दर कालिञ्जर में अत्यन्त कष्ट से जीवनयापन कर रही थी। जिस समय राजकुंवर ने कालिञ्जर से प्रस्थान किया, सुन्दर रानी गर्भवती थी। यथा-समय रानी के कीर्तिराय नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। अब रानी पर दुहरा भार था। एक तो राज्य शासन का भार, दूसरा पुत्र के लालन-पालन का भार, यह 'दोनों ही कर्तव्य विरहिणी के लिये भार स्वरूप हो गये थे। कभी कभी वह अत्यन्त दुखी होकर जोगिन हो जाने को सोचती थी और कभी आत्महत्या का निश्चय करती थी। रानी की सखियां युक्तिपूर्वक उसे इन कार्यों से विरत करती थीं। एक दिन एक सखी ने एक तोते की कहानी रानी को सुनाई, जो वर्जित फल खाने के कारण, आगमपुर से पृथ्वीपुर में आ पड़ा था। उसने वहीं, पिंजड़े में से एक पक्षी के द्वारा आगमपुर संदेश भिजवाया था। इस कहानी को सुनकर रानी के मन में संदेश भेजने की बात उदय हुई।

कथा को सुनकर रानी को निद्रा आ गई और उसने स्वप्न में शुभ सूचक सूर्य चन्द्र और ग्यारह तारे देखे। जगने पर रानी सुन्दर का विरह और तीव्र हो उठा। रानी की सखियां प्रति रात्रि उसे कहानी सुनाकर सुलाने की चेष्टा करती थीं। दूसरी रात्रि को उसकी सखी ने चन्द्रदान और राजाहंस की कहानी कहना आरम्भ किया। राजाहंस के राज्य में एक रम्भानामक अतिसुन्दरी गणिका का आगमन हुआ। सूचना पाकर राजा ने उसे बुलाया और उसका वृत्तान्त जानकर उसे अत्यन्त सुन्दर मोती की माला भेंट की। रम्भा ने एक चतुर सुवा, उसकी सेवा के हेतु दिया। उस गणिका से हंसपुर के राजदम्पति चित्रसेन और रूपवती की पुत्री मालती के सौन्दर्य का वर्णन सुनकर हंसराज उस पर मोहित होगया, किंतु तोते के समझाने पर वह फिर राजकाज में दत्तचित्त हुआ। कुछ समय पश्चात् एक बनिजारे के मुंह से पुनः मालती की सौन्दर्य चर्चा सुनकर वह जोगी होकर उसकी प्राप्ति के लिये घर से निकल पड़ा। मार्ग में उसे महाबली नाम का एक और राजा मिला जो उदयपुर के राजा इन्द्र की राजवल्लभी नामक राजकुमारी के हेतु, घर छोड़ चल दिया था। राजवल्लभी भी स्वप्न में महाबली को देखकर उस पर मोहित हो चुकी थी। जब ये दोनों राजा वहां पहुँचे तो राजवल्लभी के पिता ने महाबली को सब प्रकार से उपयुक्त वर पाकर उससे कन्या का विवाह कर दिया। राजहंस का सन्देश लेकर सुवा मालती के पास गया। वहां जाकर उसे ज्ञात हुआ कि रम्भा का निधन हो चुका है जिसे सुन कर उसे वैराग्य हो गया और

वह मालती का संदेश हंसराज से कहकर तप करने के हेतु वन में चला गया। राजहंस ने हंसपुर जाकर मालती का पाणिग्रहण किया और वहीं आनन्दमग्न रहने लगा। इधर उसकी पहली रानी चन्द्रबदन राजाहंस के विरह में अत्यन्त दुखी थी। एक दिन अत्यन्त दुखी होकर उसने सुखदेव मिश्र के द्वारा अपना सन्देश राजा हंस के पास भेजा, तब राजा हंस चित्रसेन से विदा लेकर, मालती एवं महाबली और राजबल्लभी के साथ स्वदेश लौट आया। जिस प्रकार राजाहंस को पाकर चन्द्रबदन पुलकित हो उठी थी उसी प्रकार सखियों ने रानी सुन्दर को भी प्रसन्न होने की दिलासा दिलाई।

ऐसी ही कहानियां सुनाकर सखियां रानी को ढाढस बंधाती थीं। उसी समय कालिञ्जर में रहने वाली 'लोभ' नामक कुटिल स्त्री ने कीर्तिराय पर टोना किया जिसके फलस्वरूप रानी ने उसे देशनिकाला दे दिया। लोभ वहां से जैनपुर गई जहां उसने रानी सुन्दर के सौन्दर्य का विस्तृत वर्णन किया। फलस्वरूप जैनपुर के राजा कामसेन ने मोहनी मालिन को जोगिन के भेष में रानी सुन्दर के पास भेजा। मोहिनी आगमपुर की जोगिन होने के बहाने रानी के पास पहुँच गई और वहां उसने अपना जाल फैलाना आरम्भ कर दिया, किन्तु सुन्दर ने उसे अत्यन्त तिरस्कृत करके वहां से हटा दिया। इस पर क्रोधित होकर राजा कामसेन ने कालिञ्जर पर आक्रमण कर दिया जिसका सामना रानी सुन्दर ने सफलता से किया और कामसेन मारा गया। रानी सुन्दर ने दुखित होकर एक दिन पवन के द्वारा अपना संदेश राजकुंवर के पास भेजा, जिसे जानकर राजकुंवर इन्द्रावती की विदा कराके स्वदेश को चल दिया। मार्ग में उदधि की कन्या कमला ने इन्द्रावती से भेंट करके राजकुंवर के प्रेम की परीक्षा ली। राजकुंवर अपनी परीक्षा में सफल हुआ।

राजकुंअर के लौट आने पर सुन्दर अत्यन्त प्रसन्न हो गई। इन्द्रावती और सुन्दर दोनों अत्यन्त प्रेम से रहने लगीं। एक बार राजकुंअर आखेट करके थका हुआ एक वृक्ष की छाया में विश्राम कर रहा था तभी उसने एक तोते से एक विरह की कथा सुनी कि वल्लभ नाम के कुंवर से प्रेमा का ब्याह हुआ था। वे दोनों अत्यन्त सुखी थे; किन्तु थोड़े ही दिनों में वल्लभ का देहान्त हो जाने पर प्रेमा दु:खित होकर सती हो गई और उसने इस सुजान नामक तोते को स्वतंत्र कर दिया। राजकुंअर इस कथा को सुनकर अत्यन्त दु:खित होगया और कुछ समय पश्चात् उसकी मृत्यु होगई। राजकुंअर के निधन के उपरान्त दोनों रानियां भी सती हो गईं। इस प्रकार प्रेम में विरह की महत्ता सिद्ध करके नूरमुहम्मद ने कथा का अन्त कर दिया।

कथारूपक :

नूरमुहम्मद अन्य सूफी कवियों की भांति किसी ऐतिहासिक या पौराणिक कथा का आधार ले अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन नहीं करते हैं। प्रत्युत कथावस्तु पूर्णत: काल्पनिक और रूपक के गुणों से समन्वित है। पात्रों के भावात्मक नामकरण ने कवि के रूपक को स्पष्ट करने में पूर्ण योग दिया है। कथावस्तु तथा पात्र पूर्णत: काल्पनिक हैं

'राजकुंवर' साधक है। गुरुनाथ तपस्वी मार्ग प्रदर्शक, एवं आठ सखा शरीर के साथ रहने वाले इन्द्रिय विकार हैं। 'राजकुंवर' की रानी 'सुन्दर' सांसारिक मोह का आकर्षक स्वरूप है जिसकी उपेक्षा करके साधक को रतनजोत या परमऐश्वर्य, सौंदर्य, शक्ति एवं शीलवान इन्द्रावती की प्राप्ति का प्रयास उचित है। राजकुंवर को मार्ग में सात बीहड़ वन मिलते हैं। क्रमशः सातों बनों की विशेषता का वर्णन करते समय कवि ने इन्द्रिय विकारों, रूप, गन्ध, स्पर्श, रस, शब्द आदि का वर्णन किया है। उन सभी बनों पर राजकुंवर की विजय, 'शारीरिक वासनाओं' पर विजय का प्रतीक है। शरीर की इन वासनाओं पर विजय का उपाय केवल नामस्मरण में संलग्नता या जिक्र है। सातों बनों को पार कर जाने के बाद राजकुंवर कहता है :

निखा मारि पन्थ जो चला, ताकर होइ पन्थ महं भला।

एवं

हौं मैं तासु गलिय कर जोगी, जा सुमिरन सों जगत संजोगी।

देह जनित विषय-वासनाओं एवं इन्द्रिय जनित भोगों की आकांक्षा लेकर साधना में सफलता नहीं प्राप्त हो सकती। इसी सत्य का उद्घाटन राजकुंवर अपने शब्दों में करता है।

'तुम सब कहं मैं साथ लगाएउं, जाइ न सकउं लाज मैं पाएउं।

ऐसा कहकर राजकुंवर अपने आठों साथियों को 'देहन्तपुर' में छोड़ देता है। देहन्तपुर वह स्थान है जहाँ से आगे साधना के क्षेत्र में देह की या शरीर की गम्य नहीं है, जहां से साधक अपने शरीर को विस्मृत कर देता है और केवल प्राणों में एवं श्वासों में उसी का स्मरण करता है।

'देहन्तपुर' में दैहिक वासनाओं के त्याग के पश्चात् आगे के मार्ग में राजकुंवर या साधक का सहायक है कायापति। सहायक का नाम कवि ने बड़ी मर्मज्ञता से 'कायापति' रक्खा है। शारीरिक वासनाओं का स्वामी ही साधना में सबसे बड़ा योगदाता है। इस प्रकार कायापति के साथ समुद्र पार करके, साधना के मार्ग में अग्रसर होकर 'जाइ बसा जिउपूर वियोगी' साधक की सारी चेतनायें आत्मकेन्द्रित हो जाती हैं। वह परमात्मा के विरह का निरन्तर अनुभव करता हुआ हृदयदर्पण में उसके दर्शन का प्रयास करता है[1]।

---

१. जिउपुर मांह प्रेमी राजा, गुपुत जाय घट में उपराजा।
जेह मूरत तेहि प्रेम बढ़ाएउ, स्वान पत्र पर ताहि बनाएउ।
तेहि ऊपर अस लाएउ ध्याना, रहि गई मूरत आप हेराना।
(इन्द्रावती पृष्ठ ३०)

साधक का मन केवल गुप्त जाप में लग्न रहता है। उसकी सारी वाह्य चेष्टायें रुद्ध हो जाती हैं। वह हृदय पर अपने प्रियतम आराध्य के दर्शन करने में मग्न रहता है। इसी गुप्त जाप को सूफ़ी शब्दावली में 'जिक्रे खफ़ी' कहते हैं।

इस आत्मकेन्द्रित अवस्था के बाद साधक को उस परमसौन्दर्य के रूप का आभास हो जाता है। उस परमरूप के सौन्दर्य का आभास पाकर साधक चेतनाविहीन हो जाता है। प्रेम के मार्ग में बुद्धि या तर्क सबसे बड़ा बाधक है, अतः यदि एक बार भी साधक को उस परम सौंदर्य की झांकी मिल जाती है, वह बुद्धि का आश्रय छोड़कर केवल परमप्रेम की भावना के सहारे उस तक पहुँचने का प्रयास करता है। बुद्धि ही मनुष्य का सबसे बड़ा सङ्गी है किन्तु यदि यह सांसारिक लाभ हानि के मापदण्डों से ग्रसित रहती है तो सबसे बड़ी परमार्थविरोधनी भी है। यही कारण है कि राजकुंवर जिअन्तपुर के आगे अपनी बुद्धि का भी त्याग कर देता है[1]।

जिअन्तपुर में त्यक्त बुद्धि धैर्यधारण कर स्वपरिमार्जन का प्रयास करती है और आगे चलकर राजकुंवर के परमार्थमार्ग की सहायिका भी बनती है।

तर्कवितर्क, ऊहापोह का आश्रय छोड़ते ही साधक को आगमपुर या परमतत्व के निवासस्थान की प्राप्ति का आभास होने लगता है। आगमपुर में पहुँचकर राजकुंवर गौरीपति के ध्यान में मग्न हो जाता है। एकाग्र होकर ध्यान करने से उसके हृदय में ज्ञानोदय का आरम्भ होता है। हृदय में इस प्रकार ज्ञानोदय होने की भावना का स्पष्टीकरण, कवि आकाशवाणी के द्वारा करता है। उसे आकाशवाणी होती है कि मन फुलवारी में, चेता नामक मालिन के सहयोग से, उसे इन्द्रावती के दर्शन प्राप्त होंगे। मन के पूर्ण-चेतन होने पर सजग होकर आराध्य की आराधना से उसके दर्शन सम्भव हैं। इसी तथ्य को कवि ने दूसरे शब्दों में स्पष्ट किया है कि प्रेमपुर में स्थित मनफुलवारी में ही आराध्य के दर्शन सम्भव हैं।

मनफुलवारी में चेता नामक मालिन के सहयोग से राजकुवंर को इन्द्रावती के दर्शन होते हैं और इन्द्रावती भी राजकंवर का वियोग अनुभव करती है। आत्मा के प्रेम में परिपक्व हो जाने पर परमात्मा भी आत्मा को अपने पास बुलाने को आतुर हो जाता है किन्तु उसके लिये सबसे बड़ी आवश्यकता 'मरजीया' होने की होती है। प्रेम के समुद्र में पूर्णरूप से 'आपा' या 'अहंभाव' का विस्मरण

---

१. जब जागा मोहा अनुरागी, अधिकौ प्रेमअगिन मन लागी।

× × ×

जब जिअन्तपुर पहुँचा राजा, बुद्धिहि छाड़ तहां सौं भाजा।

× × ×

आप जिअन्तपुर मंह रहा, धीर्ज गहा बिछुरन दुख सहा। पृ० ३१।

कर देने वाला ही 'प्रणमोती' या साधना की पूर्णता को प्राप्त कर आराध्य को प्राप्त कर पाता है। 'जिन खोजा तिन पाइयां गहरे पानी पैठ', प्राप्ति के लिये गहरे पानी में निमज्जित होकर पूर्णस्वच्छ होना आवश्यक है। इस प्रकार अपने पात्रों एवं स्थानों के भावव्यञ्जक नामकरण द्वारा कवि ने कथारूपक को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। 'मरजीया' होने के मार्ग में सबसे बड़ी बाधक अनिश्चयात्मक बुद्धि तथा दुर्जन का सङ्ग होता है। यह अनिश्चय की भावना भी रूपाकर्षण के द्वारा आरम्भ होती है। इसके स्पष्टीकरण के लिये कवि ने दुर्जनराय तथा पत्नी मोहिनी का उपयोग किया है। दृढ़ निश्चयी साधक राजकुंवर अन्त में सब पर विजय पाकर मरजीया होकर आराध्य की प्राप्ति करता है।

कवि ने इन्द्रावती और राजकुंवर के विवाह पर ही अपनी कथा का पूर्वार्द्ध समाप्त कर दिया है। विवाह सूफी काव्यों में आत्मा और परमात्मा के मिलन का प्रतीक है। अधिकांश सूफी प्रेमाख्यानों में सामाजिक रूढ़ियों के कारण पत्नी पर पति के श्रेष्ठत्व के प्रतिपादन में अस्वाभाविकता आ जाती है। इन्द्रावती इस दोष से मुक्त है और इन दोनों का विवाह केवल मिलन का प्रतीक है।

प्रेम-पद्धति :

इन्द्रावती के कथा सारांश से स्पष्ट है कि यह एक प्रेमकथा है। भारतीय साहित्य में दाम्पत्य प्रेम के आर्विभाव से सम्बन्धित कई परम्परायें प्रचलित हैं। उन्हीं में से अधिकांश सूफ़ियों ने स्वप्नदर्शन, चित्रदर्शन, गुणश्रवण आदि के द्वारा प्रेमार्विभाव की पद्धति को अपनाया है। इस परम्परापालन के द्वारा सम्भवतः ये सूफी आत्मा की परमात्मा मिलन की अनायास उत्सुकता की ओर संकेत करना चाहते थे।

इन्द्रावती के नायक के हृदय में भी प्रेम भावना का आविर्भाव स्वप्नदर्शन से होता है। राजकुंवर ने ब्रह्म-स्वरूपा इन्द्रावती का सौन्दर्य स्वप्न में देखा। वही एक नारी उसे सब आदर्शों या दर्पण के मध्य प्रतिबिम्बित दिखाई दी। पहली रात्रि में इन्द्रावती का प्रतिबिम्ब एक दर्पण के मध्य पड़ रहा था किन्तु दूसरी रात्रि में उसके मस्तक पर लट भी बिखरी हुई थी साथ ही उसका प्रतिबम्ब कई दर्पणों पर पड़ रहा था[1]। इन्द्रावती

---

१. एक रात मंह कुंवर सरेखा, सपन बीच दर्पन एक देखा।

दरपन मों एक सुन्दर नारी, देखेहु चन्दुहु ते उंजियारी।

जस दरपन निमल रहे, तस देखा अधिकार।
दरसन एकै नारि कौ, सब आदरस मझार। (पृ० १०)

के इस सौन्दर्य को देखकर राजकुंवर स्वप्न में ही मूर्च्छित हो गया एवं जागने पर उसे ज्ञात हुआ कि उसके हृदय में प्रेम जाग्रत हो उठा है[१]।

भारतीय प्रेमपरम्परा में प्रेम का वेग नायिका में अधिक तीव्र प्रदर्शित किया गया है जबकि फ़ारसी भाषा में लिखित मसनवियों में प्रेम भावना की तीव्रता नायक में अधिक दिखाई जाती है। हड्डियों की ठठरी लिये हुये फ़रहाद, शीरीं की प्राप्ति के लिये टांकियों से पहाड़ खोद डालता है। उनके प्रेम की तीव्रता 'पगन में छाले परे, नांघिवे को नाले परे तऊ लाल लाले परे रावरे दरस को' भारतेन्दु की नायिकाओं से समानता रखती हैं। नूरमुहम्मद ने इन्द्रावती में इन दोनों पद्धतियों का समन्वय किया है। आरम्भ में राजकुंवर ही 'इन्द्रावती' के रूप को स्वप्न में देखकर विमुग्ध होकर उसे प्राप्त करने के लिये व्याकुल हो जाता है। मार्ग के अनेक विघ्नों को पार करके एवं 'प्रणमोती' निकालने की आतुरता दिखाकर कवि ने नायक की प्रेमभावना का उत्कर्ष दिखाने का प्रयास किया है। इधर इन्द्रावती राजकुंवर की उत्कट साधना से प्रभावित होकर राजकुंवर की प्राप्ति के लिये व्याकुल हो उठती है और जब 'प्रणमोती' निकालने के प्रयास में राजकुंअर की नाव समुद्र में अदृश्य हो जाती है तो प्राण त्याग देने के लिये तत्पर होती है।

फ़ारसी की मसनवियों का प्रेम ऐकांतिक तथा लोकबाह्य होता है जिसका अनुसरण अधिकांश भारतीय सूफ़ी कवियों ने नहीं किया है। राजकुंवर का प्रेम भी सांसारिक सम्बन्धों के मध्य है। उसका कोई पृथक स्वरूप नहीं। यद्यपि मसनवी पद्धति पर कवि ने राजकुंवर के आदर्शात्मक परमप्रेम का निरूपण किया किन्तु उसमें सांसारिक सम्बन्धों की ओर पूर्ण विमुखता नहीं है। जायसी का नायक जोगी होकर गृह त्याग करता है और नागमती उसे अपनी व्यथा सुनाकर रो-रोकर रोकने का प्रयास करती है; किन्तु सुन्दर राजकुंवर के जाते समय अपनी व्यथा को लाज के कारण व्यक्त नहीं कर पाती। वह भाग्य पर विश्वास करके अपने दुर्दिन व्यतीत करने को तत्पर हो जाती है। यह अन्तर सामाजिक परिस्थिति के कारण ही है। राजकुंवर के बन्दी हो जाने पर इन्द्रावती सुआ के द्वारा उसकी मुक्ति का उपाय लिख भेजती है।

ऐकांतिक प्रेम की गूढ़ता और गम्भीरता के बीच, कवि ने जीवन के अन्य अंगों का समावेश भी किया है। इनकी प्रेमागाथा इसी कारण सामाजिक जीवन से विच्छिन्न होने से बच गई है। दाम्पत्य प्रेम के अतिरिक्त, मनुष्य की अन्य वृत्तियों का भी समावेश है। मा के यहाँ की स्वच्छंदता, सतीत्व की महत्ता, स्वामिभक्ति, वीरता, यात्रा, युद्ध आदि के वर्णनों को उचित स्थान प्राप्त हुआ है। इन सबके होते हुये भी, इन्द्रावती प्रेमभावना या शृंगार-रस प्रधान काव्य है।

---

१. राजा देखि सपन अस जागा, लागा ग्रांव प्रेम को धागा।

(पृ० ११)

इन्द्रावती का स्वप्न में दर्शन करके राजकुंवर के मन में इन्द्रावती की प्राप्ति के लिये 'अभिलाषा' जाग्रत हो जाती है। वह अन्य ऐश्वर्य तथा कर्तव्यों के प्रति उदासीन हो जाता है एवं उसे केवल स्वप्न सुन्दरी के दर्शन की चिन्ता रहती है। नूरमुम्मद के 'पूर्वराग' में जायसी की भाँति अत्युक्ति नहीं दिखाई देती। राजकुंवर ने यद्यपि 'इन्द्रावती' को स्वप्न में ही देखा है किन्तु उसकी प्रेम भावना निश्चित तथा दृढ़ है। चित्रकारों के द्वारा अनेक चित्र प्रस्तुत किये जाने पर भी उसकी प्रेम भावना में कोई अन्तर नहीं आता, प्रत्युत उसका प्रेम क्रमशः तीव्र होता जाता है।

तपस्वी गुरुनाथ ने जब राजा के स्वप्न को सुनकर इन्द्रावती के रूप गुण की चर्चा की, तो राजकुंवर के मन को संतोष हुआ और उसका 'पूर्वराग' व्यक्तिप्रधान होकर विशेषोन्मुख हो उठा।

मनफुलवारी में इन्द्रावती के स्वरूप की झलक देखकर राजकुंवर बेसुध हो जाता है। अब तक राजकुंवर के उद्देश्य में दृढ़ता तथा प्राप्ति के प्रयास में तत्परता अवश्य थी, किन्तु एक बार दर्शन पा लेने के बाद उसका विरह अत्यन्त तीव्र होजाता है और वह अतिशीघ्र 'प्रणमोती' खोज लाने को आतुर हो जाता है। अपने इस प्रयास में उसे दो बार अपने प्रेम की विशिष्टता का प्रमाण देना पड़ता है। दुर्जनराय की पत्नी मोहिनी राजकुंवर के लिये महल बनवाने तथा सब ऐश्वर्य और भोगों की व्यवस्था करने को कहती है, यदि इन्द्रावती का ध्यान राजकुंअर विस्मृत करदे। राजकुंवर का यह उत्तर

काह करौं कंचन और रूपा,
कंचन रूप पन्थ भौं कूपा।

उसकी मनोवृत्तियों के परिष्कार का परिचय देता है। सामाजिक प्राणियों को प्रेमियों के कार्य में असंबद्धता के दर्शन हो सकते हैं। लैला और मजनूं के प्रेम पर खलीफा को भी आश्चर्य हुआ था। किन्तु प्रेमियों की भावना का परिचय कोई दूसरा नहीं पा सकता। प्रेमीजन ही एक दूसरे के सबसे बड़े हितचिन्तक हैं।

हित चिन्ता का जानई कोई, मैं जानों को जाने सोई।

इसी प्रकार समुद्र में 'प्रणमोती' निकालने के प्रयास में 'कमला' ने राजकुंवर की परीक्षा ली। वह मार्ग में राजकुंअर के सम्मुख 'इन्द्रावती' का रूप धारण करके गई। 'कहा अहऊं मैं इन्द्रावती, तोहि मधुकर कारन मालती।' कमला के इस प्रकार विरह प्रदर्शन करके विश्वास दिलाने पर भी राजकुंअर की भावना में किञ्चित भी द्विविधा उत्पन्न नहीं हुई। उसने सहज भाव से, 'कहा कंवल दूसर है मोरा, ताके रंग रंग नहिं तोरा।' कमला के छल को परास्त कर दिया।

इन्द्रावती के हृदय में पूर्वराग का उदय, चेता मालिन के मुख से जोगी का रूप वर्णन सुनकर होता है। इसके पहले इंद्रावती के हृदय में काम जाग्रत हो चुका था।

वह मुग्धा से मध्या नायिका हो गई है। यौवन की सहज लज्जा उसके नेत्रों में समाविष्ट है। यहीं पर कवि मध्या के गुणों का भी वर्णन करता है[१]। इसके बाद क्रमशः स्वप्न में एक जोगी को इन्द्रावती के प्रेम का वियोगी देख चुकने के बाद, उसी प्रकार के रूप गुण से सम्पन्न एक राजकुंअर को जोगी के भेष में इन्द्रावती दर्शन की लालसा का वर्णन, चेना के मुंह से सुनकर इन्द्रावती के हृदय में उसके प्रति प्रेम भावना का आविर्भाव स्वाभाविक था।

इन्द्रावती के प्रकाशित प्रथम भाग में राजकुंअर और इन्द्रावती का विवाह हो जाने के बाद का जीवन वर्णित नहीं है किन्तु इन्द्रावती के प्रेम की उत्कृष्टता का दर्शन उसके पहले ही दो अवसरों पर हो जाता है। राजा दुर्जनराय के द्वारा राजकुंअर के बन्दी हो जाने पर, विरह संतप्त इन्द्रावती तोते के द्वारा उसकी मुक्ति का उपाय लिख भेजती है और अत्यन्त दुःखित होते हुये भी वह आशापूर्वक राजकुंअर के पुनरागमन की प्रतिज्ञा करती है। वही इन्द्रावती प्रणमोती निकालने के समय राजकुंअर की नाव के तूफान में फंसकर अदृश्य हो जाने का समाचार पाकर प्राणत्याग करने को तत्पर हो जाती है[२]।

'इन्द्रावती' का चरित्र अपनी प्रेम भावना की उत्कृष्टता के कारण सराहनीय है। वहीं 'सुन्दर' राजकुंअर की विवाहिता पत्नी का चरित्र अपनी त्याग भावना के कारण महान् है। राजकुंअर के स्वप्न दर्शन के पूर्व 'सुन्दर' रूपगर्विता और प्रेमगर्विता दोनों ही थी[3]। ये दोनों प्रकार के गर्व दाम्पत्य सुख के द्योतक हैं। राजा के जोगी होकर निकल जाने के बाद प्रोषितपतिका के रूप में कवि ने उसे चित्रित किया है। राजकुंअर के प्रस्थान के समय उसके चरित्र की भव्यता के दर्शन होते हैं। राजकुंअर और सुन्दर का

---

१. जोवन लाज नयन मों दीन्हा, मुगधा सों मध्या तेहि कीन्हा।
गइ चंचलताई थिरताई, आई लाज निकाइय पाई।

धन सूधें चितवत रहीं, निस दिन जेहि अंखियान।
सो तीछें चितवन लगीं, जोबन के अभिमान।

२. प्रीतम मरम सुनत धनप्यारी, ऊभा आंस लै अंसुक कारी।
कहा सखिन सों मों विष दीजै, खाइ मरउं एतौ जस लीजै।

३. अति सरूप रानी सुन्दरी, धरती पर अपछर औतरी।
देखा पिउ धन की सुघराई, मद सों मया करै अधिकाई।

प्रिय की प्रीत बखानै, एक न राखै गोई।
रूप गरबता सुन्दरी, प्रेम गरबता होई।

सम्बन्ध शरीर और प्राण का सम्बन्ध था[1]। किन्तु उसके प्रस्थान के समय भी सुन्दर ने अपने शोक का प्रदर्शन रुदन द्वारा नहीं किया क्योंकि उससे प्रिय के प्रस्थान में अशकुन होने का भय था[2]।

'सुन्दर' लज्जावश अपनी व्यथा का प्रदर्शन तक न कर सकी और न राजकुंवर की दृढ़ता देखकर उसे प्रस्थान करने से रोक सकी। वह भयवश, संकोचवश इस सारे कार्य व्यापार को ठगी सी देखती रह गई। इसके आगे कवि ने सुन्दर के चरित्र पर कोई प्रकाश नहीं डाला है।

रस-चर्चा :

इन सूफी प्रेमकथाओं में शृंगार रस ही प्रधान है यद्यपि कहीं कहीं ब्रह्म की अद्‌भुत शक्तियों के वर्णन में अद्‌भुत-रस का भी परिचय मिलता है, किन्तु वह अत्यन्त न्यून तथा पूर्ण रसदशा को प्राप्त नहीं हो सका। प्रेम की पीर व्यन्जित करने वाली इन कथाओं में अधिकांश विप्रलम्भ शृंगार के ही दर्शन होते हैं। नायक एवं प्रतिनायक के युद्ध में, नायक एवं विरोधी उपकरणों के युद्ध वर्णनों वीररस में प्रधान है। पूर्ण कथा में शृंगार-रस की ही व्याप्ति है।

विप्रलम्भ शृंगार :

नूरमुहम्द ने विप्रलम्भ शृंगार के अन्तर्गत्त न तो बिहारी ऐसी ऊहा की ही योजना की है और न जायसी की भांति उसमें काव्यात्मक चमत्कार ही प्रदर्शित किया है। सीधे सादे शब्दों में हृदय की पीड़ा का वर्णन है। भारतीय परम्परा में वियोग की पीड़ा प्रदर्शन केवल नायिका के मत्थे मढ़ा गया है किन्तु इन सूफी कवियों ने वियोग का वर्णन दोनों ही ओर से किया है। इन्द्रावती के दर्शन पाकर राजकुंअर को विरह और अधिक सताता है। 'प्रीत आग सों जरा परानूं, बेधा हियें नयन कर बानूं' ऐसी पंक्तियों में सहज ही इन्द्रावती के कटाक्ष का प्रभाव वर्णित है।

विरह की भावना का वर्णन करने में कवि ने परिचित उपमानों का ही आश्रय लिया है।

---

१. बसत सदन सइ सत्रु उजारा, हरि लेइ चला परान हमारा। (पृ० २४)

२. राजा पंथ अगम पर चला, रोएं ताहि न होइह भला।
रोएं सो पिय फेरि न आवहिं, करू सोई जासो सुख पावहिं।

चहुं दिस सब समुझावैं, गई जनहुं ठग भार।
बसा मंदिर कबिलास सम, प्रीतम कीन्ह उजार। (पृ० २६)

हौं सनेह के जलमो, यहै प्रान को मीन।
बाहेर काढ़ि न डारहु, नां तौ मरे मलीन ॥

कहीं कहीं वियोग पक्ष के अन्तर्गत फारसी मसनवियों के प्रभाव के कारण किन्चित वीभत्सता आ गई है, किन्तु ऐसे स्थल बहुत कम हैं :

राजैं आंसू रकत की ढ़ारा, भा इंगुर गेरु रतनारा।

वियोगावस्था की काव्यशास्त्र में दश दशाएं कही गई हैं; अभिलाषा, चिन्ता, गुण-कथन, स्मृति, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता तथा मरण। इनमें से मरण अवस्था का केवल उल्लेख मात्र कविजन कर दिया करते हैं। इन दश दशाओं के अतिरिक्त इनमें से कुछ से मिलती हुई प्रवास विरह की दशस्थितियाँ काव्य शास्त्र में और बताई गई हैं, असौष्ठव अथवा मलिनता, सन्ताप, पांडुता अथवा विवृत्ति, कृशता, अरुचि, अधृति अथवा चित्त की अस्थिरता, विवशता अथवा अनावलम्ब, तन्मयता, उन्माद तथा मूर्च्छा।

इन अवस्थाओं एवं दशाओं के अतिरिक्त भिन्न-भिन्न ऋतुओं में प्रेमी के विरही मन की जो दशा होती है तथा अपने चतुर्दिक वातावरण एवं सम्पर्क की वस्तुओं से जो विरह में उद्दीप्ति या सान्त्वना प्राप्त होती है, उसका वर्णन भी कविगण अधिकांश बारहमासे या षटऋतुवर्णन के अन्तर्गत किया करते हैं। नूरमुहम्मद ने 'इन्द्रावती' के उत्तरार्ध में षटऋतु या बारहमासे का वर्णन किया है। जहाँ इन्द्रावती के विरह का वर्णन है वहाँ विरह की अवस्थाओं एवं दशाओं की ओर केवल संकेत मात्र है। उसमें भावों की तीव्रता या प्रभावोत्पादकता अधिक नहीं है :

अभिलाषा :

रोइ दीपसुत डारै धोई, अभिलाषिन अनुरागिन होई।

व्याधि :

दुर्बल भइउ व्याध सों नारी, बल घटिगा भा जीवन भारी।

असमर्थता :

सुमिरें सोवत बैठी - ठाढ़ी, गन असमर्थ अवस्था बाढ़ी।

जड़ता :

मुकरव भयेउ दुखदायक, सुधिमत रहेउ न साथ।
परी जगत प्रानेसरी, जड़ता केरी हाथ ॥

उद्वेग :

सुन्दर वाक मनाक न भावै, गगन चाक उद्वेग सतावै।

उन्माद :

उन्नमाद सो रोवइ - हंसई, आँसू धरती मोती खसई।

मरण :

जियत रहइ धेयान के बाहां, ना तो होत मर न पल माहां।

गुणकथन :

धन कहं अन्तरपट भयेउ, गगन ऊँच महि नीच।
छाँड़ि सकल धन्धा कहं, परि गुन कत्थन बीच ॥

चिन्ता :

चिन्ता कथन बीच धन परी, चिन्ता करै घरी - औ - घरी।

बारहमासे का वर्णन कवि ने संयोग एवं वियोग दोनो ही शृङ्गार भावनाओं के उद्दीपन रूप में किया है। एक ओर कवि राजकुंवर एवं इन्द्रावती के सुखद मिलन में प्रकृति को सहयोग देता हुआ चित्रित करता है। दूसरी ओर राजकुंवर की पूर्वपत्नी सुन्दर को वियोग पीड़ित चित्रित करता है। कवि का कथन है कि वियोग के कारण ही संयोग सुख का आनन्द उपभोग्य है।

नूरमुहम्मद जगत महँ, जो नहिं होत वियोग।
तो पहिचान न जानै, यह सिगार संयोग ॥ (उत्तरार्ध)

संयोग-शृङ्गार :

राजकुंवर और इन्द्रावती के विवाह द्वारा कवि आत्मा और परमात्मा के मिलन का संकेत करता है। परम्परागत अश्लीलता का अधिक आभास इनके काव्य में नहीं मिलता, यद्यपि फलाहार के रूपक बाँधने में कवि अवश्य कुछ अश्लील हो गया है जैसे :

हौं बर्नी चाहौं फरहारा, अहै मिठाई अधर तुम्हारा।
बरनी कहं फरहार करावहु, दोउ जग बीच धरम तुम पावहु।

कुच श्रीफल,बादाम दृग, अधर खांड सम आहि ।
चाहौं सो फरहार में, पावौं लेउं सराहि ॥ (उत्तरार्ध)

कवि ने हास-परिहास के मध्य भारतीय जीवन की सच्ची झांकी प्रस्तुत की है। इन्द्रावती की सखियाँ राजकुंवर को छेड़कर उसकी बहन को संकेत करके हास्य करती है। भाभियों का ननद से हास-परिहास करना स्वाभाविक है।

जानि परत है भगिनि तुम्हारी, होइहि पेयारी अतिछवि धारी।
तिरछी चितवन सों धन सोई, न जनहिं कतिक हरे मन सोई। (उत्तरार्ध)

कवि नूरमुहम्मद ने संयोग शृङ्गार के अन्तर्गत भी षटऋतु वर्णन का उद्दीपन की दृष्टि से वर्णन किया है जो इनकी अपनी विशेषता है। 'पावस' ऋतु वर्णन से कवि ने आरम्भ किया है। कवि प्रकृति के सौंदर्य का वर्णन करके संयोगिन इन्द्रावती के सुख का वर्णन करता है :

रितु पावस पानी लैं आयेउ, सावन औ भादौं झरि लाएउ।
पावस ऋतु आयेउ पानी लै, सावन - भादौं नीर बरीसै।
हरिअर भई नीर सौं भूमी, पहिरेउ प्यारी चीर खुसूभी।
चमकै दामिनि जामिनि कारी, डरै न पिय सङ्ग कामिनिप्यारी।
चढ़ी चौपार मलार अलापै, प्यारी - प्यारी पारी थापै।
जग हिंडोल को पदमिनी वारी, झूलै अनंद हिंडोल प्यारी।

चिंता एक न मानहिं, मानहिं अनन्द हुलास।
भोग सुखद हंसि खेल भो,बीति गएउ चौमास ॥ (उत्तरार्ध)

उसी प्रकार कवि ने शरद, हेमन्त, शिशिर एवं वसन्त ऋतु का वर्णन किया है।

ईश्वरोन्मुख प्रेम :

नूरमुहम्मद सूफ़ी मतानुयायी होने के कारण अपनी प्रेमकथा को अन्योक्ति के रूप में कहते हैं। जीवात्मा और परमात्मा में पारमार्थिक भेद न माना जाने पर भी साधकों के व्यवहार में ईश्वर की भावना प्रियतम के रूप की जाती है। बीच बीच में प्रेम वर्णन लौकिक पक्ष से अलौकिक की ओर भी संकेत करता है। जायसी की भाँति इनके काव्य में इस अलौकिक प्रेम की व्यंजना अत्यधिक नहीं हुई है एवं विरह भावना की अति उत्कृष्ट अभिव्यंजना के अभाव में इस रहस्यभावना का स्वरूप निखर सका है; फिर भी ऐसे स्थल अनेक हैं जिनमें इन्द्रावती के परमात्मा स्वरूप की व्यञ्जना होती है, जीवात्मा परमात्मा के संयोग की सदैव चाह रखती है। इस संसार का प्रत्येक व्यक्ति परमेश्वर का प्रेम चाहता

है, इसी के साथ कवि ने प्रतिबिम्बवाद का भी बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। प्रत्येक मानव उस परमसौन्दर्यशाली परब्रह्म का दर्पण बनना चाहता है[1]।

संयोग एवं वियोग दोनों ही वर्णनों में कवि इस प्रकार के संकेत करता है। राजकुंवर इन्द्रावती-विरह की चर्चा करते हुए कहता है कि वह उस उत्तम का वियोगी है जिसके दर्शन पाकर 'आपा' या अहंभाव का विस्मरण हो जाता है, एवं केवल उसी का अस्तित्व रह जाता है, परमसत्ता में जीवात्मा की पृथक सत्ता विलीन हो जाती है[2]।

वह इंद्रावती ही परम सत्य है। उसी एक के प्रेम पर इस संसार का कण कण प्राण देता है। वह दीपक ज्योति के समान है और यह संसार उस पर प्राणविसर्जन करने वाले पतिंगे के सदृश है[3]। राजकुंवर के प्रेम की सराहना चेता मालिन इन्हीं शब्दों में करती है।

इन्द्रावती का सौन्दर्य इतना अधिक प्रभावशाली है कि जिस किसी पर वह दृष्टि निक्षेप करती है वही इस संसार से विमुख हो जाता है। अलौकिक प्रेम के लिए सांसारिक आशाओं एवं सुखों का परित्याग करना ही पड़ता है। वह परमात्मा या इन्द्रावती इतने अमित प्रभाव एवं सौन्दर्य वाली है कि उसे सब कोई बिना देखे ही सराहता है[4]। इस संसार में किसी ने उस परमेश्वर को देखा नहीं है किन्तु उसकी प्राप्ति की चाह सबको है।

उसी एक परमात्मा की परम ज्योति से सूर्य एवं चन्द्र प्रकाशवान हैं। रात्रि अपने असंख्य नेत्ररूपी तारों से, उसी का सौन्दर्य दर्शन करती है। इस संसार का कण कण उस सौन्दर्य पर मुग्ध है[5]।

इसी प्रकार इद्रावती जब दर्पण में अपने स्वरूप को देखकर विमोहित हो गई तो तो कवि हदीस के वचनों का आरोप इन्द्रावती की इस क्रिया पर करके, उसके ब्रह्मत्व को सिद्ध करने का प्रयास करता है। हदीस है कि अल्लाह ने अपने स्वरूप पर मुग्ध हो

---

१. सब मानुख मन प्रीत घनेरी, उपजी इन्द्रावति मुख केरी।
मुकुर बने चाहा सब कोई, जामो आइ परै मुख सोई।

२. वोहि उत्तम दरसन के कारन, आएउं नांघि मेरु दधि आरन।
जा दिन में दरसन वह पावउं, होई आप, आपुहि देखावउं। (पृष्ठ ४४)

३. जेहि दरसन के दीप पर है पतंग संसार।
प्रेम तेहिक तुम लीन्हा, मरै न नाम तोहार। पृष्ठ ४५

४. जो काहुअ पर डारै डीठी, सो जन देइ जगत दिस पीठी।
अस रूपवन्ती सुन्दर आहै, बिनु देखे सब ताहि सराहै॥ पृष्ठ ४५।

५. है तेहि चन्द्र बदन लखि, जगत नयन उँजियार।
गगन सहस लोचन सों, निरखे तेहिक सिंगार। पृष्ठ ४५।

कर सृष्टि रचना की थी, वह दर्पण में अपने सौन्दर्य को देखकर स्वयं ही मोहित हो गया था। इसी प्रकार इन्द्रावती भी दर्पण में अपने सौन्दर्य को देखकर रीझ गई[1]।

राजकुंवर इन्द्रावती को पत्र लिखते समय अपने अलौकिक प्रेम का परिचय देता है। यह सारा संसार स्वच्छ दर्पण की भाँति है जिसमें परमेश्वर के सौन्दर्य की प्रतिच्छवि पड़ रही है[2]। इसी प्रकार झरोखे से इन्द्रावती के सौन्दर्य को देखकर राजकुंवर के यह वचन कि 'आज बदन में देखा जाको, है यह जगत झरोखा ताको' परमेश्वर की सर्वव्यापकता के परिचायक हैं।

फुलवारी में इन्द्रावती के दर्शन करके जब राजा बेसुध हो गया तो वहीं साधना में जागरुक रहने की भावना को कवि बड़े सीधे शब्दों में व्यक्त करता है। ईश्वर सदैव सम्मुख रहता है, किन्तु जो इस संसार की माया में लिप्त होकर सोये रहते हैं उन्हें साक्षात्कार नहीं होता। ध्यान के साथ जो अज्ञान रूपी निशा में भी जागने का प्रयास करते हैं, वही परमेश्वर का साक्षात् कर पाते हैं[3]।

कन्या का मां के यहाँ से पति गृह जाना एवं जीव का इस संसार से परमेश्वर के पास जाना आदि प्रसंगों में साम्य की कल्पना निर्गुण कवियों ने की है। कबीर के तो इस भावना पूर्ण कई पद हैं। नूरमुहम्मद ने भी इस प्रसंग का समावेश इन्द्रावती का अपनी सखियों के साथ क्रीड़ा करने के मध्य किया है।

> नइहर देश कहां फिर आवन, कंह यह पन्थ चले यह पावन।
> सो गुन एकउ हाथ ना आवा, जासों होइ प्रीतम दाया।

इस प्रकार लौकिक प्रेम वर्णन के मध्य, कवि नूरमुहम्मद बराबर अलौकिक संकेत देते गये हैं।

प्रेमतत्व :

प्रेम के स्वरूप का दर्शन इन सूफी प्रेमाख्यानों में स्थल स्थल पर होता है। कहीं यह प्रेम लौकिक रूप में दिखाई देता है और कहीं लोकबन्धन के परे।

---

१. कोउ नाहीं बीच सों, अपने रूप लोभान।
अपनो चित्र चितेरा, देखि आप अरुझान। पृष्ठ ७१

२. मोहिं लखैं आदरस है, निर्मल यह संसार।
तामों देखत हों सदा, सुन्दर बदन तोहार। पृष्ठ ७२

३. जो सो जो जागै रयना, मन पर धरै ध्यान को नयना।
ध्यान समेत रयन जो जागै, ताको हाथ मनोरथ लागै। इन्द्रावती : पृष्ठ ६०।

प्रिय से सम्बंध रखने वाली वस्तुयें कितनी प्रिय होती हैं, राजकुंअर के विरह में पीड़ित इन्द्रावती उसकी सारंगी बनने की लालसा करती है। सारंगी सदैव जोगी के साथ रहती है अतः इन्द्रावती को भी वही स्वरूप प्राप्त होता तो सम्भवतः निरन्तर साथ का संयोग उसे प्राप्त हो जाता :

बड़े भाग सारंगी, रहती प्रीतम पास।
मोहि कलेस बिछुड़न को, है प्रछन्न परकास ॥

इसी प्रकार राजकुंवर भी इन्द्रावती की पगरज के ऊपर अपने प्राण निछावर करने तक को प्रस्तुत है :

जेहि प्रानप्यारी के अमी भरे अधरान।
ता पगुरज के ऊपर, वारों आपन प्रान ॥

प्रेम-पथ का पथिक अपने जीवन का मोह नहीं करता, सर्वस्व त्याग कर आगे बढ़ता है। प्रिय की प्राप्ति होने तक वह कभी विश्राम नहीं करना चाहता :

प्रेम बिथा पर जो ठुबुधाना, चाहे मरन न चाहे प्राना।
सूरी ऊपर देहि जो, तबहुँ न छाड़े नाम।
प्रेम पन्थ का पन्थिक, कहाँ चहे बिसराम ॥

जिसके हृदय में प्रेम उत्पन्न होता है उसका धैर्य्य खो जाता है, वह आतुर होकर लक्ष्य प्राप्ति का प्रयास करता है :

चिनगी प्रेम आग की लावा, धीरज को खरिहान जरावा।

प्रेम भाव पर मन्त्र, जन्त्र, तन्त्र, या किसी औषधि का प्रभाव नहीं होता। प्रेम की पीर एक बार उत्पन्न होकर केवल अपनी ही व्याप्ति या प्रसार चाहती है, उस पर अन्य किसी भाव या विचार का प्रभाव नहीं पड़ता :

नूरमुहम्मद प्रेम पर, लहे न मन्त्र न जंत्र।
प्रेम पीर जंह उपजे, तहाँ न औपद मन्त्र ॥

प्रबन्ध-कल्पना :

कवि ने इन्द्रावती में कथा-संगठन की नवीनता दिखाई है। अन्य सूफ़ी प्रबंधों की भाँति, निर्गुण ब्रह्म, रसूल मुहम्मद, उनके चार मित्र शाहेवक्त आदि की प्रशंसा करने के पश्चात्, वह वचन की महिमा का वर्णन करता है। करतार के एक वचन 'कुन' से ही इस संसार की सृष्टि हुई है। वचन मनुष्य को आनन्दित

एवं दुखी करना है। वचन से ही कीर्ति प्रसार सम्भव है। इसी के साथ कवि ने अपनी कथा रचना का कारण भी दिया है कि स्वप्न में एक तपस्वी ने कवि को रचना करने का आदेश दिया था। उसके बाद कवि प्रेम के महत्व का वर्णन करता है।

कथा का आरम्भ वर्णनात्मक है, उसमें कुतूहल की मात्रा अधिक नहीं है। कथा की गति में कोई भी व्यवधान उपस्थित नहीं होता। जायसी की 'पद्मावत' की भांति इन्द्रावती के नायक को भी समुद्रयात्रा करनी पड़ती है, किंतु एक विशेषता अवश्य है कि कवि को समुद्र में डूब कर 'रत्न' खोजना पड़ा है।

कवि ने प्रमुख कथा के साथ, कई अंतर्कथाओं की संयोजना की है। कवि की यह मौलिकता 'सहस्त्र रजनी चरित एवं 'वेतालपचीसी' ऐसी कथाओं का स्मरण दिलाती है। इनमें से कुछ कथायें प्रमुख कथा की गति में सहायक होती हैं। उनका प्रभाव, घटना प्रवाह पर पड़ता है। ऐसी कथाओं के अंतर्गत रानी सुन्दर की सखियों का तोते की कहानी कहना तथा सुजान नाम के तोते के द्वारा 'वल्लभ और प्रेमा' की प्रेम कहानी का वर्णन, प्रमुख है। 'तोते की कहानी' के द्वारा रानी सुन्दर को राजकुंअर को संदेश भेजने का संकेत मिलता है तथा 'वल्लभ एवं प्रेमा' की दुखान्त प्रेमकहानी का राजकुंअर के हृदय पर घातक प्रभाव पड़ता है और यही आन्तरिक शोक, उसके निधन का कारण बनता है। 'जिव कहानी' का वर्णन कवि ने केवल चातुर्य प्रदर्शन के हेतु किया है। वह स्वयं लिखता है कि 'जो चाहत तो करत गरन्था। पै कवि चला कुंवर के पंथा॥ दिन्हेउं मैं एक भीत उठाई। कोउ कवि चित्र संवारे भाई॥' अवकाश पाते ही कवि नई कथाओं का समावेश करता है। एक स्थल पर कवि रानी इंद्रावती की सखियों के द्वारा उसकी विरह पीड़ा को शान्त करने के हेतु और दूसरे स्थल पर सुन्दर की सखियों के द्वारा उसकी विरह व्यथा कम करने के लिये, नवीन कथाओं की उद्भावना करता है। ऐसी ही कथाओं के अन्तर्गत 'मधुकर एवं मालती' 'हीरा मानिक' 'हंसराज और चन्द्रवदन' की कथायें आती है।

कवि ने राजकुंवर की पूर्व पत्नी 'सुन्दर' के जीवन पर कथा के उत्तरार्ध में पूर्ण प्रकाश डाला है। वह राज्य शासन भी करनी है और कामसेन ऐसे विरोधी राजा को युद्ध में परास्त भी करती है:

आपै चातुरि सुन्दर आछैं, राज सम्हारैं पिय के पाछैं;

अन्य प्रबन्धों में पूर्व पत्नी के चरित्र को यह उत्कर्ष प्राप्त नहीं हुआ है।

कथा का अन्त दुखान्त होते हुये भी अपनी विशेषता रखता है। जायसी ने अपनी 'पद्मावत' को ऐतिहासिक सत्य की पुष्टि के लिये दुखान्त बनाया। कुतबन ने 'मृगावती' का दुखद अन्त जीवन का अन्त मृत्यु ही है, यह सत्य प्रदर्शित करने के लिये किया; किन्तु 'इन्द्रावती' का अन्त इन सबसे भिन्न है। दूसरे के दुख एवं शोक से सहानुभूति

प्रदर्शन का भाव इसमें प्रमुख है। राजकुंवर 'प्रेमा एवं बल्लभ' की शोक कथा को सुनकर इतना करुणाविभूत हुआ कि वह फिर प्रसन्न होकर गति या आनन्द प्राप्त न कर सका और रुग्ण होकर संसार से चल बसा। उसकी पत्नियां भी उसकी मृत्यु पर सती हो गईं।

जायसी ने अपने ग्रन्थ की समाप्ति पर अपनी रचना का उद्देश्य स्पष्ट किया है एवं मंझन ने कथा का अन्त सुखान्त करके मौलिकता का परिचय दिया है; किन्तु कवि नूरमुहम्मद ने उसके महत्व का वर्णन करके कथा के सङ्गठन में एक और नवीनता आरम्भ की। इस ग्रन्थ की रचना से कवि अपने काले मुख को उज्ज्वल तो करना ही चाहता है[1], साथ ही पाठक वर्ग के लाभ की चर्चा भी करता है 'जो कोई इस ग्रन्थ को पढ़ेगा उसकी सुखवृद्धि होगी। निर्धन को द्रव्य, दुखी को सुख प्राप्त होगा। अज्ञानी को ज्ञान, वियोगी को संयोग लाभ होगा। रोगी का इस ग्रन्थ के पठन से स्वास्थ्य एवं विद्यार्थी को विद्या प्राप्त होती है। यह ग्रन्थ बुद्धिमानों के द्वारा जब तक, पृथ्वी आकाश स्थित है, पढ़ा जायगा[2]।

वस्तु-वर्णन :

वर्णन कौशल से कथा के इतिवृत्तात्मक अंशों में भी सरसता एवं प्रभावात्मकता का समावेश हो जाता है। वस्तुतः इन काव्यग्रन्थों में नवीन वस्तुओं का वर्णन न होकर उनकी योजना ही नवीन रूप में होती है। इस बात को ध्यान में रखते हुये यह मानना पड़ता है कि नूरमुहम्मद ने अधिकांश वर्णन कवियों की रूढ़ पद्धति पर ही किये हैं यद्यपि कहीं कहीं वे अपने अलौकिक तत्वों के कारण सारगर्भित एवं मर्मस्पर्शी भी हो गये हैं। नूरमुहम्मद के द्वारा वर्णन विस्तार के लिये चुने गये स्थलों में से कुछ निम्नांकित हैं :

नगर-वर्णन :

इसके अन्तर्गत कवि ने कालिंजर एवं आगमपुर का वर्णन विशेषरूप से किया है।

---

१. देख स्याम मुख आयउं, मैं तेरी दरगाह।
कर मेरो मुख उज्ज्वल, करता जगत पनाह॥

२. औ यह पोथी क जो कोउ पढ़ई, तोनि दाया सों तेहि सुख बढ़ई।
होइ सुखी जो पढ़ई दुखारी, होइ धनी जो पढ़ई भिखारी।
पढ़े विपत मों सम्पत पावै, बाउर पढ़े ज्ञान मन आवै।
पढ़े वियोगी होय संजोगी, नासै रोग पढ़े जो रोगी।
विद्यार्थी पढ़ै चित लाई, होइ ताहि विद्या अधिकाई।
भयउ सम्पूरन पोथी, पूजी मन की आस।
पढ़ै लोग मेधावी, जब लगि माहि अकास॥
नूरमुहम्मद : इन्द्रावती

कालिंजर नगर वर्णन के अन्तर्गत कालिंजरगढ़, राजमंदिर, सेना, कोष, उपवन, हाट एवं नगर के शासन का उल्लेख आता है। ऐसे वर्णनों में कवि ने शाब्दिक चमत्कार कहीं कहीं प्रदर्शित किया है :

'भूधर के भूधर गढ़ ऊपर, भूधर ऊपर सोहैं भूधर।'

हाट-वर्णन :

इसके अंतर्गत कवि ने हाट को संसाररूपक के रूप में वर्णित किया है जिसमें कर्मानुसार फलप्राप्ति का भी संकेत है।

'बरनौं हाट महीपति केरी, ता महँ लाख वस्तु की ढेरी।
जो कोऊ कछु लेवै चाहै, जस पूंजी तस मोल बेसाहै।'

आगमपुर का वर्णन :

इसे कवि ने विस्तारपूर्वक वर्णित किया है। इस वर्णन में अधिकांश अध्यात्मिक संकेत हैं। आगमपुर इन्द्रावती का निवासस्थान है, इसी कारण 'कविलास' के समान आनन्द एवं सुखों का केंद्र है। आगमपुर के वर्णन में कवि नगरस्थिति, वन, उपवन, देवस्थान, गढ़ घड़ियाल, विश्रामस्थल, हाट, साधक, तपस्वी एवं मनतारा सरोवर का वर्णन करता है।

आगमपुर यात्रा वर्णन :

आगमपुर की यात्रा, साधक की सिद्धि लाभ करने की यात्रा है। इस यात्रा का महत्व, अध्यात्मिक दृष्टि से ही है। प्रकृति वर्णन की ओर सूफ़ी कवियों का मन अधिक नहीं रम सका। मार्ग में पड़ने वाले वनों, समुद्र एवं पर्वतों की कठिनाइयाँ, विषय-वासना के आकर्षण; साधक के साहस की परीक्षा की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

युद्ध-वर्णन :

घमासान युद्ध का वर्णन नूरमुहम्मद का अन्य इतिवृत्तों से अच्छा हुआ है। ढाल एवं खड्ग की चमक, घोड़ों की हिनहिनाहट, तलवार की ठनाठन आदि प्रभावशाली ढङ्ग से वर्णित है :

भयउ घटा ढालन सों कारी, खरगन भये बीज चमकारी।
रौंदा सीम खरग चौगानू, खेलहिं बीरहिं चढ़ि मैदानू।
ढाल आपनो आपनो चाहैं, अरि कौ हरन चलान सराहैं।
भाला खरग हनै सब कोई, घोडन खरग ठनाठन होई।
गगन खरग घटा सों ठन गयऊ, हिनै हिन औ धुन हम हन भयऊ।

ओनई घटा धूर सों, दिन मनि रहा छिपाय।
तहां महाभारत्थ भा, सबद परेउ हू हाय॥ (पृ० ६८)

जल-क्रीडा वर्णन :

इन सूफ़ी कवियों ने सरोवर स्नान का वर्णन कौमार्य अवस्था के स्वाभाविक उल्लास एवं मायके की स्वछन्दता-प्रदर्शन के लिये किया है, किन्तु साथ ही नैहर और ससुराल के द्वारा इहलोक और परलोक की व्यञ्जना करने का भी प्रयास किया है। सरोवर में प्रविष्ट इन्द्रावती के सौन्दर्य वर्णन में कवि बहुत सफल हुआ है, स्नान की विभिन्न क्रियायों के वर्णन में भी कवि नहीं चूकता। इन्द्रावती पहले नित्य के पहनने वाले वस्त्र उतार कर स्नान वसन धारण करती है और फिर जल प्रवेश करती है :

अब जूरा इन्द्रावति छोरा, भयउ घटा सों चांद अंजोरा।
पैठिहु जब जल भीतर रानी, पानिष पायेउ तारा पानी।
× × ×
मनुतारा भा गगन समानू, भयेउ मयंक समांवह प्रानू।'

सुरज उआ आकास ही, चन्द्र उआ जल मांह।
कुमुद तामरस फूले, दोउ मित्र के पांह। (पृ० ६०)

फाग वर्णन :

उत्सव या त्योहारों का वर्णन भी इन सूफ़ी कवियों ने यथास्थान किया है। नूरमुहम्मद ने फाग का वर्णन अत्यन्त विस्तृत एवं स्वाभाविक रूप से किया है। चांचर का दृश्य उपस्थित करते समय उसमें सहज उल्लास का प्रदर्शन होता है :

आगमपुर कबिलास मझारा, फागुन आइ आनन्द पसारा।
एक दिस पुरुष एक दिस गोरी, हिलमिल गावहिं चांचर जोरी।
डंफ बजावहिं औ मिरदंगू, पिचकारिन सों भयइं सुरंगू।
× × ×
रंग अबीर भरा सब कोई, जो जहां रहा भरा तहां होई। पृ६ ३४।

भारतीय फाग का बड़ा सजीव चित्रण है। अब भी चांचर गाते समय डंफ और म्रिदंग बजाये जाते हैं।

रूप-सौन्दर्य वर्णन :

रूप और प्रेम ही सूफी प्रेमाख्यानों का आधार है। इस कारण प्रसंगवश रूप वर्णन इन आख्यायिकाओं में बहुत रहता है। नायिका का नखशिख वर्णन अधिकांश परम्परा-

मुक्त है। परम्परा से चले आते हुये उपमानों का प्रयोग हुआ है, ऐसे ही स्थलों पर नूरमुहम्मद को प्रकृति के सौंदर्य का ध्यान आता है। इन्द्रावती का सौन्दर्य अलौकिक है। संसार का प्रत्येक कण उसका दर्पण बनाना चाहता है।

मुकुर बने चाहा सब कोई, जामों आइ परै मुख सोई॥

उसके रूप सौन्दर्य की एक झलक तपस्वी के द्वारा सुनकर राजकुंअर जोगी होकर गृह त्यागने को तत्पर हो जाता है।

इन्द्रावती के रूप का वर्णन कई स्थलों पर है। नूरमुहम्मद ने पूर्ण नखशिख वर्णन के अनुसार रूप का वर्णन नहीं किया है। तपस्वी जहां राजा से इन्द्रावती का वर्णन करता है वहां—

'दिर्गन हरा मान मृग केरा, मन लजाइ बन लीन्ह बसेरा।

× × ×

कोमलताइ सुन्दरताई, रसना सों बरन न जाई।'

कहकर चुप रह जाता है। इसी प्रकार फुलवारी में चेना मालिन राजकुंअर से इन्द्रावती के सौन्दर्य की चर्चा करती है

खोलै मुख परभात दिखावै, खोलै केस सांझ होइ आवै।
अस रूपवन्ती सुन्दर आहै, बिनु देखें सब ताहि सराहै।

इसमें इन्द्रावती के परम देवत्व की झलक ही अधिक स्पष्ट है।

राजकुंअर पवन एवं तोते के द्वारा अपना संदेश इंद्रावती के पास भेजता है और उनके पहचान के हेतु इंद्रावती के स्वरूप की चर्चा करता है, तब भी इसी अध्यात्मिक तत्व का परिचय हमें मिलता है। केवल एक ही ऐसा स्थल है जहां मनतारा में स्नान करती हुई इन्द्रावती के रूप सौन्दर्य की प्रशंसा, उसकी सखियां परम्परामुक्त उपमानों के आधार पर करती हैं

'केस कस्तुरी हिदैं फांदू, अहै लिलाट अंजोरा चादू।
अहै भ्रिकुटी धनुक समानू, है बरुनी विसनू कै बानू।
नासिक मनहें कीर बैठो है, बरुक अकार कलानिधि को है।

इस प्रकार के वर्णन में भी कवि तीव्रगति से आगे बढ़ता है और दो तीन दोहों के बाद, उसकी सखियाँ अनावश्यक विस्तार न करके 'सुन्दरता के लच्छन जेते, प्यारी तेरे चेरे तेते' कहकर चुप हो जाती है।

बहुज्ञता :

नूरमुहम्मद ने अपनी बहुज्ञता प्रदर्शन के लिये एक पूरा अध्याय ही विभिन्न रोगों की औषधियों के वर्णन के लिये लिखा है जिससे उनका वैद्यक ज्ञान सिद्ध हो जाता है :—

उपजै देह वाय जर जाको। होइ कम्प जमुहाई ताकौ॥
मोह मरस और मुख कल्लाई। औरो गात्र होइ अधिकाई॥
अभया सोंठ चिरायत कना। सोचर मिर्चहिं चूरन बना॥
मारुत जर यह चूरन हयई। प्रात समै जो भोजन करई॥
तीनि देवस ताई हो प्यारी। देहु न ओषद जानि दुखारी॥
बहुत न सोऊ देवस कंह। थोर न रैन मझार॥
खाहु न उदर भरे पर। पियहु न निस कंह बार॥

अलंकार :

अलंकारों का विधान अधिकांश सादृश्य के आधार पर होता है। इस सादृश्य की योजना भी दो दृष्टियों से की जाती है। प्रथम तो वर्णित विषय के स्वरूप बोध के लिये; दूसरे भावों में तीव्रता लाने के लिये। नूरमुहम्मद ने अधिकांश सादृश्यमूलक अलंकारों का ही प्रयोग किया है। जिस प्रकार जायसी का आग्रह 'उत्प्रेक्षा' अलंकार पर अधिक था, उसी प्रकार नूरमुहम्मद के काव्य में 'उल्लेख' के उदाहरण अधिक मिलते हैं। प्रयुक्त अलंकारों में उपमा, रूपक, उल्लेख, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक, यमक, सन्देह आदि अलंकारों का प्रयोग अधिक हुआ है।

कहीं कहीं विप्रलम्भ शृंगार के अन्तर्गत उपमानों की योजना में कवि फारसी परम्परा से प्रभावित हो गया है एवं रक्त मांस ऐसे उपकरणों की संयोजना उसने की है। राजकुंवर की व्यथा वर्णन करते समय रुधिर के फव्वारे और नेत्रों से प्रवाहित आँसुओं की समता की गई है :—

रकत आँसू आँखिन सों ढारा, नैन भये स्रोनित फौव्वारा।

रति के अन्तर्गत जुगुप्सा ऐसे विरोधी भाव की योजना इन सूफ़ी कवियों ने कहीं कहीं की है।

रूपकातिशयोक्ति :

काहे बिना झकोरा बयारा। पियरो ललित गुलाब तुम्हारा।

सन्देह :

दसन बीज दाड़िम को, की मोती लर होइ।
की हीरा की नषत है, चमक बीज अस सोइ।

व्यतिरेक :

है मनोरमा जगत कर सोई।
है ससि जौ ससि बोलत होई॥

यमक :

जो मरजिया सो भा मरजिया।
मोती लिया दिया भा दीया॥

उपमा :

अर्ध चन्द सम भाल सोहाई।
रेखा तीन दिष्ट मोहिं आई॥

रूपक :

है सारंगी देह हमारी, तार बनो है प्रीत तुम्हारी।
बजत अहै प्रीत को तारा, निसरत तासों नाम तुम्हारा।

तद्रूप :

जोगी भेस न सकों सराही, गोपीचन्द दूसरो आही।

उल्लेख :

एक कहा लट सों मुख सोभा,
हीरा अधिक लखि मुरछा लोभा।
एक कहा लट नागिन कारी,
डसा गरल सों गिरा भिखारी।
एक कहा लट जामिनि होई,
रात जानि जोगी गा सोई।

हेतूत्प्रेक्षा :

इन्द्रावती के तिल का वर्णन उसकी सखियाँ करती हैं, इसी प्रसंग में पहले तो कवि उल्लेख अलंकार के द्वारा इसे स्पष्ट करने का प्रयास करता है, किन्तु अन्त में हेतूत्प्रेक्षा का आश्रय लेकर जो कुछ कहा गया है वह हृदय में घर कर जाता है।

इन्द्रावति दृग लिखन कै, भा विरंच मतवार।
मसि लागउ लेखनी गिरेउ, सोभा भै अधिकार।

भाव-व्यञ्जना :

पात्रों के द्वारा भाव-व्यञ्जना भी बहुत सफल हुई है। हर्ष एवं विषाद भाव की स्पष्ट व्यञ्जना कवि बहार और पतझार शब्द प्रयोग से करता है। इंद्रावती के फुलवारी में आ जाने से उसमें बहार आ गई और उसके प्रयाण करते ही राजकुंवर के लिये मानो वहाँ पतझड़ का साम्राज्य हो गया :—

मोहि लेखें एक पल भर, उपवन भयेउ बहार।
अब देखऊँ फुलवारी, आइ बसेउ पतझार।

इसी प्रकार इन्द्रावती ने जब राजकुंवर का पत्र पाया तो वह अत्यन्त हर्षित हो उठी। उसे इतना हर्ष हुआ मानो स्वयं राजकुंवर से भेंट हो रही हो :—

'पाती पाय नयन मों लावा, आधी भेंट ओहि पल पावा।'

इन्द्रावती को पाने के लिए अनेक राजा प्रणमोती के प्रयास में समुद्र में डूब गये किन्तु उनके लिए इन्द्रावती को तनिक भी शोक नहीं हुआ, उसी इन्द्रावती को राजकुंवर के दर्शन के पश्चात् उसकी कितनी अधिक चिन्ता होती है यह—

मोती काढ़े कारने, बुड़ै न जलधि मझार।
ना तो जोगी के निमित, जाइहि जीउ हमार।

से स्पष्ट हो जाती है।

इसी प्रकार एक उल्लास, हर्ष, आनन्द की भावना को कवि ने बहुत सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है :

इन्द्रावती मन मों हुलसानी, हुलसे कुच कंचुकि संकरानी।
मुख पर छवि बाढ़ी अधिकाई, गइ पियराइ भई ललताई।
भयेउ परमद परमद भेषा, गै दुख भै सुख जै मुख देखा।

भाषा :

नूरमुहम्मद की भाषा मिली जुली अवधी भाषा है जिसमें व्रजभाषा के शब्दों का भी पुट है। 'इन्द्रावती' ग्रन्थ की भाषा 'अनुरागबाँसुरी' की अपेक्षा सरल एवं स्वाभाविक है। नित्य बोलचाल की भाषा में वह प्रवाह हैजिसके लिये कवि प्रयास अपेक्षित नहीं। कथा की गति ऐसी सरल भाषा के माध्यम से के सहज हो गई है :

तात भई इन्द्रवति छाती, रातहिं लिखा कुंवर कंह पाती।
सुखी न जानेउ कोइ अनुरागी, है उद्वेग व्याध मोहि लागी।

गा घिचेच यह जीउ हमारा, बन्द तोहार बन्द मों डारा।
है एक मानुष मित्र पिता को, क्रीपा राय नाम है ताको।
सुध तोहार किरपा जो पावै, तो दयाल होइ बंद छोड़ावै।

अन्य कवियों की अपेक्षा नूरमुहम्मद ने कहावतों एवं मुहाविरों का प्रयोग प्रचुरता से किया है जिनसे भाव अधिक स्पष्ट हो सका है तथा साथ ही भाषा भी सजीव हो गई है :

सुख सम्पत सब दीन्हा दाता, मारु न छीर भात मों लाता।

× × ×

रहै न एकौ अंत कँह, नारंग दाड़िम दाख।
देवस चार की चाँदनी, फिर अँधियारो पाख॥

× × ×

पट बाहर जेइ पांव पसारा, जाड़ा कठिन अन्त तेहि मारा।

× × ×

जाके गोड़ न गई बेवाई, सो का जानै पीर पराई।

× × ×

मनुज हँसी कहि हँसी न होई, जब कुछ होइ हँसै तब कोई।

× × ×

जानि परत राजा स्रवन, परी न है यह बोल।
टीडी दल के त्रास तें, होत दमामों ढोल॥

× × ×

बातहिं हाथी पाइयो, बातहिं हाथी पाव।

इसके अतिरिक्त फ़ारसी के शब्द फौव्वारा, सीना, दिमाग आदि के साथ ही कवि ने स्वयं संज्ञा या विशेषण से क्रिया बनाई हैं जैसे बिरधाहीं, अंदाहीं आदि। कुछ नवीन शब्दों की रचना भी कवि ने की है जैसे काजल से दीपसुत तथा तोते के लिये अरुनतुण्ड आदिक।

कवि की रचना में कुछ पूर्वी प्रयोग भी पाये जाते हैं। इनके निवास स्थान के सम्बंध में जौनपुर एवं आजमगढ़ का जाम आता है। बहुत सम्भव है कि स्थानीय प्रभाव के कारण ऐसे प्रयोग पाये जाते हों :

माला रहा बहुत अनमोला, तैसों जस राजा के होला।

× × ×

तुम सों औ वह धन सों, रहली महा परीत।

इनमें 'रहली' और 'ढोला' दोनों में भोजपुरी का ही प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इसके अतिरिक्त 'पउरा', 'विंचिच' एवं 'दुक्का' ऐसे बोलचाल के शब्द पाये जाते हैं।

छन्द :

इन्द्रावती में पाँच अर्धालियों के बाद एक दोहे का क्रम मिलता है। सम्पूर्ण कथा इसी क्रम से वर्णित है।

स्वभाव-चित्रण :

नूरमुहम्मद ने किसी भी पात्र में विशेष स्वभाव की योजना का प्रयास नहीं किया है। न तो स्वभाव चित्रण के अंतर्गत कवि ने मनुष्य प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय दिया है और न किसी विशेष उद्देश्य से प्रेरित होकर लोगों के स्वभाव का चित्रण किया है। प्रबन्ध काव्य में पात्रों की स्वभाव व्यञ्जना, उनके वचन या कर्म के द्वारा होती है। इन्द्रावती में आदि से अन्त तक रहने वाले पात्रों में इन्द्रावती, राजकुंवर तथा सुन्दर ही हैं। चेता मालिन, बुद्धसेन मन्त्री एवं गुरु गुरुनाथ के अतिरिक्त जगतराय, इन्द्रावती की सखियों आदि के चरित्रों के सम्बन्ध में भी संक्षिप्त सूचना यत्र तत्र प्राप्त हो जाती है।

इन पात्रों की किसी व्यक्तिगत विशेषता का परिचव कवि नहीं देता; इन्द्रावती और राजकुंवर, राजकुंवर और सुन्दर, प्रेमी और पति-पत्नी के रूप में ही अधिक सम्मुख आते हैं। राजकुंवर का साहस, धैर्य, निश्चयात्मकता एवं कष्टसहिष्णुता उसका व्यक्तिगत लक्षण नहीं है। राजकुंवर एक सच्चे साधक का आदर्श है। इन्द्रावती का सम्पूर्ण चरित्र केवल एक प्रेमिका का चरित्र है।

अन्य प्रसंग :

इन्द्रावती के मध्य कुछ अन्य प्रसंग भी आये हैं जैसे धरोहर 'रक्षा, पतिसेवा, द्रव्यमहिमा, आदि। इनकी योजना भारतीय कवि अधिकांश अपनी आदर्शवादिता के कारण करते रहे हैं। इन्द्रावती में आये हुये कुछ प्रसंग निम्नांकित हैं :

माता-पिता की सेवा :

मात पिता संग करहु भलाई, करता की अज्ञा अस आई।
जो अपने आगे विर्धाहीं, उन्हें बात उह भाखौ नाहीं॥
और न कीजे उन्हें निरासू, उन नित मांगु सरग सुख बासू॥

मित्र-पहिचान :

जो मुख पर ऐगुन कहे, महामित्र है सोइ।

ताको मित्र न जानिये, ऐगुन राखे गोइ।

नूरमुहम्मद की बहुज्ञता :

ये सूफ़ी कवि साधारण जन जीवन में अत्यधिक चाव रखते थे, एवं सभी प्रकार के व्यक्तियों से इनका संसर्ग रहने के कारण काव्यरीतियों के साथ साथ, समाज की परम्पराओं, अंधविश्वासों एवं अन्य क्रियाकलापों का भी ज्ञान इन्हें था। यही कारण है कि इनका काव्य जन जीवन का काव्य है। उसका सम्बन्ध विद्वत-वर्ग से अधिक न होकर लोकजीवन से है। नूरमुहम्मद की इसी विस्तृत जानकारी के सम्बन्ध में यहाँ कुछ कहना अभीष्ट है। जिस प्रकार कवि उसमान ने चित्रावली के अन्तर्गत 'कामशास्त्र' पर एक पृथक अध्याय की रचना की है उसी प्रकार नूरमुहम्मद ने 'औषधि' वर्णन किया है। शुभाशुभ स्वप्न की चर्चा जनसमाज में अत्यधिक रहती है। कवि ने एक स्थल पर इस ओर संकेत किया है। इन्द्रावती जब अपने स्वप्न की चर्चा सखियों से करती है तो नगर में मंगल एवं मस्तक में सिंदूर दान का अर्थ वह यह करती है :

मोहि मन उपजी है डर प्यारी, मरे राजदीपी कोउ नारी।

कया कम है जीऊ भंवर आवधि माह कि भाव।
कोउ सुरलोक सिधारी, मोहि बिचार अस आव।

इसी प्रकार कवि चन्द्र एवं सूर्यग्रहण सम्बन्धी विचार तथा घरेलू दवाओं की एक पूर्ण सूची औषधि खण्ड में संग्रहीत कर देता है।

ग्रहण-विचार :

कहा मेष के बीच पियारी, जो रवि गहन होइ अंधियारी।
अगिन टरे पसु मरे बहूता, घटै सुफल अनपड़े अकूता।
बाढ़े विग्रह मानुष माहीं, मिलन प्रीत रहे कुछ नाहीं।
जो ससि गहन मेष भौं होई, दुख के फांद परे सब कोई।
सिंहासन पति जीत न पावे, तापर जो रिपुता पर आवे।

औषधियों के अन्तर्गत कवि ने वायु, पित्त, कफ, सन्निपात, सीत, स्त्री दुख आदि रोगों की औषधियाँ गिनाई हैं। साथ ही कवि भिन्न राशि के व्यक्तियों को किन रोगों का होना सम्भव है, इसकी चर्चा भी करता है।

अन्य कवियों की अपेक्षा नूरमुहम्मद ने राजधर्म पर भी अपने विचार व्यक्त किये हैं। सूफी प्रेम प्रबंधों में शाहेवक्त की प्रशंसा करने की पद्धति तो है, किंतु शासन या नीति की सराहना के अतिरिक्त, अलोचना कहीं प्राप्त नहीं होती। इसके विपरीत कवि नूरमुहम्मद का राजनीति या राजधर्म पर विचार प्रगट करना व्यक्तिगत निर्भीकता का

परिचायक है। राजा को धर्मानुसार शासन करना चाहिये। धर्म के प्रतिकूल कार्य करने वाले राजा को नरकवास करना पड़ता है :

कहा धरम को रीत संचारे, ना अधरम सों देश उजारे।
असा सिर्जनहार पठावा, धरम करे की बात जनावा।
और यह बात बेद मौं आई, करे समीपी संग भलाई।
निर्प अधर्मी लेखा के दिन, आवे रहे सहायक जन बिन।
बांधा जाइ नरक कुंड माहीं, तहाँ मरीच अंजोरा नाहीं।

मनुष्य को पीड़ा पहुँचाना राजा का कर्तव्य नहीं है, उसे चाहिये कि अपने आश्रितों का ध्यान रक्खे तथा लूट का माल प्रजा जम में लुटा दे। इसके अतिरिक्त भी उसे बहुत दान पुण्य करना चाहिये। राजा प्रजा से इतना ऊंचा न उठ जावे कि उसे दुखी प्रजा की पुकार सुनाई ही न पड़े। चतुरजनों की सम्मति से राज-काज चलाना उसका धर्म है। जिस प्रकार बादल बूंद बूंद करके सागर से जल ग्रहण करता है किंतु देते समय एक साथ ही सभी को संतुष्ट कर देता है उसी प्रकार राजा को भी चाहिये कि वह कर लेते समय किसी पर अधिक भार न डाले किंतु दान करके सबको भरपूर करदे। राजा को मृदुभाषी होना चाहिये। कोमल स्वभाव से कठोर हृदय भी आकर्षित एवं वशीभूत हो जाते हैं। हीरा ऐसे कठोर रत्न को रांगा काट देता है।

उचित नहीं अधरम चित लावे, मानुष गूदा नित्त कढावे।
औ अंकोर पर चित्त न देई, होइके निर्प अंकोर न लेई।

लूट मिले रिपु मारे, लूटहि देइ लुटाइ।
गुपुत देइ बहुतन कंह, तासों आप न खाइ।

उन्नत ठौर न ऐसो सोवे, सुने न सबद दुखी जो रोवे।
लेइ चतुर लोगन की मता, करे धरम बाढ़े जस लता।
अकसर आपन उद्र न भरई, सात पांच संग जेवन करई।
जो जैसो तेहि तैसे राखे, दया बचन सकल सँग भाखे।
बूंद बूंद सागर सों लेई, देत समै बारिद सम देई।
कोमल कहि बस करे कठोरा, हीरा कंह रांगा पै तोरा।

कवि को राजा के इन सब गुणों की अपेक्षा करतार की कृपा का अधिक भरोसा है, वह कहता है कि जिस देश पर उस परमात्मा की कृपा होती है वह वहीं सद्धर्मी राजा भेजता है :

कहा देस में पायहु दसा, है करतार दया सो बसा।
है जेहि देस उपर तेहि दाया, धरमी राजा तहां पठाया।

'इन्द्रावती' ग्रन्थ अपनी इन सभी विशेषताओं के कारण सूफ़ी साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

———

अनुराग बांसुरी

कथासारांश :

मूरतिपुर नामक एक नगर का जीव नामक राजा था जिसके एक मात्र सर्वगुण सम्पन्न पुत्र का नाम अन्तःकरण था। अन्तःकरण के संकल्प और विकल्प नाम के दो साथी थे, इसके अतिरिक्त बुद्धि, चित्त एवं अहंकार नाम के मित्र भी उसके साथी थे। उसकी अत्यन्त सुन्दरी पत्नी का नाम महामोहिनी था। अंतःकरण महामोहनी के सौन्दर्य पर मुग्ध था किंतु एक दिन जब राजकुमार अन्तःकरण ने श्रवण नामक ब्राह्मण के गले में सर्वमंगला नाम की सुन्दरी की मणिमाला देखी और उस पर मुग्ध होकर उसकी प्राप्ति के विषय में पूंछा तो श्रवण नामक ब्राह्मण ने मणिमाला का इतिहास इस प्रकार वर्णित किया।

एक बार श्रवण विद्यापुर नगर गया, वहां ज्ञातस्वाद नामक एक विद्यार्थी से उसकी मित्रता हो गई। यह मणिमाला श्रवण ने ज्ञातस्वाद के गले में देखकर राजकुमार की भांति यही प्रश्न किया था। ज्ञातस्वाद ने बताया कि एक बार वह दर्शनराय राजा के राज्य सनेहनगर गया। राजा की एक मात्र तनया का नाम सर्वमंगला था। वह अत्यंत सुन्दरी एवं विदुषी थी। ज्ञातस्वाद ने एक श्लोक लिखकर उसके समक्ष भेजा जिसके गूढ़ार्थ पर मुग्ध होकर उसने अपनी माला ज्ञातस्वाद को पारितोषिक स्वरूप भिजवा दी। श्रवण ब्राह्मण को वह माला प्रिय होने के करण ज्ञातस्वाद ने उसे भेंट कर दी।

श्रवण ने इस कथा के साथ ही सर्वमंगला के अनुपम सौन्दर्य की भी चर्चा की तथा अन्तःकरण के माला की प्रति प्रेम भाव को देखकर वह माला उसे समर्पित कर दी। मणिमाला को पाकर अन्तःकरण निरंतर सर्वमंगला के ध्यान में रहने लगा। सारे राजकीय ऐश्वर्य तथा अपनी प्रिय पत्नी के प्रति उदासीनता को लक्षित कर राजा जीव ने उसके दुख का कारण पूंछा, किन्तु लज्जा एवं संकोच वश पुत्र ने मौन धारण कर लिया। राजा ने बूझ नामक भेदिया को राजकुमार का सेवक बनकर भेद जानने के हेतु नियुक्त किया। उसने अन्तःकरण की प्रेमव्यथा जानकर राजा को सूचना दी। राजा जीव ने सनेहनगर के मार्ग की विकटता तथा सर्बमंगला के प्राप्ति की असंभावना एवं दोनों परिवारों के मध्य वर्गीय अन्तर को ध्यान में रखते हुये राजकुमार को अपनी चेष्टा से विरत करना चाहा। उन्हें असफल पाकर राजकुमार के मित्र बुद्धि तथा विकल्प ने भी उसे जोगी बनकर सनेहनगर जाने से हतोत्साहित किया, किन्तु राजकुमार, मित्र संकल्प के सत्परामर्श पर, सनेह नगर को प्रस्थान करने के हेतु तत्पर हुआ।

उसी समय संयोगवश वहां सनेहगुरु नामक एक वैरागी तीर्थ-यात्रा करता हुआ

आ पहुंचा। अन्तःकरण भी जिज्ञासा वश, उनके दर्शनार्थ गया जहां युक्ति पूर्वक सनेहगुरु ने अन्तःकरण की उदासीनता का कारण जान लिया।

सनेह गुरु सनेह नगर के ही निवासी थे, उन्होंने भी अंतःकरण को सनेह मार्ग की कठिनाई समझाने का प्रयत्न किया। किन्तु अन्तःकरण को अपने संकल्प पर दृढ़ देखकर उसे प्रेम मार्ग में दीक्षित कर लिया एवं सनेहनगर के मार्ग-प्रदर्शन के हेतु उपदेशी नाम्क एक तोते को साथ कर दिया। अन्तःकरण अपनी पत्नी महामोहनी तथा माता पिता को दुखी छोड़कर उपदेशी के पथ प्रदर्शन में सनेहनगर को चल दिया। कुछ दूर चलने पर उसे दो दक्षिण तथा वाममार्ग मिले। वाममार्ग का परित्याग कर, दक्षिण मार्ग पर चलते हुये, वह इन्द्रियपुर पहुँचा जो अत्यन्त चित्ताकर्षक था। यहां के राजा मायावी ने अंतःकरण को वशीभूत करके वहीं रोकना चाहा तथा कामुकी मनभाविनी नामक दारिका को उसे वशीभूत करने को भेजा। कामुकी ने राजकुमार के साथ विरागिनी बनने की इच्छा प्रकट की। उसने राजकुमार के साथी रूप सनेही, रागसनेही, तथा वास सनेही नामक साथियों को बहका भी लिया किंतु राजकुमार पर उसका कोई प्रभाव न पड़ सका और वह दृढ़तापूर्वक स्नेहमार्ग पर अग्रसर होता गया। अंतःकरण मार्ग में कैई बसेरे करता हुआ तथा परमार्थ विरोधी शक्तियों से लड़ता हुआ आगे बढ़ता गया और अंत में सनेहनगर पहुँच गया एवं वहां की शोभा देखकर मुग्ध होगया।

सनेहनगर में पहुंचकर अंतःकरण ध्यानदेवहरा में बैठकर सर्वमंगला का ध्यान करने लगा। उसकी साधना के परिणाम स्वरूप सर्वमंगला ने एक स्वप्न देखा कि किसी रम्य वाटिका में उस पर एक भ्रमर मंडरा रहा है जो उसके निवारण करने पर भी नहीं मानता। आंख खुलते ही सर्वमंगला के हृदय में प्रेम भावना का बीजारोपण हो गया। एक माह पश्चात् उसने दूसरे स्वप्न में एक सुन्दर वैरागी को ध्यानदेवहरा में बैठकर अपनी मूर्ति की पूजा करते हुये देखा, सर्वमंगला अपने इन स्वप्नों के कारण बेचैन हो उठी। उपयुक्त समय जानकर उपदेशी सुआ सर्वमंगला के पास पहुंचा, एवं सर्वमंगला के हाथ पर बैठकर उसने अन्तःकरण की सारी प्रेमकथा कह सुनाई। अन्तःकरण के रूप और गुण की प्रशंसा सुनकर सर्वमंगला को उसके दर्शन की लालसा हो उठी और उसने अपनी चित्रबंधिनी सखी को उसका चित्र बनाकर लाने के लिए भेजा। सर्वमंगला ने पुनः उसी के द्वारा सुआ के कथानानुसार अपना एक चित्र भी अंतःकरण के पास भेजा। चित्र-दर्शन के अनंतर दोनों में पत्र व्यवहार आरम्भ हो गया। सुआ दोनों के मध्य पत्रवाहक का कार्य करता रहा। सर्वमंगला का भावचित्र पाकर अंतःकरण उसके दर्शनों की इच्छा से महल की ओर गया। संयोगवश सर्वमंगला पलाश के फूल की ओर आकर्षित होकर उसी ओर गई और अंतःकरण उसे देखकर मूर्छित हो गया। सुआ ने अंतःकरण और सर्वमंगला की पहिचान करा दी। सर्वमंगला ने अपने गले की माला राजकुमार के पास भेजवा दी।

मूरतिपुर में अन्तःकरण के पिता ने अपने पुत्र का बहुत समय से कुछ पता न पाकर राजा दर्शनराय के पास अपने पुत्र की प्रेम कहानी तथा उसके प्रति कृपादृष्टि के

लिये लिख भेजा। पत्र पाकर तथा स्नेह गुरु से इसकी सत्यता का समर्थन हो जाने पर, एवं उपदेशी सुआ के मुख से दोनों प्रेमियों के पारस्परिक प्रेम को जानकर दर्शनराय ने दोनों का पाणिग्रहण करवा दिया। उनकी स्वीकृति लेकर अन्तःकरण पत्नी सहित अपने घर लौट आया।

कवि नूरमुहम्मद को जो कुछ भी अपने जीवनवृत्त, गुरुपरम्परा या शाहेवक्त के बारे में कहना था उन्होंने इन्द्रावती में ही कह डाला। अनुरागबाँसुरी के प्रारम्भ में ऐसा ज्ञात होता है कि कवि अपनी हिन्दी में रचित रचनाओं एवं वर्णित हिन्दू कथाओं के अपनाने का कारण स्पष्ट करना चाहता था। अतः पहले इन्हीं समस्याओं की चर्चा करना उचित होगा।

भाषा-समस्या :

जिस समय नूरमुहम्मद ने हिन्दी में अपने काव्य की रचना की, 'भाषा' के सम्बन्ध में धारणा बदल चुकी थी। भाषा का सम्बन्ध निवासस्थान से न रखकर धर्म या मजहब से जोड़ा जाने लगा था। जबान और इस्लाम का साथ हो गया। हिन्दी या 'भाषा' में रचना करना कुफ्र समझा जाता था। नूरमुहम्मद के समय की ही लिखी हुई 'तारीख गरीबी' से भी इस स्थिति पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। तारीख गरीबी में नबियों की वार्ता लिखी हुई है, किन्तु उसकी रचना हिन्दी में होने के कारण धार्मिक व्यक्तियों ने उसकी निन्दा की और 'तारीख गरीबी' के लेखक को अपनी सफाई में बहुत कुछ कहना पड़ा[1]।

किन्तु मजहबी मामलों में उदार चेताओं की कहाँ चलती है। कुछ ऐसी ही परिस्थिति का सामना नूरमुहम्मद को भी करना पड़ा। नूरमुहम्मद ने अपनी 'इन्द्रावती' प्रेमकथा की रचना हिन्दी भाषा में की। 'कामयाब' उपनाम से वे फ़ारसी में भी रचना

---

1. हिन्दी पर ना ताना मोरो, सभी बतावैं हिन्दी मानो।
   यह जो है कुरआन खुदा का, हिन्दी करै बयान सदा का।
   लोगों को जब खोल बतावैं, हिन्दी में कहकर समझावैं।
   जिन लोगों में नबी जो आय, उनकी बोली सों बतलाय।
   हिन्दी मेहदी ने फरमाई, खुंदमीर के मुँह पर आई।
   कई दोहरे साखो बात, बोले खोल मुबारक जात।
   मियाँ मुस्तफा ने भी कहीं और किसी ने फिर क्या रहीं।
   नकल यह बेहदी ने फरमाई, भले जन को राह दिखाई।
   जो सारी बातों को जीव, तुनको भोजन हमको पीव।
   काटा पहनें इका खांय, रावल देवल कभी न जांय।
   इस घर आली याही रीति, पानी चाहें और मसीत।
   (ओरियण्टल कालेज मैगजीन भाग १ नम्बर १९३८)

करते रहे किन्तु मातृभाषा में जिस स्वतंत्रता से विचार प्रदर्शन किया जा सकता है, सम्भवतः उस कुशलता से वे फ़ारसी को न अपना सके और फिर एक नवीन दृष्टिकोण लेकर साहित्य के क्षेत्र में अवतरित हुये। उन्होंने अपनी अनुराग बाँसुरी भाषा में ही लिखी किन्तु अपने उद्देश्य को बहुत स्पष्ट शब्दों में व्यक्त करते हुये। हिन्दी भाषा में रचना करने के कारण उनके मजहबी सिद्धान्तों के बारे में कोई भिन्न धारणा नहीं होनी चाहिये।

जानत है वह सिरजनहारा, जो किछु है मन मरम हमारा।
हिन्दू मग पर पांव न राखेउं, का जो बहुतै हिन्दी भाखेउं।
मन इसलाम मसलकै भाजेउं, दीन जेवरी करकस भाजेउं।
जहाँ रसूल अल्लाह पियारा, उम्मत को मुक्तावन हारा।
तहाँ दूसरो कैसे भावै, अच्छ असुर सुर काज न आवै। (पृ० ८६)

नूरमुहम्मद ने अपने विचारों का स्पष्टीकरण तो कर दिया किन्तु सम्भवतः उन्हें उस समय की भाषा परिस्थिति का ध्यान न आया कि काफ़िरों के प्रेम की चर्चा ही कुफ्र न थी, प्रत्युत उनकी जबान में रचना करना हेय था एवं प्रत्येक को उर्दूये-मुअल्ला को ही बढ़ावा देना था। नूरमुहम्मद के विचारानुसार भाषा के क्षेत्र में केवल फ़ारसी और हिन्दी का ही सङ्घर्ष था और वे इस सङ्घर्ष के पीछे इस्लाम की प्रेरणा ही मुख्य समझते थे, वे कहते हैं कि :

कामयाब कहं कौन जगावा, फिर हिन्दी भाखै पर आवा।
छांड़ि फ़ारसी कन्द नबातैं, अरुझाना हिन्दी रस बातैं।
आगे हिन्दी समुद्र तिराना, भाषा इन्द्रावति जौ जाना।
फेरि कहा नल दमन कहानी, कौन गनावै दूसर बानी। (पृ० ८५)

यहाँ **'कौन गनावै दूसर बानी'** से क्या तात्पर्य है नहीं कहा जा सकता। **नूरमुहम्मद की अरबी,** फ़ारसी रचनाओं के बारे में तो विदित है। सम्भवतः उन्होंने कुछ रचना ब्रजभाषा एवं रेख्ता में भी की है। श्री चन्द्रबली पाण्डेय जी के पास इनकी हस्तलिखित प्रति है जिससे उन्होंने अनुराग बाँसुरी की भूमिका में एक ब्रजभाषा का उदाहरण भी दिया है :

बाछन के तरे झरैं पातन कहैं छांड़ि दीजे,
परे रहैं हम मे वियोगी विरुरायं हैं।
भये बलहीन पनि अङ्ग ह्वै गये हैं सूखि,
झर परे रूख ते शरीर दुख पाये हैं।
कामयाब उनको न जारिये अगिन डारि,
कीजिये न छार ये वियोग ताप ताये हैं।

आये हैं हराये काज मानुस पखेरू कोऊ,
छांह ताकि इनके समीप चलि आये हैं।

दीन का प्रचार :

नूरमुहम्मद की अनुराग बांसुरी पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि आरम्भिक कवियों की उदारता का इस समय अभाव था।

नूरमुहम्मद ने हिन्दी का पक्ष हिन्दी हित की दृष्टि से नहीं लिया। उन्हें दीन-प्रचार अभीष्ट था, और प्रचार का मुख्य साधन 'भाषा' ही थी, अतः 'भाषा' या हिन्दी में उन्होंने अपने काव्य की रचना की और उसमें इसलाम का विधान भी खुलकर किया। उनकी इस धारणा का परिचय इन्द्रावती में भी मिलता है। संतप्त इन्द्रावती, अपने उद्धार के लिए रसूल एवं इस्लाम का आश्रय ग्रहण करती है :—

हौं मैं पाप भरी जग मांहीं, आस मुकुत है किछु नाहीं।
है मोहि नीच दोष जहं नाईं, डरौं करहि केसो जग साईं।
साहस देत परान हमारा, अहै रसूर निवाहन हारा।
निस दिन सुमिर मुहम्मद नाऊँ, जासों मिलै सरग मों ठाऊँ।
(इन्द्रावती) पृष्ठ ६५।

अनुराग बांसुरी में तो यह प्रयास और भी स्पष्ट हुआ है, यद्यपि नूरमुहम्मद अपनी इस अनुराग बांसुरी की चर्चा इस प्रकार करते हैं :—

यह सनेह की बातै नीको, है अनुराग बाँसुरी जी को।
है पुनि सरब मंगला सोई, सर्व मंगला रागिनि होई।
कामयाब किछु और न भाखा, तन मन जीव भेद सब राखा।
परगट राजा रानी बोला, वे गुप्तार्थ दुवारा खोला।
जा कर नैन गुपुत कर होई, महा अरथ मुख देखै सोई।
तन मन जिय के भेद पियारे, पट महँ भाखे भाखन हारे। पृष्ठ ८७।

लेकिन इसी के आगे सम्भवतः वे अपने गुप्तार्थ को इस प्रकार प्रकट करते हैं कि जो कोई इस बांसुरी की ध्वनि को सुन लेता है, वह अचेत हो जाता है यहाँ तक कि मुरलीधर कृष्ण भी इसकी ध्वनि पर मोहित हो जाते हैं। यह इसलाम की बोली है, जिससे मूर्तियों का चित्त हरण हो जाता है और वे औंधी गिर जाती हैं। इसके सामने किसी प्रकार के पूजापाठ भी नहीं चलते। यह काफ़िरों को मुस्लिम बना देती है, इसके मधुभरे मीठे शब्द मन्दिरों को गिरा देते हैं और शंखनाद आदि पूजा विधियों को मिटा देते हैं, इन्हीं विचारों की प्रतीक ये पंक्तियाँ हैं :—

सुनते जो यह शब्द मनोहर, होत अचेत कृष्न मुरलीधर।
यह मुहम्मदी जन की बोली, जानों कह न बाते घोली।

बहुत देवता को चित हरै, वह मूरति औंधी ह्वै परै।
बहुत देवहरा ढाहि गिरावै, संखवाद की रीति मिटावै। पृष्ठ ८८।

और साथ ही उनका कथन है कि गोपियों को विमोहित करने वाली वंशी अब इस संसार में नहीं है। इस वंशी की ध्वनि को सुनकर तो माधव रूपी जीव भी विमोहित हो जाता है :—

कृष्ण बांसुरी मोही गोपी, अब वह वंशी गई अलोपी।
यह बांसुरी सबद मुनि मोहै, पंडित सिद्ध जगत में जोहैं।
कामयाव बांसुरी बजावैं, माधव जीव सुनै नित पावैं। पृष्ठ ६०।

इस प्रकार नूरमुहम्मद ने अपनी धर्मकथा कहने के पूर्व ही परधर्म के अधिष्ठाताओं को अपने प्रभावान्तरगत बताने का प्रयास किया है।

नूरमुहम्मद ने इस्लामी भावनाओं को हिन्दू घर में फलने फूलने का स्वप्न देखा। सूफी 'बुत परस्ती' से दूर नहीं भागते, किन्तु नूरमुहम्मद की बुत परस्ती का आशय ही कुछ और है। वह शंखवाद मिटाकर उसके स्थान पर चलती फिरती छाया को पुजाना चाहता है जिसमें वह परमसत्ता अपने स्वरूप का आभास दिखा रहा है। उनका साधक अन्तःकरण, न तो हिन्दू है और न मुसलमान। किंतु जिस उपासना में वह लीन है वह पूर्ण इस्लामी है। जिस देवहरा में बैठ कर वह पूजा करता है वह 'ध्यान देवहरा' है, वहाँ कोई मूर्ति नहीं केवल परममूर्ति का ध्यान है जिसके सम्मुख बड़े बड़े देवता भी सिर झुका देते हैं :

निस दिन तहाँ अमूरत पूजा, मूरति नाहीं देवता दूजा।
जहाँ अमूरत पूजा करैं, तहाँ देवता माथा धरैं।
कहूँ परै रागी वैरागी, सन्यासी जोगी अनुरागी।

जाइ देवहरा द्वारे, सीस नवाई।
सुमिरै अलख असूरत, ध्यान लगाई॥ पृष्ठ १३८।

केवल सिर झुकाकर अलख असूरत का ध्यान शिया सम्प्रदाय में मान्य इस्लामी मस्जिद पूजा है।

इसी प्रकार सर्वमंगला का वर्णन करते समय कवि ने उसे मुसलमान रमणी की भाँति ही लज्जाशील बनाया है वह उद्यान में नहीं जाती एवं अपना चित्र खिंचवाते समय बाधा उपस्थित करती है जिससे इस्लामी समाज का दृश्य सम्मुख आता है। इसी प्रकार नूरमुहम्मद मंदिर में भीति चूमने की प्रथा का उल्लेख करते हैं जैसे :—

मंदिर दिस्टि परै जब लागा, सोवत प्रेम हिरद सें जागा।
सुमिरि प्रियतमा सुंदरताई, सब मंदिर दिसि सीस नवाई।

ध्यान बीच भीतिन को लीन्हा, सब भीतिन को जोनै दीन्हा ।

मंदिर भीतिन्ह चूंबा, प्रेम समान ।
चूंबा मंदिर भीतर जेहि अस्थान ॥ पृष्ठ १३६ ।

इन पंक्तियों के पढ़ते ही काबा के 'संग असवद' को चूमने की प्रथा का दृश्य सम्मुख आ जाता है। इसी प्रकार नूरमुहम्मद ने कथाव्याज से अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहा है।

औहि उत्तम के सुमिरे, सुमिरा जाउं।
जग के पत्र रहै नित मेरौ नाऊं ॥

प्रेम-पद्धति :

अन्तःकरण की सरबमंगला के प्रति प्रेम-भावना, रूप-गुणश्रवण से जाग्रत होती है। अन्तःकरण ने 'सरवन' ब्राह्मण की बहुमूल्य एवं सुन्दर मोती माला के सम्बंध में जिज्ञासा प्रदर्शित की। माला को देखते ही अन्तःकरण का मन कुछ और ही हो गया था :—

काहू टोना फूंक पठायहु, याते देखत हिरदय आएउ ।
मन मेरो औरै होइ गएउ, जानहु प्रीति फांद मंह भएऊ ॥ पृ० १०० ।

सरबमंगला के रूप गुण की चर्चा सुनते ही अन्तःकरण प्रेम बावला हो गया :—

मानहुँ पढ़ा कांवरू टोना, भा बाउर वह कुंवर सलोना ।
मनु नरसिंही मन्त्र जगाया, पढ़ा कुंवर पर चेत भुलाया ॥ पृ० १०१ ।

× × ×

सरबमंगला हिएं समानी, भूला अन्न पान औ पानी ॥
भूला तत्व बिछाव रंगीला, भूला राग मोद नृत लीला ॥ पृ० ११० ।

सरबमंगला के हृदय में अज्ञान रूप से अन्तःकरण के प्रति प्रेम भावना का उदय स्वप्न में हुआ। अन्तःकरण गुरू सेवा के साथ जब ध्यान देवहरा में बैठकर एकाग्रचित्त से सरबमंगला का ध्यान करने लगा तब उसकी प्रेमभावना का प्रभाव सरबमंगला के ऊपर भी पड़ा। सरबमंगला ने स्वप्न में अपने ऊपर हठ पूर्वक एक भ्रमर को गूंजते हुये देखा, निवारण करने पर भी जो दूर नहीं हटता था। उस स्वप्न को देखते ही सरबमंगला चिंतित हो गई, एक मास पश्चात् फिर स्वप्न में उसने एक वैरागी को कृपादृष्टि एवं दर्शन की याचना करते हुये देखा। सरबमंगला का यह पूर्वराग, तोते से अन्तःकरण के सम्बंध में जानकर और पुष्ट हो गया। इसके पश्चात् क्रमशः चित्र दर्शन के द्वारा प्रेम दृढ़तर होता गया और कुंवर अन्तःकरण का परिचय पाकर दोनों का पाणिग्रहण हो गया।

कथा-रूपक :

कवि नूरमुहम्मद ने 'इन्द्रावती' ग्रन्थ में कुछ पात्रों एवं स्थानों का नामकरण ऐसा किया था जो उनके उद्देश्य को स्पष्ट करता था किन्तु 'अनुराग बांसुरी' में प्रत्येक पात्र एवं स्थान का नाम विशेष अर्थ व्यञ्जित करता है, श्री चन्द्रवली पाण्डे ने 'अनुराग बांसुरी' को धर्मकथा माना है क्योंकि उनके विचार से उसमें काम का जो वर्णन किया गया है वह सूफ़ी धर्म के नाते कुछ वासना के कारण नहीं। अन्य सूफ़ी प्रेम कथाओं में काम-शास्त्र का परिचय दिया गया है और लोक व्यवहार को ब्योरे के साथ बताया गया है वहां 'अनुराग बांसुरी' में यह सब कुछ नहीं है।

इसका प्रधान कारण यही है कि कवि की दृष्टि यहां लोक पर नहीं वरन् इसलाम पर ही है। जिसका अर्थ यह हुआ कि वास्तव में 'अनुराग बांसुरी' शुद्ध धर्मकथा है अन्य कथा नहीं[1]।

मूरतिपुर नामक नगर और कुछ नहीं काया ही है जिसका स्वामी जीव है। जीव का एक मात्र आधार या प्रिय पुत्र अन्तःकरण है जिसकी दो प्रधान प्रवृत्तियां संकल्प एवं विकल्प उसके दो मित्र हैं इनके अतिरिक्त मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार भी उसके साथी हैं उसका सहज आकर्षण अविद्या माया या अपनी पत्नी महामोहिनी के प्रति है किन्तु अन्तःकरण के जीवन का लक्ष्य सनेहनगर के स्वामी दर्शनराय की पुत्री सरबमंगला की प्राप्ति है। दर्शनराय महाप्रभु (अल्लाह) या परमेश्वर स्वरूप हैं और उनकी पुत्री सरबमंगला प्रेमी सूफ़ियों की रागिनी है। इस रागिनी का परिचय अन्तःकरण को श्रवण के द्वारा मिलता है। 'बूझ' ने कुंवर का भेद बताया किंतु 'बुद्धि' ने अंतःकरण को साहस एवं उत्साह दिलाया, अंतःकरण स्नेहगुरू का शरणागत होकर उपदेशी सुवा की सहायता से अभीष्ट लक्ष्य तक पहुँच सका। मार्ग में आने वाले विघ्नों में, कामुकी मनभावनी रूपसनेही, रंगसनेही एवं बाससनेही आदि हैं। ध्यान देवहरा में एकाग्रचित्त होकर सरबमंगला का ध्यान करने से ही सिद्धि प्राप्त हो सकी।

इन सभी नामों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि ने अपनी धर्मकथा के स्पष्टीकरण के हेतु ही इन नामों को रक्खा है; सम्पूर्ण कथा एक रूपक है।

रस :

रस की दृष्टि से यदि देखा जाय तो 'अनुराग बांसुरी' में शृङ्गार रस का प्राधान्य है। इसके साथ ही शांत एवं करुण रस का उल्लेख तो होता है किंतु उनका पूर्ण परिपाक नहीं हो सका।

---

१. अनुराग बांसुरी : काव्य चर्चा सम्पादक चन्द्रबली पाण्डेय पृष्ठ २५

नूर मुहम्मद ने संयोग शृङ्गार का वर्णन नहीं किया है। महामोहिनी को पति वियोग का दुख है। मनभाविनी की कला अन्तःकरण पर नहीं चली। सर्वमङ्गला अंतःकरण की हो जाती है किंतु गृहस्थ रूप में दृष्टिगोचर नहीं होती। महामोहिनी का वियोग, अंतःकरण का संताप एवं सरबमंगला की वियोगमूलक आतुरता ही सर्वत्र व्याप्त है। इन सब की विरहकथा से प्रकृति को भी सहानुभूति है।

समदन समय विरछ दल झरे, झरे रसा ऊपर फल परे।
उनै परीं करुना से डारी, कली पुहुप के कापर फारी ॥ पृ० १२७।

नगर निवासियों ने कुंवर के वियोग में आंसू की नदियां बहा दीं :—

अंग अंग सब व्याकुल परन वियोग।
आंसू नदी बहवा, पत्तन लोग। पृ० १२६।

इसके अतिरिक्त 'वात्सल्य रस' का भी किंचित उल्लेख मिलता है जब माता पिता की ममता व्याकुल होकर कुंवर के प्रस्थान पर अश्रु प्रवाह करती है :—

माता रोइ नैन जल ढारा, बिछुरत अंतःकरण पियारा।
रोइ रोइ बहुतै समुझाया, पै सुत हिए न उपजै दाया।

तथा

निश्चय पुत्र गवन जब देखा, भा विसमादी जनक सरेखा। पृ० १२३।

छन्द :

छंद व्यवस्था की दृष्टि से अनुराग बांसुरी में ३ चौपाई या ६ अर्द्धालियों के बाद एक बरवै का प्रयोग किया गया है।

भाषा :

अनुराग बांसुरी की भाषा अवधी है। भाषा शास्त्री श्री चन्द्रवली पाण्डेय जी का कथन है कि कवि ने भाषा की शुद्धता पर तनिक भी ध्यान न दिया और अपनी रचना में ब्रज, खड़ी और अवधी का घपला कर दिया, फिर भी उनकी रचना का ढांचा अवधी ही है। ब्रज और नागरी भी अब तूरानियों के मुंह में जाकर 'उर्दू जबान' बन चुकी थी। निदान उनका भी समावेश नूर मुहम्मद की अपनी भाषा में हो गया और अनुराग बांसुरी सचमुच 'भाषा विचार युग' की खिचड़ी भाषा बन गई।

नूर मुहम्मद की भाषा को संस्कृतनिष्ठ हिन्दी कहा जा सकता है। इनकी भाषा में संस्कृत के बहुत से ऐसे शब्दों का भी प्रयोग है जो सहज ही प्रयुक्त नहीं होते हैं।

नखशिख वर्णन :

सूफ़ी काव्य का सिद्धान्त है 'जहां रूप तंह प्रेम'। अतः रूप की चर्चा सूफ़ी काव्य में यथेष्ट रहती है। अनुराग बांसुरी में सरवमंगला के रूप सौन्दर्य की चर्चा तीन स्थलों पर होती है। सर्वप्रथम ज्ञातस्वाद सरवमंगला का रूप वर्णन श्रवण को सुनाता है। दोनों ही विद्यार्थी हैं, अतः उनके मध्य रूप वर्णन की चर्चा भी शास्त्रीय स्वरूप धारण कर लेती है। एक उदाहरण इस कथन की पुष्टि कर देगा :—

स्तन जमल दाडिम फल सोहै, कै बुल्ला गंगाजल को है।
कटि अति सात चिहुर की नाईं, नाहीं है कीन्हा जगसाईं।
जो कोउ नाहीं देखन चहै, ता कटि देखे नाहीं अहै।
उरू जमल कनक के खम्भा के पदवारिज ऊपर रंभा।
रंभा कंज ऊपर कित होईं, इहां देखिये लागा सोईं॥ पृ० ६८।

श्रवण विद्यार्थी ने इसी रूप की चर्चा फिर अन्तःकरण से की, वहां भी सरवमंगला के सौन्दर्य की यही शास्त्रीय छटा विद्यमान है। सनेहगुरु ने सरवमंगला के रूप की चर्चा सरल शब्दों में की है क्योंकि सरबमंगला के रूपाकार को अन्तःकरण को हृदयंगम कराना उनका उद्देश्य था वे कहते हैं :—

सरबमंगला कमल समानू, मकरंदी तेहि ऊपर भानू।
औहि प्यारी पद पद्म परागू, नैन परान अंजन अनुरागू।
जहां रूप की चर्चा करैं चित्त बीच ता मूरति धरैं।
जहां लाल मोती गुन गावैं, ताके अधर दसन चित लावैं। पृ० ११४।

सरबमंगला की चित्रबन्धिनी सखी उसके समान चित्र बना सकने में असमर्थ थी अतः रूप सौन्दर्य के जितने भी उपमान हो सकते हैं उन सबों को एकत्र करके वह सरबमंगला का चित्र बनाती है :—

ध्यान मिरिगमद ऊपर लाएउ, तब प्यारी को अलक वनाएउ।
कमल मीन मृग खंजन तारे, चित्त आनि के नयन संवारे।
सुमिर सुवा को मूरति नीको, लिखा नासिका ओहि रमनी को।
ललित स्याम सित सुमिरि छबीली, रंग भरा तेहि कीन्ह रंगीली॥ पृ० १६६।

वास्तव में रूप वही है जो नित्य नवीन ज्ञात हो 'क्षणे क्षणे यन्नवतां उपैति तदैव रूपं रमणीयतायाः' अतः सरवमंगला के रूप की कई प्रकार से चर्चा उचित है। रूप दर्शन से तृप्ति होनी कब है :—

रूप आइ आंखिन मौं हृदै समाइ।
हिएं समाने प्रेमी, कहां अघाइ।

प्रकृति वर्णन :

नूर मुहम्मद ने उद्दीपन की दृष्टि से प्रकृति वर्णन भी किया है। एक स्थल पर बाटिका का वर्णन भी आता है किन्तु वह फुलवारी का वर्णन मात्र ही है, अधिक कुछ नहीं :—

सब मन भावन प्यारी प्यारी, प्यारी प्यारी मन फुलवारी ॥
मन फुलवारी चहु' दिस फूली, फूली, फुलवारी जेहि भूली ॥
भूली देखि उरबसी गौरी, गौरी भई प्रेम सों बौरी ॥ पृ० ६८।

उद्दीपन के रूप में कवि ने बसंत ऋतु का वर्णन किया है किन्तु उसमें सौंदर्य न होकर चमत्कार अधिक है :—

फूला देख सुलच्छन लाला, बूझा भरा रक्त सो प्याला।
कहा अरे लाला अनुरागी, श्रोनित तिय पीयसि केहि लागी।
केहि सनेह के दगध अपारा, लांछन तोहि हिरदय में डारा।
चंपा पील रंग लखि वेही, कहै पीत किन कीन्हा तोही। पृ० १२२।

कहीं कहीं अप्रस्तुत विधान में प्रकृति के उपकरणों का प्रयोग हुआ है जैसे :

सुनिकै सुआ बचन वह रानी, कली समां मुद सो बिगसानी।
देह सुमन सी पुलकित भयऊ, बचन सकेत अंग होइ गयऊ। पृ० १५२।

हर्ष एवं उत्फुल्लता की पूर्ण अभिव्यक्ति कली के सदृश खिलने में हो जाती है। सुमन शब्द का प्रयोग भी सार्थक है।

इसके अतिरिक्त अनुराग बांसुरी में कई स्थल ऐसे हैं जो केवल कवि की बहुज्ञता का परिचय देते हैं जैसे नायिकाओं एवं विरह की कुछ स्थितियों की चर्चा है।

परा कुंवर उद्वेग मझारा, भा मन मनहुँ आग पर पारा।

उन्माद और जड़ता, औ परलाप।
पल पल आह दिखावै, ताको दाप। पृ० १४४।

इसी प्रकार नायिका भेद में स्वाधीनपतिका, रूपपगर्विता और प्रेमगर्विता की चर्चा है :—

रूपगर्व राखै धन जोई, जानहु रूपगर्विता सोई ॥

तथा

प्रिय के प्रेम गर्व जो राखै, कवि तेहि प्रेमगर्विता भाखै ॥" । पृ० ६३।

इसी प्रकार एक स्थल पर कवि ने स्वप्न, तथा मनोविज्ञान को स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

स्वाप आप नहि राखत काया, है वहजाग लोक की छाया।
स्वाप नगर मो है परिछाहीं, काया मूल तहां है नाहीं।। पृ० १४३।

यद्यपि 'अनुराग बाँसुरी' में कवि का ध्यान 'लोकतत्व' की ओर अधिक नहीं है फिर भी माता पिता की सेवा, गुरु धर्म, लज्जा एवं सौन्दर्य नारी की गृह सीमा, ससंगति, विदेश गमन, भाग्य वादिता आदि विषयों पर कवि ने अपने विचार प्रकट किये हैं।[1]

अपनी इन विशेषताओं के साथ 'अनुराग बांसुरी' प्रमुखतः एक धर्म कथा है।

---

१. कहा सनेह गुरू वैरागी, तीरथ कारन भा अनुरागी।।
गुरू का धरम दान व्रत चरना, धरम तीरथ को करना।। पृ० ५४।

जेहि मग पुरुष लोग चलि हारे, तेहि मग बाम न गवनै पारे।
प्रीतम पंथ को धूरि कपूरू, जिव दृग अंजन है वह चूरू।।
ओहि रज आदर नित है रामा, चाहै सीस चरन का ठामा।।
दारा लजवन्ती जो होई, रहे सलज मन्दिर मो सोई। पृ० १२५।

संग भले का सुख उपजावै, लाभ अनेक हाथ मो आवै।
संघत को है बड़ों सुभाऊ, अभैल अभल भलै भल चाऊ।। पृ० ११६।

जनम भूमि मो जब लगि कोई, तब लगि गुनी विदग्ध न होई।
सुमन तोहि जब नागर आवै, उन्नति ठौर पाग तब पावै।। पृ० १०५।

लिखा जो है करता को सोई हो, जनमपत्र का आखर जात न धोई।। पृ० १५२।

सुन्दर मुख की आंखिन चाही लाज।
लाज बिना सुन्दरता कौने काज।। पृ० १६५

पुहुपावती

(कवि हुसेनअली कृत)

पुहुपावती ग्रन्थ के रचयिता का नाम हुसेनअली है। ग्रन्थ में उसने अपना उपनाम सदानंद रक्खा है। कवि अपना निवासस्थान 'हरिगाँव' बताता है। कन्नौज निवासी केशवलाल कवि के काव्य गुरु थे।

कवि स्वभाव से अत्यंत विनम्र है तथा अपनी त्रुटियों के लिए क्षमा चाहता है।

कथा का रचनाकाल सम्भवतः हि० सन् ११३८ है। ग्रंथ पुहुपावती से कवि के जीवन से सम्बधित इतना ही ज्ञात होता है।[1]

कथा सारांश :

लालसाहि का पुत्र मानिक चंद काशीपुर का राजा था, वह शासन एवं न्याय में लालसाहि से भी योग्य प्रमाणित हुआ। उसके शासनकाल में काशीपुर सिंहल के समान ही वैभवपूर्ण हो गया। एक बार विजय दशहरा के दिन राजा अपनी राजसभा में बैठा हुआ अन्य राजाओं से भेंट ले रहा था तथा गुणज्ञ विद्वानों को दान दे रहा था तभी राजा ने पद्मिनी स्त्रियों की चर्चा चलाई। वर्तालाप के मध्य रत्नसेन एवं पद्मावती की प्रेम-चर्चा भी आई, सभी को पद्मिनी स्त्रियों की स्थिति में शंका हुई तभी एक विप्र राजदरबार में आया और उसने यह बताया कि जम्बूद्वीप में पद्मिनी स्त्रियां नहीं होती उनका उत्पत्ति स्थान केवल सिंहलद्वीप में है। विप्र की इस वार्ता को सुनकर एक भाटिन ने राजाज्ञा लेकर कहना आरम्भ किया कि यद्यपि अभी तक सिंहलद्वीप में ही पद्मिनी

---

१. हुसेन अली कवि से यह जाती, करी कथा बिनवें बहु भांती॥
वासक ठाँव कहौं हरि नाऊं धरौ. सदानन्द कवि निजु नाऊं॥
केशवलाल कैना के वासी काविवेद दे बुद्धि प्रकासी॥
बिन पर भारी मोट उठाई, बिनवों गुनीं सकल सिर नाई॥
दे तनु टेक सुमोट संभारौ, निज बल बुधि यह कथा विचारौ॥
चूक परे तंह दोष न लावहु, करि कृपा तुम और बुझावहु॥
चूक संभारत है बड़ गुनी,. गर्वी केरि रम्म मति हनी॥
हों अजान कछु कहै न जन्यो, पर चोरी यह कथा बखायो॥
ग्यारह से अरतिस सनी, पुहुपावती कथा तब भनी॥

नारियों की उत्पत्ति सुनी जाती थी किन्तु मैंने जम्बूद्वीप में रूप-नगर के नरेश पद्मसेन एवं रानी कौशिल्या की पुत्री पुहुपावती को देखा है जो ऐसी ही पद्मिनी है। भाटिन ने पुहुपावती के सौन्दर्य का वर्णन किया जिसे सुनकर राजा पुहुपावती के बारे में अधिक वृत्तान्त जानने को उत्सुक हो गया। उसने भाटिन से स्पष्ट पूछा कि पुहुपावती विवाहित है या अविवाहित क्योंकि यदि वह अविवाहित है तो राजा उससे विवाह करने का इच्छुक था। भाटिन ने पुहुपावती को अविवाहित बताया।

इसके बाद कुछ पृष्ठ अनुपलब्ध हैं फिर कथा आरम्भ होती है कि एक चित्र बेचने वाली पुहुपावती के पास चित्र बेचने आई। अनुमान होता है कि मानिकचंद ने अपनी दूती द्वारा ही चित्र बनाकर पुहुपावती के पास भेजा होगा। पुहुपावती मानिकचंद का चित्र देखकर मुग्ध हो गई और उसने भाटिन को अच्छी चित्रकार समझ कर अपने पास रख लिया। मानिकचंद के चित्र को देख देखकर पुहुपावती काम पीड़ित हो गई। एक दिन तीज को सूरज कुण्ड में स्नान करने गई और वहीं श्री चतुर्भुज जी के मन्दिर में जाकर चित्र के समान ही सुंदर वर पाने की अभिलाषा प्रकट की। मंदिर से लौट कर रात्रि में फिर ऐसी ही इच्छा करके वह सो गई और स्वप्न में उसने मानिकचंद को देखा जिसने बताया कि वह भी पुहुपावती के प्रेम में उसी प्रकार दुखी है जिस प्रकार पुहुपावती उसके बियोग में। एकाएक नींद उचट जाने से पुहुपावती अत्यंत विकल हो गई और उसने चित्र बनाने वाली (भाटिन) को बुलाकर पूछा कि यदि वह अपने बनाये हुये चित्र का आधार नहीं बता पायेगी तो वह सफल चित्रकार नहीं मानी जायगी तथा यह समझा जायगा कि उसने या तो इन चित्रों की चोरी की है या किसी दूसरे से बनवाये हैं। चित्र बनाने वाली ने अपनी निर्दोषिता प्रकट की। इसके बाद फिर प्रति खण्डित है और जहाँ से आरम्भ होती है वहाँ अति वियोग के बाद पुहुपावती को मानिकचद की प्राप्ति हो जाती है और कुछ दिनों के बाद अपने मित्र एवं मंत्री कामसेन के परामर्श से मानिकचंद ने पुहुपावती की विदा का प्रस्ताव रक्खा। पुहुपावती ने श्री चुतुर्भुज का पूजन कर अपना वचन निभाया और मानिकचंद उसको विदा कराकर स्वदेश पहुँचा। कालान्तर में उसके देवीनाथ नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। यहीं प्रति समाप्त हो जाती है, प्रति खण्डित है।

कथासंगठन :

यह कथा शुद्ध प्रेमाख्यान है, अन्य सूफ़ी प्रेमाख्यानों की भाँति इसमें विरोधी तत्व नहीं हैं। नायक एवं नायिका के मिलने में किसी प्रकार की बाधा नहीं है। कथा के आरम्भिक पृष्ठ नहीं हैं, अतएव निर्गुण परमात्मा, मुहम्मद, चारमीत एवं शाहेवक़्त की प्रशंसा प्राप्त नहीं होती। ग्रंथ की प्रति अपूर्ण है अतः कथा के अंत के सम्बन्ध में भी कुछ स्पष्ट नहीं कहा जा सकता किंतु प्राप्त प्रतिलिपिसुखांत ही है। यह कथा भी 'यूसुफ जुलेखा' की भाँति शुद्ध प्रेमाख्यान पद्धति में आती है।

दुखहरन दास कृत 'पुहुपावती' की कथावस्तु से प्राप्त कथा पुहुपावती की कथा सर्वथा

भिन्न है। दुखहरन की कथा में राजपुर के परजापति के पुत्र और अनूपगढ़ के राजा अम्बरसेन की पुत्री पुहुपावती की प्रेमकथा का वर्णन है जिसमें विरोधी तत्वों का प्राचुर्य है।

प्रेमपद्धति :

प्रेम का आरम्भ कवि ने गुण श्रवण के द्वारा कराया है। भाटिन के द्वारा पुहुपावती का प्रेमारम्भ चित्रदर्शन से होता है। मानिकचन्द के चित्र को देखकर वह विमुग्ध हो जाती है।

मानिकचन्द के प्रेम का विकास ग्रंथ में उपलब्ध नहीं होता है। उसके चित्र को देखकर पुहुपावती की क्या मनोदशा हुई इसका वर्णन भी ग्रन्थ में अधिक नहीं है किंतु सुन्दर चित्र को देख कर वह आश्चर्यचकित रह गई और उसने सोचा कि जिसका चित्र ही इतना सुन्दर है वह स्वयं कितना सुन्दर होगा।

दुहुँ कस होहि सुंदर सोई, अस रूपवंत जाहि बस होई।

उसके चित्र को देख देख कर पुहुपावती में काम जाग्रत हुआ :

लखि लखि चित्र काम तन जागा, ह्वै मनु विवस चित्र रंग रागा।
लग्यो अनुद मद सुधि न रही, छकि छकि चित्र सुआसव वही॥

बढ़ी पीर तन लागे बाना, मरह मलाजन तहाँ वसाना।
सामग्री सो चित्रहि पाई, भा उद्दीप काम तन आई॥
अंक भरै सो चित्रहि बाला, चुम्बन करै काम तन पाला।
अब लौं के निसु दिनु नहि सोई, कै परिरम्भ नींद निजु खोई॥

इस प्रकार पुहुपावती की कामोत्तेजना का वर्णन ही इन काम चेष्टाओं में अधिक मिलता है।

रस :

ग्रंथ में केवल शृंगार रस उपलब्ध होता है, इसके दोनों पक्षों संयोग और वियोग का रूढ़िगत वर्णन है, उसमें मन रमाने की शक्ति कम है। कवि ने वियोग वर्णन एवं संयोग वर्णन नाम देकर इन दोनों का वर्णन पृथक पृथक किया है किंतु कहीं भी सहृदयता का परिचय वह नहीं दे पाता है। विरह की दशाओं, अवस्थाओं एवं स्थितियों का कहीं निर्देश नहीं है केवल विरह में प्रेमियों पर क्या बीतती है इसका वर्णन मात्र है।

वियोग :

यद्यपि पुहुप समध सुठि सोई, तदपि न मनुता मधुपद कोई ।
जद्यपि आपु चहै मन भरा, कैसे भरे नेहु अधिकारा ॥
जद्यपि मधुप पुहुप महँ बसै, पै न अघाइ वहै रस रसै ।
चित सीस मरि धर्‌यो ठंढाई, सहब सो आगि कहाँ सियराई ॥

संयोग :

संयोग वर्णन अश्लील नहीं है किंतु उसमें आनन्द-संचार की क्षमता भी नहीं है केवल काव्य चमत्कार है, अनुप्रास की छटा है :

विरह विदग्ध जो परे फफोला, ह्वै उस लसै अंगूर अमोला ।
तेइ गजक जनु करहिं बनाई, सीत संजोग ज दये नसाई ॥
छकि मदमाह भये सतगारे, गये उघरि घट लाज के वारे ।
हँसि हँसि हैरत मद मतमाते, बलकि बलकि मुख निकसहि बातै ।
बोलत बचन ललक लिपटाहीं, मातै नैनन फिरहिं फिराहीं ॥
निपटि लजीली नवल सुरबाला, हँसि हँसि भुकै हिए मदपाला ॥
छाके मद छबि परै न छाकू, अस मद पियो न हरै विपाकू ॥

एक स्थल पर कवि ने मिलन में फना की झलक भी दिखाई है :

वहु वरि वस वहि वस भई, मैं मिलि एक दोत मिटि गई ।
रीझ रिझावन हार रिझ रीझ भये जो एक ॥
को रीझै रिझवावइ जंह मिलि मिट्‌यो विवेक ॥

अलंकार :

पुहुपावती में कवि ने साधारण अलंकार, उपमा, रूपक अनुप्रास एवं अनन्वय का ही प्रयोग किया है ।

भाषा :

पुहुपावती की भाषा पर ब्रजभाषा का प्रचुर प्रभाव है । मूलत: भाषा अवधी है किन्तु ब्रजभाषा का प्रयोग भी अधिक है । भाषा सरल एवं बोधगम्य है:—

पुहुपावति यह दशा जु देखी, लखि लखि चित्र भे मया विसेषी ।
को अस अहै जगत निरदई, जाहि बस चित्र दशा य लई ॥
दहुं कस होहि सुन्दर सोई, अस रूपवन्त जाहि बस होई ॥

जाहि नन जाको चितु बसै, बहै सु होत जनाई ।
सदानन्द नेहनि के मिलन न आन उपाइ ॥

लखि लखि चित्र काम तन जागा, ह्वै मनु विवरा चित्र रंग रंगना ॥
चित्रनि कहां सु होइ संजोगू, मिलै न मित्र मन होइ वियोगू ॥
गहि कर धनुष सो पांचौ वाना, निय तन कठिन जानि उन ताना ॥
प्रथमहि वान सु मोह चलावा, अस लाग्यो मन घाउ जनावा ॥

छन्द :

इस ग्रन्थ की रचना भी चौपाई दोहे के क्रम में हुई है। नौ अर्द्धालियों के बाद एक दोहे का क्रम है।

वस्तु-वर्णन :

कथा के इतिवृत्त के मध्य कवि ने जिन वस्तुओं का वर्णन कुछ विस्तार से किया है वे निम्नांकित हैं।

काशीपुर नगर वर्णन :

कवि ने हाथियों घोड़ों के अतिरिक्त उपवन के फल फूलों के नाम भी गिनाये हैं। नाम गिनाने के अतिरिक्त इसमें कोई काव्य-सौंदर्य नहीं है।

काशीपुर संवन सभ जानहु, एक एक बहु रूप बखानहु ॥
बरनों का धनि देश सुवेसा, निजु निज घर सब सबै नरेशा ॥
सहस सहस हाथिन की पांती, एक एक वार झुमहि दिनराती ॥
का तुरंगिन पांति गनावो, कह सौं तिन्ह की जाति सुनावों ॥
ताजी तुरकी टांघन कोही, और भुजन संपाती सोही ॥

एक दिसि अरबी देखिये, औ न इराकी घोड़ ।
दरिआई दरिआउ के और गने को घोर ॥

इसी प्रकार फल फूलों की चर्चा करते समय कवि उनकी गणना करना आरम्भ कर देता है।

नीबू पाकि जरद ह्वै रहे, मीठे खट्टे जो जो कहे ॥
सेव अनार फरे चहु पाती, किसमिस दाख लगी बहुभांती ॥
औ बदाम सुपारी गीरी, औ अमरूद अम्बव जंभीरी ॥
कर अंजीर दारिउं विहराई, जनु दध सुत सीप देखराई ॥

अंत में थक कर कवि स्वयं कहता है :—

और गने को फूल अब बरनो कितो समाज।
सब खग कूजिन कल बचन सबै जहां ऋतुराज ॥

रूपनगर-वर्णन :

रूप नगर का वर्णन करते समय भी कवि ने अपनी इसी वर्णनात्मक प्रवृत्ति का परिचय दिया है किंतु वहां वृक्ष फल एवं फूलों के नाम गिनाने में वह एक रहस्य का उद्घाटन करता है, जैसे :—

आंव कहै हम गै बौरई, ऊंचे सीस नीच देखराई ॥
बड़हर बड़हरि सदा पुकारहि, बड़फ़ल पाइ सीस भइ डररिहि ॥
महुआ टप टप डारे आंसू, तजि हम हरि लीन्हा बनबासू ॥
अमिली कहै अमिल हम रहे, अंवित कुटिल फल याते लहे ॥
कहे सुनोवर सुनु वर साई, वंदत कबि नित शीस नवाई ॥

पीपर कहै सुनाई कै, पीपर सब ते जान ॥
सर्वमई एकै बही, भ्रम सु जग परमान ॥

रनिवास-वर्णन :

रनिवास का वर्णन करते समय कवि ने पहले तो महल के सौंदर्य की चर्चा की है, फिर रानियों के सौंदर्य का वर्णन है :—

महाराज देख्यो रनिवासू, का बरनों जानों कबिलासू ॥
कनक खांभ लागे चहुं ओरा, औ मनि लाल जनी तहि कोरा ॥
जगमग जगमग निस दिन होई, सूरज चांद जोत उन सोई ॥
अनु को देखैं वे सब नारी, सो देखै जेहि दई उतारी ॥
रानी कोसिल जनमी वारी, जगमग जोति जगत उजियारी ॥

पुहुपावती के सौंदर्य या नखशिख का वर्णन विस्तार से नहीं किया गया है :—

कोकपाट दस मासई, कंस कल कबि लोई ॥
चारि चारि दस होहि पुनि नारी सुन्दर सोई ॥

छोटे बड़े गोल औ स्यामा, लबि सेन ऊंच तन वामा ॥
पतरे और अरुन सकेता, सो सव चारि चारि कहि देता ॥

इसी के मध्य कवि पुहुपावती के अलौकिक सौंदर्य का वर्णन भी करता है :—

सोहैं दीठि न ह्वै सकै जात चौंधि तन देखि।
बिज्जु छटा घन तजि मनो, धरि दुति आइ बिसेषि ॥

वह इतनी सौंदर्यवती है कि उसके लिए बहुत से राजाओं ने योग धारण कर लिया है :—

महाराज वह ऐसी नारी। जेहि कारन बहु भये भिखारी ॥

जलक्रीड़ा :

जलक्रीड़ा का वर्णन करते समय कवि मातृगृह की स्वच्छन्दता, पुहुपावती सौंदर्य एवं उसके परमात्मस्वरूप का परिचय देता है :

मातृगृह की स्वच्छन्दता :

खेलहु कुदहु अजुहि प्यारी, पुनि कहँ खेद कहाँ तुम कारी।
यह मन जानि कहो तुम पेही, कीजै हुलस सबै मिलि एही।

आजु अहै मिसु परम को खेलि कूद सब लेहु।
पुनि होइहि रखवारि अस बाहेर पाइ न देहु ॥

मायके की स्वतंत्रता का ससुराल में अपहरण हो जाता है, घर की चहारदीवारी में कन्या को सीमित होकर रहना पड़ता है। कवि यहीं पर झूमक मनोरा एवं धमारी का भी उल्लेख करता है।

सौन्दर्य-वर्णन :

अपनी सखियों के साथ जाती हुई पुहुपावती ऐसी ज्ञात हो रही है कि मानो तारों के मध्य चन्द्रमा शोभित हो रहा हो :

स्याम सुकेश रैनि ह्वै गई, ससि तिनमाँहिं तराइन भई।
बीचहि उदै कियो सो ससी, ह्वै सो स्वरग पुहुमि यों लसी।
जो कोइ धाइ पैग दस जाई, टूटै तारा तैसि लखाई ॥
सामा भइ सुगगन मलीनी, असि अबला पुहुमहि दुति दीनी।
कौतुक कियो ऐस उन नारी, भूमि अकास सु सबनि विचारी।

कहीं कहीं कवि ने पुहुपावती के परम सौंदर्य का परिचय भी दिया है। तालाब में पड़नेवाली सूर्य की परिछाहीं को संकेत करके कवि कल्पना करता है कि मानो पुहुपावती के चरणस्पर्श करने को ही सूर्य भूतल पर आया है :

है प्रतिबिम्ब न नीर मँह, हम जनों यह मूर।
पुहुपावति पर हित धरै लखन नीच ह्वै सूर ॥

पुहुपावती के अनुपम सौंदर्य के दर्शनार्थ देव, यच्छ, गन्धर्व, इन्द्र सभी भूतल पर आ गये। पुहुपावती के सौन्दर्य के सम्मुख सभी सुन्दर वस्तुएँ कांतिहीन हो गईं।

देखे मन निजु रह्या न हाथा, इंद्रहु आइ भयो नहि साथा।
हरी रमि ह्वै लखित निकाई, रही न दुति किनरी जा आई।
असुरी सुरी सबै मैं हीनी, उडगन ससिहु जोति तजि दीनी।
भइ रत्ती दुति रती जो देखी, क्रीड़ा मोद करै सु विसेषी।
हर्योसुमन तिन्ह जगत को रहो जियत नहिं कोइ।
किये कामना आप ही मंडप पूजा सोइ ॥

उसके सौंदर्य का वर्णन करते हुये कवि कहता है कि पुहुपावती के रूप प्रकाश से रात्रि में भी दिन हो गया :

दिनु उन कियो निसा ज्यों आई, करी निसाबिन घर मग आई।
अपनो सोक कुमुद मन आई, औ रच कौरनि भई विदाई।
हुलसहिं हंस ध्यान धरि आवहिं, विहसहिं कोक मीत सब पावहीं।
बिगसे कमल जानि मन सूरू, भयो बटोहिन दुख्खु समूरू।
छपि गो चन्द उदै जो कीन्हा, मिटी तराई सूर जो चीन्हा।
सोरह करा चन्द दुति कहहीं, ये अनन्त दुति सूर सो लहहीं।
दिन बांधौ रथ रवि अली, रैनि छिपायो चन्द।
अब मग पग नहिं दीजिये, होत जगत दुख दंद ॥

पुहुपावती-विदा-वर्णन :

पुहुपावती की विदा का वर्णन कवि ने बहुत विस्तृत किया है। एक ओर तो विदा से तात्पर्य कवि ने परलोकगमन का लिया है, दूसरी ओर मानिकचंद की सराहना करते हुये एकेश्वरवाद का प्रतिपादन किया है।

इस संसार में जन्म लेने वाली प्रत्येक वस्तु नश्वर है सभी को एक दिन यहाँ से चलना है :

अन्त जो है चलना यही सब आए लै चाल।
विधि दरसन भूपति दियो कियो यही प्रतिपाल ॥

यह काया भूलों का भंडार है, इसका केवल एक उपयोग है कि उस परमात्मा का ध्यान किया जाय :

विधि अज्ञा एही विधि हारी, करी जो काया चूकहिं भारी।
पै यह जानि मनहि न आनिय, अन्त बहै वाही किन जानिय।
झूठै काया हम निजु जानी, झूठै आपा आपु बखानी।
अहै न काया आपनी औ नहिं आपा कोई।
एकै रूप लखौ जहाँ, तजौ मरम जग खोई॥

इस संसार में केवल एक का ध्यान ही श्रेय है, वही सर्वत्र व्याप्त है, सबका संरक्षक है।

एकहिं छाँड़ि न जानिय दूजा, कहाँ एकु जहँ पूजा।
एक सबै बिधाता भाषा, तुम का जानि दूज मन राखा।
एकै राखुहु मन विखैं करि दूजा प्रतिकूल।
दूजा कहाँ जो देखियत है एकौ सो मूल॥

पुहुपावती का पिता पद्मसेन मानिकचंद की प्रशंसा करता हुआ कहता है कि इस संसार में तुम्हारे अतिरिक्त और कोई मुझे प्रिय नहीं है तथा तुम्हीं इस संसार में अनेक रूपों से व्याप्त हो :

मम मन दोसर न बसे, जब जाना तुम एक।
सबै तुम्हारा रूप जग मोही बहुत अनेक॥

दुखहरन दास कृत पुहुपावती की रचना मसनवी पद्धति पर हुई है, यत्र तत्र सिद्धांत कथन भी बिखरे पड़े हैं किन्तु कवि स्वयं प्रेम की तीव्रता, निस्पृहता एवं भावुकता के वर्णन में अधिक सजग है।

यूसुफ जुलेखा

(कवि शेख निसार कृत)

फारसी लिपि में लिखी हुई 'यूसुफ जुलेखा' की एक हस्तलिखित प्रति प्रयागस्थ 'हिन्दुस्तानी एकेडेमी' में है। उसी के आधार पर सम्भवतः सत्यजीवन वर्मा जी ने शेख निसार और उनकी यूसुफ जुलेखा का परिचय काशी नागरी प्रचारणी पत्रिका में दिया था। शेखनिसार का थोड़ा सा परिचय तथा 'यूसुफ जुलेखा' के कुछ अंश 'हिन्दी कवि और काव्य' में भी निकले किंतु उसमें दिया परिचय अधिकांश भ्रमपूर्ण है। इस सम्बन्ध में श्री गोपालचन्द्र सिनहा ने अपनी खोज के द्वारा कई सत्यों का उद्घाटन किया है। आप को फैजाबाद में श्री अताउल्ला खां के पास यूसुफ जुलेखा की एक प्रति फ़ारसी लिपि में प्राप्त हो गई। इन तीनों प्रतियों की पुष्पिकायें इस प्रकार हैं :

१. पोथी जुलेखा हिंदी २६ रमजानुल्मुबारक सन् १२४४ हिजरी में मवैया गांव में जो इलाका पच्छुमराठ में है बदर्वाजे लाला ब्रजलाल लिखी गई। लेखक नूर अली वल्द मोहम्मद सहन 'जमीदार' साकिन शेखपुर जाफर इलाका नौराही 'अमला परगना मंगलसी' सर्कार सूबा अवध शासनकाल नवाब मुर्शिद नसीरुद्दीन बहादुर।

२. करमखां वल्द फहेमखाँ, साकिन मौजा जगनपुर ने जो अपने हाथों से सब्बाल सन् १२२६ हिजरी में लिखी थी उससे शेख रहमतुल्ला वल्द गौहर अली साकिन मौजा खेतासराय बाराबंकी ने १५ रजबुलरजब सन् १३१६ हिजरी मुताबिक २८ अक्तूबर सन् १६०१ ई० में नकल की।

३. यकुम जिल हिज सन् १३१६ हिजरी में मोहम्मद हामिद अली वल्द शेख रमजान अली साकिन व जमीदार दरियाबाद जिला बाराबंकी ने तहरीर किया।

इन तीनों प्रतियों में भी पाठ भेद थे। गोपाल चन्द्र जी ने हिन्दुस्तानी एकेडेमी की प्रति का पाठ निर्धारण करके उसकी नागरी प्रतिलिपि करा कर यह महत्त्वपूर्ण कार्य फैजाबाद के नार्मलस्कूल के अध्यापक श्री भवानी भीख सिंह जी से करवाया है।

श्री गणेशप्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित 'हिन्दी कवि और काव्य' में 'यूसुफ जुलेखा' के कुछ अंश बहुत ही भ्रमपूर्ण हैं। निसार की पंक्तियाँ

> 'ना वह मरे न मिटै न होई, अपर मरम न जानै कोई।
> जाग्रत सपन सुषुप्ति जो साजा, पुनि तुरिया मंह आय बिराजा।'

को द्विवेदी जी ने

'ना वह मरे न मिटे न होई, अपरम मरम ना जाने कोई।
जाकी रति में सुख नित साजा, तन तिरिया मंह आय विराजा।

लिखा है। इसी प्रकार एक स्थल पर कवि स्वरचित ग्रन्थों का परिचय देते हुये लिखता है:

मेहरनिगार कि कहेउ कहानी, रस मनोज रसकवित्त बखानी।

इसी को द्विवेदी जी लिखते हैं।

हीर निकार के गेहूं खाने, रस मनोज, रस गीन बखाने।

कवि-परिचय :

निवासस्थान एवं वंश परिचय :

शेख निसार अपने निवासस्थान एवं वंश का परिचय देते हुये लिखते हैं :

शेखपूर अति गांव सुहावा, शेख निसार जनम तंह पावा।
चारिउ ओर सघन अवंराई, अगम अथाह चहूं दिसि खाई।
शेख हबीबुल्लाह सोहाये, शेख पूर जिन्ह आय बसाये।
पातसाह अकबर सुलताना, तेहिक राजकर करत बखाना।
अवध देस सूबा होइ आये, बीस बरस तंह सोहाये।
तेहि के शेख मोहम्मद बारा, रूपवन्त भोगी औतारा।
तासुत गुलाम मोहम्मद नाऊं, सो मम पिता औ ताकर गांऊ।
तेहि घर हों विधनैं औतारा, चार दीप जस चौमुख बारा।

शेखपुर गांव का नाम इतना सुलभ और साधारण है कि उत्तरी भारत के प्रायः प्रत्येक जिले में इस नाम के दो या और भी अधिक गांव मिल जाना कठिन नहीं। किन्तु अपने निवासस्थान 'शेखपुर' के सम्बन्ध में कवि निसार ने कुछ विशेषताओं का भी उल्लेख किया है। गांव के चतुर्दिक आम के बाग हैं। चारों ओर अगम अगाध खाई विद्यमान है। इसके अतिरिक्त कवि निसार ने एक सघन शीतल छाया वाले इमली के वृक्ष की भी चर्चा की है :

अंबिली विरिछ न जाय बखाना, द्वारे पर जस तबुंआ ताना।
ताकी छांह जो बैठे कोई, कैसो सूर कि सायर होई।
अति उत्तम औ सीतल छांहा, पंछी बहुत रहैं तेहि पांहा।
दहियल नित बोलै भिनसारा, पिउ पिउ पपिहा करै पुकारा।

धौराहर पर सोवन जाई, सुनत कूक वह नींद हेराई।
पीव कहा जव जात्रक बोलै, कपट कपाट हियें कर खोलै।
पंछी नित सँवरे वह नाऊँ, करै खोज पिउ कै सब ठाऊँ।
हम बाउर भूले जग माहीं, पिउ की खोज करै कछु नाहीं।

खोजत पिउ पावै नहीं, चहुँ दिसि करै पुकार।
पंछी नित सँवरै पिऊ, भूला फिरै निसार॥

ऊपरलिखित पंक्तियों से निश्चित होता है कि शेख हबीबुल्लाह ने बादशाह अकबर के समय में दिल्ली की ओर से आकर अवध में शेखपुर नामक नगर बसाया था। वहीं पर कवि शेख निसार का जन्म हुआ था। शेख हबीबुल्लाह वहां बीस वर्ष तक रहे, उनके लड़के का नाम शेखमुहम्मद था। शेख मुहम्मद के लड़के शेख गुलाम मुहम्मद थे जो शेख निसार के पिता थे। इनके मकान के द्वार पर एक इमली का सघन वृक्ष तम्बू की भाँति विस्तृत खड़ा था।

श्री सत्यजीवन वर्मा ने किसी डिस्ट्रिक्ट गजेटियर के आधार पर उक्त शेखपुर को राय बरेली जिले का शेखपुरा कस्बा मान लिया है जो उस जिले की महराजगंज तहसील के बछरावां परगने में पड़ता है। अपने मत की पुष्टि श्री वर्मा जी वहाँ शेखों की बड़ी बस्ती के आधार पर करते हैं। श्री गोपालचन्द्र जी सिनहा (जुडिशल सर्विस) ने अपनी खोजों के आधार पर सिद्ध किया है कि शेखपुर वस्तुत: फैजाबाद जिले में मंगलसी नामक परगने में एक छोटा गांव है। आजकल इसका नाम शेखपुर जाफर हो गया है। यह छोटा सा गाँव, फैजाबाद लखनऊ रोड पर फैजाबाद से १० वें मील दक्षिण और ई० आई० आर० के सोहावल स्टेशन के निकट, अयोध्या तथा बारावंकी जिले के रुदौली स्थान के ठीक बीचों बीच पड़ता है। कवि निसार ने 'मेहर निगार' मसनवी में कहा भी है :

अवध रुदौली के मझठाँवा, शेखपूर अति सुन्दर गाँवा।

निसार वाला इमली का वृक्ष अब भी वर्तमान है तथा उनके धौरहरे के स्थान पर अब किसी नाई का एक छोटा सा मकान बना हुआ है। शेखपुर जाफर के 'इकरार मालिकान' में उक्त गाँव का इतिहास इस प्रकार दिया है 'अर्सा तरᵒमीनान् तीन सौ बरस से जायद का हुआ कि मुसम्मे शेख हबीबुल्लाह मूरिस आला मालिकान देहली से बलवस्सुल मुलाजिमी बादशाह इस मुल्क में आये..........उस वक्त..........२५० बीघा खाम आराजी जंगल वास्ते तरद्दुद के म्वाफ फरमाया। मूरिस मौसूफ ने जंगल तराशी कराके मौजा आबाद किया और नाम मौजे का बमुनासिबत कौम मौसूम हुआ। बाद उसके शेख मोहम्मद जाफर ने और भी जमीन दीहात हमसर्हद्दी से खरीद करके शामिल मौजा किया। तबसे नाम मौजे का बनामजद शेखपुर जाफर मारूफ हैं'।

'शजरा नसब मालिकान' में लिखित इस इतिहास का निसार की कुछ पंक्तियों से पूर्ण साम्य है :

शेख हबीबुल्लाह सोहाये, शेखपुर जिन आय बसाये।
पातसाह अकबर सुलताना, तेहिकराज कर करत बखाना।

इस गाँव में एक साधारण नीम वृक्ष की छाया में अब भी निसार के पिता एवं तीनों भाइयों की समाधियाँ बनी हुई हैं। पिता की कब्र ऊँची है और पुत्रों की उससे नीची एक बड़े चबूतरे के रूप में है।

निसार, कवि का केवल उपनाम है। पुस्तक में कवि ने अपना या अपने किसी भाई का नाम नहीं दिया है किन्तु 'शजरा नसब मालिकान' में दी हुई वंशावली में इनके नाम स्पष्टत: दिये हुये हैं।
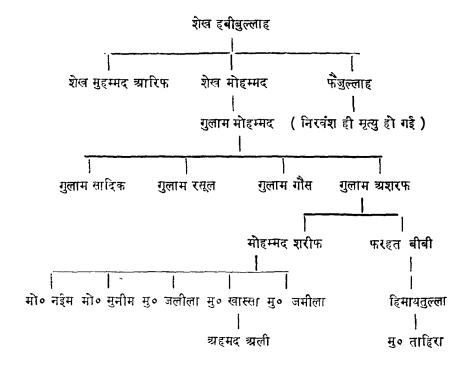
सोहावल और रुदौली स्टेशनों के बीच एक स्टेशन 'बड़ा गाँव' है। यहाँ फ़ारसी और उर्दू के अनेक विद्वान होते रहे हैं। सैय्यद मुख्तार हुसेन साहब गुलाम अशरफ के पुत्र मोहम्मद शरीफ की नातिन के पुत्र थे जो यहीं रहते थे। इन्होंने फारसी में एक छोटी सी पुस्तक लिखी है जिसका नाम है 'मकसूद नजात' जो नवलकिशोर प्रेस से प्रकाशित हुई है। इस पुस्तक में दिये हुये विवरण से ज्ञात होता है कि 'अहसन जौहर' मसनवी के रचयिता गुलाम अशरफ का ही उपनाम शेख निसार था। इनके अन्य तीन भाइयों के नाम गुलाम गौस, गुलाम रसूल एवं गुलाम सादिक थे।

स्थिति एवं रचनाकाल :

शेखनिसार अपने ग्रन्थ के रचनाकाल के सम्बन्ध में लिखते हैं : 'जिस समय उसने ग्रन्थ रचना आरम्भ की दिल्ली सुल्तान शाह आलम राज्याधिपति था। वह स्वयं तो नीतिज्ञ था किन्तु उसके उमरा अनीति किया करते थे। कादिर खां नामक रुहेले ने बादशाह की आँखें फोड़कर उसे अन्धा बना डाला और उसकी बेगमों एवं शाहजादों को भी कष्ट पहुँचाया। उस अधम के इस क्रूर कृत्य के कारण तैमूर के प्रसिद्ध घराने की प्रतिष्ठा जाती रही और चारों ओर अंधा धुन्ध मच गया फिर भी उस समय अवध सूबा ऐसे अत्याचारों से बचा हुआ था। अवध का शासक नवाब आसफुद्दौला तथा उसका सहायक हिन्दू सचिव दोनों ही नीतिज्ञ एवं कर्तव्यपरायण थे। सुरक्षा इतनी थी कि बाज जैसा पक्षी भी एक लवा के ऊपर आक्रमण नहीं कर सकता था।'

आलमशाह हिन्द सुलताना, तेहि के राज यह कथा बखाना।
देहली राज करे ऊ नीता, उमरावन तेहि कीन्ह अनीता।
कादिर खान सो अधम रुहेला, सो अपराध कीन्ह बढ़ पेला।
पातहाह कंह आंधर कीन्हा, सुत और नारि सबहि दुख दीन्हा।
कीन्ह अपत तैमूर घराना, राज प्रताप अधम नहिं जाना।

× +

चहुँदिस अन्धधुन्ध सब छावा, अवध देश कहं इश्व बचावा।
येहिमा खान आसफुद्दौला, जासु सहाय रहै नित मौला।
हिन्दू सचिव वह बली नरेसा, तेहि के धरम सुखी सब देसा।
तेहि की राजनीति जग छाई, लवा सचान न सकै सताई।

अपने ग्रन्थ के रचनाकाल के सम्बन्ध में वे लिखते हैं :

हिजरी सन् बारह सै पांचा, बरनेउं प्रेम कथा यह सांचा।
अट्ठारह सै सैतालीसा, संवत् विक्रम सेन नरेसा।
सतरह सैबारह पुनि साका, पूष मास नून्यौ ससि राका।
सत्तावन ब्रस बीतै आऊ, तब उपजेउ यह कथा के चाऊ।
सात दिवस मंह कीन्ह समापत, दुर्मति नाम अहो यह संबत्।

यूसुफ जुलेखा की रचना कवि ने सं० १८४७ में ५७ वर्ष की अवस्था में की अत: इनका जन्म संबत् १७८६ और संबत् १७६० के बीच किसी समय हुआ होगा।

शेख निसार ने अपनी योग्यता एवं काव्य-कुशलता की ओर भी कुछ संकेत किया है। ये नम्रता प्रदर्शित करते हुये लिखते हैं कि मैंने सात अनुपम ग्रन्थों की रचना की है जो हिन्दी, फारसी, तुर्की, संस्कृत एवं अरबी भाषाओं में लिखे गये हैं। वास्तव में इन्होंने 'यूसुफ जुलेखा' को मिलाकर कुल आठ ग्रन्थों की रचना की। यूसुफ जुलेखा की

रचना उन्होंने पुत्र वियोग से पीड़ित होकर की थी। यूसुफ जुलेखा की सच्ची प्रेम कहानी को भाषा में कहने का चाव उन्हें हज़रत याकूब के पुत्र बिरह की गहनता को देखकर ही हुआ जिसका अनुभव उन्हें स्वयं भी अपने बाईस वर्ष के पुत्र लतीफ के वियोग में हुआ था।

ग्रन्थ :

अपनी यूसुफ जुलेखा के पूर्व की कृतियों के सम्बन्ध में वे लिखते हैं :

सात ग्रन्थ अनूप बनाये, हिन्दी औ पारसी सोहाये।
संसकिरत तुर्की मन भाये, समै प्रेमरस भरे सोहाये।

मेहरनिगार कि कह्यो कहानी, रस मनोज रस कवित्त बखानों।
औ दीवान मसनवी भाखा, स्त्रोदी, नसत्र फारसी राखा।
संसकीरत तुर्की औ ताजी, और पारसी नसराब जो साजी।

इस प्रकार इनके मेहर निगार (आख्यानक काव्य) रसमनोज (शृंगार रसात्मक रीति ग्रन्थ) दीवान, अहसन जौहर (फारसी मसनवी) स्रोदी (संगीत ग्रन्थ) नस्र नामक फारसो गद्य ग्रन्थ, नसाब एक संग्रह ग्रन्थ और यूसुफ जुलेखा कुल आठ ग्रन्थ होते हैं।

शेख निसार आशुकवि थे। कहते हैं कि एक बार तत्कालीन काशी नरेश ने अपने यहाँ के कवियों को एक समस्या दी पर बहुत प्रयत्न करने पर भी कोई उसकी पूर्ति न कर सका। किसी कवि के द्वारा शेख निसार को भी ज्ञात हुआ। समस्या थी 'केहि कारन चन्द्र पिंपीलन खायो'। कवि निसार ने इसकी तत्काल पूर्ति की :

एक समय शिवशंकर जू भगवान के ध्यान में तारी लगायो।
वर्ष सहस्त्र जो बीनि गयो, तबहू शिवनाथ न माथ उठायो।
खेह समान ह्वै देह गई तब चन्द्र पै गाढ लिलाट पै आयो।
शेख निसार बिचार कहैं यहि कारन चन्द्र पिपीलन खायो।

कवि निसार की विद्वता उनकी ग्रन्थ संख्या से भी प्रमाणित हो जाती है।

कथासारांश :

नबी याकूब किनआं नगर में रहते थे जो नूह साहब का बसाया हुआ था। वे नबी लूत की लड़की और इसहाक़ के पुत्र थे। उनकी सात बीबियां थीं जिनसे उन्हें बारह पुत्र उत्पन्न हुये थे। उन्हीं से एक का नाम यूसुफ़ था जो अत्यन्त सुन्दर थे। याकूब अपने अन्य पुत्रों की अपेक्षा इन्हें अधिक स्नेह करते थे। इसी कारण यूसुफ से उनके अन्य भाइयों को ईर्ष्या थी। यह ईर्ष्या यहां तक बढ़ी कि एक दिन इनके भाइयों ने यूसुफ का प्राणान्त

कर देना चाहा । यह विचार कर पिता की आज्ञा से ये लोग अपने साथ यूसुफ को जंगल में ले गये और मार्ग में कष्ट देकर एक अंधे कुये में ढकेल दिया और उसका कुर्ता बकरी के खून में रंग कर पिता को बताया कि यूसुफ को भेड़िये ने मार डाला । याकूब पुत्र शोक में अत्यन्त विकल हो गये और रोते रोते उनकी नेत्रज्योति जाती रही । इधर जंगल में उसी राह से दूसरे दिन एक सौदागर गुजर रहा था । उनका एक दास उसी अंधे कुयें से पानी लेने आया तो यूसुफ ने उसका बर्तन पकड़ लिया । नौकर भयभीत हो कर भाग गया और सौदागर से सब हाल बताया । सौदागर ने किसी प्रकार रस्सी द्वारा यूसुफ को बाहर निकाला । इस पर यूसुफ के भाइयों ने उसके विरुद्ध सौदागर से शिकायत की कि यह हमारा दास है । इसके चोरी करने पर हमने इसे कुयें में डाल दिया । सौदागर ने यूसुफ को खरीद लिया और जंजीर में बांध कर मिस्र देश की ओर चला । रास्ते में यूसुफ की मां की समाधि पड़ी और वह चिपट कर रोने लगा । इस पर एक अन्य दास ने उसे खूब पीटा जिसे देख कर प्रकृति भी क्लान्त हो उठी । सौदागर ने द्रवित होकर उसे मुक्त कर दिया और प्रेम पूर्वक उसे रखने लगा । यथासमय कारवां मिश्र नगर पहुँचा ।

तैमूस नामक सुल्तान पश्चिम देश में राज्य करता था । उसके जुलेखा नामक एक अत्यन्त सुन्दरी पुत्री थी । किशोरावस्था से वह अब यौवनावस्था में पदार्पण कर रही थी । एक रात्रि को उसने स्वप्न में एक सुन्दर युवक को देखा और तत्क्षण उसको निद्रा उचट गई । इसके बाद से ही वह युवक के वियोग में दुखित रहने लगी । धाय के पूछने पर उसने सब हाल बताया । धाय ने सहानुभूति प्रदर्शित कर राय दी कि वह युवक का नाम जानले । दूसरी बार जुलेखा ने केवल इतना ही जान पाया कि वह युवक भी उसे प्यार करता है । अब उसका वियोग तीव्रतर हो उठा और उसे लोकनिंदा, सामाजिक बन्धनों एवं लज्जा का भी ध्यान न रहा । तीसरी रात्रि को वह यही जान सकी कि मिश्र देश के वजीर के यहां भेंट हो सकती है । जुलेखा ने अपने पिता से अभिप्राय कहला भेजा और अन्त में उसका विवाह मिस्र के वजीर से हो गया । पति को देखकर जुलेखा को बड़ी निराशा हुई क्योंकि वह स्वप्न वाला युवक न था । जुलेखा ने मिस्र के हरम में अपना सतीत्व बचाने के लिये बीमारी का बहाना किया । इस प्रकार उसके दिन कष्ट से व्यतीत हो रहे थे ।

सौदागर के साथ जब यूसुफ मिस्त्र नगर पहुँचा तो उसके रूप को देखकर सारे नगर के लोग हैरान हो गये । समाचार सुन कर जुलेखा भी अपनी धाय के साथ उसे देखने गई और तुरन्त पहचान गई । धाय से कहलवा कर जुलेखा ने वजीर द्वारा यूसुफ को क्रय करवा लिया एवं मन्त्री ने भी उसे जुलेखा की सेवा में ही रक्खा । जुलेखा अब प्रसन्न रहने लगी । एक दिन यूसुफ उसके आकर्षण से प्रभावित होकर उसकी ओर बढ़ा किन्तु पिता का ध्यान आते ही वह लौट पड़ा और भागा । जुलेखा ने उसका कुर्ता पकड़ कर खींचा किन्तु कुर्ता हाथ में फट कर रह गया । निराश होकर उसने वजीर से शिकायत कर यूसुफ को कारावास में डलवा दिया । गुप्त रूप से वह यूसुफ को कारावास में सुख

सामग्री पहुंचाती किन्तु यूसुफ हर ओर से उदासीन रहता। एक दिन एक किनआं नगर का व्यापारी कारावास की खिड़की के नीचे से निकला। यूसुफ ने उसके द्वारा पिता के पास संदेश भेजा कि वे हमारे छुटकारे के लिये प्रयास करें।

इधर मिश्र में जुलेखा की बड़ी निन्दा होने लगी। इस पर जुलेखा ने नगर की अनेकों स्त्रियों को निमंत्रण दिया। यूसुफ के सामने उन्होंने तरबूज़ काटने का प्रयत्न किया तो अपनी अपनी उंगली ही काट बैठी और इसका ध्यान उन्हें न आया। जुलेखा के बताने पर उन्हें अत्यन्त लज्जित होना पड़ा और उन्होंने क्षमा प्रार्थना की।

सात साल तक यूसुफ कारावास में पड़ा रहा। एक रात्रि को सुल्तान ने सपना देखा। सुल्तान ने इसका रहस्य यूसुफ से जानना चाहा क्योंकि यूसुफ का स्वप्न-विचार शक्ति में बड़ा नाम था। उसने बताया कि आप के यहां सात साल तक खूब वर्षा होगी और फिर सात साल तक सूखा पड़ेगा। अब भविष्य के दुखों से बचने के लिये प्रयत्न होने लगा। इसी सिलसिले में सुल्तान ने वजीर से यूसुफ के कैद होने का कारण पूछा और प्रसंगवश जुलेखा ने भी अपनी आत्मकथा साफ साफ प्रकट कर दी। मन्त्री ने क्रोधवश जुलेखा का परित्याग कर दिया।

सुल्तान ने अब यूसुफ को ही अपना मन्त्री नियुक्त किया। यूसुफ की भविष्यवाणी के अनुसार फसल अच्छी हुई और फिर अकाल पड़ा। अकाल के पांचवे वर्ष मिश्र का पुराना मन्त्री मर गया। अब यूसुफ का प्रभाव बहुत बढ़ गया और वही सारा राज काज संभालने लगा। यूसुफ के भाई भी अन्न की खोज में किनआं नगर से वहां पहुँचे। यूसुफ ने पहचान कर उन्हें आदरपूर्वक विदा किया एवं कहला भेजा कि वे अपने छोटे भाई इब्नअली को यदि साथ लायें तो बहुत उपहार पायेंगे।

अपने पुत्रों के कहने पर याकूब के इब्नअली को भी मिस्त्र भेज दिया। यूसुफ ने सबको दावत दी तथा एक थाली में दो भाई खाने बैठे। यूसुफ स्वयं इब्नअली के साथ बैठा। उसके सामान में कटोरा रखवा कर चोर बनाया और इब्नअली को रोक लिया गया। अंत में सब ने एक दूसरे को पहचान लिया। याकूब भी सपरिवार मिस्त्र आये और आपस में मिले जुले।

इधर जुलेखा को यूसुफ की प्राप्ति के लिये तप करते-करते ४० वर्ष व्यतीत हो गये। उसके नेत्रों की ज्योति जाती रही और वह बूढ़ी हो गई। अपना सर्वस्व खोकर अब वह केवल पथ की भिखारिन मात्र रह गई। एक दिन यूसुफ की सवारी शहर में निकलने को थी। नेत्रहीन होने पर भी जुलेखा ने यूसुफ को देखना चाहा। कुछ स्त्रियों ने दया करके उसे एक उपयुक्त स्थान पर ला खड़ा किया। यूसुफ देख कर ही जुलेखा को पहचान गया और सारा हाल मालूम किया। याकूब की दुआ से जुलेखा फिर से लावण्यमयी हो गई एवं यूसुफ और जुलेखा का परिणय हो गया। तपस्या और दुःख सहकर जुलेखा ईश्वरोन्मुख होती गई। इश्क मजाजी छोड़कर वह इश्क हकीकी की ओर झुकने लगी। यूसुफ को जुलेखा से ५ पुत्र तथा २ पुत्रियां उत्पन्न हुईं।

अपने पिता याकूब की मृत्यु के कुछ समय बाद यूसुफ भी परमधाम सिधार गये और अन्त में प्रेमपरायण जुलेखा भी पति की समाधि पर पछाड़ खा कर शरीर छोड़ गई।

कथा का कुरान में वर्णित आधार :

कवि निसार ने अन्य सूफ़ी कवियों की भांति भारतीय प्रचलित कथाओं का आधार न लेकर कुरान में वर्णित 'यूसुफजुलेखा' की कथा का आधार लिया है। कवि निसार द्वारा वर्णित कथा में तथा कुरान में प्रस्तुत कथा में कुछ अन्तर है। कुरान में यह कथा अत्यन्त संक्षिप्त रूप में वर्णित है।

कुरान की 'सूरए यूसफ मक्की रुकू' १२ आयत १११ में यह कथा वर्णित है। यूसुफ ने एक बार अपने पिता से कहा कि 'मैंने ११ तारों के साथ सूर्य और चन्द्रमा को स्वप्न में देखा है कि वे मुझे दण्डवत करते हैं' उसके पिता ने यह बात उसे अन्य भाइयों पर प्रकट करने से मना कर दिया और कहा कि ईश्वर ने तुझे सच्चरित्र और बुद्धिमान मानकर अपना चुना हुआ माना है, तेरे पूर्वपुरुष इसहाक तथा इब्राहीम भी ईश्वर के चुने हुये लोगों में थे। यूसुफ अपने पिता को अत्यन्त प्रिय थे। इसी कारण यूसुफ के अन्य भाइयों ने यूसुफ को उसके पिता से अलग करना चाहा। दूसरे दिन सलाह करने के बाद यूसुफ के भाई उसे अपने साथ जंगल में ले गये और वहां उसे एक अंधे कुयें में डालकर रोते हुये अपने पिता के पास लौट आये और कहा कि यूसुफ को भेड़िये ने खा लिया। हम सब निर्दोष हैं। इसी बीच एक व्यापारियों का जत्था आया जिसने यूसुफ को कुंये से निकाल कर अपने साथ ले लिया। यूसुफ के भाइयों ने यूसुफ को उसी व्यापारी के हाथ वेच दिया। उस व्यापारी ने उसे मिश्र देश में जाकर वेच दिया। नये मालिक ने अपनी स्त्री से यूसुफ को प्यार पूर्वक रखने को कहा। जब यूसुफ तरुणावस्था को पहुँचा तो उस नये मालिक की स्त्री ने (जुलेखा ने) उसे अपने वश में करना चाहा किन्तु यूसुफ को सेवक या दास के कर्त्तव्य का पूर्ण ज्ञान था। उसने जुलेखा को भी समझाने का प्रयत्न किया। यूसुफ भी उस स्त्री की ओर आकर्षित हो चुका था किन्तु यह ध्यान आते ही वह अपने इरादे से पीछे हट गया। यूसुफ भागा, स्त्री के हाथ में उसके कुर्ते का कुछ भाग फटकर रह गया। उस स्त्री का पति उसे द्वार पर मिल गया। उस स्त्री ने अपने पति से उसे दण्ड देने की प्रार्थना की। कुर्ते के पीछे की ओर फटे होने से पत्नी ही अपराधी मानी गई। सारे नगर की स्त्रियां जुलेखा के दुश्चरित्र की चर्चा करने लगीं। जब उसने यह चर्चा सुनी तो नगर की स्त्रियों को प्रीतिभोज में बुलाया एवं उस अवसर पर यूसुफ को भी उपस्थित रक्खा। यूसुफ को देखकर उन स्त्रियों ने बिना कष्ट का अनुभव किये ही अपना हाथ काट डाला और कहा कि यह अवश्य कोई महानात्मा है। जुलेखा ने कहा कि निस्सन्देह उसने कामेच्छा की है और यदि यूसुफ उसकी बात न मानेगा तो बन्दी बनाया जायगा। यूसुफ ने कारागार में जाना अधिक उचित समझा और वह बन्दी बना दिया गया। बन्दीगृह में उसने एक बार दो व्यक्तियों को स्वप्नफल बताया। एक व्यक्ति ने स्वयं को मदिरा निचोड़ते

हुये देखा था तथा दूसरे ने सिर पर रोटियां उठाये हुये देखा जिसमें से पक्षी खा रहे हैं। इस पर यूसुफ ने उन बन्दियों को बहुदेवोपासना की अपेक्षा एक ईश्वर की उपासना करने की राय दी और कहा कि तुम दोनों में से मदिरा देखनेवाला व्यक्ति तो राजा को मदिरा पिलायेगा तथा दूसरा सूली पर चढ़ाया जायगा। एक बार राजा ने भी स्वप्न देखा और यूसुफ को स्वप्न का तात्पर्य बताने के लिये बुला भेजा। यूसुफ ने सात मोटी, सात दुबली, सात हरी तथा सात सूखी बालों का तात्पर्य यही बताया कि सात वर्ष तक तो यथेष्ट अन्न उपजेगा बाद के सात वर्ष में सूखा पड़ेगा। राजा उत्तर से अत्यन्त प्रसन्न हुआ। अज़ीज़ की स्त्री की बात भी प्रकट हो चुकी थी। राजा ने प्रसन्न होकर यूसुफ को अपना अमीन बनाया। दुर्भिक्ष के समय में यूसुफ के भाई भी अन्न लेने मिश्र आये। यूसुफ ने उन्हें पहचान लिया। यूसुफ ने युक्ति पूर्वक अपने भाई को रोक लिया तथा अपना कुर्त्ता देकर याक़ूब को नेत्र ज्योति पहुँचाई। याक़ूब को मिश्र में बुलाकर उनका अत्यन्त आदर सत्कार किया। यहां पर पुनः ईश्वर महिमा की चर्चा है। इस प्रकार पिता पुत्र का मिलन होने के बाद ईश्वर पर अटूट विश्वास की महिमा गाई गई है।

यहां तक की कथा अक्षरशः क़ुरान में वर्णित कथा के अनुसार ही है। यत्र तत्र जहां कहीं भी कवि को कल्पना करने का अवकाश मिला है उसने उसका उचित उपयोग किया है। जुलेखा की सम्पूर्ण कथा, नखशिख वर्णन, यौवन का आगमन, स्वप्न दर्शन; विरह वेदना तथा जुलेखा का अजीज से ब्याह सम्बन्ध, इन बातों की कुरान में चर्चा तक नहीं है। इसी प्रकार जुलेखा का अपने पति से सतीत्व की रक्षा करना, यूसुफ के लिये सर्वस्वत्याग कर तपस्या करना, नेत्रहीन तथा सौन्दर्यहीन होना, विप्रलम्भ शृंगार का वर्णन, अन्त में मिलन, गृहस्थजीवन, यूसुफ का निधन, जुलेखा का निधन, आदि वृतान्त भी कुरान में नहीं हैं। कवि ने इन प्रसंगों का समावेश इसे चली आती हुई कथा परम्परा से मिलाने के हेतु ही किया है। कवि निसार की प्रवृत्ति आरम्भ से कितनी सूफ़ीमत की ओर झुकी हुई थी यह नहीं कहा जा सकता किन्तु इकलौते पुत्र के वियोग दुख ने उन्हें अवश्य इस संसार के सुखों से विमुख कर दिया होगा और इस पुस्तक की रचना के समय अवश्य 'इश्क हक़ीकी' का उन पर प्रभाव था। सम्पूर्ण काव्य में विरह का मार्मिक चित्रण लक्षित होता है। जुलेखा का यूसुफ से, यूसुफ का याक़ूब से, याक़ूब का यूसुफ से विरह, अन्त में यूसुफ का मिलन हो जाने पर भी जुलेखा की उसकी ओर विरक्ति ऐसे मार्मिक स्थलों का कवि ने विस्तार से वर्णन किया है। सूफ़ी साधकों का जीवन ही प्रेम की पीर का अनुभव होता है। कवि निसार को भी इसका गंभीर अनुभव था।

कुरान में कथातत्व का वर्णन है तथा अन्य ग्रन्थों में उसका सविस्तार वर्णन है। किन्तु कहीं भी यूसुफ और जुलेखा के ब्याह का वर्णन नहीं है। जुलेखा का परकीया स्वरूप ही सम्मुख आता है। जुलेखा की इन सब चेष्टाओं के होते हुये भी यूसुफ को विरागी और निस्पृह प्रदर्शित करने का ही प्रयत्न सर्वत्र लक्षित है।

कवि की रचना में जामी कृत यूसुफ जुलेखा का पूर्ण प्रभाव देख पड़ता है। दोनों के प्रसङ्ग एक से ही हैं। जामी ने अपनी मसनवी यूसुफ़ जुलेखा में ईश्वर तथा उसके रसूल की प्रशंसा करने के बाद सौन्दर्य तथा प्रेम की प्रशंसा की है। जामी के शब्दों में ईश्वर-प्रेम तथा जीव-प्रेम का सम्बन्ध स्पष्ट लक्षित होता है[1]।

जामी का पूर्णतः अनुकरण करते हुये कवि निसार ने अपनी यूसुफ़ जुलेखा की रचना की है। फ़ारसी मसनवी के सारे उपकरणों को लेते हुये कवि ने उसमें भारतीय प्रेमगाथा पद्धति का भी उचित समावेश किया है। माननीय चन्द्रबली पाण्डे ने कवि निसार तथा शेख रहीम के फ़ारसी कथानक चयन पर कुछ शोक सा प्रकट किया है। उनका कहना है कि 'वह तो अधिक-से-अधिक उस बुझती हुई परम्परा की झलक भर है जो भारतीय वेशभूषा में परमप्रेम की दिव्य ज्योति दिखाती और फटे हृदयों को एक मार्ग का पता बताती थी', किन्तु जहाँ तक परमप्रेममार्ग का पता बताने का सम्बन्ध है कवि निसार अधिक असफल नहीं हुये हैं। उनका कथा-सङ्गठन शिथिल है। यदि वे अपनी कल्पनाशक्ति का कुछ अधिक उपयोग करके कथा के नायक यूसुफ़ को केवल नबी ही न रहने देकर

---

१. Once to his master a disciple cried—
'To wisdom's pleasent path be thou my guide'
'Hast thou ne'er loved ?' the master answered 'learn the ways of love and then to me return.
Drink deep of earthly love, that so thy lip May learn the wine of holier love to sip.'

It is well known that Yusuf or Joseph as we call him is looked upon by the people of Islam as the ideal of manly beauty and more than manly virtue but is notso generally known perhaps that the romantic tale of the love, the sufferings and the coming heppiness of Zulaikhan as told by Jami was intended to shadow forth the human soul's love of the highest beauty and goodness at a love which attain's fruition only when the soul has passed through the hardest trials and has like Zulaikhan been humbled, purified and regenerated. So this allegory resembles in its drift the famous and lovely one in which celestial cupid—

"Holds his dear Psyche sweet entranced after her wandering labours long. Till free consent the Gods among Make her his eternal bride."

The story is so charming that it has been tranlated in so many other European languages, in French and in German as well.

'Love' Yusuf Julekhan: Jami,
Translated by Ralph T. H. Griffith

मानवीय महान गुणों से अभिभूत एक सहृदय प्रेमी सिद्ध करते एवं अपने नायक को धीर प्रशान्त के साथ धीर ललित भी प्रदर्शित करते तो सम्भवत: उनका काव्य उस प्रेमगाथा परम्परा में पूर्णत: खप जाता।

सम्पूर्ण कथा जामी कृत यूसुफ़ जुलेखा मसनवी की भाँति है। कहीं-कहीं यूसुफ़ का दास होना तथा दासावस्था में अस्वच्छता के कारण सौन्दर्य का कम होना तथा विरहवृत्त तथा माता की समाधि का वर्णन आदि कुछ स्थल ऐसे हैं जहाँ कवि ने अपनी कल्पना को स्थान दिया है। पूर्वार्द्ध पूर्णत: कुरान में वर्णित कथा के आधार पर है। यूसुफ़ से जुलेखा का मिलन, विवाह तथा गृहस्थ जीवन में दाम्पत्य प्रेम आदि का प्रकाश कवि ने जामी के अनुकरण पर ही किया है। कवि ने अपने को फ़ारसी का ज्ञाता कहा है अत: ऐसा होना अधिक सम्भव है।

यूसुफ़ जुलेखा की प्रेम-पद्धति :

कवि निसार ने जिस प्रेम पद्धति का वर्णन अपनी कृति 'यूसुफ़ जुलेखा' में किया है वह अपने आरम्भ में तो 'उषा अनिरुद्ध' के प्रेम की भाँति तथा प्रयत्न काल में 'सावित्री सत्यवान' के आख्यान के समान है। अधिकांश सूफी प्रेमाख्यानों में जिस प्रेम पद्धति का वर्णन है उसका आरम्भ रूप, गुण, श्रवण या साक्षात् दर्शन से ही होता है। निसार के प्रेमाख्यान में यह नवीनता है कि ईश्वरीय गुणों तथा सौन्दर्य का प्रतीक नायक यूसुफ़ है जिसके सौन्दर्य को स्वप्न में देखकर नायिका जुलेखा प्रेम विमोहित हो जाती है। प्रियतम की प्राप्ति का प्रयत्न भी नायिका की ओर से ही होता है; नायक उसके सौन्दर्य एवं प्रेम के प्रति विमुख है। जुलेखा के कठिन प्रयत्नों, विरह तथा तपस्या को देखकर भारतेन्दु बाबू की पंक्ति 'पगन में छाले परे, नाघिवे को नाले परे, तऊ लाल लाले परे रावरे दरस को' की सत्यता सिद्ध हो जाती है। कथा के पूर्वार्द्ध में वर्णित नायिका जुलेखा का यूसुफ़ से प्रेम सर्वथा एकान्तिक है। कहीं-कहीं कवि की लोकदृष्टि ने उसे लोक सम्बद्ध करने का भी प्रयास किया है। जुलेखा को लोक लज्जा तथा व्यवहार का ध्यान प्रेम स्फुरण की अवस्था में ही रहता है, जैसे जैसे उसका प्रेम प्रगाढ़ तथा विकासोन्मुख होता जाता है उसे संसार के सारे बन्धन निरर्थक ज्ञात होते हैं। वह मीरा की भाँति सारी लोक लज्जा से अपना सम्बन्ध हटा लेती है। नायिका जुलेखा धीरे-धीरे किशोरावस्था त्याग कर यौवन की ओर अग्रसर हो रही है अत: अवस्था के आग्रह के कारण प्रेम का प्रभाव शीघ्र ही पड़ता है। सूफ़ियों ने रूप और प्रेम का गठबंधन प्रत्येक स्थल पर किया है, वास्तव में वे सौन्दर्य तथा प्रेम के उपासक ही हैं। अत: जुलेखा के हृदय में भी प्रेम का प्रस्फुटन स्वप्न में यूसुफ़ की अनुपम सौन्दर्य की मूर्ति को देखकर ही होता है। जुलेखा आधी रात में प्रेम की बातें सुनकर ही सोई थी। प्रेमांकुर के पल्लवित होने के लिये धरित्री पहले ही उर्वर हो चुकी थी —

आधि रात लहि जागि कुमारी, बात प्रेम के सुनत सुखकारी।

उस अँधेरी रात में जबकि सब सो रहे थे , अन्धकार विनाशक सूर्य ही मानो साक्षात् यूसुफ़ के रूप में प्रकट हो गये।

भान स्वरूप तहं आय कै, देखि रहे टक लाय।
लीन्ह प्रान तिन्ह काढ़ि कै, रूप अनूप दिखाय ॥

देखत नारि विमोहित भई, निरखि रूप बाउरु होइ गई।
नैन बान ते बेधा हीया, बात न आउ मौन भई तीया।

इस प्रकार जुलेखा के हृदय में यूसुफ़ को देखकर आश्चर्य तथा महानता से मिश्रित भावना का उदय होता है। वह अनूप रूप को देख आश्चर्य विमोहित हो मौन रह जाती है। उस सुन्दर मूर्ति के अदृश्य हो जाने पर उसे अकुलाहट का भान होता है और वह बेचैन होकर अन्य सारे कार्यकलापों तथा क्रीड़ाओं से विमुख हो जाती है क्योंकि वह सबसे अधिक आकर्षक वस्तु का दर्शन पा चुकी है। अभी उसमें लोकविमुख होने की भावना का प्रादुर्भाव नहीं हुआ है। वह 'मनभावनु ज्योति' के बिछोह से दुःखी अवश्य है किन्तु संकोच ने उसका साथ नहीं छोड़ा। एक दिन उसने अपनी विश्वासपात्र माता सदृश धाय से अपना रहस्य प्रकट किया। धाय ने उसके मन में शङ्का उत्पन्न कर दी कि कहीं बिना नांव गांव वाले पुरुष से प्रीत हो सकती है। सम्भावना यह भी थी कि कहीं किसी ने टोना न किया हो। उसकी चिन्ता बढ़ गई।

भूला खेल औ भोग बिलासा, भूला सुख और खेल हुलासा।

मरै जियै लाजन डरै, करै न विरह उघार।
जेहि पर परै सो जानै, लगन कै अगिन अपार ॥

स्वप्न में देखे गये रूप सौन्दर्य के परिचय को प्रगाढ़ करने के लिये ही सम्भवतः कवि ने तीन बार उस सुख स्वप्न का वर्णन किया है। उसका ध्यान सदैव उसी सौन्दर्य मूर्ति में लगा था। द्वितीय स्वप्न में यूसुफ़ ने अपनी ओर से भी प्रीति का विश्वास दिलाया।

कहा कि अस मोहि उपज्यो सोगू,
तुम्ह तें अधिक सो विरह वियोगू।

वह यूसुफ़ की बात सुनने में इतनी मग्न थी कि इस बार भी उसका नांव-गांव न पूछ सकी और विरह मग्न हो पागलों ऐसी चेष्टायें करने लगी। माता-पिता की दुलारी की औषधि की गई किन्तु 'भागे बैदन कहि दिन गाढ़े।' तीसरा स्वप्न देखने पर उसकी प्रेम धारणा निश्चित हो गई। उसे ज्ञात हो गया कि उसका प्रियतम मिस्र देश में है, और उसने दृढ़ निश्चय कर लिया कि :

जिऊं तो जाऊं मिसिर कहं, मरूं तो मारग मांह।
छार होहुँ उड़ि जाऊं अब, जहाँ बसै मोर नांह ॥

जुलेखा की प्रेम भावना आरम्भ से ही निर्दिष्ट तथा विशेषोन्मुख है, अब उसका पूर्ण परिचय प्राप्त हो जाने पर उसकी प्राप्ति का प्रयत्न भी जुलेखा की ओर से होता है। पश्चिम के तैमूस शाह सुल्तान का मिस्र के वजीर से अपनी दुहिता से ब्याह आग्रह करना सचमुच कुछ कठिन है जबकि भारतीय प्रेमगाथापरम्परा में मर्यादा के हेतु अपरिमित द्वेष कलह तथा रक्तपात होना कर्तव्य सा बन गया था; किन्तु जुलेखा का दृढ़ निश्चय तथा हठ उसके पवित्र प्रेम के परिचायक हैं। मार्ग में वजीर को देखकर जुलेखा को अपने भ्रम का ज्ञान हुआ और वह फिर विरहिणी हो जाती है। अब जुलेखा ने अपने सतीत्व की रक्षा के लिये अस्वस्थ होने का बहाना किया।

जुलेखा के अब तक की प्रेम पीर तथा विरह का कोई प्रभाव यूसुफ़ पर दृष्टिगोचर नहीं होता। रत्नसेन के तप का प्रभाव 'पद्मावत तेहि प्रेम संजोगा, परी प्रेमवस गहे वियोगा' पद्मावती पर पड़ता है। यहाँ कवि ने बुद्धिमानी से काम लिया। यूसुफ़ के चरित्र को कवि अत्यन्त संयत् चित्रित करना चाहता है अतः साक्षात्कार के पूर्व ही ऐसी चेष्टा काम चेष्टा होती जो यूसुफ़ ऐसे महापुरुष के उपयुक्त न थी। जुलेखा के पास दासरूप में रहकर जुलेखा के सौन्दर्य तथा काम चेष्टाओं को देखकर एक क्षण को उस ओर आकर्षित हो जाना अवश्य प्रेम स्फुरण कहा जा सकता है। किन्तु यूसुफ़ का प्रेम लोकबाह्य या ऐकान्तिक नहीं है। उसकी भावनायें कर्तव्य बुद्धि से शासित है। वह एक क्षण के लिये उत्पन्न राग का दमन कर देता है। जुलेखा उसके स्वामी की पत्नी थी। यूसुफ का अपने भाइयों के प्रति व्यवहार तथा माता के प्रति प्रेम भी लोक व्यवहार समन्वित है। जुलेखा यूसुफ़ के प्रेम के कारण निन्दित होती है किन्तु वह निन्दा को उपेक्षणीय मानती है। जुलेखा का प्रेम पूर्णतः ऐकान्तिक है। मिस्र में निन्दित तथा पति द्वारा परित्यक्त होने पर भी वह चालीस वर्ष तक यूसुफ़ की चाह में मनसा, वाचा, कर्मणा तल्लीन है। अपनी सम्पत्ति, सामर्थ्य तथा सौन्दर्य सब कुछ खो देने पर अत्यन्त वृद्धावस्था में नष्टप्राय नेत्र ज्योति ले वह यूसुफ़ के दर्शनार्थ जाती है। उसकी इस तपस्या में प्रेम का पुनीत रूप दृष्टिगोचर होता है। वह हृदय में आशा का मन्दज्योति दीपक लिये यूसुफ़ मिलन को उत्सुक है। यूसुफ़ के निधन पर वही विरह व्याकुल हो प्राणत्याग करती है। विवाह हो जाने के पश्चात् जुलेखा की विरक्ति प्रदर्शित करने का आशय सम्भवतः कथा में अलौकिकत्व का समावेश है। दाम्पत्य जीवन में यूसुफ़ परमप्रेमी के रूप में सम्मुख आते हैं। जुलेखा के प्रति इनका प्रेम अगाध है किन्तु जुलेखा के ईश्वर-भजन में किसी प्रकार का व्यवधान उपस्थित करते उन्हें कवि ने नहीं दिखाया है, प्रत्युत उसकी सुविधा के लिये एक मन्दिर निर्मित करवाया गया। उसे अपने पुत्रों की चिन्ता तथा अन्य सांसारिक चिन्ताओं से मुक्त करने के लिये भी यूसुफ़ ने यथेष्ट प्रबन्ध कर दिया है। अन्ततः यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्पूर्ण कथा में जुलेखा का प्रेमी स्वरूप ही अधिक सम्मुख आता है। यूसुफ़ का प्रेम लोक व्यवहार की उपेक्षा न कर संयत तथा मर्यादित है। याकूब का पुत्र प्रेम सराहनीय है।

वियोग-पक्ष :

'यूसुफ़ जुलेखा' कथा में वियोग दो स्थानों पर दृष्टिगोचर होता है :

१. यूसुफ़ एवं याकूब का विछोह।

२. जुलेखा तथा यूसुफ़ का वियोग।

यूसुफ़ को बन में भेजते समय याकूब पुत्र वियोग से व्याकुल हो गये। उन्हें पुत्र वियोग की पूर्व सूचना मिल गई। 'द्रुम विछोह' के पास खड़े होकर याकूब ने रो-रोकर अपने हृदय को समझाया। प्रातः से सायंकाल तक वे वैसे ही खड़े खड़े पुत्र की प्रतीक्षा करते रहे। उनके दुःख से वृक्ष भी पसीज गया :

'डारहिं डार औ पातहिं पाता, सुना वृक्ष तिन विरहक बाता।'

याकूब का यूसुफ़ के प्रति प्रेम भी लोकबाह्य है। उन्हें लोकव्यवहार के अनुसार सब पुत्रों पर समान ममता तथा समान सम्पति भाग का प्रदान करना ठीक न लगा। अन्य पुत्र प्रतिदिन वन में पशु चारण के हेतु जाते थे किन्तु यूसुफ के एक दिन के प्रवास ने ही उन्हें पूर्ण वियोगी बना दिया। इन सब के अन्तर्गत एक भेद छिपा है। यूसुफ़ ईश अंशी हैं और याकूब उनके भक्त। उनके मध्य का प्रेम पिता पुत्र का प्रेम नहीं है ; उपासक और उपास्य का प्रेम है। उनके प्रेम की भाँति वियोग भी लोकबाह्य है। वे जब यूसुफ़ के वियोग में नगर के बाहर कुटी बनाकर रहने लगते हैं तो एकाएक भरत का स्मरण हो आता है।

तब याकूब सो कुटी बनावा, बाहर नगर तहाँ चलि आवा।
रोदन भवन नाम तेहि राखा, यूसुफ़ नाम करैं नित भाखा॥

उस 'रोदन-भवन' में रो-रोकर उन्होंने अपनी नेत्र-ज्योति खो दी। पुत्र के सम्बन्ध की शङ्कायें स्वाभाविक तथा वात्सल्य भावना से ओतप्रोत हैं :

केहि वन मँह तुम्ह का परहेले, तुम्ह बालक कत फिरहु अकेले।
केहि सो सांझ लै हियै लगाउब, भोर होत केहि लाल जगाउब।
केहि के सुनब मधुर रव बाता, केहि कर हिये लगाउब गाता।

यूसुफ़ भी पितृ वियोग से दुखी था। उसे विश्वास था कि उसका पिता उसके विछोह से अत्यन्त दुखी होगा। यूसुफ़ ने रो-रोकर जो कुछ अपने भाइयों से कहा वह अत्यन्त हृदयद्रावक है। यूसुफ़ की सन्त प्रवृत्ति का परिचायक है। यूसुफ़ बराबर अपने पिता तथा भाइयों की चिन्ता करता रहा। उसके मन में दुर्भाव प्रवेश न पा सका। मार्ग में माता की समाधि देख वह दुख से व्याकुल हो उससे चिपटकर रोने लगा। इस स्थल पर कवि निसार ने सच्ची सहानुभूति का परिचय दिया है। यूसुफ़ को विलम्ब करते देख एक दास ने यूसुफ़ को मारा ;

'जब सो दास यूसफ़ कहं मारा, माता कबर कांपै एक बारा।'

मातृ प्रेम ऐसी ही वस्तु है। उसकी माता सर्वत्र व्याप्त है। यूसुफ के प्रति किये गये अत्याचार पर प्रकृति भी क्षुब्ध हो उठी और उसका कर्कश स्वरूप प्रत्यक्ष हो गया। जड़ हृदय में भी सहानुभूति का सञ्चार हो उठा।

आंधी उठी भयो अँधियारा, सूझि परै नहिं हाथ पसारा।
घन गरजै बादर चढ़ि आये, दामिनि कौंध चमकि गिहराये।

सौदागर के यूसुफ़ से क्षमा माँगते ही प्रकृति का फिर वही सौम्य और शान्त स्वरूप हो गया जो पहले था।

२. जुलेखा का वियोग ही कथा में प्रधान है। वास्तव में जुलेखा का सम्पूर्ण जीवन ही वियोगमय है। संयोग का स्थल तो नाम मात्र को है।

स्वप्न में यूसफ़ के सौंदर्य को देख जुलेखा विमोहित हो जाती है और यूसुफ़ की मूर्ति के अन्तर्हित होते ही वह वियोग का प्रथम अनुभव करती है। उसके हृदय में अकुलाहट है जो उसे चैन नहीं लेने देती।

उसकी अस्थिर तथा विह्वल अवस्था का वर्णन करने के लिये कवि ने अत्यन्त सुंदर तथा उपयुक्त उपमानों का आश्रय लिया है:

'विकल सरीर भयो जल पारा, विरह अगिन से सुठि विकरारा।'

उसका हृदय पूर्णत: यूसुफ़ के ध्यान में मग्न था। यहाँ तक कि सुप्तावस्था में भी उसका चेतन जगत यूसुफ़ की ज्योति से आलोकित रहता था। वह यूसुफ़-प्रेम में बिल्कुल पागलों ऐसा आचरण करने लगी। इस स्थल पर कवि का वर्णन शामी परम्परा का अनुगमन करता है। प्रेम में पागल का वस्त्र फाड़ना, यत्र तत्र भागते फिरना, रक्त के आंसू बहाना, शरीर को क्षतविक्षत करना आदि भारतीय परम्परा की वस्तुयें नहीं हैं। इन सब क्रियाओं में वियोग का ओछापन छलकता है। भारतीय वियोगी का हृदय इतना विस्तृत हो जाता है कि वह अपने प्रियतम की स्मृति के साथ अपने सारे वियोग दुःख को भी चुपचाप सह जाता है। यह हो सकता है कि उसके सामान्य नित्यकार्यों में कुछ व्यतिक्रम हो जाय।

जुलेखा की प्रियतम प्राप्ति के हेतु सर्वत्याग की भावना अवश्य भारतीय है।

जिऊं तो जाऊं मिसिर कहं, मरूँ तो मारग मांह।
छार होहुँ उड़ि जाउं अब, जहाँ बसै मोर नांह॥

इस वर्णन में हृदय वेग की स्वाभाविक व्यञ्जना के साथ-ही-साथ भाव का उत्कर्ष भी अत्यन्त मार्मिक है। जुलेखा की अभिलाषा और जायसी की नागमती की अभिलाषा में कितना अधिक साम्य है:

'यह तन जारौं छार कै, कहौं कि पवन उड़ाव।
मकु तेहि मारग उड़ि परै, कन्त धरै जहं पाँव ॥'

अपने पति को यूसुफ़ स्वरूप न पाकर जुलेखा जो अभी विरह का पूर्णत: पल्ला छोड़ भी न पाई थी पुन: दु:खी हो जाती है।

लाज धरम सब छाँड़ि के आयों मिसिर के देस।
चहौ प्रानपत मोर जो, काहु वेग परवेस ॥
'पानी हेरै गयो पियासा, रेती देख सो भयौ तरासा।
कोइ बोहित चढ़ि चाहत पारा, बोहित फट्यो जाइ मझधारा।
भयो काठ वह प्रान अधारा, बूड़त बहुत सो ताहि मझारा।
जब वह काठ नियर भा आई, काल सरूप भयौ दुखदाई।

इन पंक्तियों में जुलेखा की स्थिति का कितना स्पष्ट वर्णन है।

वियोग वर्णन में षट्ऋतु वर्णन तथा बारहमासे की चर्चा होती रही है। कवि निसार ने भी वियोगवर्णन की इस परम्परा का निर्वाह किया है। वियोगावस्था में अपने चतुर्दिक विस्तृत प्रकृति भी दुखी दिखाई पड़ती है। वियोगी को सर्वत्र अपने वियोग की परछाहीं ही दृष्टिगोचर होती है।

फूले फूल सिखी गुंजारहिं, लागी आगि अनार के डारहिं।
मैं का करूं कहां अब जाऊं, मों कंह नहिं जगत मंह ठाऊं।
टेसू फूल तो कीन्ह अंजोरा, लागी आगि जरै चहुं ओरा।

प्रियतम के विछोह में असहायावस्था का वर्णन भी कवि ने किया है।

घन गरजैं दामिनि लोकाहीं, नारि कंत के गोद छिपाहीं।
हम केहि के गिउ लावें बाहीं, पावस समय देह बल नाहीं।
घर हमार सब भीगा पानी, उन राजा हम वहि उनरानी।

जाड़े की रात के साथ ही साथ विरह भी बढ़ रहा है :

जाड़ा विरह रैन जस बाढ़े, अरुझे प्रेम फांस हिय गाढ़े।

इस प्रकार प्रकृति तथा उसके विरह में साम्य और वैषम्य दोनों ही हैं। चतुर्दिक व्याप्त सुख उसे उसकी विषय अवस्था का बोध कराके दुखी कर देते हैं। और चारों ओर व्याप्त प्रकृति का उदास तथा निर्मम स्वरूप उसे अपने प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करता प्रतीत होता है। वह किसी भी प्रकार सुखी नहीं है। निसार अपने बारहमासा वर्णन में अधिक सफल नहीं हो सके हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि वे केवल एक परम्परा का अनुसरण कर रहे हैं जिससे उन्हें स्वयं विशेष सहानुभूति नहीं है, तभी तो उन्हें रीतिकालीन 'लाल' की याद आ गई।

ऐसे रितु में लाल बिन, कैसे जियें ललिता दई।

यह पंक्ति उन्हें रीतिकालीन कवि सिद्ध कर देती हैं।

यद्यपि निसार कवि के अधिकांश विरह वर्णन में भारतीय जीवन के परिचायक भावों का ही प्राधान्य है किन्तु यत्र तत्र फ़ारसी साहित्य द्वारा पोषित भावों के वीभत्स चित्र भी सम्मुख आ जाते हैं।

चैत मास तपि गयो बिछोहे, तबते रकत आंसु में रोये॥
परहिं जो आंसु भूमि पर टूटी, रेंग चली जस बीर बहूटी।

तथा

नैन काढ़ दोऊ लिहिस, दीन्हेसि ढेर पर डार।
जेहि नैन पिउ तोहि लखों, देखों काह निहार॥

संयोग शृंगार :

यूसुफ जुलेखा कथा में विप्रलम्भ शृंगार ही प्रधान है। संयोग शृंगार का वर्णन नहीं के बराबर है। कवि के ऐसा करने का उद्देश्य अपनी कथा में अलौकिकत्व का समावेश है। सूफ़ी कवि निसार जुलेखा को इश्क मजाजी के चरम पर पहुँचाकर यूसुफ जुलेखा के व्याह के पश्चात इश्क हकीकी की चर्चा करना आरम्भ कर देते हैं। जुलेखा जिसने अपना सम्पूर्ण जीवन यूसुफ के लिये तपस्या करने में बिता दिया था उस एक ईश्वर की कृपा से यूसुफ को तथा अपने खोये सौन्दर्य को फिर से पा जाती है। तब उसे ज्ञात होता है कि उसने इतना समय जिस आराध्य के लिये गंवाया है उससे भी अधिक रूप सम्पन्न एक परमात्मा है जिसकी आराधना करना सबका उद्देश्य है और अपनी इसी भावना के वशीभूत हो वह सांसारिक विषयों से विरत हो जाती है, अतः कवि को संयोग शृंगार का वर्णन करने के लिये उचित अवसर प्राप्त न हो सका।

ईश्वरोन्मुख प्रेम :

कवि निसार सूफ़ी मतानुयायी थे अतः उनकी रचना में ईश्वरोन्मुखी प्रेम की उपलब्धि अत्यन्त स्वाभाविक है। सूफ़ी साधकों के व्यवहार में ईश्वर की कल्पना प्रियतम के रूप में की जाती है तथा सम्पूर्ण कथा के अन्त में उसे अन्योक्ति कहकर उसका आध्यात्मिक अर्थ स्पष्ट करने की चेष्टा होती है। किन्तु कवि निसार की कथा का रूप दूसरा ही है। इसमें ईश्वर की कल्पना प्रियतम के रूप में नहीं है प्रत्युत प्रियतम के सौन्दर्य के आधार पर ईश्वर की कल्पना की गई है और उस काल्पनिक सौन्दर्य के वशीभूत हो अन्य सांसारिक विषयों का त्याग कर दिया है। तात्पर्य यह कि 'इश्क मज़ाज़ी' को 'इश्क हकीक़ी' के सोपान स्वरूप वर्णित किया गया है। 'इश्क मज़ाज़ी में ही 'इश्क हकीक़ी' की अन्योक्ति बैठाने की चेष्टा नहीं की गई है यद्यपि कवि सर्वत्र

इसमें सफल नहीं हो सका है । कवि का प्रेमवर्णन लौकिक पक्ष से अलौकिक पक्ष की ओर अग्रसर होता है । ईश्वर प्रेम ही इस जगत में साध्य है। किसी अन्य का ध्यान तथा बहुदेवोपासना आदि सब मिथ्या तथा व्यर्थ के आडम्बर हैं । याकूब पुत्र प्रेम में इतने मग्न थे कि वे ईश्वरोपासना से भी विमुख हो जाते थे। ईश्वर अपने भक्तों में मिथ्या दम्भ तथा अज्ञान को सह नहीं सकता । वह शीघ्र ही उसे निर्मूल कर देता है। यूसुफ को अपने सौन्दर्य पर गर्व था। इतना कि वे उसका मूल्यांकन भी करने लगे। इसका खण्डन उन्हें केवल तीन दरप में बेचकर कर दिया गया। यूसुफ ने एक दिन अपने एक दास को कुपित हो पीटा । फलस्वरूप यूसुफ को भी दास के हाथों पिटना पड़ा । कवि इन स्थलों पर भारतीय कर्म भावना से पूर्णतः प्रभावित दिखाई पड़ता है । एक तपस्वी की भिक्षा पर ध्यान न दे याकूब अपने पुत्र के प्रेम में ही लीन रहे तथा भिक्षुक ने याकूब को श्राप दिया आदिक प्रसंग यूसुफ जुलेखा कथा में नहीं हैं। ज्ञात होता है कि दुष्यन्त शकुन्तला तथा रामायण के नारद प्रसंग आदि से प्रभावित होकर ही कवि ने इनका समावेश किया है। इन सभी प्रसंगों के वर्णन में कवि का उद्देश्य सांसारिक मिथ्या मोह आदि से ऊपर उस परमात्मा की एक सत्ता पर विश्वास स्थापित करना है । यूसुफ से वियुक्त होने पर याकूब की अवस्था वर्णन करने के बाद कवि ने कुछ स्वतंत्र चौपाइयां लिखी हैं जिनसे कवि का तात्पर्य स्पष्ट हो जाता है।

> अलख छांड़ चित उन सौ लावे, ताकर फल मानुस अस पावै ।
> दीन दयाल करै अस दाया, दिये अनूप सुखी कर साया ।
> तेहि दयाल कहँ हृदय बिसारै, देखे निसदिन नष्ट बिचारे ।
> फुलवारी बहु फूल लगाये, एक ते एक सुरंग बनाये ।
> जो मन पुहुप एक तिन लावे; जाय सूख कुछ हाथ न आवे ।
> चित्र अनेक जो रच्यो चितेरे, मोहित होय रूप रंग हेरे ।
> आवे चित्र काज कछु नाहीं, चित्र काज संवारहु मन माहीं ।
> काहे न चित्त चितेरे लावहु, चित्र विचित्र रूप निरमावहु ।
>
> जो कुछ रहे न हाथ महं, तेहि चित्त दीजिय काउ ।
> जो न मरे नहिं बीछुड़े, तेहि ते प्रीति लगाउ ॥

यूसुफ ईश्वर की सुन्दर सृष्टि का प्रमाण है। सृष्टि को उस परमात्मा की महानता समझ कर प्यार करना उचित है किन्तु सृष्टि के हेतु उस सृष्टि कर्ता को भूल जाना ठीक नहीं। इसी प्रकार कवि ने जुलेखा को यूसुफ के विरह में अत्यन्त दुखी दिखाया है। और वह तबतक बराबर वियोगिनी ही रहती है जबतक उसका ध्यान अनेक देवी देवताओं में लगा रहता है, जैसे ही वह इन बिखरी हुई भावनाओं को एकत्र करके एक ईश्वर की ओर उन्मुख कर देती है उसे यूसुफ तथा अपना सौन्दर्य और सत्ता आदि प्राप्त हो जाती है। उसे विश्वास हो जाता है कि इन सब गोचर पदार्थों से ऊपर भी एक परमतत्व है जिसकी

आराधना ही श्रेयकर सोपान है और वह अपने चिराभिलषित यूसुफ के प्रेम की भी उपेक्षा कर देती है।

मैं तो तोहि न जान्यो, जनम अकारथ सोइ।
धन्य गरीब नेवाज तुइं, को अस दूसर होइ॥

मैं बिरथा यह जनम गंवाया, प्रेम विपत मानुख सों लावा।
काहे न प्रेम अलख तें लाऊँ, जेहितें भोख भुगत पुन पाऊँ।

जुलेखा को विश्वास हो गया था कि इस संसार की सारी वस्तुयें अस्थिर हैं अतः उनकी इच्छा करना अनुचित है। इच्छा केवल उसी अनन्त शाश्वत परमात्मा के प्रेम की सराहनीय है :

मैं जोवन अरु रूप उनंगा, देख लीन्ह कछु रहे न संगा।

जाय फूल कुंमलाय जब रहै रंग न बास।
तेहि ते संवरहु एक वह जेहि के दुओ जग आस॥

इस प्रकार कवि ने ईश्वरोन्मुख प्रेम को शनैः शनैः जगत के प्रेम आधार पर ही पुष्ट होता दिखाया है।

प्रेम-तत्व :

कवि निसार ईश्वर के बाद प्रेम को ही वन्दनीय समझते हैं तथा संसार में सर्वप्रथम प्रेमतत्व की ही उत्पत्ति मानते हैं। प्रेम के बाद अग्नि, अग्नि के बाद पवन, फिर पानी तथा पानी के पश्चात् धरती सरग, सूर्य चन्द्र तारागण इत्यादि की स्थिति इस जगत में हुई :

सुमिरौं प्रथम स्वरूप सुहावा, आदि प्रेम जिन तन उपजावा।

प्रेम का स्थान मानव के हृदय में है मनुष्य रचना के बाद ईश्वर ने उसे प्रेम सौंप दिया।

तेहि सौंपा वह प्रेम क थाती, दीपन मांह धरा जस बाती।
रचा मनुष तेहि रूप सोहावा, प्रेम आस तेहि हिये छिपावा।

इसी प्रेम तत्व का संचार यूसुफ को स्वप्न में देखकर जुलेखा के हृदय में हुआ। उस स्वप्न के अन्तर्हित होते ही जुलेखा की दशा तुषारहत कमल के सदृश हो गई। वह चुपचाप अपनी वेदना सहने लगी। इसी मध्य उसे द्वितीय स्वप्न दिखाई दिया। यूसुफ ने विश्वास दिलाया कि वह भी जुलेखा के प्रेम में अधीर है।

कहा कि अस मोहि उपज्यो सोगू।
तुम तें अधिक सों बिरह वियोगू ॥

सदा मोहि तुम्ह नियर विसेखो, दूजे पुरुष और नहिं देखो।

मिलन में यदि विलम्ब या कठिनाई हो तो प्रेमी उसकी चिन्ता कब करते हैं।

होय विलम्ब सोच जनि मानहु, प्रेम न कतहुँ अविरथा जानहु।

जुलेखा को इन वचनों से ऐसा ढाढ़स मिला कि अब वह लोकलज्जा, संकोच सब कुछ त्यागकर केवल यूसुफ के ध्यान में रहने लगी :

रखै लाग चित अविरम जोगू, भये मोहित लखि विरह वियोगू।

और जुलेखा अपने प्रियतम को सदैव के लिये अपने पास रहने को विवश करने के लिये उतावली हो गई। प्रिय को पुनः अदृश्य होने से रोकने के लिये जुलेखा की युक्ति में कवि ने कितनी कोमल कल्पना की है।

अबकी बेर बैर तोहिं पाऊँ, बरुनि सजल पग सांकर नाऊँ।

एक प्रिय को हृदय में स्थान दे देने पर दूसरे के लिये स्थान कहाँ। प्रिय क्या और कैसा है इसका विवेचन प्रेमी का लक्ष्य नहीं होता, वह तो प्यार करता है। उस प्रेम में सामान्यता का अभाव होता है :

तोर जोत मोर हिये समानी, दूसर और कहा मैं जानी।

अन्तकाल में निर्धन, शक्तिहीन, भिखारिणी जुलेखा से जब यूसुफ ने ईश्वर से अपने लिये कुछ मांग लेने का आग्रह किया तब वह कहती है कि :

मांगहु तुम्ह करतार तें देहिं नैन कर जोत।
जेहि तें देखहुँ तोर मुख, चहौं न हीरा मोत ॥

वह एक बार प्रिय का दर्शन करना चाहती है। संसार की सर्वाधिक मूल्यवान वस्तु भी दर्शन लाभ प्रदायनी दृष्टि के सम्मुख कुछ नहीं है।

कथा-सङ्गठन :

'यूसुफ़ जुलेखा' ग्रन्थ का कथा संगठन अन्य सूफ़ी प्रेमाख्यानों की भाँति ही है। अन्य प्रेमाख्यानों की अपेक्षा 'यूसुफ़ जुलेखा' में रति भावना की उन्मुक्त व्यंजना हुई है। कवि ने नीति एवं धर्म की चर्चा अधिक न करके जुलेखा की प्रेम भावना का वर्णन प्रचुरता से किया है। कथा का आरम्भ परम्परागत है। कुरान की कथा को कवि ने अपनी

कल्पना से समन्वित करके वर्णित किया है। जुलेखा के जीवन की यूसुफ़ के सम्पर्क में आने के पूर्व, की चर्चा कवि कल्पित है। बाद में यूसुफ़ और जुलेखा के ब्याह एवं सन्तान की चर्चा, यूसुफ़ का प्रेमी स्वरूप, निधन एवं जुलेखा की मृत्यु आदि घटनायें कुरान में नहीं हैं। फिर भी जुलेखा का मिस्र के वजीर अजीज का सम्बन्ध स्वीकार कर लेने से कुछ जटिलता आ गई है। कथा की यही जटिलता जहाँ एक ओर वजीर के यहाँ दास रूप में उपस्थित यूसुफ़ की सच्चरित्रता को दृढ़ करती है वहीं दूसरी ओर जुलेखा के प्रेम भाव की तीव्रता को पुष्ट करती है। जुलेखा प्रत्येक सम्भव प्रयास के द्वारा यूसुफ़ को अपना बनाना चाहती है। कामचेष्टाओं के द्वारा, कारावास के दण्ड के द्वारा तथा रूप-सौंदर्य एवं पुनीत प्रेम की दुहाई देकर वह यूसुफ़ को अपना बनाना चाहती है किन्तु यूसुफ़ पर इन प्रयत्नों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। राजपुत्री होकर भी वजीर से ब्याह की स्वीकृति, मिस्र देश में निन्दित एवं पति द्वारा परित्यक्त होने पर भी यूसुफ की लगन उसके प्रेम की दृढ़ता के परिचायक हैं। इन कष्टों के झेलने के पश्चात् जब उसे यूसुफ़ की प्राप्ति हुई तो मानवीय गुणों के आदर्श यूसुफ़ के स्थान पर उसने परमेश्वर का प्रेम ही श्रेय समझा। कुरान में यूसुफ़ का चरित्र नबी के रूप में वर्णित है। जुलेखा का चरित्रचित्रण हेय है जबकि 'यूसुफ़ जुलेखा' प्रेमाख्यान में जुलेखा का चरित्र आदर्श प्रेमिका के रूप में स्पष्ट लक्षित होता है। कवि 'इश्क मजाजी' के आधार पर 'इश्क हकीकी' की स्थापना करना चाहता है। यूसुफ़ के निधन पर जुलेखा भी शोकाभिभूत होकर प्राण त्याग देती है। कवि ने कथा को दुःखान्त बनाने में अपना आशय स्पष्ट नहीं किया है फिर भी प्रतीत यही होता है कि पुत्र शोक से विह्वल कवि निसार ने संसार की नश्वरता के वर्णन के कारण ही कथा को दुःखान्त बनाया है।

रस :

कथा में शृङ्गार, वात्सल्य एवं करुण रस की चर्चा हुई है। शृङ्गार रस के संयोग एवं वियोग दोनो पक्षों की चर्चा हम पीछे कर चुके हैं। वात्सल्य रस का परिचय याक़ूब की यूसुफ़ के प्रति की गई चिन्ता में एवं करुण रस का परिचय यूसुफ़ के निधन पर होता है।

वात्सल्य भावना का बड़ा ही सजीव चित्रण यूसुफ़ के वन चारण जाने के समय हुआ है। यूसुफ़ के जाने के पूर्व याक़ूब ने उसकी वेश भूषा ठीक करके प्यार किया। जब यूसुफ़ लौटकर न आया तो याक़ूब पुत्र वियोग में व्याकुल हो रुदन करने लगे।

अपने हाथ सों केस बनाये, और पितैं बागा पहिराये।
वार बार लै हिये लगावा, माया तें चख जल भरि आवा।

उनकी चिन्ता एवं पुत्र प्रेम इन पंक्तियों में साकार हो उठा है :

केहि वन महं तुम कां परहेले, तुम्ह बालक कत फिरहु अकेले।

केहि सो सांझ लै हिये लगाउव, भोर होत केहि लाल जगाउव ।
केहि के सुनब मधुर रस बाता, केहि कर हिये लगाउव गाता ।

करुण रस :

यूसुफ़ निधन प्रसङ्ग में करुण रस प्राप्त होता है। यूसुफ़ की मृत्यु हो जाने पर जुलेखा विलाप करती है :

चालीस बरस जोग मैं कीन्हा, सुन कै नांव सबै कुछ दीन्हा ।
जब तोर नांव सुनावै कोई, पावै लाख देऊं जो कोई ।
वीस बरस रह्यों दरस अधारा, बीस बरस सुन नाम सँभारा ।

इस विलाप में किञ्चित वीभत्सता आ जाती है जब जुलेखा अपने दोनों नेत्र निकालकर यूसुफ़ के शव पर फेंक देती है :

नैन काढ़ि दोउ लिहिस, दीन्हेसि ढेर पर डार ।
जेहि नैनन पिउ तोहि लखौं, देखौं काह निहार ।।

इसके साथ ही जुलेखा भी वहीं प्राणत्याग कर देती है :

खाय पछार जो छार पर, करै आह एक बार ।
पंछी प्रान सों उड़ि गयो, रहे छार मँह छार ।।

छन्द :

'यूसुफ़ जुलेखा' ग्रन्थ की रचना भी दोहा चौपाई के क्रम से हुई है। कवि ने एक अर्द्धाली को ही चौपाई मान लिया है। नौ अर्द्धालियों के बाद एक दोहे का क्रम सम्पूर्ण ग्रंथ में निबाहा गया है। इसके अतिरिक्त कवि ने षट्ऋतु वर्णन के अन्तर्गत सोरठा एवं सवैया का भी प्रयोग किया है। पहले कुछ अर्द्धालियों एवं दोहे में उसी ऋतु का वर्णन करके फिर कवि ने सवैया में उसी विषय का प्रतिपादन किया है।

सवैया :

सूखि समुन्द्र गये रवि तेज, सूखि गये सरिता जलधारी ।
सूखि गये पुहुमीपति मन्दिल, सूखि गये जल मेघ सुखारी ।

सूखहिं कूप तड़ाग लता द्रुम, बेलि बली बन औ फुलवारी ।
सूखहि निसार अंबुनल सूखहिं, नाहिन ये अंखियान दुखारी ।।

सोरठा :

चहुँ दिस बजे निसान, हिये आन जागा मदन।
केहि विधि रहे परान, विरह बान बेधे सदा ॥

अलंकार :

कवि निसार के काव्य में भी सादृश्यमूलक अलंकारों का प्रयोग ही अधिक हुआ है। उपमा, रूपक, उल्लास, दृष्टान्त, प्रतीप, अनुप्रास अतिशयोक्ति आदि अलंकारों का प्रयोग है।

दृष्टान्त :

दिये बहुत दुख संत कंह, करै बहुत उद्धार।
जैसे कंचन कीजिये खरा अगिन मंह डार।

अनुप्रास :

डारहिं डार औ पातहिं पाता, सुना वृक्ष निन विरहक बाता ॥

उल्लेख :

कोउ कहै अहै तम राजा, सोहै तहवां जोत विराजा।
कोउ कह अहै निवेस सोहावा, बरत हेत कालिंदी आवा।
कोउ कहै कि नागिन कारी, दीन्ह छांड़ि मन सों उंजियारी।
कोउ कहै श्याम अलि मोहा, पुहुप पराग आय तेहि सोहा।

भाषा :

'यूसुफ जुलेखा' ग्रन्थ की भाषा भी साधारण बोलचाल की अवधी है। फारसी, अरबी या संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग ग्रन्थों में नहीं है। कवि ने मुहाविरों का प्रयोग भी किया है जैसे आँखो में सरसों का फूलना, चाटक लगना, जर के छार होना, पंछी करते उड़ भागा, भवन का काट खाना आदि मुहाविरों के प्रयोग से भाषा और भी सरल हो गई है। कवि ने कवित्तों एवं सोरठों में जहां ऋतु वर्णन किया है वहां भाषा कुछ ब्रजभाषा से भी प्रभावित है।

कवि निसार के वस्तु वर्णन परम्पराभुक्त है। नगर महल यात्रा का वर्णन विस्तृत नहीं है। यहां तक कि यूसुफ और जुलेखा के व्याह का वर्णन भी विशेष नहीं है। ऐसा

ज्ञात होता है कि इन वर्णनों में कवि का मन विशेष नहीं रमा है। षट्ऋतु, बारह मासे, नखशिख आदि का वर्णन अवश्य विस्तार से है।

रूप-सौन्दर्य-वर्णन :

यह वर्णन भी परम्परागत उपमानों के आधार पर ही है। कवि ने सृष्टि के प्रत्येक सुन्दर पदार्थ की योजना जुलेखा के रूप-सौन्दर्य वर्णन में कर दी है। यद्यपि यूसुफ के अद्वितीय सौन्दर्य के आधार पर ही कथा की गति है किन्तु कवि ने उसका वर्णन ही नहीं किया। सम्भवत: उसे मानुष समान कहकर कवि ने उसपर अपनी दृष्टि निक्षेप की असमर्थता सूचित की है। इससे या तो यह ज्ञात होता है कि कवि में स्वतन्त्र उद्भावना की क्षमता नहीं है, वह केवल परम्परागत वर्णनों के आधार पर नारी सौन्दर्य की चर्चा ही कर सकता है या फिर वह उस महानता को व्यञ्जित करना चाहता है जिसके चित्र की रचना में 'भये न केते जगत के चतुर चितेरे कूर' कथन सत्य बैठता है।

जुलेखा का रूप वर्णन दो स्थानों पर है। प्रथम तो उसके रूप-सौन्दर्य का वर्णन उस समय है जब वह प्रेम या वियोग दोनों से ही अपरिचित है। द्वितीय स्थान पर वह पुन: अपना गत सौन्दर्य प्राप्त कर विवाह की सज्जा धारण करती है। इस स्थल पर बारहों आभूषण, सोलहों शृंगार तथा नखशिख का पुन: वर्णन है। जुलेखा का रूप सौन्दर्य अनन्त है उसे देखकर किसी का चेत रहना असम्भव है—'बाउर होय जो दरसन हेरा'; जुलेखा के सौन्दर्य और प्रकृति सौन्दर्य में साम्य है :—

दामिन अस वह मांग सोहाई, केस घमन्ट घटा जस छाई।

नयन वर्णन में कवि की उपमा बिहारी के वर्णन से साम्य रखती है।

सेत साम अरु अरुन सोहावा।
बिख अमिरत मधु घोर दिखावा॥

जुलेखा को विश्वकर्मा ने स्वयं रचा है। सुन्दर कपोलों पर तिल की रचना उसे कुदृष्टि से बचाने के लिये है :—

'विसुकरमै लकि सुधर कपोला, दीठि परै तिल दीन्ह अमोला।

जुलेखा की मुसकान में जीवनदायिनी शक्ति है। उसका हास्य अमृत के समान माधुर्ययुक्त, शान्त तथा शीतल है।

'जो वह अधर मधुर मुसकाई, तो मिरतक कंह देत जियाई।'

इस कथा में अन्य सूफ़ी कवियों की भांति नारी रूप में ईश अंश की कल्पना नहीं की गई है, अत: जुलेखा के रूप वर्णन में कवि ने कहीं भी रहस्यमय परोक्षाभास का वर्णन नहीं किया है। उसका रूप वर्णन सौन्दर्य वर्णन मात्र है। कवि ने यूसुफ के रूपवर्णन का

प्रयास ही नहीं किया। जुलेखा की कटि-सूक्ष्मता का वर्णन कवि ने निर्गुण-सगुण भावना के सूक्ष्म भेद का आधार लेकर किया है :—

निरगुन सरगुन पाव जस, तस कटि परै न देखि।
अवर अंग देखैं नयन, मागहिं लंक विसेख॥

स्वभाव-चित्रण :

'यूसुफ जुलेखा' में पात्रों का स्वभाव चित्रण किन्हीं वर्गगत या व्यक्तिगत विशेषताओं के अनुसार नहीं है। अधिकतर पात्रों के सामान्य स्वभाव का ही वर्णन है।

यूसुफ जुलेखा कथा में आरम्भ से अन्त तक रहने वाले पात्र तीन हैं। याकूब, यूसुफ तथा जुलेखा। पहले हम इन्हीं के स्वभाव का चित्रण करेंगे।

यूसुफ :

नायक होने की प्राचीन पद्धति के अनुसार यूसुफ के चरित्र में आदर्श गुणों की स्थापना है। यूसुफ अपने बाल्यकाल में पिता का भक्त है यद्यपि उसके भाई उससे ईर्ष्या करते हैं, डाह रखते हैं तथापि वह उन सबों का भी हितचिन्तक है। अत्यन्त सुन्दर होने पर भी केवल एक स्थान पर ही उसके सौन्दर्य गर्व का कुछ आभास मिलता है। बन के मार्ग में जाते समय धूप तथा प्यास से व्याकुल यूसुफ जिस सौजन्यता से अपने भाइयों से विनय करता है वह सराहनीय है। जब उसके भाइयों ने उसे कुयें में ढकेल दिया तब वह रो रोकर यही विनय करता है कि उनके इस व्यवहार से पिता को अत्यन्त दुःख होगा। वे उसके पिता की भली प्रकार चिन्ता करें। उन्हें किसी प्रकार का कष्ट न होने दें। उसके इस संदेश को पढ़कर वनगमन के समय राम के संदेश का ध्यान आ जाता है। मार्ग में दास न होते हुये भी भाइयों की सम्मान रक्षा के लिये सत्य का उद्घाटन न करना, अत्यन्त रूपवती जुलेखा के प्रेम को भी कर्तव्य भावना के वशीभूत हो ठुकरा देना उसकी सज्जनता के प्रमाण हैं।

यूसुफ के भाइयों ने उसके प्रति अनेक प्रकार के अत्याचार किये। फिर भी अकाल के समय यूसुफ ने अपने भाइयों की द्वेष रहित सहायता की। अरबों की ऐसी प्रतिकार भावना प्रधान लड़ाकू जाति में ऐसे शान्त शीलवान चरित्र की स्थापना सराहनीय है। विवाह के पश्चात् यूसुफ के प्रेमी स्वरूप के दर्शन होते हैं।

याकूब :

याकूब के चरित्र में नबी के समान उच्चता नहीं है। यूसुफ सौन्दर्यवान तथा गुणवान अधिक थे अतः याकूब का उन्हें प्रेम करना स्वाभाविक है किन्तु इसी के आधार पर अन्य पुत्रों की अवहेलना करना उचित नहीं था। छोटे होते हुये भी अपने अन्य पुत्रों से यूसुफ

को अधिक भाग देना, अन्य के रात दिन कार्यरत रहते हुये भी यूसुफ को किसी कार्य में भाग न लेने देना उचित नहीं था।

पुत्र वियोग में याकूब उसी की स्मृति में दिन व्यतीत कर देते हैं और अन्त में यूसुफ के राज्यकाल में सुख भोग कर इस संसार से प्रयाण करते हैं। याकूब के चरित्र में पुत्र प्रेम को ही प्रधानता है। उसी के कारण अन्य पक्ष उपेक्षित जान पड़ते हैं।

जुलेखा :

जुलेखा अत्यन्त रूपवती होने पर भी सरल है। वह यूसुफ के प्रेम में अपना सर्वस्व अर्पण कर देती है। यूसुफ के मिस्र में होने की सूचना पाने पर वह अपने पद से नीचे एक वजीर के साथ व्याह करने को तैयार हो जाती है। किन्तु वजीर को यूसुफ स्वरूप न पाकर फिर वियोग मग्न हो पतिव्रत धर्म का पालन करती है। अपनी भावना में दृढ़ किसी भी परिस्थति में अपने निश्चय से न डिगनेवाली जुलेखा अन्त तक यूसुफ की प्रतीक्षा में रहती है। वही जुलेखा यूसुफ प्राप्ति में ईश्वरानुकम्पा का आभास पा ईश्वर चिन्तन में उतनी ही दृढ़ता से लग जाती है। सम्पूर्ण कथा में जुलेखा के चरित्र की निश्चयात्मक एवं दृढ़ प्रवृत्ति की ही प्रधानता दृष्टिगोचर होती है।

'यूसुफ जुलेखा' ग्रन्थ में वियोग एवं रति भावना का बड़ा सजीव तथा स्वाभाविक चित्रण हुआ है।

प्रेम-चिनगारी

(शाह नजफअली सलोनी कृत)

'प्रेम-चिनगारी' के रचयिना शाह नजफअली सलोनी हैं। इनके जन्म एवं मृत्यु संवत् का उल्लेख इस ग्रन्थ में नहीं है। इनका स्थितिकाल वि० सं० १८६० के लगभग ही होगा जो कि इनके आश्रयदाता रीवां नरेश महाराज विश्वनाथ सिंह का समय है। महाराज विश्वनाथ सिंह धर्मात्मा एवं सन्त फकीरों का आदर करने वाले थे। वे स्वयं विद्वान, लेखक और कवि थे। शाह नजफअली दोनों आखों से अन्धे थे और महाराज उन्हें दो रुपये रोज गुजारा देते थे। महाराज विश्वनाथ सिंह जी के दीवान बंशीधर जी इस बात से बहुत चिढ़ते थे। कहते हैं कि एक बार कुछ सौदागर बेचने के लिये घोड़ा लाये। महाराज ने एक घोड़ा पसन्द किया। हुकुम हुआ कि शाह साहब से पूछा जाय कि घोड़ा कैसा है। शाह साहब ने अन्धे होने के कारण घोड़े को इधर-उधर टटोल कर कहा घोड़ा क्या है भैंसा है। दीवान बंशीधर यह सुनते ही बिगड़ उठे। महाराज ने आज्ञा दी कि घोड़े की परीक्षा की जाय। चाबुक सवारों ने उसे दौड़ाकर थका डाला। गर्मी से तंग होकर घोड़ा पानी में घुस गया। सौदागर बुलाये गये। पूछने पर ज्ञात हुआ कि जानवर जब बछेड़ा था इसकी मां मर गई थी और भैंस का दूध पिलाकर इसका पालन हुआ था। दीवान साहब बहुत लज्जित हुये। कहा नहीं जा सकता कि इस कथा में कितना सत्य है किन्तु शाह नजफअली दिव्य दृष्टि सम्पन्न थे यह बात प्रसिद्ध है। एक और घटना इसी प्रकार है कि होली के दिनों में शाह साहब दर्बार में पहुँचे। महाराज ने पूछा शाह साहब बताइये बाबू साहब (महाराज रघुराज सिंह) क्या पोशाक पहिने हैं शाह साहब बोले कि आज तो बाबू साहब दूल्हा बने हैं। इसी पर रघुराज सिंह जी ने यह दोहा कहा :

शाह सलोने जो बसैं पीर अता के पार।
और के नैना दोय हैं नजफ शाह के चार ॥

शाह नजफ साहब सलोन जिला रायबरेली के निवासी थे और उनके पीर का नाम शाह करीम अता था। इनके ग्रन्थ 'प्रेमचिनगारी' के अतिरिक्त 'अखरावटी' का उल्लेख भी मिलता है जो उपलब्ध नहीं है। प्रेमचिनगारी की पुरानी पान्डुलिपि फारसी लिपि में श्री अख्तर हुसेन निजामी, एम. ए. को रीवां में ही उपलब्ध हुई है। लेखिका को आप ही से यह ग्रन्थ प्राप्त हो सका है। अखरावटी के कुछ छन्द भी उनके पास हैं। अखरावटी के बत्तीसवें छन्द में इसका रचना काल इस प्रकार दिया गया है :

सन् बारह से चौवीस, एकतिस अच्छर बूझ।
कह्यो नजफ अगरावटी, मनहि परा जस सूझ ॥

इसका रचना काल हि० सन् १२२४ ईसवी सन् १८०६ हुआ। रीवां के इतिहास में यह महाराज जयसिंह का समय है। किन्तु शाह साहब के इस समय के जीवन के बारे में अधिक ज्ञात नहीं है।

इनकी मजार रीवां में ही इमाम शाह की दरगाह के बाहर बनी हुई है। ये हाफिज थे। सम्पूर्ण कुरान इन्हें कंठस्थ था।

शाह नजफ अली का खर्च बहुत मामूली था और ये अपना अधिकांश धन दान कर देते थे। अपने जीवन काल में एक मस्जिद की नींव भी इन्होंने डाली थी जो तुर्कहटी की मस्जिद कही जाती है। प्रेमचिनगारी का रचना काल सन् १२६१ है।[1]

कथा-सारांश :

ग्रन्थ के आरम्भ में कवि ने निर्गुण वन्दना, मुहम्मद साहब की प्रशंसा, चार खलीफाओं एवं इमाम हसन तथा हुसेन का गुणगान तथा पीर की चर्चा की है। कवि ने मौलाना रूमी की मसनवी की दो हिकायतों का हिन्दी में उल्था किया है। मौलाना रूमी की पहली कथा में मानव को बांसुरी मानकर सूफी अद्वैतवाद का स्पष्टीकरण है। शाह साहब स्वयं भी बाँसुरी की ध्वनि के प्रेमी थे और उन्होंने बांसुरी की कथा को बड़ी रुचि से लिखा है। दूसरी कथा हजरत मूसा पैगम्बर और गड़रिये की है जिसमें निर्गुणवाद की चर्चा है।

पहली बांसुरी की कथा :

बांसुरी की हृदय द्रावक ध्वनि विरह कथा है जो वह सारे संसार को सुनाती है। वह अपने वन से अलग कर दी गई। उसके हृदय को वेधकर वांसुरी बजाने वाला अपनी ध्वनि इस संसार में व्याप्त करता है जिसमें बांसुरी का विरह भी लगा हुआ है। बांसुरी की यह ध्वनि तो प्रत्येक प्राणी सुन लेता है किन्तु उसके गुप्त भेद को विरला ही समझ पाता है, जो कोई उस भेद को समझ लेता है वह निर्गुण मत को भी जान जाता है। वास्तव में यह बांसुरी प्रेम की बांसुरी है। इसकी ध्वनि मानव हृदय को प्रभावित करके उसे परम प्रेम का विरही बना देती है। इस बांसुरी की ध्वनि को सुनकर मानव के सारे माया जाल नष्ट हो जाते हैं और वह केवल उसके प्रेम में आनन्द लाभ करता है एवं उसके वियोग में सन्तप्त एवं उन्मादित हो जाता है। इस वंशी में बनाने वाले की ध्वनि प्रसारित है। वास्तव में आत्मा केवल उस परमात्मा की

---

१. सन् बारह से यकसठ माहां। कहि यह कथा प्रेम औगाहां ॥

अभिव्यक्ति का साधन मात्र है। वह प्रियतम सब प्रेमियों के हृदय में निवास करता है। केवल वही मानव धन्य है जिसके हृदय में परमात्मा का निवास है। इस जगत में सर्वत्र केवल उसी की ज्योति प्रकाशित है जिसका हृदयमुकुर स्वच्छ होता है। वह अपने हृदय में ही ज्योति के दर्शन कर लेता है।

कथा हजरत मूसा 'पैगम्बर' और गड़रिये की :

एक बार हजरत मूसा भ्रमण कर रहे थे तभी मार्ग पर उन्हें एक चरवाहा दिखाई दिया। वह गड़रिया प्रेम में इतना उन्मत्त था कि निरन्तर परमेश्वर के ध्यान में मग्न उसके प्रति अपनी प्रेम भावना को व्यक्त करता जाता था। वह सब प्रकार से परमेश्वर की सेवा करके आनन्द लाभ करना चाहता था। उसकी इस प्रेमोन्मत्त दशा को देखकर हजरत मूसा ने पूछा कि वह किसके प्रति ऐसी भावनायें व्यक्त कर रहा है। हजरत मूसा ने यह जान लेने पर कि वह परमेश्वर का ध्यान कर रहा है उसे बहुत धिक्कारा और कहा कि 'परमात्मा ज्ञानगम्य है, उसके प्रति प्रेम की ऐसी भावनायें व्यक्त करना गुनाह है।' चरवाहा इस उपदेश को सुनकर बहुत निराश हुआ और अत्यन्त दुखी एवं जीवन से विरक्त होकर जंगल की ओर भागा। परमेश्वर को मूसा का यह उपदेश उचित नहीं लगा और उसने तुरन्त उनके पास प्रेमोपदेश पूर्ण संदेश भेजा जिसे सुनकर मूसा उस चरवाहे के पीछे दौड़े। बहुत खोज एवं कष्ट के पश्चात् जब वह चरवाहा मिला तो मूसा ने क्षमा याचना की और उसके प्रेम भाव की सराहना की किन्तु मूसा की चेतावनी ने चरवाहे के बीच से प्रिय और प्रेमी की द्वैत भावना भी मिटा दी थी और वह जीवन-मुक्त हो चुका था। जिस प्रकार वंशी की ध्वनि के द्वारा उसके बनाने वाले को पहचाना जाता है उसी प्रकार आत्मदर्शन परमस्वरूप का दर्शन करा देता है।

भाषा :

'प्रेम चिनगारी' की भाषा अवधी है। भाषा स्पष्ट तथा सहज एवं बोधगम्य है।

रस :

शान्त रस ही इस ग्रन्थ में उपलब्ध होता है क्योंकि वैराग्य या निर्गुण सिद्धान्त की ही व्याख्या की गई है अतः निर्वेद प्रधान है। अलंकारों का समावेश सिद्धान्त निरूपण के कारण सम्भव न हो सका।

विशेष :

कवि ने रूमी की मसनवी की दो हिदायतों का तिलक या व्याख्या ही इस कथा में की है। कवि स्वयं लिखता है कि उसने मौलाना रूमी की कुछ बातों का तिलक बनाया

है और उसे अपने विचारानुसार 'प्रेम चिनगारी' नाम दिया है [१]। कवि व्याख्या करने में कहाँ तक सफल हुआ यह उसकी कुछ पंक्तियों से स्पष्ट हो जायगा।

'सुनो, बांसुरी अपनी व्यथा गा गाकर सुना रही है। जब से मेरा विछोह बन से हुआ है मेरे इस रोदन गायन ने कितने ही नर नारियों के हृदय को द्रवित किया है। यदि मुझे मेरे ही समान विरही हृदय मिल जाय तो मैं उसे अपनी विरह व्यथा समझा सकने में सफल हो सकूंगी। प्रिय का विरही सदैव उससे मिलने की आकांक्षा रखता है [२]।'

सुनो कथा बांसुरिया गावै, बिछुड़न की गति रोय सुनावै।
बन सों काट भई हम न्यारी, सबद सुनत रोवें नर नारी।
छाती टूक टूक कै पाऊँ, तौ बिरहा के चोप सुनाऊँ।
पिय से मिल बिछुड़े जो कोई, फेर मिलन जो है निन सोई।

'मैंने अपनी इस दुखपूर्ण गाथा को सभी से व्यक्त किया। सुखी और दुःखी सभी ने मेरी गाथा को सुना। सभी ने अपने विचारानुसार मेरी ध्वनि का अर्थ लगाया। मेरे तत्व को समझने का प्रयास किसी ने नहीं किया। मेरा रहस्य मेरी ध्वनि (सुर) में ही छिपा हुआ है किन्तु नेत्रों और कानों में यह क्षमता नहीं है कि वे उसे समझ सकें। शरीर और आत्मा के मध्य कोई ऐसा अभेद्य रहस्य नहीं है जो जाना न जा सके किन्तु फिर भी आत्मज्ञान किसी को उपलब्ध नहीं हो पाता।'

मैं सब सों धुन रोय सुनावा, सुखी दुखी सब धुन सुन पावा।
आपन मत जान्यो सब कोई, मीत भये मेरे सुन सोई।
गुपुत भेद कोऊ नहिं बूझै, जेहि बूझै निर्गुन छबि सूझै।
भेद मोर धुन सों नहिं न्यारा, चख सखन पै नहिं उजियारा।

---

१. मेरे ध्यान बस्यो इक बारा, 'मौलाना रूमी' उजियारा।
चुन चुन कुछ बैतें तिनकेरी, लाल रतन सौं अधिक उजेरी।
तिन 'बैतन' कर तिलक बनाइयों, हिन्दी भाषा में कहि गायों।
मन उपजा तस किह्यो बिचारी, राख्यो नाम प्रेमचिनगारी।

२. Listen to the reed how it tells a tale, complaining of separations saying 'Ever since I was parted from the reed bed, my lament hath caused man and woman to moan.

I want a bosom torn by severance, that I may unfold (to such a one) the pain of love desire.

Every one who is left far from his source wished back the time when he was united with it.

(Translation of Book I. Nicholson)

जीउ से देह देह से जीऊ, विलग नहीं जल दूध में घीऊ।
पै उघरैं जिय के जब नैना, तब सूझै बूझै यह बैना।

'वंशी की यह ध्वनि अग्नि के सदृश है। यह वायु नहीं है। वह जो इस अग्नि को हृदय में धारण नहीं करता है महत्वहीन है। वंशी के अन्तर में प्रेम की अग्नि है। मधु (शराब) में प्रेम का आकर्षण है। बांसुरी प्रत्येक विरहिन की संगी है। इसके स्वर मर्म-भेद करते हैं।'

'आगी कूकि य वंसी केरी, बाउ न होय जो लागै सेरी।
जेहि हिय प्रेम न आगि लगावै, सुफला होय जो जन्म न पावै।
प्रेम आगि बंसी भितराहीं, प्रेम उबारु भरा मधु माहीं।
प्रीतम कै बांसुरिया न्यारी, जाके सुनत हरै मत सारी।
भरम लाज कै टाटी टोरी, बीच के आड़ फांद कै डोरी।

'बंशी वाले के समान विष और उसके प्रभाव को क्षीण करने वाले से समन्वित कोई एक वस्तु प्राप्त नहीं होगी। वंशी के समान हृदय बिदारक ध्वनि करने वाला कोई प्रेमी इस संसार में दिखाई नहीं देता। बंशी की ध्वनि सुनकर नेत्रों से अश्रुप्रवाह होने लगता है। बंशी की ध्वनि मजनूं के समान प्रेमोन्मत्त बना देती है'।

बंसी अस देखा नहिं कोऊ, जामैं विष औ मारग दोऊ।
बंसी अस धुनि कूकनहारा, प्रेमी नहीं लखौं संसारा।
बंसी कै भाषा सुन तातो, मध मधष है रकत सौं राती।
प्रेम कथा वंसी जब गावै, मजनूं कै विरही बौरावै।

हजरत मूसा और गड़रिया :

एक बार मार्ग में हजरत मूसा को एक चरवाहा मिला जो प्रेमोन्मत्त था और ईश्वर के प्रति इस प्रकार कहता जा रहा था कि ये मेरे प्रियतम तू कहां है मैं तुम्हारा सेवक बनकर तुम्हारे सम्मुख खड़े रहना चाहता हूँ। यदि तुम्हारी चरणपादुका टूटी है तो मैं उसे बनाना चाहता हूं। तुम्हारे केश विन्यास, तुम्हारे शृंगार एवं भोजन पान का भार मैं अपने ऊपर लेना चाहता हूं। यदि तुम्हारे शरीर में कोई रोग हो तो मैं उसको दूर करना चाहता हूं। मेरी इच्छा है कि मैं रात दिन तुम्हारे साथ रहूँ।

'मूसा' नबी चले मग माहां, लखै एकु चरवाहा ताहां।
बाउर भेषु प्रेम मद माता, भाषै यहै कि ए जगदाता।
कहां कहां तुइ प्रीतम मोरे, सेवक तोर रहौं कर जोरे।
पग पनही टूटी लखि पाऊं, टांक सुधार तोहीं पहिराऊं।
कंघी करौं केश निखारौं, झारौं बार संवार सुधारौं।

कापड़ तोर धोय उजियारे, चीलर काढ़ करौं सब न्यारे।
अच्छन दूध लाय औटाऊं, घाल कटोरा तोहि पिलाऊं।
जो कुछ रोग होय तोरी काया, मीन करै जस मीत की दाया।
तस घर चीन मीन होइ तोरा, संघु देऊ तिहरो निस भोरा।

हजरत मूसा के कहने पर जब वह गड़रिया दुखी होकर जंगल की ओर भाग गया तब ईश्वर ने उन्हें यह संदेश भिजवाया कि 'तुमने मेरे सेवक को मुझ से पृथक कर दिया है। तुम नबी हो अतः तुम्हारा कर्तव्य भूली भटकी आत्माओं का मुझ से संयोग कराना है, वियोग कराना नहीं। यथासंभव तुम्हें मेरे प्रेमियों को मुझ से वियुक्त नहीं करना चाहिये। उस भोले प्रेमी के लिये प्रेम करना सराहनीय, तुम्हारे द्वारा उसका मुझ से विरक्त करना निन्दनीय है। उसके लिये वही अमृत है। तुम्हारे लिये यह विष है। उसके लिये वह जोति है। तुम्हारे लिये अग्नि है। उसके लिये फूल और तुम्हारे लिये कांटा है। उसके लिये भावावेश में आना पुण्य है और तुम्हारे लिये पाप है। उसको सब कुछ आनन्द है तुम्हारे लिये केवल संताप है। अपनी परिस्थिति के अनुसार ध्यान धारणा करके मेरे पास आने का प्रयास सराहनीय है। हिन्द में हिन्दी और सिन्ध में सिन्धी के द्वारा ही मेरी आराधना करनी चाहिये'।

सो उपदेस न हरि को भायो, मूसैं वेग संदेस पठायो।
सुमिरन करत तपा भटकाई, मोसे प्रेमी मोर छुड़ाई।
तुइं बिछुड़े दरसावन आये, को तुइं मिले छोड़ावन आये।
सको तो जिन बिछुड़न मग धाओ, मिला होइ तेहि जिन बिछड़ाओ।
ओहि करत तोंहि निन्दा होई, महि पर ओहि तोहिं विष होई।
वाको जोत तोहिं है आगी, ओहि फूल कांटा तोहि लागी।

वाको सुफल पुन्नि तोहि अहै सो पाप।
वाको सब गुन नीक है तोकों है संताप॥

मैं नहिं काज कीन्ह अस कोई, जासों मोंहि लाभ कुछ होई।

हिन्दी भाषा मैं करैं; हिन्दी जाप हमार।
सिन्धी करैं सिन्धी में, सुमिरन मोर सुधार॥

ऊपर कुछ छन्दों के यथानुवाद को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि शाह नजफ अली सलोनी अपनी साधारण बोलचाल की भाषा में रूमी की हिकायतों का उल्था करने में निश्चित रूप से सफल हुये हैं।

नूरजहां

(ख्वाजा अहमद कृत)

कवि का निवास स्थान प्रतापगढ़ तहसील के थाना जेठवारा के अन्तरगत बाबू गंज नाम का गांव था।

इनके पिता का नाम लाल मोहम्मद तथा बाबा का बेचू था। इन्होंने अपने गुरु का नाम मोहम्मद अमीन दिया है। इनके पिता एक गरीब किसान थे।

ग्रन्थ का रचनाकाल संवत् १९६२ है। कवि ने ग्रन्थ की प्रेरणा मलिक मोहम्मद जायसी की पद्मावत एवं कासिम शाह की हंस जवाहिर से पाई थी [1]।

ख्वाजा अहमद ने अपना जन्म काल सन् १८३० या संवत् १८८७ वि० बतलाया है। इनका जन्म एवं निवास स्थान बाबू गंज नामक गांव था। इनके वंश वाले भी भाषा प्रेम रस के रचयिता शेख रहीम की भांति अनूसारी कहलाते थे। पता चलता है कि ख्वाजा अहमद ने अपनी नूरजहां नामक रचना मृत्यु से केवल दो माह पूर्व की थी। ये लगभग ७५ वर्ष की आयु पाकर मरे थे और सम्भवतः इस बीच उन्होंने स्फुट काव्य रचनाएँ भी की थीं।

कथा-सारांश :

सरनदीप के अन्तर्गत ईरान गढ़ नामक एक नगर था, वहां के सुल्तान का नाम मलिकशाह था। वह शासन दक्ष एवं लोक प्रिय था। उसकी पटरानी का नाम नूरताब था। पुत्राभाव में दंपति अत्यन्त चिंतामग्न रहते थे। एक दिन सुल्तान अत्यन्त दुःखी

---

१. मलिक मोहम्मद पुरुष न आना। कथा पदुमिनी कीन बखाना॥
गढ़ चित्तौर औ सिंघल दीपा। लिखेउ बखान सो प्रेम सनीपा॥
औ कासिम जस दरिया बादी। लिखेउ हंस के कथा सो आदी॥
बलख औ चीन प्रेम रस बोवा। लिखेउ अरथ जनु समुद विलोवा॥
अहमद तुम इन सबके चेला। इनके संघ चरन दे ठेला॥
जहं लौ मीत संघ कै रहेऊ। बन हिंछा कै सब मिलि कहेऊ॥
लिखी समुझि किछु प्रेम कहानी, प्रेम विरिछ के करहु किसानी॥

होकर घरसे निकल जंगल में किसी नदी के तट पर तप करके लगा । उसके ध्यान करते ही दस्तगीर नामक पीर ने उसे दर्शन दिया ।

राजा की चिन्ता एवं दुख का परिचय पाकर पीर ने उसे एक सुन्दर पुत्र प्राप्ति का आशीर्वाद दिया । सुल्तान अपने घर लौट आया और यथासमय उसके अत्यन्त सुन्दर खुरशेदशाह नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ । खुरशेद ने एक दिन स्वप्न में स्वर्णसिंहासनासीन एक सुन्दरी को देखा जिसे देखते ही उसकी नींद टूट गई और वह विरह में पागल हो उठा ।

इधर रूप शहर के सुल्तान की पुत्री गुलबोस ने स्वप्न में खुरशेद को देखा और उसके प्रेम में दिवानी हो गई ।

इसी प्रकार खुतम शहर का सुल्तान खबरशाह था जिसकी रानी का नाम सभाजीत था । इनके एक अत्यन्त सुन्दरी पुत्री थी जिसका नाम नूरजहां था । नूरजहां की एक सखी सुमति नाम की थी जिसका पिता कवलकेस परियों का राजा था, सुमति एक ही दिन में सातों द्वीपों में भ्रमण कर लेती थी । एक ही दिन में नूरजहां ने सुमति से अपने योग्य वर ढूढ़ने को कहा, सुमति यह सुनकर बरकी खोज में उड़ चली । उड़ते उड़ते वह रूपनगर पहुँची जहां उसने रनिवास में खुरशेद का चित्र रक्खा देखा । चित्र को अत्यन्त सुन्दर देखकर सुमति सखी का रूप धारन करके गुलबास की सखियों के मध्य बैठ गई । एक सखी ने उसे बताया कि वह चित्र ईरान के राजकुमार खुरशेद का है जिसे स्वप्न में देखकर गुलबास वेकरार हो गई थी उसकी विरह तीव्रता देखकर ही सुल्तान ने यह चित्र मंगवा दिया है और अब वे गुलबोस का विवाह उससे करने वाले हैं ।

यह वृतान्त सुनकर सुमति वहां से ईरान देश को उड़ चली, वहां खुरशेद को देखकर उसे पूर्ण विश्वास हो गया कि खुरशेद वास्तव में बहुत सुन्दर है । शीघ्र ही वह वहां से खुतन की ओर उड़ी वहां पहुँचकर उसने नूरजहां से खुरशेद के सौन्दर्य का वर्णन किया । नूरजहां खुरशेद के सौन्दर्य पर मुग्ध हो गई । इधर खुरशेद नूरजहां को स्वप्न में देखकर गृहत्याग कर नदी के किनारे समाधि लगाकर बैठ गया ।

नूरजहां सुमति से जिद कर रही थी कि किसी प्रकार खुरशेद के दर्शन करवा दो, सुमति एक दिन रात्रि में उड़कर रूप देश गई और वहाँ से खुरशेद का चित्र उठा लाई । प्रातः काल जागने पर गुलबोस उस चित्र को न पाकर अत्यन्त व्याकुल हो गई । सुल्तान ने पान, बीरा देकर सबको खुरशेद की खोज में भेजा । उन कई खोजने वालों में से एक ने खुरशेद को नदी किनारे तपस्या करते देखा, यह देखकर उसने लौटकर सुल्तान को यह समाचार सुनाया और उसने अपनी फौज को उस जोगी को पकड़ लाने के लिये भेजा । इधर यह सेना जोगी की खोज में निकली उधर खुरशेद अपने साथियों के साथ नूरजहां की खोज में चल पड़ा । मार्ग में मिलने वाले चोर चहार देव दानवों के प्रभाव को परास्त करता हुआ जोगी आगे बढ़ता जा रहा था कि एक स्थान पर अत्यन्त संकट

में पड़ गया तभी वह सेना भी वहाँ आ पहुँची जिसकी मदद से वह संकट मुक्त हुआ। सेनापति के विनती करने पर जोगी उसके साथ चला और रूम देश पहुँचा, वहाँ सुल्तान ने बलात गुलबोस से व्याह कर दिया किन्तु सुहागरात के पहले ही परियों की रानी कंवलकेस गुलबोस को वहाँ से उड़ा ले गई। गुलबोस के माता पिता बड़े दुःखी थे किन्तु खुरशेद ने उन्हें समझा बुझाकर एक सेना के साथ वहाँ से प्रस्थान किया और विश्वास दिलाया कि वह गुलबोस को ढूँढ़ने जा रहा है किन्तु वास्तव में वह नूरजहाँ की खोज में जा रहा था। सुमति उसका मार्ग प्रदर्शन कर रही थी। खुतन देश में पहुँचकर नूरजहाँ और खुरशेद का व्याह हो गया। कुछ दिन वहां आनन्दोपभोग करके खुरशेद नूरजहाँ को लेकर रूम में आया। अबतक परी गुलबोस को वहां छोड़ गई थी। गुलबोस खुरशेद को पाकर अत्यन्त हर्षित हुई गुलबोस और नूरजहाँ बहनों की तरह रहने लगीं। खुरशेद अपनी दोनों पत्नियों को लेकर ईरान पहुँचा। सुल्तान मालिक शाह और माता नूरताब उन्हें पाकर अत्यन्त सुखी हुये। खुरशेद राज्याधिकारी हुआ, कुछ समय पश्चात् सुल्तान और रानी स्वर्ग सिधारी। खुरशेद अपनी दोनों पत्नियों के साथ आनन्द से जीवन व्यतीत करने लगा।

ज्ञात हुआ था कि नूरजहाँ नामक ग्रन्थ गांव खटवारा जिला प्रतापगढ़ में एक सज्जन के पास है, देखने का उसे कई बार प्रयास किया किन्तु असफलता रही। कवि के जीवन चरित एवं कथा के सम्बन्ध में यह सूचना श्री गोपालचन्द सिनहा के द्वारा उपलब्ध हुई है।

कथा की विशेषतायें :

ग्रन्थ के नूरजहाँ नाम से इसके ऐतिहासिक कथानक का भ्रम होता है किन्तु वास्तव में कथानक काल्पनिक है। हंस जवाहिर के रचयिता कासिमशाह की भांति ख्वाजा अहमद ने भी दूरस्थित प्रदेश खुतन, ईरान एवं रूम को कथा के घटनास्थल के रूप में चुना है इसका आशय सम्भवतः कथा में चमत्कार की सृष्टि ही है। पात्रों के नामकरण भी इन प्रदेशों के अनुसार ही हैं किन्तु उनके रहन सहन एवं संस्कारों का उल्लेख कवि ने विशेष नहीं किया है। कथा में कुतूहल एवं चमत्कार की सृष्टि परियों, देव, दानवों, चोर चहारों आदि के द्वारा होती है। हंस जवाहिर ग्रन्थ की भांति नूरजहाँ के संदेश को ले जानेवाली एक परी ही है। कथा संगठन की दृष्टि से भी ग्रन्थ में नवीनता है। अन्य ग्रन्थों में नायक एवं नायिका में परस्पर प्रेम, स्वप्न-दर्शन, साक्षात्-दर्शन या गुण-श्रवण के द्वारा होता है किन्तु कथा नूरजहाँ में खुरशेद एवं नूरजहाँ एक दूसरे को स्वप्न में न देखकर खुरशेद नूरजहाँ को और गुलबोस खुरशेद को स्वप्न में देखती है अतः खुरशेद और गुलबोस के प्रयत्न में साम्य नहीं है इसी कारण कथा में विस्तार एवं गति है।

नूरजहाँ का अन्त नायक एवं नायिका के मिलन हो जाने पर होता है। गुलबोस एवं नूरजहाँ में भी प्रेम-भावना वर्तमान है, अतः कथा सुखान्त है।

कथा वर्णनात्मक है, भावात्मक स्थल अधिक नहीं हैं। कवि ने अलंकार योजना एवं रस-चर्चा की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया है।

नूरजहाँ ग्रन्थ की भाषा भी बोलचाल की अवधी है। एक प्रसंग देखिए—

अवसर सुमति तहाँ अस पावा, हाथ मुरति लै चरन उठावा ॥
आई पास पाट सुलताना, देखै सुचित सो सोवै माना ॥
तब लों हाथ मुरति धै दीन्हा, थामेउ बांह सुचित तेहि कीन्हा ॥
लखि सो रूप खुरशेद बिसेखा, आदि सपन मूरति एक लेखा ॥

अन्य कवियों की भांति कवि ख्वाजा अहमद ने भी दोहे चौपाई छन्द का प्रयोग किया है। चौपाई को चारपद का न मानकर कवि ने दो पद का माना है, यही कारण है कि नौ अर्द्धालियों के बाद एक दोहे का क्रम निर्वाह किया गया है।

कथा के अन्त में कवि ने अपनी ग्रन्थ रचना का उद्देश्य तथा उसके रहस्य का उद्घाटन भी किया है। कवि ने हृदय में उत्पन्न प्रेम एवं प्रेम के महत्व के स्पष्टीकरण के लिये ही ग्रन्थ की रचना की है तथा इस कथा का रहस्य यही है कि जो कुछ ब्रह्माण्ड में है वही पिण्ड में है। कायागढ़ में ही नयनपुर, सरनदीप, खुतन देश एवं गढ़पति का निवास है। सीप के मध्य तत्व रूप में जिस प्रकार मोती की स्थिति है उसी प्रकार काया के मध्य तत्व रूप में वह ज्योति स्वरूप परमात्मा नूरजहाँ के रूप में स्थित है।

हिरदै-प्रेम प्रीत उलथानी, प्रेम कथा अब लिखी कहानी ॥
कवन सो देस बसै जहं मूरी, जेहि के लखत होइ दुखदूरी ॥
देखेउ यदि काआ के मांही, दूसर घाट अवर कहुँ नाहीं ॥
काया मांझ नयनपुरघाटा, देखेउ सरनदीप के बाटा ॥
रूम खुतन काआ के (नैन) मांझा, काआ मांझ भोर औ सांझा ॥
सब गढ़पति काआ के माही, दूसर ठांउ लखीं कहुँ नाहीं ॥
नूरजहाँ काआ के जोती, काआ समुद सीप जहं मोती ॥

———

भाषा प्रेमरस

(शेख रहीम कृत)

शेख रहीम बहराइच जिले के जरवल नगर के निवासी थे। ये हनफी मत के शेख, अन्सारी जाति के थे। इनके पिता का नाम यारमुहम्मद था तथा सारा गांव इनके पिता को नबी या शेख कहता था। कवि के बाबा का नाम शेख रमजान था। इनके पिता का देहान्त जब ये पांच वर्ष के थे तभी हो गया था। इनके नाना खुदाबख्श ने इन्हें पाला। ये बहराइच को अत्यन्त पवित्र स्थान मानते हैं क्योंकि वहाँ परमेश्वर के प्रिय सैयद गाजीशाह की समाधि बनी हुई है। इनके गुरु का नाम विलायत अली था जो सैयद कुल के थे।

नांव रहीम मोर जग जाना, जरवल नगर जनम अस्थाना।
जाना चहौ जात हमारी, हनफी मता शेख अन्सारी।
पितुकर यारमुहम्मद नाऊं, नबी शेख कहै सब गाऊं।
पाँच बरस रहिके मम सीसा, पिता हमार सरग मग दीसा।
कीन पिता जो आपन चाला, नाना खुदाबख्स मोहिं पाला।

कुल उत्तम सैयद खरे, अली बिलायत नांव।
सोई मोरे हैं गुरू, मैं चरनन बलि जांव॥

शिक्षा आदि :

उर्दू, फ़ारसी की थोड़ी सी शिक्षा इन्हें मिली थी तथा हिन्दी भाषा से भी ये परिचित थे। मलिकमुहम्मद जायसी की पद्मावत तथा कासिमशाह की हंसजवाहिर पढ़ने के बाद इनका मन भी एक ऐसी ही प्रेमगाथा लिखने को हुआ निदान एक काल्पनिक कथा 'प्रेमरस' की रचना इन्होंने की जिसमें प्रेमसेन तथा चन्द्रकला के प्रेम वर्णन हैं। इस कथा का वर्णन उन्होंने किसी विशेष उद्देश्य से नहीं किया, मनोरञ्जन ही उसका ध्येय माना है।

मित्र महाशय, गुन सदन; चित बहलावन हेत।
कहौं कहानी प्रेम की, होय के सुनो सचेत॥

रचनाकाल तथा जीवनकाल :

कवि के रचनाकाल के समय सम्राट् सप्तम् एडवर्ड का देहान्त हो चुका था और उनके पुत्र पञ्चमजार्ज का शासनकाल आरम्भ हो गया था। कवि ने अपनी पुस्तक का रचना काल 'तीन बाढ़ सन १६ ईसा' या 'तीन बारह सन १६ ईसा' दिया है। पंजमजार्ज के सिंहासनासीन हो जाने के कारण यह तीन बारह ही अधिक उपयुक्त ज्ञात होता है।

'एडवर्ड सतयें जगजाना, भयो सरग महं जिनकर थाना।
पंजम जार्ज तेहि सुत न्याई, जगमां कीरति जिनकर छाई ॥
तीन बारह सन् उनइस ईसा, वरनूं कथा सुमिर जगदीसा।

कवि रहीम इस प्रकार आधुनिक काल के कवि ठहरते हैं, इन्होंने भी कासिमशाह और जायसी को अपना आदर्श मानकर 'प्रेमरस' की रचना आरम्भ की है। प्रेमरस का कथानक काल्पनिक है। इस प्रकार कवि का स्थिति काल तथा रचनाकाल तो अवश्य ज्ञात हो जाता है किन्तु उनकी जन्मतिथि जानने का पुस्तक में कोई साधन नहीं। इन्होंने अपने समकालीन कई मित्रों की चर्चा भी अपनी पुस्तक के अंत में की है। वाजिदअली, निरतबिहारी माथुर, लाभामल तथा वैश्य बृजबहादुर का मित्ररूप में परिचय दिया है। इनमें से निरतबिहारीलाल माथुर तथा लाभामल जी अभी जीवित हैं। एक बार उनसे मिलकर रहीम के सम्बन्ध में जानकारी हासिल करने का अवसर भी प्राप्त हुआ है।

कवि के पिता का नाम यारमुहम्मद तथा गुरु का नाम विलायतअली था। ग्रंथ का रचनाकाल सन् १६१५ ई० अथवा सं० १६७२ वि० पड़ता है। कवि ने अपनी शिक्षा आदि का विशेष परिचय नहीं दिया है किंतु उसे उर्दू एवं फ़ारसी का ज्ञान था। अपनी शिक्षा एवं पुस्तकाध्ययन के सम्बन्ध में कवि लिखता है :

उर्दू फ़ारसी कुछ कुछ सीखों, भाषा स्वाद तनिक इस चीखों।
पद्मावत देखों निरथाई, मलिक मुहम्मद केर बनाई।
हंस जवाहिर कासिम केरी, पढ़ो सुनो पुस्तक बहुतेरी।

कवि के जीवन सम्बंध में इतना ही उसके ग्रंथ 'भाषा प्रेमरस' के द्वारा ज्ञात होता है।

कथासारांश :

रूपनगर एक अनुपम देश में राजा रूपसेन राज्य करते थे। उसकी रानी रूपमती तथा राजा स्वयं दोनों संतानहीन होने के कारण चिंतित रहा करते थे। एक दिन रानी ने लक्ष्मी को स्वप्न में उसके यहां चंद्रकला रूप में अवतरित होने की सूचना देते हुये देखा। यथासमय चंद्रकला उत्पन्न हुई तथा पांच वर्ष की अवस्था में पढ़ने बैठते ही सब कलाओं में विख्यात हो गई। तभी राजा के मंत्री बुधसेन के यहाँ प्रेमसेन नामक पुत्रोत्पन्न हुआ

जिसे प्रेम के कारण 'प्रेमा' नाम से पुकारा जाता था। चंद्रकला और प्रेमसेन दोनों एक ही पाठशाला में पढ़ा करते थे। प्रेमा तथा चंद्रकला में शनैःशनैः प्रेमोत्पन्न हो चला। इसकी चर्चा सुन गुरु ने उसे इससे विरत करना चाहा किंतु सम्भव न जान राजा को सूचना दे दी।

राजा इस सूचना से अत्यन्त क्रोधित हुआ और उसे पढ़ने जाने से रोककर ऊपर पंचमहल में बन्द कर दिया। प्रेमसेन चन्द्रकला को पाठशाला में न पा अत्यन्त दुखित रहने लगा। वह अत्यन्त दुर्बल तथा सांसारिक सुखों के प्रति उदासीन हो गया। उसके एक मित्र बलसेन ने सारा हाल प्रेमा से जानकर पुरस्कार का प्रलोभन तथा अग्रगामी प्रसाद मोती की माला देकर अन्तःपुर की मालिन मोहिनी के द्वारा प्रेमा का संदेश चन्द्रकला के पास पहुँचा दिया। चन्द्रकला ने प्रेमा को पत्र द्वारा मिलन का सन्देश दिया और उसी रात्रि में प्रेमसेन नारी का रूप धारण करके चन्द्रकला से मिलने चल दिया। मोहिनी तथा मोहिनी की मां भी उसके साथ गई। इस प्रकार प्रेमा और चन्द्रकला का मिलन हुआ। दोनों वहां से अन्यत्र कहीं भाग निकलने की सोचने लगे किन्तु चन्द्रकला इस विचार से बहुत अधिक सहमत नहीं हुई। यहीं प्रसंगवश प्रेमसेन चन्द्रकला से यूसुफ और जुलेखां की प्रेम कथा का वर्णन करता है। उसके यहां से लौटकर प्रेमसेन ने अपना प्रेम वृतान्त अपनी माता से कह दिया। इस पर वह तथा बुधसेन दोनों अत्यन्त भयभीत हुये। प्रेमा के पिता ने कहा 'निकस घरते हत्यारे, कर मुख कार अंत कहुँ जारे।' प्रेमा संसार का सब कुछ मिथ्या समझकर घर से निकल गया और बहुत दूर चला गया। जंगल में सहपाल नामक किसी गुरु से उसकी भेंट हुई और गुरु की कृपा से वह नाम जप की साधना में प्रवृत्त हो गया।

प्रेमा के गृहत्याग की सूचना महल तक पहुँच गई और चन्द्रकला अत्यन्त दुखित रहने लगी। इसी बीच एक दिन रात को एक दैत्य उसे महल से सोती हुई उठा ले गया। उसे किसी पर्वत पर जहाँ उसके चालीस घर थे जाकर उतारा। उसने चन्द्रकला पर विश्वास करके उसे सब घरों की चाभियां देदीं और चेतावनी देदी कि वह किसी विशेष कोठरी को न खोले। यदि कभी खोले भी तो मौन रहकर। यह कहकर वह दैत्य वहां से उड़ गया। नित्यप्रति वह इसी प्रकार वहां से उड़कर आने जाने लगा। वह चन्द्रकला को कुछ समय में अपने प्रेम से वशीभूत कर लेना चाहता था।

चन्द्रकला के पिता रूपसेन ने अपनी पुत्री की खोज चारों ओर करवाई तथा इस कार्य के लिये कोतवाल और कुटि्टनियों को नियुक्त कर दिया। एक दिन एक कुटि्टनी ने मोहिनी मालिन के हाथ में महल से मिले हुये कंगन को देखकर उसके घर की तलाशी करवाई और सम्पूर्ण हाल जानकर बुधसेन का घर लुटवा कर उसे वन्दी बना लिया। बुधसेन की स्त्री अत्यन्त दुखित हो घरबार छोड़कर बन में भटक कर पुत्र वियोग में रोने लगी। उसके रोने की सूचना किसी पक्षी के द्वारा सहपाल गुरु को लगी। प्रेमा उसकी खोज में निकला और अपनी माता से सम्पूर्ण वृत्तान्त जानकर उसे गुरु सहपाल के पास ले गया और गुरु से परामर्श करके चन्द्रकला की खोज में निकला।

इधर चन्द्रकला बड़े कष्ट में दिन बिता रही थी। उसने एक दिन दैत्य की चालीसवीं कोठी खोल दी जिसमें रखे हुये नरमुन्डों ने दैत्य के मारने का उपाय तथा प्रेमा के वहां तक आने की सूचना दे दी। प्रेमा चन्द्रकला के पास गया और उससे दैत्य को मारने की तरकीब जानकर वह अपने उद्देश्य में सफल होने चला जिसकी पूर्ति प्रेमा के गुरु की अनुकम्पा से हुई। उन दोनों ने दैत्य का धन लेकर गुरु से प्रेम की शिक्षा ग्रहण की। प्रेमा-चन्द्रकला और प्रेमा की माता वहां से उड़नखटोले पर बैठकर रूपनगर गये जहां प्रेमा और चन्द्रकला का विवाह हो गया। बुधसेन बंधन मुक्त हो गये और सब लोग सुखपूर्वक रहने लगे।

देश निकाले का दन्ड पाकर मालिन ने इस्लामाबाद के सुल्तान अविद के यहां शरण ली और चन्द्रकला की रूप प्रशंसा करके उसे रूपनगर पर आक्रमण करने के लिये प्रेरित किया। सुल्तान अविद ने नरसंहार मचाकर रूपनगर में अशान्ति कर दी किन्तु चन्द्रकला के रूप सौन्दर्य को देखकर वह फकीर हो गया। चन्द्रकला ने फिर गुरु की शरण ली और उनकी अनुकम्पा से मृत जीवित हो गये और प्रेमी गण फिर आनन्द में दिन बिताने लगे।

प्रेमरस की प्रेमपद्धति :

कवि ने प्रेम का स्वाभाविक विकास वर्णित किया है। बाल्यकाल से ही रूपगुण सम्पन्न प्राणी एक ही साथ रहते हुये स्वभावत: एक दूसरे की ओर आकृष्ट हो सकते हैं। समय पाकर यही आकर्षण रतिरूप में परिणत हो जाता है। प्रेमा और चन्द्रकला धीरे धीरे इसी प्रेम के निश्चय को प्राप्त हो चुके थे। उनके प्रेम में किसी प्रकार की द्विविधा न थी, वे दृढ़ थे। प्रेमा चन्द्रकला की प्राप्ति के लिये अपने प्राण भी उत्सर्ग कर सकता था। उसका गुरु को दिया हुआ उत्तर उसके प्रेम का प्रमाण है।

> प्रेमा कहा सुनो गुरु बाता, प्रीत पुनीत सुभ कहा विधाता।
> चन्द्रकला मन मां बसै, राखौं हर छिन चेत।
> प्राण निछावर घालिहौं, चन्द्रकला के हेत।

चन्द्रकला को जब उसके पिता ने घर से बाहर निकलने की मनाही करदी तो दोनों प्रेमी इस विरह कष्ट से अत्यन्त पीड़ित तथा क्षीण होने लगे किन्तु उनके व्यवहार में किसी भी प्रकार का उन्माद, पागलपन या लोकविरुद्ध कार्य नहीं दिखाई पड़ता। प्रेमा का छिपकर चन्द्रकला से मिलने जाना ऐसी कथायें तो राजमहलों में नित्य हुआ करती हैं। अत: उसे अधिक निन्दनीय नहीं कह सकते। प्रेमा के महल से निकल चलने के आग्रह पर चन्द्रकला का उत्तर उसके लोक समन्वित प्रेम का प्रमाण है।

> लौट जाओ घर आपने, धीरज रहो सम्हार।
> जो विध लिखा ललाट में, आप मिलावन हार॥

चन्द्रकला से मिलने के पश्चात् 'प्रेमसेन' अपनी मां से आग्रह करता है कि वह राजा रूपसेन से उन दोनों प्रेमियों का व्याह करने का आग्रह करे। किन्तु माता पिता प्रस्ताव करने की संभावना से ही इतने भयभीत हो जाते हैं कि प्रेमा को घर से बाहर निकल जाना पड़ता है।

चन्द्रकला और प्रेमा के इस प्रेम का पूर्ण विकास तब होता है जब प्रेमसेन चन्द्रकला प्राप्ति के लिये दैत्य का संहार करता है और उस प्रयत्न में असफल हो जाने पर गुरू की कृपा से फिर सफलता प्राप्त करता है। जिस समय सुल्तान अविद ने रूपनगर पर आक्रमण किया और प्रेमसेन युद्धभूमि में चला गया तब चन्द्रकला चिन्ताग्रस्त हो अटारी से देखने लगी। वही चन्द्रकला प्रेमा के मर जाने पर जय विजय या ऊहापोह छोड़ जीवन त्याग को तत्पर हो गई, फिर गुरु महिमा स्मरण कर पति के प्राणों को वापस ले आई। इस प्रकार प्रेमा तथा चन्द्रकला का प्रेम अत्यन्त स्वाभाविक तथा लोकाचार के अनुकूल है।

प्रेमा तथा चन्द्रकला का प्रेम साहचर्यजन्य है। उसमें किसी प्रकार की अस्वाभाविकता या लोक विरोधी तत्व नहीं हैं, प्रेम उत्पन्न होने की कई पद्धतियों में कवि ने 'साक्षात् दर्शन' को प्रश्रय दिया है। प्रेमा और चन्द्रकला दोनों ही रूप गुण सम्पन्न थे और साथ ही साथ रहकर शनैः शनैः इस संसार को परखने का प्रयास कर रहे थे। उनकी श्रेणियों में भी विशेष अन्तर न था किन्तु जुलेखा के पिता की भांति रूपनगर के राजा 'रूपसेन' सम्भवतः इतने उदार न थे कि चन्द्रकला और रूपा की प्रीति को सहर्ष स्वीकार कर लेते।

महाकाल दैत्य को मारने के बाद चन्द्रकला और प्रेमा दोनों स्वतन्त्र और एकान्त में थे। पूर्व परिचय और दृढ़ प्रेम होने पर भी उन दोनों के मध्य कोई ऐसा कार्य व्यापार या वार्त्तालाप नहीं होता जिसे लोकहित विरोधी कहा जा सके। घर लौटकर प्रेमसेन अपनी माता के साथ अपने गृह तथा चन्द्रकला अपने महल में जाती है और फिर लोकाचार के अनुसार ही उन दोनों का मिलन होता है।

कथानक का आधार :

जायसी की भांति कवि रहीम ने अपनी कथा के लिये ऐतिहासिक कथानक को न चुनकर काल्पनिक कथा-तत्व का आश्रय लिया है। बहुत सम्भव है चन्द्रकला और प्रेमसेन की प्रेम-कथा लोक प्रचलित रही हो। सम्पूर्ण ग्रन्थ में प्रमुख कथा ही प्रधान है यद्यपि दृष्टान्त रूप में प्रेमसेन ने 'यूसुफ जुलेखा' की प्रेमकथा चन्द्रकला से वर्णित की है। सुल्तान अविद के रूप में कवि ने प्रतिनायक की संयोजना की है।

संयोग शृंगार :

जायसी ऐसे बहुज्ञ कवि ने भी जहां एक ओर अपनी अध्यात्मिक तत्व की व्यन्जना में सतर्कता दिखाई है वहीं दूसरी ओर संयोग शृंगार के वर्णन में सूफ़ी 'वस्ल' के

स्वरूपका अतिक्रमण भी कर दिया है। शृंगार, सज्जा और फिर रतिवर्णन में विस्तार अतिशयता तथा अश्लीलता का समावेश भी है, किन्तु शेख रहीम ने 'प्रेमरस' में इस पद्धति का अनुसरण नहीं किया। प्रेमसेन और चन्द्रकला के संभोग का कहीं वर्णन ही नहीं है। विवाह के समय के हर्ष को भी संभवतः कवि ने गर्व या आनन्दातिरेक का प्रतीक मान लिया है :—

'भूले नीके रंग सब कोई का जानें आगे कस होई'।

और फिर क्रमशः वह प्रतिनायक की उद्भावना करके एक बार पुनः चन्द्रकला और प्रेमसेन में बिछोह उत्पन्न करके प्रेम को परिपक्व करता है। अन्त विषादान्त न होकर सुखान्त ही है।

विप्रलम्भ शृंगार :

इन प्रेमकथाओं में विप्रलम्भ शृंगार का वर्णन ही अधिक है क्योंकि सूफ़ी ईश्वर और जीव के विरह और प्रेम के उपासक हैं। शेख रहीम ने संयोग शृंगार की अधिक चर्चा नहीं की है। विप्रलम्भ शृंगार या पूर्वानुराग की चर्चा ही अधिक है। इन सूफ़ी कवियों के वियोग शृंगार में एक विशेषता और है कि प्रिय और प्रेमी, नायिका और नायक दोनों ही विरह पीड़ित रहते हैं क्योंकि नायक को ये कवि सूफ़ी साधक का रूप तथा नायिका को 'ईश्वरीय सौन्दर्य' का प्रतीक मानते हैं। साधक की प्रेम साधना से ईश्वर भी प्रभावित होता है और साधक की ओर प्रेमदृष्टि से देखता है। दोनों ही साधक और साध्य एक दूसरे के मिलन के लिये उत्सुक रहते हैं अतः इस विप्रलम्भ के अन्तर्गत चन्द्रकला और प्रेमसेन दोनों के ही विरह की चर्चा करना समीचीन है।

सबसे पहले इस विरह का दर्शन उस समय होता है जब चन्द्रकला का पाठशाला जाना बन्द हो जाता है और प्रेमसेन उसके वियोग में दुःखित रहता है। उसे दैनिक कृत्यों से अरुचि हो गई

बिसर गयो तेहि भोजन भोगा, चोला विरह आंच ते सूखा।

घर के सब व्यक्ति चिन्तित होकर पूछने लगे :—

काहे सिसकत राउरे भरे नैन मां आंस।
कौन चोट लागी हिये लेत हौ ऊबी सांस॥

उसका तन मन विरह से व्याकुल था। न शरीर की सुध थी न मन में धैर्य था केवल एक विरह ही सब में व्याप्त था :—

तन की खैन न मन में धीरा, रह रह उठै विरह की पीरा।

प्रेमसेन इतना अधिक चिन्तित था मानों सारे संसार की चिन्ता केवल उसे ही है।

जगकर सोच मांह मन गांसा।

परम्परागत वर्णन के अनुसार शेख रहीम ने भी अपने नायक के उपचार के हेतु वैद्यों और औषधियों की चर्चा की है, किन्तु प्रेम रोग में औषधि लाभ नहीं करती :—

प्रीति रोग जो रोगी होई, औषद लाभ देइ का सोई।

इधर प्रेमसेन इस तरह विरह व्याकुल था उधर चन्द्रकला भी इस अप्रत्याशित वियोग से अत्यन्त दुखी थी। उसके विरह का परिचय चन्द्रकला द्वारा लिखित पत्र में प्राप्त होता है।

हर छन सोच रहे मोरे प्यारे, विरह अगिन तन उठत लोवारे।

यद्यपि शरीर उसका महल निवासी था किन्तु उसका मन, उसकी भावनायें प्रेमसेन को समर्पित हैं :—

तन तो मोर ह्यां कर बासा, मन पापी है तुम्हरे पासा।

प्रिय मिलन की आतुरता इन पंक्तियों में लक्षित होती है।

नैना तकत प्रान मग तोरी, पुरबउ आस आय अब मोरी।

तथा

तुम बिन प्यारे एक घड़ी है मोहें बरख समान।
दरसन लालसा लाग है वेग मिलो मोहि आन॥

प्रिय वियोग में सुखद वस्तुयें भी दुःखद प्रतीत होती हैं। चतुर्दिक विरही को अपनी ही दुःखद भावनाओं का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है। चन्द्रकला को भी

'अमृत जल मानो विष घोरा, प्यास बुझाय दरस लग तोरा।

तथा

फूलन सेज कांट अस खटके, नींद कहाँ तुम बिन हिय दरके।'

इसी प्रकार चन्द्रकला के दिन व्यतीत हो रहे थे। जब प्रेमसेन को चन्द्रकला का पत्र मिला तो

प्रेमा मगन जुड़ाई छाती, आदि अन्त लै बांची पाती।
फिर पाती लै हिये लगावा, पाती जस जीवन फल पावा।

प्रेम की ये चेष्टायें सहसा और स्वाभाविक हैं तथा उसकी प्रेम भावना को व्यक्त करती हैं।

इसी मध्य माता-पिता के क्रोध के कारण प्रेमसेन को घर छोड़ देना पड़ा और चन्द्रकला के लिये यह और भी विकलता का कारण हो गया। इससे भी अधिक क्लेश उसे तब हुआ जब प्रेमसेन से मिलने के लिये घर भी त्याग करने को उद्यत चन्द्रकला को महाकाल नामक दैत्य उड़ा ले गया। वहाँ वह प्रेमसेन से वियुक्त तथा दैत्य की भयङ्करता के कारण अत्यंत वेदना का अनुभव करने लगी। यहीं प्रसङ्गवश कवि ने विरहवर्णन के अंतर्गत परम्परागत 'बारहमासे' का वर्णन किया है जिसमें किसी प्रकार की नवीनता नहीं है।

अगहन जाड़ घटे तन मोरा, जिउ कांपे और लेय हिलोरा।
धर धर हाथ हिया में छाप्यो, जाड़ न जाय रात भर कांप्यों।

इस प्रकार बारहमासे का वर्णन जान कवि ने भी किया है किन्तु शेख रहीम की एक विशेषता है कि बारह महीनों का वर्णन करने के पश्चात् भी वे 'मलमास' या 'लौंध' को नहीं भुला पाये हैं। इन दोनों शब्दों का प्रयोग अत्यंत लोकप्रचलित है।

बारह मास बिताय के राख्यों लौंध की आस।
पिव रहीम मिलिहै बहुत बीतै ना मलमास ॥

इसी प्रकार हम देखते हैं कि शेख रहीम का विरह वर्णन किसी भी प्रकार लोकविरोधी न होकर परम्परागत ही है यद्यपि उसमें किसी भी प्रकार का पाण्डित्य प्रदर्शन या ऊहा नहीं है। हृदय के सहज स्वाभाविक उद्गार होने के कारण वर्णन आकर्षक तथा प्रिय हैं।

प्रेम तत्त्व तथा आध्यात्मिकता :

शेख रहीम सूफ़ी होने के नाते प्रेमोपाससक थे अतः उनके काव्य में प्रेम तत्व की व्यञ्जना स्थल स्थल पर मिलती है। मानव ईश्वर के स्वरूप का प्रतिबिम्ब है। ईश्वरीय सौंदर्य तथा गुणों का आभास मानव में है इस बात का स्पष्टीकरण वे सर्वप्रथम करते हैं।

वह मूरत मानुख हव अहहीं, नर नारी जिनका सब कहहीं।

इसी भाव की व्यवस्था कुछ चौपाई और दोहों के पश्चात् वे पुनः करते हैं। अहं या अस्तित्व की भावना केवल एक ईश्वर के लिये ही सत्य है और किसी का यह गर्व मिथ्या दम्भ है। 'मैं सो है सरकार का' केवल एक ईश्वर ही सत्य है और वही ईश्वर इस संसार में व्याप्त है। उसका सौन्दर्य और गुण मानव में विशेष रूप से लक्षित है। हदीस है कि अपने सौन्दर्य के स्वयं दर्शन के हेतु अल्लाह ने मानव की रचना की।

मानव वह आदर्श है जिसमें अल्लाह का रूप दर्शन सम्भव है। इसी भाव को बड़े संक्षेप में शेख रहीम रखते हैं :

नर नारिन के अंग में वही रूप परकास

इस रूप प्रकाश के पीछे 'प्रेमतत्व' की स्थिति है। जगत की सृष्टि ही प्रेम के कारण हुई है। प्रेम की सर्वप्रथम उत्पत्ति अल्लाह के हृदय में हुई।

परथम रूप रब के मन भावा, प्रेम के कारन जगत बनावा।

और इस जगत में उसके रूप का प्रसार है जिसे देखकर पुन: प्रेम जाग्रत हो जाता है। इस रूप सम्पन्न मानवीय समूह में :

देखा रूप प्रेम मन आवा, रूप प्रेम का खैंच बुलावा।
जहां रूप तहां प्रेम की बासा, जहां प्रेम तहां रूप प्रकाशा।

प्रम और रूप का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। सौन्दर्य या रूप से प्रभावित होकर प्रेम उत्पन्न होता है। सूफी प्रेमाख्यानों में लगभग सभी में प्रेम, रूप का सौन्दर्य जनित ही होता है, अत:

रूप प्रेम नर नारिन माहीं, संग रहै जस घामा छाहीं।

इसी प्रकार प्रेमसेन और चन्द्रकला का प्रेम भी सौन्दर्य जन्य है। प्रेम की उत्पत्ति अनायास ही हो जाती है। अन्य ज्ञान की भांति प्रेम ज्ञान को सीखने का प्रयास नहीं करना पड़ता, सांसारिक ज्ञान उस प्रेम ज्ञान के सम्मुख तुच्छ है क्योंकि सत्य प्रेम का ज्ञान ईश्वर प्राप्ति में सहायक होता है और अन्तत: ईश्वर को मिला भी देता है। प्रेम में श्रद्धा और विश्वास का विशेष स्थान है। ग्रन्थज्ञान या तर्कज्ञान की कोई महत्ता नहीं। यह प्रेम मनुष्य हृदय के सारे कल्मषों का नाश कर उसे शुद्ध सात्विक बना देता है। अपने इन्हीं विचारों को कवि ने इस प्रकार व्यक्त किया है।

प्रेम का ज्ञान जगत ते न्यारा, सिखवै प्रेम ज्ञान गुन सारा।
प्रेम ज्ञान सीखै नहिं आई, आवै आप सो आय समाई।
जगत ज्ञान तेहि आगे चेरा, प्रेम ज्ञान चित करै उजेरा।
प्रेम ज्ञान हरि रूप दिखावै, धन्य सुभाग जेहि के चित आवै।

प्रेम ही इस जगत में सराहनीय है। प्रेम के बिना शुष्क ज्ञान का कोई महत्व नहीं। इश्क मजाज़ी का इश्क हकीकी के सम्मुख कोई महत्व नहीं। प्रेम भौतिकता से अलौकिकत्व की ओर उन्मुख होता है अत: दोनों ही अर्थ इससे सिद्ध हो जाते हैं। किन्तु नीरस ज्ञान से एक में भी सफलता निश्चित नहीं होती। अत: सूफी साधक प्रेम को ही श्रेय मानता

है। इश्क ही उसका सब कुछ है। इसी प्रेम के द्वारा वह परमतत्व को प्राप्त करने का प्रयास करता है। साधक के हृदय में सर्व प्रथम प्रेम की पीर उत्पन्न होना आवश्यक है :

प्रेम पीर जो भीतर होई, सुमिरि सुमिरि सो निशदिन रोई।

यही बिरह व्यथा प्रेम की पीर एवं साधक की साधना को तीव्रता प्रदान करती है।

प्रम बावला भयो न चंगा, ज्ञानिन केर तहां मत भंगा।

इस प्रकार बावला प्रेमी ईश्वर को पाने में समर्थ होता है। प्रेम ही ईश्वर की अखन्ड ज्योति का दर्शन पाता और उसमें लीन हो जाता है। इसी तत्व की विवेचना शेख रहीम ने सूफ़ी चतुर्सोपान तथा वस्ल के रूप में किया है। चन्द्रकला को ईश्वरीय सौन्दर्य का प्रतीक मानकर कवि चन्द्रकला के पंचमहला में रहने के समय रूपक बांधकर कहता है :

प्रेमी खोज लेउ वह जोती, पांच खन्ड चढ़ि पावौ उदती।

आगे उन्हीं पांच खन्डों का वर्णन कवि इस प्रकार करता है :

पहले पकड़ शरीयत राहा, पहुँची ढांव तरीकत जाहां।

फेर तरीकत नांधि के, देख हकीकत आप।
होय मारफन जो तुझे, बासों होय मिलाव ॥

जब वह मिला मिला सब कोई।

इस प्रकार कवि प्रेम को ईश्वर प्राप्ति का निश्चित साधन मानता है। प्रेम के द्वारा ईश्वर से मिलना सम्भव है, अन्यथा नहीं। इस संसार में सत्य और असत्य दोनों ही का मेला है। दो विरोधी तत्वों का समाहार ही संसार है। इसमें से सत्य को ग्रहण करने वाला आनन्द प्राप्त करता है। सत्य प्रेम को धारण करने वाला ईश्वर को प्राप्त करता है और असत्य को ग्रहण करने वाला केवल पछताता रहता है।

जगत की लगी बजार है, सत असत् विकाय।
सत्त बिसाहै सुख लहै, लिये असत् पछताय।

प्रम हृदय की निश्चयात्मक प्रवृत्ति है। उसमें किसी प्रकार की शंका, द्विविधा तथा लालच का स्थान नहीं अतः प्रेमी का किसी एक विशिष्ट से प्रेम होता है उसके समान या वैसे से ही नहीं :

जो मन लागा एक तें दूसर सुधर न भाय।
देख पेड़ सब मां वही, वही वही गोहराय ॥

ईश्वर की सर्वात्मकना की इससे सहज और सरल व्याख्या क्या हो सकती है।

प्रिय की प्राप्ति के लिये अहं या पृथक अस्तित्व का त्याग आवश्यक है। कबीर ऐसे ज्ञानी तथा खन्डनात्मक प्रवृत्ति वाले साधक को भी प्रेम की दुहाई में कहना पड़ा था :

कबीर यह घर प्रेम का खाला का घर नाहिं।
सीस उतारै भुई धरे तब पैठे घर मांहिं॥

अतः प्रेम में एकत्व की प्रधानता है, यह सिद्ध है। उसमें द्वैत की भावना नहीं, यही सूफ़ी साधक का भी लक्ष्य है। वह साधना के द्वारा अपनी प्रेम भावना को परिपक्व करता हुआ फना की उस अवस्था को पहुँच जाता है जब उसका अपना पृथक कुछ नहीं रहता और अन्त में वह 'वका' की अवस्था में 'उसी' में स्थित हो जाता है। अतः प्रेममार्ग में सर्वस्व त्याग ही प्रधान है। इसी तथ्य को शेख रहीम इस प्रकार कहते हैं :

दास आस बहुतन जिउ सोवा, जिन चाहा सो छिन छिन रोवा।
दरस लाग त्यागो कुल लाजा, होउ मिलन तौ सबरै काजा।
दरस आस दुबिधा मन त्यागो, होउ निरानर मारग लागौ।
जेहि कै दरस लाग तुम सोगी, तहं कर भेख धरौ मन भोगी।

'जो तुम लोभी दरस के, भेख धरौ तेहि केर।
बिना भेख धारन किये, दरस डगर है फेर।'

इसी प्रकार चन्द्रकला और प्रेमसेन में ईश्वरत्व और मानवत्व एवं साधक की प्रतिष्ठा भी कवि इस प्रकार स्पष्ट करता है :

जौन जोत चन्द्रावलि मांही, सो हम रूप है परछाहीं।

आडम्बर और कपट रहित प्रेमपूर्ण हृदय ही अल्लाह या ईश्वर का निवासस्थान है। सूफी काबा या कैलास से भी शुद्ध हृदय को श्रेष्ठ मानते हैं।

दया प्रेम जेहि मन बसे, सो काबा कैलास।
अन्तरजामी आप रब, करै ओहि पर बास।

प्रबन्ध-कल्पना :

'भाषा प्रेमरस' भी प्रबन्धकाव्य के अन्तर्गत आता है। कथा का आधार काल्पनिक है। उसमें ऐतिहासिक या पौराणिक तत्व का समावेश नहीं है। दृष्टान्त रूप में आई हुई यूसुफ जुलेखां की कथा कुरान में वर्णित प्रेमाख्यान के समान ही है। इन प्रबन्ध काव्यों की रचना मसनवी पद्धति पर हुई है अतः इनमें भारतीय महाकाव्यों के तत्वों को खोजना

उचित न होगा यद्यपि बहुत सी बातें महाकाव्य के आवश्यक तत्वों से मेल खा जाती हैं।

अन्य सूफी प्रेमाख्यानों की अपेक्षा इस सूफ़ी प्रेमाख्यान की एक विशेषता है कि आरम्भ में 'रब' या निराकार ईश्वर की वन्दना के पश्चात उसकी महत्ता प्रदर्शित करते हुये कवि ने सारी सृष्टि की और विशेषकर मानव के अंग उपागों की विस्तृत चर्चा की है। उसके बाद परम्परा के अनुसार मुहम्मद, उनके चार मित्र अबूबकर, उसमान, उमर अली की प्रशंसा के बाद अपना और अपने वंश का परिचय कवि ने दिया है। गुरु परम्परा का यद्यपि विशेष वर्णन कवि ने नहीं किया है किन्तु शाह मुहीउद्दीन जीलानी की प्रशंसा की है। सम्भव है कि ये इनके मन्त्र गुरु रहे हों।

अन्त में कवि ने कथा को 'प्रेम रस' के वर्णन का माध्यम माना है तथा अपनी पुस्तक को सुखान्त रखकर अन्त में अपने समकालीन मित्रों की चर्चा तथा प्रशंसा की है।

कथा प्रवाह की दृष्टि से भी शेख रहीम का काव्य सफल है। कथा का आरम्भ तब तक मानना चाहिये जब तक चन्द्रकला और प्रेमसेन पाठशाला में एक साथ पढ़ते तथा शनैः शनैः प्रेम करने लग जाते हैं। कथा की इस समय तक बीज अवस्था है। उसके बाद चन्द्रकला के पंचमहला में एक प्रकार से नजरबन्द हो जाने पर प्रेमसेन के मित्र बलसेन और चन्द्रकला की राजमहल की मालिन के मध्यस्त बन जाने से मिलन का प्रयत्न है। प्रेमसेन का गृहत्याग तथा गुरु की सहायता से चन्द्रकला प्राप्ति का प्रयास है। महाकाल दैत्य का विनाश कथा का प्रयत्न भाग है। दैत्य विनाश के बाद से ही नायक को प्रिय प्राप्ति की आशा या प्रत्याशा होने लगती है और यह अवस्था प्रेमसेन के रूपनगर वापस आने तक रहती है। उसके बाद दोनों के पिता के वैवाहिक निर्णय से उसे निपताप्ति की संज्ञा प्राप्त हो जाती है। सम्राट अविद के विरोध के कारण फलप्राप्ति में कुछ देर लगती है और फलागम की स्थिति तब आती है जब युद्धस्थल में मृत प्रेमसेन को गुरुकृपा से पुनर्जीवन प्राप्त होता है और अंत में उसका चन्द्रकला से मिलन हो जाता है। यहीं कवि का उद्देश्य पूर्ण होता है।

कथा का अन्त एक प्रकार से चरमसीमा पर ही होता है। कथा प्रवाह में किसी भी प्रकार की शिथिलता नहीं है और न कहीं पर कौतूहल ही शान्त होता है। यद्यपि यह अवश्य है कि कौतूहल जाग्रत रखने के लिये कवि को दैत्य, कपाल, सुआ, मैना, बाज, आदि पात्रों की उद्भावना करनी पड़ी है जिन्हें केवल कल्पना के आधार पर ही सत्य मानकर हम कथाप्रवाह के साथ चलते हैं। कई स्थलों पर कवि ने सम्भवतः गुरु के महत्व प्रदर्शन या अलौकिक शक्ति दर्शन के हेतु मृतक प्रेमसेन के पिता रूपसेन को जीवित करवाया है। कथा के इन स्थलों की विवेचना परम्परागत शामी मसनवी पद्धति तथा सहस्त्ररजनी चरित ऐसे आख्यानों के आधार पर ही सम्भव है। कथा की गति तीव्र है

तथा कहीं भी किसी वर्णन को अनावश्यक विस्तार नहीं दिया गया है। इस प्रकार शेख रहीम कथा के इतिवृत्त का वर्णन बड़ी सफलता पूर्वक कर सके हैं।

'भाषा प्रेमरस' में रसात्मक स्थलों की कमी नहीं है। कथा के इतिवृत के साथ ही प्रेमा, चन्द्रकला का विरह, प्रेमसेन की माता का दुःख, चन्द्रकला का दैत्य के यहाँ निवास, सम्राट अविद का युद्ध, प्रेमसेन की कई बार मृत्यु घटनायें, आशा, दया एवं प्रेम आदि की व्याख्या ऐसे मार्मिक स्थल हैं जहाँ पाठक की केवल कौतूहलवृत्ति ही शान्त नहीं होती प्रत्युत् हृदय भी रम जाता है। ऐसे रसात्मक स्थलों की योजना तथा वर्णन ही कवि की सफलता का द्योतक है। अन्यथा केवल इतिवृत्तमात्र को हम काव्य नहीं कह सकते। कथा में जीवन दशाओं को अन्तर्भूत करने वाला विस्तार और व्यापकत्व नहीं है फिर भी रसात्मक स्थल उपलब्ध हैं।

भाषा प्रेमरस में प्रासंगिक घटनायें अधिक नहीं हैं किन्तु फिर भी महाकाल दैत्य की घटना और सम्राट अविद का आक्रमण तथा मालिन का देशप्रवास उन प्रासंगिक घटनाओं में से हैं जिनका प्रभाव अधिकाधिक घटना पर पड़ता है। प्रासंगिक घटनाओं की योजना ऐसी होनी चाहिये कि उसका कथा के उद्देश्य से सम्बन्ध होते हुये भी वह अनावश्यक या ऊपर से जुड़ी हुई न प्रतीत हो। इस दृष्टि से देखने पर चन्द्रकला का महाकाल दैत्य द्वारा उठाये जाने का प्रसंग सफल ज्ञात होता है क्योंकि इस घटना में एक ओर तो कथा में कुछ मार्मिक घटनाओं की योजना होती है तथा दूसरी ओर प्रेमसेन के बल तथा दृढ़ता का उत्कर्ष प्रदर्शित किया गया है। कथा का वास्तविक कार्य यदि चन्द्रकला और प्रेमसेन का मिलन है तो सम्राट अविद का आक्रमण मुख्य कथा से संबन्ध नहीं रखता। बहुत सम्भव है कि इस आक्रमण द्वारा असत् पर सत् की विजय एवं चन्द्रकला के सौन्दर्य में सम्राट अविद का परमेश्वर के सौन्दर्य का आभास पाने के द्वारा कवि अपने सिद्धान्त को सुस्पष्ट करना चाहता हो। इस प्रकार कथा में कार्यन्वय का अभाव नहीं प्रतीत होता।

विस्तृत वर्णनों में शेख रहीम का मनुष्य शरीर के अंग उपांगों का वर्णन लिया जा सकता है। किन्तु कहीं भी किसी विशेष स्थल नगर, हाट, पनघट, जलक्रीड़ा, यात्रा आदि का वर्णन विस्तृत रूप से नहीं किया गया है। कवि के लिये इस प्रकार के विस्तृत वर्णन सुलभ थे किन्तु प्रतीत होता है कि उसने जानबूझ कर ऐसा नहीं किया। विवाह एवं युद्ध यात्रा आदि का वर्णन भी अतिसंक्षिप्त है।

विरह, प्रेम, बारहमासा, रूप सौन्दर्य आदि के वर्णन में कवि ने अवश्य कुछ अपनी वर्णन प्रियता प्रदर्शित की है। ऐसे स्थलों पर भी कवि ने अनावश्यक विस्तार अपेक्षित नहीं समझा। बारहमासा अत्यन्त संक्षिप्त है तथा विप्रलम्भ शृंगार के उद्दीपन की दृष्टि से लिखा गया प्रतीत होता है। रूप सौन्दर्य का वर्णन भी परम्परामुक्त तथा संक्षिप्त ही है। चन्द्रकला का रूपवर्णन एक ही स्थल पर मालिन द्वारा सम्राट अविद पर प्रकट किया गया है। इस वर्णन में जायसी के वर्णन की भांति सर्वव्यापकता तथा बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव का व्यक्तीकरण नहीं है।

जहाँ परकास रूप तहं केरा, तहां होत नहिं चन्द उजेरा।
चन्द जोत धूमल तेहि आगे, जस धूमल ग्रहण के लागे॥

तथा

ब्रह्मा अपने कर रचा अंगह अंग संवार।
सुन्दर मूरत कामिनी अपनी ओर निहार।

कवि ने कहीं भी वर्णनों को विस्तार तथा प्रभावात्मकता प्रदान करने का प्रयास नहीं किया है। बारहमासे में भी कवि ने प्रत्येक महीने का वर्णन एक या दो पंक्तियों में ही समाप्त कर दिया है।

कातिक तकूं मैं पी की घाटा, दिया बार हेरौं मैं घाटा।
प्रीत जुआ जिव खेल के हारी, कस भावै मोहि दिया दिवारी।

वियोगिनी को उत्सव में आनन्द आ ही किस प्रकार सकता है। विस्तृत वर्णन कवि ने केवल मनुष्य के अंगों एवं उनके उपयोगों का किया है जैसे रसना के सम्बन्ध में वे लिखते हैं।

रसना दीन्ह ज्ञान कर मूरी, बिन रसना यह देह अधूरी।
जो न होत रसना मुख माहीं, कोउ सवाद नर पावत नाहीं।
बिन रसना को भेद बतावत, भोग स्वाद कैसे नर पावत।
रसना से भा वेद पुराना, रसना राखे नर कर गाना।
रसना राजपाट बैठावे, रसना नरगन्ह भीख मंगावै।
बिन रसना यह जनम अकारथ, रसना ते धरै परमारथ।

इसी प्रकार कवि ने प्रत्येक अंग उपांग का वर्णन किया है और अपने इस वर्णन के आधार पर अल्लाह की महानता सिद्ध की है।

भाषा :

ग्रन्थ की भाषा बोलचाल की अवधी है जिसमें कुछ स्थानीय प्रयोगों के साथ ही फ़ारसी एवं अरबी के शब्द भी उपलब्ध होते हैं। फारसी एवं अरबी के शब्दों का प्रयोग विषयानुरूप ही है। कवि खुदा का वर्णन करते हुये लिखता है—

को कहि सकै बड़ाई रब की, जासों टेक लगी है सबकी।
कारसाज कादिर मुख्तारा, बे नियाज़ माबूद हमारा।

खन्डों के नामकरण में भी कवि अपने फारसी के ज्ञान का परिचय देता है। 'आत्मपरिचय' के लिये वह 'हालमुसन्निफ' लिखता है। कुछ फारसी से हिन्दी रूपान्तरित शब्दों का भी सुन्दर प्रयोग है जैसे अर्जदास्त से अरदास। स्थानीय प्रयोगों में करारी,

खंगिगा, पागी, लगिचाऊं आदि शब्द आ सकते हैं। मुहाविरों का भी यथास्थान योग है जैसे—भरा धरा छूंछ, लेत है अबी, सांस कांट, अस खरकना, हिया दरकना, टर गई पांव तरे से धरती, अपने पांवन आप कुल्हाड़ी। संस्कृत के विशुद्ध शब्दों का प्रायः अभाव सा है। भाषा की बोधगम्यता सराहनीय है।

रस :

ग्रन्थ में भावात्मक स्थल अधिक नहीं हैं और यही कारण कि शृंगार एवं वात्सल्य रसों के अतिरिक्त अन्य रसों का केवल आभास मात्र हो पाता है। वीर और करुण रसों का केवल संकेत मात्र है उनका पूर्ण परिपाक नहीं हो पाया है। प्रेमा के विरह में दुखी चन्द्रकला, पत्र लिखकर अपनी स्थिति को स्पष्ट करती है।

अमृत जल मानहुँ विषघोरा, प्यास बुझाय दरस लग तोरा।
जर जर हाड़ भयो जस चूना, खैर खान विरहा दुख दूना।
फूलन सेज कांट अस खरके, नींद कहां तुम बिन हिया दरके।

तन मन की सुधि बीसरी, जेहि दिन लागे नैन।
नैना तरसे दरस बिन, बिन दरसे नहिं चैन।

छन्द :

'भाषा प्रेम रस' की रचना भी दोहे चौपाई के क्रम से हुई है। शेख रहीम ने चौपाई को चार चरण वाला ही माना है। चार चौपाइयों के बाद एक दोहे का क्रम सर्वत्र निबाहा गया है।

अलंकार :

शेख रहीम ने अधिकांश सादृश्यमूलक अलंकारों का ही प्रयोग किया है। साधारण प्रयोग में आने वाले उपमा, रूपक अनुप्रास एवं उत्प्रेक्षा अलंकारों का प्रयोग अधिक है।

हेतूत्प्रेक्षा :

नहं रोवन सुनके गुरु, वन बिच लागी आग।
जरे पंख कारी भई, सो आवत हों भाग॥

उपमा :

गिरा भूम पर दैत्य वह, जस पाहन की लाट।

रूपक :

काल सीस पर रैन दिन जैस बाज मंडराय।
जिउ की मैना पींजड़े, समै पाय लै जाय ॥

चरित्रचित्रण :

चरित्रचित्रण की दृष्टि से इन काव्यों की आलोचना करना यद्यपि अधिक उपयुक्त नहीं है क्योंकि काव्य में चारित्रिक विशेषता की ओर ध्यान देना आधुनिक दृष्टिकोण है। पात्रों के चरित्र की व्यञ्जना पात्रों के वचन व कर्म के द्वारा होती है। कथा में प्रेमसेन और चन्द्रकला नायक नायिका हैं। इनके अतिरिक्त रूपसेन, बुधसेन, महाकाल दैत्य, गुरु सहपाल, सम्राट अविद, मालिन, मित्र बलसेन आदि चरित्र भी हैं।

प्रेमसेन :

प्रेमसेन 'प्रेम का आदर्श' है। वह प्रेम के लिये अपना जीवन उत्सर्ग कर सकता है। शिक्षा-गुरु के पाठशाला में प्रश्न करने पर वह यही उत्तर देता है :

चन्द्रकला मन मां बसे, राखौं हर छन चेत।
प्रान निछावर घालिहौं चन्द्रकला के हेत।

यूसुफ की भांति प्रेमसेन में केवल कर्तव्य की भावना ही प्रधान नहीं है। प्रेम के लिये गृहत्याग करके वह गुरु सहपाल के साथ बन में त्यागमय होकर रहता है।

दैत्य महाकाल को परास्त करने में प्रेमसेन के साहस तथा सम्राट अविद से युद्ध में शौर्य के दर्शन होते हैं। प्रेमसेन में किसी दुर्गुण का आभास नहीं मिलता और न उसमें कोई जातिगत विशेषतायें हैं। उसका प्रेम भी लोक संयत है। यद्यपि प्रेमसेन का चरित्र किसी भी क्षेत्र में उच्च आदर्श की स्थापना नहीं करता फिर भी वह नायकत्व का प्रतिनिधित्व करता है।

चन्द्रकला :

नायिका चन्द्रकला के चरित्र की विशेषता भी प्रेमिका के रूप में ही विशेष लक्षित होती है। पाठशाला में प्रेमसेन से वियुक्त हो जाने पर तथा प्रेमसेन के घर से चले जाने पर वह अत्यन्त व्याकुल हो जाती है और गृह त्याग के लिये बेचैन हो जाती है। प्रेमसेन का गृहत्याग सुनकर

रहन लाग तब लै दुखी, मन ही मन अकुलाय।
औसर हेरे रैन दिन केहि विधि घर ते जाय।

वह भी गृहत्याग की चिन्ता में लग जाती है। चन्द्रकला का केवल प्रेमिका का स्वरूप ही सम्मुख आता है।

गुरु सहपाल :

गुरु का चरित्र परम्परागत है। गुरु सहपाल सदैव शिष्य की कल्याण कामना ही में रत हैं तथा कबीर के अनुसार 'गुरु तो ऐसा चाहिये सिष को सब कुछ देय' गुरु सहपाल का चरित्र आदर्श तथा सराहनीय है। शेख रहीम भी उनकी प्रशंसा में कहते हैं :

जो गुरु मिले तो अस मिले बांह पकड़ ले तार।
डूबत नैया भंवर मां, खेय लगावै पार।

राजा रूपसेन मन्त्री बुधसेन, मित्र बलसेन, मालिन, सम्राट अविद आदि के चरित्रों में कोई विशेषता नहीं है, सभी परम्पराभुक्त है।

अन्य प्रसंग :

भाषा प्रेमरस के मध्य कई ऐसे अन्य प्रसंग भी आये हैं जैसे दानमहिमा, द्रव्य महिमा, प्रेमऔर दया की प्रशंसा, बाह्याडम्बर से हृदय की शुद्धता की महानता आदि।

दान-महिमा :

जो चाहत हो जगत धन साथ हमारे जाय।
तो दाता के नाम पर जग मां देउ लुटाय॥

द्रव्य-प्रभाव :

दरब लोभ आये जहां ज्ञान रहीम नसाय।
जो करवो नहिं उचित है तौन लेय करवाय॥

विद्या-प्रशंसा :

ऐ विद्या जगतारिनी, मैं तोरे बलि जाऊं।
करै नीच का ऊंच तोइ धन्य तिहारो नांव।
विद्या धन मैं आपके, भयो नीचनें ऊंच।
मैं तो भिखारी सुख मिला, भरा घरा मोरा छूंछ॥

कवि रहीम की बहुज्ञता :

यद्यपि शेख रहीम की कथा का आधार काल्पनिक है फिर भी प्रसंगानुसार कवि ने हिन्दू और शामी प्रेमाख्यानों का उल्लेख यथास्थान किया है। चन्द्रकला दैत्य से उद्धार करने के लिये भगवान से प्रार्थना करते हुये कहती है :

शक्तिमान जगनाथ जी दयासिन्धु भगवान।
लागो मोर गोहार अब आन बचाओ लाज ॥

जस द्रोपदी की राखो लाजा, प्रगट्यो चीर बरन महाराजा।
जस प्रह्लाद का आन उबारो, फूटे खम्भ हिरनाकस मारो।
जस सीता की लाज सम्हरा, राम रूप रावन का मारा।
जस बूड़त तारयो गजराजा, धारो तुरत दीन के काजा ॥

उसकी इस प्रार्थना में पूर्ण हिन्दू हृदय की झलक मिलती है। शब्द योजना तथा विचारक्रम भी अनुकूल हैं साथ ही कवि का भगवान के विरद की चर्चा करते समय, प्रह्लाद, द्रोपदी, और गजराज का उल्लेख भी परम्परागत और स्वाभाविक है। केवल सीता के आख्यान को अवश्य कवि ने एक नवीन दृष्टिकोण से देखा है। मन्सूर के 'अनल्हक' का भी कवि ने उल्लेख किया है। लैला मजनूं, शीरी फरहाद और यूसुफ जुलेखा की कथा का भी यथास्थान दृष्टान्त रूप में उल्लेख मिलता है।

कुरान या धार्मिक विचारों का उल्लेख :

हदीस है खुदा ने अपने स्वरूप के अनुरूप ही मनुष्य की रचना की। कवि रहीम भी लिखते हैं :

मूरत मां रचि आपन राखी, सूरत देत शक्ति को साखी।
ब्रह्मा अपने कर रचा, अंगह अंग सवांर।
सुन्दर मूरत कामिनी, अपनी ओर निहार ॥

उमरखय्याम से विचार साम्य रखता हुआ कवि लिखता है :

यह जग जान सराय समाना, नर नारी पन्थी की आना।
आये सांझ भोर उठ भागे, काहू के संग सराय न लागे ॥

शरीयत के मार्ग का वर्णन करते समय कवि ने इस्लाम धर्म के साधन चतुष्टय सलात, जकात, सौम तथा नमाज का उल्लेख किया है। कुरान के अनुसार अल्लाह ने इस संसार की सृष्टि केवल 'कुन' शब्द से की है। शेख रहीम भी इसकी पुष्टि करते हैं।

एके शब्द कहा कुन केरा सिरजा भूमि अकाश घनेरा (गुनेरा)।

इसी प्रकार आकाश के सातखन्डों के ऊपर अल्लाह के सिंहासन या 'अर्श कुर्सी' की चर्चा भी कुरान में है :

वाके कीन्हे सब भये करनहार वह एक।
सात खन्ड आकास के छाम रख्यो बिन टेक ॥

तथा

सात खन्ड रच धरती केरे, तापर देस बेस बहुतेरे ॥

इसी प्रकार हदीस है कि अल्लाह ने सर्वप्रथम 'नूरुल मुहम्मदिया' की रचना की। शेख रहीम भी हजरत मुहम्मद की प्रशंसा करते समय कहते हैं :

सिरजा जिनके कारना धरती और अकास।

कुरान में वर्णित आदम और इबलीस की कथा का उल्लेख भी शेख रहीम ने किया है।

इन सूफ़ी कवियों ने यद्यपि सदैव स्वयं को 'प्रेम मत' का अनुयायी कहा है फिर भी यह न भूलना चाहिये कि इस प्रेम मत की स्थापना सब धर्मों की सामान्य बातों से सामन्जस्य रखते हुये भी विशेषत: इस्लाम धर्म के अन्तर्गत है। अत: एकेश्वरवादी इस्लाम धर्म के अनुसार इन कवियों ने बहुदेवोपासना का विरोध किया है। शेख रहीम ने भी इसी प्रकार के अपने विचारों का उल्लेख 'भाषा प्रेम रस' में किया है। यूसुफ से मिलने की आशा में जुलेखा ने बहुत दिन अनेक देवताओं की वन्दना की किन्तु उसकी इच्छा पूर्ण न हुई तब जुलेखा एकदेव की ओर उन्मुख हुई।

बीते यह बिध बहुत दिन, एक दिन भई निरास।
देवतन आसा छोड़ के, अस कीन्हों अरदास।

अनेक से एक की ओर उन्मुख होते ही जुलेखा की इच्छा पूर्ण हो गई। इसी प्रकार प्रेमसेन ने जब दैत्य का संहार कर दिया तब गुरु सहपाल ने उसे जो उपदेश दिया है उसी के अन्तर्गत शेख रहीम 'मूर्ति पूजा' का खन्डन करते हैं :

एक मूरत निज करन्ह संवारा, तह का नांव धरे करतारा।
अबही कहे कि ठाकुर मोरे, फिर काहे ले जल मां बोरे।

है ठकुर एक वह धनी, जस रहीम कोउ नाथ।
सबसे अलग अलान है, पूर रहा सब हाथ ॥

शेख रहीम का मत तथा सिद्धान्त :

शेख रहीम से कई सौ बरस पूर्व कबीर अपनी बानी से हिन्दू मुस्लिम मतों में सामन्जस्य स्थापित करने का प्रयास कर चुके थे। लगभग उन्हीं के शब्दों में शेख रहीम ने भी अपने 'प्रेम मत' का प्रतिपादन किया है। अन्तर केवल यह है कि कबीर ज्ञानी थे, उनकी

बानियों में बुद्धि की शुष्कता तथा तर्क कटुता है जबकि शेख रहीम का 'प्रेममत' इश्क मज़ाजी और इश्क हकीकी से सम्बन्ध रखता है, यह हृदय की वस्तु है, सहज तथा हृदयग्राही है।

कबीर और शेख रहीम दोनों ही मुसलमान तथा एकेश्वरवादी थे। अतः एक देव या अल्लाह में ही उनका विश्वास था। शेख रहीम लिखते हैं :

ए मालिक माबूद जग, खालिक खलक जहान।
कारसाज कौनैन का, बेनियाज सुल्तान।

वही इस संसार का स्रष्टा तथा स्वामी है। जिस प्रकार कबीर ने राम को ब्रह्म का प्रतीक माना था अवतारी नहीं, उसी प्रकार शेख रहीम भी कहते हैं :

हर का तो हर घट मां पइये, नेरे हेरे दूर क्यों जइये।
राम नहीं दशरथ के जाये, दशरथ हू का राम बनाये।
कृष्ण अनेक एक करतारा, तेहि का नहीं बहेलिया मारा।
औरन को वह मार जियाये, तेहि का भला मार को पाये।
नहिं वाके हैं मात पित ना वाका कोउ देस।
वाके कीन्हें सब भये, बरह्मा बिष्णु महेश॥

इस प्रकार शेख रहीम के अनुसार भी राम और कृष्ण उसी शाश्वत्, सर्व व्यापक, सर्वज्ञ, सर्वेश्वर ब्रह्म के प्रतीक हैं।

ब्रह्म का निवासस्थान कोई विशेष स्थल नहीं है। उसका निवास दया और प्रेम से पूर्ण हृदय में है। प्रेम और दया ही के द्वारा, ब्रह्म की प्राप्ति हो सकती है।

दया प्रेम जब हिये समाई, मन आपन काबा होइ जाई॥

दया प्रेम जेहि मन बसे, सो काबा कैलास॥
अन्तरजामी आप रब करे होयें पर बास॥

इस प्रकार ब्रह्म का निवास किसी मन्दिर या मस्जिद विशेष में न होकर हृदय में है और उस हृदय में दया और प्रेम का निवास आवश्यक है।

संसार में ईश्वर प्राप्ति के अनेक साधन हैं। विभिन्न मत मतान्तर ईश्वरोपलब्धि के अनेक मार्ग प्रदर्शित करते हैं किन्तु इस 'विभिन्नवाद' में पड़ने की अपेक्षा श्रेष्ठ तो यह है कि जीव दया और प्रेम से अपने हृदय की वृत्तियों को समन्वित करले। इस प्रकार का सहज सरल जीवन ही अन्ततः ईश्वर तक पहुँचा देता है क्योंकि :

जग भीतर मत अहें अनेका, सबका मरम अन्त होय एका।
पुनि एका कहुँ दीख न जाई, जंह देखों तंह रार लड़ाई॥

अतः

मत अनेक लघु मोर मति कहा कि मत भय मान।
जो मत दाया प्रेम है तंह मत ईश्वर जान॥

केवल बाह्याडम्बर या कर्मकाण्ड से हृदय की शुद्धि नहीं होती 'मक्के गये हज्ज कर आये, कपटी मन फिर संगे लाये।' दया रहित हृदय ; हृदय नहीं कंकड़ है, मूल्यहीन है, महत्वहीन है।

दया नहीं तो मन है कांकर, प्रेम नगर की मग है सांकर।

रोजा नमाज सयत्न करने पर भी यदि हृदय में दया और प्रेम का निवास नहीं हुआ, यदि किसी दुखी को देख हृदय द्रवित नहीं हुआ, यदि किसी निर्धन के लिये सम्पत्ति में से एक पैसा न निकला तो कवि ऐसे कर्मकाण्डी को 'खरीदार' की संज्ञा देता है और अल्लाह 'आदान प्रदान' नहीं करता। भगवान को केवल दया और प्रेम से वशीभूत किया जा सकता है, खरीदा नहीं जा सकता। अतः केवल बाह्याडम्बर और कर्मकाण्ड का अनुयायी ईश्वर तक नहीं पहुँच पाता।

मक्के और मदीने जावे, खरीदार रब का नां पावै।

मालिक ऐसे खरीदारों को दोजख भेज देता है। ईश्वर प्रत्येक व्यक्ति के कार्य कलापों से परिचित रहता है। 'मैं तो देखौं रैन दिन कहा तोर व्योहार' और इसीलिये वह व्यवहारिक प्रेम भक्ति को शुष्क कर्मकाण्ड से अधिक महत्व प्रदान करता है। 'सत सनेह नहीं मत तोरे, खोट कपट मन भाव न मोरे', इन पंक्तियों को पढ़ते समय सहसा तुलसी की 'रामहि केवल प्रेम पियारा, जान लेहु जो जाननि हारा' का स्मरण हो आता है।

प्रेम और दया समन्वित साधना मार्ग की महत्ता बताने के बाद कवि आग्रह करता है कि यही कारण है कि भिन्न-भिन्न धार्मिक मतों के अनुयायी होने पर भी प्रेम और दया के मार्ग में ही मतैक्य की सम्भावना है अतः अपने अपने धर्म का सम्यक् पालन करते हुऐ भी,

'तजो न दाया धरम तुम, चाहै जो मत होय'

व्यक्ति दया रूपी धर्म का पालन करता हुआ धार्मिक विरोधों से ऊपर उठ सकता है।

इस प्रकार ईश्वर और ईश्वर प्राप्ति के सहज साधन दया धर्म की चर्चा करने के साथ ही कवि ने इस प्रकार सांसारिक सम्बन्धों की अनित्यता तथा असारता की भी चर्चा की है। प्रेमसेन के गृहत्याग के बाद कवि उसकी हृदय गत भावनाओं का वर्णन करता है। अभी तक माता पिता आदि परिवारगत प्रेम में फँसा हुआ वह भ्रम में पड़ा था, सत्य या प्रियतम की प्राप्ति के लिए इन मिथ्या सम्बन्धों का त्याग अनिवार्य है :

उपजा ग्यान मरम पहचाना, जग नाता सब मिथ्या जाना।
मिथ्या मात पिता परवारा, मिथ्या बन्धु भाय कुल सारा ।।

यह संसार भी असत्य है तथा इस संसार के प्रति मोह और माया भी असत्य हैं। इन सम्बन्धों के मध्य परमेश्वर ही सत्य है और उसकी एवं सत् की प्राप्ति के लिए व्यक्ति को इस असत् संसार का परित्याग करना ही पड़ेगा।

जग मिथ्या मिथ्या जग माया, मिथ्या होय यह आपन काया।

× × ×

का मिथ्या के कारने, रे मन तू बौरान।
एक ब्रह्म मिथ्या नहीं और मिथ्या सब जान।
छांड़ मोह घरबार की, ले चन्द्रावलि नांव।
प्रेमा आ बन बिषे, गुरु सहपाल के ठांव ।।

× × ×

प्रथम जगत से अनबन करे, प्रेम पुनीत मां पग तब धरे।

इस प्रकार संसार की चाह त्याग कर ईश्वर प्राप्ति के मार्ग में प्रविष्ट होना श्रेय है। इस मार्ग की सफलता भी सतसंग और गुरु कृपा पर निर्भर है। बिना गुरु की दया के सफलता प्राप्त होना दुष्कर है।

पुनि मारग नहिं आपन जानी , बिन भेदी बहुरे अग्यानी।

अतः प्रेमसेन ने भी संसार की माया ममता को त्याग करके

प्रेमा आय दंडवत् कीन्हा , गुरु चरन माथे पर लीन्हा।

गुरु ने सर्वप्रथम उसे अपने हृदय को सांसारिक लोभ से दूर करने का आदेश दिया संसार के लिये जोग लेना निरी मूर्खता है। गुरु उसके भोग के लिये जोग लेने के विचार की भर्त्सना करता है तथा जोग की महत्ता और उपादेयता समझाकर मंत्रदान करता है।

भोग की आस जोग तुम कीन्हा, कपट भेष जोगी कर कीन्हा ।
प्रथम जगत से अनबन करे, प्रेम पुनीत मां पग तव धरे।
जगत चाह छूटत नहीं जोग लिये का होय।
मैली चादर देह की प्रथमे डारो धोय ।।

इसी प्रेम पंथ पर चलने से ईश्वर की प्राप्ति हो जाती है। फलस्वरूप अनुभव-गम्य, अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त होता है जो 'गूंगे केरी सरकरा' की भांति वर्णनातीत है। 'जिनकर दरसन मिलत है वही लीयन पहचान'।

सत्य प्रेम में रंचक कपट सारी साधना नष्ट कर देता है। बिना सच्चे प्रेम के ईश्वर की प्राप्ति असंभव है। भला कहीं कांच के बदले में हीरा प्राप्त हो सकता है।

कथा के अंत में कवि एक बार फिर अपने ग्रन्थ का सार तत्व कहता है :

कपट त्याग ईश्वर मन लवों, सांच रहो तो वाको पावों।
जब लग प्रेम न होइ सांचा, हीरा मिलै न बदले कांचा ॥
एक तिल कपट लाख तिल सेवा, दोउ मिले होय विष मेवा।
यह विध कपट प्रेम सों मेले, भरमत फिरैं गुरु औ चेले ॥

ग्रन्थ-रचना का उद्देश्य :

मित्र महाशय गुनसदन चित बहलावन हेत।
कहौं कहानी प्रेम की होय के सुनो सचेत ॥

कवि ने इस प्रकार केवल मनोरञ्जन के हेतु ही ग्रन्थ रचना की है यद्यपि उसमें प्रेमतत्व की ही व्यञ्जना प्रधान है। किसी मत विशेष के प्रचार के रूप में ग्रन्थ की रचना नहीं हुई है। अपने उद्देश्य को कवि स्वयं स्पष्ट करता है।

प्रेम लगी यह कथा बखानौं, बीचे बीच प्रेम तंह सानौं।
तमैं कहूँ कोउ मत है ना, ना काहू की निन्दा कीन्हा।

ग्रन्थ के साथ साथ कवि अपना भी नाम अमर रखना चाहता है :

विधना जब लग जगत मां, यह पुस्तक संचार।
सबका साथ रहीम के, नांव रहै उजियार ॥

इसके अनन्तर कवि पाठकों के प्रति कल्याण कामना करता है।

कवि का विचार है कि इस पुस्तक को पढ़ने से लोगों को वास्तविक प्रेम का ज्ञान प्राप्त होता है जो अत्यन्त सुखप्रद है। पुस्तक को पढ़ने वाले की समस्त मनोकामनायें पूर्ण हो जाती है।

जो यह पुस्तक पढ़ै सो जानै, सांचा प्रेम प्रथम पहचानै।
जो कोउ पढ़ै बड़ा सुख पावै, अस रहीम करतार मनावै।

पुस्तक बाचनहार के विधि पुरवै सब काज।
अस रहीम विनती करै, है दाता जगराज ॥

बाद के सूफी कवियों में शेख रहीम का ग्रन्थ 'भाषा प्रेम रस' अपना निजी महत्व रखता है। दया एवं प्रेम के जिस सहज मार्ग का प्रतिपादन शेख रहीम ने किया है वह अब भी उपादेय है।

———

प्रेम दर्पण

(कवि नसीर कृत)

कवि नसीर गाजीपुर जिले के जमनियां गांव के रहने वाले थे। इनका जीवन स्वयं एक दुःखकथा है। बचपन में ही इनके पिता का देहान्त हो गया। माता ने इनका पालन पोषण किया तथा एक अध्यापक रख कर इन्हें शिक्षा दिलवाई। यथा समय इनका विवाह एक धनसम्पन्न स्त्री से कर दिया। अपनी प्रथम पत्नी से इनको तीन संतानें हुई जो काल कवलित हो गई और उन्हीं के शोक में इनकी पत्नी भी चल बसीं। इन्होंने क्रमशः दो और विवाह किये। इनकी द्वितीय पत्नी दो मास पश्चात् तथा तृतीय पत्नी केवल दो वर्ष जीवित रह कर स्वर्ग सिधार गई। अपनी इस तृतीय पत्नी से इन्हें बहुत प्रेम था, अतः उसकी मृत्यु से दुखी हो कर देश विदेश घूमते रहे। घूमते घामते ये कलकत्ते पहुँचे वहां सुंदरिया पट्टी की कोठी नं० १०७ में ठहरे जहां मुहम्मद शफी नाम का व्यापारी रहता था। मुहम्मद शफी ने इन्हें अत्यन्त दुखी जानकर इनका चित

---

1. गाजीपुर जिला जिहिं ठाऊं। ताहे मांझ जमनिया गांऊ॥
वहीं जनमभूम है मोरा। निज बृतंत कहूँ कछु थोरा॥
बारे समय पिता मोरे न्यारे। इह जग से बैकुन्ठ सिधारे॥
माता पुनि मोहे पालन कीन्हा। पंडित राख मोहे विद्या दीन्हा॥
दरबोलत के बारी साथा। कियो मोर ब्याह धरायो हाथा॥
माता पुनि मृत्यो रस चाखी। माटी मांझ जाय पग राखी॥
पुनि मोरे जनमे तीन। पाले पुनि गये सरग के पाना॥

नारी ताहि वियोग में, दियों परान के त्याग।
विधना मोरे भाग के, का अस लिखो कुभाग॥

कियो बियाह पुनि दुसरे बारी। आनो भवन में सुन्दर नारी॥
दोइ मास पाछे वह नारी। जा माटी में सेज संवारी॥
तीजे बार कुटुम्ब मताले। मुन्दरी एक घर ब्याह के लाये॥
दोई बारस रही घर मोरे आई। मोह मया अधिक बढ़ाई॥
अन्त वहू मृत्यु रस चाखा। गई परान तोर अभिलाखा॥
जस दुखी हूं मैं जग मांहीं। तस न केहू संसारा॥

वहलाने के लिए अनेक प्रेमकथायें सुनाई। इन्हीं प्रेम कहानियों में से इन्हें फारसी कवि जामी की 'यूसुफ जुलेखा' सर्वाधिक आकर्षक लगी। इन्हें यह भी ज्ञात हुआ कि फिग़ार नामक शायर ने उसका उर्दू अनुवाद भी किया है। फिग़ार शायर की रचना 'इश्कनामा' के आदर्श पर ही इन्होंने अपनी रचना 'प्रेम दर्पण' आरम्भ की।

गुरु :

कवि नसीर ने आरम्भ में निर्गुण सृष्टिकर्ता ब्रह्म की वन्दना की है। क्रमशः मुहम्मद साहब एवं उनके चार मित्रों का परिचय देने के पश्चात् उन्होंने ऐनुल अहदी नामक पीर की भूरि भूरि प्रशंसा की है।[1] पीर ऐनुल अहदी ने 'जोत निरन्जन' का प्रकाश किया था। पंडित, हाजी, हाफिज, जैसे लोग भी सहस्त्रों की संख्या में उनके शिष्य थे। उनके उपदेश अमृत के समान शीतल एवं श्रुति मधुर हुआ करते थे, उनके चरणस्पर्श मात्र से पाप नष्ट हो जाते थे। उनके चमत्कारों में एक यह भी प्रसिद्ध है कि जिस पानी को वे फूंक देते थे वह केवड़ा हो जाता था। कवि कथन है कि उसे भी ऐसे जल की एक बूंद प्राप्त हुई थी जिसकी सुगन्ध की स्मृति कवि भुला नहीं सका। यही ऐनुल

कलकत्ते मंह सुन्दर पाटी, नम्बर एक सौ सात जै कोठी।
के गुरू मन के मोरे बोले, प्रेम खनी के ढकना खोले।
जो जो प्रेमी कब भये, और जिन्ह जो पोथी कीन्ह।
उन्ह सब कवि के बरन के, एक एक कहि दीन्ह॥
× × ×
जिन्ह के वचन बहु सुन्दर देखा। जस पोथी यूसुफ औ जुलेखा।
और फिगार प्रेम रस कहानी। उर्दू में यह लिखिन कहानी॥

1. ऐनुल अहदी काशी अस्थाना। रूप सरूप दिये जस माना।
जाते निरन्जन तिन्ह परकासू। वही मेरे गुरू हौं उन्ह कर दासू।
पन्डित हाजी हाफिज कारी। बहुत बरन उन परयू संबारी।
उन्ह कर पग देखे पाप अस जाता। फागुन मास में जस झरे पाता।
अस वह गुरू है अलबेला। सहस लोग रहे जिन्ह के चेला॥
× × ×
ताह बखान न जाय बखानी। सुन वह शब्द हो पाहन पानी।
हरियर सब उन्ह कर पहिरावा। दूजे ख्वाजा ख़िज ये पीरा॥
× × ×
और सुनो एक अचरज बानी। केवड़ा भया दीन्ह फूंक से पानी।
वह जल के कारू कहूँ मैं बासू। कस्तूरी में न हो वह बासू।
वह में ले एक बूंद महूँ पावा। अब लग नहीं वह बास भुलावा।
काशी तज के गये कलकत्ते। मस्जिद चीनी वाल।
वही अस्थान परान त्योगे। ॥
× × ×

अहदी कवि के गुरू थे। ये सदा काशी में ही रहा करते थे, किन्तु अन्त समय में वे कलकत्ते की चीनी वाली मस्जिद में चले गये जहां इनका देहान्त हो गया।

रचनाकाल :

अपनी रचना का निर्माण काल बताते हुये वे कहते हैं कि मैंने हिजरी सन् १३०५ के जैकीद महीने की चौबीसवीं तारीख को इस प्रेम गाथा की समाप्ति की है। उस दिन सं० १६७४ के भादौं महीने की कृष्ण द्वादशी थी तथा दिन शुक्रवार था जो मुसलमानों के अनुसार जुमा कहलाता है।[2]

कवि अत्यन्त विनीत है। यद्यपि अपने बाल्यकाल का वर्णन करते समय उसने अपनी शिक्षा का वर्णन किया है किन्तु जहां वह कथा-रचना की चर्चा करता है वहीं यह भी लिखता है कि उसे 'वचन' एवं विद्या का कुछ ज्ञान नहीं है।

जामी की फारसी एवं फिगार की उर्दू रचना को देख कर उसके मन में भी 'भाषा' में यह प्रेमकथा कहने की चाह जाग उठी और इसीलिए उसने इस कथा की रचना की। यह जानते हुये भी कि वह कवि नहीं है, रचयिता को अपने ग्रन्थ से संतोष था क्योंकि इसमें करतार का वर्णन है।[3]

कवि निसार और कवि नसीर दोनों को अपने जीवन काल में पारिवारिक झंझटों एवं दुखों को सहना पड़ा। कवि निसार के हृदय में अपने एक मात्र वयस्क पुत्र के निधन से अत्यन्त दुख हुआ। कवि नसीर को माता, पिता एवं तीन पत्नियों तथा तीन पुत्रों का वियोग दुख सहना पड़ा। यह भी एक संयोग की बात है कि अपने जीवन में पारिवारिक संकटों के भोगने वाले दो भिन्न भिन्न कवियों के हृदयों में इस कहानी विशेष को ही लिखने की प्रवृत्ति जगी और उन दोनों ने इसे हिन्दी के माध्यम से ही पूरा किया। कवि

---

२. हिजरी तेरह सौ पैंतीसा, था जैकीद मास चोबीसा।
संवत उन्निस सौ चौहत्तर, भादों वदी दुवादस अन्तर।
जुमा का दिन जानो तुरकाना, सुक का दिन जानो हिन्दुवाना।
करके बहुत ही कष्टि कलेसा, यहि दिन कथा कियो मैं सेसा॥

३. सुन यह बचन दियों में उत्तर, जानो ना विद्या एक अक्षर।
हीन ज्ञान का मन दुखियारा, केहिबिधि लिखों यह कथाअपारा।
कैबी बहन कछु नहिं जाना, कोने उपया यह मोह निदाना॥

४. पै यह पद साखा में हौ, ...।
साध भई मोरे मन उपराजा, करों नसीर यह काजा।
बचन यही मन में मोरे आये, कथा यह जग में पाये॥

निसार ने वि० सं० १८४७ में और कवि नसीर ने वि० सं० १९७४ में अपनी ग्रन्थ रचना की, दोनों के बीच में लगभग सवासौ वर्ष का अन्तर पड़ता है।

कथा-सारांश :

प्रेम-दर्पण ग्रन्थ में भी यूसुफ जुलेखा प्रेमाख्यान वर्णित है। युसुफ का जन्म किनआं नगर के याकूब के घर हुआ था। जब ये दो वर्ष के थे इनकी माता का देहान्त हो गया। यूसुफ का पालन पोषण इनकी फूफी के घर हुआ। जब इनके पिता ने फूफी से यूसुफ को लौटाने को कहा तो उसने इनकार कर दिया और उसके पास अपना कमर बन्द रखकर यूसुफ को चोर बनाया तथा उसके अत्यन्त सुन्दर होने के कारण प्रेमवश अपने पास ही रक्खा, चोर बनाना तो केवल एक युक्ति मात्र थी। बुआ की मृत्यु हो जाने के पश्चात् ही यूसुफ अपने पिता के पास आ सके। यूसुफ अत्यधिक सुन्दर थे। इधर तैमूर देश के सुल्तान के यहाँ जुलेखा का जन्म हुआ जो अतीव सुन्दरी थी तथा नित्य राग रंग में लिप्त रहती थी।

एक दिन स्वप्न में उसने एक सुन्दर युवक को देखा तथा उसकी छवि पर मोहित हो गई, उसने अपनी धाय से सब हाल बताया जिसने उसे सलाह दी कि वह उस स्वप्न के सुन्दर युवक से उसका परिचय पूंछे। जुलेखा ने इसके बाद दो स्वप्न और देखे। यूसुफ के परिचय के सम्बन्ध में वह केवल यही जान सकी कि मिस्र देश के वजीर के यहाँ उससे मिलन होगा। जुलेखा के रूप सौन्दर्य की चर्चा सुनकर बहुत से राजा उससे पाणिग्रहण करने के लिए अपना संदेश उसके पिता के पास भेजते थे, किन्तु जुलेखा ने यूसुफ से मिलने का दृढ़ निश्चय कर लिया था। सुलतान ने भी उसका कहना मान लिया और एक दूत को मिश्र देश के वजीर के यहाँ जुलेखा के पाणिग्रहण का सन्देश लेकर भेजा। वजीर को कोई आपत्ति न थी, फलस्वरूप जुलेखा मिश्र देश को रवाना हुई। जुलेखा यूसुफ के सौन्दर्य-दर्शन को आतुर थी तभी उसने एक आकाशवाणी (गैबी आवाज) सुनी और तम्बू से छेद करके मिश्र के वजीर को देखा। उसका संदेह जाता रहा तथा उसे विश्वास हो गया कि मिश्र का वजीर और उसके द्वारा स्वप्न में देखा गया युवक दो व्यक्ति हैं। जुलेखा अत्यन्त दुखी होकर अपने महल में वापस आई।

इधर यूसुफ और उसके पिता याकूब में प्रेम उसी प्रकार वृद्धि पा रहा था जिस प्रकार उपासक और उपास्य में। यूसुफ ने स्वप्न में चन्द्रमा तथा ग्यारह तारे देखे जो उसके सम्मुख झुक रहे थे। याकूब ने यूसुफ के इस स्वप्न की प्रशंसा की तथा उसकी सुरक्षा के लिए प्रार्थना की। यूसुफ के प्रति अपने पिता के प्रेम को देखकर यूसुफ के अन्य भाई उससे द्वेष करते थे। एक दिन अवसर पाकर यूसुफ के भाई उसे भेड़ें चराने अपने साथ ले गये, वहां उसे एक अंधे कुंये में डालकर उसके वस्त्रों को भेड़ के रक्त में रंगकर याकूब को दिखाया कि यूसुफ को भेड़िया ने मार डाला है। याकूब पुत्र विरह में अत्यन्त दुखी होकर अपनी नेत्रदृष्टि खो बैठे।

इधर यूसुफ जिस कुयें में पड़े थे उसी कुयें में एक सौदागर का गुलाम पानी भरने आया, पानी के बर्तन को यूसुफ ने पकड़ लिया, जिससे घबड़ा कर गुलाम भागा और अपने स्वामी को साथ लाया जिसके सम्मुख यूसुफ कुंये से बाहर निकले। यूसुफ के भाइयों ने उसे सौदागर के हाथ बेंच दिया। सौदागर यूसुफ को लेकर मिश्र देश पहुँचा वहां जुलेखा ने उसे देखते ही पहचान लिया तथा खरीद भी लिया। इसी मध्य एक सौदागर की लड़की भी यूसुफ पर मोहित हुई। यहीं दोनों के वार्तालाप के मध्य कवि परम सुन्दर कर्ता की आराधना करने का संदेश देता है।

जुलेखा ने सब प्रकार से यूसुफ को वशीभूत करना चाहा किन्तु यूसुफ निर्लिप्त रहा तब जुलेखा ने यूसुफ को बन्दीगृह में डलवा दिया। यूसुफ की स्वप्नव्याख्या से प्रसन्न होकर मिश्र देश के सुल्तान ने उसे अपना वजीर बनाया तथा जुलेखा का अपराध सिद्ध हो जाने पर उसके पति ने उसका परित्याग कर दिया, कुछ दिन बाद वजीर भी मर गया। परित्यक्त जुलेखा का सारा सौन्दर्य एवं वैभव नष्ट हो गया। वह नेत्र दृष्टि भी खो बैठी और यूसुफ दर्शन को लालायित रहने लगी तभी यूसुफ ने उसका कष्ट पूर्ण आख्यान सुनकर उसे अपने पास बुलाया तथा सौन्दर्य प्रदान करके जिबरील की आज्ञा से उसके साथ विवाह कर लिया, किन्तु अब सांसारिक अनुभवों के द्वारा एकेश्वर में विश्वास करने वाली जुलेखा का मन उपासना की ओर उन्मुख हुआ और वह यूसुफ के द्वारा निर्मित इबादतखाने में पूजापाठ में लगी रहने लगीं।

इसके पूर्व ही यूसुफ की भविष्यवाणी के अनुसार अकाल पड़ने पर अन्न की खोज में आये हुये अपने भाइयों से यूसुफ का मिलन हो चुका था। यूसुफ ने याकूब को भी मिश्र बुलवा लिया और चिरकाल के पश्चात् पिता पुत्र मिलकर अत्यन्त आनन्द से काल-यापन करने लगे।

यूसुफ की पुकार परमात्मा के यहां हुई और उनका निधन हो गया। जुलेखा ने पति वियोग से पीड़ित हो समाधि पर प्राणत्याग कर दिया।

कथा-संगठन :

कथा का आधार 'कुरान' में वर्णित यूसुफ जुलेखा का प्रेमाख्यान है किन्तु कवि ने उसमें कुछ अन्तर किये हैं जिनका उल्लेख कवि निसार कृत 'यूसुफ जुलेखा' प्रेमाख्यान की व्यवस्था में हो चुका है। वास्तव में इन दोनों कवियों ने जामी की मसनवीं 'यूसुफ जुलेखा' का ही अनुकरण किया है, कवि नसीर ने इस सत्य को स्पष्ट स्वीकार किया है। निसार की यूसुफ जुलेखा में सौदागर की सुन्दरी कन्या का उल्लेख नहीं है। सम्भवत: कवि नसीर ने इस घटना का उल्लेख इसी उद्देश्य से किया कि यूसुफ के परम सौन्दर्य का स्पष्टीकरण हो जाय। मिश्र में सौदागर की कन्या के समान कोई सुन्दर नहीं था किन्तु वह भी यूसुफ को देखकर आश्चर्यचकित हो गई। यूसुफ ने उसे कृपा पूर्वक परमेश्वर के सौन्दर्य की ओर उन्मुख किया, इस घटना का समावेश कवि की अपनी

मौलिकता है। इसी प्रकार 'यूसुफ जुलेखा' ग्रन्थ में यूसुफ और जुलेखा का पाणिग्रहण नबी याकूब की दुआ से हुआ था जबकि प्रेम-दर्पण में यह संस्कार जिबरील की आज्ञा से सम्पन्न होता है।

प्रेम-पद्धति :

प्रेम-दर्पण में यूसुफ जुलेखा के मध्य प्रेम का आविर्भाव स्वप्नदर्शन से होता है। जुलेखा ने यूसुफ के सौन्दर्य को स्वप्न में ही देखा था। क्रमशः तीन स्वप्नों में उस सौन्दर्य का दर्शन करके उसकी प्रेम भावना पुष्ट हो गई थी। जुलेखा का प्रेम आदर्श प्रेम है वह लोकाचार की अवहेलना करके केवल प्रिय की प्राप्ति करना चाहती है। यूसुफ के लिए उसने पितृगृह एवं पतिगृह छोड़ा, दर दर की भिखारिन बनी, व्यंग और उपहास सहे फिर भी उसकी लगन कम न हुई किन्तु जीवन में इतने अधिक उतार चढ़ाव, आशा, निराशा, आनन्द एवं विषाद देख चुकने के पश्चात् उसकी भावनायें उस शाश्वत, एकरस की ओर उन्मुख हो गईं जो इन सब परिवर्तनों के ऊपर है। यूसुफ मिलन के पश्चात् वह परमेश्वर की आराधना में दत्तचित्त हो जाती है।

कवि यूसुफ एवं जुलेखा दोनों को ही परमज्योति का रूप मानता है। यूसुफ के सौन्दर्य की चर्चा करते हुये वह लिखता है:

जनों विधना निज जोत दिखावा, यूसुफ ओट में आप समावा।

इसी प्रकार जुलेखा का नखशिख वर्णन करते हुये वह कहता है:

अस समतोल रही वह गाता, जोत सांच जनों भरे विधाता।

रस :

रस की दृष्टि से केवल शृंगार एवं करुण की व्याप्ति ही प्रेमदर्पण ग्रन्थ में है। शृंगार के अन्तर्गत भी विप्रलम्भ की प्रधानता है।

यूसुफ के सौन्दर्य को स्वप्न में देखकर जुलेखा अत्यन्त प्रेमासक्त हो उठती है, यूसुफ के विरह में उसकी अवस्था उन्मादिनी की सी हो जाती है।

'कबौं हंसत वह कबौं रोवत, बक बक करत कबौं चुप होवत'।

दिन में तो किसी प्रकार जुलेखा की पीड़ा दबी रहती थी किन्तु रात्रि आते ही वह और अधिक बेचैन होजाती थी।

दिन बीता जो आई रैना, भई जुलेखा बहुत बेचैना।
यूसुफ प्रेम का पड़ औगाहे, जरत बिछोह अगिन के दाहे।

रक्त के आंसु नैन से ढारे, गगन नखत्तर रात भये सारे।

इसी प्रकार यूसुफ के प्रेम में जुलेखा के विरह का वर्णन है।

करुण :

यूसुफ की मृत्यु हो जाने पर जुलेखा के विरह क्रन्दन एवं मृत्यु के वर्णन में कवि ने बड़ा ही करुण दृश्य उपस्थित किया है।

चढ़के जुलेखा पुनि बेवाना, यूसुफ धाम चली वह धना।
जाय अक्ल एक माटी ढाहा, धाय गिरी बहती हाहा।
फूल गुलाब जो रहे कपोला, नोच किहिस जस कंसुक फोला।

आई चेत तो बोली रोके, यूसुफ अब कुछ बोल।
यही उचित कि छांड़ के मोहे, सोयो माटी कोल॥

नास अंगूरी नैन के अन्तर, चखौ किहिस निकास के बाहर।
आह किहिस पुनि अति बरियारी, ऐखी सरें परान के वारी।

इस प्रकार जुलेखा के शोक एवं क्रन्दन में वीभत्सता आ जाती है, गाल नोचना आंख निकाल कर फेंकना आदि क्रियायें जुगुप्सा उत्पन्न करती हैं।

भाषा :

'प्रेम-दर्पण' की भाषा भी अवधी है। कवि ने आरम्भ में ही सरल भाषा में काव्य रचना की ओर संकेत किया है और वास्तव में 'प्रेम दर्पण' की भाषा सरल एवं दैनिक जीवन में व्यवहृत होने वाली अवधी है। उसमें जानी, बीबी, नरगिस ऐसे नित्य प्रयोग में आनेवाले फारसी के शब्द भी हैं। साथ ही प्रान वारना, डूब मरना, हाथ आना, बिना दाम की दासी होना, ऐसे मुहाविरे भी हैं। कहीं कहीं पर कवि ने फारसी के शब्द का हिन्दी रूप देने का प्रयास भी किया है, जैसे दिलकुशा के लिये 'मनविकसा'।

छन्द :

प्रेम-दर्पण की रचना भी दोहे चौपाई के क्रम से हुई है, सात अर्धालियों के बाद एक दोहे का क्रम सर्वत्र निबाहा गया है।

अलंकार :

अलंकारों की विविधता एवं विचित्रता इस प्रेमाख्यान में उपलब्ध नहीं होती है। कवि ने साधारणत: अनुप्रास, उपमा एवं रूपक अलंकारों का ही प्रयोग किया है।

शैली :

कवि ने मसनवी पद्धति पर ग्रन्थ रचना की है, एवं घटनाओं के नाम-करण से खण्ड विभाजन किया है। शीर्षक खण्ड का पूर्ण विवरण देता है साथ ही कहीं कहीं आरम्भ की प्रथम पंक्ति आगामी घटना की सूचना भी देती है जो मसनवी रचना शैली की एक विशेषता है।

नखशिख वर्णन :

कवि नूर मुहम्मद की भांति नसीर ने भी आँखों की उपमा 'नरगिस' से दी है।

'अस दो नैन रहे रतनारे, नरगिस जेहि के हैं मतवारे।' अधरों के अमृत की चर्चा करते समय कवि नसीर के मुंह में जान कवि की भांति पानी नहीं भर आया प्रत्युत वे अनेक बचनों से तृप्ति के भाव की व्यञ्जना इस प्रकार करते हैं:----

उन्ह के बचन अस रहे मिठाई। भूखा सुन जनो जात अघाई॥

नेत्रों की मादकता पर वर्णन करते हुये कवि लिखता है कि जिस पर वह एक बार भी दृष्टि निक्षेप करती है वह उन्मत्त हो उठता है:----

खरग कटारी विष भरे, सेत श्याम रतनार।
वह व्यक्ती नहिं बचन, जेहि चितवत एक बार॥

सौन्दर्य के वर्णन में उपमानों की योजना कवि ने परम्परागत ही की है धनुष, चन्द्र, कटारी, नागिन, घन, गंगा, यमुना आदि की समता में रखकर विषय का स्पष्टीकरण किया गया है :---

केश रही अस नागिन कारी, तेहि कर डस नहीं जाये झारी।
दोइ लट मांझ जोत उजियारा, जमुना मांझ भई गंग धारा॥

ध्यान देने की बात है कि कवि ने अंग प्रत्यंगों के वर्णन के साथ उनके सौन्दर्योपकरणों की चर्चा भी की है, जैसे मिस्सी, बुलाक, हार, कुन्डल आदि।

जुलेखा के दिलकुशा उपवन का वर्णन :

कवि ने उपवन वर्णन में पक्षियों, पुष्पों एवं द्रुमावलियों के नाम गिनाने की चेष्टा ही अधिक की है :---

अचरज रूप की रही वह बारी, नंह की सकल सजी रही बारी।
बोलत बहुत रकम रहे पांखी, उन्ह तरवर पर साखीसाखी॥

कतौं गुलाब कतौं जूही वेला, अचरज रूप रहे वहां खेला।
चम्पा फूल कतौं पर बिकसे, बास सुवास केसर कतौं निकसे ॥
कतौं मन्हरी कतौं बिकसे लाला, कतौं सौधी दसनन मंह जाला ॥

कवि ने अवकाश होते हुये भी नगर, गढ़ अन्त:पुर आदि का वर्णन नहीं किया है। जुलेखा ने एक सात खण्ड का महल यूसुफ से मिलने के लिए बनवाया था, कवि ने उस महल का वर्णन भी उद्दीपन की दृष्टि से अधिक किया है। उसमें मानिक हीरा और कंचन की प्रधानता है, दीवालों पर चित्रित चित्र प्रकृति की उद्दीपन पृष्ठभूमि उपस्थित करते हैं:---

प्रथम खण्ड के का हो वर्णन, ताह मैं सबो पारस पाहन।
अधिकर का मैं गिन के बताऊँ, कंचन रूप धरों जिन्ह पाऊँ।
दूजे खण्ड का पन्ना पाथर, देख पड़त चहुँ ओरी हरियर ॥

तीसर खण्ड रजत का बनावा रूपरंग में सेत।
जो पूरनमा के लखत चन्द्रमा सच्चे परान की देत ॥

चौथा खण्ड सफल रहे कंचन।
पंचवा खण्ड सफल रहे हीरा।
छठवां खण्ड वोयर जो राता।
सतवां खण्ड औतन्त सोभावा।

इसके अतिरिक्त जुलेखा के विरह का वर्णन कवि ने किया है, जिसका निर्देश पीछे हो चुका है।

इस प्रेमाख्यान एवं यूसुफ जुलेखा की कथा की विशेषतायें वास्तव में एक ही हैं, दो कवियों के द्वारा लिखी होने के कारण भाषा में स्वाभाविक अन्तर है।

यह शुद्ध प्रेमाख्यान है जिसमें प्रेम की तीव्रता का स्वाभाविक विवरण है।

कामरूप की कथा

कवि अज्ञात

कवि परिचय :

इस ग्रन्थ के रचयिता एवं उसके जीवन-चरित्र के संबंध में कुछ ज्ञात नहीं है। ग्रन्थ की पाण्डुलिपि काशी नागिरी प्रचारिणी सभा के संग्रहालय में देखने को मिली है। ग्रन्थ का आरम्भ एवं अन्त निम्नांकित है:—

आरम्भ :

ओं श्री गणेशाय नमः। ओं पोथी कामरूप का किस लिष्या ॥
अलीहीबाद कार्त्रंकर है हु अलिम का पैदा करनहार है ॥
न कोई करै तेरी कुदरत बयां, नहीं इल्म तेरा किसी पर अयां ॥
चहूँ ठौर गाँव सौहिला पुकार, सभा में फिरे पातरे समकतार ॥

अन्त :

नइ इसक का है मुझे कछु खबर, न उनके मिलन का कहो कुछ खवर ॥
इति श्री पोथी कलाकाम का कुंअर काम का बिरहो की केसा समाप्त ॥

चौपाई :

काशी नागरी प्रचारिणी सभा की (सन् १९०६-७-८) की खोज रिपोर्टों में एक और कामरूप की कथा का उल्लेख मिलता है जिसके रचयिता हरिसेवक मिश्र हैं। इस कथा का आरम्भ इस प्रकार है:--

श्री गनेशाय नमः, श्री सरस्वती जू नमः। अथ कामरूप की कथा लिष्यते। छनेहरा। हरि चरिननि करिवन्दना, वंद-त चरन महेस। कंठ बसहु मम सारदा उर मंह बसहु गनेश ॥ सरसुति वदौं चरन तुव हूजै मोहि सहाई। कथाअपूरब बरनिहौं सौ सुनि जगत सिहाय ॥ छपया ॥ सुमिरत श्री गनेश ग्यान घर वेस होई उर। आनन्द मंगल रूप कहूयो वेद और सूर ॥

अन्त :

श्री नृप सिहउदोत के नन्दन तो दरसे सब दुष्ष नसाई।
कामरूप विवाह सुष आगमनो नाम अष्ट दसमौ स्वर्ग समाप्ता ॥

इन हरि सेवक मिश्र के संबंध में ज्ञात है कि ये सनाढय ब्राह्मण कल्याण दास के पोते एवं आचार्य केशव दास के भाई थे। यह ओरछा नरेश राजा पृथवीराज सिंह के दरबार में भी रहे थे। इनके दो ग्रन्थ (१) हनुमान जी की स्तुति तथा (२) कामरूप की कथा प्राप्त हुये हैं।

इन दोनों ग्रन्थों के आरम्भ को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों ग्रन्थ एक नहीं हैं। आलोच्य ग्रन्थ अवश्य किसी मुसलमान का लिखा हुआ है क्योंकि वह अपने ग्रन्थ के आरम्भ में अन्य सूफी कवियों की भांति परमेश्वर की कर्तत्व शक्ति की वन्दना करके, इश्क की व्याप्ति की चर्चा करता है। आरम्भ में श्री गणेशाय नमः देखकर कुछ शंका अवश्य होती है किन्तु बहुत संभव है कि प्रतिलिपिकार हिन्दू रहा हो या उदार वृत्ति वाले सूफी कवि के द्वारा एसा आरम्भ होना भी कोई असंभव बात नहीं है। एक ही कथा का दो कवियों के द्वारा लिखा जाना कुछ कठिन नहीं है।

आलोच्य ग्रन्थ 'कामरूप की कथा' में कहीं भी कवि के नाम का उल्लेख नहीं है अतः उसके नाम या जीवन के संबंध में कुछ भी ज्ञात नहीं है।

कथा-सारांश :

अवधपुर का राजा राजपनि एवं रानी सुन्दर सरूप थी। अवधपुर बहुत सम्पन्न एवं समृद्ध राज्य था किन्तु निःसंतान होने के कारण दम्पति चिन्ता निमग्न रहते थे। राजा के ६ मुसाहिब थे। एक दिन अत्यन्त विकल होकर राजा ने बैरागी होने की ठानी। करम चन्द मंत्री ने राजा को दान पुण्य करने का सत्यपरामर्श दिया, एक वर्ष तक राजा ने फकीरों का भंडारा किया तब एक दर्वेश ने प्रसन्न होकर राजा के मंत्री को एक श्री फल देकर उसके खाने से संतानोत्पत्ति का आशीर्वाद दिया। राजा ने वह फल रानी सुन्दर रूप को दिया। निश्चित समय पर राजपति को पुत्र-लाभ हुआ। इसी समय राजा के अन्य ६ मुसाहिबों के भी पुत्र उत्पन्न हुये। कुंवर का नाम कामरूप रक्खा गया, ज्योतिषियों ने बताया कि बारह वर्ष के बाद कुंवर वियोगी होकर गृहत्याग करेगा। भविष्यवाणी को सुनकर राजपति की चिन्ता बढ़ गई और उसने पुत्र को सब प्रकार की शिक्षा देकर उसके लिए एक विस्तृत बाग बनवाया जिसमें एक महल तथा आखेट का भी प्रबन्ध था। उसी बाग में एक दिन जब कुंवर कामरूप सो रहा था उसने सरनदीप के कामराज की पुत्री कामकला को स्वप्न में देखा। उधर कामकला ने भी कुंवर कामरूप को स्वप्न में देखा और दोनों ही एक दूसरे पर मोहित होकर वियोगी बन गये। कुंवर जब कामकला के विरह में बहुत अधिक व्यथित हुआ तो करम चन्द के पुत्र दीवान मितर चन्द ने कुंवर को भंडारा करने का परामर्श दिया। भंडारे सदाब्रत में आये हुये मुसाफिरों से कुंवर कामरूप नित्य नई कहानियाँ सुनकर व्यथा विगलित करने एवं स्वप्न सुन्दरी का पता लगाने का प्रयास किया करता था।

उधर कामकला विरह में अत्यन्त क्षीण होती जा रही थी। एक वर्ष इसी प्रकार

व्यतीत हो गया और कमाकला के विरह ज्वर के सारे उपचार वृथा सिद्ध हुये। एक दिन कलाकाम शिव मंदिर में पूजा के लिए गई और पुरोहित सुमति ब्रह्मण से अपनी सारी व्यथा कहकर सहायता करने को कहा। रानी का आदेश पाकर सुमति ब्रह्मण वहाँ से चल दिया और अवधपुर पुहुँचा, वहां पहुँच कर कुंवर के भंडारे में जाकर उसने सरनद्वीप की राजकुमारी कलाकाम का वृत्तान्त कहना आरम्भ कर दिया जिसे सुनकर कुंवर को विश्वास हो गया कि यह उसकी स्वप्न में देखी हुई सुन्दरी की ही कथा है। कुंवर ने सुमति के साथ प्रस्थान करने का दृढ़ निश्चय कर दिया और माता पिता से आज्ञा ले अपने ६ साथियों जो उसके पिता के मुसाहिब के पुत्र थे, के साथ सरनद्वीप चल दिया।

मार्ग में उसको राजा करन का राज्य मिला। राजा करन ने कुंवर को समझाया और मार्ग के अथाह समुद्र का स्मरण कराके आगे जाने से रोका। कुंवर ने मार्ग के विघ्न की कुछ भी परवाह न करके एक जहाज पर सातों साथियों के साथ प्रस्थान कर दिया। बहुत दिन की यात्रा के बाद कुंवर को सरन द्वीप दिखाई दिया सभी साथी जिसे देखकर हर्ष प्रकट करने लगे, किन्तु इस समय प्रतिकूल वायु चलने के कारण जहाज टूट गया और आठों साथी एक तख्ते पर बैठ कर समुद्र में बह चले वह तख्ता भी टूट गया। आठों साथी एक दूसरे से विछड़ गये। कुंअर का तख्ता एक निर्जन बन के किनारे जाकर लगा, कुछ देर बाद वहां कुछ स्त्रियां आई जिन्होंने बताया कि वह स्त्रीराज्य था जहां रावता राज्य करती थी। कुंवर को दण्ड मिलने वाला था कि रानी स्वयं उस पर मोहित हो गई और उसका प्राण बच गया। रात्रि में जब कुंवर सो रहा था, चन्द्रमुख परी उस पर मोहित हो गई खौर कामरूप को ले उड़ी। परी ने स्पष्ट कह दिया कि यदि कुंवर परी के पास रहने से इन्कार करेगा तो उसकी प्राण-रक्षा न हो सकेगी। कुंवर ने विवश होकर रहना स्वीकार किया।

कामरूप को वहां रहते हुये एक वर्ष व्यतीत हो गया कि इसी समय चन्द्रमुख परी के मगेतर को इसकी सूचना मिली उसने कुंवर को पकड़वा मंगाया तथा कोहकाफ की गुफा में एक राक्षस पास में कुंवर का आदेश दिया किन्तु परियों को दया आ गई और उन्होंने उसे समुद्र में फेंक दिया जहां से बहता हुआ वह फिर किनारे लगा।

समुद्र तट पर उसे 'तसमयैर' नामक कोई प्राणी मिला जो कुंवर के कन्धे पर चढ़ा हुआ घूमा करता था। एक दिन कुंवर नेबान में अंगूर की वेल लगी देखी तथा युक्ति पूर्वक उन अंगूरों की शराब बनाकर उस तसमयैर को पिलाई। जिसके स्वाद से वह बहुत हर्षित हुआ तथा अपने साथियों को भी पिलाने के लिए बुलाया, जब सभी पीकर मदोन्मत हो गये। जिन व्यक्तियों की पीठ पर वे आरूढ़ थे उन्होंने उन्हें गिराकर मुक्तिलाभ की। सब मनुष्य तो तसमयैर से छुटकारा पाकर चले गये किन्तु एक व्यक्ति निराश होकर कहने लगा कि वह अपने जीवन से निराश है अतः वह कहीं न जाकर यहीं रहेगा। जब उसने अपनी दुख कथा सुनाई तो ज्ञात हुआ कि वह कुंवर का मित्र मित्रचन्द था जो इतने दिनों तक कष्टों को झेलने के पश्चात् इस प्रकार कुंवर को मिला था। मित्रचन्द को एक

राक्षस मिला था जिसने उसे आवश्यकता पड़ने पर सहायता के हेतु अपना एक बाल दिया।

दोनों मित्र बैठे हुये वार्तालाप कर रहे थे कि एक तोता आकर वहां बैठा जिसके पैर में डोरा बंधा हुआ था, उसके पैर से डोरा खींचते ही वह आदमी बन गया। यह व्यक्ति अचारज पंडित था जिसने बताया कि उसे एक देवनी ने पकड़ लिया था जो इच्छानुसार उसे कभी पक्षी और कभी मनुष्य बनाती थी। एक दिन अवकाश पाकर वह उड़ चला और उसके पैर से जो अभी यह डोरा निकला है वास्तव में उसी देवनी के सिर का डोरा है।

तीनों मित्र इतने दिन के बाद मिलकर प्रसन्न होकर चल दिये, मार्ग में उन्हें वही दरवेश मिला जिसके आशीर्वाद से कुंवर का जन्म हुआ था। इस दरवेश ने कुंवर को पारस पत्थर दिया। आगे बढ़ने पर उन्हें चित्रमन चितेरा भी मिला। यह चित्रकार भी बहते हुये एक बाग के निकट पहुँचा था, बाग की दीवारों एवं मन्दिर में उसने चित्र बनाये। एक दिन गन्धर्वराज वहां घूमने आया और चित्रों को देखकर चित्रकार की प्रशंसा की तथा उसे सरनद्वीप के राजा के यहां भेज दिया, किन्तु वहां कुंवर को न पाकर वह बीमार पड़ गया। इसी समय सरनद्वीप में कंवलरूप मिसर भी आया जिसने अपनी दवा से जहाज के स्वामी के बेटे को स्वस्थ कर दिया था। जहाजी ने सरनद्वीप की राजकुमारी कामकला को स्वस्थ करने के लिए कंवलरूप को भेजा। राजा ने पहले उसे चित्रमन चितेरा को स्वस्थ करने का आदेश दिया। चित्रमन चितेरा अपने मित्र को पाकर स्वस्थ हो गया और फिर उसने क्रमशः कुंवर कामरूप के तीन चित्र (एक में वियोगी कुंवर और उसके छः साथी, दूसरे में सुमति ब्राह्मण का संदेश कहना, तीसरे में कुंवर की सरनद्वीप यात्रा) बनाकर कंवलरूप मिश्र के द्वारा कामकला के पास भेजे जिन्हें देखकर वह स्वस्थ हो गई।

इसी समय सुमति ब्राह्मण भी बहता हुआ सरनद्वीप पहुँचा और उसने कामकला को सारा वृत्तान्त सुनाया। कुंवर का अपने साथियों के साथ बहने का समाचार पाकर कामकला बेचैन होकर फिर अस्वस्थ हो गई।

कामकला की अस्वस्थता को देखकर उसके पिता ने कुमारी के स्वयंवर की घोषणा कर दी।

इधर कुंवर अपने दो साथियों के साथ सरनद्वीप की ओर बढ़ा जा रहा था कि मार्ग में नदी के किनारे उसे जौहरी और फिर रसरंग साथी भी मिल गये, इन दोनों ने भी अपनी विपद कथा कुंवर को सुनाई।

कुंवर अपने सभी साथियों के साथ सरनद्वीप की ओर चला, आठ दिन बाद कुंवर सरनद्वीप पहुँचकर एक मठ में विश्राम कर रहा था कि उसे कामकला के स्वयम्बर की सूचना मिली। अचारज पंडित देवनी के डोरे के सहारे तोता बनकर उड़ा और कामकला को कुंवर का संदेश सुनाया, कामकला ने दूसरे दिन स्वयंवर में कुंवर को पहचानने के लिए अपना दुपट्टा दिया।

दूसरे दिन सिरपर डुपट्टा बांधकर कुंवर स्वयंबर में पहुँचा और कामकला ने उसे वर माला पहना दी किन्तु राजाओं के विरोध करने पर कामराज ने कुंवर और उसके साथियों को एक अंधेरे कुयें में डाल दिया।

मितरचन्द को राक्षस के दिये हुये बाल का स्मरण हुआ और उसने बाल को आग पर रक्खा कि राक्षस ने प्रकट होकर उन सबों को कुयें से मुक्त कर दिया। नगर से दूर जाकर दरवेश के दिये हुये पारस पत्थर की सहायता से कुंवर ने राजाओं के समान ही शृंगार सज्जा बनाकर सेना सहित नगर में प्रवेश किया, अब किसी को उसके राजा होने में शंका न थी और सहर्ष कामकला का पाणिग्रहण कुंवर कामरूप के साथ सम्पन्न हुआ।

कुंवर कामरूप अपने मित्रों एवं पत्नी कामकला के साथ स्वदेश को लौटा। सर्वत्र उसके आगमन से आनन्द व्याप्त हो गया। यहीं कवि कथा का अन्त कर देता है।

कथा-संगठन :

कथानक पूर्णतः काल्पनिक ज्ञात होता है। कथा की गति में आश्चर्यतत्वों, परी, राक्षस, देवनी, तसमैयर का विशेष हाथ है। दरवेश की कृपा का भी अत्यधिक प्रभाव कथा की सुचारु गति पर पड़ता है। कुंवर के सभी साथी किसी न किसी रूप में सहायक सिद्ध होते हैं, वैसे पंडित, जौहरी, रसज्ञ, कलाकार एवं चित्रकारों का राजकुमारों का सहायक होना स्वाभाविक ही है। कथा को सुखान्त करके कवि ने अपनी सहृदयता का परिचय दिया है। कुंवर के साथियों के कष्ट विवरण के द्वारा प्रमुख कथा में कई कथाओं का मिश्रण हो गया है। घटनाबाहुल्य एवं चमत्कारपूर्ण विवरणों के कारण ही कथा का आकर्षण है।

प्रेम-पद्धति :

कुंवर एवं कामकला दोनों में ही प्रेम का आविर्भाव स्वप्न-दर्शन के द्वारा होता है जिसकी क्रमशः पुष्टि सुमति ब्राह्मण के विवरण एवं चित्रमन चितेरे के चित्रों के द्वारा होती है।

रस :

रस की दृष्टि से ग्रन्थ महत्वपूर्ण नहीं है। कवि की शैली वर्णनात्मक अधिक है, उसने रस-चर्चा की ओर ध्यान नहीं दिया है। शृंगार रस के अतिरिक्त कोई अन्य रस ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होता। संयोग शृंगार की चर्चा कवि ने जानबूझ कर नहीं की है। उसने स्वीकार किया है कि यह प्रसंग इतना गुप्त है कि इसकी कोई खबर उसे नहीं है।

'न इसक का है मुझे कुछ खबर, न उसके मिलन का कहो कुछ खबर।'

विरह के वर्णनों में भी कवि की वर्णनात्मकता अधिक है, जैसे कामकला के विरह का वर्णन करते हुये कवि लिखता है :

कुंवर के बिरह से हुई छीन तन ।
हुनैनों से आंसू उबलने लगा ॥
सगल हाड़ से मांस गलने लगा ॥
हुनैनों से आंसू चले जार जार ॥
गुसइआं मिलावे कहे बार बार ॥

ऐसे स्थलों के मध्य कहीं कहीं रहस्य भावना से पूर्ण भावात्मक वर्णन भी मिल जाते हैं। विरह की व्याप्ति का वर्णन कवि इस प्रकार करता है :

पपीहा बियावान जंगल भने, कुंवर बिन कलारानी कैसे गने।
बिहंगम फिरे बन में बोले सदा, कलाकाम रानी कुंवर से जुदा।
जंगल में सुने जब कुइल की कुहुक, कै विरह की उठी तन में लुक।

कुछ स्थलों में वात्सल्य भावना का भी परिचय मिल जाता है, स्वप्न में कलाकाम को देखकर जब कुंवर मूर्च्छित हो गया, तथा जब स्वदेश छोड़कर सरनदीप की ओर प्रस्थान करने लगा उस समय उसकी माता-पिता की चिन्ता वात्सल्य भावना की ही परिचायक है :

जु देखत कुंवर है बेहोश सा, गिरा अक्लसम घोके सेनीससा।
पिता हाथ से हाथ मारूँ परा, कुंवर कामरूप कर पुकारे परा।
पुकारे कहे इह परा है पिता, कुंवर अपने मन का मरम कुछ बता।

चलते समय उसकी माता का सगुन का टीका लगाना एवं स्मरण रखने का आग्रह बड़ा स्वाभाविक है :

सगुन से चला हुआ मुझे दे विदा, कुंवर हमको याद रखना सदा।
कुंवर फिर के माता से बोला बचन, मुझे नित रहे इस तुम्हारी सगन।
परा भुइ पर जब तक आकास है, तुम्हारे चरन का मुझे आस है।
तू माता विदा दे मुझे अब चलौं, सरनद्वीप में जा कला से मिलौं।
बिलक के सुन्दर ने तब कही, लिआवो कुंवर के सगुन का दही।
दही लेके माता ने टेकी दिया, सगुन से कुंवर को बिदा तब किया।

अलंकार :

कामरूप की कथा वर्णनात्मक अधिक है, कवि ने साधारण बोलचाल में इश्क की

कहानी कही है। उपमा, अनुप्रास ऐसे अलंकार भी यत्र तत्र मिलते हैं। उपमा उत्प्रेक्षा दोनों का प्रयोग एक ही पंक्ति में मिलता है।

उपमा :

सुआ नासिका कंठ जिन कोकला, पंजन की सी नैन हंस का गला।
कमर सिंघ की सी चलै गति गयंद, न जाने कपट भेद दूनीआ का छन्द ॥

अनुप्रास :

मुलक माल आंमाल था वेसुमार, महलों में वरगी बजेगी नार।

भाषा :

कथा कामरूप की भाषा खड़ी बोली का आरम्भिक स्वरूप है, जिसमें फारसी शब्दों का प्रयोग अधिक है। कथा के आरम्भ में कवि जहां अल्लाह मुहम्मद एवं इश्क के महत्व का प्रतिपादन करता है फारसी शब्दों का प्रयोग अधिक है, किन्तु कथा के वर्णन सहज एवं बोधगम्य हैं, जिन फारसी शब्दों का प्रयोग हुआ है वे क्लिष्ट नहीं हैं।

कुछ उदाहरणों से स्पष्ट हो जायेगा :

रषा उसके दर पर बड़ा एक संग।
हुनैनों से आंसू चले जार जार।
गिरा भुइ में अफसोस करने लगा।
चितरमन फरद एक कागज लीआ।
मगर एक फरजन्द उसके न था।

न कोई करे तेरी कुदरत बयां, नहीं इलम तेरा किसी पर अयां।

अन्य प्रसंग :

सूफ़ी प्रेमाख्यानों में कुछ ऐसे वर्णन प्रसंग हैं जो लगभग सभी ग्रन्थों में मिल जाते हैं। जैसे महल की सजावट, कोट वर्णन, हाट वर्णन, जलक्रीड़ा वर्णन, नख-सिख वर्णन, व्याह-वर्णन, विदा वर्णन आदि, किन्तु इन प्रसंगो में से किसी का भी विस्तृत वर्णन कामरूप कथा में नहीं मिलता है केवल कुंवर जन्म एवं कामकला के सौन्दर्य का कुछ अधिक वर्णन मिलता है जिसमें भावात्मकता या काव्यात्मकता नहीं के बराबर है।

कुंवर-जन्म :

मदीला लगा हर तरफ बाजने, कुंवर पातरें सभी लगी नाचने।

भगती आ तवाइफ फिरे हर तरफ, बजे सब तरफ ताल मिरदंग अजब।
जनेऊ तिलक देके बैठे महंत, बहुत पण्डित आये सभी ग्यानवन्त ॥

कलाकाम का सौंदर्य :

सुलछनी थी पद्मिनी थी ऐक अंग, चित्रनी सी चैरी रहै एक संग।
सुकचिनी चलै चाल जब पग उठा, बजे पग में घूंघरू महल झनझना।
भरे हाथ मेंहदी लगा लाल लाल, भरे केस मोती लगा बाल बाल।
हुनैनों में काजल दिआ मनहरन, कहा न आवै उसके मुष बरन।
सूआ नासका कंठ जिनु कोकला, पंजन की सी नैन हंस का गला।
कमर सिंघ की सी चले गति गयंद, न जाने कपट भेद दुनीआ का छंद ॥

इसके अतिरिक्त कथा के आरम्भ में इश्क की व्याप्ति एवं महत्व का वर्णन भी कवि ने कुछ विस्तार से किया है। यह संसार उस परमेश्वर की कर्तृत्व शक्ति का परिचायक है। वह परमेश्वर अगम्य एवं परम शक्तिशाली है, प्रत्येक व्यक्ति परमात्मा से आतंकित होकर उसे स्नेह करता है और यही इश्क जगत में विभिन्न रूपों में व्याप्त है।

सकल जीव डर से तेरे कंपै, तेरे इसक सों नाम तेरा जपै।
तुही इसक सो सम को पैदा, तेरी इसक ने सब को पैदा किया।
किआ इसक से राम सीता की चाह, धनुष तोर सीता लिआये बियाह।
एही इसक से राधेकृसन सुदामा, करै दीपन चट मेहरम के बामा।
इही इसक से महा बेचैन है, मिहर का षिआल उसको दिन रैन है।
येही इसक से बादसाह अउघमुलक, कीआ जा अरज में परी से सकल।
अबा साह महिमूद वाइजुनाज, हुआ इसको जो गुलामे अजाब।
येही इसक मजनू में हैवो असल, बहाने से लैली देवा जल।
इही इसक ने नल को जोगी किया, दमन्ती के दरस का वियोगी किया।
इही इसक जिस घट में आके बसे, उस देखकर जग में सबको हैसे।
हरफ तीन है इसक का सुन बिआ, हुआ इसक ऊपर हुआ अइआ।
सीम काफ है गा न देवै करार, नदी इसक की नित उबलती रहे।
अम इसक का तन में जलता रहै, व जलती अगन इसक मेहर कदाम ॥

इस प्रकार 'इश्क' के गुणगान से आरम्भ करके कवि ने इश्क की सफलता पर ही कथा का अन्त कर दिया है। कथा कामरूप सुखान्त कथा है।

—:(❀):—

कथा कुँवरावत

(अली मुराद कृत)

कुंवरावत नामक ग्रन्थ का उल्लेख कहीं किसी ग्रन्थ में अभी तक नहीं हुआ है। कवि ने ग्रन्थ के मध्य में अपना नाम अली मुराद दिया है [1]। कवि के संबंध में केवल इतना ही विदित होता है।

कवि ने अपने गुरू का नाम 'फखरूद्दीन' दिया है, जो हजरत निजामुद्दीन औलिया के पुत्र थे तथा उनकी शिष्य परम्परा में आते हैं। अपने गुरू की चर्चा कवि ने स्फुट पदों में अधिक की है।[2]

कथा–सारांश :

कवि ने कथा का आरम्भ बनारस नगर के वर्णन से किया है। बनारस नगर अत्यन्त समृद्ध है तथा वहां की स्त्रियां सुन्दरी हैं। एक बार वहां अमरनगर का राजा इन्द्र अपनी पुत्री के साथ गंगास्नान को आया। वह कन्या अत्यन्त रूपवती थी, उसके दर्शन करके लोगों को अत्यन्त संतोष होता था। कन्या का नाम फूलमती था। इसके बाद एक पृष्ठ या २४ दोहे नहीं है। फिर कथा जहां से आरम्भ होती है वहां एक कुंवर चार अन्य साथियों के साथ एक फुलवारी में है कुंवर दिन भर अत्यन्त व्यथित होने के बाद रात्रि में भी चैन न पा सका, तभी वहां कुछ अप्सराओं का आगमन हुआ। उनके आने से सारा उपवन सुवासित हो उठा। रात भर उनकी क्रीड़ायें कुंवर तथा उसके साथ के जोगी देखते रहे। प्रातः काल जब होने को हुआ तब उन परियों ने कुंवर तथा उन जोगियों को एक-एक प्याले में कुछ पीने को दिया। कुंवर ने उसका पान नहीं किया, अन्य चार जोगियों ने उसे पी लिया। फलस्वरूप सवेरा होने पर केवल कुंवर ही बन में रह गया वे चारो जोगी परियों के साथ अर्न्तध्यान हो गये।

---

१. अली मुराद सब छांड़ दे, एक गुरू चित लाव।
भरम गये भरम भये, गुर को हर धुराव॥

२. निजामुद्दीन के लाल फखरुद्दीन विनती सुनो हमारी।
भव सागर से पार उतारो बेगिहि लियो उबारी।
बोहित बूड़ी मंझधारी

तथा

निजामुद्दीन का सुन्दर संवरिया, उन मेरो बांह धरोरी॥

अकेला कुंवर इन्द्र की पुत्री फूलमती का नामस्मरण करता हुआ आगे बढ़ा। कुछ दूर पहुँच कर वह ऐसे स्थान पर पहुँचा जहाँ की भूमि तपती थी। उसके आगे अथाह खारे पानी की नदियाँ बहती थीं। कुंवर अत्यन्त चिन्तित था तभी उसे एक तपस्वी दिखाई दिया, कुंवर ने उससे अपनी व्यथा कही, तपस्वी ने उसके कथन में सत्यता जानकर अनुग्रह पूर्वक उसे दो वस्तुयें दीं, एक जन्त्र जिसके भीतर कोई मन्त्र लिखा हुआ था तथा एक लकुटिया जो आश्चर्यमयी थी। जल में डाल देने से वह बोहित बनकर अपने स्वामी को पार उतार सकती थी। ये दोनों वस्तुयें देकर वह तपस्वी वहीं अर्न्तध्यान हो गया।

कुंवर ने लकुटिया की सहायता से समुद्र पार किया और आगे अग्रसर हुआ। एक महीना चलने के पश्चात् वह एक नगर के पास पहुँचा वहाँ जाकर ज्ञात् हुआ कि फूलमती को देखकर लोगों की सुधबुध भूल जाती है और व्यक्ति पाहन बनकर निश्चल हो जाता है। कुंवर ने मन्दिर में मूर्तियों को भी निश्चल देखा, अपने मन्त्रबल से उनमें से एक को चेतन करके कुंवर ने पूंछा तो उसने उत्तर दिया कि एक बार फूलमती मन्दिर में पूजा करने आई थी जिसे देखकर मूर्तियां पाषाण बन गईं। मूर्ति ने कुंवर का परिचय पूंछा तो उसने बताया कि राय पिथौरा उसका आजा तथा कंवलावती उसकी आजी हैं। देवताओं को कुंवर का परिचय जानकर हर्ष एवं विषाद दोनों ही हुआ और उन्होंने बताया कि फूलमती की प्राप्ति अत्यन्त कठिन है। कुंवर निर्भीक होकर आगे बढ़ा। उसके साथ चार सौ देवता भी जोगी का वेष धारण करके चले। नगर के समीप पहुँच कर कुंवर को नगर रक्षक देव मिले। जो अत्यन्त हर्षित होकर मनुष्यों को खाने को उद्यत हुये कि कुंवर ने आगे बढ़कर मन्त्र तथा लकुटिया के प्रभाव से उन सबको मार डाला उनमें से केवल एक देव किसी तरह भाग निकला और उसने राजा इन्द्र से जोगियों की शक्ति का वर्णन किया जिसे सुनकर इन्द्र को विश्वास हो गया कि यह जोगी दल अवश्य अपूर्व शक्तिशाली है। उसने एक मन्त्री को कुंवर का मर्म जानने के लिए भेजा। कुंवर को फूलमती का प्रेमी जानकर मन्त्री ने समाचार राजा इन्द्र से कहा। इन्द्र ने कुंवर से कहला भेजा कि एक जादू के पिंजड़े में जादू का ही तोता निवास करता है यदि कुंवर उसे बेध देगा तो उसका विवाह फूलमती के साथ हो सकता है। कुंवर ने मन्त्रबल से तोते को बेध दिया, प्रण पूरा हो चुकने पर शुभ लग्न में कुंवर एवं फूलमती का पाणिग्रहण हो गया।

फूलमती एवं कुंवर आनन्द से रहने लगे तभी एक दिन स्वप्न में अपने देश एवं परिवार को देखकर कुंवर की इच्छा स्वदेश लौटने की हुई। विदा कराके दहेज की धन संपत्ति लेकर कुंवर नाव पर चढ़कर स्वदेश चला। समुद्र कुंवर की दानशीलता की परीक्षा लेने के लिए ब्राह्मण का रूप धर के आया। कुंवर को दान करने से विमुख देख कर वह कुपित हो गया और आंधी तूफान आने से उसकी नाव समुद्र में पड़ कर बह गई। फूलमती एक तख्ते के सहारे चार दिन के बाद एक किनारे से जा लगी, वह देश विभीषण का था, चेरियों के द्वारा जब उसे समाचार मिला तो उसने हर उपाय से फूलमती को चेत में लाने का प्रयास किया। फूलमती का परिचय पाकर विभीषण ने कुंवर की खोज का प्रयास किया क्योंकि इन्द्र विभीषण का गुरु था, समुद्र मन्थन एवं दान पुण्य कराके

विभीषण ने कुंवर को प्राप्त कर लिया, इस प्रकार पुनः फूलमती और कुंवर आनन्द से कालयापन करने लगे.

इसी समय विरहिणी की अवस्था में वासुमती का परिचय कवि देता है। वासुमती वासुदेव की पुत्री एवं कुंवर की पूर्व पत्नी थी, कुंवर के बिछोह में वह बन बन रोती घूमती थी। एक हुदहुद ने उसकी कथा सुनकर कुंवर तक उसका सन्देश पहुँचाने का उत्तरदायित्व लिया। हुदहुद के द्वारा वासुमती का करुण क्रन्दन सुनकर कुंवर फूलमती के साथ स्वदेश की ओर चल दिया, वहाँ पहुँच कर कुंवर आनन्द से रहा, पिता की मृत्यु के पश्चात् उसने बारह वर्ष तक राज्य किया।

नगर गौर के सुल्तान ने दिल्ली की ओर प्रस्थान किया। नगर के समीप पहुँच कर कुंवर से कर देने के लिए कहला भेजा। कुंवर ने मानहानि जानकर सुलतान को युद्ध के लिए ललकारा। कुंवर की युद्ध निपुणता से सुलतान घबरा गया, किन्तु एक गुलाम ने छल पूवक कुंवर को भाले से मार डाला। सुलतान गद्दी पर बैठा और उसने लालकुंवर को कन्नौज का राजा बनाया। जब महमूद गजनवी भारत आया तो कन्नौजाधिपति ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। महमूद गजनवी के भारत से लौट जाने पर सारा कालिञ्जर देश उसका बैरी हो गया। कालिन्जर के राजा ने छलपूर्वक एक रात्रि में उसे मार डाला। क्रोधित होकर महमूद गजनवी ने फिर आक्रमण किया और बहुत से आदमियों को मुसलमान बनाया तथा अपना सिक्का चलाया।

फूलमती को कुंवर के निधन का समाचार मिला तो वह अत्यन्त दुखी होकर कुंवर के साथ सती हो गई। इसके बाद कवि कथा की समासोक्ति को पूर्ण कर के कथा समाप्त कर देता है।

कथा संगठन :

अन्य प्रेमाख्यानों की अपेक्षा इसके रचयिता कवि अलीमुराद का ध्यान सूफ़ी सिद्धान्तों एवं प्रेम पन्थ के निरूपण की ओर अधिक है। उसने अपनी प्रेम कथा आरम्भ करने के पूर्व, निर्गुण महिमा, गुरु महत्व एवं शरीयत के नियमों की विस्तृत विवेचना की है।

कवि ने प्रेम आविर्भाव के हेतु बड़ी स्वाभाविक घटना की योजना की है यद्यपि पृष्ठ अनुपलब्ध होने के कारण निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है किन्तु कथा की गति देखकर निश्चित होता है कि राजकुंवर और फूलमती का मिलन उसी मेले में हुआ होगा।

कथा में मन्त्र जन्त्र का वर्णन यथेष्ट है। राजकुंवर की सिद्धि में सहायक एक

जन्तर तथा लकुटिया है। इन्हीं की सहायता से वह गहन समुद्र, तप्त भूमि आदि को पारकर फूलमती के नगर रक्षकों को परास्त करता है।

अन्य कथाओं की भाति कवि ने समुद्र यात्रा को योजना की है। एक बार वह साधना के प्रभाव से उसे पार कर लेता है दूसरी बार लोभ के कारण अपनी सिद्धि से विमुख हो जाता है।

फूलमती की प्राप्ति के लिए अर्जुन की भांति राजकुंवर को भी एक पिंजड़े में स्थित तोते को बेधना पड़ा है।

कथा की एक और विशेषता है कि उसने अन्य कलाकारों की भांति पात्रों का परिचय पृथक से नहीं दिया है प्रत्युत कथा के मध्य ही उनका पूर्व परिचय ज्ञात होता चलता है जैसे राजकुंवर एवं वासुमती का परिचय।

कथा दुखान्त है। राजकुंवर की मृत्यु हो जाने पर फूलमती तथा वसुमती उसके साथ सती हो जाती है। इस स्थल पर कवि का 'वासुमती' का पृथक उल्लेख न करना कुछ आश्चर्य-जनक ज्ञात होता है।

कथा के अन्त में वह अन्योक्ति को स्पष्ट करने का प्रयास भी करता है। कवि ने कई पौराणिक एवं ऐतिहासिक नामों को कथा में रखकर उसे अनोखा स्वरूप दिया है। फूलमती बहकर 'विभीषण' के राज्य में पहुँची थी। जिसका गुरू 'इन्द्र' था तथा कुंवर का बाबा राय पिथौरा दिल्लीश्वर था। दिल्ली के अधिपति पृथ्वीराज के लिए भी राय पिथौरा शब्द रासौ में प्रयुक्त हुआ है, किन्तु इन नामकरणों के कारण हम कथा को ऐतिहासिक नहीं कह सकते हैं। कल्पना का उसमें प्रचुर योग है।

वस्तु-वर्णन :

कवि का ध्यान वस्तु वर्णन की ओर अधिक नहीं है। अवसर होते हुये भी उसने नगर, कोट, उपवन, जलक्रीड़ा आदि का वर्णन नहीं किया है, केवल दो ही स्थलों पर कवि की लेखनी विस्तारप्रिय हुई है। फूलमती का बारहमासा, एवं बसुमती का विरह वर्णन, दोनों ही स्थल अत्यन्त मार्मिक एवं संवेदनापूर्ण हैं।

मास कुंवार बरखल का निचोड़ा, बूंद बरसे जल थोड़ा।
बैरी भवन दादर अस रूपा, सहा न जाय बरखा की धूपा।
तरुवर की पूजी गई आसा, हरियारी भई फूली कपासा।
मेरो जनम अकारथ जाई, परदेसी घरहूँ × × × ॥

उसकी कृशता की ओर भी कवि संकेत करता है :—

ेम की आग धाय के आये, चाम हाड़ सब छन मां जराये।
उठी लूक हिया सो मोरे, अस मैं जरौं कन्त दुख तोरे॥

बारहमासे के अन्तर्गत कवि ने केवल चार मास, असाढ़, सावन, भादों, क्वार का ही वर्णन किया है, उसमें भी कवि का ध्यान प्रकृति के उपकरणों की ओर अधिक न होकर फूलमती के विरह वर्णन की ओर अधिक है। सावन मास में प्रिय का वियोग उसे दुखी करता है।

सावन मास झरी अस लावे, तरस तरस बिन पिउ जिउ जावे॥

किन्तु सबसे बड़ी कठिनाई तो यह है कि उसका विरहदुख सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त है। सूर्य में ताप उसके विरह का है। तारे उसके विरह में दुखी होकर टूटते हैं, पपीहा और कोयल उसके ही विरह से प्रभाविन हो वेदनापूर्ण गीत गाया करते हैं। इतना सब होते हुये भी वह आह भी नहीं भरती, क्योंकि उसे भय है कि कहीं सम्पूर्ण सृष्टि जल न जाय।

आह करौं तो जग जल जाय, प्रेम की आग सरग का जाय।
सूरज जरतत हई मोरे सोगा, चन्दर जरा वही गहन हुइ लागा।
सूरज जरा मुख जारी छाई, चन्दर जरा मुखा झवा बनाई।
तारा जरइ टूट भुई आये, जरइ कोयल और पपीहा जराये।
कोयल जर के भइ है कारी, पपीहा जरा पिउ पिउ रट मारी॥

वसुमती का विरह :

वसुमती अपने विरह वर्णन के साथ ही अपना परिचय भी देती है :—

बासुदेव राज की मैं बारी, सब राजन मां जो पल भारी।
फूलमनी के देश सिधार्यो, मोरे तन प्रेम कटारी मार्यो॥

तुम तो मनी के नेह में, गयो अछरन के देश।
हम निस दिन जरजर मरे, पठ्यो ने एक संदेश॥

बसुमनी जब अपनी बगिया में इसी प्रकार विरह पीड़िन थी नभी एक हुदहुद ने उससे दुखी होकर पूंछा।

केहि कारण बगिया में आये, पंख पखेरू काहे जराये।

कवि मुराद ने पशु पक्षियों में केवल संवेदना ही प्रदर्शित नहीं की प्रत्युत उन्हें सहायक भी सिद्ध किया है।

हुदहुद कहा निहची रहो रानी, राखो धीर न खोवो ज्ञानी।
जहां तोर कुंवर × × × , बिथा तोर सब जाय सुनैहों।
राखो धीर मन मां तुम प्यारी, पहुँचो ध्यान पलक एक मारी॥

हुदहुद कहके उड़ गया, गयो समुन्दर पार।
खोजन कुंवर को लगा, बन्यो सिरजन हार॥

सती होने के समय कवि वसुमति को विस्मृत सा कर देता है और फूलमती को ही सती सज्जा धारण करके संसार त्याग करते हुये दिखाया है।

रस :

ग्रन्थ वर्णनात्मक अधिक है, अतः रस की दृष्टि से इसे बहुत सफल नहीं कहा जा सकता। मनोभावों एवं अन्तर्दशाओं का वर्णन इसमें नहीं है, केवल प्रेम और प्रिय प्राप्ति की कष्ट साध्य साधना का विस्तृत वर्णन है। यथास्थान कवि अपने सूफ़ी सिद्धान्तों की विवेचना में प्रयत्नशील है, फिर भी प्रधानता इसमें शृंगार रस की ही है। विप्रलम्भ शृंगार के अन्तर्गत बारहमासे आदि की चर्चा हम पीछे कर चुके हैं। लालकुंवर के विरह में भी कवि की सिद्धान्तवादिनी दृष्टि प्रमुख है :-

एक ही एक नहीं कोउ दूजा, बहु लिए दूजा करे पूजा।

पपीहा हो पी पी रटूं, खोजूं इन्दर कैलास।
हिरदे से सुमिरन करू, तब जाऊँ वह पास॥

तथा

चला इन्दर कैलास को, ध्यान गुरु चित लाय।
भारे भये हर सुमिरन लागे, भोजन भाव सभी वह त्यागे।
फूलमती का लैके नाऊँ, छोड़ चले देवतन का गाऊँ॥

कहीं भी विरह की मर्मान्तक पीड़ा, दर्शन की उत्कट लालसा या त्याग का चरम विकास दृष्टिगोचर नहीं होता। कवि की उपदेशात्मक दृष्टि ही प्रधान है।

संयोग वर्णन में भी यही प्रधानता है। अश्लीलता का पूर्ण अभाव है, मिलन का उपदेशात्मक अथवा भावात्मक वर्णन है।

फूलमती से कुंवर ऐसे मिले कर जोग।
चिन्ता दुख सब हर गयो, अब खायो रस भोग॥

× × ×

काया तोर मोर गई काया, लखौं आप मां आपही पाया।
कर का पकर छाती से लगाई, मती की सब भूली चतुराई।

एक पियालह पी बौरायों, निरगुन छांड़ उन कहनी आयो।
छोड़ा पीना रंग दिखायो, बीर बहूटी जम उपरायो॥

अन्य रस के अन्तर्गत हम युद्ध वर्णन में वीर एवं कुंवर के निधन पर करुण की छाया देख सकते हैं। युद्ध के हेतु कवि ने भारथखण्ड की पृथक रचना की है, फिर भी उसमें युद्ध की सज्जा एवं वीभत्सता का वर्णन अधिक न होकर ऐतिहासिक एवं काल्पनिक तत्वों का समन्वय अधिक है।

युद्ध-वर्णन :

घेर लियों वह कटक को सारे, बिगड़ी कुंवर की सारी लड़ाई
कुंवर की कटक साथ सब छोड़ा, नमक हरामी सब मुंह मोड़ा।
कटक गयी सब कुंवर की साथी, एक रहै आप दूसर हाथी।
जैसे साह के आये बीरा, कुंवर भई पहुँचा उन तीरा।
एक पै सौ सौ खरग चलावैं, कुंवर कहाँ लै देह बचावैं।
लोथ पर लोथ जब कुंवर गिरायो, तब सुलतान देखि घबरायो।
एक गुलाम रहा सुलताना, कुंवर को पाछे से मार हो जाना।
गिरते गिरते कुंवर मरदाना, उह को मार गिरायो स्थाना।
एक ने कुंवर पै तीर चलाई, लगी कुंवर की गिरी मरजाई॥

शोक-प्रसंग :

तब ले रानी शीश उभारा, कहा मोह अब भयो जग अंधियारा।
कहो सब सत्त राम नहिं दूजा, सत में रहे राज सत पूजा।
कहा कि सब से करो तैयारी, मोह एक ब्याहू पहिरायो सारी।
हम दो आप सती होवे, सोरहो सिंगार जराहु कै खोवे।
कहा बिन पान भई मुख राता, फूल झड़े बोले अस बाता।
ब्याहू जोड़ा दोउ ने पहिना, तन मां सजे दोउ गहना।
कहिन की प्रेम की आग हम जरिबे, काया जराय अब कन्त पर मरिबे॥

चलना चलना हो रहा, चलना बिस्वा बीस।
सभी सभी सोहाग पर कौन गवावे सीस॥

वसुमती का आशय इन्हीं 'दोऊ' या सब नारी के रूप में हो सकता है, अन्यथा पृथक से उसका कोई उल्लेख नहीं है। इस करुण प्रसंग में शोक की छाया विशेष नहीं है प्रत्युत उसमें शोक की गम्भीरता एवं पूर्ण शान्ति है।

छन्द :

कवि ने अपने ग्रन्थ कुंवरावत की रचना दोहे चौपाई के क्रम में की है। ज्ञात होता है कि सम्भवत: कवि चौपाई एवं अर्द्धाली में अन्तर नहीं मानता तभी उसके ग्रन्थ में छ: से लेकर नौ अर्द्धालियों के बाद दोहे का क्रम पाया जाता है। कहीं छः, कहीं सात, आठ एवं नौ अर्द्धालियों के बाद एक दोहे का क्रम है।

अलंकार :

कवि ने साधारण उपमा, अनुप्रास आदि अलंकारों का प्रयोग किया है।

भाषा :

इस ग्रन्थ की भाषा भी बोलचाल की अवधी है, किन्तु साथ ही रहली, गइलें आदि पूर्वी प्रयोग भी मिलते हैं। संस्कृत या फारसी के तत्सम शब्दों का अभाव है, कहीं भी कवि पाण्डित्य नहीं दर्शाता।

सिद्धान्त चर्चा :

कवि की कथा में उसके सिद्धान्त ही अधिक प्रखर हैं। वह परमेश्वर, सृष्टि, गुरु एवं प्रेम के सम्बन्ध में अपने विचारों को स्पष्ट करता है। परमेश्वर और जीव में एकत्व स्थापित करते हुये कवि लिखता है कि जब समुद्र अपने समुद्रत्व को छोड़ कर बूंद हो जाता है तो लोग उसे बूंद ही कहते हैं समुद्र नहीं, किन्तु वास्तव में दोनों वस्तुयें हैं एक ही—

समुन्दर से बूंद भयो जसु ओही, समुन्दर कहे नहीं बूंद न होइ।
बुन्द यहां है कहौं बड़ी युत्ति खोई,
बुन्द मिला जब समुन्द कहायो,
बुल्ला नदी बुन्द एक है दूजा नहीं तू जान।
यह बानी है मुराद की सांची कहा बखान॥

परमेश्वर के दर्शन, आप में ही, घट में ही सम्भव हैं। मानव को परमेश्वर स्वरूप ही मानना चाहिए, उसी के अन्तर में परमात्मा की स्थापना है।

आदम सूरन हरि की जानो, जो हम कहा यकीनी मानो।
यह मां लखिहौ तो हारे पइहो, नहिं तौ नौन अकारथ जइहौ।

अपना सिरजा आप तू पूजत है अनजान।
आदि को क्यों पूजत नहीं तू सूरन भगवान॥

यह सारा संसार ही तो उसका स्वरूप है, जो कोई इस संसार में उसके दर्शन न कर सका वह जन्म जन्मान्तर में पछताता रहेगा।

जो कोई दरसन यहां नहिं पावा, जनम जनम रहि है पछतावा।

वह एक परमेश्वर ही सब की रचना करने वाला है, उसके सम्मुख मानव बहुत छोटा है।

तूही सबका सिरजन हारा, मैं एक बूंद तू बड़ करतारा।

जो कोई इस सत्य को नहीं समझता और गर्व के वशीभूत हो जाता है उसका दर्प परमेश्वर चूर्ण करता है।

आप बड़ा समुद्र ने जाना, जब काहू पीओ पछताना।
एके सांस घूंट तक कीन्हों, डार पर बैठे नाव हरि लीन्हों।
बड़ा एक था दूत सयाना, मिटा गर्व भूला सब ग्याना।
आज्ञा हरि की दीन्ह भुलाई, आपन का नहीं सीस नवाई!

अतः गर्व करना अनुचित है। जीवन का साध्य है प्रेम एवं मिलन। प्रेम की उत्पत्ति इस संसार में सर्वप्रथम हुई, प्रेम से ही सारी सृष्टि की रचना हुई।

प्रेम से तीनों लोक संवारा, नये नये रूप औ नये अवतारा।
निराकार जब प्रेम बनायो, पहले प्रेम वहीं मां समायो।

प्रेम प्राप्ति का मार्ग अत्यन्त कठिन है, इस मार्ग पर वही अग्रसर हो सकता है जो आपा विस्मृत करदे।

कठिन प्रेम विरह घन होई, वह नर कहीं जो आपा खोई।

प्रेम के सम्मुख ज्ञान तुच्छ है। पुस्तक ज्ञान महत्वपूर्ण नहीं है, केवल शुष्क ज्ञान निस्सार है; वही ज्ञानी एवं विद्वान है जो प्रेम का ढाई अक्षर पढ़ लेता है।

पोथी सो थोथी भई, पंडित रहा न कोय।
ढाई अक्षर प्रेम का पढ़े सो पंडित होय॥

यह प्रेम का पन्थ नबी मुहम्मद साहब एवं अली से आरम्भ हुआ है, इसी के फलस्वरूप सर्वत्र प्रत्येक घट में हरि दर्शन सम्भव है।

नबी व अली का यही पढ़ायो, गुप्त कोट सहजै दिखलाओ।
हजरत अली से सब ने पाया, लाखन को वह बली बनाया।

पहले ख्वाजा हसन को दीन्हा चौदह खण्ड में वह हरि चीन्हा।
जहां देखा वहां हरि लखाओ, यही मन्त्र पहले वह पाओ।

दूजे इमाम हुसेन को दियो अली बतलाय।
चौदह खण्ड चौदिशा में, हरि को दियो लखाय ॥

जब तक हृदय में प्रेम उत्पन्न नहीं होता मनुष्य भटकता रहता है। हृदय में प्रेमोद्भूत होते ही भेदभाव मिट जाता है, केवल एक उसी का अस्तित्व रह जाता है।

घट मौ जब से प्रेम न आवै, मरमत फिरे नहीं हरि पावै।
हृदय प्रेम बीज मोरे बोया, दुइ का झगड़ा पल में खोया।

प्रेम के मार्ग का सबसे बड़ा सहायक है गुरु। गुरु के प्रति श्रद्धा पूर्वक समर्पण कर देने से ही आत्मज्ञान लाभ होता है। गुरु शिष्य में ऐसा ही संबंध होना चाहिए जैसा बिलनी और पतिंगे में होता है जिस प्रकार बिलनी एक पतिंगे को बिल में बन्द करके स्वयं उसके चतुर्दिक घूमा करती है, कुछ दिन बाद पतिंगा बिल तोड़कर बाहर निकलता है तो वह भी बिलनी की भांति बोलता है, उसी प्रकार शिष्य को पूर्णरूपेण गुरु के आधिपत्य में रहना चाहिए तथा उसकी साधना तभी सफल होती है जब वह अपने गुरु का अनुकरण करने लगे।

यारी मुराद सब छांड़ दे एक गुरु चित लाव।

बिलनी की करतूत को देखो, करिके ध्यान को जोग परेखो।
पकड़ के एक पतिंगा लाये, परको नोच के मुंडी बनाये।
कोई दिवार में बिल का बनायो, माटी में वह पतंग छिपायो।
जब ऐसा गुरु ध्यान लगाये, गुप्त नगर सहजे में जाये।
हम जो कहा कहा को मानो, एक तुही एही मन जानो।

तर्क एवं विवाद से ज्ञान लाभ नहीं होता, वेद और पुराण पढ़ने से प्रेमोदय नहीं होता, जब गुरु निरगुन पढ़ा देता है तब संसार का इतर ज्ञान स्वयं विस्मृत हो जाता है।

सर्फ नहो सुनकर जो जाना, फुक्र औ मन्तक् पढ़्यो समाना।
असराने में ही भूले सारे, जैद बकर में फंस मन हारे।

चार वेद औ तीस पुराना, सबै पढ़ा मन लाय।
जब गुरु से निरगुन पढ़ा, सब वह गयो भुलाय ॥

गुरु के बिना प्रेम साधना सफल नहीं होती, प्रेम डगर में प्रवेश करने के पूर्व गुरु से प्रीत करना आवश्यक है।

बिना गुरु कुछ काम न होई, बैस अकारथ पूरी खोई।
पहले प्रीत गुरू से कीजे, प्रेम बाट में नब पग दीजे।

प्रेम गुरू है ध्यान कर, मन सों सुमिरन लाव।
सांसा ले चल सीस पर, बैठा निरगुन गाव ॥

गुरु और हरि में कोई अन्तर नहीं, वास्तव में दोनों एक ही हैं, अतएव गुरु वन्दना र वन्दना है।

गुरु समान मैं तोहि निहारौं।
गुरु औ हर में दुई न जानों, एक ही हैं दुविधा न मानो।
अपने गुरु का आदम जानो, तनिक न हृदय में शंका मानो।

गुरु आदम हर एक है, दूजा कहै जो भूल।
सौगन्ध करतार की, फख का यही वसूल ॥[1]

गुरु को आत्मसमर्पण करने के पश्चासत् प्रेमाग्नि में पञ्चभूतों का जलाना आवश्यक है अर्थात् पञ्चकर्मेन्द्रिय जनित विषय वासनाओं से विमुख होना परम कर्तव्य है। बुद्धि या तर्क का नाश भी आवश्यक है। साधक को सूली पर चढ़ना है तभी तो अहं का नाश होकर केवल 'वही' अविस्थत रहेगा तथा साधक को सोहागिन होने का अधिकार प्राप्त होगा।

गुरु ज्ञानी का सत हो काजू, दण्डवत करें वही जमराजू।
पहिले प्रेम को आग में डारो, बैरी पांच भूत है मारौं।
सूली सहज हमें है चढ़ना, कठिन बुद्धि पहलै का मरना।
पहले गरै सोहागिन होई, वही रहै और आपा खोई!
ध्यान ज्ञान दोऊ का मारौ, सुरत सुहागिन का जब जारौ।
नारि ते पुरुष होय एक पल मां, आपको देखो हरि औ जल माँ।
आपहि रहे छूटै सब कोई, ...।
हृदय में जिसने हरि देखा, खरा खोटा सभी वह देखा ॥

जब गुरु और शिष्य का एकत्व हो जाता है तभी साधक को सिद्धि उपलब्ध होती है:

गुरु समाना सिक्ख में, ऐसी वढ़ गई नेह।
दुई गई एकै रहा, भई सुगन्ध अब देह ॥

---

1. गुरु गोविन्द हर एकै जानौ' याही भाव तुम मन में ठानौ।
कुंवरावत

गुरु को पथप्रदर्शक बनाने से ही सफलता चरण-चुम्बन करती है :

आगे तो गुरु का करो, पाछे वाके जाव ।
अहमद का दामन पकड़, वाहिद से झट मिल जाव ॥

अली मुराद भी भाषा प्रेमरस के रचयिता शेख रहीम की भांति दया धर्म को सर्वाधिक महत्व देते हैं :

दया धरम का मुख देही, बीच (पंच) कण वह सहजै लेई ।
सबकी हाजत करो रसानी, धरम के निसदिन पढ़ा कहानी ॥

भांति भांति की योग साधना करना, कष्ट सहना, शरीर को तपस्या के द्वारा क्षीण करना एवं भाव रहित मूर्तिपूजा करना व्यर्थ है यदि श्रद्धा नहीं, प्रेम नहीं। अली मुराद ऐसे साधुओं का विस्तृत उल्लेख करके उनकी साधना की निस्सारता के सम्बन्ध में लिखते हैं :

अपना सिरजा आप न पूछे, जनम का अंधरा कुछ न सूझे ।
पर्वत से एक पाथर लायो, गढ़ गढ़ के एक मूर्ति बनायो ।
कोई राम कोई कृष्ण कहायो, ब्रह्मा विष्णु महेश बनायो ।
आपहि नाव धरम ओहि वेरा, भूल मां पड़ी पाहन में हीरा ।

कितने प्रकार के साधु सन्तों का संगठन उस समय वर्तमान था, उनकी क्या विशेषतायें थी इस ओर भी कवि ने लक्ष्य किया है :—

एक भोगी अवधूत कहावै, बैल की तरह अन्न जल खावै ।
दुसरे परमहंस को सूरत, यह बिल्कुल माटी की मूरत ।
भोग से वह उदर बहलावै, टांग पसार के डासन लावे ।
गोरस पियें मांस नहि खावै, पयहारी यह बड़ा कहावे ।
रक्त वही वही दूध बनाओ, वही रक्त गोरस कहलायो ।
बड़े चाह पियैं पयहारी, पड़े भूल मां मति गये मारी ।
यह का साधु सन्त सब जानें, माथ नवावैं जिय से मानें ।
यह गये प्रेम बाट सब भूली, जीते चढ़े न प्रेम की सूली ॥

जाके हृदय प्रेम बसे, वही सिद्ध है जान ।
यह जोगी भोगी सभी, प्रेम से हैं अनजान ॥

इनकी अहिंसा ढोंग और पाखंड की ओर भी कवि ने संकेत किया है:—

मांस मछरिया कुछ नहिं खावैं, बड़े गुरु यह भक्त कहावैं ।

तिल भर मछली जो कोई खावै, कहैं कि नरक कुंड वह जावे ।
यही भूल में पड़े खिलारी, निर्गुन भूले मति गई मारी ॥

जोगियों की गणना एक स्थल पर अली मुराद ने फिर की है :—

कतिने पंच में जागी कहावै कोई सतनाम कोई सेवुड़ा बन आवै ।
कोई पंच अगिन का तापै गुसाई कोई जलसेन में जाय समाये ।
कोई ऊधबांह को हाथ सुखाये, कोई कबीर पन्थी हो मांस न खाये ।
डन्डी बड़े पखन्डी होवैं, मोहन भाग लुचूई जेवैं ।
यह जोगी भोगी सब भाई, इनका हर कबहू दृष्टि न आई ॥

मुराद पूरा साधू वही, जो हस्ती देवै छोड़ ।
निर्गुन सर्गुन जाप से मुंह का लेवै मोड़ ॥

इस संसार में सर्वत्र वही व्याप्त है :

सब है वही कहां है दूजा, अपना आप करै वह पूजा ।
रग रग में है वही समाना, हर घट भीतर कियौ पयाना ॥

इस सर्वव्यापक को वही पा सकता है जिसकी करनी श्रेष्ठ है, जिसके हृदय में कुछ प्रेम है :

जाकी पूरी गांठ होई, मंधी लगनी लीहै बोही ।
जस करनी वैसा फल पैहो, या सुख या तुम दुखी उठै हो ॥

कवि एक स्थल पर शरीयत (कर्मकाण्ड) की चर्चा भी करता है :

नफी रोय असबात निसारो, इल्ललिलाह का नारा मारो ।
हा हूही की जख लगावौ, जरे जलवा नब घट पावो ।
सांसा का तुम शीश चढ़ावो, घड़ी घड़ी बाहर भितरावो ॥

मरजीया होके समुन्द्र में पल में जाओ समाय ।
कर से मानिक गहि पकड़ अब ऊपर उतराव ॥

फूलमती गवन खण्ड में भी कवि ने 'गौने' द्वारा जीवात्मा एवं परमात्मा के मिलन का रूपक निबाहा है। अन्य कई स्थलों पर भी उसने जीवात्मा को दुलहन, संसार को नैहर एवं गौने को प्रिय के निकट जाने का रूपक दिया है। ऐसे वर्णनों में कवि का कबीर के भावों, विचारों एवं भाषा में बड़ा साम्य लक्षित होता है।

ससुरे चलन की करो तैयारी, कन्त बुलावे सुन ऐ नारी ।
गुन ऐगुन पुछिहै सब पीऊ, उत्तर का देहो मन जीऊ ॥

कछु करनी कीया नहीं, रही नैहर बुध खोय।
लाज कन्त के हाथ में जो चाहै सो होय ॥

चलो वहां जहां कन्त पियारा, अब तोही कोई न रोकन हारा।
मै भई पिउ की पिया भये मोरे, चलौ साथ दोऊ कर जोरे ॥

संसार की नश्वरता की ओर संकेत करते हुये कवि ने विभिन्न लोकों की चर्चा भी की है :

यह दुनिया सपने का लेखा, यह के पांव न रूप न रेखा ॥
बूंद में आके समुन्द्र समाना, बीज में जैसे है पेड़ लुकाना।
गुप्त रहा हाहूत में साईं, दरस अवार को लखी गोसाईं।
जब लाहूत में कीन्हों बासा, अब मिलने की भई मोहे आसा।
जब जबरूत की सूरत लीन्हा, अहमद नाम आपन धर दीन्हा।
आगे बढ़ मलकूत कहायो, वरन बरना का रूप बनायो।
भये नासूत आदम की सूरत, हरदिन बसी वही मेरी मूरत ॥

कुरान में वर्णित चालीस अंस में से एक का दान करने के विधान का भी उल्लेख है।

चालिस दरश में एक मोहि देऊ।
उतरो पार राह तब पाऊ ॥

सामाजिक स्थित :

इसके अन्तर्गत कवि का कलिजुग वर्णन आ सकता है, कलिजुग में सभी विपरीत आचरण करते हैं :

चन्दन काट बबूर वहां बोई, बड़ी चिन्त थी बुध गई वहां खोई।
बाभन उजाड़ चमार बसायो, राजपनी ओहर कहलायो।
कलजुग है जो हो नहिं थोड़ा, गधा को मनुख कहैंगे घोड़ा।
दया छोड़ के पाप बसायो, वही मनुख पापी कहलायो ॥

यह हो सकता है कि, कवि ने इस विवरण में तत्कालीन सामाजिक अनाचार का वर्णन किया हो किन्तु जहांतक समझ में आता है यह परम्परागत कलिजुग वर्णन है जिसकी पृष्ठभूमि में कवि अपने सिद्धान्तों को रखना चाहता है।

सामाजिक संस्कारों में केवल विवाह का वर्णन ही कवि ने किया है। उबटन लगाना, ज्योतिषियों से लगन निकलवाना, बारात के साथ फुलवारी, पटाखे आदि का भी वर्णन

है। जिस ढंग से कवि ने नक्षत्र और तिथियों का वर्णन किया है उससे ज्ञान होता है कि कवि को उसका ज्ञान था।

सीस पै चन्द्र और जोगिनी पाछे है महाराज।
मकर कुम्भ में ब्याह रचायो, कन्या तुला पै ध्यान लगायो।
मीन मेल का आथ न लेहू, वृश्चिक धन-धन कर तजि देहूँ।
मिथुन सिंह तोरे काम न अइहै, जो करै ब्याह मनी पछितैहैं।
राहु दे छोड़ चन्द्रमा लेहू, मोर मुकुट वाही सिर देहू।
जोगिनी पाछे करिहै काजा, छाजै राजपाट और राजा।
ब्याह का चरण जग मां छावा, घरघर बाजन लाग बधावा॥

ये वर्णन कवि के जन जीवन से परिचय को स्पष्ट करते हैं।

ऐतिहासिक एवं पौराणिक वृत्त :

पौराणिक उल्लेखों के अन्तर्गत कवि के काशी, इन्द्र एवं विभीषण के नामोल्लेख आ सकते हैं। काशी का वर्णन करते समय कवि ने गंगा स्नान तथा उसके घाटों की शोभा का वर्णन किया है। स्नान के फलस्वरूप पुण्यलाभ की चर्चा हुई है। इन्द्र को अमरपुरी का राजा कहना सत्य है किन्तु उसकी कन्या फूलमती एवं रक्षक देवों का होना काल्पनिक है। राम का रावण को मारकर विभीषण को राज्य देना सत्य है किन्तु उसका गुरू इन्द्र था या फूलमती बहकर उसके यहां पहुँची यह कवि कल्पना है।

कवि ने विभीषण का चरित्र प्रदर्शित करते समय उसके विख्यात चरित्र को सम्मुख रक्खा है।

समुद्र मन्थन की घटना भी कथा में दूसरे रूप से वर्णित है। कुंवर बोहित में डूब जाने के कारण वहीं विलीन हो गया था अतः उसे प्राप्त करने के लिए विभीषण ने समुद्र मन्थन किया, फलस्वरूप दान और त्याग की महिमा बताते हुये समुद्र ने कुंवर को पुनः विभीषण के पास पहुँचा दिया। ऐतिहासिक कथा वृत्तों के अन्तर्गत मुहम्मद गोरी के आक्रमण की चर्चा हो सकती है यद्यपि उसकी पूर्ण संगति ऐतिहासिक तिथियों एवं घटनाओं से नहीं बैठती। मुहम्मद गोरी ने दिल्ली के सम्राट पृथ्वीराज को मारा था अतः उसका आक्रमण राय पिथौरा के पोते कुंवर का सम सामयिक नहीं हो सकता, फिर भी कवि ने गोरी के द्वारा दिल्लीश्वर राजकुंवर की मृत्यु दिखाई है।

कन्नौज के राजा ने मुहम्मद गोरी का आधिपत्य मान लिया था यह सत्य है किन्तु कन्नौज का अधिपति जयचन्द था लालकुंवर नहीं। कवि को ऐतिहाहिक घटनाओं का परिचय था किन्तु कालक्रम एवं घटनाक्रम की दृष्टि से उनका विशेष महत्व नहीं है।

नवीन प्राप्त सूफ़ी प्रेमाख्यानों में कथा कुंवरावत का विशेष महत्व है। कवि को अनावश्यक वर्णन प्रिय नहीं है किन्तु सिद्धान्त कथन में वह विशेष पटु है। गुरु महिमा, ब्रह्मस्वरूप, जीव एवं परमात्मा के सम्बन्ध में उसने अपने विचार प्रकट किये हैं। साधनपद्धति का उल्लेख करते हुये 'जोग खन्ड' में हठयोग एवं प्रेम साधना के समन्वित स्वरूप का चित्रण किया गया है।

सहायकग्रन्थ-सूची

हिन्दी

१.	तसव्वुफ अथवा सूफ़ीमत	......	श्री चन्द्रबली पाण्डेय
२.	सूफ़ी काव्य संग्रह	......	पं० परशुराम चतुर्वेदी
३.	उत्तरी भारत की सन्त परम्परा	......	,, ,,
४.	संत सुधासार	......	श्री वियोगी हरि
५.	दर्शन दिग्दर्शन	......	श्री राहुल सांकृत्यायन
६.	बौद्ध गान और दोहा	......	म० म० हरप्रसाद शास्त्री
७.	संस्कृत संगम	......	आचार्य क्षितिमोहन सेन
८.	नाथ सम्प्रदाय	......	आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी
९.	योग प्रवाह	......	डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल
१०.	हिन्दी के मुसलमान कवि	......	श्री गंगा प्रसाद
११.	महावंश	......	भदंत आनन्द कौसल्यायन का हिन्दी अनुवाद ।
१२.	दोहा कोष	......	सं० डा० प्रबोध चन्द्र बागची ।
१३.	कवि नजीर	......	श्री रघुराज किशोर ।
१४.	साहित्य-दर्पण	......	श्री विश्वनाथ
१५.	रसिक प्रिया	......	आचार्य केशवदास
१६.	नव रस	......	श्री गुलाब राय
१७	हिन्दी काव्य-धारा	......	राहुल सांकृत्यान
१८.	हिन्दी के कवि और काव्य	......	श्री गणेश प्रसाद द्विवेदी
१९.	सुन्दर दर्शन	....	डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित
२०.	शैली	......	पं० करुणापति त्रिपाठी
२१.	खड़ी बोली हिन्दी साहित्य का इतिहास		श्री ब्रजरत्न दास
२२.	हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास		डा० रामकुमार वर्मा
२३.	मिश्र बन्धु विनोद	......	मिश्र बन्धु
२४.	कृष्णाश्रय	......	वल्लभाचार्य
२५.	हिन्दी साहित्य का इतिहास	......	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
२६.	जायसी ग्रन्थावली	......	,, ,,
२७.	कबीर ग्रन्थावली	......	डा० श्याम सुन्दर दास
२८.	जायसी ग्रन्थावली	......	डा० माताप्रसाद गुप्त

२९. भारत में इस्लाम .... आचार्य चतुर सेन शास्त्री
३०. अरब और भारत के सम्बन्ध .... प्रो० नदवी
३१. पातंजलि योग दर्शन ....
३२. नारद भक्ति सूत्र ....
३३. अर्ध कथानक .... श्री बनारसी दास
३४. हिन्दी प्रेमगाथा काव्य संग्रह .... श्री गणेश प्रसाद द्विवेदी
३५. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग .... डा० नामवर सिंह
३६. मध्यकालीन भारत .... डा० परमात्मा शरण
३७. हिन्दी काव्य धारा में प्रेम प्रवाह ...... श्री परशुराम चतुर्वेदी
३८. ईरान के सूफी कवि .... श्री बाँके बिहारी लाल और कन्हैयालाल
३९. वैदिक कहानियाँ .... श्री बलदेव प्रसाद मिश्र
४०. हिन्दी साहित्य का इतिहास .... डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल'
४१. मध्यकालीन धर्म साधना ...... आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी
४२. साहित्य ...... श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर
४३. रामचरितमानस एवं विनयपत्रिका ...... संत तुलसीदास
४४. वेदान्त परिचय .... श्रीहीरेन्द्रनाथ दत्त
४५. संत बानी संग्रह .... बे० प्रे० प्रयाग सन् १९३३ ई० ।
४६. पद्मावती ...... जी० ए० ग्रियर्सन एवं म० म० सुधाकर द्विवेदी
४७. पद्मावती का भाष्य .... प्रो० मुंशीराम शर्मा 'सोम'

English

1. Sufism .... A. J. Arberry
2. The early development of Mohammadanism .... D. S. Margolouth, D. Litt.
3. Origin of Monicheism .... Muslim Institute, Calcutta (Muslim Review Vol.II 1927)
4. Theism in mediaval India ... J. E. Carpenter
5. Mystical Elements in Mohammad J. C. Archer.
6. Literary History of Arabs ... R. A. Nicholson.
7. " " " Persia ... E. G. Browne.
8. Tribes and Castes of the N. W. P. and Oudh ... Crooke.
9. Akbar ... Laurence Binyon.
10. Punjabi Sufi Poets ... Lajvanti Ram Krishna.
11. Sind and its Sufis ... Jethmal Parsram Gulraj.

12. Religion of the Semites ... W. Robertson Smith.
13. Outlines of Islamic Culture ... A. M. A. Shushtery.
14. The Idea of Personality in Sufism ... Prof. R. A. Nicholson.
15. Studies in Islamic Mysticism ... Prof. Nicholson.
16. History of India ... Eliphinston.
17. History of Antiquities ... Duncker.
18. Rabia The Mustic ... Margaret Smith.
19. The Dervishes ... Rose.
20. The People of Mosque ... Bevan Jones.
21. Psychology of Sex ... Havelock Elns
22. Tne Holi Koran ... M. Muhammad Ali
23. Islamic Sufism ... Iqbal Ali Shah
24. The Mystics of Islam ... R. A. Nicholson.
25. Studies in Taswoof ... Khwaja Khan.
26. Sufi Saints & Shrines in India ... J. A. Subhan.
27. The Mysticism of Sound ... Inayat Khan.
28. The Persian Mystics ... F. H. Davis.
29. The Metaphysics of Rumi ... Dr. Khalifa Abdul Hakim
30. The way of Illumination ... Innayat Khan.
31. Mediaval Mysticism of India ... Kshitmohan Sen
32. Oriental Mysticism ... E. H. Palmer.
33 The Sound whence & wither ... Innayat Khan.
34 Muslim Thought & its Source ... Prof. Seby Jaffar Uddin Nadvi.
35. Religion & Hidden Cults of India ... Sir George Machiman.
36. Christian Mytsicism ... Inge.
37. Mysticism in Persian Poetry ... Prof. Nicholson.
38. Arabian Poetry & Poets ... Syed Md. Badruddin Alavi
39. Contribution of India to Arabic Literature ... Zabain Ahmad.
40. Legacy of middle Ages ... C. G. Crumt and E. F. Jacob
41. Mohammad the man & his faith ... Andrai.
42. The Life of Mohamet ... Dermenghem.
43. The Life of Mohammd ... Sir W. M. Muir.
44. Mystics, Ascetics and Saints of India. ... J. C. Oman.
45. Influence of Islam on Indian Culture. ... Dr. Tarachand.

46. An Introduction to the History of Sufism. ... A. J. Arberry.
47. An outline of the Religions Literature of India Calcutta 1920 ... Dr. Farquhar.
48. Mystics. Ascetics & Saints of India. London 1903. ... J. C. Oman.
49. History of Panjabi Literature ... Dr. Mohan Singh.
50. Obscure Religious cults ... S. Das Gupta.
51. The Preachings of Islam ... T. W. Arnold.
52. Life and Conditions of the People of Hindustan. ... Kunwar Muhammad Ashraf.
53. Encyclopaedia of Religion and Ethics. ... Hastings.
54. Encyclopaedia of Islam ... Various Authors. London 1885.
55. Dictionary of Islam ... Hughes.
56. History of Mediaval India ... Dr. Ishwari Prasad.
57. Symbolism ... A. N. Whitehead.
58. The essential Uuity of all Religons ... Dr. Bhagwan Das.
59. The Allegory of Love ... Lewis.
60. The Classical Traditions ... Heighet.
61. The Holy Koran ... Yusuf Ali

हस्तलिखित ग्रन्थ

१. वजहन नामा — नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा
२. यारी साहब के पद एवं अलिफनामा — ,, ,, ,,
३. कामरूप की कथा — ,, ,, ,,
४. अब्दुलसमद के भजन एवं गीत — डा० समदी (अरबी विभाग) द्वारा
५. पुहुपावती (हुसेन अली) — श्री गोपालचन्द्र सिनहा द्वारा
६. मृगावती — नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा
७. मधुमालत — ,, ,, तथा रामनगर स्टेट लाइब्रेरी द्वारा
८. इन्द्रावती (उत्तरार्ध) — ना० प्र० स० काशी द्वारा
९. प्रेम चिनगारी — श्री अख्तर हुसेन निजामी द्वारा
१० नूरजहाँ — श्री गोपाल चन्द्र सिनहा
११. यूसुफ जुलेखा — ,, ,, ,, ,,

१२. ज्ञानदीप — श्री उदयशंकर शास्त्री द्वारा
१३. जान कवि के हस्तलिखित ग्रन्थ — हिन्दुस्तानी एकेडेमी प्रयाग द्वारा
१४. रतनावती (जानकवि) — कुंवर संग्रामसिंह, नवलगढ़ द्वारा
१५. बुधसागर (जानकवि) — ,, ,, ,, द्वारा

लिथोः

कुंवरावत	(अलीमुराद)	श्री गोपालचन्द्र सिनहा द्वारा
भाषा प्रेमरस	(शेख रहीम)	,, ,, ,, ,,
प्रेमदर्पण	(कवि नसीर)	,, ,, ,, ,,

प्रकाशितः

अनुराग बांसुरी	हि० सा० सम्मेलन प्रयाग सं० २००२।
इन्द्रावती (पूर्वाध)	का० ना० प्र० सभा सन् १९०६ ई०।
चित्रावली	काशी ना० प्र० सभा सन् १९१२ ई०।
हंसजवाहिर	नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, सन् १९३७।
श्री गुरु ग्रन्थ साहब	शिरोमणि गुरुद्वारा कमेटी अमृतसर सन् १९५१।
यारी साहब की रत्नावली	वे० प्रे० प्रयाग सन् १९१० ई०।
बुल्लाशाह की सहिरफी	खेमराज, श्रीकृष्णदास बम्बई, सन् १९६४।
भजनसंग्रह (भा० ४)	गीता प्रे० गोरखपुर सं० १९९६।
महाकवि नजीर	हरिदास एन्ड क० कलकत्ता सन् १९२२।
मजमूअ बर राहे हक	नवलकिशोर प्रेस लखनऊ।

पत्र-पत्रिकादि

नागरी प्रचारिणी पत्रिका एवं खोज रिपोर्टस हिन्दुस्तानी सन् १९३४, १९४६,
विश्वभारती पत्रिका खन्ड ५, अंक २ अप्रैल जून १९४६ ई०
कल्याण (संत अंक, साधनांक, ईश्वरांक उपनिषदांक, गीतांक)
इन्डियन एन्टिक्वेटरी.........अक्टूबर १९२० ई०
अनुशीलन — प्रयाग विश्वविद्यालय।
ज्ञानशिखा — लखनऊ विश्वविद्यालय।
Journal of Royal Asigtic Society of Bengal. (Bombay Branch).
Journal of Bihar Research Society XXXIX 1953.

नामानुक्रमणिका

(लेखक)

'अ'

'इ'

'उ'

'ए'

‘क’

‘ख’

‘ग’

‘च’

'छ'

'ज'

'झ'

'ट'

'ड'

'त'

'द'

'ध'

'न'

'प'

'फ'

'ब'

'भ'

'म'

य

र

ल

व

श

स

ह

क्ष

त्र

(ग्रन्थ)

अ

इ

उ

ए

क

ख

ग

च

छ

ट

ढ

त

थ

द

ध

न

'प'

ब

भ

म

य

र

ल

व

स

ष

श

ह

ज्ञ

शुद्धि-पत्र

अशुद्धि	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
इस्लामी	इस्लाम	२०	१४
द्रविण	द्रविड़	२०	१६
जायें	गये	२०	२०
पुस्कर	पुश्कर	२१	३०
प्रामाणित	प्रामाणिक	२२	४
इसकी	इनकी	२४	२४
मनकपुर	मकनपुर	२५	१६
अभिदित	अभिहित	३०	८
उनके	उसके	३१	१३
कर्तव्य शक्ति	कर्तृत्व शक्ति	४२	७, ८
का	को	५०	१२
परमसता	परमसत्ता	५४	८, १५
का	या	५५	५
मात्रा	मात्र	६२	२
तैत्रयोपनिषद्	तैत्तरीयोपनिषद्	६२	७
भी	ही	६५	५
सलग्न	संलग्न	६६	१०
पथग्रष्ट	पथभ्रष्ट	७०	१६
लक्ष	लक्ष्य	७१	६
स्वष्टीकरण	स्पष्टीकरण	७४	६
विरोध	निरोध	७८	१०
भयन	भयज	७८	१८
अनिवार्य	अनिवार्यता	६०	५
परम्मपरा	परम्परा	६३	१८
सुम्दर	सुन्दर	६६	१५
प्रन्थ	ग्रन्थ	१०३	२०
तृणा	तृष्णा	१०४	१७
मानव	मानवीय	१०६	११
व्यन्जना	व्यञ्जना	११०	१६, २०
रागानुरागा	रागानुगा	११०	२२
स्थिति	स्थित	११०	२३
चित्र, फलक	चित्र-फलक	१२०	६
अब्दुल कासिम	अबुल कासिम	१२८	८
रिसालये कुशारिया	रिसालये कुशैरिया	१२८	६

हुब्बिरी	हुज्वेरी	१२८	६
म्वारिफ	मश्रारिफ़	१२८	११
लावेइ	लवाइह	१२८	१२
शवस्तारी	शविस्तरी	१२८	१३
मसनमियाँ	मसनवियाँ	१२८	१४
किताब्रुलत्वासीन	किताबुत्तवासीन	१२८	१५
मजीद	बायजीद	१२८	२१
परिणित	परिणत	१२६	२२
प्रतिपालन	प्रतिपादन	१२३	२६
पश्रावत	पद्मावत	१३५	१५
अबुल सहन	अबुलहसन	१३७	२
गुप्त-साम्राज्य	गुप्त-सामराज्य	१४३	१८
धर्मान्धना	धर्मान्धता	१४८	२८
सहन पड़ता	सहन करना पड़ता	१४८	३४
कान्ता सम्मति	कान्ता सम्मित	१५४	३०
ग्राहस्थ्य	गार्हस्थ्य	१८२	१०
आकावाणी	आकाशवाणी	१६४	१७
सकेतिकत	संकेतित	२१४	१३
चित्रवली	चित्रावली	२१६	८
अल मुजाम फिहुरूफ—	अल मुजम—		
मुजम	फि हुरूफुल अजम	२२५	६
चिह्न	चिन्ह	२२७	३
आह्लाद	आल्हाद्	२२७	५
कासिकशाह	कासिमशाह	२५२	२
हेतूत्प्रचा	हेतूत्प्रेक्षा	२५५	१४
एकात्मा	एकात्मकता	२५६	११
परम्परा	परम्परा-सम्बन्धी	३००	१
केसोपास	केसोदास	३०५	२६
लाइलाही इललिल्लाह	लाइलाह इल्लिल्लाह		
मुहम्मदउर्रमूललिल्लाह	मुहम्मदर्रसूलिल्लाह	३०६	१४
ममत्व	महत्व	३२१	१
खरूड	खण्ड	५७३	१४
स्थित	स्थिति	५६५	१८

विशेष:—अध्यायों के गणनात्मक अंकों में ३ अंक छूट जाने के कारण आगे के अंकों में संख्या-क्रम की गड़बड़ी हो गई है। मुद्रण की इस भूल के लिये लेखिका क्षमाप्रार्थिनी है।

there lived many Sudeten Germans. From the first, therefore, the new republic faced the problem of a large and discontented Sudeten minority.

Another "succession state" was Yugoslavia, officially the Kingdom of Serbs, Croats, and Slovenes, which, as its full name suggests, represented a great expansion of pre-war Serbia to include the south Slav territories of the Habsburgs. Rumania, too, profited by the break-up of the old dual monarchy by receiving the former Hungarian lands of Transylvania. Rewarded also with Bessarabia, a Russian province that the Bolsheviks could not defend, Rumania emerged with doubled territory. In the southern Balkan Peninsula, Greece received all of Thrace, at the expense of Turkey and Bulgaria.

Out of the former tsarist domains held at the end of the war by the Germans there were set up, in addition to Poland, the "Baltic republics" of Estonia, Latvia, and Lithuania. Once Europe had settled down, plebiscites were provided for to determine certain other territorial adjustments, notably whether certain parts of East Prussia and Silesia should go to Poland or remain German. The new Polish state had been granted access to the Baltic Sea through the so-called "Polish corridor," a narrow strip of land which had once been Polish, and which terminated in the almost wholly German city and port of Danzig. The Poles wanted Danzig, but the Allies compromised by setting up a Free City of Danzig and by giving the Poles free trade with the city. Even so, the Polish corridor now separated East Prussia from the rest of Germany, and Germans had to cross it in sealed trains.

Outside Europe, the Near East presented the most acute problems. By the Treaty of Sèvres the Turks were left in Europe with no more than Constantinople and a small strip of land around it, and in Asia with only their homeland of Anatolia. For the rest, the old, feudal, desert country of Arabia was recognized as independent and presently became known as Saudi Arabia, after its ruler, Ibn Saud. Mesopotamia and Palestine were given as mandates —a term we shall shortly explain—to Britain, while Syria and Lebanon were given as mandates to France. The Greeks were to hold Smyrna and nearby regions in Asia Minor for five years, and then submit to a plebiscite. But the Treaty of Sèvres never went into effect, though it was duly signed by the Sultan. In Anatolia a group of army officers led by Mustafa Kemal revolted against the government at Constantinople and galvanized the Turkish people into a new national life. The Turks drove the Greek army out of their country and set up a Turkish republic with its capital not at Constantinople but at Ankara in the heart of Anatolia. With this new government the Allies were finally obliged to conclude the Treaty of Lausanne in 1923. The new peace transferred the Smyrna area and eastern Thrace from Greek to Turkish control and was in general more advantageous to the Turks than the Treaty of Sèvres had been.

This treaty embodied in dramatic form a principle new in part in the West—the formal transfer of populations. True, peoples had been evicted by conquerors before; witness among other instances the eviction of the French Acadians from Nova Scotia by the British in the eighteenth century, or the settling of our Indians in Indian Territory. But here was an exchange· Greeks in Turkey were moved to Greece, Turks in Greece were moved to Turkey. No very significant discontented national minorities were left. Each government was to take care of the transferred populations, and though much hardship occurred, on the whole the plan worked.

The Mandates

For the rest of the world the old straightforward annexing of the overseas territories of defeated powers, as

THE WORLD, 1914-1924
Allied and Associated Powers
Central Powers and their Allies
Neutrals
German colonies (boxes indicate powers which secured them as mandates in the post-war settlement.)
ALASKA
GREENLAND
ICELAND
CANADA
NORTH AMERICA
UNITED STATES
MEXICO
CUBA
HAITI
DOMINICAN REPUBLIC
HONDURAS
NICARAGUA
GUATEMALA
EL SALVADOR
COSTA RICA
PANAMA
VENEZUELA
GUIANAS
COLOMBIA
ECUADOR
PERU
BRAZIL
SOUTH AMERICA
BOLIVIA
PARAGUAY
CHILE
ARGENTINA
URUGUAY
Pacific Ocean
Atlantic Ocean
GREAT BRITAIN
NORWAY
SWEDEN
NETH.
BELGIUM
FRANCE
PORTUGAL
GERMANY
AUSTRIA-HUNGARY
RUMANIA
BULGARIA
OTTOMAN EMPIRE
ITALY
GREECE
RUSSIA
ASIA
PERSIA
AFGHAN.
ARABIA
AFRICA
TOGOLAND
KAMERUN (CAMEROONS)
ABYSSINIA
TO BRITAIN AND FRANCE
GERMAN E. AFRICA (TANGANYIKA)
TO GREAT BRITAIN
GERMAN S.W. AFRICA
TO UNION OF SOUTH AFRICA
UNION OF SOUTH AFRICA
MADAGASCAR
Indian Ocean
INDIA
CEYLON
CHINA
JAPAN
Pacific Ocean
TO JAPAN
MARIANAS IS
MARSHALL IS
CAROLINE IS
PHILIPPINE IS
NETHERLANDS INDIES
NEW GUINEA
BISMARCK ARCH
SOLOMON IS
W SAMOA
TO AUSTRALIA
TO NEW ZEALAND
AUSTRALIA
NEW ZEALAND

practiced in 1713, 1763, and 1815, seemed no longer possible in 1919. Liberal opinion both in Europe and in America had already been offended to the bursting point, and Wilson himself would never have permitted outright annexations. The consequence was the mandate system, whereby control over a given territory was assigned to a particular power by the League of Nations, which undertook periodic inspections to see that the terms of the mandate were being fulfilled. This system was designed by its proponents as a means of educating and improving colonial peoples, leading them into the ways of democratic self-government, and preparing them for eventual independence. Under it the former German overseas territories and the non-Turkish parts of the Ottoman Empire were now distributed. Of Germany's African possessions East Africa (now called Tanganyika) went to Britain; Southwest Africa went to the Union of South Africa; and both the Cameroons and Togoland were divided between Britain and France. In the Pacific, the German portion of New Guinea was given to Australia, western Samoa to New Zealand, and the Caroline, Marshall, and Mariana island groups to Japan. In the Near East, as we have seen, France thus secured Syria and Lebanon, while Britain took Palestine and Mesopotamia.

The mandate system may seem to have been a way of disguising annexation, the hypocritical tribute of reactionary vice to progressive virtue. And so to a man like Clemenceau it probably was. The Japanese quite openly annexed and fortified their new Pacific islands in defiance of the terms of their mandate. But to many of the men who put through the idea of mandates the system really was what it professed to be, a nursery for eventual nationhood. For the most part the mandatory powers did make some show at least of treating mandated territories in a way that would prepare them for eventual freedom. And many of them are now indeed "free."

The Punishment of Germany

After land transfers, the most important business of the Peace Conference was reparations, which were imposed on Austria, Hungary, Bulgaria, and Turkey as well as on Germany. It was, however, the German reparations that so long disturbed the peace and the economy of the world. The Germans were made to promise to pay for all the damage done to civilian property during the war, and to pay at the rate of five billion dollars a year until 1921, when the final bill would be presented to them. They would then be given thirty years in which to pay the full amount. The amount was left indefinite at Versailles, for the Allies could not agree on a figure. But the totals suggested were astronomical. It was clear from the first that the payments would ultimately have to be in goods—German goods in competition with the goods of the Allies. A Germany prosperous enough to pay reparations could not be the weak and divided nation that men like Clemenceau really wanted. Thus from the very start the "realists" at Versailles—Lloyd George and Clemenceau—cherished quite inconsistent hopes for the future.

The Versailles settlement also required Germany to hand over many of her merchant ships to the Allies and to make large deliveries of coal to France, Italy, and Belgium for a ten-year period. Furthermore, a whole miscellany of articles in the treaty was directed toward the disarmament of Germany on land, on sea, and in the air. The German army was to be limited in size to 100,000 men, and the western frontier zone, extending to a line 50 kilometers (about 30 miles) east of the Rhine, was to be completely "demilitarized"—that is, to contain neither fortifications nor soldiers. In addition, the Allies could have armies of occupation on the left bank of the Rhine for fifteen years, and perhaps longer. The treaty forbade Germany to have either

submarines or military planes and severely limited the number and size of surface vessels in her navy.

Last, and by no means least important, Article 231 of the Treaty of Versailles obliged Germany to admit that the Central Powers bore sole responsibility for starting the war in 1914. Here is the article that was to cause so much history to be written:

> The Allied and Associated Governments affirm, and Germany accepts, the responsibility of Germany and her allies for causing all the loss and damage to which the Allied and Associated Governments and their nationals have been subjected as a consequence of the war imposed upon them by the aggression of Germany and her allies.

The Settlement Evaluated

To the Germans, Versailles was of course a cruel and humiliating peace, the *Diktat*, the great national grievance on which Hitler was to play so skillfully. To liberals of the time and later, it seemed as it did to Keynes an unsound, revengeful peace, above all disastrous in its unrealistic reparations policy. In our present world of cold and hot wars, Versailles almost arouses nostalgia. It was at least a settlement, and one that in the best moments of the 1920's seemed a basis for slow improvement in international relations (see Chapter XXI).

The League it set up was potentially a means by which a new generation of international administrators might mitigate the old rivalries of nations. The reparations could be, and indeed were, scaled down to something more reasonable. The new succession states were based on a national consciousness that had been developing for at least a hundred years. Though the theorist might protest at the "Balkanization of Europe," the creation of more weak and discontented little states like those in the Balkans, the fact remains that it would have been hard to deny national independence, or at least autonomy, to the Czechs, the Poles, the Baltic peoples, and the south Slavs. Germany, though she certainly was not treated generously, was at least not wiped off the map, as Poland had been in the eighteenth century. She was not even actually demoted to a second-rate position in the world. She remained, as she was shortly to prove, a first-rate power. In the long series of settlements under our modern western state-system, which goes back to the Italian wars of the fifteenth century, Versailles looks nowadays like neither the worst nor the best, but like a typical compromise peace.

It was, however, too much for the American people, who were not used to the harsh needs of international compromise. But it is an oversimplification to argue that this was solely a matter of American idealism turning away in disgust from a settlement that was all too spotted with unpleasant realities. The final American refusal to ratify the Treaty of Versailles, like all great collective decisions, was the result of many forces. Politics certainly played an important part, for the Republicans had won control of both the Senate and the House of Representatives in the congressional elections of November, 1918. The President of course was still Wilson, a Democrat, and Wilson made no concessions to the Republicans either by taking a bipartisan delegation of Democrats and Republicans to Paris with him or by accepting modifications in the treaty which would have satisfied some of his Republican opponents. The Senate thereupon refused to ratify the treaty.

It is, however, extremely unlikely that even a much more pliable and diplomatic American president than Wilson could have secured from the Senate ratification of another important treaty involved in the proposed settlement. This was the project of a defensive alliance among France, Britain, and the United States into which Wil-

son had been pushed as the penalty for refusing to accept French proposals for a separate Rhineland republic and for annexation of the Saar. With the United States out, Britain refused a mere dual alliance with France against a German attack. France, still seeking to bolster her security, patched up a series of alliances with the new nations to the east and south of Germany —Poland, and the "Little Entente" of Yugoslavia, Czechoslovakia, and Rumania.

The peace thus left France with an uneasy hegemony in Europe, a hegemony dependent on the continued disarmament and economic weakening of Germany, on the continued isolation of Russia, and on the uncertain support of her new allies. Moreover, France had been disastrously weakened by the human and material losses of the war, and her position of leadership, though it alarmed the British with their long memories of French rivalry in the past, was an unreal thing. In reality, Germany was the strongest nation in Europe, and the Great War had checked, but not halted, her attempt to dominate the Continent and indeed the world. The next German attempt was to draw both Britain and America back from the isolation into which they attempted to withdraw after the collapse of the system planned at Paris in 1919.

Reading Suggestions on the First World War

The Background: General Accounts

Q. Howe, *A World History of Our Own Times*, Vol. I (N.Y.: Simon & Schuster, 1949). Survey from 1900 to 1918 by a capable and opinionated publicist.

A. J. P. Taylor, *The Struggle for Mastery in Europe, 1848-1918* (Oxford: Clarendon, 1954). A crisp and suggestive survey.

S. B. Fay, *The Origins of the World War*, 2nd ed. (N.Y.: Macmillan, 1932). A fully documented account by an American scholar, somewhat sympathetic to Germany.

B. E. Schmitt, *The Coming of the War, 1914*, 2 vols. (N.Y.: Scribner's, 1930). Another well-documented scholarly account, somewhat sympathetic to Britain.

H. E. Barnes, *The Genesis of the World War: An Introduction to the Problem of War Guilt* (N.Y.: Knopf, 1926). An extreme statement of the "revisionist" position on war guilt.

M. von Montgelas, *The Case for the Central Powers, An Impeachment of the Versailles Verdict* (N.Y.: Knopf, 1925). Representative of the German "revisionist" school.

L. Albertini, *The Origins of the War of 1914*, 2 vols. (N.Y.: Oxford Univ. Press, 1952-1953). By an Italian scholar, stresses the role of Italy.

The Background: Special Studies

W. L. Langer, *European Alliances and Alignments, 1871-1890*, 2nd ed. (N.Y.: Knopf, 1950). A detailed scholarly survey, favorable to Bismarckian diplomacy.

W. L. Langer, *The Diplomacy of Imperialism, 1890-1902*, 2nd ed. (N.Y.: Knopf, 1951). Includes much material pertaining to the shifting alliances of the European powers.

L. C. B. Seaman, *From Vienna to Versailles* (N.Y.: Coward-McCann, 1956). Interesting essay in interpretation by a young British scholar.

E. M. Carroll, *French Public Opinion and Foreign Affairs, 1870-1914* (N.Y.: Century, 1931), and *Germany and the Great Powers, 1866-1914: A Study in Public Opinion and Foreign Policy* (Englewood Cliffs, N.J.: Prentice-Hall, 1938). Scholarly studies in a significant area of research.

R. J. S. Hoffman, *Great Britain and the German Trade Rivalry, 1875-1914* (Philadelphia: Univ. of Pennsylvania Press, 1933). A helpful monograph.

E. L. Woodward, *Great Britain and the German Navy* (Oxford: Clarendon, 1935), A. J. Marder, *The Anatomy of British Sea Power* (N.Y.: Knopf, 1940), and B. Brodie, *Sea Power in the Machine Age* (Princeton: Princeton Univ. Press, 1943). Three useful studies of the important question of naval power.

E. N. Anderson, *The First Moroccan Crisis, 1904-1906* (Chicago: Univ. of Chicago Press, 1930), and I. C. Barlow, *The Agadir Crisis* (Chapel Hill: Univ. of North Carolina Press, 1940). Two useful monographs on the issue of Morocco in pre-war diplomacy.

E. M. Earle, *Turkey, The Great Powers, and the Bagdad Railway* (N.Y.: Macmillan, 1923).

Scholarly account of another major issue of pre-war diplomacy.

A. F. Pribram, *Austrian Foreign Policy, 1908-1918* (London: Allen & Unwin, 1923). Balanced statement from the Austrian standpoint.

P. Renouvin, *The Immediate Origins of the War* (New Haven: Yale Univ. Press, 1928). Scholarly account from the French point of view.

G. P. Gooch and H. Temperley, eds., *British Documents on the Origins of the War, 1898-1914*, 12 vols. (London: His Majesty's Stationery Office, 1926-1938). Representative of the great collections of diplomatic documents published by the governments of the major belligerents after World War I.

Outbreak of the World War: German Documents Collected by Karl Kautsky (N.Y.: Oxford Univ. Press, 1924), and *German Diplomatic Documents, 1871-1914*, 4 vols. (London: Methuen, 1928-1931). English translations of some of the vast number of German diplomatic documents.

The Background of the War: American Policy

T. A. Bailey, *A Diplomatic History of the American People*, 4th ed (N.Y.: Appleton-Century-Crofts, 1950), and S. F. Bemis, *A Diplomatic History of the United States*, 3rd ed. (N.Y.: Holt, 1950). Two standard surveys.

W. Millis, *The Road to War: America, 1914-1917* (Boston: Houghton Mifflin, 1935). Readable journalistic account, highly critical of Wilson's policy.

C. C. Tansill, *America Goes to War* (Boston: Little, Brown, 1938). Scholarly treatment, also critical of Wilson's policy.

C. Seymour, *American Diplomacy during the World War*, 2nd ed. (Baltimore: Johns Hopkins Univ. Press, 1942). Sympathetic toward Wilson's policy.

The War

W. S. Churchill, *The World Crisis*, 6 vols. (N.Y.: Scribner's, 1923-1931). Detailed survey by the famous British statesman.

C. R. M. Cruttwell, *History of the Great War* (Oxford: Clarendon, 1934). Perhaps the best one-volume history.

Note: There are many detailed military histories of World War I. The problems that arose on the home front have been the subject of a large number of special studies published under the auspices of the Carnegie Endowment for International Peace. Some idea of their scope may be had by consulting *Economic and Social History of the World War: Outline of Plan, European Series* (Washington, D.C.: Carnegie Endowment for International Peace, 1924). Another useful collection of special studies has been published by the Hoover Library of War, Revolution, and Peace at Stanford University.

The Peace

H. W. V. Temperley, *A History of the Peace Conference of Paris*, 6 vols. (London: Frowde, Hodder and Stoughton, 1920-1924). The standard detailed account, by a British scholar.

H. G. Nicolson, *Peacemaking, 1919* (London: Constable, 1933). A good shorter account, by a British expert on diplomacy.

P. Birdsall, *Versailles Twenty Years After* (N.Y.: Reynal & Hitchcock, 1941). Balanced reappraisal by an American scholar.

T. A. Bailey, *Wilson and the Peacemakers* (N.Y.: Macmillan, 1947). Sound study of America's role.

J. M. Keynes, *The Economic Consequences of the Peace* (N.Y.: Harcourt, Brace, 1920), and L. Mantoux, *The Carthaginian Peace: or, the Economic Consequences of Mr. Keynes* (N.Y.: Scribner's, 1952). Respectively, the most famous attack on the Versailles settlement and a thoughtful study of the results of that attack.

Historical Fiction

E. Childers, *The Riddle of the Sands* (London: Nelson, 1913), and H. H. Munro ("Saki"), *When William Came* (N.Y.: Lane, 1914). Two unusual novels, written before the outbreak of the war and predicting what it might be like. Childers' is a story of intrigue and adventure, and "Saki's" is a forecast of the German occupation of Britain.

J. Romains, *Verdun* (N.Y.: Knopf, 1939). Excellent and balanced novel about French troops on the western front, 1914-1916.

H. Barbusse, *Under Fire* (N.Y.: Dutton, 1917) and E. M. Remarque, *All Quiet on the Western Front* (N.Y.: Lion Books). Two famous novels, by a Frenchman and a German, respectively, reflect the horror aroused in intellectuals by trench warfare.

J. Dos Passos, *Three Soldiers* (N.Y.: Modern Library, 1941) and E. Hemingway, *A Farewell to Arms* (many editions). Two American novels about the war, indicative of the post-war disillusionment of the "lost generation."

e. e. cummings, *The Enormous Room* (N.Y.: Modern Library, 1941), and A. Zweig, *The Case of Sergeant Grischa* (N.Y.: Viking, 1928). Novels about prisoners of war and the eastern front, respectively.

C. S. Forester, *The General* (Boston: Little, Brown, 1947). Astringent novel about the "brass" in World War I.

J. Buchan, *Greenmantle* (London: Nelson, many eds.). A novel of espionage indicating that the war contained its ingredient of high adventure in addition to blood and guts.

What Price Glory? in M. Anderson and L. Stallings, *Three American Plays* (N.Y.: Harcourt, Brace, 1926). A famous play showing that the war had its rowdy side.

CHAPTER NINETEEN

Communist Russia 1917-1941

I: Introduction

On June 22, 1941, Adolf Hitler's German armies poured over the frontier of his Russian ally and began a rapid advance toward Moscow, toward the major Russian industrial centers, and toward the most productive Russian agricultural centers. The Russia Hitler invaded was no longer the Russia into which Napoleon had sent the Grand Army a hundred and twenty-nine years before or the Russia whose millions of embattled soldiers had perished in the First World War against the Germany of William II and his Habsburg allies. It was no longer the Russia of the tsars. Since 1917 it had been the Russia of the Bolsheviks. Yet it was still Russia.

Along with the tsars, the nobility and the bourgeoisie had gone down to ruin after the Communist revolution of 1917, and the clergy as a class had suffered almost as much.

A small, tightly knit, conspiratorial group of fanatical Marxist revolutionaries had seized power and for the next twenty-four years had striven to make Russia over. Drawn mostly from the peculiarly Russian class of the intelligentsia, and declaring themselves to be the representatives of the industrial proletariat, the Bolsheviks had worked gigantic changes, especially in the years after 1928. Industry, proceeding under forced draft, had expanded enormously, and the proportion of the population employed in industry had risen to almost 50 per cent; the proportion engaged in agriculture had fallen correspondingly.

The peasant had been a victim of serfdom until 1861, had been subject to the initiative-destroying domination of the commune until 1906, and had then been encouraged by Stolypin to make himself a free farmer (see Chapter XV). Now, under the Bolsheviks, he found himself subjected to new and grievous pressure. Agriculture had been collectivized and the age-old longing of the peasant for private property in land had been ruthlessly suppressed.

These staggering social and economic changes had not been accomplished without internal friction. Inside the government, personal rivalries, plots, counterplots, fake plots, and charges of plots had produced repeated purges extending down through the ranks of the population. The choking conspiratorial atmosphere which the Bolshevik rulers had breathed during their long years of underground preparation for a seizure of power now enveloped the citadels of power. Personal rivalries for domination of the machinery of the state were cloaked beneath the Byzantine theological language of doctrinal controversy over fine points in the sacred writings of Marx and Lenin. Yet the controversies had immediate significance in the formulation and choice of government policies. The Communist party, the secret police, and the army had become the interlocking agencies which ran the state at the bidding of the dictator. The dictator himself, Stalin, had made his own career possible chiefly through the ruthless use of his position as Secretary of the Communist party.

The foreign policy of the Communist state had passed through a brief period in which ideological considerations had seemed occasionally to outweigh national interest in the old sense. It had then returned to the pursuit of traditional Russian ends, coupled with the objective of promoting eventual world-revolution. But in furthering Russian aims abroad the Bolshevik leaders were now in possession of an instrument more flexible than any the tsars had ever commanded. This was the Communist International, or Comintern, a federation of the Communist parties in the individual countries of the world. These parties could often be used as promoters of purely Russian ends rather than strictly Communist ends. With the shifting stresses and strains of international politics during the late 1920's and 1930's, the "line" of the Comintern shifted often and bewilderingly, but always in accordance with the aims of the Soviet foreign office. Usually the majority of communists elsewhere in the world fell meekly into position, and loudly proclaimed when necessary the opposite of what they had proclaimed the day before.

Yet the changes during the first twenty-four years of the Soviet period, vast though they were, could not conceal the continuities between the new Russian system and the old. The dictator of 1941, the revered leader of his people, for whom his followers made increasingly grandiose claims, was not unlike the tsar of 1917 in his assumption of autocratic power. The individual Russian of 1941, despite his sufferings under the new system, had remained deeply patriotic, ready to sacrifice himself for his country, even under a government he hated. The peasant of 1941 still yearned hopelessly for his land; the worker struggled for economic advancement and social

security. Bureaucrats, managers, intellectuals, and artists, all in the service of the state, formed in 1941 a new élite which replaced but did not differ greatly from the old privileged class. A police force superior in efficiency to those of Ivan the Terrible, Peter the Great, and Nicholas I, but not different in kind, in 1941 exercised thought control over all citizens, and terrorized even prominent members of the system itself.

More and more, Stalinist communism had taken on the trappings of a religion, with its sacred books, its heresies, its places of pilgrimage, its doctrinal quarrels. Thus the old Russian orthodoxy had by 1941 not been replaced but rather modified. Russian nationalism, too, asserted itself ever more insistently and crudely, until finally, in the war that Hitler began, the government encouraged the cult of traditional heroes of earlier times, and even glorified Ivan the Terrible himself, no longer a symbol of "feudal" domination but a symbol of the Russian national spirit. The early revolutionary departures from accepted standards in Russian marriage, family life, and education, had by 1941 all been abandoned in favor of a return to conventional bourgeois behavior. The first twenty-four years of Soviet domination, 1917-1941, are the subject of this chapter, which will trace in some detail the vast changes here summarized and will attempt to demonstrate the survival of the old Russia beneath the veneer of the new.

II: The Revolution of 1917

Ridden by domestic crisis though Russia was in 1914 (see Chapter XV), the country greeted the outbreak of World War I with demonstrations of national patriotism. The Duma supported the war, and did yeoman service in organizing Red Cross activities. The left-wing parties—the radical agrarian SRs (Social Revolutionaries) and the Marxist SDs (Social Democrats)—though they abstained from voting war credits, offered to assist the national defense. By 1917 more than 15,000,000 Russians had been drafted into the armies. Losses in battle were staggering from the first; the Russians suffered more than 3,800,000 casualties during the first year of war. On the home front, criticism was aroused by the inadequate handling of the supply of munitions, and by mid-1915 the Center and Left groups in the Duma were urging moderate reforms, such as the end of discrimination against minority nationalities and an increase in the powers of the *zemstvos*, the local assemblies. The Empress Alexandra took the lead in opposing all such measures, and kept urging her weak husband, Tsar Nicholas II, to act more autocratically. When Nicholas took personal command of the armies in the field and prorogued the Duma (autumn, 1915), she became virtually supreme at home. The supremacy of the Empress meant also the supremacy of her favorite, the unscrupulous adventurer Rasputin.

With the Empress and Rasputin in control, a gang of shady adventurers, blackmailers, and profiteers bought and sold offices, speculated in military supplies, put in their own puppets as ministers, and created a series of shocking scandals. Confusion, strikes, and defeatism mounted at home during 1916, while the armies slowly bled to death at the front. Even the conservatives had begun to denounce Rasputin publicly, and in December, 1916, he was poisoned, shot several times, and ultimately drowned, all in one nightmare evening, by a group of conspirators closely related to the imperial

family. Despite repeated warnings from moderates in the Duma that the government itself was preparing a revolution by its failure to create a responsible ministry and to clean up the mess, the Tsar remained apathetic. Relatives of the imperial family and members of the Duma began independently to plot for his abdication. In the early months of 1917 all conditions favored a revolution, but the revolutionaries were not prepared.

The March Revolution

On March 8, strikes and bread-riots broke out in the capital, and four days later Romanov rule, which had governed Russia since 1613, was doomed. Yet this revolution of March, 1917, has been well called leaderless, spontaneous, and anonymous. SRs and both Bolshevik and Menshevik factions of SDs (see above, p. 506) were genuinely surprised at what happened. Indeed, the Bolshevik leaders were either abroad in exile, or under arrest in Siberia. The determining factor in the overthrow of the Tsar was the disloyalty of the garrison of Petrograd (the new Russian name given to St. Petersburg during the war). Inefficiency had led to a food shortage in the capital, though actual starvation had not set in. When the Tsar ordered troops to fire on striking workers, only a few obeyed, and on March 12, in revulsion against the order, the troops joined the strikers, broke into the arsenals, and began to hunt the police, who quickly disappeared from the scene. The Duma lagged behind the revolting troops and workers in estimating the situation, and the Tsar lagged behind the Duma. By March 14, when the Tsar had finally decided to appoint a responsible ministry, it was too late; the cabinet had vanished. Troops ordered to put down the revolt simply melted away and joined the rebels.

A Soviet of workers and soldiers, modeled on the 1905 Soviet of workers (see above, p. 509), but now including soldiers as well, was formed by leftists released from prison by the enthusiastic mobs. The Soviet proceeded to organize a workers' militia, to create a food-supply commission, and to issue newspapers. Its fifteen-man executive committee became the policy-makers of the revolution. The Soviet located its headquarters across the hall from the Duma, which had not dissolved as ordered, but remained in session. The Marxists among the Soviet leaders still believed in the necessity of a preliminary bourgeois revolution, and did not yet regard the Soviet itself as an organ of power. They favored the creation of a provisional government, in which they would not participate, but to which they would offer limited support. They put themselves at the disposition of the Duma, and asked for its leadership. Thus the Duma, a limited assembly elected by a restricted franchise, was literally forced by the Soviet into the position of leading the revolution.

Negotiations between the Soviet and a Duma committee brought a provisional

Tsar Nicholas II and his family, 1917.

government into existence. Despite the widely differing social and economic aims of Soviet and Duma, both agreed to grant political liberties immediately and to summon a constituent assembly, which was to establish the future form of government by giving Russia a constitution. The provisional government was composed mainly of Kadets (Constitutional Democrats) and other moderates and was headed by the liberal Prince Lvov, chairman of the union of *zemstvos* and of the Red Cross. It included also one radical member of the Soviet, Alexander Kerensky, Minister of Justice, a clever labor lawyer and member of the Duma also, who accepted office despite the understanding that members of the Soviet would not do so.

After some abortive efforts to save the dynasty in the person of the Tsar's brother, Nicholas finally abdicated, and his brother refused the throne because of the popular hatred of the family. Under pressure from the Soviet, the provisional government arrested Nicholas II and the Empress on March 20. The Duma had thus accepted the mandate given it by the revolutionaries.

The Provisional Government

The provisional government is usually regarded as having been a total failure. Measured by the final results, such a view is perhaps justified. But the judgment of history must take into consideration the dreadful difficulties that faced the provisional government. These were not only immediate and specific, but general and underlying. Russian moderates had had no experience of authority. They were separated by a great cultural gulf from the lower classes. Their opportunity to rule now came to them in the midst of a fearful war, which they felt they had to pursue while reconstructing and democratizing the enormous and unwieldy Russian Empire.

Moreover, the Soviet possessed many of the instruments of power, yet refused to accept any responsibility. Workers and soldiers in the capital supported the Soviet, while in the provinces the new governors appointed by the provisional government had no weapon except persuasion to employ against the local peasant-elected soviets, which multiplied rapidly. Present-day critics of the provisional government often denounce its failure to suppress its revolutionary opponents, but they overlook the fact that the provisional government did not possess the tools of suppression. The Petrograd garrison, for instance, by agreement with the Soviet, could not be removed or disarmed. The support given by the Soviet to the provisional government has been compared to the kind of support that is given by a hangman's noose.

The two great specific issues facing the provisional government were agrarian discontent and the continuation of the war. The peasants wanted land, and they wanted it immediately. The provisional government, however, made up as it was of responsible liberals, believed in acting with deliberation and according to law. It could not countenance irregular or violent actions, and refused to sanction peasant seizure of land, despite increasing disorder in the countryside. Instead, it appointed a commission to collect material on which future agrarian legislation was to be based —an act totally inadequate to the emergency.

As to the war, the members of the government felt in honor bound to their allies not to make a separate peace. Moreover, most of them still unrealistically hoped that Russia might win, and gain the territories which the Allies had promised. But the Soviet subverted discipline in the armies at the front by issuing a "declaration of the rights of soldiers," which virtually put an end to the authority of officers over enlisted men. Although the Soviet made it as hard as possible for the government to

pursue the war, it did not sponsor a separate peace. Even the Bolshevik members of the Soviet, who now began to return from exile, supported only Russian participation in general peace negotiations, which they hoped would begin immediately.

Lenin.

Lenin and Bolshevism

The most important of the returning Bolshevik exiles was Lenin. His real name was Vladimir Ilyich Ulianov. Son of a provincial official and intellectual, Lenin became a revolutionary in the late 1880's and, as we have already seen (p. 506), took a chief role in the early years of the SDs as the leader of the party's Bolshevik wing. He had returned to Russia from abroad for the Revolution of 1905, but he left Russia once more in 1908, and stayed abroad until 1917.

When the news of the March Revolution reached Lenin in Switzerland, he made desperate efforts to get back home. Finally, through the Swiss Social Democrats, he made contact with the German general staff, which felt that it would be a good investment to see that Lenin reached Russia, where he might disrupt the Russian war effort against Germany. Thus it was that the German military transported Lenin across Germany from Switzerland to the Baltic in the famous sealed railroad car. He arrived at the Finland Station in Petrograd on April 16, 1917, a little more than a month after the March Revolution.

Most Russian Social Democrats had long regarded a bourgeois parliamentary republic as a necessary preliminary to an eventual socialist revolution and socialist society. For this reason they were prepared to help in transforming Russia into a capitalist society, though not without grave doubts that the bourgeois capitalists might be as bad as the tsar and the landlords, or that the masses might be "deluded" into accepting the new system. They favored the creation of a democratic republic, at the same time believing that complete political freedom was absolutely essential for their own future rise to power. Despite the Marxist emphasis upon the industrial laboring class as the only proper vehicle for revolution, Lenin early realized that in Russia, where the "proletariat" embraced only about 1 per cent of the population, the SDs must seek other allies. At the time of the Revolution of 1905 he began to preach the need for limited alliances for tactical purposes between the Bolsheviks and the SRs, who commanded the support of the peasantry. When the alliance had served its purpose, the SDs were to turn on their allies and destroy them. Then would come the socialist triumph.
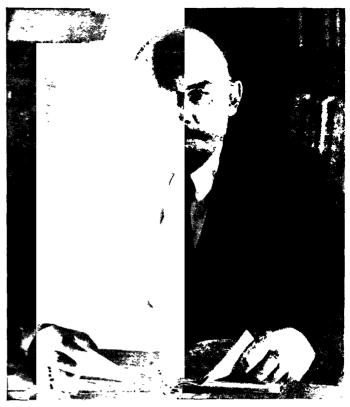
Instead of a preliminary bourgeois democratic republic, Lenin called in 1905 and later for an immediate "revolutionary-democratic dictatorship of the proletariat and the peasantry," a concept that seems to us self-contradictory, and is surely

vague. Lenin's view, however, was not adopted by most Bolsheviks. Together with the Mensheviks they continued to believe and urge that a bourgeois revolution and a parliamentary democracy were necessary first steps along the road to ultimate success.

Because Lenin did not trust the masses to make a revolution (by themselves, he felt, they were capable only of "trade-union consciousness"), he favored a dictatorship of the Bolshevik party over the working class. Because he did not trust the rank and file of Bolshevik party workers, he favored a dictatorship of a small élite over the Bolshevik party. And in the end, because he really trusted nobody's views but his own, he favored, though never explicitly, his own dictatorship over this élite. Another future Russian leader, the brilliant intellectual Leon Trotsky, warned early in the game that the concept of one-man dictatorship was implicit in Lenin's views.

Trotsky, for his part, voiced an opinion of his own, held by neither Mensheviks nor Bolsheviks. The bourgeoisie in Russia, he argued, was so weak that the working class could telescope the bourgeois and socialist revolutions into one continuous movement. After the proletariat had helped the bourgeoisie achieve its revolution, he felt that the workers could move immediately to power. They could nationalize industry and collectivize agriculture, and, although foreign intervention and civil war were doubtless to be expected, the Russian proletariat would soon be joined by the proletariats of other countries, which would make their own revolutions. Except for this last point, Trotsky's analysis proved to be an accurate forecast of the course of events.

Lenin had been deeply depressed by the failure of 1905, and by the threat posed by Stolypin's agrarian reforms. He almost despaired when the socialist parties of Europe went along with their governments in 1914 and supported the war. To him this meant the end of the second socialist International, for the Social Democrats had failed to recognize the war as the "bourgeois-imperialist" venture that it appeared to Lenin to be. He preached defeatism as the only possible view for a Russian SD to follow.

Lenin's greatest talent was not as an original thinker but as a skillful tactician. He often seemed able to judge with accuracy just what was politically possible in a given situation, and he was not afraid to gamble. Thus, even before he returned to Russia in April, 1917, he had assessed some of the difficulties facing the provisional government, and had determined that the masses could take over. Immediately upon his arrival, he hailed the world-wide revolution, proclaiming that the end of imperialism, "the last stage of capitalism," was at hand. Ignoring the positions previously taken by Bolsheviks and Mensheviks alike, he demanded now that all power immediately be given to the soviets. His speeches sounded to the SDs themselves like the ravings of a madman.

Almost nobody but Lenin felt that the loosely organized soviets could govern the country, or that the war would bring down the capitalist world in chaos. In April, 1917, Lenin called not only for the abandonment of the provisional government and the establishment of a republic of soviets but for the confiscation of estates, the nationalization of land, and the abolition of the army, of government officials, and of the police. These demands fitted the mood of the people far better than the cautious and well-meant efforts of the provisional government to bring about reform by legal means. Dogmatic, furiously impatient of compromise, entirely convinced that he alone had the truth, Lenin galvanized the Bolsheviks into a truly revolutionary group waiting only for the moment when they would be able to seize power.

The Coming of the November Revolution

The months from March to November, 1917, before the Bolsheviks came to power, can be divided into a period between March and July, during which revolution deepened, a feeble reaction from July to September, and a new quickening of the revolutionary current from September to the final uprising in November. In the first period, the government faced a crisis, because the Kadet ministers wished to maintain the Russian war aim of annexing the Straits, while the Soviet wanted a peace "without annexations or indemnities." Out of the crisis Kerensky, the war minister, emerged as the dominant leader. He failed to realize that it was no longer possible to restore the morale of the armies, which were dissolving under the impact of Bolshevik propaganda. A new offensive ordered on July 1 collapsed, as soldiers refused to obey orders, deserted their units, and rushed home to their native villages, eager to seize the land. Ukrainian separatism also plagued the officials of the government. The soviets became gradually more and more Bolshevik, as Lenin and Trotsky worked tirelessly at recruitment and organization. Although the June congress of soviets in Petrograd was less than 10 per cent Bolshevik in make-up, the Bolshevik slogans of peace, bread, and freedom won overwhelming support.

Yet an armed outbreak by troops, who had accepted the Bolshevik slogans, found the Petrograd Soviet unwilling and unable to assume power. While the mob roared outside, the Soviet voted to discuss the matter two weeks later and meanwhile to keep the provisional government in power. A regiment loyal to the Soviet protected it against the working class. The government declared that Lenin was a German agent, and, as his supporters wavered, raided the newspaper offices of *Pravda* ("Truth," the Bolshevik paper); Lenin had to go into hiding to avoid arrest. This episode of mid-July is what is known among Bolsheviks as "playing at insurrection." Though shots had been exchanged and overt action had been embarked upon, there had been no revolutionary follow-through. Power had not been seized, probably because Lenin felt that the Bolsheviks did not have enough support in the provinces.

Now Kerensky became premier. The government hardened its attitude toward the Ukrainians, but could not come to a popular decision on either land or peace. General Kornilov, chosen by Kerensky as the new commander-in-chief of the armies, quickly became the white hope of all conservative groups, and in August plotted a *coup*, intended to disperse the Soviet. His attitude toward the provisional government was uncertain, but, had he succeeded, he would probably have demanded a purge of its more radical elements. The plot, however, was a failure, because railroad and telegraph workers sabotaged Kornilov's movements, and because his troops simply would not obey him. The Bolsheviks, adopting the slogan "We will fight against Kornilov, but will not support Kerensky," threw themselves into preparations for the defense of Petrograd, which proved to be unnecessary. By September 14, Kornilov had been arrested, and the affair ended without bloodshed. The threat from the Right helped the Bolsheviks greatly, and sentiment in the Petrograd and Moscow soviets now for the first time became predominantly Bolshevik.

The Kornilov affair turned the army mutiny into a widespread revolt. Instances of violence multiplied. As peasants refused to pay rent, pastured their animals on the landlords' pasture land, and often burned the manor house and killed its owner, so the soldiers moved from disobedience to the murder of their officers. Orderly and legal reform had attracted nobody. The peasants could not be convinced that the nobility owned less than a quarter as much land

Machine guns in action against revolutionaries in Petrograd.

as the peasants, and that rash action only retarded progress. As disorder mounted in the countryside, the Bolsheviks tightened their hold over the soviets in the cities.

Lenin returned to Petrograd on October 20; soon thereafter the Bolsheviks got control over a Military Revolutionary Committee, originally chosen to help defend Petrograd against the advancing Germans, and now transformed, under the guidance of Trotsky, into a general staff for the revolution. Beginning on November 4, huge demonstrations and mass meetings were addressed by Trotsky, and on November 7 the insurrection broke out.

In Petrograd, the revolution had been well prepared and proceeded with little bloodshed. Kerensky escaped in a car of the American Embassy. The Military Revolutionary Committee, as an organ of the Petrograd Soviet, simply took over. The Bolsheviks called a second congress of soviets, and when the Mensheviks and right-wing SRs walked out, Trotsky called them the refuse that would be swept into the garbage can of history. Co-operating with the left-wing SRs and adopting their land program, Lenin abolished all property rights of landlords and transferred the land thus affected to local land committees and soviets of peasant deputies. Though Lenin did not in the least approve of the system of individual small holdings which this decree put into effect, he recognized the psychological advantage which the adoption of the SR program would gain him. He also urged an immediate peace without annexations or indemnities, and appealed to the workers of Germany, France, and England to support him in this demand. Finally, a new cabinet, called a Council of People's Commissars, was chosen, with Lenin as President, and Trotsky as Foreign Commissar.

As Commissar of Nationalities the Bolsheviks installed a younger man, a Georgian, named Joseph Stalin, who had been a successful organizer of bank robberies in the days when the party treasury was filled in this way, but whose role had otherwise been relatively obscure. Under Lenin's coaching, Stalin had also become the party authority on minority questions and had published a pamphlet on the subject in 1913.

Outside Petrograd, the revolution moved more slowly. In Moscow there was a week of street-fighting between Bolshevik Reds and Whites, as anti-Bolshevik forces were already known. Elsewhere, in factory towns, the procedure was usually fast, in nonindustrial centers usually slower. Most of Siberia and of Central Asia came over, but Tiflis, the capital of Georgia, went

Menshevik and passed resolutions calling for a constituent assembly and the continuation of the war. The reason for the rapid and smooth success of the Bolsheviks was that the provincial garrisons opposed the war and willingly allied themselves with the workers. Local Military Revolutionary Committees were created in most places and held elections for new local soviets. Naturally there was much confusion at first, but surprisingly little resistance to the consolidation of the authority of the new regime. Gradually the town of Rostov-on-Don, near the Sea of Azov, became the main center of resistance, as Kornilov and other generals, together with a number of the leading politicians of the Duma, made their way there.

This initial triumph of the revolution did not mean that the population of Russia had been converted to Bolshevism. By cleverly sensing the mood of the people, Lenin had opportunistically given the Bolsheviks a set of slogans around which the people could rally, although some of the slogans did not at all correspond with the true Bolshevik views. As we shall shortly see, the Russian people was in fact strongly anti-Bolshevik. But the Bolsheviks had triumphed, and the democratic hopes for freedom of the press and other freedoms were now doomed to disappointment.

Deprived of competent civil servants, the new regime worried along through an atmosphere of continued crisis. Late in November, 1917, an agreement was reached with the Left-Wing SRs, three of whom entered the government, and peace negotiations were begun with the Germans. The revolution proper was over. Lenin was in power.

The Constituent Assembly

It is of great interest to record that the Bolsheviks now permitted elections for a constituent assembly. Lenin had no use for this sort of democratically chosen parliament, which he considered "inferior" to the soviet. Yet, probably because he had so long taunted the provisional government with delaying the elections, he seems to have felt compelled to hold them. The Russians for the first and last time in their history had a completely free election, under universal suffrage. Lenin himself accepted as accurate figures showing that the Bolsheviks polled about one-quarter of the vote. The other socialist parties, chiefly the SRs, polled 62 per cent. As was to be expected, the Bolshevik vote was heaviest in the cities, especially Moscow and Petrograd, while the SR vote was largely rural.

Lenin allowed the constituent assembly to meet only once, on January 18, 1918. Lenin dissolved it the next day by decree, and sent guards with rifles to prevent its ever meeting again. The anti-Bolshevik majority was naturally deeply indignant at this pure act of force against the popular will, but there was no public outburst, and the delegates disbanded. In part, this was because the Bolsheviks had already taken action on the things that interested the people most—peace and land—and in part because of the lack of a democratic parliamentary tradition among the masses of the Russian people.

In spite of the many years of agitation by intellectuals and liberals for just such a popular assembly, Russia did not have the large middle class, the widespread literacy, the tradition of debate, and the respect for the rights of the individual which seem to be an essential part of constitutionalism. Yet it is surely extreme to decide that there was no chance for constitutional government in Russia in 1917-1918. Was the constituent assembly "an attempt to transplant an alien concept of government to a soil where it could never flourish"? Or was it "a noble experiment incorporating a sound principle but doomed by the crisis into which it was born"? The fact that

Lenin had the rifles to prevent the constituent assembly from fulfilling the function which the popular will had assigned to it does not answer the question either way.

III: War Communism and NEP, 1917-1928

The first period of Soviet history, which runs from the end of 1917 to the end of 1920, is usually called the period of "war communism," or "military communism." The term itself of course implies that the main features of the period were determined by military events. Civil war raged, and foreign powers intervened on Russian soil. But the term is also somewhat misleading. This was a period of militant as well as military communism, symbolized early in 1918 by the change of the party's name from Bolshevik to Communist. At the same time the capital was shifted from Petrograd, with its exposed location on the western fringe of Russia, to the greater security of Moscow, in the heart of the country.

Flushed with victory in Russia, the Bolsheviks firmly believed that world-revolution was about to begin, probably first in Germany, but surely spreading to Britain and even to the United States. This view led the Bolsheviks to hasten the construction of a socialist state in Russia, and to take a casual attitude toward their international affairs, since they expected that relations with capitalist states would be very temporary. Although the actions of the Russian government during this period were later described almost apologetically as emergency measures, this is only partly true. Many of the decisions that were taken in part under the spur of military pressure were also regarded as leading to a new society.

A supreme economic council directed the gradual nationalization of industry. Sugar and petroleum came first, and then in June, 1918, a large group including mines, metallurgy, and textiles was nationalized. By 1920, all enterprises employing more than ten workers (more than five, if motor power was used) had been taken over by the state. The state organized a system of barter, which replaced the free market. Internal trade was illegal; only the government food commissary could buy and sell; money disappeared as the state took over distribution as well as production. It appropriated the banks, repudiated the tsarist foreign debt, and in effect wiped out savings. Church and State were separated by decree, and judges were removed from office and replaced by appointees of the local soviets.

The government subjected the peasantry to ever more arbitrary and severe requisitioning. It mobilized the poorer peasants against those who were better off, called *kulaks* (from the word meaning "fist" and used to apply to usurers, as if to say "hard-fisted"). By calling for a union of the hungry against the well-fed, the regime deliberately, and not for the last time, sowed class hatred in the villages and stimulated civil war in the countryside. It should be remembered that by western European standards even a Russian *kulak* was often wretchedly poor. The decree forming the first secret police, the "Cheka" (from the initials of the words meaning "extraordinary commission"), was issued in December, 1917, only a few weeks after the revolution and long before any intervention from abroad. Terror became a weapon in the civil war.

Before the Communist government could function at all, peace was necessary, as the army had virtually ceased to exist. Negotia-

tions between the Russians and the Germans and Austro-Hungarians at Brest-Litovsk dragged on into 1918, the Russians hoping that revolution would break out in Germany, and the Germans demanding enormous territorial cessions, which they increased as the Russians delayed. Finally, on March 3, 1918, the Russians signed the Peace of Brest-Litovsk, which deprived them of the entire Ukraine, the Baltic
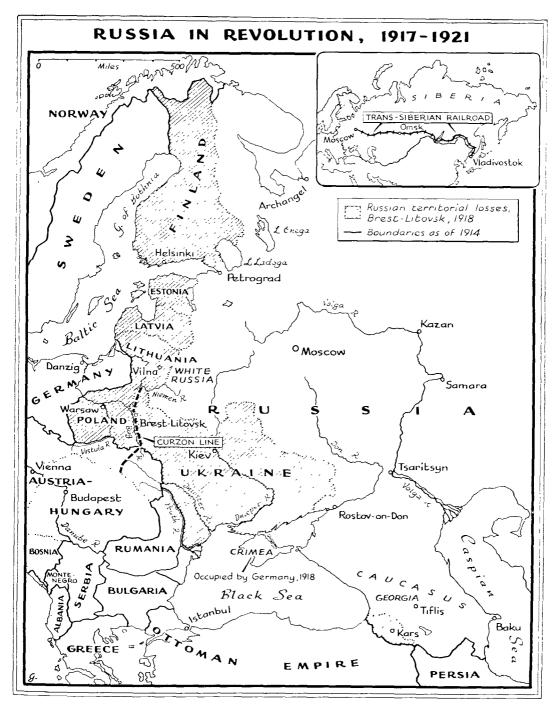
provinces, Finland, and some Caucasian lands. It cost Russia one-third of its population, 80 per cent of its iron, and 90 per cent of its coal. Many communists resigned rather than accept the peace, and the Left SRs quit the government. The Germans overran the Ukraine and the Crimea, and installed a highly authoritarian landlord regime, against which the communists continued to agitate. The Whites, with German help, put down the Reds in Finland. It is, however, hard to see how the Bolsheviks could have avoided signing the Peace of Brest-Litovsk, despite its savagery.

Civil War

During the months following Brest-Litovsk, disorder in the countryside as a result of requisitioning and class warfare was swelled by the outbreak of open civil war. During the war a brigade had been formed inside Russia of Czechs resident in the country and of deserters from the Habsburg armies. When Russia withdrew from the war, it was decided to send the Czech brigade across Siberia by rail, and then by ship across the Pacific, through the Panama Canal, and across the Atlantic to France, to fight the Germans there. On the rail trip across Siberia, the Czechs got into a brawl with a trainload of Hungarian prisoners, and one of the Hungarians was killed. This obscure quarrel on a Siberian railway siding between members of the unfriendly races of the Habsburg Empire precipitated civil war in Russia. When the Soviet government tried to take reprisals against the Czechs, who numbered fewer than 35,000 men, the Czechs seized a number of the towns of western Siberia. The local soviets were unprepared, and the SRs were sympathetic to the Czechs. Local anti-Bolshevik armies came into being. It was under threat from one of them in July, 1918, that a local soviet decided to execute the Tsar and his entire family rather than lose possession of them. All were murdered.

By late June, 1918, the Allies had decided to intervene in Russia on behalf of the opponents of Bolshevism. The withdrawal of Russia from the war had been a heavy blow to them, and they hoped to re-create a second front against the Germans in the east. The idea of a capitalist "crusade" against Bolshevism, popularized by Soviet and pro-Soviet historians as the sole motive for the intervention, was in fact a far less impelling motive. Moreover, the Allies had been at war a long time, and their populations were war-weary. So it is perhaps not to be wondered at if they viewed with disfavor communist efforts to stimulate revolution in all the capitalist nations of the world.

Out at the eastern end of the Trans-Siberian Railroad in Vladivostok, the Czechs overthrew the local soviet in June, and by early August, 1918, British, French, Japanese, and American forces had landed. The assignment of the Americans was to occupy Vladivostok and to safeguard railroad communications in the rear of the Czechs. Of the Allies, only the Japanese had long-range territorial ambitions in the area. In effect, the Bolshevik regime had now been displaced in Siberia; the SRs disbanded the soviets and re-established the *zemstvos*, calling for "all power to the constituent assembly." There were three anti-Red governments of varying complexions in three different Siberian centers. Elsewhere, in August, 1918, a small British and American force landed at the White Sea port of Archangel. An SR assassin killed the chief of the Petrograd Cheka, and Lenin himself was wounded.

The regime now sped its military preparations. As Minister of War, Trotsky imposed conscription, and, by a mixture of cajolery and threats of reprisals against their families, secured the services of about 50,000 tsarist officers. The Red Army, which was Trotsky's creation, grew to over 3,000,000 strong by 1920. Its recapture of Kazan and Samara on the Volga in the autumn of 1918 temporarily turned the

tide in the crisis that seemed about to engulf the Soviet state.

The German collapse on the Western Front permitted the Bolsheviks to repudiate the Treaty of Brest-Litovsk, and to move back into parts of the Ukraine, where they faced the opposition of a variety of local forces. Elsewhere, the opposition consisted of three main armies. General Denikin led an army of Whites, which moved from Rostov-on-Don south across the Caucasus and received French and British aid. Admiral Kolchak's forces in western Siberia overthrew the SR regime in Omsk, and Kolchak became a virtual dictator. General Yudenich's army, including many former members of the German forces, operated in the Baltic region, and threatened Petrograd from the west. Allied unwillingness to negotiate with the Bolsheviks was heightened by the successful Red *coup* of Bela Kun in Hungary (see Chapter XX), which seemed to foreshadow further spread of revolution.

In the spring of 1919, the Reds defeated Kolchak, and by winter took Omsk. In 1920, the Admiral was arrested and executed. Though the Reds also reconquered the Ukraine, mutinies in their own forces prevented them from consolidating their victories and from moving, as they had hoped to do, across the Russian frontiers and linking up with Bela Kun in Hungary. In the summer of 1919, Denikin took Kiev and struck north, advancing to within two hundred and fifty miles of Moscow itself. But his position was weakened by the repressive character of the regime he brought with him and by his recognition of Kolchak as his superior officer, together with the poor discipline of his troops and his own rivalry with one of his generals, Baron Wrangel. Yudenich advanced to the suburbs of Petrograd, but the Reds by the end of 1919 were able to defeat the White threat everywhere, though Wrangel retained an army in the Crimea.

Even after the defeat of the Whites, the Reds in 1920 had to face a new war with the Poles, who hoped to keep Russia weak and to create an independent Ukraine. After an initial retreat, the Red armies nearly took Warsaw, from which they were repelled only because the French chief of staff, General Weygand, assisted the Poles. The Reds, eager to finish off the Whites, and persuaded that there was after all no hope for the establishment of a communist regime in Poland, concluded peace in October, 1920. The Poles obtained a large area of territory in White Russia and the western Ukraine. This area was not inhabited by Poles but had been controlled by Poland down to the eighteenth-century partitions. It lay far to the east of the "Curzon line," the ethnic frontier earlier proposed by the British foreign minister, Lord Curzon. The Reds then turned on Wrangel, who had erupted from the Crimea and had established a moderate regime in the territory he occupied. He was forced to evacuate, assisted by a French fleet, in November, 1920. The White movement had virtually come to an end.

Why the Counter-revolution Failed

Many factors accounted for the Whites' failure and the Reds' victory. The Whites could not get together on any political program beyond the mere overthrow of the Reds. They adopted a policy of "nonanticipation," which meant that some future constituent assembly would settle the governmental structure of Russia. Their numbers included everybody from extreme tsarists to SRs, and they disagreed so violently on the proper course for Russia to follow that they could agree only to postpone discussion of these critical problems.

Moreover, their movement was located on the geographical periphery of Russia—in Siberia, in the Crimea, in the Ukraine, in the Caucasus, and in the Baltic. But the Whites never reached an understanding

with the non-Russian minorities who lived in these regions. Thus they ignored the highly developed separatist sentiments of the Ukrainians and others, to which the Bolsheviks were temporarily willing to cater.

Further, the Whites could not command the support of the peasantry. Instead of guaranteeing the results of the land division already carried out with Bolshevik sanction, the Whites often restored the landlords and undid the land division. During the war the peasantry on the whole grew sick of both sides. This attitude explains the appearance of anarchist bands, especially in the south. Then too, the Whites simply did not command as much military strength as the Reds, who outnumbered them in manpower and who had inherited much of the equipment manufactured for the tsarist armies. Holding the central position, the Reds had a unified and skillful command, which could use the railroad network to shift troops rapidly. The Whites, moving in from the periphery, were divided into at least four main groups, and were denied effective use of the railroads.

Finally, the intervention of the Allies on the side of the Whites was ineffectual and amateurish. It may even have harmed the White cause, since the Reds could pose as the national defenders of the country and could portray the Whites as the hirelings of foreigners. In the light of hindsight, it seems safe to say that either the Allies should have mounted a full-fledged military operation against the Reds, or, if this was impossible (as it probably was, in view of the condition of their own armies after the end of the First World War), they should have stayed out of Russia and allowed the civil war to burn itself out.

NEP ("The New Economic Policy")

Since 1914, Russia had been deeply involved in fighting and crises. By early 1921, with the end of the civil war, famine was raging and sanitation had broken down. Family ties were disrupted, human beings were brutalized, and class hatreds were released on an unparalleled scale. Industry was producing at a level of about one-eighth of its pre-war output, and agricultural output had decreased by at least 30 per cent. Distribution approached a breakdown. The communist regime appeared to be facing its most serious trial of all, the loss of support in Russia.

A large-scale anarchist peasant revolt broke out in early 1921, and lasted until mid-1922. Lenin remarked that this revolt frightened him more than all the Whites' resistance. But the decisive factor in bringing about a change in policy was the mutiny at the Kronstadt naval base near Petrograd in March, 1921. Formerly a stronghold of Bolshevism, Kronstadt now produced a movement of rebellious anarchists who called for "soviets without communists" to be chosen by universal suffrage and secret ballot, for free speech and free assembly, for the liberation of political prisoners, and for the abolition of requisitioning. Except for the last item and for the phraseology of the first, the program was ironically similar to that of all liberals and socialists in tsarist Russia. The Kronstadt movement seems to have expressed the sentiments of most Russian workers and peasants. Had the government been conciliatory, there might have been no bloodshed; but Trotsky went to war against the rebels, and defeated them after a bloody fight.

This episode led directly to the adoption of the "New Economic Policy," always referred to by its initials as NEP. But the underlying reason for the shift was the need for reconstruction, which seemed attainable only if militant communism were at least temporarily abandoned. Lenin himself referred to "premature" attempts at socialization. It was also necessary to appease the peasants, and to ward off any further major uprisings. Finally, the expected world revolution had not come off, and the

resources of capitalist states were badly needed to assist Russian reconstruction. Concessions to foreign capitalists were now possible; indeed, the adoption of NEP coincided with the conclusion of an Anglo-Russian trade treaty. Abroad, NEP was hailed as the beginning of a Russian "Thermidor," a return to normality like that following the end of the Terror in the French Revolution (see Chapter X).

Under NEP the government stopped requisitioning the whole of the peasant's crop above a minimum necessary for subsistence. The peasant had still to pay a very heavy tax in kind, but he was allowed to sell the remainder of his crop and keep the money. The peasant could sell his surplus to the state if he wished, but he could also choose to sell it to a private purchaser. Peasant agriculture became in essence capitalist once more, and the profit motive had reappeared. Lenin imitated Stolypin by guaranteeing the peasant permanency of tenure. The whole system tended to help the *kulak* grow richer, and to transform the poor peasant into a hired, landless laborer.

Elsewhere in the economy under NEP the state retained what Lenin called "the commanding heights"—heavy industry, banking, transportation, and foreign trade. In domestic trade and in light industry, however, private enterprise was once more permitted. This was the so-called "private capital sector" of the economy, in which workers could be paid according to their output, and factory managers could swap some of their products in return for raw materials.

Lenin himself described NEP as a partial return to capitalism, and urged the communists to become good businessmen. Yet NEP was never intended as more than a temporary expedient. Lenin believed that it would take a couple of decades before the Russian peasant could be convinced that co-operative agriculture would be the most efficient. He also argued that a temporary relaxation of government intervention would increase industrial production and give the Russians a useful lesson in entrepreneurship.

Economic recovery was indeed obtained. By 1926-1927, industrial production was back at pre-war levels, although agriculture had not kept pace. But NEP was bitterly disliked by leading communists, who were shocked at the reversal of all the doctrines they believed in. By 1924, private business accounted for 40 per cent of Russian domestic trade, but thereafter the figure fell off. Those who took advantage of the opportunities presented by the NEP were known as NEPmen. They were often persecuted in a petty way by hostile officials, who tried to limit their profits, tax them heavily, and drag them into court on charges of speculation. The *kulak* had essentially the same experience. Thus the government often seemed to be encouraging private enterprise for economic reasons and simultaneously to be discouraging it for political reasons.

Within the Communist party, one group favored the increase of the private sector of the economy and the extension of NEP, as a new road toward the socialist goal. These were the so-called "Right deviationists." Their opponents favored the ending of concessions, the liquidation of NEPmen and *kulaks*, and a return to Marxist principles at home and the fostering of world revolution abroad—in short, the pressing of the "socialist offensive." These were the "Left deviationists," who included Trotsky. In the Center stood men who attacked both deviations, the Right as an abandonment of communism, the Left as likely to lead to a disruption of the worker-peasant alliance.

The Struggle for Power: Stalin versus Trotsky

But the big question of NEP was not the only one to agitate the communist leaders in the early twenties.

Lenin suffered two strokes in 1922, and another in 1923, and finally died in January, 1924. During the last two years of his life he played an ever lessening role. Involved in the controversy over NEP and the other controversies was the question of the succession to Lenin. Thus an individual communist's answer to the question of how to organize industry, what role to give organized labor, and what relations to maintain with the capitalist world depended not only upon his estimate of the actual situation but also upon his guess as to what answer was likely to be politically advantageous. From this maneuvering the Secretary of the Communist party, Joseph Stalin, was to emerge victorious by 1928.

The years between 1922 and 1928, especially after Lenin's death, were years of a desperate struggle for power between Stalin and Trotsky. Lenin foresaw this struggle with great anxiety. He felt that Trotsky was abler, but feared that he was overconfident, and inclined to make decisions of his own. He felt that Stalin had concentrated enormous power in his hands, in his role as party secretary, and feared that he did not know how to use it. When he learned that Stalin had gone counter to his orders in smashing the Menshevik Republic of Georgia instead of reaching an accommodation with its leaders, he wrote angrily in his testament that Stalin was too rude, and that his fellows should remove him from his post as general secretary. At the moment of his death, Lenin had published a scathing attack on Stalin, had broken off relations with him, and was about to try to relegate him to the scrapheap. Trotsky's suggestion that Stalin poisoned Lenin is not based on any evidence, but it is clear that Lenin's death rescued Stalin's career, and that, far from being the chosen heir, as he later claimed, he did not enjoy Lenin's confidence at the end.

During these years Trotsky argued for a more highly trained managerial force in industry, and for economic planning as an instrument that the state could use to control and direct social change. He favored the mechanization of agriculture and the weakening of peasant individualism by encouraging rural co-operatives, with even a hint of the collective farms where groups of peasants, in theory, would own everything collectively, rather than individually. As Trotsky progressively lost power, he championed the right of individual communists to criticize the regime. He referred to the policies of Stalin and his other increasingly powerful enemies as "bureaucratic degeneration," and came to the conclusion that only through the outbreak of revolutions in other countries could the Russian socialist revolution be carried to its proper conclusion. Only if the industrial output and technical skills of the advanced western countries could be put at the disposal of communism could Russia hope to achieve its own socialist revolution. This is the famous theory that socialism cannot succeed within the boundaries of one country: either world revolution must break out, or Russian socialism is doomed to inevitable failure.

The opponents of Trotsky's "Left deviation" found their chief spokesman in Nikolai Bukharin. A man who never held such responsible administrative posts as Lenin or Trotsky or Stalin, and who had often shifted his position on major questions, Bukharin none the less took a consistent line during these years; as editor of *Pravda* he was extremely influential. A strong defender of NEP, Bukharin softened the rigorous Marxist doctrine of the class struggle by arguing that since the proletarian state controlled the commanding heights of big capital, and since big capital would win, socialism was sure of success. This view is not unlike the "gradualist" position taken by western European Social Democrats. Bukharin did not believe in an ambitious program of rapid industrialization; he favored co-operatives, but opposed collectives. In foreign affairs he was eager to co-operate abroad with non-communist groups

who might be useful to Russia. Thus he sponsored Soviet collaboration with Chiang Kai-shek in China and with the German Social Democrats.

In his rise to power, Stalin used Bukharin's arguments to discredit Trotsky and to eliminate him. Then, partly because Bukharin's policies were failing, Stalin adopted many of Trotsky's policies, and eliminated Bukharin. Original Stalinist ideas, however, developed during this process. Stalin was not basically an intellectual or a theoretician; he was a party organization stalwart. He adopted theoretical positions partly because they seemed to him the ones most likely to work, and partly because he was charting his own course to supreme power. He came to favor rapid industrialization, and to understand that this meant an unprecedentedly heavy capital investment. At the end of 1927, he suddenly shifted from his previous position on the peasantry, and openly sponsored collectivization. This shift arose because of his concern that agricultural production was not keeping pace with industry. He declared that the balance could be redressed only if agriculture, like industry, was transformed into a series of large-scale unified enterprises.

In answer to Trotsky's argument that socialism in one country was impossible, Stalin maintained that an independent socialist state could exist. This view did not at all imply the abandonment of the goal of world revolution, as has often been thought. Stalin always maintained that the socialist state (Russia) should be the center of inspiration and assistance to communist movements everywhere; Russia would help them and they would help Russia. But, in his view, during the interim period before the communists had won elsewhere it was perfectly possible for Russia to exist as the only socialist state, and indeed to grow more socialist all the time. In international relations this doctrine of Stalin made it possible for the Soviet Union to pursue either a policy of "peaceful coexistence" with capitalist states, when that seemed most profitable, or a policy of militant support of communist revolution everywhere, when that seemed most profitable. Stalin's "socialism in one country" also struck a responsive chord in the rank and file of Russian communists, who were disappointed in the failure of revolutions elsewhere. It also meant that Russia, not the West, was to be the center of the new society. Stalin's doctrine reflected his own Russian nationalism rather than the more cosmopolitan and more western views of Trotsky.

The Struggle for Power: Stalin's Victory

Analysis of the rival theories competing for acceptance in Russia in the twenties helps explain the alternatives before the communist leadership. It does not explain how Stalin won. To understand this we must move from the realm of theory and political platforms to the realm of practice and political power. At the end of the civil war, Stalin was Commissar of Nationalities. In this post he dealt with the affairs of 65,000,000 of the 140,000,000 inhabitants of the new Russian Soviet Republic. He managed the destiny of the Asiatics, whom he, as one of them, understood. Their local Bolshevik leaders became his men; where they did not, as in his native Georgia, he ruthlessly crushed them. Though a Georgian, he identified himself with Russian nationalism in the interests of a centralized Bolshevik state.

It was Stalin who took charge of creating the new Asiatic "republics" which enjoyed the appearance of local self-government, programs of economic and educational improvement, and a chance to use their local languages and develop their own cultures. It was he who in 1922 proposed and guided the adoption of a new Union of Socialist Soviet Republics as a substitute for the existing federation of republics. In

the U.S.S.R., Moscow would control war, foreign policy, trade, and transport, and would co-ordinate finance, economy, food, and labor. And on paper it would leave to the republics home affairs, justice, education, and agriculture. A Council of Nationalities, with an equal number of delegates from each ethnic group, would join the Supreme Soviet as a second chamber, thus forming the Central Executive Committee, which would appoint the Council of Peoples' Commissars—the Government. To this constitutional reform Stalin pointed as an achievement equal to Trotsky's military organizational work during the civil war.

Stalin was also Commissar of the Workers' and Peasants' Inspectorate. Here his duties were to eliminate inefficiency and corruption from every branch of the civil service, and to train a new corps of civil servants. His teams moved freely through all the offices of the government, observing and recommending changes, inspecting and criticizing. In creating this post Lenin had hoped to clean house, but the ignorance and the lack of tradition that rendered the tsarist and Bolshevik civil service incompetent and corrupt operated in Stalin's inspectorate as well. Indeed many tsarist civil servants entered the Bolshevik service in the 1920's. Although the Inspectorate could not do what it was established to do, it did perform another role. It gave Stalin control over the machinery of government. Lenin attacked Stalin's work in the Inspectorate just before he died, but by then it was too late.

Stalin was also a member of the Politbureau, the tight little group of party bosses elected by the Central Committee, which included only five men throughout the civil war. Here his job was day-to-day management of the party. He was the only permanent liaison officer between the Politbureau and the Orgbureau, which allocated party personnel to their various duties, in factory, office, or army unit. In addition to these posts, Stalin became general secretary of the party's Central Committee in 1922. Here he prepared the agenda for Politbureau meetings, supplied the documentation for points under debate, and passed the decisions down to the lower levels. He controlled party patronage—that is to say, all party appointments, promotions, and demotions. He saw to it that local trade unions, co-operatives, and army units were put under communist bosses responsible to him. He had files on the loyalty and achievement of all managers of industry and other party members. In 1921, a Central Control Commission, which could expel party members for unsatisfactory conduct, was created; Stalin, as liaison between this commission and the Central Committee, now virtually controlled the purges, which were designed to keep the party pure.

In a centralized one-party state, a man of Stalin's ambitions who held so many key positions had an enormous advantage in the struggle for power. Yet the state was so new, the positions were so much less conspicuous and so much more humdrum than the Ministry of War, for instance, held by Trotsky, and Stalin's manner was so generally conciliatory, that the likelihood of Stalin's success did not become evident until it was too late to stop him. Inside the Politbureau he formed a three-man team with two other prominent Bolshevik leaders, the demagogue, Zinoviev, and the expert on doctrine, Kamenev. Zinoviev was chairman of the Petrograd Soviet and boss of the Communist International; Kamenev was Lenin's deputy and president of the Moscow Soviet. All three were old Bolsheviks, in contrast to Trotsky, who had been a Menshevik and an independent.

The combination of Stalin, Zinoviev, and Kamenev proved unbeatable. The three put down all real and imagined plots against them by the use of the secret police. They resisted Trotsky's demands for "reform," which would have democratized the party to some degree and strengthened his position while weakening Stalin's. They

initiated the cult of Lenin immediately before his death, and kept it burning fiercely thereafter, so that any suggestion for change coming from Trotsky seemed almost an act of impiety. They dispersed Trotsky's followers by sending them to posts abroad. They prevented the publication of Lenin's "testament," so that the rank and file of the party would not know about Lenin's doubts concerning Stalin. They publicized all Trotsky's earlier statements in opposition to Lenin, and did not hesitate to "revise" history in order to belittle Trotsky. They were confident, and rightly so, that Trotsky was too good a communist to rally around him such anti-Bolshevik groups as old Mensheviks, SRs, and NEPmen.

Early in 1925, Stalin and his allies were able to force the resignation of Trotsky as Minister of War. Soon thereafter the three-man team dissolved; Stalin moved into alliance with Bukharin and other right-wing members of the Politbureau, to which he began to appoint some of his own followers. Using all his accumulated power, he beat his former allies on all questions of policy, and in 1926 they moved into a new but powerless alliance with Trotsky. Stalin now (1926) deposed Zinoviev from the Politbureau, charging him with intriguing in the army. Trotsky was the next one to be expelled from the Politbureau, and Zinoviev was ousted as president of the Comintern.

In 1927, differences of opinion over Stalin's foreign policy in England and in China (see below, p. 652) led to public protests by the opposition. And these in turn led to the expulsion of the opposition from the party itself. Refusing to renounce his views, Trotsky was deported to Siberia, the first stage in a long exile that took him to Turkey, Norway, and Mexico, where he died in 1940 at the hands of an assassin armed with an ice-pick. The others recanted and obtained a new lease on life. Stalin's victory was virtually complete.

IV: Stalin's Supremacy: Internal Affairs, 1928-1941

The Communist party congress that expelled Trotsky in December, 1927, also brought NEP to an end and proclaimed that the new "socialist offensive" would begin in 1928. The thirteen years between 1928 and 1941 were to see almost incredible changes in the domestic life of Russia—collectivized agriculture, speedy industrialization, forced labor, the great purges and the extermination of all political opposition, the building of an authoritarian state apparatus, and a "retreat" to bourgeois standards in almost every department of social and intellectual life.

Collectivized Agriculture

In 1928, the failure of the peasants to deliver to the cities as much grain as had been required seemed to underline the dangers inherent in the land divisions of 1917 and in the concessions of NEP. Farm productivity on the small individual holdings was not high enough to feed the city population. Food prices for the workers were high, yet the *kulaks* wanted further concessions. Grain was hoarded. Stalin had often inveighed against "fanning the class struggle in the countryside," and had denied the intention of collectivizing agriculture rapidly or on a mass scale. The government economic plan issued during 1928 set a figure of 20 per cent of Russian farms as the *maximum* to be collectivized by 1933. Yet during 1929, Stalin embarked on immediate full-scale collectivization, declared war on the *kulaks*, and virtually put an end to individual farming in Russia.

The government did not have the money

or the credit to import food. Further, no governmental machinery is adequate to force peasants to disgorge crops that they are hiding. Therefore, the government enlisted on its side the small peasants; in exchange for their assistance in locating and turning over the *kulaks'* crops, they would be promised a place on a collective farm, to be made up of the *kulaks'* land and equipped with their implements. Probably a good many of the subsistence farmers (about 20 per cent of the number of private farms, possibly 5,000,000 households) more or less welcomed this opportunity. Initial encouraging reports led Stalin to go full speed ahead. The *kulaks*, he declared in late 1929, were to be liquidated as a class. There were about 2,000,000 households of them, perhaps as many as 10,000,000 people in all. They were now to be totally expropriated, and at the same time barred from the new collectives. Since no provision was made for them, this move turned collectivization into a nightmare.

Peasants now were machine-gunned into submission; *kulaks* were deported to forced labor camps or to desolate regions in Siberia. In desperate revolt against the command to join collectives, the peasants burned crops, broke plows, and killed their cattle rather than turn them over to the state. More than half the horses in all Russia, 45 per cent of the cattle, and two-thirds of the sheep and goats were slaughtered. Russian livestock has never since caught up with the losses it suffered because of the excesses of collectivization. Land lay uncultivated, and over the next few years famine took a toll of millions of lives. As early as March, 1930, Stalin showed that he was aware of the ghastly mistakes he had made. In a famous statement on "dizziness with success" he put the blame on local officials who had been too eager to rush through the program. By contradicting his own orders of a few months before he managed to escape some of the hatred that would otherwise have been directed at him. As usual, many Russian peasants disliked the man they could see, the local official, and were willing to exculpate the "little father" in the capital.

Fifty per cent of Russian farms had been hastily thrown together into collectives during this frightful year. Only an additional 10 per cent were added during the next three years, so that by 1933 60 per cent in all had been collectivized. The number rose again later in the 1930's, until by 1939 more than 96 per cent of Russian farms were collectivized. In 1941, there were 250,000 collectives, 900,000,000 acres in extent, supporting 19,000,000 families.

The 1930's also brought a modification of the original rules governing collectives. Originally collectives had been of two main types: there was the *sovkhoz*, or soviet farm, not strictly a collective at all but a state-owned enterprise, operated by the government and worked by hired laborers who were government employees; and there was the *kolkhoz*, or collective farm proper. The *sovkhozes* were designed as centers of government research and development in agriculture, and were often very large in size. But they were mostly brought to an end by Stalin in the 1930's, when he ordered some forty million acres originally allotted to them to be distributed among the *kolkhozes*. As of 1941, the *sovkhozes* occupied no significant area of land.

The *kolkhoz* itself was also originally of two types: the commune, in which all the resources of the members without exception were owned together, and the *artel*, or co-operative, in which a certain amount of private property was permitted to the members. After Stalin's modifications of the system in the thirties, the *artel* became the overwhelmingly predominant form of collective farm. In an *artel* each family owns its homestead, some livestock, and minor implements; these can be left by will to the owner's descendants. But most of the work is done on the collectively operated

land. Each collective has its own managing board, responsible to the government, which oversees the work of the peasants, who are organized in brigades, each under a brigadier. Like factory laborers paid on a "piece-work" basis, peasants are remunerated according to their output, which is measured by the artificial unit of the "labor day." One day's work in managing a farm may be, for example, assessed at three labor days, while one day's work weeding a vegetable patch may be assessed at only half a labor day.

Each *kolkhoz* must turn over to the government a fixed amount of produce at fixed rates, and the total of all these amounts is designed to guarantee the feeding of the urban population, especially workers in heavy industry and members of the Red Army. In addition, the *kolkhoz* pays further taxes to cover government expenses for local construction and education. Any surplus beyond what must be delivered to meet these obligations may be sold by the peasant directly to the consumer, without the participation of any middleman. Private resale is regarded as speculation and is subject to punishment. After 1934, the government obtained at least two-thirds of its revenue by the resale on the markets at a large profit of farm produce bought at low fixed prices from the *kolkhoz*. This government profit is known as the "turnover tax."

The government assists and controls the *kolkhoz* through the supply of mechanical equipment furnished by the machine tractor stations. The collectives cannot own their own tractors, but must rent them from the stations, paying in exchange a fee ranging up to perhaps 20 per cent of the crop. The stations are important centers for political surveillance, and include staff members who are agents of the regime. By the decision when and to whom to allot tractors and how many tractors to allot, administrators of the machine tractor stations can directly affect the success of a collective; their good will is therefore of the utmost importance to the management.

In general, the aim of collectivization was to reorganize farming so as to ensure food for the industrial labor force, which was being increased by recruitment from the farms themselves. Collectivization certainly increased the total food supplies at the disposal of the government and released farmers for work in industry. But it seems certain that the over-all rise in agricultural production was small, and that in many cases the yield per unit decreased.

Industrialization

Intimately related to the drive in agriculture was the drive in industry. Here, too, Stalin had viewed with scorn the grandiose plans of the "superindustrializers" and as late as 1927 had proposed an annual increase rate in industrial production of only 15 per cent. But just as he shifted to the frantic pace of collectivizing agriculture, so he first gradually, then suddenly, shifted to forced draft in industry also.

In 1928 began the era of the Five-Year Plans, each setting incredibly ambitious goals for production over the next five years. In 1929 and 1930, Stalin appropriated ever higher sums for capital investment, and in June, 1930, he declared that industrial production must rise by 50 per cent in the current year, a fantastic and impossible figure. Under the First Five-Year Plan, adopted in 1928, annual pig-iron production was scheduled to rise from 3,500,000 tons to 10,000,000 tons by 1932, but in that year Stalin demanded 17,000,000 tons instead. It was not forthcoming, of course, but Stalin's demand for it was symptomatic of the pace at which he was striving to transform Russia from an agricultural to an industrial country.

Part of the reason for this rapid pace lay precisely in the collectivization drive itself. Large-scale farming, to which Stalin was committing Russia, must be mechanized

farming. Yet there were only 7,000 tractors in all Russia at the end of 1928. Stalin secured 30,000 more during 1929, but this was nowhere near a beginning. Industry had to produce millions of machines, and the gasoline to run them. Since the countryside had to be electrified, power stations were needed by the thousands. And literally millions and millions of peasants had to be taught how to handle machinery. But there was nobody to teach them, and no factories to produce the machinery. The output of raw materials was inadequate, and the plants to process them were not there.

Another part of the reason for the drive to industrialize lay in the tenets of Marxism itself. Russia had defied all Marx's predictions by staging a proletarian revolution in a country almost without a proletariat. Yet despite the communists' initial political successes, Stalin felt that "capitalism had a firmer basis than communism in Russia, so long as it remained a country of small peasants." The communists felt that the world proletariat expected them to industrialize Russia, but even more they were determined to create as a support for themselves the massive Russian proletariat which as yet did not exist. Further, Stalin was determined to make Russia as nearly self-sufficient as possible, in line with his theory of socialism in one country. Underlying this was a motive at least as intense as any dictated by Marxist doctrine—Russian nationalism.

The strength of this motive is revealed in a speech that Stalin made in 1931:

> To slacken the pace means to lag behind, and those who lag behind are beaten. We do not want to be beaten. No, we don't want to. . . . Old Russia . . . was ceaselessly beaten for her backwardness. She was beaten by the Mongol Khans, she was beaten by Turkish Beys, she was beaten by Swedish feudal lords, she was beaten by Polish-Lithuanian gentry, she was beaten by Anglo-French capitalists, she was beaten by Japanese barons; she was beaten by all—for her backwardness. For military backwardness, for cultural backwardness, for political backwardness, for industrial backwardness, for agricultural backwardness. She was beaten because to beat her was profitable and went unpunished. . . . We are fifty or a hundred years behind the advanced countries. We must make good this lag in ten years. Either we do it or they crush us.*

Whatever one may think of this quotation as history (and it omits all Russia's *victorious* wars), it reveals that Russian national self-interest as interpreted by Stalin required the most rapid possible industrialization. And it is of interest that ten years afterward the Germans did attack, something Stalin could of course not have predicted so accurately, but something that he seems to have sensed.

Stalin seems also to have felt that he had only to keep a fierce pressure on the management of industry, and the desired commodities and finished goods would be forthcoming in the desired quantities. The goals of the First Five-Year Plan were not attained, although fulfillment was announced in 1932. Immediately, the second plan, prepared by the state planning commission, went into effect, and ran until 1937; the third was interrupted only by Hitler's invasion. Each time the emphasis was on the elements of heavy industry—steel, electric power, cement, coal, oil. Between 1928 and 1940 steel production was multiplied by four and one-half, electric power by eight, cement by more than two, coal by four, and oil by almost three. Similar developments took place in chemicals and in machine production. Railroad construction was greatly increased, and the volume of freight carried quadrupled with the production of new rolling stock.

By 1940, Russian output was approaching that of Germany, although Russian efficiency and the Russian standard of living were far lower. What the rest of Europe had done in about seventy-five years Russia

* Quoted in Isaac Deutscher, *Stalin* (New York, 1950), 328.

had done in about twelve. Enthusiasm was artificially whipped up by wide publicizing of the high output of individual workers called "Stakhanovites," after a coal miner who had set production records. "Stakhanovites" and "heroes of labor" were richly rewarded, and the others were urged to imitate them in "socialist competition."

All this was achieved at the expense of dreadful hardships, yet eyewitnesses report that many of the workers were as enthusiastic as if they had been soldiers in battle, as indeed in a sense they were. Valuable machinery was often damaged or destroyed by inexperienced workers right off the farm. The problems of repair, of replacement, of achieving balance between the output and consumption of raw materials, of housing workers in the new centers, of moving entire industries thousands of miles into the Ural region and Siberia, were unending and cost untold numbers of lives. An American eyewitness estimates that Russia's "battle of ferrous metallurgy alone involved more casualties than the battle of the Marne."

Administratively, the Russian economy is directly run by the state. The Gosplan, or state planning commission, draws up the Five-Year Plans, and supervises their fulfillment at the management level. The Gosbank, or state bank, regulates the investment of capital. An economic council is in charge of the work of various agencies, a partial listing of which will point up the immensity of its undertakings. Its major divisions are metallurgy and chemistry (iron and steel, nonferrous metals, chemicals, rubber, alcohol); defense (aviation, armaments, munitions, tanks, ships); machinery (heavy machines, medium machines, machine tools, electrical industry); fuel and power (coal, oil, electric power), agriculture and procurement; and consumer's goods (grain, meat and dairy products, fisheries, textiles, light industry). Under iron and steel, for example, there function the production trusts controlling their own mines as well as blast furnaces and rolling mills. These are the so-called "combinats," or great production complexes like that at

A new Soviet industrial center: Magnitogorsk in the Urals.
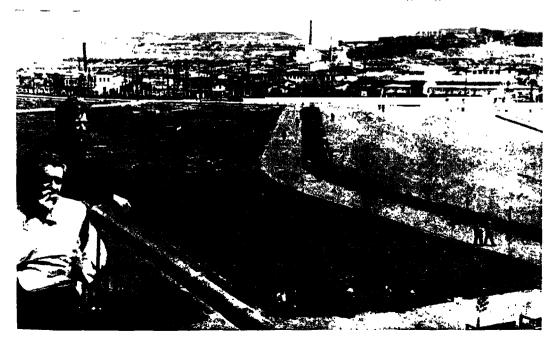
Magnitogorsk in the Urals. In each plant, as in each collective, the manager is responsible for producing the quota set for him within the maximum cost allowed him. He is consulted on production targets, and has considerable leeway in selecting his staff and allocating labor and raw materials. He is bound to render a rigid accounting to the government, which of course fixes the price he must pay for his raw materials.

The Social Impact The social effects of the economic program have been dramatic. Urban population rose from about 18 per cent in 1926 to about 33 per cent in 1940. The number of cities with a population between 50,000 and 100,000 doubled, and the number of cities with a population exceeding 100,000 more than quadrupled. The largest cities, Moscow and Leningrad (the new name for Petersburg-Petrograd after the death of Lenin), almost doubled in size, and among smaller cities, to take just one example, Alma Ata in Siberia grew from 45,000 to 230,000 between 1928 and 1939. The entire social picture was radically altered.

The relative freedom to choose one's job which had characterized the NEP period naturally disappeared. Individual industrial enterprises signed labor contracts with the *kolkhozes* by which the *kolkhoz* was obliged to send a given number of farm workers to the factories, often against their will. Peasants who had resisted collectivization were simply drafted into labor camps. In the factories, the trade unions became simply another organ of the state. The chief role of the unions is to achieve maximum production and efficiency, to discourage absenteeism and poor work. Trade unions may not strike, or engage in conflict with management. All they can do is administer the social insurance laws, and seek improvements in workers' living conditions by negotiation.

Thus in the U.S.S.R. the old privileged classes of noble landlords, already weak at the time of the revolution, ceased to exist. The industrial, commercial, and financial bourgeoisie, which was just coming into its own at the time of the revolution, was destroyed after 1928, despite the temporary reprieve it had experienced under NEP. Most of the old intelligentsia, who had favored a revolution, could not in the end stomach Stalin's dictatorship, and many of them emigrated. Of the million and a half émigrés from Russia after the revolution, only a very small number (contrary to the general view in the West) were cousins of the Tsar. Those of the old intelligentsia who remained were forced into line with the new Soviet intelligentsia, which Stalin felt to be a very important class. All were compelled to accept the new Stalinist dogma and to drop their interest in the outside world. The new intelligentsia was expected to concentrate on technical advance, and on new administrative devices for speeding up the transformation of the country.

Although the effect of these social changes would presumably have been to level all ranks, Stalin set himself against the old Bolshevik principles of equality. The Marxist slogan, "From each according to his capacity, to each according to his needs," was shelved in favor of a new one, "From each according to his capacity, to each according to his work." Where Lenin had allowed none of the members of the government to earn more than a skilled laborer, Stalin set up a new system of incentives. A small minority of bureaucrats and skilled laborers, factory managers, and successful *kolkhoz* bosses earned vastly more than the great majority of unskilled laborers and peasants. Together with the writers, artists, musicians, and entertainers who were willing to lend their talents to the services of the regime, these men became a new élite, separated by a wide economic and social gulf from the toiling masses.